

4.2
v2

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

A STUDY IN VEDIC POLITY

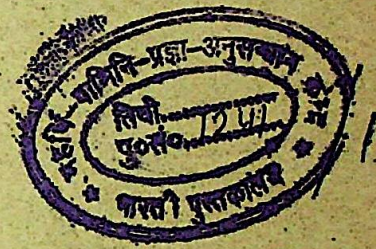
वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता के
 स्रोत वेद हैं। समग्र भारतीय चिन्तन
 जीवन-पद्धति वेदों से ही अपनी मूल
 प्राप्त करती है। भारतीय परम्परा में
 को मानव के लिए कल्याणकारी,
 आत्मिक, भौतिक तथा सामाजिक सभी
 के विद्या-विज्ञानों का निधि माना जाता
 वेद में वर्णित आध्यात्मिक विज्ञान के
 का ही विशदीकरण और पल्लवीकरण
 षडों, दर्शनों और गीता आदि आध्या-
 ग्रन्थों में हुआ है। परन्तु वेदों में वर्णित
 क और सामाजिक विज्ञानों के तत्त्वों का
 दीकरण और उद्भावना करने वाले ग्रन्थ
 के बराबर हैं। राजनीति-विज्ञान
 जिक विज्ञानों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण
 रखता है। वेद में वर्णित राजनीति-
 न के मात्मिक और मौलिक तत्त्वों को
 त ग्रन्थ में उद्भावित और उद्भासित
 गया है।

इस ग्रन्थ के प्रथम भाग संविधान काण्ड में
 माण्डलिक राज्यों के निर्माण से लेकर
 भीमर के चक्रवर्ती या विश्व-राज्य तक के
 ण के सम्बन्ध में वेद के विचारों को
 शत किया गया है। द्वितीय भाग अभ्युदय
 ण्ड में राष्ट्रों की प्रजाओं को सब प्रकार
 मुख-समृद्धिशाली और आनन्दमय जीवन
 नी बनाने के साधनों के विषय में वेद
 विचारों को दर्शाया गया है। तृतीय
 ण प्रतिरक्षा काण्ड में राज्य की प्रतिरक्षा
 लिए सेनाओं के संगठन, संचालन, शास्त्रास्त्र
 र युद्ध-नीति आदि के सम्बन्ध में वेद के
 चारों को प्रदर्शित किया गया है। इस
 णार वेद में सूत्र रूप में वर्णित और स्थान-
 ण पर बिखरे हुए राजनीति-विज्ञान के
 त्वों का विशद मंथन करके एक सर्वांगपूर्ण
 वेक राजनीति-शास्त्र की रचना की गई है
 इसके मौलिक और जन-कल्याणकारी तत्त्वों
 प्रकाश-पुंज विश्वभर में राजनीति के
 व्येक अध्येता के लिए चिन्तन का एक नया
 र्ग प्रशस्त करेगा।

भा. पु.
पा. क. वि.

२५/५



२५१५

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

A STUDY IN VEDIC POLITY



1

संविधान काण्ड
Constitution of the State

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त
(वैदिक राजनीतिविज्ञानम्)
तीन भागों में

1. संविधान काण्ड
(Constituion of the State)

2. अभ्युदय काण्ड
(Welfare of the State)

3. प्रतिरक्षा काण्ड
(Defence of the State)



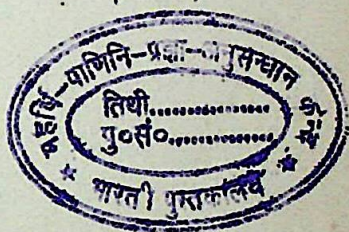
मीनाक्षी प्रकाशन
मेरठ नयी दिल्ली

254

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

वेद के अध्ययन एवं अनुसंधान की एक नवीन दिशा

1241



वेदभार्तण्ड
आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

मीनाक्षी प्रकाशन
बेगम ब्रिज, मेरठ ।

●
4-अन्सारी रोड, दरियागंज;
नयी दिल्ली ।

© मीनाक्षी प्रकाशन, 1983

मीनाक्षी मुद्रणालय मेरठ में मुद्रित ।

25/4

सरस्वती तमोहन्त्री भास्वरा ज्ञानरश्मिभिः ।
भासतां मम लेखन्याः शरद्वयोमरुचौ मुखे ॥

अज्ञानान्धकार का नाश करने वाली, ज्ञान की किरणों से
प्रदीप्त, सरस्वती, शरद् ऋतु के नीले आकाश की भाँति, मेरी
लेखनी के मुख में आकर चमक उठे ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

1241



आत्म-निवेदन

हरयाणाप्रदेशस्य करनालाख्यमण्डले ।
 पानीपतप्रखण्डेस्ति ग्रामो भाऊपुरामिद्यः ॥1॥
 लघुभूमिपतिरासीत् तत्र शीलसमन्वितः ।
 संज्ञया विजयसिंहो हृदं वेदमतानुगः ॥2॥
 समन्ततः प्रसिद्धोभूद् यो ग्रामेषु स्वकैर्गुणैः ।
 निर्णयार्थं विवादानां पंचायतसभासु यम् ॥3॥
 समाह्वयन् जना नित्यं कृष्टास्तार्किकया धिया ।
 प्रतिभासम्पदा चास्य मत्या निष्पक्षया तया ॥4॥
 प्रीतिरार्यसमाजेभूद् दयानन्दपुष्पक्रमे ।
 तस्य धर्मनिष्पणस्य गुर्वी भावसमुत्कटा ॥5॥
 ग्रामे ग्रामे प्रगम्यासौ परितः शतशो जनान् ।
 दीक्षितान् वैदिके धर्मे विदधे यत्नपूर्वकम्¹ ॥6॥
 भार्या भाग्यवती नाम तस्य सौम्यगुणाधिका ।
 स्नेहशीला दयोपेता पातिव्रत्यहृद्व्रता ॥7॥

1. हरयाणा प्रदेश के करनाल जिले में पानीपत तहसील में भाऊपुर नाम का एक गाँव है ।
2. वहाँ विजयसिंह नाम के उत्तम शील-स्वभाव वाले और हृद वैदिक-मतानुयायी एक छोटे जमींदार थे ।
- 3-4. वे आस-पास के चारों ओर के गाँवों में अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध थे । उनकी तार्किक बुद्धि, प्रतिभा और निष्पक्ष मति से आकृष्ट होकर लोग उन्हें विवादों को सुलझाने के लिए पंचायतों में बुलाया करते थे ।
5. वे धार्मिक वृत्ति वाले थे । उनकी ऋषि दयानन्द द्वारा चलाई गई आर्य-समाज में भारी और भाव-भरी प्रीति थी ।
6. उन्होंने चारों ओर गाँव-गाँव में जाकर सैकड़ों लोगों को यत्नपूर्वक आर्य-समाजी बनाकर वैदिक धर्म में दीक्षित किया था ।
7. सौम्यगुणों वाली, स्नेहशीला, दया से युक्त और हृदपतिव्रता भाग्यवती नाम की उनकी पत्नी थी ।

जन्म ताभ्यां मया लब्धं पितृभ्यां शुभकर्मभिः ।
 पूर्वजन्मकृतैर्नूनं परमेशकृपाफलम् ॥8॥
 वसुबाणाङ्कचन्द्रेन्द्रे विक्रमस्य महीपतेः ।
 भद्रे भाद्रपदे मासि वासरे प्रथमे शुभे ॥9॥
 कांगड़ीसंज्ञया ख्याते हरद्वारे गुरोः कुले ।
 स्थापिते लोकवन्द्येन श्रद्धानन्दमहात्मना ॥10॥
 प्राच्यप्रतीच्यविद्यानां पठनाय पिता मम ।
 प्राहिणोन्मन्दिरे बाल्ये विद्याया मां महीयसि ॥11॥
 उपित्वा ब्रह्मचर्येण समुपास्य गुरुंस्तथा ।
 तत्राधीतं मया विज्ञाः समा दश च पंच च ॥12॥
 भोजनाच्छादने नित्यं विद्यासंग्रहणे तथा ।
 चिकित्सायां च निःशुल्कम् आवासे क्रीडनेऽप्यथ ॥13॥
 गुरुणां य उपकाराः श्रद्धानन्दमहात्मनाम् ।
 नानृणतां गमिष्यामि तेषां कल्पशतैरपि ॥14॥
 स्नात्वा साङ्गेषु वेदेषु शास्त्रेषु विविधेषु च ।
 उपाधयो मयावाप्ता अर्जिता विधिपूर्वकम् ॥15॥
 अलङ्कारोऽथ मार्तण्डो वाचस्पतिस्तथैव च ।
 उपाधयस्त्रयस्ते तु विद्या-वेद-पदाचिताः ॥16॥

- 8-9. अपने पूर्वजन्म में किये गए शुभकर्मों के कारण और परमात्मा की कृपा के फलस्वरूप अपना जन्म मैंने उन माता और पिता से विक्रम संवत् उन्नीस सौ अठावन के भाद्रपद मास की प्रथम तिथि को प्राप्त किया था ।
- 10-11. लोकवन्द्य महात्मा श्रद्धानन्द द्वारा हरिद्वार में स्थापित गुरुकुल कांगड़ी नाम से प्रसिद्ध गुरुकुल में जोकि विद्या का महान् मन्दिर है प्राच्य और पाश्चात्य विद्याओं को पढ़ने के लिए बाल्यकाल में ही मेरे पिताजी ने मुझे भेज दिया था ।
12. वहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास और गुरुओं की सेवा करके पन्द्रह वर्ष तक मैंने अध्ययन किया ।
- 13-14. भोजन-वस्त्र, विद्या-ग्रहण, चिकित्सा, आवास और क्रीडा की निःशुल्क व्यवस्था के द्वारा मेरे गुरु महात्मा श्रद्धानन्द ने मुझ पर जो-जो उपकार किये हैं मैं उनका ऋण सैंकड़ों कल्पों में भी नहीं चुका सकता ।
- 15-16. मैंने वहाँ सांगोपांग वेद और अन्य विविध शास्त्रों का अध्ययन करके विधिपूर्वक विद्यालंकार, वेदवाचस्पति और वेदमार्तण्ड ये तीन उपाधियाँ प्राप्त कीं ।

गुरुकुलेथ कालेन पूर्वस्तु सुकृतोदयः ।
 अध्यतिष्ठमहं तत्र यन्त्रीसभानिदेशतः ॥17॥
 चतुर्विंशतिवर्षाणि ह्याचार्यस्य पदं तथा ।
 कुलपतेश्च चत्वारि कुलवास्यभिनन्दितः ॥18॥
 राजनयस्य विज्ञानं यद् वेदेषूपवर्णितम् ।
 विवरणाय तस्याहं ग्रन्थमिमं समारभे ॥19॥
 वेदोदधिः क्व गम्भीरः क्वाल्पा मन्दा मतिर्मम ।
 तद्गाहने प्रवृत्तोस्मि श्रद्धामात्रसहायवान् ॥20॥
 गम्भीरता विचाराणां कापीह यदि लभ्यते ।
 सर्वज्ञानमयी बोध्या श्रुतिस्तस्यास्तु कारणम् ॥21॥
 पन्था अभिनवः कोपि चेत् कथ्यप्रतिपादने ।
 स्वीकृतोत्र कृपा सा तु दयानन्दमहर्षेः ॥22॥
 पाण्डित्यस्य तु लेशोपि क्वापीह यदि दृश्यते ।
 गुरूणां पादसेवाया बुधा बोध्यो वरो ह्यसौ ॥23॥
 गुणः सर्वः परप्राप्तः यः कश्चिदिह वर्तते ।
 मामकाः खलु दोषा ये बहुशोत्र समुच्छिताः ॥24॥

- 17-18. आगे चलकर समय आने पर मैंने अपने पूर्वजन्म में किये गए शुभ कर्मों का उदय हो जाने के कारण वहाँ गुरुकुल विश्वविद्यालय में उसका नियंत्रण और संचालन करने वाली सभा की आज्ञा से चौबीस वर्ष तक प्रधानाचार्य के पद पर और चार वर्ष तक कुलपति के पद पर कार्य किया। उस समय गुरुकुल के निवासी सब छात्रों और शिक्षकों ने मेरा बड़ा अभिनन्दन किया था।
19. वेदों में जो राजनीति का विज्ञान वर्णित है उसकी स्पष्ट व्याख्या और प्रतिपादन करने के लिए मैं इस ग्रन्थ को आरम्भ कर रहा हूँ।
20. ज्ञान का वेदरूपी गम्भीर समुद्र कहाँ और मेरी छोटी और मन्द बुद्धि कहाँ। मैं तो केवल श्रद्धा को सहायक के रूप में लेकर उस समुद्र में गोते लगाने लगा हूँ।
21. इस ग्रन्थ में यदि कहीं विचारों की गम्भीरता मिले तो उसका कारण सर्वज्ञानमयी भगवती श्रुति को ही समझना चाहिए।
22. यदि इस ग्रन्थ में विषय प्रतिपादन का कोई नवीन मार्ग अपनाया गया है तो उसें महर्षि दयानन्द की कृपा का फल जानना चाहिए।¹
23. और यदि इस ग्रन्थ में कहीं कुछ पाण्डित्य का लेश भी दिखाई दे तो उसे मेरे गुरुओं की चरण-सेवा का वरदान समझना चाहिए।
24. इस ग्रन्थ में जो कुछ गुण की बात है वह तो दूसरों से प्राप्त हुई है और जो अनेक दोष हैं वे सब मेरे हैं।

¹ सूत्रेण वैकल्पिको ह्रस्वः प्रकृतिभावश्च, अष्टा० 6.1.128 ॥

x

अयं समर्प्यते ग्रन्थो गुरोः पितृसमस्य मे ।
 नतेन पादयोस्तस्य श्रद्धानन्दमहायते ॥25॥
 वेदोद्धर्तुः प्रकाण्डस्य दयानन्दस्य योगिनः ।
 पादयोरपि नम्रेण मया ग्रन्थो निवेद्यते ॥26॥
 प्रीयतां च ममानेन श्रमेण श्रुतिसेविना ।
 ईश्वरः करुणासिन्धुर्वेदस्याद्यः प्रकाशकः ॥27॥

25. मेरे पिता के सहस्र अपने गुरु महान् संन्यासी श्रद्धानन्द के चरणों में नत होकर मैं इस ग्रन्थ को समर्पित कर रहा हूँ ।
26. वेदों के प्रकाण्ड उद्धारक योगिवर दयानन्द ऋषि के चरणों में भी मैं अपने इस ग्रन्थ को निवेदित करता हूँ ।
27. वेद की सेवा के लिए किये गए मेरे इस परिश्रम से वेद के आदि प्रकाशक करुणासिन्धु परमेश्वर भी प्रसन्न हों यह मेरी प्रार्थना है ।

इस ग्रन्थ की रचना

हम गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, के विद्यालय विभाग में अध्ययन कर रहे थे। हमारे आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज और दूसरे गुरुजन वैदिक धर्म के विभिन्न आदर्शों और पहलुओं पर हम छात्रों को उपदेश दिया करते थे तथा वैदिक धर्म के मूल स्रोत वेद की महिमा का हम लोगों के आगे बखान किया करते थे। गुरुकुल के वार्षिक उत्सवों के अवसर पर भी बाहर से आये विद्वानों और संन्यासियों के वेद के सम्बन्ध में इसी प्रकार के प्रवचन हमें सुनने को मिला करते थे। धर्मशिक्षा के हमारे पाठ्यक्रम में भी ऋषि दयानन्द के सत्यार्थप्रकाश, आर्योद्देश्यरत्न-माला, आर्याभिविनय और व्यवहारभानु आदि ग्रन्थों का समावेश रहता था जिनके अध्ययन से हम लोगों के मनों पर वेद की महिमा का प्रभाव पड़ता था। इस पाठ्यक्रम में जो और पुस्तकें रहती थीं उनसे भी हमारे मनों पर वेद के सम्बन्ध में ऐसा ही प्रभाव पड़ता था। उस समय का गुरुकुल का सारा वातावरण ही हमारे मनों पर वेद के सम्बन्ध में इसी प्रकार का प्रभाव डालता था। हम लोग उस समय वेद को एक बहुत ऊँचा और जीवनोपयोगी महत्वपूर्ण शिक्षाओं से भरा हुआ ज्ञान-विज्ञान का ग्रन्थ समझा करते थे। गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग में वेद पढ़ाये जाते थे। जब हम विद्यालय विभाग का दस वर्ष का पाठ्यक्रम पूरा करके विद्यालय की अन्तिम परीक्षा 'विद्याधिकारी' उत्तीर्ण करके महाविद्यालय विभाग में प्रविष्ट हुए तब हम वेद पढ़ने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे और बड़े प्रसन्न थे कि अब हमें वेद पढ़ने को मिलेंगे।

वेद के अध्ययन के लिए पहले अष्टाध्यायी और निरुक्त आदि ग्रन्थों का पढ़ना आवश्यक होता है। अष्टाध्यायी और महाभाष्य तो हमने विद्यालय में ही पढ़ लिये थे। महाविद्यालय में हमें वेद के पाठ्यक्रम में पहले-पहल यास्काचार्य का निरुक्त पढ़ाया गया। निरुक्त वैदिक वाङ्मय का एक निराला और बहुत अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। वेद को समझने के लिये निरुक्त का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। वेद के शब्दों के अर्थ किस प्रकार करने चाहिए इस सम्बन्ध में निरुक्त में बड़ी विस्तृत विवेचना की गई है। और उदाहरण के रूप में वेद के सैंकड़ों कठिन शब्दों के अर्थ करके दिखाये गये हैं। जिन मंत्रों में ये शब्द आये हैं उनको उद्धृत करके उनका अर्थ करते हुए उनमें आये अन्य शब्दों का अर्थ भी वहाँ किया गया है। इस प्रकार वेद के लगभग 2367 शब्दों के अर्थ निरुक्त में किये गये हैं।¹ वैदिक शब्दों की निरुक्तियाँ

¹ यह संख्या पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार के निरुक्त-भाष्य में दी गई पद-सूचियों के आधार पर दी गई है। इनमें से लगभग 1300 शब्दों की तो निरुक्त में विस्तृत निरुक्तियाँ दी गई हैं और शेष शब्दों के अर्थों की ओर सामान्य निर्देश कर दिया गया है।

या उनके यौगिक अर्थ जानने की दृष्टि से निरुक्त एक अमूल्य ग्रन्थ है और उसकी सहायता के बिना वेद को समझ पाना दुष्कर है। परन्तु निरुक्त में उद्धृत अधिकांश वेद-मंत्रों के जो अर्थ किये गये हैं वे हमें अपने उस अध्ययन काल में कुछ विशेष रुचिकर नहीं लगे। उन अर्थों से हमें कोई जीवनोपयोगी विशेष व्यावहारिक शिक्षा निकलती हुई प्रतीत नहीं हुई। हमारे मन में वेद के सम्बन्ध में ज्ञान-विज्ञान का एक महान् ग्रन्थ होने की जो आस्था महाविद्यालय में निरुक्त पढ़ना आरम्भ करने से पूर्व बनी हुई थी उस प्रकार की बात हमें निरुक्त में दिये गये वेद मंत्रों के अर्थ को पढ़ने पर प्रतीत नहीं हुई। उस समय हमें तो निरुक्त में दिये गये वेद मंत्रों के अर्थों में सूर्य और मेघ की लड़ाई, विद्युत् और मेघ की लड़ाई तथा वायु और मेघ की लड़ाई के वर्णनों के अतिरिक्त कोई विशेष शिक्षाप्रद बात दिखाई नहीं दी। हमें बड़ी निराशा हुई और वेद के प्रति जो आस्था की वृद्धि बनी हुई थी वह जाती रही। वेद के प्रति एक प्रकार की अनास्था की सी वृत्ति मन में उत्पन्न होने लगी। इस वृत्ति के कारण हम अपने उपाध्यायों से अनेक प्रकार के प्रश्न किया करते थे जिनका सन्तोषजनक समाधान उस समय हमें मिलता हुआ प्रतीत नहीं होता था। इससे हमारे मन में यह वृत्ति और भी बढ़ती गई। महाविद्यालय के प्रथम दो वर्षों में हमारे मन में वेद के प्रति यही अनास्था की वृत्ति रही।

तृतीय वर्ष के प्रारंभ में गुरुकुल का जो वार्षिक उत्सव हुआ उसमें आर्यसमाज के नेता और महान् विचारक श्री नारायण स्वामीजी महाराज भी पधारे हुए थे। उत्सव में श्री स्वामीजी का वेद के महत्त्व के ऊपर एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान हुआ। भारतीय आयों की परम्परा में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और आचार्य लोग वेद को जो आदर देते रहे हैं, उसे जिस गौरव की दृष्टि से देखते रहे हैं और उसे जिस प्रकार आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान-विज्ञान का ग्रन्थ समझते रहे हैं, उस सबका स्वामीजी महाराज ने भावपूर्ण शैली में वर्णन किया और उपस्थित जनता से श्रद्धापूर्वक वेद का अध्ययन करते रहने का आग्रह किया। यों स्वामीजी ने ऐसी कोई नई बात नहीं कही थी जिसे हमारे गुरुजन हमें नहीं बता चुके थे और जिसे हम नहीं जानते थे। परन्तु स्वामीजी महाराज के भाषण का प्रकार इतना ओजस्वी और भावपूर्ण था कि उसका हमारे मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और हमारी अनास्था की वृत्ति शिथिल पड़ गई। उनका यह भाषण सुनकर हमने वेद का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करते रहने का निश्चय कर लिया।

उत्सव समाप्त होते ही एक घटना और घटी। हम एक दिन कोई पुस्तक लेने के लिए गुरुकुल के पुस्तकालय में गये। पुस्तकाध्यक्ष ने कहा कि आप स्वयं ही अलमारी में से वांछित पुस्तक निकाल लाइये और लाकर उसका नम्बर आदि यहाँ अंकित करा दीजिये। हमने जब अभीष्ट पुस्तक निकालने के लिये अलमारी खोलकर पुस्तकें देखनी शुरू कीं तो शैल्फ में से मनुस्मृति नीचे गिर पड़ी और खुल गई। जो पृष्ठ उसका खुला उस पर छपे एक श्लोक पर हमारी दृष्टि पड़ी जिसका अर्थ है कि

‘वेद शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति सेनापत्य अर्थात् सेनाओं का संघटन और संचालन कर सकता है, राज्य का संचालन कर सकता है, दण्ड नेतृत्व अर्थात् न्यायव्यवस्था का संचालन कर सकता है और सर्वलोकाधिपत्य अर्थात् सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य का संचालन कर सकता है।’¹ मनु के इस श्लोक का दूसरे शब्दों में यह तात्पर्य है कि वेद में राजनीतिशास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान दिया गया है। मनु के इस श्लोक को देखकर हमारे मन में आया कि मनु महाराज तो वेद को इतना बड़ा ज्ञान-विज्ञान का ग्रन्थ कहते हैं और उसमें राजनीतिशास्त्र का भी सम्पूर्ण ज्ञान दिया गया है ऐसा मानते हैं; और उधर हम जब आचार्य सायण आदि के वेदभाष्यों को पढ़ते हैं तो उनमें हमें इस प्रकार की ज्ञान-विज्ञान की कोई भी बात दिखाई नहीं देती। उसी समय हमारे मन में यह विचार उठा कि राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में वेद में क्या-कुछ कहा गया है इस दृष्टि से उसका अध्ययन करना चाहिए। तभी हमने मूल वेद के दस पृष्ठों का प्रतिदिन पाठ करने का नियम कर लिया, चाहे समझ में आये और चाहे न आये। यह सन् 1923 के आरम्भ की बात है।

हम निरन्तर इस प्रकार वेद का प्रतिदिन पाठ करते रहे। प्रारम्भ की एक-दो आवृत्तियों में तो हमें वेद-मन्त्रों में कहीं कोई राजनीति सम्बन्धी विशेष बात दृष्टि-गोचर नहीं हुई। धीरे-धीरे गुरुकुल विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में और पाठ्यक्रम से बाहर भी अनेक विषयों और अनेक ग्रन्थों का हमारा स्वाध्याय बढ़ता जा रहा था तथा उसके साथ ही धीरे-धीरे हमारी समझ और चिन्तन-शक्ति भी बढ़ती जा रही थी। अगली आवृत्तियों में शनैः-शनैः हमें वेदमन्त्रों में कहीं-कहीं राजनीति विषयक संकेत झलकते दिखाई देने लगे। हम वेद के ऐसे स्थलों पर चिह्न लगा लेते थे। वेद के दैनिक पाठ का क्रम निरन्तर चलता रहा। हमें राजनीति विषयक अधिकाधिक संकेत मन्त्रों में दिखाई देने लगे। सन् 1925 के अप्रैल मास में हमने गुरुकुल विश्वविद्यालय की अलंकार परीक्षा उत्तीर्ण करके वहाँ की विद्यालंकार उपाधि प्राप्त की। अलंकार उपाधि के अध्ययनकाल में वेद और वैदिक साहित्य का विशेष अध्ययन करने की रुचि हमारे मन में जाग्रत हो गई थी। इसके लिए हमने वेद विषय लेकर गुरुकुल विश्वविद्यालय की वाचस्पति परीक्षा उत्तीर्ण करने का निश्चय किया जो कि उन दिनों डाक्टरेट (Doctorate) के समकक्ष समझी जाती थी। इस परीक्षा के लिए जो विशेष निबन्ध लिखा जाना था उसके लिए हमने वेद में राजनीति विज्ञान का विषय ही चुना। उक्त परीक्षा के लिए हमने इसी विषय पर ‘वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त’ शीर्षक से एक दो सौ फुलस्केप पृष्ठ का निबन्ध लिखा था जो सोलह अध्यायों में विभक्त था।

सन् 1928 में वेदवाचस्पति की उपाधि प्राप्त करके हम लाहौर चले गये और वहाँ गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्वामिनी सभा आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के

¹ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविद्वहंति ॥ मनु० 12.100.

अधीन वेद प्रचार विभाग और दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय में काम करने लगे। उपदेशक महाविद्यालय में हमें अन्य अनेक विषयों के अतिरिक्त वेद के अध्यापन का कार्य भी करना होता था। राजनीति विज्ञान सम्बन्धी वेद के निर्देशों का संग्रह करने की दृष्टि से हमारा वेद का दैनिक पारायण निरन्तर चलता रहा। यह पारायण करते हुए हमें प्रतीत होने लगा कि हमने वाचस्पति परीक्षा के लिए जो प्रबन्ध लिखा था वह तो एक बहुत छोटी और साधारण सी चीज थी और अनेक दृष्टियों से अपूर्ण और अपरिपक्व चीज थी। हमारा विचार बना कि इस विषय पर हमें फिर से और विस्तार से लिखना चाहिए ताकि वेद में राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में वर्णन की अपनी विशेष शैली में जो विस्तृत उपदेश दिया गया है उसके गौरव के अनुरूप हमारा ग्रन्थ हो सके। सन् 1935 में आर्य प्रतिनिधि सभा ने हमें दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय का प्रधानाचार्य नियुक्त कर दिया। उसी समय से हमने इस ग्रन्थ को पुनः नये सिरे से लिखना आरम्भ कर दिया।

इस ग्रन्थ के लेखन और तद्विषयक अनुसन्धान में प्रतिदिन जितना समय दिया जाना आवश्यक था उतना समय हम उपदेशक महाविद्यालय का दैनिक कार्य करते हुए तथा बीच-बीच में प्रचारार्थ आर्य सभाओं में जाते रहते हुए नहीं निकाल पाते थे। उपदेशक महाविद्यालय के ग्रीष्मावकाश के दिनों से ही लेखन का यह कार्य हो पाता था। ग्रीष्मावकाश के दिनों में हम प्रतिवर्ष शिमला चले जाते थे और वहाँ की गुरुकुल विभाग की लोअर बाजार आर्य समाज में रहकर इस ग्रन्थ के लेखन का कार्य किया करते थे। आर्य समाज शिमला के उन दिनों के अधिकारी और सभासद्, जिनमें अधिकांश भारत की ब्रिटिश सरकार के कार्यालयों के पदाधिकारी हुआ करते थे, सभी बड़े सज्जन और आर्य समाज तथा ऋषि दयानन्द के प्रति गहरी आस्था रखने वाले थे और आर्य समाज का काम पूरी कर्तव्यबुद्धि से करते थे। वे लोग मेरे समाज में ठहरने और भोजन आदि की सब व्यवस्था सुन्दर रूप से कर देते थे। इनमें श्री श्रीकृष्ण जी कक्कड़ और श्री शंकरनाथ जी एडवोकेट के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। इन दोनों के परिवारों से तो हमारा घनिष्ठ सम्पर्क ही बन गया था। श्री शंकरनाथ जी की धर्मपत्नी श्रीमती सरस्वती देवी जी, जो एक योग्य सामाजिक कार्यकर्त्री महिला थीं, हमारे प्रति बड़े ही आदर और स्नेह के भाव रखती थीं और हमारी सब सुख-सुविधाओं का बड़ा ध्यान रखती थीं।

सन् 1943 के अगस्त में हम गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य और उपकुलपति बनकर लाहौर से वहाँ आ गये थे। आगे चलकर हम इस संस्था के कुलपति (वाइस-चांसलर) भी बने और इसी पद से सेवा-निवृत्त हुए। गुरुकुल में आने के बाद भी हम कई वर्ष तक ग्रीष्मावकाश के दिनों में शिमला जाकर इस ग्रन्थ के लेखन का कार्य करते रहे। इस प्रकार सन् 1935 से 1947 तक ग्रीष्मावकाश के दिनों में आर्य समाज शिमला में जाकर इस ग्रन्थ के लिखने का क्रम निरन्तर चलता रहा।

इस ग्रन्थ का एक बड़ा भाग तो उन्हीं दिनों में लिख लिया गया था। ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय भाग के अनेक अध्याय तो उन दिनों हमारे सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रहे आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, के मासिक पत्र 'आर्य' के फरवरी 1939 तक के चार-पाँच वर्षों के अंकों में भी प्रकाशित हो गये थे। सन् 1947 के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ और कारण बनते रहे कि ग्रन्थ का शेष अंश पूरा करने का अवसर ही नहीं मिल सका। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सेवा से मुक्त होने के पश्चात् भी कई कारणों से देर तक यह ग्रन्थ पूरा न किया जा सका था। प्रभु की कृपा से अब कहीं जाकर यह ग्रन्थ पूरा हो सका है।

वेद में वर्णित किसी विज्ञान को सांगोपांग विस्तृत रूप में प्रदर्शित करने का हमारा यह प्रथम प्रयत्न है। इसमें हमसे अनेक भूलें और त्रुटियाँ भी हुई होंगी। सहृदय और विज्ञ पाठक इन भूलों और त्रुटियों पर ध्यान न देकर इस ग्रन्थ में जो कुछ अभिनन्दनीय हो उसी पर ध्यान देने का अनुग्रह करेंगे। कहा भी है—

गच्छतः स्वल्पं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

‘चलता हुआ व्यक्ति असावधानी के कारण कहीं न कहीं गिर ही पड़ता है, जो लोग सज्जन नहीं होते वे तो उसकी हँसी उड़ाते हैं, और सज्जन लोग उसको सान्त्वना देते और उसका उत्साह बढ़ाते हैं।’

करनाल के रईस माननीय श्री प्रताप सिंह जी चौधरी वैदिक धर्म में हृद आस्था रखने वाले महानुभाव हैं। इस युग के महान् वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती को वे अपना प्रेरणा-स्रोत मानते हैं। इस ग्रन्थ की मुद्रणार्थ प्रति (प्रेस कापी) टाइप कराने के लिए आपने जो सहायता देने की कृपा की थी, मैं उसके लिए उनका अत्यन्त आभारी हूँ और उनका हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

यहाँ मैं अपनी पत्नी श्रीमती यशोदा देवी का भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। और उन्हें धन्यवाद देता हूँ उन्होंने सदा मुझे गृहस्थ के सब प्रकार के कार्यभार की चिन्ता से मुक्त रखा है। इसी कारण मैं अपने इस विशाल ग्रन्थ और अन्य ग्रन्थों के प्रणयन का कार्य और दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय, लाहौर तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार का आचार्य एवं कुलपति के रूप में दीर्घकालीन संचालन तथा अपने अन्य सार्वजनिक कार्य निश्चित होकर कर सका हूँ।

—प्रियव्रत

विषय-सूची

○ आत्म-निवेदन	vii
○ इस ग्रन्थ की रचना	xi
○ भूमिका	xxiii
○ विषय-प्रवेश	1
प्राचीन भारतीय आर्यों का वेद के सम्बन्ध में विश्वास	
वेद और शतपथ ब्राह्मण	
वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण	
वेद और मनु	
वेद और वेदान्त दर्शन तथा शंकराचार्य	
वेद और उपवेद तथा वेद और अंग-उपांग	
वेद और मध्यकालीन भाष्यकार	
वेद और विदेशी टीकाकार और उनका नव-शिक्षितों पर प्रभाव	
ऋषि दयानन्द पुरानी आवाज फिर उठाते हैं	
वेदार्थ करने की शैली	
वेदों का नये सिरे से अध्ययन आरम्भ हुआ है	
प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम और उद्देश्य	
1. राज्य-संस्था का विकास	9
राज्य शनैः शनैः विकसित होकर पूर्णता की अवस्था तक आता है	
विराट् अर्थात् राज्य विहीन-अवस्था	
गार्हपत्य अवस्था	
आहवनीय अवस्था	
दक्षिणाग्नि अवस्था	
सभा की अवस्था	
समिति की अवस्था	
आमन्त्रण की अवस्था	
इन मन्त्रों का उपदेश किसलिए किया गया ?	
2. मातृभूमि की भावना	15
भूखण्ड को मातृभूमि समझने पर ही राज्य का विकास संभव	
वेद के विभिन्न स्थलों में मातृभूमि की भावना की शिक्षा	

- भूमि का अर्थ मातृभूमि है
मातृभूमि की भावना का वैदिक अभिप्राय
3. राजा का चुनाव 22
अग्नि-सूक्तों के प्रमाण
इन्द्र-सूक्तों के प्रमाण
कुछ अन्य सूक्तों के प्रमाण
4. अग्नि और इन्द्र 78
अग्नि का अर्थ सम्राट्
अधिष्ठात्री-देवतावाद वेदसम्मत नहीं है
इन्द्र का अर्थ सम्राट्
इन्द्र मनुष्यों का राजा अधिक और देवों का कम
5. राजा के वैयक्तिक गुण 111
6. राजा का राज्यकाल 117
राजा सारी आयु के लिए चुना जायेगा
सारी आयु का तात्पर्य गृहस्थाश्रम का काल
राजा भी वानप्रस्थाश्रम में जायेगा
दुलोक का अर्थ वानप्रस्थाश्रम
प्राचीन भारतीय राजा वानप्रस्थाश्रम में जाते थे
7. राजा की राष्ट्रीयता 126
अपने राष्ट्र का व्यक्ति ही राजा चुना जायेगा
विशेष अवस्था में अन्य राष्ट्र का व्यक्ति भी राजा बन सकता है
8. राजा के चुनाव का अधिकार 131
राजा के चुनाव में समग्र प्रजा की सहमति आवश्यक है
राजा के चुनाव में राष्ट्र के ब्राह्मणों की सहमति का महत्त्व
दोनों पक्षों का समन्वय
9. पर्णमणि अथवा संवरण-पत्र 138
अथर्ववेद के पर्णमणि सूक्त पर कुछ विचार
पर्णमणि का अर्थ
पर्णमणि सूक्त की विस्तृत व्याख्या
ओषधि अर्थात् शिक्षा-संस्थाएँ
सोम का अर्थ स्नातक
ओषधि पर और अधिक विचार
शिक्षा-संस्थाओं को भी मताधिकार

10. राजा के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें 160
 प्रत्याशियों द्वारा कार्यक्रम की घोषणा
 वर्णः सम्राट्
 चुनाव के समय राजा के गुणों का वर्णन
 राजा बहुमत से चुना जायेगा
 राजा की राज्य-व्युति
 राजा कोई दैवी व्यक्ति नहीं है
11. स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य बुरा है 171
12. संघीय राज्य प्रणाली 175
 राज्य-संघ राज्य-प्रणाली के प्रतिपादक वेद के कुछ स्थल
 सम्राट् की सरकार और माण्डलिक राज्यों के मधुर सम्बन्ध
 राज्य-संघ राज्य-प्रणाली की उत्कृष्टता
13. उदार राजनीति 187
 पाँच जनों का हितकारी सम्राट्
 पाँच जन किसे कहते हैं ?
 वर्ण गुण-कर्म पर आधारित हैं, जन्म पर नहीं
 ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग
 समाज का ब्राह्मणादि चार वर्णों में विभाग आदर्श विभाग
 पाँचवाँ जन कौन होगा ?
 सम्राट् सज्जन वर्णोत्तर लोगों की भी रक्षा करेगा
 विचार-भेद के कारण किसी को दण्डित नहीं किया जायेगा
 विभिन्न भाषा-भाषी और धर्मावलम्बी प्रेमपूर्वक रहें
14. ब्राह्मणों को पूरा वाक्-स्वातन्त्र्य प्राप्त हो 196
 ब्राह्मण की गौ का अर्थ ब्राह्मण की वाणी
15. स्त्रियों की राजनैतिक स्थिति 203
 नगर-सभाओं का प्रबन्ध स्त्रियों के हाथ में होना चाहिए
 स्त्रियाँ सभा और समिति की सदस्य भी चुनी जा सकती हैं
 स्त्रियाँ राजा भी चुनी जा सकती हैं
16. सभा और समिति : संसद के दो सदन 206
 सभा और समिति का कार्य
 राज-सभा दुहिता क्यों है ?
 सभा और समिति राज-सभाएँ हैं
 ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में समिति के कर्तव्य

श्री ग्रिफिथ का भ्रम
 श्री जायसवाल का भ्रम
 कुछ अन्य स्थलों में समिति और सभा के कामों का वर्णन
 राष्ट्रीय संगमनी
 देवता का निर्णय तर्क से होता है
 वागाम्भूणी का अर्थ
 राष्ट्र संगमनी के कार्य
 ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था राज-सभा करेगी
 सूक्त में अम्भृण ऋषि की कन्या 'वाक्' का वर्णन नहीं
 सभी कार्य राज-सभाओं में विचार करके किये जाने चाहिए
 सभा और समिति के सदस्य पवित्र भावना वाले हों
 सभा और समिति का पारस्परिक सम्बन्ध
 सभा और समिति की रचना
 समिति के सदस्यों की विशेष योग्यता
 समिति में ब्राह्मणों की प्रधानता होगी
 सभा और समिति के सदस्यों का कार्यकाल
 माण्डलिक राजा और सम्राट् दोनों ही की सभा और समितियाँ
 सभा और समिति के अधिवेशनों का संचालन
 सभा और समिति का सभापति कौन हो ?
 विचारणीय विषयों पर विचार किस प्रकार हो ?
 सभा और समिति के अधिवेशनों में राजा भी उपस्थित रहेगा
 सभा और समिति के सभासद् माण्डलिक राजा भी होंगे
 सभा-भवन
 राज्य की तीन सभाएँ
 ऋषि दयानन्द और राज्य की तीन सभाएँ
 दलविहीन प्रजातंत्र
 ब्राह्मण

17. इन्द्रेन्द्र और आमन्त्रण

254

इन्द्रेन्द्र : सार्वभौम सम्राट्
 इन्द्रेन्द्र का चुनाव विश्व की समग्र प्रजायें करेंगी
 विश्व के सभी राष्ट्र सार्वभौम सरकार को कर देंगे
 इन्द्रेन्द्र की अपनी पुलिस और सेना होगी
 विश्व-राष्ट्र
 चुनाव आदि के सामान्य नियम इन्द्रेन्द्र पर भी लगेंगे

आमन्त्रण : सार्वभौम राजसभा

आमन्त्रण की रचना

विश्वभर की शान्ति और सुख-समृद्धि पर विचार

ऋषि दयानन्द और सार्वभौम राजसभा

आमन्त्रण शब्द की एक महत्वपूर्ण व्यंजना

18. देवमाला : मन्त्रिमण्डल

267

इन्द्र : सम्राट्

अग्नि : दूत विभाग का मन्त्री

अश्विनो : परिवहन मन्त्री

वरुण : पुलिस विभाग का मन्त्री

मित्र : जन-मैत्री विभाग का मन्त्री

सोम : न्याय विभाग का मन्त्री और न्यायाधीश

रुद्र : प्रतिरक्षा मन्त्री और सेनापति

त्वष्टा : शिल्पकला और उद्योग-धन्धों का मन्त्री

बृहस्पति : मन्त्री-पुरोहित

पूषा : अर्थ-मन्त्री

सविता : विधि-मन्त्री

सूर्य : शिक्षामन्त्री

विष्णु : प्रधानमन्त्री

अर्यमा : न्याय विभाग का मन्त्री और न्यायाधीश (दीवानी)

भग : जन-कल्याण और कृषि विभाग का मन्त्री

सरस्वती : स्त्री-शिक्षा विभाग की मन्त्री

पर्वत : पर्वत-सुरक्षा विभाग का मन्त्री

वायु : वायु-प्रदूषण निराकरण विभाग का मन्त्री

कुत्स : सतर्कता विभाग का मन्त्री

19. राज्य और न्याय विभाग

555

राष्ट्र में न्यायालयों की स्थापना

इन सूक्तों के देवता इन्द्र और सोम हैं

राक्षस कौन हैं ?

अपराधों का निर्णय न्यायालयों में होना चाहिए

कुछ अपराधों के नाम

ब्रह्मद्वेषी को दण्ड देने का अभिप्राय

दण्ड के प्रकार

पणि का अर्थ

अपराध को नष्ट करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय

सोम : न्यायाधीश

न्यायाधीश ब्राह्मण होना चाहिए

ब्राह्मण और सोम के विभिन्न रूप

न्यायाधीश अपराधी राज्याधिकारियों को भी दण्डित करेगा

20. राज्याभिषेक

586

राजसूय और वाजपेय

वेद में वाजपेय और राजसूय शब्द

राजसूय भी सम्राट् का यज्ञ

माण्डलिक राजा और सम्राट् दोनों का ही अभिषेक

राजा सब तीर्थों के जलों से स्नान करे

सामान्य राज्याधिकारियों का भी पद-ग्रहण के समय अभिषेक

स्नान के समय राजा कर्तव्य बोध वाले मंत्रों का पाठ करे

उस समय राजा राजसी ठाट के विशेष वस्त्रों को धारण करे

राजा सुन्दर रथ में बैठकर यज्ञ-भूमि में आये और वहाँ से जाये

राजसिंहासन

यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित की जाये

राजा और प्रजा के प्रतिनिधि मातृभूमि को नमस्कार करें

अभिषेक पर राजा और उसके माता-पिता का उल्लेख

प्रजाजन नये राजा की प्रजायें होने की घोषणा करें

प्रजाओं की स्वीकृति से राजा सिंहासन पर बैठेगा

राजसूय में राजा की मृत्यु

ऐतरेय ब्राह्मण और राजा की एक विकट प्रतिज्ञा

राजा सब देवों का रूप है

राज्य के प्रत्येक विभाग के अधिकारी से राजा सहायता ले

राजा की ध्रुवता की प्रार्थना की जाये

प्रजापालन के लिए राजा को राजसिंहासन दिया जाता है

राजा अभिषेक के समय प्रजापालन का वचन देगा

राजा की आयु की प्रार्थना की जाये

अभिषेक से पहले राजसभा में प्रस्ताव स्वीकृत होना चाहिए

21. देवताओं की संख्या पर विचार

609

तैंतीस देवता

आदित्य, रुद्र और वसु

आदित्य, रुद्र और वसु की ऋषि दयानन्द की व्याख्या

देवों की संख्या सैंकड़ों और हजारों
एक समाधेय प्रश्न

22. राज्यों का पतन कैसे रुक सकता है 624
 राष्ट्र-धारण के लिए आवश्यक प्रजाओं के गुण
 नेताओं के पाँच प्रमुख गुण
 प्रजाजन और नेताओं के सामान्य गुण
 इस गाड़ी में बैल कैसे जोड़ोगे ?
 गौ और अग्नि के उपासक बनो
 गौ के अनेक अर्थ
 अग्नि के अनेक अर्थ
 सब वर्णों के लोग परस्पर प्रेम से रहें
 ब्रह्म और क्षत्र का सहयोग
 ब्राह्मण और क्षत्रियों के सहयोग पर बल क्यों ?
 प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को भोजन मिलना चाहिए
 दुर्बल को सबल न सता सके
 राष्ट्र की सेना सन्तुष्ट रहनी चाहिए
 प्रत्येक प्रजाजन राष्ट्र की वृद्धि में तत्पर रहे
 राजा और प्रजा विषयासक्त न हों
 राष्ट्रों के पतन पर ऋषि दयानन्द
23. राज्य की राजधानी 647
 लोहे और पत्थर के प्राचीरों वाले नगर
24. राष्ट्रीय गीत 654
 राष्ट्रीय गीत या विश्वराष्ट्रीय गीत
- o संदर्भ ग्रन्थ सूची 660
 - o मन्त्र-अनुक्रम 661

भूमिका

1. वेद की वर्णन-शैली

वेद में जिस किसी विषय का भी उपदेश दिया गया है वह प्रायः इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, सविता, पूषा, विष्णु और सोम आदि देवताओं के माध्यम से दिया गया है। वेदमंत्रों में कहीं तो इन देवताओं के गुणों और कार्यों का वर्णन किया गया है और कहीं उनसे भाँति-भाँति की प्रार्थनाओं की गई हैं। देवताओं के इन वर्णनों और उनसे की गई इन प्रार्थनाओं से अनेक प्रकार के निष्कर्ष निकलते हैं जिनसे जीवनोपयोगी अनेक विषयों पर वेद के उपदेश प्रकट होते हैं और विविध प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। वेद में किसी एक स्थान पर किसी एक विषय का सांगोपांग प्रतिपादन किया हुआ नहीं मिलता। वेद की अपनी ही अलग शैली है। उसमें इन्द्र, अग्नि और वरुण आदि विभिन्न देवताओं के गुणों और कार्यों के वर्णनों और प्रार्थनाओं के द्वारा ही सब बातों का उपदेश दिया गया है। इसलिये वेद में किसी विषय के सम्बन्ध में क्या-कुछ उपदेश दिया गया है उसे जानने के लिये वेद में भिन्न-भिन्न स्थानों में पाये जाने वाले इन देवताओं के विशेषणों और वर्णनों का तथा उनसे की गई प्रार्थनाओं का अध्ययन करके उनसे जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उन्हें आजकल की लेखन-शैली में क्रमबद्ध करके ग्रन्थ का रूप देना होगा।

वेद के ये इन्द्र, अग्नि और वरुण आदि देवता, जैसा कि इनके विषय में प्रचलित पौराणिक कल्पना है, किसी कल्पित स्वर्ग-विशेष में रहने वाले कोई विशेष प्रकार के कल्पित प्राणी नहीं हैं। ये तो विश्व ब्रह्माण्ड का निर्माण करने वाले, उसमें काम करने वाले और उसका संचालन करने वाले विभिन्न भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के नाम हैं। वेद में इनमें से किसी तत्त्व को इन्द्र नाम से कहा गया है, किसी को अग्नि नाम से और किन्हीं को वरुण आदि नामों से कहा गया है। ये तत्त्व अनेक रूपों में एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक-दूसरी दृष्टि से एकरूप भी हो जाते हैं। वेद में इन तत्त्वों का जड़ पदार्थों जैसा वर्णन भी अनेक स्थलों पर मिलता है, चेतन मनुष्यों जैसा वर्णन भी मिलता है और परमात्मा जैसा वर्णन भी मिलता है। प्रकृति से बने अनेक जड़ पदार्थों में भी अपने प्रकार का 'इन्द्रत्व' पाया जाता है, जीवात्माओं या देहधारी मनुष्यों में भी अपने प्रकार का 'इन्द्रत्व' पाया जाता है और परमेश्वर में भी अपने प्रकार का 'इन्द्रत्व' पाया जाता है। इसी प्रकार अनेक प्राकृतिक जड़ पदार्थों में भी अपने प्रकार का 'अग्नित्व' पाया जाता है, जीवात्माओं या शरीरधारी

मनुष्यों में भी अपने प्रकार का 'अग्नित्व' पाया जाता है और परमात्मा में भी अपने प्रकार का 'अग्नित्व' पाया जाता है। इस कारण विभिन्न प्राकृतिक जड़ पदार्थों को भी वेद में 'इन्द्र' और 'अग्नि' कह दिया गया है, जीवात्माओं या मनुष्यों को भी 'इन्द्र' और 'अग्नि' कह दिया गया है तथा परम पुरुष भगवान् को भी 'इन्द्र' और 'अग्नि' कह दिया गया है। यही बात वरुण आदि अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। यद्यपि वेद में प्राकृतिक जड़ पदार्थों, जीवात्माओं या मनुष्यों और परमात्मा सभी को इन्द्र और अग्नि आदि नामों से कह दिया गया है तथापि इन सबकी यह एकता अद्वैतवादियों की भाँति पारमार्थिक या वास्तविक एकता नहीं है। यह एकता गुणसाम्य की एकता है। यों प्रकृति, जीव और ब्रह्म परमार्थतः, वस्तुतः एक-दूसरे से भिन्न हैं। तीनों की इस वास्तविक भिन्नता का वेद में अनेक स्थानों पर निर्देश कर दिया गया है।¹ जब वेद में इन्द्र आदि पदों के ऊपर निर्दिष्ट प्रकार से विशेषणों के आधार पर स्थान-स्थान पर इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ कर दिये जाते हैं तो भी 'इन्द्रत्व' आदि के कारण उन सभी अर्थों में एक प्रकार की एकता भी बनी रहती है। उन सभी अर्थों में इन्द्र आदि तत्त्वों का ही वर्णन हो रहा होता है। वेद के अध्ययन में यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए।

जैसा कि हमने अभी ऊपर की पंक्तियों में कहा है वेद के इन्द्र आदि देवता किसी कल्पित स्वर्ग-विशेष में रहने वाले एक प्रकार के विशेष प्राणी नहीं हैं। वेद में 'देवता' का अर्थ वह विषय होता है जिसका किसी मंत्र या सूक्त में वर्णन रहता है।² यह देवता शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। वेद में इन्द्र आदि देवताओं के वर्णन से विश्व-ब्रह्माण्ड के इन्द्र आदि तत्त्वों का वर्णन समझना चाहिए। किसी काल्पनिक स्वर्ग-विशेष में रहने वाले कोई काल्पनिक देवता नामक प्राणी नहीं। वेद में स्वयं वेद को परमात्मा का अमर काव्य³ कहा गया है और परमात्मा को कवि⁴ कहा गया है। इसीलिए वेद की अधिकांश रचना काव्यात्मक शैली में है। इसी काव्यात्मक शैली का अवलम्बन करके वेद में इन्द्र और अग्नि आदि शब्दों के द्वारा वर्णित किये गये जड़ पदार्थों का भी वर्णन इस प्रकार कर दिया गया है कि मानो वे कोई चेतन पदार्थ हों। इस काव्यात्मक शैली से वर्णन में रोचकता उत्पन्न हो जाती है। कवियों द्वारा अपनी कविताओं और काव्यों में मेघ, हिमालय और मातृभूमि आदि जड़ पदार्थों का भी चेतन की भाँति वर्णन प्रसिद्ध ही है। अग्नि आदि शब्दों के द्वारा वर्णित किये गये जड़ पदार्थों में वस्तुतः चेतनता या पुरुषविधता न होने पर भी वेद में

¹ उदाहरण के लिए देखें—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। ऋग् 1.164.20 आदि मंत्र।

² या तेनोच्यते सा देवता। कात्यायन-ऋक्सर्वानक्रमणी (1.5) तेन = मंत्रेण।

³ देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अथ० 10.8.32.

काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः। अथ० 5.11.2.

काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः। अथ० 5.11.3.

⁴ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। यजु० 40.8.

काव्यात्मक शैली में इस प्रकार का वर्णन कर दिया गया है कि मानो वे चेतन या पुरुषविध हों। वैदिक व्याकरण के विभक्ति और वचनों आदि के व्यत्यय विषयक नियमों का अवलम्बन करने पर तो जड़ पदार्थों के इन वर्णनों में चेतनता या पुरुषविधता बिल्कुल ही नहीं रह जाती।¹ पर काव्यात्मक शैली से भी इन वर्णनों का समाधान हो जाता है।

2. वेद में विविध ज्ञान-विज्ञान

इन इन्द्र आदि देवताओं के वेद में अनेक स्थानों पर पाये जाने वाले विशेषणों और वर्णनों को ध्यान से देखने पर इनके अनेक रूप सामने आते हैं और उनसे विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिये इन्द्र को ही ले लें। अनेक स्थानों पर इन्द्र के ऐसे विशेषण और वर्णन आते हैं जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वहाँ इन्द्र का अर्थ परमात्मा है। उन स्थलों में इन्द्र का अर्थ परमात्मा करने के लिये किसी प्रकार की खँचातानी या क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती। उन स्थलों के इन्द्र के वर्णन से ब्रह्म-विज्ञान सम्बन्धी अनेक शिक्षायें प्राप्त होती हैं और उन स्थलों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद में इन्द्र का एक अर्थ परमात्मा भी होता है। वेद के इन्द्र-सम्बन्धी दूसरे स्थलों पर आये उसके विशेषणों और वर्णनों को देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वहाँ इन्द्र का अर्थ राजा या सम्राट् है। उन स्थलों पर इन्द्र का अर्थ राजा या सम्राट् करने के लिए भी किसी प्रकार की क्लिष्ट कल्पना या खँचातानी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वेद के उन स्थलों के वर्णन से राजनीति-विज्ञान सम्बन्धी अनेक शिक्षायें प्राप्त होती हैं और उन स्थलों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद में इन्द्र का एक अर्थ राजा या सम्राट् भी होता है। इन्द्र के इस राजा या सम्राट् रूप पर हमने इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर विचार किया है। इसी भाँति वेद के कितने ही स्थलों पर इन्द्र के विशेषणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वहाँ इन्द्र का अर्थ विद्युत् है। उन वर्णनों से विद्युत्-विज्ञान विषयक निर्देश प्राप्त होते हैं और उन स्थलों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद में इन्द्र का एक अर्थ विद्युत् भी होता है। इन्द्र का अर्थ परमात्मा भी होता है—यह बात ध्यान में रहने पर जिन स्थलों पर उसका यह अर्थ स्पष्ट नहीं भी प्रतीत होता वहाँ भी उसके अनेक विशेषणों और वर्णनों से परमात्मा विषयक अर्थों की झलक मिलने लगती है और राजनीति-विज्ञान या विद्युत्-विज्ञान सम्बन्धी उपदेशों में भी अध्यात्म-विज्ञान विषयक शिक्षायें ओत-प्रोत दीखने लगती हैं। इसी भाँति इन्द्र का अर्थ राजा भी होता है—यह बात ध्यान में रहने पर जिन स्थलों पर उसका यह अर्थ स्पष्ट नहीं भी प्रतीत होता वहाँ भी उसके अनेक विशेषणों और वर्णनों से राजनीति-विषयक शिक्षाओं की ध्वनि

¹ ऋषि दयानन्द ने इन नियमों का अपने वेद-भाष्य में अनेक स्थानों पर उपयोग किया है। आचार्य सायण आदि अन्य भाष्यकार भी अपने भाष्यों में इन्हीं नियमों का स्थान-स्थान पर आश्रय लेते हैं यद्यपि दोनों के दृष्टिकोण में बहुत भेद है।

निकलने लगती है। अध्यात्म-विज्ञान तथा विद्युत्-विज्ञान विषयक शिक्षाओं में राजनीति-विज्ञान सम्बन्धी शिक्षायें ओत-प्रोत दीखने लगती हैं। इसी प्रकार यह बात ध्यान में रहने पर कि वेद में इन्द्र का एक अर्थ विद्युत् भी होता है इन्द्र-विषयक उन स्थलों के अनेक विशेषणों और वर्णनों से भी विद्युत्-विज्ञान सम्बन्धी अनेक शिक्षायें ध्वनित होने लगती हैं जहाँ इन्द्र का अर्थ विद्युत् स्पष्ट नहीं भी प्रतीत होता। इन्द्र के इसी प्रकार के वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों पर और भी अनेक अर्थ हो जाते हैं। उन अर्थों के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। उनसे भी अनेक ज्ञान-विज्ञानों की शिक्षायें निकलती हैं।

इसी भाँति अग्नि, वरुण, सविता, सोम और पूषा आदि अन्य देवताओं के वेद के विभिन्न स्थलों में पाये जाने वाले विशेषणों और वर्णनों के आधार पर इन देवताओं-वाची पदों के भी अनेक अर्थ हो जाते हैं और उनसे वेद में वर्णित अनेक ज्ञान-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। ऐसे अनेक विषयों की ओर प्रसंगवश इस ग्रन्थ में भी निर्देश किया गया है।

3. वेद और राजनीति-विज्ञान

वेद के इन इन्द्र, अग्नि, वरुण और सविता आदि देवताओं के विभिन्न स्थलों पर पाये जाने वाले विशेषणों, वर्णनों और उनसे की गई प्रार्थनाओं का वारीकी से अध्ययन करने पर जहाँ वेद-गत अन्य अनेक ज्ञान-विज्ञानों की उपलब्धि होती है वहाँ मानव जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा हुआ मिलता है। वेद के इन देवताओं सम्बन्धी मन्त्रों का सूक्ष्मता के साथ पारायण करने पर उनके अनेक रूपों में से जो एक रूप सामने आता है उनका वह रूप राजा या सम्राट् का है। प्रायः सभी प्रमुख देवता राजा या सम्राट् के रूप में भी वर्णित किये गये हैं। उनके राजाओं या सम्राटों जैसे विशेषणों और वर्णनों से राजनीति-विज्ञान विषयक अनेक शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं। हमने पहले इन सभी देवताओं के सामान्य राजा-रूप को सामने रखकर उनके वर्णनों से राजनीति-विज्ञान सम्बन्धी जो निर्देश या शिक्षाएँ निकलती हैं उनको क्रमबद्ध करके इस ग्रन्थ में अध्यायों और उनके खण्डों तथा उपखण्डों में ग्रथित किया है। सभी देवताओं का सामान्य अधिराष्ट्र या राजनैतिक रूप राजा या सम्राट् का होते हुए भी वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र ही है। हमने इस ग्रन्थ में प्रमाण-पूर्वक ऐसा निर्धारण किया है। अन्य देवता इन्द्र के सहचारी और उसके सहायक हैं। इनमें से अग्नि, वायु, पर्वत, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, मरुत, वरुण, विष्णु, सोम और कुत्स इन ग्यारह देवताओं का तो वेद में इन्द्र के साथ इन्द्राग्नी, इन्द्रवायु, इन्द्रापर्वता, इन्द्रापूषणा, इन्द्राबृहस्पती, इन्द्राब्रह्मणस्पती, इन्द्रामरुतः, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राविष्णु, इन्द्रासोमा और इन्द्राकुत्सा इस प्रकार द्वन्द्व समास में समस्त होकर भी अनेक स्थानों पर वर्णन आता है। इन देवताओं के इन्द्र के साथ इस समस्त वर्णन से स्पष्ट सूचित होता है कि ये देवता इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी

और सहायक हैं। जिन देवताओं का इन्द्र के साथ समस्त रूप में वर्णन नहीं आता उनके भी इन्द्र के साथ ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वे उसके सहचारी और सहायक ही हैं। इन देवताओं का इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी और सहायक के रूप में अपना विशिष्ट अधिराष्ट्र या राजनैतिक स्वरूप क्या बनता है इस पर हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के 'देवमाला : मन्त्रिमण्डल' शीर्षक अट्ठारहवें अध्याय में विस्तार से विचार किया है। वहाँ हमने इनमें से कुछ प्रमुख देवताओं के अधिराष्ट्र स्वरूप पर ही विचार किया है। हमने इनका जो स्वरूप निर्धारित किया है वह उस प्रकार का है जैसाकि आजकल की परिभाषा में मन्त्री कहे जाने वाले राज्य के सर्वोच्च राज्याधिकारियों का होता है। हमने वहाँ इन देवताओं को इन्द्र (सम्राट्) के सहायक, राज्य के विभिन्न विभागों के मुख्य अधिकारी या मन्त्रियों के रूप में निर्धारित किया है। हमने इस ग्रन्थ में प्रधान रूप से इन्द्र समेत कुल चौबीस देवताओं पर विचार किया है और उनके विशेषणों और वर्णनों से जो राजनीति-विज्ञान-सम्बन्धी निष्कर्ष निकलते हैं उन्हीं के आधार पर इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ को तीन पृथक् जिल्दों में पाठकों को प्रस्तुत किया जा रहा है। पहली जिल्द संविधान काण्ड की है जिसमें राज्य के निर्माण और संचालन पर विचार किया गया है। दूसरी जिल्द अभ्युदय काण्ड की है जिसमें बताया गया है कि प्रजाजनों के कल्याण के लिए राज्य को क्या-क्या करना चाहिए। तीसरी जिल्द प्रतिरक्षा काण्ड की है जिसमें शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा सम्बन्धी निर्देश हैं।

इस प्रकार वेद में राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध में जो शिक्षाएँ दी गई हैं उनका अनुसंधान और अन्वेषण तो इस ग्रन्थ में हुआ ही है, प्रसंगवश वेद में वर्णित अन्य अनेक विषयों का उल्लेख भी हो गया है। साथ ही वेद-सम्बन्धी कितनी ही अन्य उलझी हुई समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न भी किया गया है। इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करने पर पाठक यह सब देखेंगे।

4. वैदिक राजनीति के कुछ विशिष्ट तत्त्व

(1) राजा चुना हुआ राष्ट्रपति—इस ग्रन्थ का अध्ययन करते हुए पाठक देखेंगे कि वेद वंशानुगत एकतन्त्र राजपद्धति को स्वीकार नहीं करता है। वेद प्रजातन्त्रीय पद्धति को स्वीकार करता है। वेद के अनुसार राजा प्रजाओं द्वारा चुना हुआ होना चाहिए। और राजा पर प्रजाओं का नियन्त्रण रहना चाहिए। उच्छृंखल, स्वेच्छाचारी, अन्यायी, अत्याचारी, प्रजापीड़क और कर्तव्यहीन राजा को प्रजा राजसिंहासन और शासनाधिकार से च्युत भी कर सकती है। वेद का राजा या सम्राट् शब्द वंशानुगत राजा का वाचक नहीं है। वह प्रजाओं द्वारा चुने हुए राष्ट्राध्यक्ष या राष्ट्रपति का वाचक है। इस प्रकार वेद राजा के प्रजाओं द्वारा चुनाव के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और शासन की प्रजातन्त्रीय पद्धति के पोषक हैं।

(2) राजा भी एक प्रजाजन ही है—जहाँ वेद वंशानुगत राजत्व के सिद्धान्त

को स्वीकार नहीं करते हैं वहाँ वे राजा कोई दैवी व्यक्ति होता है इस बात को भी स्वीकार नहीं करते हैं। भारत के मनु आदि विचारक राजा के देवत्व के सिद्धान्त को मानते रहे हैं। मनु ने स्पष्ट कहा है कि राजा में अग्नि, वरुण और इन्द्र आदि देवताओं का निवास होता है और इस प्रकार वह इन देवताओं की प्रतिमूर्ति ही है और उसे देवता मानकर ही उससे डरना चाहिए, उसका आदर करना चाहिए और उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। यूरोप के मध्यकालीन अनेक विचारक भी राजाओं के देवत्व के सिद्धान्त के समर्थक रहे हैं। फ्रांस का सम्राट् चौदहवाँ लुई तो स्पष्ट ही कहा करता था कि 'We princes are the image of Him who is all holy and all powerful.' अर्थात् 'हम राजा लोग परम पवित्र और सर्वशक्तिमान् परमात्मा के जीवन्त रूप हैं।' वेद इस सिद्धान्त के समर्थक नहीं हैं। वेद तो राजा को एक 'भूतेषु भूतः' ही मानते हैं, उसे प्रजा के अन्य भूतों अर्थात् मनुष्यों की भाँति एक सामान्य भूत अर्थात् प्राणी या प्रजाजन ही मानते हैं। प्रजाओं ने ही अपने में से एक योग्यतम व्यक्ति को अपने कल्याण के लिए अपना राजा चुना है। प्रजाओं द्वारा दिये गये अधिकार के कारण ही राजा में शक्ति, तेज और बल आता है। उसकी यह शक्ति, उसके ये तेज और बल दैवी नहीं हैं। जब तक राजा धर्म के अनुसार, सत्य और न्याय के अनुसार प्रजाओं की रक्षा और पालना करता है तभी तक उसमें ये शक्ति, तेज और बल रहते हैं। यदि राजा धर्म को छोड़कर असत्य और अन्याय का अनुसरण करने लगता है और अत्याचारी होकर प्रजा का उत्पीडक बन जाता है और उत्पथगामी हो जाता है तो प्रजाजन उसे अधिकार से च्युत कर देते हैं, सिंहासन से उतार देते हैं और उसका सब शक्ति, तेज और बल नष्ट हो जाता है।

(3) उत्पीडक राजा की राज्य-व्युत्ति—जो राजा धर्माचारी न हो, सत्य और न्याय का अनुसरण न करता हो और इस कारण प्रजा के लिए अत्याचारी और उत्पीडक बन जाता हो, वेद की सम्मति में उसे सिंहासन से उतार कर शासनाधिकार से च्युत कर दिया जाना चाहिए और आवश्यकता होने पर सामान्य अपराधी की भाँति दण्डित भी किया जाना चाहिए। यह बात वेद में बड़े स्पष्ट रूप में कही गई है। राजा के राज्याभिषेक और सिंहासनारोहण के समय भी उस पर यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि 'तस्य मृत्युश्चरति राजसूयम्'—अर्थात् 'राजा के राजा बनने पर उसके साथ उसकी मृत्यु भी चलने लगती है।' इस काव्यमय शैली में कहे गये वेद के वाक्य का यह अभिप्राय है कि राजा को राज्यारोहण के समय स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि वह तभी तक राजा रह सकेगा जब तक वह धर्म का, सत्य और न्याय का अनुगमन करके प्रजा की रक्षा और पालना करता रहेगा। यदि उसने अधर्म का अनुसरण करके, असत्य और अन्याय का अवलम्बन करके प्रजाओं पर अत्याचार करके उनका उत्पीडन करना आरम्भ कर दिया तो उसकी राजा रूप में मृत्यु भी कर दी जायेगी, उसे सिंहासन से उतार दिया जायेगा, उसे राजा नहीं रहने दिया जायेगा

और आवश्यक होने पर उसे यथोचित दण्ड भी दिया जायेगा। वेद के इसी आशय को व्यक्त करने के लिए शतपथ ब्राह्मण की राज्याभिषेक की विधि में अभिषिक्त हो रहे राजा की पीठ पर हलके से दण्ड भी छुआ जाता है। इसका भाव यही है कि यदि वह अन्यायी और अत्याचारी हो गया तो उसे दण्डित किया जायेगा और सिंहासन से भी उतार दिया जायेगा।

(4) राजा पर सभा और समिति का नियन्त्रण—राजा के कार्यों पर निरीक्षण और नियन्त्रण रखने के लिए और राजा को राजकार्य में सहायता और सहयोग देने के लिए सभा और समिति नामक दो राजसभाएँ होंगी। ये दोनों सभाएँ प्रजाजनों द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों से बनी होंगी। राज्य की रीति-नीति और जन-कल्याण के सभी आवश्यक विषयों पर सभा और समिति में विचार होगा। विचार के पश्चात् वहाँ जो निश्चय होंगे और नियम बनेंगे राजा और मन्त्रिमण्डल को उनके अनुसार कार्य करना होगा और प्रशासन चलाना होगा। सभा और समिति यह भी देखेगी कि राजा उनके निश्चयों और नियमों के अनुसार ठीक से कार्य करता है या नहीं। राजा के ठीक से कार्य न करने की अवस्था में ये सभाएँ आवश्यक कार्यवाही करेंगी। आवश्यकता होने पर उसे राज्य-च्युत भी कर सकेंगी। इस प्रकार इन दोनों सभाओं के द्वारा राष्ट्र की प्रजा अपने राजा को राज्य-संचालन से सहायता और सहयोग भी देगी और उस पर नियन्त्रण और अंकुश भी रखेगी। सभा और समिति आजकल की संसदों (पार्लियामेंटों) के दो सदनों जैसी (two houses of parliament) राजसभाएँ हैं। अथर्ववेद के 7.12 सूक्त में जहाँ राजा की सभा और समिति नामक राजसभाओं का वर्णन हुआ है, इन दोनों सभाओं के लिए 'संसद्' इस एक नाम का भी प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद के 10.125 और अथर्ववेद के 4.30 सूक्तों में, जिन्हें वागाम्भृणी सूक्त कहा जाता है, राष्ट्र की राजसभा का वर्णन 'राष्ट्री संगमनी' नाम से किया गया है। इन दोनों वागाम्भृणी सूक्तों और अथर्ववेद के इस 7.12 सूक्त को समन्वयात्मक दृष्टि से एक साथ ध्यान में रखने पर राजा की राजसभा का सामान्य नाम 'संसद्' अथवा 'राष्ट्री संगमनी' वेद में उपलब्ध होता है। इस संसद् अथवा राष्ट्री संगमनी के सभा और समिति ये दो सदन हैं। इनमें से सभा निचला सदन है और समिति ऊपर का सदन है। समिति सभा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और अधिकार सम्पन्न है। समिति में ब्राह्मणों का प्राधान्य रहता है। इस सब पर ग्रन्थ में यथास्थान विस्तार से विचार किया गया है।

(5) प्रजातन्त्र की राष्ट्रपतीय पद्धति—वेद राज्यशासन की प्रजातन्त्रीय पद्धति का प्रतिपादन करते हैं। वेद इसमें भी राष्ट्रपतीय प्रणाली का प्रतिपादन करते हैं। वेद प्रजातन्त्र की उस शैली को मानते हैं जिसमें राष्ट्रपति की प्रधानता होती है, और वही राष्ट्र के सर्वप्रमुख प्रशासक के रूप में राष्ट्र के प्रशासन को भी चलाता और उसके लिए उत्तरदायी होता है। प्रजातन्त्र की उस पद्धति को वेद समर्थन नहीं देते जिसमें प्रधानमन्त्री की प्रधानता होती है, वही सर्वप्रमुख प्रशासक के रूप में राष्ट्र

XXX

का प्रशासन चलाता और उसके लिए उत्तरदायी होता है। वेद का राजा या राष्ट्रपति राष्ट्र का राष्ट्राध्यक्ष और प्रशासनाध्यक्ष दोनों होता है।

(6) राजा का राज्यकाल—वेद का राजा या राष्ट्रपति आजकल के राष्ट्रपतीय प्रजातन्त्रों की भाँति चार-चार और पाँच-पाँच वर्ष की अल्पावधि के लिए नहीं चुना जायेगा। वह गृहस्थाश्रम की अवधि तक के लिए चुना जायेगा। शास्त्रों में गृहस्थाश्रम की अवधि 25-30 वर्ष की मानी गई है। गृहस्थाश्रम की अवधि पूरी होने के अनन्तर उसे वैदिक आश्रम मर्यादा के अनुसार आवश्यक रूप से वानप्रस्थाश्रम में जाना होगा। तभी वह राजसिंहासन का परित्याग करेगा और उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति राजा चुना जायेगा। राजा चुने जाने के बाद कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रम की अवधि पूरी होने तक पच्चीस-तीस वर्ष तक भी सिंहासन पर रह सकता है। मृत्यु हो जाने, पागल हो जाने अथवा उत्पथगामी हो जाने पर संसद् द्वारा सिंहासन से उतार दिये जाने आदि की अति विशेष अवस्थाओं में ही राजा गृहस्थाश्रम की अवधि पूरी होने से पूर्व राजसिंहासन से पृथक् होगा।

(7) राजतन्त्र और प्रजातन्त्र का समन्वय—इस प्रकार राजा के प्रजाओं द्वारा चुने जाने की व्यवस्था और फिर प्रजातन्त्र की राष्ट्रपतीय पद्धति का अवलम्बन करके तथा राजा के गृहस्थाश्रम की अवधि पूरी होने तक एक दीर्घकाल के लिए राजसिंहासन पर आसीन रहने की व्यवस्था करके वेद ने राजतन्त्र और प्रजातन्त्र का समन्वय कर दिया है।

(8) सभा और समिति के सदस्यों का कार्य-काल—राजा की भाँति ही सभा और समिति के सदस्य भी चार-चार, पाँच-पाँच वर्ष की अल्पावधि के लिए नहीं चुने जायेंगे प्रत्युत गृहस्थाश्रम की अवधि तक के लिए लम्बे काल के लिए चुने जायेंगे। कोई व्यक्ति 25-30 वर्षों की अवधि के लिए भी सभा और समिति का सदस्य रह सकेगा। गृहस्थाश्रम की अवधि पूरी हो जाने पर, मृत्यु हो जाने पर, पागल हो जाने पर या भ्रष्टाचार के कारण सदस्यता से वंचित कर दिये जाने आदि की अवस्थाओं में किसी सदस्य का स्थान रिक्त हो जाने पर ही उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति सभा और समिति का सदस्य चुना जायेगा। वेद के अनुसार प्रत्येक प्रजाजन को, वर्णाश्रम-मर्यादा की पद्धति के अनुसार गृहस्थाश्रम की निश्चित अवधि पूरी हो जाने के पश्चात् आवश्यक रूप से वानप्रस्थाश्रम में जाना होगा। यह नियम राजा और संसद् के सदस्य तथा अन्य राज्याधिकारियों पर भी समान रूप से लागू होता है। पचास-पचपन (50-55) या अधिक से अधिक साठ (60) साल की आयु के पश्चात् कोई भी व्यक्ति राजनीति में नहीं रह सकेगा।

इस व्यवस्था का परिणाम यह होगा कि शरीर और मन से अशक्त, दुर्बल और रोगी रहने वाले बूढ़े लोग राजसभा के सदस्य नहीं चुने जा सकेंगे और न ही ऐसे लोग मन्त्री और राष्ट्रपति के पदों पर आसीन हो सकेंगे, जैसा कि आजकल के प्रजातन्त्रों में होता रहता है। आजकल तो राजनेता लोग मृत्युपर्यन्त राजनीति से

अलग नहीं होना चाहते ।

(9) ब्राह्मणों की सम्मति का विशेष आदर—वेद के अनुसार राजा के चुनाव और सभा और समिति के सदस्यों के चुनाव में राष्ट्र के ब्राह्मण वर्ण के लोगों की सम्मति का विशेष, महत्त्वपूर्ण और निर्णायक स्थान रहेगा । यह किस प्रकार होगा इसे पाठक ग्रन्थ में यथास्थान भली-भाँति देखेंगे । वेद में वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं मानी गई है । वहाँ गुण-कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था स्वीकार की गई है । किसी भी घर में जन्मा व्यक्ति गुण-कर्म के आधार पर ब्राह्मण बन सकता है । 'वर्ण' शब्द में ही गुण-कर्म के आधार वर्णों के वरण अर्थात् चुनाव की बात अन्तर्निहित है । ऊँचे चरित्र और बौद्धिक योग्यता वाले लोग (intellectuals) ब्राह्मण कहलाते हैं । ब्राह्मण किस प्रकार के लोगों को कहा जाता है इस सम्बन्ध में प्रसंगानुसार इस ग्रन्थ में अनेक जगह विचार किया गया है । वेद के ब्राह्मण प्लेटो (Plato) के 'फिलासफरों' (philosophers) की किस्म के बड़े चरित्रवान्, विद्वान् और तत्त्वज्ञ और त्यागी-तपस्वी लोग हैं । राजा तथा सभा और समिति के सदस्यों के चुनाव में ब्राह्मणों की सम्मति का विशेष महत्त्व रहना चाहिए, इस पर वेद ने बड़ा बल दिया है । समिति के तो सदस्यों में भी ब्राह्मण वर्ण के लोगों की संख्या अधिक रखी गई है । वेद की चिन्तना में आदर्श ब्राह्मणों की सम्मति और विचारों का बड़ा भारी महत्त्व है ।

(10) दलविहीन प्रजातन्त्र—वेद प्रजातन्त्र की दलानुबन्धी पद्धति (party system of democracy) को स्वीकार नहीं करते हैं । वे प्रजातन्त्र की दलविहीन पद्धति (system of partyless democracy) का अनुसरण करते हैं । चुनाव के लिए प्रत्येक अभ्यर्थी निजी रूप में खड़ा होगा, किसी दल की ओर से नहीं । इसका और ऊपर निर्दिष्ट राजा और सभा तथा समिति के सदस्यों की गृहस्थाश्रम की अवधि तक के लिए, दीर्घकाल के लिए चुने जाने की पद्धति का परिणाम यह होगा कि प्रशासन में स्थिरता रहेगी । आजकल की दल-प्रधान प्रजातन्त्रीय पद्धति से चलने वाले राज्यों के प्रशासन में जो अस्थिरता रहती है और वहाँ जो एक दल दूसरे दल की सरकार को गिराने के लिए हर समय चिन्ता और तत्परता में रहता है और इसके लिए एक-दूसरे पर जो झूठे-सच्चे आरोप लगाये जाते हैं और अनेक प्रकार के अशोभनीय और भ्रष्टाचारपूर्ण तरीकों का भी अवलम्बन कर लिया जाता है तथा चुनाव तो जहाँ भ्रष्टाचार का अखाड़ा ही बन जाते हैं, वह सब कुछ वेद की इस दलविहीन प्रजातन्त्र की पद्धति में नहीं होगा । वेद की इस पद्धति में, दलों की बहुलता के कारण जल्दी-जल्दी होते रहने वाले चुनावों के अवसर पर जो असीम घनराशि व्यय होती रहती है उससे भी छुटकारा मिल जायेगा और यह भी नहीं होगा कि चुनावों पर लोगों को भ्रष्ट करने वाली घन की काली छाया ही छाई रहे । चुनाव को घन नहीं प्रत्युत व्यक्ति की योग्यता और चरित्र अधिक प्रभावित करेंगे ।

(11) उदार राजनीति—वेद का अपना एक विशेष प्रकार का जीवन-दर्शन

है। वेद के जीवन-दर्शन का नाम वर्णाश्रम-धर्म है। वर्णाश्रम-धर्म के सिद्धान्तों में मानव जीवन के सभी पहलुओं पर ध्यान दिया गया है और मानव के समग्र जीवन का कार्यक्रम या प्रोग्राम दिया गया है। यह भी बताया गया है कि मानव को जीवन के किस काल और किस क्षेत्र में क्या कुछ करना चाहिए। वेद अपने इस जीवन-दर्शन को आदर्श और मानव के लिए परम कल्याणकारी मानता है। परन्तु हो सकता है कि राष्ट्र में कभी ऐसे लोग भी हो जायें जो विचार-भेद के कारण वेद के जीवन-दर्शन के सिद्धान्तों से सहमत न हों और यों भले लोग हों और राज्य के लोकहितकारी नियमों का पालन करते हों। ऐसे लोगों के साथ वैदिक राज्य में कैसा बरताव किया जायेगा? क्या वैदिक धर्म से भिन्न मत रखने पर उन्हें दण्डित किया जावेगा? वेद में ऐसे लोगों को पाँचवाँ जन कहा गया है। चार जन तो राष्ट्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के लोग हैं और पाँचवें जन वैदिक धर्म या वर्णाश्रम-धर्म के सिद्धान्तों से मतभेद रखने वाले भले लोग हैं। ऐसे पाँचवें जन भी वैदिक राष्ट्र में सुख से रह सकेंगे, उनकी भी वैदिक राष्ट्र में पूरी रक्षा होगी। वैदिक राष्ट्र में दस्यु लोगों को ही दण्डित किया जाता है। विचार-भेद के कारण किसी भले आदमी को दण्डित नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में वैदिक राजनीति बड़ी उदार है।

(12) स्त्रियाँ भी राजा चुनी जा सकती हैं—वैदिक राजनीति में स्त्री और पुरुष का भी कोई भेद नहीं किया जाता। वैदिक प्रजातन्त्र में जो कुछ पुरुष बन सकता है वह सब कुछ स्त्री भी बन सकती है। जो पद पुरुष प्राप्त कर सकता है वह पद स्त्री भी प्राप्त कर सकती है। पुरुषों की भाँति ही स्त्रियाँ भी सभा और समिति की सदस्य बन सकती हैं और राजा भी चुनी जा सकती हैं।

(13) सुव्यवस्थित न्याय-प्रणाली—वैदिक राज्य-व्यवस्था में सुव्यवस्थित न्याय-प्रणाली का अत्यधिक महत्त्व है। राज्य में स्वतन्त्र न्यायालय रहेंगे। किसी भी तथाकथित अपराधी को न्यायालय में उसका अपराध प्रमाणित हो जाने पर ही दण्डित किया जा सकेगा और न्यायालय द्वारा निर्धारित दण्ड ही उसे दिया जायेगा। मनुष्यों का तो कहना ही क्या, जंगली हिंसक प्राणियों को भी उनका नागरिकों के प्रति अपराध प्रमाणित हो जाने पर ही मारा जा सकेगा। वेद न्यायानुमोदित दण्ड विधान के इतने अधिक समर्थक हैं।

(14) चक्रवर्ती या विश्व-सरकार (The World Government)—धरती के विभिन्न भूखण्डों के निवासियों को अपने-अपने भू-खण्डों के छोटे-बड़े राज्यों का निर्माण कैसे करना चाहिए जिससे वे पूर्ण सुख-समृद्धि की अवस्था में अपना जीवन व्यतीत कर सकें, इस सम्बन्ध में ही वेद उपदेश नहीं करता है, प्रत्युत वहाँ यह भी बताता है कि राजनीतिक विकास की आदर्श स्थिति तो यह है कि सारी धरती के निवासी अपने को भाई-भाई समझें और सारी धरती को अपना घर मानें और धरती पर एक चक्रवर्ती विश्व-राज्य (World Government) की स्थापना करके रहें। वेद में जिस विश्व-राज्य की कल्पना है वह एक शक्तिशाली संस्था होगी। उसकी अपनी

सेना और पुलिस होगी। इस कारण वह अपने सदस्य घरती के विभिन्न राष्ट्रों से अपने निश्चयों का पालन भली-भाँति करा सकेगी। आजकल की संयुक्त-राष्ट्र (United Nations Organisation) नामक संस्था की भाँति वह एक निर्वल संस्था नहीं होगी जिसके पास न अपनी सेना है और न अपनी पुलिस है और इसीलिये जो अपने निश्चयों को मानने के लिये किसी राष्ट्र को बाधित नहीं कर सकती।

वेद की चक्रवर्ती या विश्व-सरकार शक्तिशाली होने के कारण विश्व के राष्ट्रों से अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकेगी। विश्व के राष्ट्रों में परस्पर युद्ध नहीं होने देगी। उनके पारस्परिक विवादों को सुलझायेगी। उसका उद्देश्य विश्व के राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों को मधुर बनाकर रखना होगा जिससे सारी घरती के निवासी शान्ति और सुख-समृद्धि का जीवन बिता सकेंगे और घरती एक स्वर्ग बन जायेगी।

(15) धर्म-राज्य—वेद जिस प्रकार की राज्य-व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं उसे धर्म-राज्य कहा जा सकता है। वेद में इस बात पर अत्यधिक बल दिया गया है कि सम्राट् और उसके सहायक सब राज्याधिकारियों को अपने जीवन में सत्य, न्याय, अहिंसा, संयम आदि धर्म के विभिन्न अंगों का परिपूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। वेद में स्थान-स्थान पर राज्याधिकारियों के लिये सत्य के प्रवर्तक, सत्य के प्रथम प्रवर्तक, सत्य में निवास करने वाले, सत्य को धारण करने वाले आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ का पारायण करते हुए पाठक राज्याधिकारियों के वेद में किये गये इस प्रकार के वर्णन प्रचुरता से देखेंगे। इसी भाँति राष्ट्र के सामान्य प्रजाजनों के लिए भी वेद ने धर्म के इन सत्य आदि अंगों के परिपूर्ण रूप से पालन करने पर अत्यधिक बल दिया है। वेद का प्रत्येक अध्येता इसे भली-भाँति जानता है, इस ग्रन्थ में भी पाठक वेद के इस आदेश को स्थान-स्थान पर वर्णित पायेंगे। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त के, जिसे भूमि सूक्त भी कहा जाता है और जिसमें एक राष्ट्र-भक्त के मुख से उसकी मातृभूमि की स्तुति कराके एक आदर्श राज्य का चित्र प्रस्तुत किया गया है, प्रथम मन्त्र में राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति के आधारभूत सात गुणों का उल्लेख किया गया है जोकि राष्ट्र के प्रत्येक निवासी में रहने चाहिए। उनमें से सर्वप्रथम स्थान सत्य को ही दिया गया है। वस्तुतः सत्य ही धर्म है। जिन्हें धर्म कहा जाता है वे न्याय, दया, अहिंसा आदि ऊँचे गुण सत्य की व्याख्यामात्र हैं। धर्म और सत्य ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं और असल में एक ही बात को कहते हैं। धर्म और उसके सत्य, न्याय, दया, अहिंसा आदि उदात्त अंगों के मूल स्रोत परमात्मा हैं। परमात्मा की उपासना और भक्ति से उपासक की आत्मा में परमात्मा के ये सत्य, न्याय आदि गुण संक्रान्त हो जाते हैं। परमात्मा की उपासना से उपासक भी परमात्मा जैसा सत्यपरायण, न्यायपरायण और दयालुता आदि से युक्त बन जाता है। वेद ने राजा और प्रजा के लिये इस प्रकार का ईश्वर-भक्त बनने पर भी बड़ा बल दिया है। इस

दृष्टि से वैदिक राज्य पूर्ण रूप से धर्म-राज्य है ।

(16) असांख्यिक राज्य—वैदिक राज्य धर्म-राज्य तो है परन्तु साम्प्रदायिक राज्य नहीं है । वह पूर्णरूप से असांख्यिक राज्य है । वेद आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में दार्शनिक या तत्त्वज्ञान की दृष्टि से एक विशेष प्रकार के विचारों का उपदेश करते हैं । इन दार्शनिक विचारों का मनुष्य के व्यावहारिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है और उसका एक विशेष प्रकार का जीवन-दर्शन बन जाता है । वेद अपने इन दार्शनिक विचारों और उनके आधार पर बनने वाले मनुष्य के व्यावहारिक जीवन-दर्शन को ही वस्तुतः मानव के लिए कल्याणकारी मानते हैं । परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि कुछ लोग वेद के इन विचारों से सहमत न हों । तो क्या इस प्रकार के लोगों को वैदिक राज्य में दण्डित किया जायेगा ? नहीं । इस प्रकार के लोग भी वैदिक राज्य में निर्भय और स्वच्छन्द होकर रह सकेंगे । इन लोगों को वैदिक राज्य में अपने विचार रखने की पूरी स्वतन्त्रता होगी । यदि ये लोग दस्यु नहीं हैं, किसी को कष्ट नहीं देते, किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते और राज्य के सर्वहितकारी सामान्य नियमों का भली-भाँति पालन करते हैं तो वैदिक राज्य में ये लोग भी पूर्ण रूप से सुरक्षित रहेंगे । अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त, भूमि सूक्त, के 45वें मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'भिन्न-भिन्न भाषाओं को बोलने वाले और विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोगों को राष्ट्र में इस प्रकार प्रेम से मिलकर रहना चाहिए जिस प्रकार कि एक घर के लोग मिलकर रहा करते हैं ।' वेद में अन्यत्र भी इस आशय की बातें अनेक स्थलों पर कही गई हैं । ग्रन्थ के प्रथम भाग के 'उदार राजनीति' नामक अध्याय में इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है । वैदिक राज्य में दस्यु को तो दण्डित किया जाता है परन्तु विचार-भेद के कारण किसी को दण्डित नहीं किया जाता । विचार-भेद को तो प्रेमपूर्वक शास्त्रार्थ (scholarly discussion) से दूर किया जाता है, शस्त्रार्थ (use of weapons or force) से नहीं ।:

5. समाज-संघटन और अर्थव्यवस्था

वैदिक राज्य जन-कल्याणकारी राज्य है । वैदिक राज्य-व्यवस्था का एकमात्र लक्ष्य सब प्रकार से प्रजाजनों की सुख-समृद्धि को बढ़ाना है । वैदिक राज्य राज्याभिषेक के समय पवित्र वेद-मंत्रों का उच्चारण करके प्रतिज्ञा करता और शपथ लेता है कि वह अपनी समग्र शक्ति प्रजा के कल्याण और संवर्धन में लगा देगा और प्रजा के किसी भी व्यक्ति को पीड़ित, संतप्त और दुःखी नहीं होने देगा । उसके सब राज्याधिकारी और कर्मचारियों का भी पद-ग्रहण के समय अभिषेक होता है और वे भी इसी प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं ।

प्रत्येक प्रजाजन की प्रधान और मूलभूत पाँच आवश्यकताएँ होती हैं । वे हैं—

- (1) भोजन, (2) वस्त्र, (3) घर, (4) चिकित्सा, और (5) शिक्षा । इन पाँचों को

‘आलम्बन’ पदार्थ कहा जा सकता है। व्यक्ति का जीवन और उसका सुख मुख्य रूप से इन्हीं पाँचों पर अवलम्बित या आश्रित रहता है। व्यक्ति का जीवन और सुख इनमें से पहले चार पर अवलम्बित है यह तो स्पष्ट ही है। सम्यक् प्रकार की शिक्षा के बिना भी मनुष्य का जीवन असल में जीवन नहीं रहता और वह भली-भाँति सुख-सुविधाओं का संचय नहीं कर सकता और भाँति-भाँति के कष्टों से घिरा रहता है। इन पाँचों आलम्बन पदार्थों के अतिरिक्त मनुष्य को अपना सुख और प्रसन्नता बढ़ाने के लिये और भी अनेक प्रकार के पदार्थों और सामग्री का संग्रह करने की इच्छा रहती है। इन दूसरे प्रकार के पदार्थों और सामग्री को ‘अनुबन्ध’ पदार्थ कहा जा सकता है। ये पदार्थ जीवन में सुख और रस लाने के लिये संग्रहणीय तो हैं पर ये जीवन के लिये नितान्त आवश्यक नहीं हैं। इन पर जीवन आश्रित नहीं है। इनके बिना भी मनुष्य जीवन-यापन कर सकता है। ये उपर्युक्त पाँच आलम्बन पदार्थों के गौण सहयोगी और सहायक हैं—उनसे अनुबन्धित और उनके पीछे चलने वाले हैं। इन आलम्बन और अनुबन्ध पदार्थों को प्रजाजनों तक पहुँचाने के लिये राष्ट्र में विविध प्रकार के कार्य किये जाने और विभिन्न प्रकार के संगठन और संस्थायें स्थापित किये जाने और चलाये जाने की आवश्यकता होती है।

प्रजाजनों को आलम्बन और अनुबन्ध पदार्थ प्राप्त हो सकने के मार्ग में तीन बातें बाधक होती हैं। वे हैं—(1) अभाव, (2) अज्ञान, और (3) अन्याय। यदि राष्ट्र में प्रजाजनों के लिये आवश्यक भोग्य सामग्री का अभाव हो, आवश्यक भोग्य सामग्री पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न न होती हो, तो यह भोग्य सामग्री का अभाव जनता को पीड़ा देगा। इसके कारण उसका जीवन कष्ट और दुःख से पूर्ण रहेगा। और यदि लोगों को आवश्यक भोग्य सामग्री उत्पन्न करने की विधियों का ज्ञान ही न हो, जिसके कारण राष्ट्र में आवश्यक भोग्य सामग्री उत्पन्न न हो पाती हो, तब भी भोग्य सामग्री का अभाव होगा और लोग कष्ट में रहेंगे। फिर, यदि लोगों को उपलब्ध भोग्य सामग्री से सही उपयोग लेने का ज्ञान न हो तो भी लोग कष्ट में रहेंगे। अनाज तो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, पर भोजन बनाने की विधि नहीं आती तो फिर भी व्यक्ति को कष्ट में रहना पड़ेगा। या भोजन करने के नियमों का ही सही ज्ञान नहीं है, जिह्वा के स्वाद में पड़कर पेट बनकर रोज भूख से ज्यादा खाया जाता है, जिसके कारण शरीर में भाँति-भाँति के रोग लग जाते हैं और इस कारण व्यक्ति घोर कष्ट में रहता है। इस प्रकार विविध प्रकार का अज्ञान भी जनता के कष्ट का महान् कारण बनता है। लोगों को नाना प्रकार की भोग्य सामग्री बनाने का भी ज्ञान है और वह राष्ट्र में उत्पन्न भी प्रचुर मात्रा में होती है और प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकती है, परन्तु कुछ दुष्ट प्रकृति के लोभी उत्पादक या व्यापारी व्यक्ति उस सामग्री को अपने पास संग्रह करके रख लेते हैं। उसे सर्व-साधारण जनता तक पहुँचाने नहीं देते। उसका कृत्रिम अभाव कर देते हैं। कालान्तर में उसे बहुत महंगे दामों पर बेचते हैं

जिसके कारण सामान्य लोगों के लिये उसका खरीद सकना दूभर हो जाता है और वे कष्ट में रहते हैं। इस प्रकार उत्पादकों अथवा व्यापारियों द्वारा किया गया यह अनुचित और अन्यायपूर्ण व्यवहार लोगों के कष्ट का कारण बनता है। अन्याय के और भी अनेक प्रकार हैं। चोरी करके या डाके डालकर दूसरों का माल लूट लिया जाता है, लोगों की जेबें काट ली जाती हैं, सामान को धोखे से कम नापा और कम तोला जाता है, लोगों को रिश्वत देने के लिये बाधित किया जाता है। दूसरों की बहू-बेटियों को उड़ा लिया जाता है और उनका शील संग किया जाता है। लोगों की हत्याएँ कर दी जाती हैं, लोगों और उनके घरों को जला दिया जाता है। ये और इस प्रकार के अन्य अनेक अत्याचारपूर्ण अन्याय के कार्य करने वाले अन्यायी और अत्याचारी लोग जिस व्यक्ति के साथ इस प्रकार के नृशंस कार्य करते हैं उसी के जीवन को दुःख से भर देते हैं। इस प्रकार अभाव, अज्ञान और अन्याय—मानव जाति के ये तीन महान् शत्रु हैं। इन्हीं के कारण मानवता दलित और पीड़ित रहती है।

वेद का आदेश है कि घरती के किसी भी कोने में रहने वाले किसी भी व्यक्ति को पाँचों आलम्बन पदार्थ आवश्यक रूप से मिलने चाहिए। राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति इनसे वंचित नहीं रहना चाहिए। हर व्यक्ति को खाने को पर्याप्त भोजन, पहनने को पर्याप्त वस्त्र, रहने के लिये अच्छा घर, रोगी हो जाने पर समुचित चिकित्सा और ऊँची से ऊँची शिक्षा अवश्य प्राप्त होनी चाहिए। निम्न से निम्न स्थिति के व्यक्ति को भी ये पाँचों चीजें अवश्य मिलनी चाहिए। इसके साथ ही जीवन में रस और आनन्द डालने के लिये अनुबन्ध पदार्थ भी लोगों को यथासंभव अधिक से अधिक मात्रा में मिल सकें इसका प्रयत्न भी किया जाना चाहिए।

जिस राष्ट्र के लोगों को ये सभी पदार्थ यथोचित मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगे वही राष्ट्र वास्तव में आर्थिक दृष्टि से समुन्नत और समृद्ध कहा जा सकेगा। वेद ने राष्ट्रों में ऐसी आदर्श आर्थिक स्थिति उत्पन्न करने के लिये जहाँ एक विशिष्ट राज्य-पद्धति का उपदेश किया है वहाँ समाज-संघटन या समाज-व्यवस्था का भी एक विशिष्ट आदर्श उपस्थित किया गया है। वेद के इस विशिष्ट समाज-संघटन का नाम है वर्णाश्रम-धर्म या वर्णाश्रम-व्यवस्था। यदि समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूप में संघटित हो तो राष्ट्र या समाज का संचालन इस प्रकार उत्तम रीति से होगा कि उसमें रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को—नीची से नीची स्थिति के व्यक्ति को भी—ये आलम्बन और अनुबन्ध पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगे। इस प्रकार वह समाज या राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से एक आदर्श रूप में समुन्नत और समृद्ध समाज या राष्ट्र बन सकेगा। लोगों की सुख-समृद्धि के विघातक अज्ञान, अभाव और अन्याय—ये तीन महान् शत्रु उस राष्ट्र में पैर नहीं जमा सकेंगे।

ब्राह्मण लोग राष्ट्र में सब प्रकार के अज्ञान के निराकरण और ज्ञान के संवर्द्धन और प्रचार के कार्य में अपना जीवन समर्पित कर देंगे। क्षत्रिय लोग राष्ट्र में से अन्याय और अत्याचार मिटाने के कार्य में अपना जीवन अर्पण कर देंगे। वैश्य लोग

जनता के उपयोग की विविध प्रकार की सामग्री को उत्पन्न करने और उसे लोगों तक पहुँचाने के काम में अपने जीवन को समर्पित कर देंगे। शूद्र लोग, जिनमें कोई और बुद्धि-सापेक्ष काम कर सकने की क्षमता न होने के कारण, ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करके उसके द्वारा उन्हें अपने-अपने काम भली-भाँति करने में सहायता देंगे और इस प्रकार राष्ट्र की सेवा करेंगे। चारों वर्णों के लोग सेवा, समर्पण और त्याग की भावना से अपने-अपने वर्ण के कर्तव्यों का पालन करेंगे।

आश्रम-मर्यादा लोगों में ऐसी सेवा, समर्पण और त्याग की भावना उत्पन्न करने में सहायता करेगी। ब्रह्मचर्याश्रम में बालक-बालिकाओं को निःशुल्क और बाधित शिक्षा दी जायेगी। बालकों को शिक्षा काल में ही अपने लिये कोई वर्ण चुन लेना होगा और उसके लिये अपने आपको योग्य बनाना होगा। और फिर गृहस्थ-आश्रम में अपने निर्धारित वर्ण के कार्यों द्वारा राष्ट्र की सेवा करनी होगी और उसके द्वारा अपनी आजीविका अर्जित करनी होगी। वानप्रस्थाश्रम में आजीविका कमाने का काम बन्द कर देना होता है और अपना समय अध्ययन-अध्यापन, और योगाभ्यास और आत्म-चिन्तन में लगाना होता है। संन्यासाश्रम में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा त्याग कर, सर्वथा निष्काम और निःस्पृह होकर मानवमात्र के कल्याण के लिये सद्धर्म और सन्मार्ग का उपदेश करते हुए विचरण करना होता है। आवश्यक धनोपार्जन और आजीविका कमाने का काम केवल गृहस्थाश्रम में ही करना होता है। शेष तीनों आश्रमों में नहीं। पचास-पचपन या अधिक से अधिक साठ साल की आयु हो जाने पर गृहस्थाश्रम का परित्याग और धनोपार्जन का काम बन्द करके अपना स्थान नये आने वाले लोगों के लिये खाली कर देना होता है।

इस प्रकार वर्णाश्रम-धर्म की पद्धति में त्याग पर अत्यधिक बल दिया गया है और धन को जीवन का एकमात्र देवता नहीं बनने दिया गया है। इसका प्रभाव व्यक्ति के जीवन-दर्शन पर पड़ता है और उसका जीवन-व्यवहार लोभ-लालच से परे रहने का, दूसरों का भला और उपकार करने का बन जाता है और वह धन-गर्दी के वशीभूत होकर किसी के अधिकारों और सम्पत्ति को हड़पना नहीं चाहता। उसके सम्पर्क में आने वाले सब लोग प्रसन्न और हर्षित रहते हैं।

वर्णाश्रम-धर्म का एक आर्थिक सिद्धान्त यथायोग्य दक्षिणा का है। अपने वर्ण के कर्तव्यों का पालन करके समाज की सेवा करने के बदले में सभी वर्णों के लोगों को यथायोग्य दक्षिणा मिलेगी। सभी लोगों को आलम्बन पदार्थ तो मिलेंगे ही, इसके साथ ही उन्हें अपने वर्ण के कर्तव्य-कर्मों को ठीक से पूरा करने के लिये आवश्यक साज-सामान भी मिलेगा। यह सब कुछ प्राप्त करने के लिये उन्हें यथोचित परिमाण में धन मिलेगा। राज्य की सेवा में लगे हुए व्यक्तियों को राज्य की ओर से तथा निजी संस्थाओं और व्यक्तियों की सेवा में लगे हुए व्यक्तियों को उनकी ओर से यह वेतन के रूप में दिया जायेगा। अन्य लोग व्यापार-व्यवसाय के द्वारा अथवा सेवा के आधार पर मिलने वाली दक्षिणा के द्वारा धन प्राप्त करेंगे।

वर्णाश्रम-मर्यादा की पद्धति में यह व्यवस्था है कि राष्ट्र या समाज में किसी एक ही वर्ण या वर्ग का सर्वोपरि प्रभुत्व नहीं हो सकता। वहाँ वर्णों में शक्ति-संतुलन रखा गया है। ब्राह्मणों को आलम्बन पदार्थों के अतिरिक्त समाज में सम्मान सबसे अधिक मिलेगा। किसी भी उत्सव या सभा-समारोह में ब्राह्मणों को सबसे अगली पंक्ति में और सबसे ऊँचे आसनों पर बिठाया जायेगा। क्षत्रियों को आलम्बन पदार्थों के अतिरिक्त राज-शक्ति या प्रशासन की शक्ति और अधिकार प्राप्त होंगे। सम्मान उन्हें दूसरे दर्जे का प्राप्त होगा। उन्हें किसी उत्सव या सभा-समारोह में दूसरी पंक्ति में बिठाया जायेगा। वैश्यों को आलम्बन पदार्थों के अतिरिक्त अन्य धन-सम्पत्ति भी अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक कमाने का अधिकार होगा जिससे वे अन्य वर्णों के लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक सुख-आराम का जीवन बिता सकें; परन्तु उन्हें समाज में सम्मान तीसरे दर्जे का मिलेगा। किसी भी उत्सव और सभा-समारोह में उन्हें तीसरी पंक्ति में बैठना होगा। शूद्रों को भी आलम्बन पदार्थ और उनकी सेवा के अनुरूप अन्य सुख-सुविधाएँ मिलेंगी। सभा-समारोहों में बैठने के लिये उन्हें चौथी पंक्ति मिलेगी।

वर्णाश्रम-मर्यादा की पद्धति की आर्थिक नीति में 'ममत्व' के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। जिस काम में और उससे मिलने वाले फल में व्यक्ति का ममत्व या अपनापन जुड़ा होता है उसे वह अधिक से अधिक समय लगाकर पूर्ण मनोयोग के साथ अपनी समग्र शक्ति और योग्यता लगाकर करता है जिसके परिणामस्वरूप काम अधिक अच्छा होता है। इससे लोगों को उपभोग की सामग्री अधिक मात्रा में और बढ़िया किस्म की मिलती है। जहाँ आदमी काम को और उससे मिलने वाले फल को दूसरे का समझता है वहाँ वह काम को पूरे मन से और अधिक से अधिक समय देकर नहीं करता। परिणाम यह होता है सामान कम उत्पन्न होता है और घटिया किस्म का होता है। फलतः जनता को उपभोग सामग्री कम मात्रा में और घटिया किस्म की मिलती है।

ममत्व के इसी सिद्धान्त के आधार पर वर्णाश्रम-व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व और सम्पत्ति के उत्तराधिकार के आर्थिक सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। चारों वर्णों के लोग जो सम्पत्ति उपार्जित करेंगे वह उनकी निजी सम्पत्ति होगी और वे उस अर्जित सम्पत्ति को उत्तराधिकार में अपनी संतानों को भी दे सकेंगे। इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था साम्यवाद और समाजवाद के उस सिद्धान्त को नहीं मानती है जिसमें सम्पत्ति पर उसे अर्जित करने वाले का अपना निजी अधिकार और स्वामित्व नहीं होता और उसे उत्तराधिकार में भी नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार आजकल साम्यवाद और समाजवाद से जो कुछ समझा जाता है उस अर्थ में वर्णाश्रम-मर्यादा साम्यवादी या समाजवादी नहीं है। केवल शिक्षा के क्षेत्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था पराकाष्ठा की साम्यवादी है। राष्ट्र के प्रत्येक बालक को बाधित रूप से गुरुकुलों में—शिक्षणालयों में—पढ़ने के लिए जाना होगा। वहाँ बालकों

को ऊँची से ऊँची शिक्षा और भोजन-वस्त्र तथा चिकित्सा आदि सब कुछ निःशुल्क दिया जायेगा। इसका सारा व्यय समाज या राष्ट्र वहन करेगा। शिक्षा काल में बालक अपने घरों में न रहकर गुरुकुलों के आश्रमों में ही रहेंगे।

वर्णाश्रम-व्यवस्था के साम्यवादी या समाजवादी न होने पर भी उसमें वे दोष नहीं आ पाते जो आजकल की पूँजीवाद नाम से कही जाने वाली अर्थव्यवस्था में पाये जाते हैं जिसमें धन को ही सब कुछ समझा जाता है। धन को वहाँ एक उपास्य देवता का रूप दे दिया जाता है और त्याग की भावना पर वहाँ कोई बल नहीं दिया जाता। वर्णाश्रम-मर्यादा में त्याग पर अत्यधिक बल दिया जाता है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इस तीन आश्रमों में तो त्याग पर अत्यन्त बल दिया ही जाता है और इन तीनों आश्रमों में धन उपार्जन बिल्कुल वर्जित है। केवल गृहस्थाश्रम में ही धन अर्जित किया जा सकता है। वहाँ भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों के जो कर्तव्य बताये गये हैं उन्हें पूरा करते हुए इन वर्णों के लोग धन उपार्जन के पीछे पड़ ही नहीं सकते। वे जीवन-निर्वाह और अपने वर्ण के कर्तव्यों को ठीक से पूरा कर सकने के लिये जितना भर धन आवश्यक है उतना ही अर्जित कर सकते हैं। इन वर्णों के लोगों को भी त्याग का जीवन व्यतीत करने पर बल दिया जाता है और अपनी अर्जित सम्पत्ति में से दान करते रहने पर भी बल दिया जाता है। शूद्र वर्ण के लोगों के पास तो यों ही अधिक धन नहीं हो सकता क्योंकि उनमें अत्यधिक धन कमाने के लिये आवश्यक बुद्धि की क्षमता ही नहीं होती। यदि उसमें ऐसी क्षमता हो तो वह फिर शूद्र न कहा जाकर वैश्य ही कहा जायेगा। गृहस्थाश्रम में भी केवल वैश्य वर्ण के लोग ही विशेष धनोपार्जन कर सकते हैं। त्याग और दान उनका भी कर्तव्य बताया गया है। आर्यशास्त्र में सभी वर्णों के लोगों के लिये अपने धन में से दान करते रहना एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। कुछ ग्रन्थों में तो यहाँ तक कहा गया है कि प्रत्येक गृहस्थ को अपनी आमदनी का कम से कम दसवाँ भाग जनता के कल्याण के कार्यों में दान करना चाहिए। इस प्रकार इस त्याग और दान की भावना के कारण लोगों में बैसे ही अनुचित तरीकों से धन कमाने और उसके संग्रह करने की प्रवृत्ति कम होगी। फिर क्योंकि गृहस्थ के बाद धनोपार्जन का काम और उपार्जित धन-सम्पत्ति सब कुछ छोड़कर आवश्यक रूप से हर किसी को वानप्रस्थाश्रम में जाना है यह विचार भी उन्हें लोभ-लालच से परे रखेगा और अनुचित उपायों से धन कमाने और उसके संग्रह करने की प्रवृत्ति उनमें पनपने नहीं देगा। फिर सभी वर्णों के लोगों को राज्य द्वारा निर्धारित विभिन्न प्रकार के कर भी देने होंगे। इससे भी किसी के पास धन का अनुचित संग्रह नहीं हो पायेगा। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति या व्यापारिक संस्थान अपने नौकरों और कर्मचारियों को एक निर्धारित मात्रा में वेतन नहीं देगा तथा राज्य को देय करों को ठीक से नहीं देगा तो उसे राज्य द्वारा दण्डित भी किया जा सकेगा। आवश्यक प्रतीत होने पर राज्य उसकी सारी संपत्ति भी दण्ड के रूप में छीन सकेगा।

वर्णाश्रम-मर्यादा की पद्धति में प्रत्येक बालक को अपने शिक्षा काल में ही अपनी रुचि और बुद्धि की क्षमता के आधार अपने लिये ब्राह्मणादि में से कोई एक वर्ण चुन लेना होगा और उसके कर्तव्यों के पालन के लिए आवश्यक योग्यता हासिल करनी होगी। संस्कृत में छात्र को 'वर्णी' कहा जाता है। इस शब्द की व्यंजना यह है कि वर्ण जन्म पर आधारित नहीं होते, वे गुण-कर्म पर आधारित हैं, उनका चुनाव किया जाता है। वर्ण शब्द में ही चुनाव की बात अन्तर्निहित है—'त्रियते इति वर्णः' अर्थात् जिसका वरण किया जाये, चुनाव किया जाये, वह वर्ण होता है। जो लोग वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर आधारित मानते हैं उन्हीं के मान्य ग्रन्थों में से ऐसे प्रमाण दिये जा सकते हैं जिनमें कहा गया है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म पर नहीं, गुण-कर्म पर आधारित होती है। अपना वर्ण चुनने के साथ ही शिक्षा-काल में छात्र को यह भी व्रत लेना होता है, यह भी प्रतिज्ञा करनी होती है, कि वह अपने वर्ण के कर्तव्यों के पालन द्वारा जनता और राष्ट्र को सेवा करेगा। किसी वर्ण का व्रत लेकर, जीवन का कोई लक्ष्य निश्चित करके, उसके अनुसार शिक्षा ग्रहण करने का वर्ण-व्यवस्था का यह सिद्धान्त शिक्षा के क्षेत्र का एक निराला सिद्धान्त है। सब वर्णों के लोगों द्वारा लिया गया जनता की सेवा का यह व्रत भी उन्हें अनुचित उपायों से धन कमाने और उसके अनुचित संग्रह करने तथा उसके द्वारा लोगों को क्लेशित और उत्पीड़ित करने से रोकेंगा। जब धन जनता की सेवा करने की प्रतिज्ञा लेकर ही कमाया गया है तो उसका दुरुपयोग क्यों करना? ये सब बातें वर्णाश्रम-धर्म की पद्धति में वे दोष नहीं आने देंगी जो आजकल की निरंकुश पूंजीवादी पद्धति में पाये जाते हैं।

इस प्रकार वर्णाश्रम-धर्म की पद्धति में पूंजीवाद के गुण तो हैं दोष कोई नहीं, और उसमें साम्यवाद के गुण तो हैं दोष कोई नहीं।

अपने वर्ण का चुनाव व्यक्ति को अपने शिक्षा-काल में ही कर लेना होता है और शिक्षा-समाप्ति पर गुरु लोग उसे ब्राह्मण आदि वर्ण दिये जाने की घोषणा करते हैं। राज्य लोगों से वर्णाश्रम-धर्म का पालन करायेगा। जो अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों का पालन नहीं करेगा उसे दण्डित किया जायेगा। इसीलिये राजा को वर्णाश्रम-धर्म-गोप्ता कहा जाता है, वर्णाश्रम-धर्म का रक्षक कहा जाता है।

वर्णाश्रम-धर्म की पद्धति व्यक्ति को अपने शरीर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके आराम से रहने के लिए आवश्यक धनोपार्जन करने की व्यवस्था तो करती है पर उसे धनोपार्जन और संग्रह की उद्दाम लालसा में लिप्त रहने और धन का दास बनने की अनुमति नहीं देती।

6. वेद और मध्यकालीन भाष्यकार

यद्यपि आर्य परम्परा के सभी आचार्य और ऋषि-मुनि वेद को निखिल विद्या-विज्ञानों का आकर मानते रहे हैं तो भी महाभारत के पश्चात् के मध्यकालीन वैकटमाधव, स्कन्द, उवट, महीधर और सायणाचार्य आदि भाष्यकारों के वेद-भाष्यों का अवलोकन

करने पर वेद में ऐसा कुछ भी नहीं दिखाई देता। इन भाष्यकारों से पहले के किसी भाष्यकार का कोई वेद-भाष्य मिलता ही नहीं है। इन भाष्यकारों ने कहीं-कहीं वेद के कुछ थोड़े स्थलों के आध्यात्मिक अर्थ अवश्य किये हैं जिनसे वेद के अध्यात्म-विज्ञान पर प्रकाश पड़ता है। वेद के कुछ सूक्त और अध्याय इतने स्पष्ट रूप में अध्यात्म-~~तत्त्वों~~ का प्रतिपादन करते हैं कि किसी भी भाष्यकार को उनका आध्यात्मिक अर्थ करना ही पड़ता है।¹ यह अलग प्रश्न है कि इन भाष्यकारों ने वेद के इन आध्यात्मिक-स्थलों का भाष्य करते हुए इनसे ईश्वर और जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले हैं वे कहीं तक सही हैं। इन अति स्पष्ट स्थलों के अतिरिक्त इन भाष्यकारों ने सारे वेद के यज्ञपरक अर्थ किये हैं और मन्त्रों का किसी न किसी यज्ञ में विनियोग दिखाया है। वेद का अन्तिम प्रतिपाद्य विषय परमात्मा और उसका साक्षात्कार है और मन्त्रों के सीधे अथवा परम्परया परमात्मा-परक अर्थ भी हो सकते हैं। यह बात इस युग के अद्वितीय वेदज्ञ ऋषि दयानन्द ने ही कही है। इन भाष्यकारों ने तो वेद के यज्ञ-परक अर्थों पर इतना अधिक बल दिया है कि वेद में अध्यात्म-विद्या का भी उपदेश है यह बात सर्वथा ओझल हो जाती है। इन लोगों के भाष्यों से तो वेद केवल यज्ञ-परक बन जाता है। वेद में मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले राजनीति-विज्ञान आदि सामाजिक और अन्य भौतिक विज्ञानों का भी उपदेश दिया गया है, यह बात तो इन भाष्यकारों के भाष्यों से² विल्कुल भी सामने नहीं आती। वेद में इस प्रकार के मनुष्य के व्यावहारिक जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञानों का उपदेश भी बड़े परिमाण में दिया गया है। यह बात भी इस युग में ऋषि दयानन्द ने ही सबसे पहले कही है।

7. वेद के यज्ञ-परक अर्थ

आचार्य सायण आदि भाष्यकार तो वेद-मन्त्रों के यज्ञ-परक अर्थ ही करते रहे। इस धरती से ऊपर कहीं आकाश में एक विशेष प्रकार का स्थान है जिसे स्वर्ग-लोक कहते हैं। इस स्वर्ग में इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, सोम, पूषा, सूर्य, सविता और विष्णु आदि विशेष प्रकार के प्राणी रहते हैं जिन्हें देवता कहा जाता है। ये देवता मनुष्यों की माँति शरीरधारी हैं। ये देवता कभी रोगी नहीं होते, कभी बूढ़े नहीं होते, सदा युवा रहते हैं। ये मरते भी नहीं। प्रलय काल तक जीवित रहते हैं। ये बड़े शक्तिशाली होते हैं। शरीर और मन दोनों की शक्तियाँ इनमें प्रचुर परिमाण में रहती हैं। ये स्वर्ग में बड़ा आनन्दमय जीवन बिताते हैं। स्वर्ग में कल्पवृक्ष और काम-धेनुएँ होती हैं। ये कल्पवृक्ष और काम-धेनुएँ इन देवताओं द्वारा याचना किये जाते ही उनकी सब प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक भोग्य सामग्री उत्पन्न

¹ उदाहरण के लिए ऋग्वेद के 1.164; 10.81; 10.82; 10.121; 10.129 ये पाँच सूक्त; यजुर्वेद के 32, 40 ये दो अध्याय और अथर्ववेद के 2.1; 10.7; 10.8; ये तीन सूक्त देखे जा सकते हैं।

करके उन्हें प्रदान करती रहती हैं। स्वर्ग में इन देवताओं की अपनी-अपनी पत्नियाँ तो होती ही हैं; वहाँ अप्सरायें भी होती हैं। ये अप्सरायें भी देवताओं के जीवन को रसमय बनाती रहती हैं। ये देवता दयालु स्वभाव के होते हैं। प्रसन्न हो जाने पर ये देवता प्रार्थी की सभी कामनाओं को पूरा कर देते हैं। सायणाचार्य आदि भाष्यकारों की मान्यता के अनुसार वेद में जिन इन्द्र, अग्नि, वरुण और विष्णु आदि देवताओं की मन्त्रों के द्वारा स्तुति की गई वे इस कल्पित स्वर्ग में रहने वाले देवता ही हैं। इन देवताओं को प्रसन्न करने का उपाय यज्ञों में इनके मन्त्रों के द्वारा दी गई आहुतियाँ हैं। ये देवता अदृश्य रूप धारण करके यज्ञ में आकर इन आहुतियों के पदार्थों का भक्षण करते हैं। उन पदार्थों का भक्षण करके और वेद-मन्त्रों के द्वारा की गई अपनी स्तुतियों को सुनकर ये देवता प्रसन्न हो जाते हैं और यजमान की उस कामना को पूरा कर देते हैं जिसकी पूर्ति के लिए कोई यज्ञ किया गया होता है। यज्ञ-याग करते रहने वाले लोगों को ये देवता मरणोपरान्त स्वर्ग में भी भेज देते हैं। स्वर्ग में जाकर ये लोग भी देवताओं जैसे ही बन जाते हैं और देवताओं द्वारा भोगे जाने वाले सब सुखोपभोग इन्हें भी प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों, श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों आदि में अनेक यज्ञों का वर्णन आता है और इन ग्रन्थों के लेखकों ने यज्ञों की विभिन्न विधियों में वेद के विभिन्न देवताओं के वेद-मन्त्रों का विनियोग किया है। इन विनियोगकारों द्वारा वेद-मन्त्रों के विभिन्न यज्ञों में किये विनियोग के आधार पर ही आचार्य सायण आदि भाष्यकारों ने वेद-मन्त्रों के यज्ञ-परक अर्थ किये हैं जिसके कारण वेद का विविध ज्ञान-विज्ञान प्रतिपादक स्वरूप बिल्कुल विलुप्त हो गया है।

विनियोगकारों ने जो अनेक प्रकार के यज्ञ-यागों की कल्पना की है उसमें गोमेघ, अजमेघ, अश्वमेघ और नृमेघ जैसे यज्ञों का भी विधान है जिनमें गौओं, बकरो, घोड़ों और मनुष्यों तक को मारकर उनके मांस से आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार के पशु-यज्ञ भारत के इतिहास के अन्धकारमय युग में होते भी रहे हैं। इन क्रूरतामय पशु-यज्ञों में की जाने वाली हिंसा के वीभत्स नृत्य को देखकर ही महात्मा बुद्ध को यज्ञों का विरोध करना पड़ा था। महात्मा बुद्ध की भाँति ही इस युग में ऋषि दयानन्द ने भी यज्ञों में पशु-हिंसा का घोर विरोध किया है। महात्मा बुद्ध वेद के पण्डित नहीं थे। उन्होंने भूत-दया की भावना से पशु-यज्ञों का विरोध किया था। ऋषि दयानन्द वेदों के भी अद्वितीय मर्मज्ञ थे। उन्होंने भूत-दया की भावना से तो यज्ञों में पशु-हिंसा का विरोध किया ही, अपने वेद के पाण्डित्य के आधार पर यह भी कहा कि वेद में किसी प्राणी को मारकर उसका मांस खाने तक का निषेध है। इस दृष्टि से वेद पूर्ण अहिंसा का प्रतिपादक ग्रन्थ है। यज्ञों में पशु-हिंसा का विधान वेद-सम्मत नहीं है।

कोई स्वर्ग नामक विशेष लोक आकाश में है जहाँ इन्द्र, अग्नि, वरुण और

विष्णु आदि देवता रहते हैं, और ये देवता उन देवताओं वाले वेद-मन्त्रों द्वारा यज्ञों में आहुतियाँ देकर बुलाये जाने पर यज्ञ में आकर उन आहुतियों के पदार्थों का अदृश्य रूप में भक्षण करते हैं तथा प्रसन्न होकर यजमान की कामनाओं को पूर्ण करते हैं और मरने के बाद यजमान को स्वर्ग में भेज देते हैं। ऐसा सोचना कोरी कल्पना है। इसमें अणुमात्र भी सत्य नहीं है। इस प्रकार का स्वर्ग-लोक विश्व में कहीं भी नहीं है। आजकल के वैज्ञानिकों ने अपने करोड़ों और अरबों मीलों की दूरी के पिण्डों को भी देख सकने की शक्ति रखने वाले दूरबीक्षण यन्त्रों की सहायता से विश्व-ब्रह्माण्ड को छान डाला है। आजकल के वैज्ञानिकों ने अपने इन दूरदर्शक यन्त्रों की सहायता से विश्व-ब्रह्माण्ड का जितना विस्तार देखा है उसकी एक सिर से दूसरे सिर तक दूरी एक हजार मिलियन प्रकाश वर्ष है। यह दूरी अंकों में $186300 \times 60 \times 60 \times 24 \times 365 \times 1000 \times 1000000$ मील बनती है। दूरबीक्षणों द्वारा देखे गये इतने विस्तार वाले ब्रह्माण्ड में वैज्ञानिकों ने अरबों और खरबों लोक-लोकान्तरों को देख डाला है। पौराणिक याज्ञिकों का यह स्वर्ग-लोक कहीं भी नहीं मिला। यज्ञ-यागादि करने वाले लोग मर कर चन्द्र लोक में जाते हैं यह भी एक पौराणिक कल्पना है। आजकल के अमरीकन वैज्ञानिक अपने विशेष प्रकार के अन्तरिक्ष यानों के द्वारा चन्द्रमा की कई बार यात्रा कर आये हैं। वहाँ के छायाचित्र (फोटोग्राफ) भी उन्होंने लिये हैं। वहाँ उन्होंने किसी प्रकार का कोई प्राणी नहीं देखा। उनके अनुसार चन्द्रमा एक सूखा पिण्ड है। उसमें न वायु है और न जल है। जल और वायु के बिना न तो कोई प्राणी ही जीवित रह सकता है और न कोई वनस्पति ही उग सकती है। इसी भाँति सूर्य में भी कोई प्राणी नहीं रह सकता। सूर्य में लाखों सेंटीग्रेड डिग्री की गरमी है। सूर्य में या तो पिघला हुआ उत्तप्त पदार्थ है या उत्तप्त गैसें हैं। इतनी विराट् गरमी में कोई भी शरीर बना नहीं रह सकता। वह पिघल जायेगा और गैस बन जायेगा और बिना शरीर के कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह स्वर्ग-लोक की कल्पना नितान्त असत्य है।

X
द. म.
= अ.

स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की बात भी कोरी कल्पना ही है। यज्ञों में आकर ये देवता हवि ग्रहण करते हुए दिखाई क्यों नहीं देते? वे अदृश्य रूप में क्यों आते हैं? जब उनके मनुष्यों जैसे शरीर हैं तो उनके शरीर अदृश्य कैसे हो सकते हैं? फिर उन्हें अदृश्य होकर आने की क्या आवश्यकता है? यज्ञों में तो उनके उपासक और श्रद्धालु लोग बैठे होते हैं। अपने इन भक्तों को ये देवता अपना रूप क्यों नहीं दिखाते? इनका रूप देखकर तो भक्तजन और भी अधिक प्रसन्न होकर इनकी सेवा करेंगे और भक्तों का इनकी सत्ता में विश्वास और भी दृढ़ हो जायेगा। वेद के देवताओं का स्वरूप वह नहीं है जो कि मध्यकाल के विनियोगकार और सायणाचार्य आदि भाष्यकार समझते हैं।

विनियोगकारों ने मन्त्रों का जो यज्ञों के विधि-विधानों में विनियोग किया है वह प्रामाणिक नहीं है। विनियोगकारों की अपनी कल्पना के अनुसार वह विनियोग है। अनेक बार मन्त्रों के विनियोग मन्त्रों के अर्थों के साथ मेल नहीं खाते। मन्त्र कुछ

और ही बात कह रहा है और विनियोग में उसके विपरीत कार्य किया जा रहा है। उदाहरण के लिए, अपने अथर्ववेद भाष्य में आचार्य सायण ने अथर्व० 9.4 सूक्त की भूमिका में लिखा है कि 'ब्राह्मण बैल को मार कर इस सूक्त के मंत्रों द्वारा उसके मांस की भिन्न-भिन्न देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देता है। मंत्रों के द्वारा बैल की प्रशंसा करता है और उसके अंगों में कौन-कौन से किस-किस देवता को प्रिय हैं इसका भी विवेचन करता है। सूक्त में बैल की बलि देकर हवन किये जाने के महत्त्व का भी वर्णन किया गया है। और इस हवन से जो श्रेय उत्पन्न होता है उसका भी स्वर्तन किया गया है।'¹ अब यदि सूक्त के मंत्रों के अर्थों पर बारीकी से विचार किया जाये तो उनमें इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गई है। सूक्त के मंत्रों से तो यह अर्थ निकलता है कि गौओं की नस्ल को उन्नत करने के लिए किसी उत्तम बछड़े को सांड बनने के लिए छोड़ना चाहिए। सूक्त की भूमिका में सायण ने कुछ विनियोगकारों का इस आशय का मत भी दिया है। बैल को मार कर उसके मांस से देवताओं के निमित्त आहुतियाँ दिलवाने वाला सूक्त के मंत्रों का विनियोग मंत्रार्थ के विरुद्ध होने के कारण सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार यज्ञों के अनेक विधि-विधानों में विनियोग मंत्रार्थों के साथ मेल नहीं खाते। विनियोग के पीछे मंत्रार्थ नहीं चल सकता। मंत्रार्थ के पीछे विनियोग को चलना होगा। विनियोग तो विनियोगकारों की अपनी कल्पनायें हैं। उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार यज्ञों का वह रूप सही नहीं है जो कि मध्यकालीन विनियोगकारों और उनके पीछे चलने वाले भाष्यकारों ने समझा है। इस प्रकार के यज्ञों और उनमें मन्त्रों के विनियोग से वेद का वास्तविक तात्पर्य प्रकट नहीं होता। इस प्रकार के अनेक यज्ञों से तो न केवल वेद का उदात्त स्वरूप ही धूमिल हो जाता है प्रत्युत वेद हास्यास्पद और घृणित बातों को कहने वाला बन जाता है। वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले इन लोगों ने वेद को किस निम्न कोटि का ग्रन्थ बना दिया है।

8. ऋषि दयानन्द और वेद के याज्ञिक अर्थ

ऋषि दयानन्द इस युग के महान् वेदोद्धारक थे। जैसा कि हमने अभी ऊपर की पंक्तियों में कहा है मध्यकाल के विनियोगकारों और उनके पीछे चलने वाले भाष्यकारों ने वेद के वास्तविक स्वरूप को बिगाड़कर हास्यास्पद और जुगुप्सित बना डाला था। ऋषि दयानन्द ने इन लोगों की मान्यताओं का निराकरण करके वेद के मानव के व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी नानाविध ज्ञान-विज्ञानों के प्रतिपादक स्वरूप को फिर से उद्भासित किया। ऋषि दयानन्द भी यज्ञों में आस्था रखते थे। परन्तु ऋषि दयानन्द यज्ञों का वह रूप और प्रयोजन नहीं मानते थे जो कि ये

¹ ब्राह्मणो वृषभं हत्वा तन्मांसं भिन्नभिन्नदेवताभ्यो जुहोति। तत्त वृषभस्य प्रशंसा तदङ्गानां च कतमानि कतमदेवेभ्यः प्रियाणि भवन्ति तद्विवेचनम्। वृषभबलिहवनस्य महत्त्वं च वर्ण्यते। तदुत्पन्नं श्रेयश्च स्तूयते। अथर्व० 9.4 सूक्तभाष्योत्थानिकायां श्रीसायणाचार्यः।

विनियोगकार और उनके अनुयायी भाष्यकार मानते हैं। ऋषि दयानन्द इन लोगों द्वारा माने गये स्वर्ग-लोक नामक किसी विशेष स्थान की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। वे तो इसी धरती पर रहने वाले लोगों के सुखी जीवन को स्वर्ग का जीवन कहते थे और दुःखी जीवन को नरक का जीवन कहते थे। वे उस कल्पित स्वर्ग-लोक में रहने वाले काल्पनिक देवताओं की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते थे। इसीलिए वे यह भी नहीं मानते थे कि ये देवता यज्ञों में आकर उनके निमित्त दी गई आहुतियों को ग्रहण करते हैं, और उससे प्रसन्न होकर यजमानों की कामनाओं को पूरा कर देते हैं और उन्हें स्वर्ग में भेज देते हैं। इसलिए ऋषि दयानन्द ने वेदमन्त्रों के इस प्रकार के यज्ञपरक अर्थ अपने वेदभाष्य में नहीं किये हैं। यज्ञों और उनके प्रयोजन के सम्बन्ध में उनके दूसरे ही विचार थे। कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञों के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए ऋषि ने लिखा है, 'अग्निहोत्र से अश्वमेधपर्यन्त जो यज्ञ किये जाते हैं उनमें भली-भाँति शुद्ध किये हुए सुगन्धित, मिष्ट, पुष्टिकारक और रोगनाशक द्रव्यों से आहुतियाँ दी जाती हैं जिससे वायु और दृष्टि जल की शुद्धि हो जाती है और इस कारण यज्ञ सारे जगत् के लिए सुखकारी हो जाता है।'¹ यहाँ ऋषि ने यज्ञों का प्रयोजन वायु और दृष्टि जल की शुद्धि और निरोगकारकता बताया है। 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में उन्होंने यज्ञ के दो प्रयोजन कहे हैं। एक वही जल-वायु की शुद्धि और दूसरा वेद की रक्षा। वेद-मन्त्रों से जो अग्निहोत्र और अश्वमेधादि यज्ञ किये जाते हैं उनमें भिन्न-भिन्न मन्त्र पढ़े जाते हैं। इस प्रकार ये मन्त्र व्यवहार में आते रहते हैं और याद भी हो जाते हैं। इस प्रकार वेद की रक्षा हो जाती है। वेद-मन्त्रों में अनेक प्रकार की उत्तम शिक्षाएँ दी गई होती हैं। यज्ञों में मन्त्र पढ़ते समय यजमान और पुरोहित इन मन्त्रों के अर्थ पर ध्यान देते हैं तो उनमें दी गई शिक्षाएँ उनके मनों पर अंकित हो जाती हैं और उसका प्रभाव उनके व्यावहारिक जीवन पर पड़ता है। इससे उनका जीवन श्रेष्ठ बन जाता है। इस प्रकार यज्ञों में पढ़े गये मन्त्रों के अर्थ-विचार और तदनुसार आचरण करने से भी वेद की रक्षा होती है। ऋषि की दृष्टि में यज्ञों के ये दो प्रयोजन हैं।

ऋषि ने कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञों का एक और भी रूप हमारे सामने रखा है। उन्होंने लिखा है कि 'भोजन और वस्त्रों की प्राप्ति, यान, कला-कौशल और यन्त्रों के निर्माण तथा सामाजिक नियमों के बनाने और पालन के लिए जो कर्मकाण्ड किया जाता है वह अधिकतर व्यक्ति के अपने सुख के लिए होता है।'² ऋषि के इस कथन में यह कहा गया है कि भोजन और वस्त्रों की प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के

¹ स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टिरोगनाशक गुणैर्युक्तस्य सम्यक्संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्यैव भवति। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका।

² यं च भोजनाच्छादनकलाकौशलयन्त्रसामाजिकनियमप्रयोजन सिद्धयर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखार्थैव भवति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।

यानों, कला-कौशलों और यन्त्रों के निर्माण के लिए और सामाजिक नियमों की रचना तथा पालन के लिए जो उपाय किये जाते हैं और संगठन बनाये जाते हैं वे भी कर्मकाण्ड ही हैं अर्थात् यज्ञ ही हैं। इस प्रकार ऋषि ने यज्ञ के अर्थ और रूप को एक बहुत बड़ा आयाम दे दिया है। इस वाक्य में यह जो कहा है कि यह कर्मकाण्ड अधिकतर व्यक्ति के अपने सुख के लिए ही होता है, इससे यह व्यंजना भी स्पष्ट है कि यह कर्मकाण्ड दूसरों के सुख के लिए भी होता है। जब कोई व्यक्ति इस प्रकार के कार्य करता है तो उनसे उसको तो सुख मिलता ही है इसके साथ ही उसके उन कार्यों से औरों को भी सुख मिलता है। परन्तु अग्निहोत्रादि यज्ञ जलवायु की शुद्धि और नीरोगता के द्वारा यज्ञकर्ता की अपेक्षा दूसरों के लिए ही अधिक सुखकारी होते हैं। अन्ततोगत्वा सभी प्रकार का कर्मकाण्ड अर्थात् सभी प्रकार के यज्ञ सभी का उपकार करने वाले होते हैं। यज्ञों की इस व्यापक भावना को ध्यान में रखकर वेद के गम्भीर मर्मज्ञ और अप्रतिभ प्रतिभाशाली विद्वान् श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार (पश्चात् श्री स्वामी समर्पणानन्द) ने यज्ञ का एक बड़ा सुन्दर लक्षण इस प्रकार किया है— 'समुदाय भर के योगक्षेम को लक्ष्य में रखकर किसी व्यक्ति के द्वारा उस समुदाय का अंग बनकर किया जाने वाला कर्म यज्ञ कहलाता है।'¹

मन्त्रों के कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञों में विनियोग के सम्बन्ध में ऋषि ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के 'प्रतिज्ञाविषय' नामक प्रकरण में लिखा है कि 'इन वेदमन्त्रों के अग्निहोत्र से अश्वमेधपर्यन्त यज्ञों में विनियोग से जो कर्म किये जाते हैं उनका विस्तार से वर्णन इस भाष्य में नहीं किया जायेगा; क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रादि ग्रन्थों में कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में मन्त्रों के विनियोग को भली-भाँति दिखा दिया है; फिर उन्हीं बातों को अपने इस भाष्य में दिखाने से पुनरुक्ति और पिष्टपेषण ही होता और इससे यह भाष्य भी अनधिकृत ग्रन्थों जैसा ग्रन्थ बन जाता। इसलिए जो युक्तियुक्त हो, वेदादि के प्रमाणों के अनुकूल हो और वेद-मन्त्र के अर्थ के अनुसार हो, शतपथ आदि ग्रन्थों से कहे गये उस विनियोग का भी ग्रहण किया जा सकता है।'² ऋषि के इस कथन से यज्ञों और उनके विधि-विधानों में वेद-मन्त्रों के विनियोग के सम्बन्ध में उनकी स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। शतपथ आदि ग्रन्थों में लिखा होने मात्र से ऋषि दयानन्द किसी यज्ञ को और उसमें किये गये मन्त्रों के विनियोग को आवश्यक रूप से स्वीकार नहीं करते। यदि कोई यज्ञ और उसके विधि-विधान तथा उनमें मन्त्रों का विनियोग युक्तियुक्त है

¹ सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः।

² परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यज्ञ यन्त्राऽग्निहोत्रादयश्चवेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तद्वत् विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थः विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तिपिष्टपेषणादोपापत्तेश्च। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थनुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।

और मन्त्रों के अनुसार है तभी उसे स्वीकार किया जा सकता है। अयुक्तियुक्त और वेद-मन्त्रार्थ विरोधी विनियोग और यज्ञ के विधि-विधानों को स्वीकार नहीं किया जा सकता चाहे किसी भी ग्रन्थ में उसका विधान क्यों न हो।

इस प्रकार यज्ञों के स्वरूप और उनमें मन्त्रों के विनियोग के सम्बन्ध में ऋषि की धारणा सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। वे यज्ञों के उस स्वरूप और प्रयोजन को स्वीकार नहीं करते जो कि विनियोगकारों और उनके अनुयायी श्री सायणाचार्य आदि वेद-भाष्यकारों ने बताया है। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने मन्त्रों के उस प्रकार के याज्ञिक अर्थ नहीं किये हैं जैसे कि सायणाचार्य आदि ने किये हैं। ऋषि ने यज्ञ का बहुत व्यापक अर्थ किया है। यह बात ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से ऊपर उद्धृत उनके वचनों और उनके अन्य ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर किये गये उनके यज्ञ के विवरणों से स्पष्ट होता है। यज्ञ का यही व्यापक रूप ध्यान में रखकर ऋषि ने वेद-मन्त्रों के अर्थ किये हैं। ऋषि दयानन्द की इस दृष्टि से वेदों का अध्ययन करने पर ही उनका नानाविध ज्ञान-विज्ञान प्रतिपादक रूप प्रकट होता है। यज्ञ के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द का यह दृष्टिकोण वैदिक विचारधारा को उनकी एक सर्वथा मौलिक और क्रान्तिकारी देन है।

इस ग्रन्थ की रचना का आधार ऋषि दयानन्द से प्राप्त यही दृष्टिकोण है। हमने इस ग्रन्थ में वेद को राष्ट्र-यज्ञ का वर्णन करने वाले ग्रन्थ के रूप में देखा है।

9. वेद और इतिहास

वेद के सम्बन्ध में मध्यकालीन विद्वानों द्वारा लिखे गये बृहद् देवता और सर्वानुक्रमणियों आदि ग्रन्थों में अनेक कथाएँ दी गई हैं जिन्हें इन ग्रन्थों के लेखक वेद-मन्त्रों में वर्णित कथाएँ बताते हैं। श्री सायणाचार्य आदि भाष्यकार भी इन ग्रन्थों के आधार पर अपने भाष्यों में इन कथाओं का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि ये कथाएँ अमुक-अमुक वेद-मन्त्रों में कही गई हैं। इन कथाओं में भारत के प्राचीन ऋषियों या राजाओं के नामों का उल्लेख होता है और उनके जीवन के कुछ कार्यों का वर्णन होता है। वेद के इन्द्र, अग्नि और वरुण आदि देवता भी इन कथाओं के पात्र रहते हैं। इन देवताओं के साथ मिलकर उनकी सहायता से ही उन ऋषियों और राजाओं ने अपने वे कार्य सम्पन्न किये होते हैं। इस प्रकार ये मध्यकालीन लेखक और भाष्यकार वेद में उन ऋषियों और राजाओं के इतिहासों को वर्णित मानते हैं। इसी के अनुसार वेद पर लिखने वाले यूरोपियन विद्वान् और उनके पीछे चलने वाले अनेक आधुनिक भारतीय विद्वान् भी वेद में इतिहास का वर्णन मानते हैं।

वेद में इतिहास होने के सम्बन्ध में इन लोगों का कथन सही नहीं है। भारतीय आयों की परम्परा में वेद को ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है जो कि प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में मानव को दिया था। बृहद् देवता और सर्वानुक्रमणियों के लेखक और श्री सायणाचार्य आदि भाष्यकार भी वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। सृष्टि के

आरम्भ में दिये गये ईश्वरीय ज्ञान में किसी परवर्ती ऐतिहासिक ऋषि या राजा के जीवन-वृत्त या इतिहास का वर्णन होना सम्भव ही नहीं हो सकता। वेद को सृष्टि के आरम्भ में दिया गया परमात्मा का ज्ञान मानकर ये मध्यकालीन भारतीय लेखक और भाष्यकार वेद में राजाओं और ऋषियों का इतिहास होने की बात कैसे कहते हैं यह समझ से परे की बात है।

श्री सायणाचार्य ने तो अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि वेद में किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास नहीं है। मीमांसा दर्शन में वेद अपौरुषेय नहीं है प्रत्युत पौरुषेय है अर्थात् पुरुषों द्वारा बनाया गया है ऐसा पूर्वपक्ष उठाकर पूर्वपक्षी द्वारा दिये गये हेतुओं का खण्डन करके वेद अपौरुषेय हैं इस सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की गई है। आचार्य सायण ने मीमांसा के इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वेद मन्त्रों में प्रमगन्द आदि अनित्य पदार्थों या व्यक्तियों का संयोग अर्थात् वर्णन पाया जाता है। इसलिये वेद-मन्त्र अनादि अर्थात् अपौरुषेय नहीं हो सकते। इसका उत्तर मीमांसाकार ने 'उक्तश्चानित्यसंयोगः' इस सूत्र में दिया है कि प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में पूर्वपक्षी के अनित्य-संयोग वाले हेतु का परिहार कर दिया है। वहीं पूर्वपक्षी ने वेद को पौरुषेय सिद्ध करने के लिए 'अनित्यदर्शानाच्च' यह कहकर एक और हेतु दिया है कि वेद के कई भागों को काठक और कालापक आदि नामों से पुकारा जाता है। इसका भाव यह है कि वेद के ये भाग कठ और कलाप नामक अनित्य व्यक्तियों ने बनाये हैं। इसी भाँति वेद में 'बबर प्रावाहणि ने कामना की' इस प्रकार के वर्णन भी आते हैं। प्रवाहण का पुत्र प्रावाहणि बबर तो एक अनित्य व्यक्ति है। यह वेद से पहले नहीं था। वेद में उसका उल्लेख होने के कारण वेद अपौरुषेय नहीं रहता, पौरुषेय बन जाता है। पूर्वपक्षी के इस आक्षेप का उत्तर मीमांसाकार ने 'परन्तु वृत्तिसामान्यमात्रम्' इस सूत्र के द्वारा दिया है। इसका भाव यह है कि वेद के कुछ भागों का नाम काठक आदि तो इस कारण है कि कठ आदि ऋषियों ने शिष्यों को उनका प्रवचन किया था और जो बबर आदि अनित्य-दर्शन की बात कही है वह तो शब्द की समानतामात्र है। वेद में किसी बबर नामक अनित्य पुरुष से अभिप्राय नहीं है। बबर तो शब्द का अनुकरणमात्र है। वहाँ बबर का अभिप्राय बबर इस प्रकार का शब्द करते हुए वायु से है। वायु प्रावाहणि इसलिए है कि वह प्रकर्ष से बहन करने वाला है अर्थात् खूब बहने वाला है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समाधान कर लेना चाहिए।¹

¹ यदप्युक्तं प्रमगन्दाद्यनित्यार्थसंयोगात् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्यात् इति तत्रोत्तरं सूत्रयति 'उक्तश्चानित्यसंयोगः' इति। प्रथमपादस्यान्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्तः परिहृतः। तथा हि पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं कालापकमित्यादि पुरुषसम्बन्धीभिर्धानं हेतुकृत्य 'अनित्यदर्शानाच्च' (जै० सू० 1.1.28) इति हेत्वन्तरं सूत्रितम्। तस्यायमर्थः। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत्' (तै० सं० 7.1.10.2) इत्यनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनात् ततः पूर्वमसत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति तस्योत्तरमेवं सूचितं—'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (जै० सू० 1.1.31) इति। तस्यायमर्थः। यत्काठकादिमाध्यानां

इस प्रकार मीमांसा दर्शन के मत का अनुसरण करते हुए आचार्य सायण वेद को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं और उसमें किसी प्रकार का इतिहास नहीं मानते। ये 'बबरः प्रावाहणिकामयत' आदि वाक्य ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं। इस प्रकार श्री सायणाचार्य मूल वेद तो क्या ब्राह्मण ग्रन्थों तक में इतिहास स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार वेद में इतिहासवाद का तीव्र खण्डन करते हुए भी आचार्य सायण अपने वेदभाष्य में अनेक ऋषियों और राजाओं के इतिहासों का वर्णन करते हैं यह कितने आश्चर्य की बात है।

वेद में इतिहास नहीं है अपनी इस प्रतिज्ञा का निर्वाह श्री सायणाचार्य अपने वेदभाष्य में नहीं कर सके। इससे दो परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि सायणाचार्य का वेदभाष्य उनका अपना लिखा हुआ नहीं है, उनके द्वारा इस काम के लिए नियुक्त किये गये किन्हीं दूसरे पण्डितों का लिखा हुआ है। दूसरा यह कि सायणाचार्य में वेद के उन स्थलों का समाधान करने की शक्ति नहीं थी जिनमें बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणियों के लेखकों ने इतिहास होने की बात कही है। हमें तो इनमें से पहला विकल्प ही ठीक लगता है। सायणाचार्य जैसे महाविद्वान् व्यक्ति के लिये, जिन्हें उनके प्रशंसकों ने सर्वज्ञ¹ तक कहा है, इन स्थलों का समाधान कर सकना दुष्कर नहीं था। श्री सायणाचार्य महाराजा बुल्क के प्रधानमन्त्री थे। राजकार्य के महान् उत्तरदायित्व के अपने कर्णों पर रखते हुए आचार्य सायण के लिए यह सम्भव ही नहीं था कि वे वेदभाष्य के लिए समय निकाल सकते। उन्होंने यह कार्य किन्हीं पण्डितों को सौंप दिया होगा। कुछ भी हो वेद में इतिहास नहीं है, सायणाचार्य की इस प्रतिज्ञा का निर्वाह उनके वेदभाष्य में नहीं हो सका है।

वेद-मन्त्रों से ये जो कथायें और इतिहास निकाले जाते हैं वे वस्तुतः मन्त्रों में हैं नहीं। पुराणों और दूसरे ग्रन्थों में पाई जाने वाली कथाओं के पात्रों में से किसी एक-आध पात्र का नाम किसी मन्त्र में दीख पड़ते ही ये मध्यकालीन वेद के अनुकृणिकार और उनके पीछे चलने वाले भाष्यकार उस कथा को मन्त्र पर मढ़ देते हैं। यद्यपि मन्त्र में उस कथा का कुछ भी वर्णन नहीं होता है। उदाहरण के लिए शुनः शेष की कथा को देखिये। ऐतरेय ब्राह्मण और देवी भागवत में राजा हरिश्चन्द्र और उसके पुत्र रोहित तथा अजीगर्त ऋषि के पुत्र शुनःशेष से सम्बन्ध रखने वाली एक

तत्प्रवचननिमित्तम् । यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तच्छब्दसामान्यमात्रम् । न तु तत्त अनित्यो बबराद्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः । किन्तु बबर इति शब्दानुकृतिः । तथा सति बबरेति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते । स च प्रावाहणः प्रकर्षेण वहनशीलः । एवमन्यत्ताप्यूहनीयम् ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां श्रीसायणाचार्यः ।

¹ ते तपस्तेजसां राशिसासीनं परमासने ।

सर्वज्ञं सायणाचार्य पर्यपृच्छन् सभासदः ॥

अधीताः सकला वेदास्ते च दृष्टार्थगोचराः ।

त्वत्प्रणीतेन तद्भाष्यप्रदीपेन प्रतीयसा ॥

—यज्ञतन्त्र सुधानिधि की भूमिका के 13-14 श्लोक ।

लम्बी-चौड़ी कथा आती है। इस कथा में वरुण और इन्द्र का जिक्र भी आता है और जमदग्नि, वसिष्ठ और अयास्य ऋषियों का जिक्र भी आता है। यह सारी कथा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चौबीसवें सूक्त के बारहवें और तेरहवें मन्त्रों के आधार पर इस सूक्त और इससे आगे के छः सूक्तों पर थोप दी जाती है। ऋग्० 1.24 सूक्त के 12वें और 13वें मन्त्र में एक-एक बार शुनःशेष शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त इन सातों सूक्तों में इस कथा का कुछ भी उल्लेख नहीं है। सूक्तों में कहीं हरिश्चन्द्र, रोहित, अजीगर्त, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ और अयास्य के नाम नहीं आते। राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र न होने, पुत्र-प्राप्ति के लिए उसके द्वारा वरुण को प्रसन्न करने के लिए तपस्या किये जाने और वरदान में वरुण से पुत्र-प्राप्ति का वर्णन भी सूक्तों में कहीं नहीं है। न वरुण द्वारा राजा से उसके पुत्र रोहित को यज्ञीय पशु के रूप में माँगने का वर्णन ही कहीं है। न रोहित के जंगल में भाग जाने, राजा को वरुण के शाप द्वारा जलोदर हो जाने और फिर रोहित के वापिस आने तथा ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र द्वारा पुनः बाहर भेज दिये जाने का कहीं उल्लेख है। न ही अपने स्थान पर यज्ञीय पशु के रूप में यज्ञ में बलि देने के लिए रोहित द्वारा अजीगर्त ऋषि से सौ गौओं के बदले में उसका पुत्र माँगने का वर्णन है। और न यज्ञ का ही वर्णन है। सूक्तों में इनमें से किसी बात का वर्णन नहीं है। एक शब्द में, यह कहानी वहाँ सर्वथा ही वर्णित नहीं है। यह तो एक गुणवाची यौगिक शब्द है। यह 'श्वन्' और 'शेष' इन दो शब्दों के योग से बना है। 'श्वन्' शब्द यहाँ ज्ञान का वाचक है। यह शब्द 'द्वि' (दु ओ द्वि) धातु से बना है जिसके गति और वृद्धि ये दो अर्थ होते हैं। गति का एक अर्थ ज्ञान भी होता है। ज्ञान की सदा वृद्धि होती रहती है और वह गुरु से शिष्य में पहुँचने द्वारा एक प्रकार की गति भी करता रहता है। इसलिये ज्ञान को 'श्वन्' कहा गया है। 'शेष' का अर्थ स्पर्श है। यह शब्द स्पर्शार्थक 'शप' धातु से निष्पन्न होता है। जिसको ज्ञान का स्पर्श हो जाये वह व्यक्ति 'शुनःशेष' कहा जायेगा। जिन दोनों मन्त्रों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है उनमें वरुण नामक परमात्मा से, उपासकों के द्वारा वरण करने योग्य और उपासकों को बचाने वाले परमात्मा से, दुःखदायक, पापजन्य सांसारिक बन्धनों से छुड़ाने की प्रार्थना की जा रही है। कहा जा रहा है कि बन्धनों की पकड़ में पड़ा हुआ 'शुनःशेष' व्यक्ति जिस वरुण नामक प्रभु की पुकार लगाता रहता है और इस प्रकार बन्धनों से छूट जाता है वे वरुण प्रभु हमें भी मुक्त करें।¹ दुःखदायक सांसारिक बन्धनों में पड़ा हुआ जो व्यक्ति 'शुनःशेष' बन जाता है, जिसे ज्ञान का स्पर्श हो जाता है, वही तो भक्ति में भर कर भगवान् की पुकार लगाता है। मन्त्र का उपासक अपने प्रभु से कह रहा है कि हे करुणानिधि जिस प्रकार आप हमसे पूर्व के 'शुनःशेष' व्यक्तियों को बन्धनों से छुड़ाते रहते हैं उसी प्रकार हमें भी बन्धनों से मुक्त करके मोक्ष के ब्रह्मानन्द रस का पान कराइये। मन्त्र की इस प्रार्थना में 'शुनःशेष' पद के प्रयोग की यह ध्वनि भी है कि हम उपासक भी 'शुनःशेष' बन

¹ शुनःशेषो यमहृद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु। ऋग्० 1.24.12.

गये हैं, हमें भी ज्ञान का स्पर्श हो गया है, हमारी भी आँखें खुल गई हैं, हम भी दुःख-दायक सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर आपकी शरण में आना चाहते हैं। इन दोनों मन्त्रों और सूक्त के अन्य मन्त्रों में इस प्रकार की उदात्त भावनाओं से भरी हुई भक्ति की धारा प्रवाहित होने की अवस्था में भी, मन्त्रों के आध्यात्मिक भाव को न समझकर इन मध्यकालीन लेखकों ने इन मन्त्रों पर यह कथा थोपकर, जिसका उनमें बिल्कुल भी उल्लेख नहीं है, वेद के आशय को कितना विकृत कर दिया है।¹

इन लेखकों और भाष्यकारों ने वेद में जिन अन्य अनेक कथाओं का उल्लेख किया है उनकी भी यही स्थिति है। कथाओं के पात्रों में से किसी एक-आध के नाम को किसी मन्त्र में देखकर मन्त्र पर वह सारी कथा जड़ दी गई है। मन्त्रों में आये ऐतिहासिक से दीखने वाले ये नाम वस्तुतः किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ऊपर उल्लिखित शुनःशेप शब्द की भाँति ही ये शब्द भी गुणवाची यौगिक शब्द हैं और इनके द्वारा अनेक प्रकार की शिक्षाएँ दी गई हैं। मीमांसादर्शन के 'परं तु श्रुतिसामान्यात्रम्' (जै० सु० 1.1.31) सूत्र के अनुसार वेद-मन्त्रों में प्रयुक्त ऐतिहासिक नाम से दीखने वाले ये शब्द वस्तुतः किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों के साथ तो इन शब्दों की श्रुति की समानता मात्र है; श्रवण की समानतामात्र है, ये उन जैसे सुनाई पड़ते हैं इतनी ही समानता इनकी ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों के साथ है। वेद में इन शब्दों का अपना दूसरा ही अर्थ है। इस ग्रन्थ में हमने प्रसंग से इस प्रकार की अनेक कथाओं का विवेचन किया है और उनका समाधान करने का प्रयत्न किया है।

10. वेद मन्त्रों का सही अर्थ

क्रियापदों के भूतकालिक प्रयोग—इन्द्र, अग्नि और वरुण आदि सभी देवताओं के वर्णन के प्रसंग में वेद में प्रायः तीन प्रकार के क्रियापदों का प्रयोग किया गया है। इन देवताओं से किसी प्रकार की प्रार्थनायें की गई हैं वहाँ क्रियाओं के लिङ्, लट् और लोट् लकारों के रूपों का प्रयोग किया गया है। इन तीनों लकारों की क्रियायें किसी से प्रार्थना करने, किसी को कुछ करने के लिए कहने, किसी को कोई आदेश देने आदि के अर्थों में प्रयुक्त होती हैं। देवताओं से प्रार्थना करने या कुछ माँगने के प्रसंग में इन्हीं लकारों के क्रियापदों का प्रयोग वेद में होता है। जहाँ देवताओं के इस प्रकार

¹ इन मन्त्रों का ऋषि शुनःशेप माना जाता है। यह मान्यता ठीक नहीं है। शुनःशेप इन मन्त्रों का ऋषि नहीं है। मन्त्रों में कहा गया है कि बन्धन में पड़े हुए शुनःशेप ने जिस वरुण को पुकारा था वह हमें भी बन्धन से मुक्त करे। इस प्रकार मन्त्रों में शुनःशेप नहीं बोल रहा है, कोई और व्यक्ति बोल रहे हैं जो अपने आपको मन्त्र में 'अस्मान्' कह रहे हैं। मन्त्रों के ऋषि वे ही व्यक्ति होने चाहिए। मन्त्र का वक्ता ही ऋषि होता है। इस प्रकार इन मन्त्रों में शुनःशेप की कथा होने की जड़ ही कट जाती है। ये पंक्तियाँ उन लोगों के विचार को ध्यान में रखकर लिखी जा रही हैं जो ऋषियों को मन्त्रों का कर्ता मानते हैं। यों मन्त्र ऋषियों के बनाये नहीं हैं, परमात्मा की वाणी हैं।

के वर्णन होते हैं कि अमुक देवता में अमुक-अमुक गुण हैं या अमुक देवता अमुक-अमुक कार्य करता है वहाँ लट् लकार के क्रियापदों का प्रयोग होता है। लट् लकार की क्रियायें वर्तमानकाल में हो रहे या किये जा रहे कार्यों को बताने के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं। जहाँ भविष्य में होने वाले किसी कार्य को बताना होता है वहाँ लट् और लृट् लकार की क्रियाओं का प्रयोग होता है। वेद में इस प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम किया गया है। देवताओं के वर्णनों में भूत-कालिक क्रियापदों का प्रयोग भी बहुत मिलता है। लिट्, लङ् और लुङ् लकारों के क्रियापद भूतकाल में किये गये कार्यों को बताने के लिए किये जाते हैं। लौकिक संस्कृत के व्याकरण के आधार पर इन भूतकालिक क्रियापदों को आपाततः, ऊपर-ऊपर से, देखने पर पाठक को वेद-मन्त्रों का अध्ययन करने पर उनका ऐसा अर्थ प्रतीत होता है कि अमुक देवता ने अमुक-अमुक कार्य किये थे और अमुक देवता ने अमुक-अमुक। वेद-मन्त्रों में इन भूतकालिक क्रियापदों के प्रयोग के आधार पर भी वेद के आधुनिक पाश्चात्य अध्येता और उनके पग-चिह्नों पर चलने वाले अनेक आधुनिक भारतीय विद्वान् भी वेद में से अनेक प्रकार के इतिहासों का वर्णन निकालते हैं। भारत के मध्यकालीन आचार्य सायण आदि भाष्यकार भी वेद-मन्त्रों से जो कथायें या इतिहास निकालते हैं उनके आधार में भी प्रायः वेद-मन्त्रों में प्रयुक्त ये भूतकालिक क्रियापद ही हैं।

वेद का जो अध्येता वेद के मर्मशाय तक पहुँचना चाहता है उसे अपने मन से लौकिक संस्कृत-साहित्य और उसके व्याकरण के संस्कारों को सर्वथा निकाल देना होगा। वेद में प्रयुक्त होने वाले भूतकालिक क्रियापद केवल मात्र भूतकाल के कार्यों का ही वर्णन करते हैं यह विचार वेद के अध्येता को अपने मन में नहीं जमने देना चाहिए। जहाँ वेद में सृष्टि उत्पत्ति आदि के नित्य इतिहासों¹ का वर्णन किया गया है वहाँ तो इन भूतकालिक क्रियापदों का अर्थ भूतकाल परक ही होता है। अन्यत्र इनका अर्थ वैसा नहीं होता। अन्यत्र ये क्रियापद भूतकाल के द्योतक न होकर सामान्य काल के द्योतक होते हैं। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में जहाँ लौकिक संस्कृत के व्याकरण सम्बन्धी नियमों पर विचार किया गया है वहाँ उसमें वैदिक व्याकरण के नियमों पर भी विचार किया गया है। लुङ्, लङ् और लिट् इन तीनों भूतकालिक लकारों के वैदिक प्रयोगों के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'ये लकार अर्थात् इनके क्रिया-पद वेद में सभी कालों में प्रयुक्त होते हैं।'² भाव यह है कि ये भूतकालिक क्रियापद प्रकरणानुसार किसी भी काल का अर्थ दे सकते हैं। वस्तुतः ये क्रियापद अनेक स्थानों पर किसी काल-विशेष पर इतना बल नहीं दे रहे होते जितना कि किसी सच्चाई या करने योग्य बात पर इनका बल होता है। हम आर्य भाषा (हिन्दी) में प्रायः बोलते हैं कि 'जिसने किया उसने भरा, जो करता है सो भरता है, जो करेगा सो मरेगा।' इन

¹ उदाहरण के लिए देखें—हिरण्यगर्भ (ऋग्० 10.121) सूक्त और नासदीय (ऋग्० 10.129) सूक्त।

² छन्दसि लुङ् लङ् लिटः। अष्टा० 3.4.6.

वाक्यों में काल पर बल नहीं है। प्रत्युत इस बात पर बल है कि किये का फल मिला करता है, इसलिये आदमी को अच्छे काम ही करने चाहिए। ऐसा ही तात्पर्य वेद में प्रयुक्त इन क्रियापदों का है। वेद में अनेक स्थानों पर भूतकालिक क्रियाओं का इस प्रकार प्रयोग हुआ है कि वहाँ उनका भूतकालिक अर्थ किया ही नहीं जा सकता। उदाहरण के लिये ऋग्वेद 5.44.14 मन्त्र को देखा जा सकता है।¹ इस मन्त्र में 'जागृ' धातु के, जिसका अर्थ जागना होता है, भूतकालिक लिट् लकार के 'जागार' इस क्रियापद का प्रयोग किया गया है। लौकिक संस्कृत के व्याकरणानुसार लिट् लकार का भूतकाल परोक्ष भूतकाल को बताता है। अर्थात् ऐसे भूतकाल को जो कि बोलने वाले व्यक्ति और उसके समकालीन व्यक्तियों ने न देखा हो। उदाहरणार्थ, आजकल का कोई लेखक कहे कि रामचन्द्र जी त्रेता युग में हुए थे और उन्होंने अमुक कार्य किये थे। अतः लौकिक संस्कृत के व्याकरणानुसार इस मन्त्र का शब्दार्थ किया जाये तो वह इस प्रकार होगा—'जो परोक्ष भूतकाल में अर्थात् अदृष्ट भूतकाल में जागता रहा था ऋग्वेद के मन्त्र उसकी कामना करते हैं, जो परोक्ष भूतकाल में जागता रहा था सामवेद के मन्त्र उसी के पास जाते हैं, जो परोक्ष भूतकाल में जागता रहा था उसको यह सोम कहता है कि मैं तेरी मित्रता में निश्चित रूप से बसने वाला होता हूँ।' अब पाठक देखेंगे कि यदि 'जागार' इस क्रियापद का यही 'परोक्ष भूतकाल में जागता रहा था' अर्थ किया जाए तो 'कामना करते हैं (कामन्ते), जाते हैं (यन्ति), कहता है (आह), और होता हूँ (अस्मि)' इन वर्तमानकालिक क्रियापदों का उस अर्थ के साथ कुछ भी मेल नहीं बैठता। तब तो मन्त्र का अर्थ असम्बद्ध और निरर्थक लगने लगता है। इसलिए पाणिनि के ऊपर निर्दिष्ट नियम को ध्यान में रखते हुए आचार्य सायण आदि सभी भाष्यकार इस मन्त्र के 'जागार'² क्रियापद का 'जागता रहता है' ऐसा वर्तमानकालिक अर्थ करते हैं जिसे मन्त्र के शब्दों का अर्थ संगत और शिक्षाप्रद बन जाता है। इस मन्त्र में प्रयुक्त क्रियापद भी किसी काल-विशेष पर बल नहीं देते। वे एक सामान्य सच्चाई या करने योग्य बात पर बल देते हैं कि जो व्यक्ति जागता रहकर अर्थात् सावधान रहकर वेद का अध्ययन करता है उसी को वेद के तत्त्व का बोध होता है और उसी को सोम अर्थात् शान्ति और आनन्द के धाम परमात्मा के दर्शन होते हैं। वेद में इस प्रकार के भूतकालिक क्रियापद सैंकड़ों मन्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं, जहाँ उनका भूतकालिक अर्थ नहीं किया जा सकता। वहाँ उन क्रियापदों का अर्थ सायणाचार्य आदि सभी भाष्यकार वर्तमानकाल परक करते हैं। इस प्रकार सृष्टि-उत्पत्ति आदि के नित्य इतिहास का वर्णन करनेवाले प्रकरणों को छोड़कर अन्य स्थलों पर प्रयुक्त भूतकालिक क्रियापदों का अर्थ भूतकाल-परक करके उनसे अनित्य ऐतिहासिक व्यक्तियों की कहानियाँ या इतिहास निकालने का आग्रह नहीं करना चाहिए। वहाँ उन क्रिया-

¹ यो जागार तमूचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति ।

यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सव्ये ऽयोकाः ॥ ऋग् ० 5.44.14.

² जागार सर्वदा विनिद्रो जाग्रूको गृहे वर्तते इति सायणः ।

पदों का अर्थ पाणिनि के उक्त नियम के अनुसार वर्तमानकाल-परक या सामान्यकाल-परक करना चाहिए। इससे मन्त्र संगत और शिक्षापरक अर्थ देने लगेगा। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में ऐसा ही किया है।

हमने इस ग्रन्थ में मन्त्रों का अर्थ करते हुए भूतकालिक क्रियापदों का अर्थ अनेक जगह लौकिक संस्कृत की भाँति भूतकालपरक कर दिया है। वहाँ वस्तुतः भूतकाल से तात्पर्य नहीं है। क्रियापदों का वह भूतकालिक प्रयोग वस्तुतः सामान्य-कालपरक है जिसका अभिप्राय यह है कि अमुक कार्य किया जाना चाहिए या नहीं किया जाना चाहिए।

व्यत्यय का सिद्धान्त—अभी ऊपर की पंक्तियों में हमने देखा है कि वेद में भूतकालिक क्रियाएँ केवल भूतकाल को ही द्योतित नहीं करती प्रत्युत वे वर्तमान काल या सामान्य काल में भी प्रयुक्त होती हैं। यही नहीं, लौकिक संस्कृत के व्याकरण की जितनी भी विधियाँ और जितने भी नियम हैं उन सबका वेद में विकल्प हो जाता है अर्थात् वे सब वेद में लौकिक संस्कृत से भिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त हो जाते हैं। महर्षि पाणिनि ने अपने अद्भुत व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी में लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों की रचना पर विचार किया है। उन्होंने शब्द-रचना की एक ऐसी अद्भुत और अद्वितीय यान्त्रिक-सी प्रक्रिया (mechanism) बनाई है जिसका अवलम्बन करके संस्कृत भाषा में सृष्टि के आरम्भ से अब तक जितने शब्दों का प्रयोग हुआ है और भविष्य में जितने शब्दों का प्रयोग होगा उन सबका निर्माण इस प्रकार आसानी से होता चला जायेगा जिस प्रकार साँचे से सिक्के ढल-ढल कर निकलते हैं। शब्द-निर्माण की यह अद्भुत विशेषता संसार की अन्य किसी भाषा के व्याकरण में नहीं है। इसीलिए पाणिनि के व्याकरण के सम्बन्ध में लिखने वाले सभी पाश्चात्य विचारकों ने एक स्वर से कहा है कि भारतीय हिन्दुओं की वैज्ञानिक प्रतिभा पाणिनि में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है।¹ धातुओं (Roots) से 'प्रत्यय' किये जाते हैं। उनसे सब प्रकार के क्रियापद बन जाते हैं जिन्हें तिङन्त पद कहा जाता है। धातुओं से ही प्रत्यय होकर एक और प्रकार के शब्द बन जाते हैं जिन्हें कृदन्त पद और सुबन्त पद कहा जाता है। ये शब्द विशेषणों और विभिन्न प्रकार के पदार्थों के नामों (Nouns) के रूप में प्रयुक्त होते हैं। पुनः इन नामों से प्रत्यय होकर एक-दूसरे प्रकार के शब्द बन जाते हैं जिन्हें तद्धितान्त पद कहते हैं। ये शब्द भी एक प्रकार के विभिन्न पदार्थों के नाम ही होते हैं। फिर इन शब्दों के समास होकर एक-दूसरे प्रकार के शब्द या नाम बन जाते हैं। इस प्रकार भूतकाल में प्रयुक्त हो चुकी और भविष्य में प्रयुक्त होने वाली संस्कृत भाषा की सम्पूर्ण शब्द राशि का निर्माण हो जाता है। 'प्रत्यय' महर्षि पाणिनि द्वारा कल्पित एक या एकाधिक अक्षर होते हैं जिन्हें किसी धातु या नाम के पीछे जोड़ा जाता है। अंग्रेजी भाषा में इन प्रत्ययों को 'सफ़िफ़क्स' (suffix) कहा जा सकता है। धातु के पीछे इन

¹ The Scientific genius of the Hindus has reached its acme in Panini.

प्रत्ययों को लगाने से भाँति-भाँति के क्रियापद और नामपद बन जाते हैं। नामपदों के पीछे प्रत्यय लगाने से और नये नामपद बन जाते हैं। ये प्रत्यय विभिन्न शब्दों के रूप का भी निर्माण करते हैं और उनके अर्थ का भी निर्धारण करते हैं। 'प्रत्यय' का शब्दार्थ ही होता है कि जो अर्थ को प्रकट करे। लौकिक संस्कृत में इन प्रत्ययों का जिस प्रकार का विधान या प्रयोग होता है वेद में इनका उससे भिन्न प्रकार का विधान या प्रयोग भी हो जाता है। इससे वेद में क्रियापदों आदि के रूप लौकिक संस्कृत के रूपों से भिन्न प्रकार के भी हो जाते हैं। इसी भाँति लौकिक संस्कृत में किसी प्रत्यय के कारण किसी शब्द का जो अर्थ बनता है वेद में उससे भिन्न अर्थ भी उस शब्द का हो जाता है। जैसे कि भूतकालिक क्रियाओं के सम्बन्ध में हमने अभी ऊपर कहा है। लौकिक संस्कृत व्याकरण के और भी जो नियम और विधियाँ हैं उन सबका भी वेद में विकल्प हो जाता है। इस विकल्प को व्याकरण की परिभाषा में 'व्यत्यय' कहा जाता है। और तो और 'स्वरो' तक का व्यत्यय भी वेद में हो जाता है। वैयाकरणों की मान्यता है कि वेद में सभी विधियों का विकल्प या व्यत्यय हो जाता है।¹ अष्टाध्यायी के विभिन्न प्रकरणों में अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनमें लौकिक संस्कृत के व्याकरण की विधियों या नियमों का वेद में विकल्प या व्यत्यय हो जाने की यह बात कही गई है, कहीं यह बात 'व्यत्यय' शब्द के द्वारा कही गई है, कहीं 'बहुलम्' शब्द के द्वारा और कहीं किसी और प्रकार से कही गई है। हमें यहाँ वैदिक व्याकरण के और अधिक प्रपंच में जाने की आवश्यकता नहीं है : यह व्यत्यय का सिद्धान्त वैदिक व्याकरण की एक प्रमुख विशेषता है।

वेद का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को यह वैदिक व्याकरण का व्यत्यय का सिद्धान्त सदा ध्यान में रखना चाहिए। लौकिक संस्कृत और उसके व्याकरण के आधार पर ही वेद का अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए। उसके अतिरिक्त वैदिक व्याकरण के अपने जो विशेष नियम हैं उनका भी बहुत अधिक ध्यान रखा जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वेद का अध्ययन और अनुसंधान करते हुए सदा यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वेद मानव-सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा द्वारा मनुष्य को उसके सुख-मंगल के लिए दिया गया भाँति-भाँति की कल्याणकारी शिक्षाओं और ज्ञान-विज्ञानों से युक्त ग्रन्थ है। यह बात भारतीय आर्य परम्परा में मनु, व्यास, पतंजलि और शंकर आदि सभी ऋषि-मुनि और आचार्य सदा से मानते चले आये हैं। स्वयं वेद भी अपने आपको परमात्मा की वाणी उद्घोषित करता

¹ (क) सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते ।

(ख) सुप्तिङ्प्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृ यङां च ।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृद्देवां सोऽपि च सिद्धयति बाहुल्येन ॥

है।¹ इस बात को ध्यान में रखकर ही वेद का अध्ययन किया जाना चाहिए। वेद-मन्त्रों के जो अर्थ किये जाएँ वे मानवमात्र के लिए कल्याणकारी और व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी उदात्त शिक्षाओं और ज्ञान-विज्ञान को प्रकट करने वाले होने चाहिए। यदि लौकिक संस्कृत भाषा और उसके व्याकरण के नियमों के अनुसार भी वेद-मन्त्रों के ऐसे शिक्षाप्रद अर्थ निकल सकते हों तो ठीक है। नहीं तो लौकिक व्याकरण के नियमों की उपेक्षा करके उपर्युक्त व्यत्यय के सिद्धान्त का आश्रय लेकर मन्त्रों का अर्थ किया जाना चाहिए। हर हालत में मन्त्रों का अर्थ ईश्वरीय ज्ञान के अनुरूप होना चाहिए। किसी मन्त्र का कोई अर्थ इस प्रकार का है या नहीं इसे कसौटी पर कसने के लिए ऋषि दयानन्द ने खरे-खोटे ग्रन्थों के परखने के लिए अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में जो पाँच परीक्षाएँ लिखी हैं उनका अवलम्बन किया जा सकता है।² यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि वेद के व्याख्याता को संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तथा वेद को समझने के लिए आवश्यक व्याकरण, निरुक्त और अन्य शास्त्रों का ज्ञान भी उसका बहुत अच्छा होना चाहिए। साथ ही उसमें होनी चाहिए ऊहापोह करने की शक्ति।

ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में व्यत्यय के सिद्धान्त का इसीलिए आश्रय लिया है कि वेद-मन्त्रों के अर्थ वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के अनुरूप मानवमात्र के लिए व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी और कल्याणकारी शिक्षाओं और ज्ञान-

¹ इस सम्बन्ध में वेद के निम्न मन्त्र देखिये—

(क) तस्माद् यज्ञात् सर्वद्वुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

ऋग्० 10.90.9; यजु० 31.7;

अथ० 19.6.13.

(ख) यस्मादृचो अपाक्षान् यजुस्मादपाकषन् ।

सामानि यंस्य लोमान्यथवाङ्मिरसो सुखम् ।

अथ० 10.7.2.

(ग) काव्येन सत्यं जातेनास्ति जातवेदाः ।

अथ० 5.11.2.

(घ) बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रेरत नामधेयं दधानाः ।

यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥

ऋग्० 10.71.1.

(ङ) यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नुषिषु प्रविष्टाम् ।

तामामृत्या व्यदधुः पुरुषा तां सप्त रेभा अशि सं नवन्ते ॥

ऋग्० 10.71.3.

(च) स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्वि जानाम् ।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।

अथ० 19.71.1.

मह्यं दत्त्वा ब्रजत ब्रह्मलोकम् ।

² पाँच परीक्षाएँ इस प्रकार हैं—(1) ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के विरुद्ध न होना; (2) सृष्टिक्रम के विरुद्ध न होना; (3) आप्तपुरुषों अर्थात् धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी, और निष्कपट पुरुषों के उपदेश के अनुकूल होना; (4) आत्मा की पवित्रता के अनुकूल होना अर्थात् जो व्यवहार अपने को प्रिय हो वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करना; और (5) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरुद्ध न होना। इनका विस्तृत विवरण सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में किया गया है। वस्तुतः मन्त्रार्थ की सत्यता को परखने की कसौटियाँ तो प्रथम, द्वितीय और पाँचवीं परीक्षाएँ ही हैं।

विज्ञानों को प्रकाशित करने वाले हो सकें। आचार्य सायण आदि ने भी व्यत्यय के सिद्धान्त का बहुत आश्रय लिया है। परन्तु उनके और ऋषि दयानन्द के दृष्टिकोण में आकाश और पाताल का अन्तर है।

लौकिक संस्कृत और व्यत्यय—ऊपर हमने वैदिक भाषा में व्यत्ययों की बात कही है। कुछ अवस्थाओं में तो लौकिक संस्कृत में भी व्यत्ययों के उदाहरण मिलते हैं। यद्यपि यह उतनी बड़ी संख्या में नहीं जितना कि वेद में पाये जाते हैं। यदि स्मरणार्थक क्रिया का प्रयोग साथ में हो तो भूतकालिक 'लङ् लकार' की क्रिया के स्थान पर भविष्यकालिक 'लृट् लकार' की क्रिया का प्रयोग होता है और उसका अर्थ भूतकालपरक होता है।¹ निषेधार्थक 'माङ्' निपात का प्रयोग साथ में होने पर वर्तमानकालिक, भविष्यकालिक, भूतकालिक और विध्यर्थक सभी लकारों की क्रियाओं के स्थान पर भूतकालिक 'लुङ् लकार' की क्रिया का प्रयोग होता है। यद्यपि उसका अर्थ प्रकरणानुसार वर्तमानकालिक आदि होता है।² इसी भाँति यदि क्रिया-सममिहार हो अर्थात् क्रियाएँ बार-बार और आधिक्य से की जा रही हों तो सभी 'लकारों' को क्रिया के स्थान पर विध्यर्थक 'लोट् लकार' की क्रिया का प्रयोग हो जाता है और उसका अर्थ प्रकरणानुसार भूतकालिक आदि होता है।³ 'लोट् लकार' में भी सब 'पुरुषों' और सब वचनों के स्थान पर केवल मध्यम पुरुष के एकवचन का प्रयोग होता है। 'लोट् लकार' के मध्यम पुरुष बहुवचन के स्थान में एकवचन विकल्प से होता है। यदि क्रियासममिहार में क्रियाओं का समुच्चय हो अर्थात् अनेक क्रियाएँ एक साथ की जा रही हों तो इस नियम का विकल्प भी हो जाता है।⁴ ऐसी अवस्था में वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह अन्य लकारों की क्रिया के स्थान पर 'लोट् लकार' की क्रिया का प्रयोग करे अथवा न करे। महाकवि माघ के शिशुपालवध के एक श्लोक में इसका एक बड़ा सुन्दर उदाहरण मिलता है।⁵ उस श्लोक में रावण द्वारा देवताओं की नगरी अमरावती पर आक्रमण का वर्णन है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—'रावण बार-बार अमरावती पुरी पर आक्रमण करता था, बार-बार उसके नन्दन उद्यान को काटता था, बार-बार वहाँ के रत्नों को चुराता अर्थात् लूटता था

¹ अभिज्ञावचने लृट्। अष्टा० 3.2.112, स्मरसि कृष्ण गोकुले वत्स्यासः। अवसाम इत्यस्य स्थाने वत्स्यामः, इति।

² माङ् लुङ्। अष्टा० 3.3.175.

मा भवान् भूत्। भवतु इत्यस्य स्थाने अभूत्। माङ् योगे अबभावः।

³ क्रियासममिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तद्धवसोः। अष्टा० 3.4.2.

⁴ समुच्चयेऽन्यतरस्याम्। अष्टा० 3.4.3.

⁵ पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।

विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषावली य इत्यमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः॥

शिशुपालवधम् 1.51.

अवास्कन्दत् इत्यस्य स्थाने अवस्कन्द इति। अलुनात् इत्यस्य स्थाने लुनीहि इति। अमुष्णात् इत्यस्य स्थाने मुषाण इति। अहरत् इत्यस्य स्थाने हर इत्येवं प्रयोगा। उपरि उद्धृतयोः 2:3-11 संख्या कमुच्चयोऽदाहरणमयं श्लोकः।

और बार-बार वहाँ की देव-नारियों का अपहरण करता था, वह बली रावण स्वर्गाधिपति इन्द्र के साथ युद्ध करके इस प्रकार प्रतिदिन स्वर्ग की दुर्दशा करता रहता था ।' इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में क्रियासममिहार और क्रिया समुच्चय के कारण आक्रमण करने के अर्थ में भूतकालिक 'लङ् लकार' के प्रथम पुरुष के एकवचन के 'अवास्कन्दत्' क्रियापद के स्थान में 'अवस्कन्द' यह विध्यर्थक 'लट् लकार' मध्यम पुरुष एकवचन प्रयुक्त किया गया है । इसी भाँति 'अलुमात्' इस भूतकालिक क्रियापद के स्थान में 'लुनीहि' इस विध्यर्थक लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन क्रियापद का प्रयोग किया गया है, 'अमुष्णात्' इस भूतकालिक क्रियापद के स्थान में 'मुषाण' इस विध्यर्थक लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन क्रियापद का प्रयोग किया गया है, और 'अहरत्' इस भूतकालिक क्रियापद के स्थान में 'हर' इस विध्यर्थक लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन क्रियापद का प्रयोग किया गया है । विध्यर्थक लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन के इन चारों क्रियापदों का सामान्य अर्थ लिया जाता तो वह क्रम से 'हे रावण तुम अमरावती पर आक्रमण करो', 'हे रावण तुम नन्दनवन को काटो', 'हे रावण तुम रत्नों को चुराओ या लूटो', और 'हे रावण तुम देवनारियों का अपहरण करो', इस प्रकार बनता । इस प्रकरण में इन क्रियापदों का यह सामान्य अर्थ करना सर्वथा असम्बद्ध और हास्यास्पद होता । इसलिए पाणिनि के उक्त नियम को ध्यान में रखते हुए इन क्रियापदों का उक्त प्रकार से भूतकालिक अर्थ हो जाता है ।

अष्टाध्यायी की 'लकारार्थ प्रक्रिया' में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ कुछ अवस्थाओं में सामान्य रूप में प्रयुक्त होने वाले किसी 'लकार' की क्रियाओं के स्थान में किसी दूसरे लकार की क्रियाएँ प्रयुक्त हो जाती हैं । ये सब उदाहरण एक प्रकार के व्यत्यय के ही उदाहरण हैं । यद्यपि इन प्रकरणों में पाणिनि ने व्यत्यय शब्द का प्रयोग नहीं किया है । क्योंकि इनमें सामान्य रूप से प्रयुक्त होने वाले 'लकारों' की क्रियाओं के स्थान में दूसरे लकारों की क्रियाएँ प्रयुक्त हो जाती हैं । हमें यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है और न ही ऐसा करना यहाँ कुछ विशेष प्रासंगिक ही है । ये पंक्तियाँ तो यह दिखाने के लिए लिख दी गई हैं कि जब लौकिक संस्कृत में भी कुछ अवस्थाओं में व्यत्यय जैसी बात हो जाती है तो वेद का तो कहना ही क्या जहाँ सभी भूतकालिक और दूसरे लकारों के क्रियापद सामान्य काल के द्योतक हो जाते हैं । जिसका अभिप्राय किसी काल विशेष पर बल देना नहीं होता है प्रत्युत किसी सचाई या मन्तव्य का प्रतिपादन करना मात्र होता है ।

एक प्रश्न का समाधान—हमने ऊपर कहा है कि वेद में जो भिन्न-भिन्न कालों के द्योतक क्रियापदों का प्रयोग हुआ है उसका प्रयोजन किसी काल विशेष पर बल देना नहीं है । वे प्रयोग तो सामान्य काल के द्योतक हैं । उनके द्वारा तो केवल सदा करने योग्य सचाइयों की ओर संकेत किया गया है । दूसरे शब्दों में उनके द्वारा केवल यह दिखाया जाता है कि अमुक-अमुक कार्य किये जाने चाहिए और अमुक-अमुक

नहीं। उपदेश देना मात्र वेद का प्रयोजन है। सृष्टि-उत्पत्ति आदि के भूतकालिक नित्य इतिहासों¹ को छोड़कर किसी अन्य काल-विशेष की बातों या घटनाओं को बताना वेद का प्रयोजन नहीं है। इस पर एक प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसी बात है तो फिर वेद में विभिन्नकालिक क्रियापदों का प्रयोग ही क्यों किया गया है? वेद सीधा उपदेश ही दे देता कि मनुष्यों को ऐसा करना चाहिए और ऐसा नहीं। सभी विषयों के सम्बन्ध में ऐसा उपदेश दे दिया जाता। राजनीति के सम्बन्ध में भी उपदेश दे दिया जाता कि राजा और प्रजाजनों को अमुक-अमुक प्रकार के कार्य करने चाहिए और अमुक-अमुक प्रकार के नहीं। इस प्रश्न के समाधान में हमारा यह कहना है कि सृष्टि के आरम्भ में मानव को भाषा सिखाया जाना आवश्यक था। कोई मनुष्य बिना किसी सिखाने वाले के कोई भी भाषा नहीं सीख सकता। हम लोग अपने माता-पिता और शिक्षकों आदि गुरुओं से भाषा सीखते हैं। उन्होंने अपने गुरुओं से भाषा सीखी थी। और उन गुरुओं ने अपने गुरुओं से। इसी प्रकार मानव सृष्टि के आरम्भ तक चले जाइये। आदि सृष्टि के मनुष्यों को तो भाषा सिखाने वाला कोई मानव गुरु था नहीं। फिर आदि सृष्टि के उन मनुष्यों ने भाषा किससे सीखी? उनको भाषा सिखाने वाले आदि गुरु परमात्मा हैं। परमात्मा ने उनको भाषा सिखाई। भाषा सिखाने में ज्ञान का सिखाया जाना स्वयं ही समाविष्ट है। परमात्मा ने आदि मानव को वेद की भाषा भी सिखाई और उसमें निहित ज्ञान भी सिखाया। अपना सांसारिक व्यवहार चलाने के लिए यह आवश्यक है कि मानव विभिन्न कालों को बताने के लिए विभिन्न क्रियापदों को निश्चित कर ले। इसके बिना उसका व्यवहार नहीं चल सकता। वेद में विभिन्न कालों के द्योतक जो क्रियापद हैं उनको आदि काल के मनुष्यों ने उस-उस विशेष काल के लिए निश्चित कर लिया। और इस प्रकार अपना व्यवहार चलाने लगे। उनके ऐसा करने के पश्चात् भाषा का प्रवाह चल पड़ा। अगली-अगली संतति पिछली संततियों से भाषा सीखती रही। आगे चलकर जलवायु आदि के प्रभावों के कारण भाषा में अपभ्रंश होने लगा और इस प्रकार कालक्रम में अनेक भाषाएँ बन गईं। मनुष्यों के लिए तो आवश्यक था कि वे वेद की भाषा में सिखा गये विभिन्न क्रियापदों को अमुक-अमुक विशेष काल के लिए और विधि अर्थात् प्रार्थना और आज्ञा के लिए निश्चित कर लें और उन्होंने वैसा कर लिया। वेद में तो ये सब क्रियापद वर्तमानकाल या सामान्य काल का अर्थ देते हैं और इस प्रकार शिक्षा देने का कार्य ही करते हैं कि अमुक कार्य इस प्रकार हुआ करता है अथवा अमुक कार्य इस प्रकार किया जाना चाहिए। किसी काल विशेष पर बल देना उनका प्रयोजन नहीं है। वेद की भाषा का यह जो बोलचाल की भाषा का सा रूप दिखाई देता है वह तो आदि मानव को भाषा सिखाने की दृष्टि से रखा गया है।

¹ यों तो इन प्रकरणों में भी भूतकालिक क्रियापदों का सामान्य काल या वर्तमानकाल परक अर्थ किया जा सकता है। और तब इस प्रकार के वर्णनों का भाव यह होगा कि सृष्टि की उत्पत्ति आदि अमुक प्रकार से हुआ करती है।

ऋषि दयानन्द और व्यत्यय—वेद के इसी निगूढ़ आशय को ध्यान में रखते हुए ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अनेक स्थानों पर मध्यम पुरुष के क्रियापदों का अर्थ प्रथम-पुरुष-परक कर दिया है, और विध्यर्थक क्रियापदों का अर्थ वर्तमान काल-परक कर दिया है। उदाहरण के लिए उन्होंने ऋग्० 1.1.4 मन्त्र के भाष्य में अग्नि के जड़ आग परक अर्थ में अग्नि के लिए प्रयुक्त 'असि'—तुम हो—इस मध्यम-पुरुष के क्रियापद का अर्थ 'अस्ति'—अग्नि है—ऐसा प्रथम पुरुष परक कर दिया है। ऋग्० 1.2.1 मन्त्र के भाष्य में वायु के जड़ वायु परक अर्थ में 'आयाहि'—तुम आओ—इस विध्यर्थक क्रियापद का अर्थ 'आगच्छति'—वायु आता है—ऐसा वर्तमान काल परक कर दिया है। इसी भाँति ऋग्० 1.1.6 मन्त्र के भाष्य में अग्नि का परमात्मापरक अर्थ करते हुए ऋषि ने 'करिष्यसि'—तुम करोगे—इस भविष्यकालिक क्रियापद का अर्थ 'करोषि'—तुम करते हो—ऐसा वर्तमानकाल परक कर दिया है। क्योंकि परमात्मा तो अपने मंगलकारी कार्य सदा ही करते रहते हैं।

लौकिक संस्कृत के व्याकरण की दृष्टि से व्याकरण-विरुद्ध से प्रतीत होने वाले वेद-मन्त्रों के इस प्रकार के अर्थ ऋषि ने अनेक जगह किये हैं। भूतकालिक क्रियापदों के वर्तमानकाल परक अर्थ तो ऋषि ने प्रायः किये ही हैं। जैसा हमने ऊपर लिखा है सभी भाष्यकार ऐसा कर लेते हैं। इसे व्याकरण की भाषा में 'व्यत्यय' का आश्रय लेकर अभीष्ट अर्थ करना कहते हैं। ऋषि दयानन्द ने अन्य सभी भाष्यकारों की भाँति व्यत्यय का भी आश्रय लिया है। पर इस सबके मूल में जो बात है वह यह है कि वेद का असली अभिप्राय किसी काल-विशेष पर बल देना है ही नहीं। वेद का असली अभिप्राय तो कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करना मात्र है। जैसा कि हमने ऊपर इस प्रकरण में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस रहस्य को न समझने के कारण ही नासमझ लोग ऋषि के भाष्य में त्रुटियाँ दिखाते हैं और उनके पाण्डित्य पर आक्षेप करते हैं। असल में तो उनका भाष्य उनके अपूर्व चिन्तन, मनन और पाण्डित्य का निदर्शक है और निदर्शक है वेद के निगूढ़ मर्मशय को समझने में समर्थ उनकी अन्तर्मेदिनी, कुशाग्र और अलौकिक प्रतिभा का तथा उनके अप्रतिभ शास्त्रावगाहन का।

11. वेद का काल

भारतीय आयों की यह मान्यता है कि मानव को सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने वेद का ज्ञान दिया था। इसी के अनुसार आज से 1,96,08,53,080 वर्ष पूर्व मानव की इस घरती पर उत्पत्ति हुई थी। तभी अग्नि आदि चार ऋषियों पर वेद का प्रकाश हुआ था। आयों की मान्यता के अनुसार यही वेद की उत्पत्ति का काल है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् और उनके पीछे चलने वाले भारतीय विद्वान् वेद को इतना पुराना नहीं मानते। इन लोगों के मत में वेद का काल इस आर्य गणना की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है। कुछ प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् वेद का जो काल मानते हैं वह अग्रांकित तालिका से प्रकट हो जायेगा—

मैक्समूलर	1200 से 1500	वर्ष ईसा से पूर्व
मैकडानल्ड	1200 से 2000	"
कीथ	1200	"
बुह्लर	1500	"
होग	2000	"
ह्विटनी	2000	"
विल्सन	2000	"
ग्रिफिथ	2000	"
थ्रीडर	2000	"
विन्टनिट्ज	2500	"
जैकोबी	3000 से 4000	"

आर्य-परम्परा में वेद का जो काल माना जाता है उसे स्वीकार न करते हुए भी प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि वेद मनुष्य जाति का सबसे पुराना ग्रन्थ है। भारतीय विद्वान् वेद के काल को पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा अधिक पीछे ले जाते हैं। कुछ प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों ने वेद का जो रचना-काल माना है वह निम्न तालिका से सूचित होता है—

शंकर बालकृष्ण दीक्षित	3000	वर्ष ईसा से पूर्व
लोकमान्य तिलक	6000 से 10000	"
अविनाशचन्द्र दास	20000	"
डी० एन० मुखोपाध्याय	25000	"

इसके अतिरिक्त पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने अपने 'वेदकाल-निर्णय' नामक ग्रन्थ में ज्योतिष के प्रमाणों के आधार पर वेद का रचनाकाल आज से 3,00,000 वर्ष पूर्व माना है। पावगी महोदय ने अपनी 'वैदिक फादर्स ऑफ जियोलोजी' (Vedic Fathers of Geology) नामक पुस्तक में भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि जिसे भूगर्भशास्त्र की परिभाषा में तृतीय युग (Tertiary Epoch) कहा जाता है वेद उस काल के हैं। डा० क्रोल जैसे भूगर्भशास्त्रियों के मत में आज से 2,40,000 वर्ष पूर्व इस तृतीय युग की समाप्ति होकर हिम-युग (Glacial Period) आरम्भ हो गया था जो कि आज से लगभग 80000 वर्ष पूर्व समाप्त हो चुका है।¹ हिम-युग से पूर्व का यह तृतीय युग लाखों वर्ष रहा है। पावगी की सम्मति में वेद इस तृतीय युग की रचना है। इसलिए वेद कम से कम 2,40,000 वर्ष पुराना तो है ही, वह इससे भी लाखों वर्ष पुराना हो सकता है। इस प्रकार वेद के काल पर जितनी गम्भीरता और बारीकी से विचार किया जाता है वह उतना ही पीछे चलता जाता है। हो सकता है कि आगे आने वाले विद्वान् वेद का काल आर्यपरम्परा के अनुसार

¹ सर चार्ल्स लायल और प्रो० ज० डब्ल्यू० स्पेंसर आदि कई भूगर्भशास्त्री हिम-युग की समाप्ति आज से 31-32 हजार वर्ष पूर्व मानते हैं।

सृष्टि का आरम्भ-काल ही मानने लग पड़ें ।

ये पाश्चात्य और भारतीय विद्वान् वेद का काल निश्चित करने में वेद की कुछ अन्तःसाक्षियों का सहारा लेते हैं । इन साक्षियों में वेद में आये ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम और वेद में पाई जाने वाली नक्षत्रों की स्थिति, ये दो प्रमुख हैं ।¹ इन साक्षियों के आधार पर वस्तुतः वेद का काल निश्चित नहीं किया जा सकता । इन दोनों प्रमुख अन्तःसाक्षियों की समीक्षा नीचे की जाती है—

ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों की युक्ति—वेद में अनेक ऐसे शब्द आते हैं जो भारतीय इतिहास के कुछ व्यक्तियों के भी नाम हैं । इन शब्दों को भारतीय इतिहास के व्यक्तियों के नाम मानकर उनके आधार पर वेद के उन स्थलों का काल निश्चित करने का यत्न किया जाता है । उदाहरण के लिये, कुछ वेद मंत्रों में 'परिक्षित्' शब्द आता है । परिक्षित् महाभारत के अर्जुन के पौत्र का भी नाम है । वेद के 'परिक्षित्' को भी वही मान लिया जाता है । और इसके आधार पर वेद के इन मंत्रों को राजा परिक्षित् के समकालीन या उसके पीछे के बने हुए समझा जाने लगता है । इसी भाँति वेद के कुछ मंत्रों में 'भरताः' शब्द आता है । 'भरताः' कुरुवंशी राजाओं का भी नाम है । इसके आधार पर वेद के इन मंत्रों का काल महाभारत का काल या उससे पूर्व के कुछ राजाओं का काल समझा जाने लगता है । इसी भाँति ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों से मिलने वाले वेद के अन्य अनेक शब्दों के आधार पर भी वेद के उन-उन स्थलों के काल का निर्णय किया जाता है । पर यह भूल है । वेद के ये शब्द किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं । वेद में ये शब्द अपने यौगिक अर्थ (etymological sense) में आते हैं । मंत्रों के आध्यात्मिक और आधिदैविक आदि क्षेत्र-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ हो जाते हैं । उसी के अनुसार इन ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से दीखने वाले शब्दों के भी भिन्न-भिन्न यौगिक अर्थ हो जाते हैं । ऐतिहासिक व्यक्तियों के माता-पिताओं ने वेद के इन शब्दों के आधार पर उनके ऐसे नाम रख दिये थे । वेद का इन व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है । इन व्यक्तियों के नामों की और वेद के शब्दों की केवल ध्वनिमात्र की समानता है । वेद में इतिहासवाद का खण्डन करते हुए महर्षि जैमिनि ने भी मीमांसा दर्शन में यही बात कही है । उनका कथन है—'दूसरे जो ऐतिहासिक नाम हैं उनमें तो वेद के शब्दों के साथ केवल श्रवण मात्र की समानता है ।'² मुसलमानों के धर्म ग्रन्थ कुरान में परमात्मा को 'अकबर' कहा गया है । 'अकबर' का अर्थ 'महान्' होता है । दिल्ली के प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर का नाम भी अकबर है । इस आधार पर जैसे यह परिणाम निकाल लेना हास्यास्पद होगा कि कुरान दिल्ली के सम्राट् अकबर के समय या उसके पश्चात् बना है, उसी प्रकार ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों से मिलते हुए

¹ इन प्रमुख दो साक्षियों के अतिरिक्त कुछ अन्य साक्षियाँ भी हैं जिनके आधार पर वेद के काल का निर्णय किया जाता है ।

² परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् । जै० सू० 1.1.31.

वेद के शब्दों से यह परिणाम निकाल लेना भी हास्यास्पद है कि वेद के वे स्थल उन व्यक्तियों के समय में या उसके पीछे बने हैं। नित्य परमात्मा के नित्य ज्ञान वेद में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास हो ही नहीं सकता।

नक्षत्रों की स्थिति की युक्ति—वेद-मंत्रों में कई जगह नक्षत्रों की विशेष प्रकार की स्थितियों की ओर निर्देश मिलते हैं। नक्षत्रों की इन स्थितियों के आधार पर भी वेद के काल का निर्णय किया जाता है। वेद के काल-निर्णय के इस हेतु को अत्यधिक प्रबल और अकाट्य समझा जाता है। नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर काल-निर्णय की युक्ति और उसकी समीक्षा को भली-भाँति समझने के लिये यहाँ कुछ आकाश की बात जान लेना आवश्यक है। पृथिवी वर्षभर में सूर्य के चारों ओर एक चक्कर लगा लेती है। आकाश में सूर्य के चारों ओर पृथिवी के घूमने के मार्ग को 'क्रान्तिवृत्त' कहते हैं। इस क्रान्तिवृत्त के चारों ओर आकाश में नक्षत्रों के 27 समूह विद्यमान हैं। इनकी प्रतीयमान आकृति के आधार पर इनके भिन्न-भिन्न नाम रख लिये गये हैं। इन्हें 27 नक्षत्र कहते हैं। किसी भी वृत्त के 360 अंश (डिग्री) माने जाते हैं। ये 27 नक्षत्र पृथिवी के क्रान्तिवृत्त के चारों ओर एक वृत्त में ही विद्यमान हैं। अतः ये नक्षत्र मोटे तौर पर एक-दूसरे से $13\frac{1}{3}$ अंश की दूरी पर अवस्थित हैं। पृथिवी की भूमध्य-रेखा को विषुवत् कहते हैं। वृत्ताकार होने के कारण इसे 'विषुवद्वृत्त' भी कहते हैं। यदि यह कल्पना कर ली जाये कि 'विषुवद्वृत्त' फैलकर 'क्रान्तिवृत्त' तक चला गया है तो ये दोनों वृत्त एक-दूसरे के $23\frac{1}{2}$ अंश के कोण पर दो स्थानों पर काटेंगे। इन दोनों कटाव-बिन्दुओं में से एक को 'वसन्त-सम्पात' (Vernal Equinox) और दूसरे को 'शरत्-सम्पात' (Autumnal Equinox) कहते हैं। विषुवद्वृत्त और क्रान्तिवृत्त के इन कटाव-बिन्दुओं के ये नाम इस कारण रख दिये गये हैं कि जब सूर्य वसन्त-सम्पात पर होता है तो वसन्त ऋतु आरम्भ होती है और जब सूर्य शरत्सम्पात पर होता है तो शरद् ऋतु आरम्भ होती है। यों तो पृथिवी ही सूर्य के चारों ओर घूमती है, पर हमें सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमता हुआ प्रतीत होता है। इसलिये पृथिवी के क्रान्तिवृत्त को सूर्य का क्रान्तिवृत्त भी कह दिया जाता है। जब सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण जाने लगता है तो उसे वसन्त-सम्पात बिन्दु में से होकर जाना पड़ता है। जब सूर्य वसन्त-सम्पात पर होता है तो दिन-रात बराबर होते हैं। यह समय 21 मार्च को होता है। जब सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन को जाने लगता है तो उसे शरत्सम्पात में से होकर जाना पड़ता है। जब सूर्य शरत्सम्पात पर होता है तब भी दिन-रात बराबर होते हैं। यह समय 23 सितम्बर को होता है। वसन्त-सम्पात बिन्दु 72 वर्ष में 1 अंश के हिसाब से बहुत मन्द गति से क्रान्तिवृत्त पर पूर्व से पश्चिम की ओर सरकता रहता है। इसी हिसाब से शरत्सम्पात भी। यह वसन्त-सम्पात क्रान्तिवृत्त पर चलता हुआ 27 नक्षत्रों में से किसी न किसी के सम्मुख रहता है। दूसरे शब्दों में क्रान्तिवृत्त पर चलता हुआ सूर्य वसन्त-सम्पात के समय किसी न किसी नक्षत्र के सम्मुख रहता है। इसे सूर्य का उस

नक्षत्र में होना कहा जाता है। वसन्त-सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र में जाने में 960 वर्ष लगते हैं। यदि वसन्त-सम्पात के समय सूर्य के किसी विशेष नक्षत्र में होने का वर्णन कहीं मिल जाये तो हम गणना करके यह जान सकते हैं कि वह स्थिति कब रही होगी। आजकल सूर्य वसन्त-सम्पात में उत्तराभाद्रपदा नक्षत्र में रहता है। वसन्त-सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे में जाने में लगभग 1000 वर्ष लगते हैं। अमुक नक्षत्र विशेष से वसन्त-सम्पात को उत्तराभाद्रपदा तक आने में कितने वर्ष लगे यह आसानी से जाना जा सकता है। उदाहरण के लिये लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक 'ओरायन' (Orion) में लिखा है कि ऋग्० 10.86 सूक्त में वसन्त-सम्पात का भृगशीर्ष नक्षत्र में होने का वर्णन है। भृगशीर्ष नक्षत्र उत्तराभाद्रपदा नक्षत्र से 6 नक्षत्र पहले है। इसलिये भृगशीर्ष नक्षत्र में वसन्त-सम्पात आज से लगभग 6000 वर्ष पूर्व रहा होगा। क्योंकि वेद के इस सूक्त में नक्षत्रों की इस स्थिति का वर्णन आता है इसलिये यह सूक्त भी आज से लगभग 6000 वर्ष पूर्व बना होगा।

नक्षत्रों की इस प्रकार की स्थिति के वर्णनों के आधार पर भी वेद के काल का निर्णय नहीं हो सकता। ऊपर बताया गया है कि वसन्त-सम्पात बिन्दु 72 वर्ष में एक अंश के हिसाब से सरकता रहता है। इस प्रकार $360 \times 72 = 25920$ वर्षों में वसन्त-सम्पात क्रान्तिवृत्त पर घूमकर अपने पहले स्थान पर आ जाता है। यदि आज से लगभग 6000 वर्ष पूर्व वसन्त-सम्पात भृगशीर्ष नक्षत्र में था तो उसके लगभग 26000 वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग 32000 वर्ष पूर्व भी वह उसी नक्षत्र में था। फिर आज से लगभग 58000 वर्ष पूर्व भी वह उसी नक्षत्र में था और आज से 84000 वर्ष पूर्व भी। इस प्रकार जितना चाहें पीछे जा सकते हैं और पीछे की ओर चलते-चलते हम सृष्टि के आरम्भ काल तक पहुँच सकते हैं। इस युक्ति से तो आयों की मान्यता वाला सृष्टि का आरम्भ काल ही वेद का काल सिद्ध हो जाता है। फिर वेद के इन मंत्रों को आज से छः हजार वर्ष पुराना न मानकर आज से बत्तीस हजार, अट्ठावन हजार, चौरासी हजार वर्ष या इससे भी पुराना सृष्टि के आरम्भ काल का ही क्यों न माना जाये? वेद में वर्णित यह नक्षत्र-स्थिति आज से केवल 6000 वर्ष पहले की ही है, उससे पहले की नहीं, इसके लिये कोई भी निश्चित हेतु नहीं है।

इस गणना पद्धति में एक और दोष भी है। वह यह कि आज से लगभग बीस हजार वर्ष पश्चात् फिर वसन्त-सम्पात भृगशीर्ष नक्षत्र में होगा। उससे दो हजार वर्ष बाद अर्थात् आज से बाईस हजार वर्ष बाद उत्पन्न होने वाला कोई विद्वान् इस युक्ति के आधार पर वेद के इस सूक्त को अपने से केवल दो सहस्र वर्ष पूर्व का ही सिद्ध कर सकेगा।

नक्षत्रों की तथाकथित स्थिति के आधार पर वेद का काल निर्धारित करने विषयक पाश्चात्य विद्वानों की इस युक्ति की एक और हास्यास्पदता देखिये। इसके अनुसार तो आज से 20 हजार वर्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाले वेद के अनुसंधानकर्ता

विद्वानों के लिये तो अभी वेद की रचना ही नहीं हुई है।

जब वसन्त-सम्पात किसी विशेष नक्षत्र में पड़ेगा तो उसी हिसाब से अन्य ऋतुयें भी किन्हीं विशेष नक्षत्रों में पड़ेंगी। यदि किसी ऋतु विशेष और उसके सूर्य के किसी नक्षत्र-विशेष में होने का वर्णन किसी मंत्र में मिले तो उसके आधार पर भी ऊपर दिखाई गई रीति से उस मंत्र के काल की गणना की जा सकती है। आजकल के विद्वानों ने इस प्रकार के वर्णनों के आधार पर भी अनेक मंत्रों के निर्माण-काल की गणना की है। वसन्त-सम्पात की भाँति ही, नक्षत्रों की दृष्टि से, अन्य ऋतुओं की स्थिति भी क्रान्तिवृत्त पर 72 वर्ष में एक अंश के हिसाब से घूमती हुई 2590 वर्ष में इसी नक्षत्र में पहुँच जाती है। ऊपर दिखाई गई रीति से जिस प्रकार वसन्त-सम्पात के वर्णन के आधार पर किसी मंत्र के निर्माण-काल की गणना करना युक्तियुक्त नहीं है उसी प्रकार अन्य ऋतुओं के वर्णन के आधार पर भी किसी मंत्र की काल-गणना करना युक्तियुक्त नहीं है।

इसीलिये वेद का काल निश्चय करने के लिये सबसे प्रबल और अकाट्य समझी जाने वाली नक्षत्रों की स्थिति की इस युक्ति में भी कोई बल नहीं है। वेद में नक्षत्रों की किसी विशेष स्थिति का वर्णन किसी और प्रयोजन से भी हो सकता है। वेद कोई विशेष उपदेश देने के अभिप्राय से भी नक्षत्रों की किसी स्थिति का वर्णन कर सकता है। यह भी हो सकता है कि जहाँ मंत्रों में नक्षत्रों की किसी विशेष स्थिति का वर्णन समझा जाता है वहाँ वह वर्णन वस्तुतः हो ही नहीं, केवल भ्रम से ही वैसा समझा जाता हो।

वास्तव में वेद की अन्तःसाक्षी से वेद के किसी ऐतिहासिक काल का निश्चय नहीं हो सकता। वेद तो अपने पुरुष-सूक्तों में और दूसरे स्थानों में इतना ही कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने ऋषियों को वेद सिखाया था। सृष्टि की आयु आर्य-जाति के शास्त्रों के अनुसार 1,96,08,53,080 वर्ष की है। वेद के इस कथन के आधार पर इस कल्प की दृष्टि से वेद का काल भी इतना ही माना जाना चाहिए। यों तो वेद का कोई काल निश्चित नहीं हो सकता। क्योंकि वह परमात्मा के ज्ञान में नित्य रहता है। अनादिकाल से भगवान् प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों पर उसका प्रकाश करते आ रहे हैं।

प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपने एक ग्रन्थ में वेद के काल का निर्धारण करने की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'हम वेद के रचनाकाल की कोई अन्तिम सीमा या अवधि निश्चित कर सकने की आशा नहीं कर सकते। वेद के सूक्त 1000 वर्ष ईसा से पूर्व बनाये गये या 1500 वर्ष ई० पू० या 2000 वर्ष ई० पू० या 3000 वर्ष ई० पू० बनाये गये, संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो इसको निश्चित कर सके।'¹

¹ 'We could not hope to be able to lay down any terminus a quo. Whether the Vedic hymns were composed in 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B.C., no power on earth could ever fix.' *Physical Religion*, Gifford Lectures, 1890, p. 18.

जबकि प्रो० मैक्समूलर के वेद का रचना-काल निश्चित कर सकने के सम्बन्ध में ये विचार हैं तो वेद स्वयं और दूसरे पाश्चात्य विद्वान् वेद को कुछ थोड़े से वर्ष ईसा पूर्व का बना कहने का साहस कैसे करते हैं यह समझ में नहीं आता ।

12. वेद के ऋषि

भारतीय आर्यों की परम्परा में सभी ऋषि-मुनि और आचार्य वेद को अपौरुषेय मानते आये हैं । वेद किसी मानव देहधारी पुरुष के बनाये हुए नहीं हैं । वे परमात्मा के ज्ञान में नित्य और अनादि रूप से विद्यमान हैं । इसीलिये उन्हें अपौरुषेय कहा जाता है । इस अपौरुषेय वेद का उपदेश भगवान् प्रत्येक कल्प में सृष्टि के आरम्भ में मानव को उसके कल्याण के लिये किया करते हैं ।

आजकल के पाश्चात्य विद्वान्, और उनकी पद्धति पर चलने वाले अनेक भारतीय विद्वान् भी, वेद को ईश्वरीय वाणी न मानकर मानव शरीरधारी ऋषियों का बनाया हुआ मानते हैं । वेद के सूक्तों और अध्यायों के आरम्भ में जो भिन्न-भिन्न ऋषियों के नाम लिखे रहते हैं और जिनका उल्लेख वेदों की अनुक्रमणिकाओं में किया गया है वे उन-उन मन्त्रों के बनाने वाले लोग ही हैं ऐसी इन आधुनिक विद्वानों की धारणा है । कुछ मन्त्रों के जो ऋषि हैं उनके नाम स्वयं उन मन्त्रों के भीतर भी पाये जाते हैं जैसे कि आजकल भी अनेक कवि अपनी कविताओं में अपने नामों को रख दिया करते हैं । इन मन्त्रों के आधार पर ये विद्वान् और भी अधिक दृढ़ता से यह परिणाम निकालते हैं कि ऋषि वेद-मन्त्रों के रचयिता ही हैं ।

परन्तु वेद मन्त्रों के ऋषियों को यदि ध्यान से देखा जाये तो अनेक ऐसे निर्देश मिलते हैं जिनसे इस बात का खण्डन हो जाता है कि ऋषि मन्त्रों के निर्माता हैं । वेदों में सैंकड़ों मन्त्र और सूक्त ऐसे हैं जिनके ऋषि दो-दो हैं । एक ही सूक्त और एक ही मन्त्र पृथक्-पृथक् दो व्यक्तियों का बनाया हुआ नहीं हो सकता । कहीं भी एक ही कविता को बनाने वाले दो पृथक्-पृथक् कवि नहीं हुआ करते । अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके तीन-तीन ऋषि हैं । अनेक मन्त्रों के चार-चार ऋषि हैं । अनेक मन्त्रों के पाँच-पाँच ऋषि हैं । अनेक मन्त्रों के छः-छः ऋषि हैं । और अनेक मन्त्रों के सात-सात ऋषि हैं । एक ही मन्त्र बनाने वाले तीन-तीन, चार-चार, पाँच-पाँच, छः-छः और सात-सात ऋषि नहीं हो सकते । कहीं भी एक ही कविता को बनाने वाले इतनी भिन्न-भिन्न संख्याओं वाले कवि नहीं हो सकते । इतना ही नहीं, अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके सौ-सौ ऋषि हैं ।¹ एक ही मन्त्र को बनाने वाले इतने ऋषि नहीं हो सकते । एक ही कविता सौ-सौ कवियों द्वारा कहीं भी नहीं बनाई जाती । फिर अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके ऋषियों के विषय में लिखा है कि इनके ऋषि 'बहवः' अर्थात् बहुत से हैं । इस 'बहवः' का अर्थ तीन से लेकर सौ, हजार और लाख कुछ भी हो सकता है । अनेक मन्त्रों के ऋषि 'कुत्साः', 'आत्रेयाः' आदि बहुवचनान्त लिखे

¹ उदाहरण के लिए देखें ऋग्वेद 9.66 सूक्त ।

हैं। इस बहुवचनान्त प्रयोग का अर्थ होगा कि कुत्स और अत्रि आदि की संतानें। यहाँ भी तीन से लेकर कोई भी संख्या समझी जा सकती है। किसी एक मन्त्र को बताने वाले इतने ऋषि नहीं हो सकते। अनेक मन्त्रों का ऋषि 'देवाः' ऐसा बहुवचनान्त लिखा है। वेद में देवों की संख्या तैंतीस, दो सौ तैंतालीस, चार सौ अस्सी, तीन हजार तीन सौ उनतालीस और छः हजार तीन सौ तैंतीस भी बताई गई है। किसी एक मन्त्र को बनाने वाले इतने व्यक्ति नहीं हो सकते।

यजुर्वेद के चालीस अध्यायों में से तेरह अध्याय ऐसे हैं जिनका सारे अध्याय का तो एक ऋषि है ही, परन्तु उनके अलग-अलग मन्त्रों के किसी के दो, किसी के तीन और किसी के इससे भी अधिक और-और ऋषि भी हैं। नौ अध्याय ऐसे हैं जिनके सारे अध्याय के दो-दो ऋषि तो हैं ही, परन्तु उनके अलग-अलग मन्त्रों के दो-दो, तीन-तीन और इससे भी अधिक और-और ऋषि भी हैं। तीन अध्याय ऐसे हैं जिनके सारे अध्याय के तीन-तीन ऋषि हैं और इसके साथ ही अलग-अलग मन्त्रों के दो-दो, तीन-तीन और इससे भी अधिक और-और ऋषि भी हैं।¹ किसी एक ही मन्त्र को बनाने वाले इतने व्यक्ति नहीं हो सकते।

वेदों में अनेक मन्त्र ऐसे भी हैं जो अपने उसी रूप में, ज्यों के त्यों, एक से अधिक वेदों में पाये जाते हैं। इन मन्त्रों में अनेक ऐसे हैं जिनका एक वेद में तो ऋषि और है और दूसरे वेद में कोई और। इस प्रकार एक ही मन्त्र को बनाने वाले दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं हो सकते।

मन्त्रों के ऋषियों की यह स्थिति निर्विवाद रूप से सिद्ध करती है कि ऋषि मन्त्रों के निर्माता हैं इस मत को नहीं माना जा सकता।

ऋषि दयानन्द मन्त्रों के ऋषियों को उनके दृष्टा—व्याख्याता और भाष्यकार—मानते हैं। उनका यही मत स्वीकार करने योग्य है। इस मत में मन्त्रों के एक से अधिक ऋषि होना कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करता। एक ही सूक्त और मन्त्र के एक से अधिक भी कितने ही व्याख्याकार हो सकते हैं।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि जिन कुछ मन्त्रों में उनके ऋषियों के नाम आते हैं उनका क्या समाधान होगा? जिन मन्त्रों का ऋषि वसिष्ठ है और इन मन्त्रों में भी वसिष्ठ शब्द आया हुआ है, वसिष्ठ को इन मन्त्रों का निर्माता कैसे न माना जाये? इसका समाधान सीधा है। जैसा कि ऊपर 'वेद का काल' खण्ड में दिखाया जा चुका है, मन्त्रों के ये वसिष्ठ आदि पर किन्हीं व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ये तो गुणवाचक यौगिक शब्द हैं। उदाहरण के लिए 'वसिष्ठ' पद का (यौगिक) शब्दार्थ होता है खूब बसाने वाला—अपने अन्दर उत्तम गुणों को बसाने वाला और दूसरे लोगों को बसने में सहायता देने वाला। जिस ऋषि ने वसिष्ठ पद वाले मन्त्रों की

¹ यजुर्वेद के ऋषियों का यह विवरण हमने श्री पं० सातवलेकर जी द्वारा सम्पादित संवत् 1984 में स्वाध्याय मण्डल अधि से प्रकाशित यजुर्वेद संहिता की ऋषि सूची के आधार पर दिया है।

व्याख्या की उसे इस पद का यह सुन्दर अर्थ बहुत पसन्द आया और उसने अपना उपनाम वसिष्ठ रख लिया। पीछे से लोग उसका असली नाम भूल गये और यह उपनाम याद रह गया। यह भी हो सकता है कि वसिष्ठ पद वाले मन्त्रों का उत्तम व्याख्याकार होने के कारण लोगों ने ही उसका नाम वसिष्ठ धर दिया हो और उसका यही नाम प्रचलित हो गया हो। रघुवंश में कालिदास ने इन्दुमती के साथ दीपशिखा¹ की उपमा बड़े कमाल की दी है। इससे साहित्यिकों में कालिदास का नाम दीपशिखा भी पड़ गया है। इसी प्रकार मन्त्रों में पाये जाने वाले ऋषियों के नामों की व्याख्या भी भली-भाँति हो सकती है।

ऋषि वेद-मन्त्रों के कर्ता हैं, आधुनिक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों की यह धारणा मध्यकालीन कात्यायन आदि सर्वानुक्रमणीकारों और आचार्य सायण आदि भाष्यकारों के इस प्रकार के कथनों के आधार पर बनी है। कात्यायन ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि 'जो मन्त्र जिस व्यक्ति का वाक्य होता है उस मन्त्र का वही व्यक्ति ऋषि होता है।'² सायणाचार्य आदि भाष्यकार इन सर्वानुक्रमणियों का ही अनुसरण करते हैं। ये सब लोग वेद को अनादि, अपौरुषेय और परमात्मा की वाणी मानते हैं। आचार्य सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य की प्रस्तावना में एक श्लोक में कहा है कि—'वेद जिसके निःश्वास के समान हैं, जिसने वेदों से अर्थात् वेदों के ज्ञान के अनुसार सारे जगत् की रचना की है, विद्याओं के तीर्थ अर्थात् प्रवर्तक उस महेश्वर परमात्मा की मैं वन्दना करता हूँ।'³ सायण के मत में वेद परमात्मा के निःश्वास के समान हैं जिसका भाव यह है कि परमात्मा वेद का उपदेश इस प्रकार बिना प्रयत्न के और आसानी से कर देते हैं जिस प्रकार निःश्वास बिना प्रयत्न के बाहर होता रहता है। इस प्रकार वेद को अनादि, अपौरुषेय तथा परमात्मा का ज्ञान मानते हुए भी ये सब लोग उसे मानव ऋषियों की कृति कैसे मान बैठते हैं इसे समझ सकना दुष्कर है। अनादि, अपौरुषेय, ईश्वरीय ज्ञान वेद किसी मनुष्य की रचना कैसे हो सकती है? फिर इन लोगों की इस प्रकार की मान्यता निरुक्तकार महर्षि यास्क की मान्यता के भी विरुद्ध है। आचार्य यास्क ऋषियों को मन्त्रों के दृष्टा मानते हैं, रचयिता नहीं।⁴

यद्यपि दयानन्द ने आचार्य यास्क के इस कथन के आधार पर ही कि ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा हैं, यह कहा है कि ऋषि मन्त्रों के व्याख्याकार हैं। किसी अज्ञात प्राचीनकाल में इन लोगों ने वेद के उन-उन मन्त्रों और सूक्तों के रहस्य समझे थे,

¹ संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा ।

नरेन्द्रभागवट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ रघुवंश, 6.67.

² यस्य वाक्यं स ऋषिः । ऋगु० सर्वानुक्रमणी 2.4.

³ यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ सायण, ऋग्वेदभाष्य, प्रस्तावना ।

⁴ ऋषिर्दर्शनात् । तद् यदेनास्तपस्यमानान् ब्रह्म स्यमभु अभ्यानर्षत् ।

त ऋषयोऽभवंस्तद्वृषीणामृषित्वम् । इति विज्ञायते । निरु० 2.11.

उनकी व्याख्याएँ और भाष्य किये थे और उनका प्रचार किया था। उनकी ये व्याख्याएँ और भाष्य आज नहीं मिलते। परन्तु उन लोगों की स्मृति को स्थिर रखने के लिए वेद के सूक्तों के ऊपर उनके नाम आज तक लिखे जाते आ रहे हैं। ऋषि दयानन्द का यह विचार वेद के ऋषियों को एक सर्वथा नवीन रूप में उपस्थित करता है। आचार्य दयानन्द का यह मौलिक विचार वेद की अपौरुषेयता की रक्षा करने वाला है।

X

यदि विवाद के लिये यह मान भी लिया जाये कि वेद ऋषियों के बनाये हुए हैं तो भी कोई विशेष हानि नहीं होती है। यदि वेद ऋषियों की रचना हैं तो ये ऋषि कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। ये बहुत ऊँची कोटि के पहुँचे हुए व्यक्ति थे। ऐसे पहुँचे हुए ऊँची कोटि के ऋषि लोगों की वाणी में परमात्मा की प्रेरणा भी रहा करती है। गीता और उपनिषद् तथा इसी प्रकार के दूसरे शास्त्र पारिभाषिक अर्थों में ईश्वर की रचना नहीं हैं। फिर भी इन ग्रन्थों में जो ऊँची श्रेणी का ज्ञान भरा हुआ है उसके कारण इनका असौम आदर किया जाता है और इन्हें ईश्वरीय ज्ञान सा ही समझा जाता है। वेद तो इतने ऊँचे ग्रन्थ हैं कि गीता और उपनिषद् तथा अन्य शास्त्र वेदों की महिमा के गीत गाते नहीं थकते और वेदों को ही अपना आधार और प्रेरणा-स्रोत मानते हैं। तब वेदों का तो इन ग्रन्थों से भी कहीं अधिक आदर होना चाहिए और इनसे भी कहीं अधिक श्रद्धा से उनका अध्ययन और मनन होना चाहिए। इस श्रद्धा और आदर से किये गये वेद के स्वाध्याय से संसार के लिये कल्याणकारी तत्त्वज्ञान के वे रहस्य प्राप्त होंगे जिनके अनुसार चलने से घरती स्वर्ग बन जायेगी और हम सब मानव उस स्वर्ग में रहने वाले देवता बन जायेंगे। वेद के इस गम्भीर अध्ययन और मनन से यह भी पता चलेगा कि वेद के तथाकथित रचयिता इन ऋषियों की भाषा में कितना ओज और कितनी शक्ति है, इनकी भाषा के एक-एक शब्द में कितना अर्थ छिपा हुआ है और वे किस प्रकार अपने सीमित शब्दों में नानाविध ज्ञान-विज्ञानों की बातों को भर सकने में समर्थ हुए हैं।

13. अन्य विज्ञानों का अनुसंधान

इस ग्रन्थ में हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वेद में राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में क्या-कुछ बताया गया है। भारतीय आर्य परम्परा में सभी ऋषि-मुनि और आचार्य यह मानते हैं कि वेद में मनुष्य-जीवनोपयोगी अनेक ज्ञान-विज्ञानों का उपदेश दिया गया है। विभिन्न विषयों का वर्णन करने की वेद की अपनी एक विशेष शैली है। जैसा कि हम पीछे दिखा आये हैं वेद में जो कुछ सिखाया गया है वह प्रायः इन्द्र, अग्नि, वरुण और मित्र आदि देवताओं के वर्णन और उनसे की गई प्रार्थनाओं के द्वारा सिखाया गया है। ये देवता पौराणिक कल्पना के किसी स्वर्ग-विशेष में रहने वाले, कुछ अंशों में मनुष्यों से मिलते-जुलते विशेष प्रकार के प्राणी नहीं हैं। ये तो जगत् के बनाने और चलाने वाले विभिन्न तत्त्वों के नाम हैं।

इनसे जो प्रार्थनायें की गई हैं और इनका जो मानव का सा रूप दिखाई देता है वह तो वर्णन की एक काव्यात्मक शैली मात्र है। हमने अपने इस ग्रन्थ में इन देवताओं के विशेषणों और वर्णनों में से राजनीति-विज्ञान विषयक सूचना देने वाले विशेषणों और वर्णनों का संग्रह करके उनसे जो निष्कर्ष निकलते हैं उन्हें अध्यायों और उनके खण्डों एवं उपखण्डों में निबद्ध किया है। इससे वेद के राजनीति विज्ञान का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। हमारी इसी शैली को अपनाकर वेद में वर्णित दूसरे विज्ञानों का भी अनुसंधान किया जा सकता है। ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त और आर्य-समाज के मूर्धन्य विद्वान् श्री पं० गुरुदत्त जी ने वेद में वर्णित भौतिक विज्ञानों पर कुछ कार्य करना आरम्भ किया था। पण्डित गुरुदत्त जी भौतिकी विद्या (फिजिक्स) के एम० ए० थे और संस्कृत भाषा के भी अधिकारी विद्वान् थे। इस प्रकार उनमें वेद में वर्णित भौतिकी के सिद्धान्तों का अनुसन्धान करने की पूरी क्षमता थी। उन्होंने ऋग्वेद के 1.2.7 मंत्र¹ से भौतिकी के इस सिद्धान्त का उद्घाटन किया था कि उदजन (हाइड्रोजन) और ओषजन (ऑक्सीजन) नामक दो वायुओं (गैसों) को एक विशेष अनुपात में मिलाकर उनमें से विद्युत् की धारा गुजारने से जल बन जाता है। उन्होंने मित्र का अर्थ उदजन (हाइड्रोजन) और वरुण का अर्थ ओषजन (ऑक्सीजन) वायु किया था। इन दोनों को प्राण और अपान कहकर इनका सामान्य वायु अर्थ तो ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर किया गया है। पण्डित गुरुदत्त जी को वेद में पाये जाने वाले मित्र के कुछ विशेषणों और वर्णनों में उसके ऐसे गुण वर्णित दिखाई दिये होंगे जो कि उदजन हाइड्रोजन के गुणों से मिलते होंगे। इसी भाँति वरुण के कुछ वर्णनों में उन्हें उसके ऐसे गुण दिखाई दिये होंगे जोकि ओषजन (ऑक्सीजन) के गुणों से मिलते होंगे। उसी के आधार पर उन्होंने इनके ये अर्थ किये होंगे। इस मंत्र की उन द्वारा की गई वैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध नहीं है। वैदिक ज्ञान-विज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये यह बड़े दुर्भाग्य की बात रही कि पण्डित गुरुदत्त जी का देहावसान 27 वर्ष की छोटी आयु में ही हो गया जबकि उनका यह अनुसन्धान कार्य भली-भाँति प्रारम्भ भी नहीं हो पाया था। भविष्य में वेद के विविध ज्ञान-विज्ञानों पर अनुसंधान का कार्य करने की इच्छा रखने वाले सज्जनों के लिये हमारा यह ग्रन्थ उदाहरण का कार्य कर सकता है। हमारे द्वारा अपनाई गई अनुसंधान की प्रक्रिया उनके लिये सहायक हो सकती है।

14. इस ग्रन्थ की मौलिकता

वेद के राजनीतिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में इस प्रकार का ग्रन्थ अब तक न तो संस्कृत में ही लिखा गया है और न ही किसी अन्य भाषा में। हमारी आर्य परम्परा में सभी आचार्यों और ऋषि-मुनियों की यह मान्यता रही है कि वेद भाँति-भाँति के

¹ मित्रं हवे पुतदक्षं वरुणं च रिशावसम् ।

धृतावीं धियं साधन्ता ॥

ज्ञान-विज्ञानों का ग्रन्थ है। परन्तु सीधे वेद के अपने शब्दों के आधार पर वेद में वर्णित किसी विद्या-विज्ञान का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ नहीं के बराबर लिखे गये हैं। राजनीति-विज्ञान को ही ले लें। संस्कृत में मनुस्मृति आदि अनेक ग्रन्थ राजनीति-शास्त्र विषयक मिलते हैं। इनमें से किसी में भी वेद के अपने शब्दों के आधार पर राजनीति का प्रतिपादन नहीं किया गया है। इन ग्रन्थों के लेखकों ने जो कुछ लिखा है वह अपने शब्दों में लिखा है और इन ग्रन्थों में जो विचार दिये गये हैं वे इन लेखकों के अपने विचार हैं। मनुस्मृति वेद का बड़ा आदर करती है और यह ग्रन्थ सर्वथा वेदानुकूल माना जाता है। इस ग्रन्थ में भी जो कुछ लिखा गया है वह लेखक के अपने शब्दों में लिखा गया है और वह लेखक के ही विचारों को प्रतिबिम्बित करता है। मनुस्मृति की कितनी ही राजनीतिक मान्यतायें वेद की राजनीतिक मान्यताओं के विपरीत भी हैं। उदाहरण के लिए मनुस्मृति राजा के चुनाव की पद्धति को स्वीकार करती हुई प्रतीत नहीं होती जबकि वेद स्पष्ट रूप से राजा के चुनाव की पद्धति को स्वीकार करता है। मनुस्मृति वंशानुगत राजत्व को स्वीकार करती है और राजा को एक दैवी शक्ति मानती है। उधर वेद वंशानुगत राजत्व को अंगीकार नहीं करता और राजा को कोई दैवी शक्ति भी नहीं मानता। हमने इस विशाल ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है सब वेद के अपने शब्दों के आधार पर लिखा है और वेद से प्रचुर प्रमाण उद्धृत किये हैं। पुराने ऋषि-मुनियों की शृंखला में इस युग के वेद के प्रकाण्ड मर्मज्ञ महर्षि दयानन्द की भी मान्यता है कि वेद अनेक ज्ञान-विज्ञानों का ग्रन्थ है। आधुनिक युग के प्रकाण्ड विद्वान्, विचारक, मनीषी और योगी श्री अरविन्द तथा डा० रेले और पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी आदि अनेक विद्वान् भी वेद को इसी भाँति विद्या-विज्ञानों का ग्रन्थ मानते हैं। श्री अरविन्द ने तो ऋषि दयानन्द की वेद-भाष्य शैली की भी बड़ी प्रशंसा की है और कहा है कि वेद के निगूढ़ रहस्य ऋषि दयानन्द की शैली से वेद का अध्ययन करने पर ही खुल सकते हैं। ऋषि की मान्यता के अनुसार वेद में बीज रूप में नाना-विद्या-विज्ञानों का वर्णन है। ऋषि दयानन्द की मान्यता के अनुसार वेद में वर्णित विद्या-विज्ञानों को स्पष्ट करके दिखाने का प्रयत्न अभी तक बहुत कम हुआ है। हमने वेद में वर्णित राजनीति-विज्ञान के सिद्धान्तों को इस ग्रन्थ में विशद रूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। ऋषि दयानन्द ने तो मानो (संकोच) से ही कहा है कि वेद में भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों के बीज विद्यमान हैं। इस ग्रन्थ में पाठक देखेंगे कि राजनीति-विज्ञान का तो वेद में पूरे वृक्ष के रूप में वर्णन हुआ है। किसी राष्ट्र के राज्य का मली-भाँति संचालन करने और उसके प्रजाजनों को सुख-समृद्धिशाली बनाने के लिए आवश्यक सभी बातों का वर्णन वेद में कर दिया गया है। वेद के निगूढ़ राजनीतिक तत्वों का उद्घाटन करने वाला हमारा यह ग्रन्थ पहला है और सर्वथा मौलिक है।

हमने इस ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों और उनके खण्डों तथा उपखण्डों में जो मंत्र जिस शीर्षक के नीचे दिये हैं उनसे केवल मात्र वही भाव नहीं निकलता है जोकि

उस शीर्षक से सूचित होता है। मंत्रों के शब्दों से उसके अतिरिक्त और भी कई भाव या विचार सूचित होते हैं जिनसे जीवनोपयोगी कई शिक्षायें निकलती हैं। कई जगह हमने मंत्रों की व्याख्या करते हुए इसकी ओर निर्देश भी कर दिया है और कई जगह वैसा नहीं भी किया जा सका है।

इस ग्रन्थ में उद्धृत वेद-मंत्रों के अर्थ हमने दो प्रकार से किये हैं। कुछ मंत्रों का अर्थ तो इस प्रकार किया गया है कि मंत्र के मूल शब्दों को अन्वयपूर्वक कोष्ठक में रखकर कोष्ठक के बाहर उनका अर्थ दिया गया है। कुछ मंत्रों का अर्थ इस प्रकार किया गया है कि मंत्र के मूल शब्दों को कोष्ठक में न रखकर केवल उनका अन्वयपूर्वक अर्थ ही दिया गया है। इन मंत्रों के अर्थ में कहीं-कहीं मंत्र के किसी मूल शब्द को स्पष्टता के लिये कोष्ठक में भी दे दिया गया है। जहाँ ऐसा किया गया है वहाँ शब्द का हिन्दी अर्थ पहले दिया गया है और मूल शब्द कोष्ठक में बाद में दिया गया है। जो पाठक संस्कृत न जानते हों वे कोष्ठकों में दिये गये संस्कृत शब्दों को छोड़ते जायें और केवल मंत्रों का हिन्दी अर्थ ही पढ़ते जायें उन्हें मंत्रों का स्पष्ट और सुसम्बद्ध तथा सरल और सीधा हिन्दी अर्थ पढ़ने को मिलेगा। उद्धरणों में पूरे वेद-मंत्रों को भी दिया गया है, मंत्र-खण्डों को भी दिया गया है और अनेक जगह किसी मंत्र का कोई एक ही शब्द भी दिया गया है। इन सबको बहुत स्थानों पर हमने मंत्र ही कह दिया है। ग्रन्थ का अध्ययन करते हुए पाठकों को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए।

विषय-प्रवेश

प्राचीन भारतीय आर्यों का वेदों के सम्बन्ध में विश्वास

भारतीय आर्य लोगों का बहुत पुराना, शायद इतना पुराना जितनी पुरानी कि स्वयं सृष्टि है—विश्वास है कि कर्णामय भगवान् ने मनुष्य जाति के कल्याणार्थ उसे अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक और पारलौकिक चरमसुख, की प्राप्ति का सत्य और सरल मार्ग दिखाने के लिए, सृष्टि के अरम्भ में वेदों का प्रकाश किया था और ये वेद अखिल विज्ञान का भंडार हैं। ब्राह्मण और उपनिषद, दर्शन और स्मृति-ग्रन्थ, पुराण तथा रामायण और महाभारत; सबके सब वेदों के इस परम महत्त्व की ऊँचे स्वर से उद्घोषणा कर रहे हैं। एकशब्द में, आर्य जाति का समग्र साहित्य वेदों की महिमा के गीत गा रहा है। आर्यों के विगत इतिहास में कुछ एक को छोड़ कर, कोई ऐसा नाम लेने योग्य नेता या विचारक नहीं हुआ जिसने वेदों के इस महत्त्व को मानने से इनकार किया हो।

वेद और शतपथ ब्राह्मण

‘शतपथ ब्राह्मण’ की वेदों के सम्बन्ध में राय है कि,

एवं अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् ।

एतद् यद ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्वागिरसुः ।

—श० 4.5.4.10

अर्थात्, हे मैत्रेयि ! चारों वेद परमात्मा ने इस प्रकार अनायास उत्पन्न कर दिये हैं जिस प्रकार कि श्वास-प्रश्वास की क्रिया अनायास होती रहती है। वेदों का ईश्वर-कतृत्व बताने के लिए ब्राह्मणकार रूपक से वेदों को ईश्वर का निःश्वसित ही कह देता है। एक दूसरी जगह यही ग्रन्थ कहता है—

स ऐक्षंत प्रजापतिः, ‘त्रय्या’ वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि ।

हन्त त्रयी मैव विद्यामात्मानं ममि संस्करवै इति ।

—श० 10.4.2.22

अर्थात् सृष्टि के स्वामी प्रजापति ने सब भूतों (सृष्टि) को देखा और कहा—
‘त्रयी विद्या में सब भूत आ जाते हैं’ अर्थात् वेदों में सब भूतों का ज्ञान है, इसलिए
त्रयी विद्या को ही आत्मा की उन्नति और पूर्णता के लिए देता हूँ ।

वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण

इसी प्रकार ‘तैत्तिरीय ब्राह्मण’ में एक स्थान में लिखा है—

अथ सर्वाणि भूतानि पर्यैक्षत् । स त्रय्यामेव विद्यायां
सर्वाणि भूतान्यपश्यत् ॥ अत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा
सर्वेषां प्राणानाम् सर्वेषां देवानाम् । एतद्वै अस्ति
एतद्वयमृतम् । यद्वयमृतं तद्वयस्ति । एतदुत यन्मर्त्यम् ॥

यही शब्द श० 10.4.2.21 में भी आते हैं जिनका अभिप्राय यह है कि ‘प्रजापति ने सब भूतों को देखा उसने सब भूतों को त्रयी विद्या में पाया । त्रयी विद्या को ही सब छन्द, स्तोम, प्राण और देवों का आत्मा पाया अर्थात् त्रयी विद्या में इन सबका ज्ञान निहित देखा । त्रयी मरण धर्मा मनुष्यों के लिए है।’ तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.10.11.3-4 में एक कथा इस प्रकार आती है—

‘भारद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यभुवास । तं ह जीर्णं शयानमिन्द्र
उपब्रज्योवाच, ‘भारद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति ।’
ब्रह्मचर्यं मेवैतेन चरेयमिति होवाच । तं ह त्रीन् गिरिरूपानिव-
ज्ञातानिव दर्शयोचकार । तेषां ह एकैकस्मान् मुष्टिमाददे । स होवाच
भारद्वाजेत्यामन्थ्य । वेदा वै एते । अनन्ता वै वेदा । एतद्वै
त्रिभिरायुभिरन्वोचेथाः । अथ ते इतरदननूक्तमेव । एहि इमं विद्धि
अयं वै सर्वा विद्या इति ।

अर्थात् ‘भारद्वाज ने तीन जन्मों में ब्रह्मचर्य-पूर्वक वेदों का ही अध्ययन किया ।
जब वह वृद्ध होकर मृत्यु-शय्या पर पड़ा था तब इन्द्र ने आकर उससे कहा
कि अगर मैं तुम्हें चौथा जन्म और दे दूँ तो क्या करोगे ? भारद्वाज ने उत्तर दिया
कि उस जीवन में भी ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदों का ही स्वाध्याय करूँगा । इस पर इन्द्र ने
उसे तीन बड़े-बड़े पहाड़ से दिखाये और हरेक से एक-एक मुष्टि लेकर कहा—
भारद्वाज ! आओ, देखो ये वेद हैं । ये अनन्त हैं । तूने तो तीनों जन्मों में भी इतना-
सा ही पढ़ पाया है । अधिकांश तो तेरे लिए अज्ञात ही पड़ा है । आओ इसे जानो ।
इसमें सब विज्ञान है ।’

यही ब्राह्मण एक स्थान पर ऋग्वेद और सामवेद की प्रशंसा करता हुआ, इन
वेदों में पाये जाने वाले महान् ज्ञान को दृष्टि में रखते हुए कहता है—

‘ऋक्सामे वै सारस्वतावुत्सौ’

—त० 14.4.9

अर्थात् 'ऋग्वेद और सामवेद सरस्वती के झरने हैं।' जैसे पर्वत से निकलने वाले झरनों से पानी की असीम धाराएँ प्रवाहित होकर प्यासे और सन्तप्त प्राणियों की प्यास बुझाती और उन्हें शान्ति प्रदान करती हैं उसी प्रकार ऋग्वेद और सामवेद से सरस्वती की, भाँति-भाँति के ज्ञान की, असीम धाराएँ प्रवाहित होती हैं और वे जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा को बुझाकर उन्हें पूर्ण शान्ति प्रदान करती हैं। ऋग्वेद और सामवेद तो उपलक्षण मात्र हैं, संकेतमात्र हैं, चारों वेद ही सरस्वती के अखुट झरने हैं। वेदों में ऊँचे से ऊँचा आध्यात्मिक ज्ञान भी दिया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का इस सम्बन्ध में कहना है कि—

नावेदविन्मनुते तं बृहत्सम् ।

—तै० 3.12.9.7

अर्थात् 'जो वेद को नहीं जानता है वह उस महान् परमात्मा को नहीं जान सकता है।' ब्राह्मणकार की सम्मति में परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय वेद का गहरा स्वाध्याय और मनन ही है।

वेद और मनु

इसी प्रकार आयों के प्रसिद्ध स्मृतिकार (Law giver) मनु महाराज की सम्मति है—

अग्निवायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थं ऋग्यजुःसामलक्षणम् ।

—मनु० 1.23.

अर्थात् 'सनातन वेदों को परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में अग्न्यादि ऋषियों पर प्रकट किया ताकि यह यज्ञ (व्यवहारों) की सिद्धि हो सके।' भगवान् मनु अपने धर्मशास्त्र के प्रथमाध्याय के 21 श्लोक में वेदों की सर्व-विद्या-प्रतिपादकता सिद्ध करते हुए कहते हैं—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।

वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

अर्थात् 'वेदों के अनुसार ही सब चीजों और प्राणियों के नाम और कर्म तथा लौकिक व्यवस्थाओं की रचना की गई।' वेदों की अखिल-विज्ञान-प्रतिपादकता इससे भी स्पष्ट शब्दों में भगवान् मनु अपने शास्त्र के 12वें अध्याय के 97-100 श्लोकों में इस प्रकार दर्शाते हैं—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः ।

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुण कर्मतः ॥

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
 तस्मादेतत् परम्मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥
 सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
 सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदहति ॥

अर्थात् 'चारों वर्ण, चारों आश्रम, तीनों लोक (पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ), भूत भविष्य और वर्तमान में होने वाली सारी चीजें, ये सब वेद से ही जाने जाते हैं।' 'शब्द, स्पर्श, रूप-रस और गन्ध (इनके सम्बन्ध का सम्पूर्ण ज्ञान) वेद से ही जाने जाते हैं।' 'सनातन वेद-शास्त्र ही सब भूतों का पालन कर रहा है इसलिए मनुष्य का उसे सिद्ध करना—सम्यक् रूप से जानना ही मुख्य कर्तव्य है।' 'वेद-शास्त्र-विद् अर्थात् वेद को जानने वाला व्यक्ति सैनापत्य अर्थात् सेनाओं का संगठन और संचालन कर सकता है, दण्डनेतृत्व अर्थात् न्याय-व्यवस्था का संचालन कर सकता है, और सर्व-लोकाधिपत्य अर्थात् सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य का संचालन कर सकता है।' मनु के इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वेद में राजनीति का सम्पूर्ण ज्ञान दिया गया है।

वेद और वेदान्तदर्शन तथा शंकराचार्य

इतना ही नहीं, भारतीय आर्यों के मन में वेदों का महत्त्व कितना अधिक था, वेदों को वे किस प्रकार अनेक विद्या-विज्ञानों का गम्भीर रत्ननिधि समझते थे, इसे समझने में सहायता देने के लिए वेदान्त-दर्शन शांकर-भाष्य से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। दार्शनिक लोग ईश्वर-सिद्धि के लिए 'सृष्टि-कर्तृत्व की युक्ति' दिया करते हैं। जिस प्रकार एक घड़ी स्वयं नहीं बन सकती उसकी जटिल और सूक्ष्म रचना हमें किसी रचयिता का अनुमान करने के लिए बाधित करती है, उसी प्रकार यह विश्व ब्रह्माण्ड भी अपने आप नहीं बन सकता। इसकी जटिल और सूक्ष्म रचना भी हमें किसी निर्माता का अनुमान करने के लिए बाधित करती है। वेदान्त-दर्शन के प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' में ब्रह्म (ईश्वर) सिद्धि के लिए इसी 'सृष्टि कर्तृत्व की युक्ति' (Cosmological argument) का आश्रय लिया गया है। पर वेदान्त के रचयिता को मानो इतने से सन्तोष नहीं होता। वह ब्रह्म की सिद्धि के लिए एक दूसरी युक्ति देता है। वह है 'वेदों का कर्तृत्व' (Authorship of the Vedas)। इसके लिए वेदान्त के लेखक अगला सूत्र बनाते हैं—'शास्त्रोऽयोनित्वात्' अर्थात् वेद जैसी ज्ञान की भण्डार पुस्तकें अपने आप नहीं बन सकतीं, इसलिए कोई उनका कर्ता होना चाहिए, और वह कर्ता है ब्रह्म। इस सूत्र के शांकर-भाष्य की कुछ पंक्तियाँ देखने योग्य हैं—

‘महत् ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्
 सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य
 शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः

संभवोस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं-शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति—
यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेः ज्ञेयैकदेशार्थमपि—स ततोप्यधिकतर-
विज्ञान इति । किमु-वक्तव्यम्, अनेक शाखाभेदभिन्नस्य देव—तिर्यङ्-
मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य
अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुष निःश्वासवत् यस्मान्महतो भूतात्
योनेः सम्भवः ।'

इन पंक्तियों का संक्षेप में भावार्थ यह है कि 'ऋग्वेदादि वेदशास्त्र अनेक विद्याओं से
युक्त, सर्वज्ञान के खजाने और दीपक की भाँति सब पदार्थों का बोध कराने वाले हैं ।
इनका सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं हो सकता है ।'

वेद और उपवेद तथा वेद और अंग-उपांग

दर्शन, विज्ञान और भाषा-विज्ञान के क्षेत्रों में आर्यों ने जो उन्नति की थी वह
सारी चार 'उपवेद', छह 'अंग' और छह 'उपांग', इन तीन शीर्षकों के नीचे आ जाती
हैं । इन तीनों को वेदों पर आश्रित माना जाता है, जिसका अभिप्राय यह है कि
इनमें जिन विषयों का वर्णन किया गया है वे सब मूलरूप में वेदों में विद्यमान हैं ।
उन्हीं की व्याख्या इनमें की गई है । चार उपवेद निम्न हैं—

1. आयुर्वेद या जीवन-रक्षा विज्ञान (Science of Life) में जिन विषयों
का वर्णन आता है उनके आधुनिक नाम औषध-विज्ञान (Medicine),
शल्य-चिकित्सा (Surgery), स्वस्थवृत्त (Hygiene), रसायन
(Chemistry), शरीर-क्रिया विज्ञान (Physiology), शरीर-रचना
विज्ञान (Anatomy) आदि हैं ।
2. 'अर्थवेद' या शिल्प-विज्ञान (Science of Mechanics and
Handicrafts).
3. 'गान्धर्व वेद' या संगीत, काव्य, नाटक, नृत्यकला (Science of
Music and Song, Drama and Dancing).
4. 'धनुर्वेद' या युद्ध-कला और शास्त्र-विज्ञान (Science of War and
Weapons).

छः अंग इस प्रकार हैं—

1. 'शिक्षा' या वर्णोच्चारण विज्ञान (Science of Phonetics and
Orthoepy).
2. 'कल्प'
(i) 'धर्मसूत्र' या विधि (कानून) विज्ञान (Principles of Law),
(ii) 'श्रौत सूत्र' या श्रौत यज्ञ-विज्ञान (Rules of Vedic
Ceremonies),

(iii) 'गृह्य सूत्र' या गृह्य-यज्ञविज्ञान (Rules of Domestic Ceremonies),

(iv) 'शुल्ब सूत्र' या ज्यामिति-विज्ञान (Principles of Geometry).

3. 'व्याकरण' (Grammar).

4. 'निघण्टु' और 'निरुक्त' या भाषा-विज्ञान (Philology).

5. 'छन्द' या पद्य-रचना विज्ञान (Prosody).

6. 'ज्योतिष' (Astronomy).

छः उपांग ये हैं—

1. न्याय, 2. वैशेषिक, 3. सांख्य, 4. योग, 5. मीमांसा, और 6. वेदान्त दर्शन ।

इन छः दर्शनों में जिन विषयों का वर्णन हुआ है उनके आधुनिक नाम लॉजिक (Logic), मेटाफिजिक्स (Metaphysics), साइकोलॉजी (Psychology), एथिक्स (Ethics) और फिजिक्स (Physics) आदि हैं ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि इन सबका आधार वेदों को माना जाता है । जिसका अर्थ यह है कि भारतीय आर्य विचारक वेदों में प्रायः उन सब विज्ञानों का मूल मानते रहे हैं जिन्हें कि अब तक का सभ्य संसार जान पाया है ।

वेद और मध्यकालीन भाष्यकार

वेदों का इतना महत्त्व होने पर भी, सैंकड़ों शताब्दियों पूर्व स्वयं भारतवर्ष में ही जो कि सदा से वैदिक सच्चाइयों का परीक्षा-क्षेत्र और लीला-भूमि रहा है, किन्हीं अज्ञात कारणों से वेदों का गम्भीर स्वाध्याय बन्द हो गया । इन सैंकड़ों बल्कि हजारों शताब्दियों में वेदों का जो स्वाध्याय होता रहा वह बहुत ही उथले ढंग का और वेदों के अभिप्राय को अधिकाधिक छिपाने वाला ही होता था । इस प्रकार के स्वाध्याय के परिणामस्वरूप, सायण, महीधर और उव्वट आदि के जो भाष्य वेदों पर मिलते हैं, उन्हें देखकर यह धारणा कि वेद 'अनेक विद्यास्थानोपबृंहित', 'सर्वज्ञकल्प', 'प्रदीपवत् सर्वपदार्थाविद्योती' और 'सर्वज्ञानाकर' हैं, शिथिल हो जाती है । मालूम होता है कि जिन नियमों के अनुसार इस काल में वैदिक शब्दों के अर्थ किए जाते रहे, वे नियम वेदों का अभिप्राय समझने के लिए ठीक नियम न थे । इसीलिए ये भाष्यकार वेदों में उस प्रकार की कोई बात न दिखा सके जिस प्रकार की बातों का वेदों में होना मनु आदि प्राचीन विद्वान् देखते थे ।

वेद और विदेशी टीकाकार और
उनका भारतीय नव-शिक्षितों पर प्रभाव

ईसा की सत्रहवीं सदी से पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान संस्कृत-साहित्य की

और आकृष्ट होना आरम्भ हुआ । कितने ही विद्वानों ने संस्कृत पढ़ी और उसके विभिन्न अंगों के अनुवादों का प्रकाशन और उन पर अपनी समालोचनाओं को लिखना प्रारम्भ किया । वैदिक साहित्य पर भी अनेक विद्वान् लगे । वेदों के जिस प्रकार के भाष्य और टीकाएँ इन लोगों के सामने आए उनके स्वरूप का संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । पौराणिक कथाओं और याज्ञिक कर्म-क्रियाओं के अतिरिक्त इन भाष्यों में तत्त्व की बातें बहुत कम थीं । इन्हीं भाष्यों की सहायता से पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के अनुवाद किए और उन पर अपनी समालोचनाएँ लिखीं । ये अनुवाद और समालोचनाएँ अधिकांश में वेदों के प्राचीन महत्त्व को कम करने वाली और उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करने वाली थीं । अंग्रेजी शासनकाल में पाश्चात्य विद्वानों की ये पुस्तकें अंग्रेजी भाषा के द्वारा भारतीय लोगों को भी पढ़ने को मिलीं । संस्कृत-भाषा का प्रचार प्रायः सर्वत्र कम हो गया था । वैदिक-भाषा का तो कहना ही क्या है । स्वयं भारतीयों को भी वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति की अपेक्षा होने लगी । उन लोगों से जो सम्मति मिली उसने भारतीय नव-शिक्षितों के मन में भी वेदों से प्रति अरुचि के भाव पैदा कर दिये । पुराने ढर्रे के संस्कृत पढ़े-लिखे लोगों में वह सामर्थ्य न थी कि इस पाश्चात्य प्रभाव का विरोध और समाधान कर सकते ।

ऋषि दयानन्द पुरानी आवाज फिर उठाते हैं

यह अवस्था थी जब भारतवर्ष के रंगमंच पर ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ । उसने वेदों के महत्त्व का प्राचीन शंख फिर से फूँका । उसने फिर से गम्भीर घोषणा की कि वेदों में सब विद्याओं का मूल है । फिर से उसने शंकर की आवाज में आवाज मिलाकर कहा—वेद 'अनेकविद्यास्थानोपबृंहित' हैं, 'सर्वज्ञकल्प' हैं, और 'सर्वज्ञानाकर' हैं । लोगों ने कहा—पिछले भाष्यकार और पाश्चात्य विद्वान् जो रूप वेदों का दिखाते हैं वह तुम्हारी बात का विरोध करता है । उसने उत्तर दिया—ये लोग जिन नियमों का आश्रय लेकर वेदों को समझना चाहते हैं उन नियमों से वेदों के मर्म को नहीं समझा जा सकता । ये लोग मन्त्र में आये 'विशेष्य' की अपनी पूर्व-कल्पित मूर्ति को सामने रखते हैं और उसके अनुसार 'विशेषण' शब्दों को तोड़ते और मरोड़ते हैं । इससे अर्थ का अनर्थ हो जाता है ।

वेदार्थ करने की शैली

उचित विधि यह है कि 'विशेषण' शब्दों को सामने रखते हुए उनके अनुसार 'विशेष्य' का अर्थ निर्धारित किया जाय । इस प्रकार वेद में खंडिवाद का स्थान नहीं रहने देना चाहिए । उसने निरुक्त, महाभाष्य, ब्राह्मण, तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाणों से अपने पक्ष को पुष्ट किया ।

वेदों का नये सिरे से अध्ययन आरम्भ हुआ है

इसका परिणाम यह हुआ कि जो लहर लोगों के मन में वेदों के प्रति अरुचि उत्पन्न करती और इन्हें आदिम आर्यों (Primitive Aryans) में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति में गाये गये गीत मात्र समझने को उन्हें प्रेरित करती थी, उसे एक जबरदस्त रुकावट मिली । अनेक लोग वेदों को नवीन रीति से जो कि वस्तुतः अति प्राचीन थी पढ़ने और विचारने लगे । इस नये अध्ययन से प्राचीन आर्य-विश्वास कि वेदों में सब सत्य विद्याओं का मूल है, पुष्ट होता हुआ मालूम हुआ । वेदों के अनेक स्थलों की नयी और वैज्ञानिक व्याख्याएँ होने लगीं । इस दिशा में अभी तक भी इतना कार्य नहीं हुआ है कि अविश्वासी पाश्चात्य संसार वेदों के प्राचीन महत्त्व को पूर्णरूप से स्वीकार कर ले । फिर भी इस ओर जो काम हो रहा है और उसमें जो आशाजनक सफलता मिल रही है उससे विश्वास होता है कि वह समय बहुत अधिक दूर नहीं है जबकि संसार फिर से मुक्तकण्ठ से स्वीकार करेगा कि वेद वास्तव में 'सर्वज्ञकल्प' हैं, 'सर्वज्ञानाकर' हैं, और सृष्टि के प्रारम्भ में परम कारुणिक भगवान् ने मनुष्यों के कल्याणार्थ ही उनका पवित्र प्रकाश किया था ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम और उद्देश्य

प्रस्तुत ग्रन्थ भी इसी दिशा में एक प्रयत्न है । इसका विषय वेदों के 'राजनीति' सम्बन्धी स्थलों का अध्ययन करना है । इसीलिए ग्रन्थ का नाम 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' रखा गया है । जहाँ तक लेखक को मालूम है अभी तक किसी विद्वान् ने वेदों के राजनीतिक सिद्धान्तों की अन्वेषणा में उतना समय नहीं दिया है जितना विषय की गम्भीरता और व्यापकता चाहती है । मनु महाराज का मत है कि—

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

श्लोक का अर्थ ऊपर दिया जा चुका है । इस कथन से मालूम होता है कि मनु महाराज की सम्मति में राजनीति या पॉलिटिक्स (Politics) के विषय की वेदों में यथेष्ट शिक्षा दी गयी है । मनु महाराज के लिए पुराने लोगों की राय थी—

यत् किञ्चिन्मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः ।

भाव यह है मनु जो कुछ कहते हैं विल्कुल ठीक कहते हैं । अतः देखना चाहिए कि 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' क्या हैं ।

1

राज्य संस्था का विकास

राज्य शनैः शनैः विकसित होकर पूर्णता की अवस्था तक आता है ।

राज्य (state) अपनी पूर्णता की अवस्था को एकदम ही प्राप्त नहीं कर लेता । ऐसा नहीं है कि किसी भूभाग पर कुछ मनुष्य इकट्ठा रहना शुरू करें और उनके सह-निवास से राज्य इस तरह सहसा उत्पन्न हो जाय और अपनी पूर्णता को प्राप्त कर ले, जिस तरह कि जादू से कोई चीज उत्पन्न करके दिखा दी जाती है । राज्य के उत्पन्न होने और अपनी पूर्णता की अवस्था तक पहुँचने में समय लगता है । राज्य अंकुर रूप में उत्पन्न होता और शनैः शनैः विकसित होता हुआ कालान्तर में अपनी पूर्णता की अवस्था तक पहुँचता है । हरेक क्षेत्र में मनुष्य शनैः शनैः उन्नति करता हुआ कालान्तर में जाकर पूर्णता को प्राप्त करता है । किसी भी क्षेत्र में मनुष्य एक क्षणभर में पूर्णता की चोटी पर नहीं चढ़ सकता । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है । राज्य के अपनी पूर्णता तक पहुँचने में भी यही सत्य काम करता है । मनुष्य किसी भूभाग पर एक साथ रहना आरम्भ करते हैं । शनैः शनैः उनके पारस्परिक सम्बन्ध अधिकाधिक जटिल होते चले जाते हैं । इस जटिलता का कारण, मनुष्यों की बढ़ती हुई जनसंख्या, उनके बढ़ते हुए क्रिया-क्षेत्र, और इसके परिणामस्वरूप उनके बढ़ते हुए विभिन्न स्वार्थ और आवश्यकताएँ होती हैं । इन पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता अपने विकास की जिस अवस्था (stage of development) में होती है उसी अवस्था के अनुकूल, लोगों के पारस्परिक स्वार्थ-विरोध (conflict of interests) को सुलझाने के लिए, किसी साधन (agency) की आवश्यकता होती है । जटिलता के विकास की जैसी अवस्था (stage of development) होती है उसी के अनुसार एक या अधिक, स्वयमुत्थ (self-risen) या चुने हुए लोग इस स्वार्थ-विरोध (conflict of interests) को सुलझाने का काम संभाल लेते हैं । यही उस अवस्था के अनुकूल राज्य-संस्था होती है । स्वयमुत्थ (self-risen) में केवल लोगों के स्वार्थ-विरोध को सुलझाना ही उद्देश्य नहीं होता । उनके मन में प्रबल—शायद एकमात्र—भाव वैयक्तिक महत्वा-कांक्षा होती है । उसी महत्वाकांक्षा की सिद्धि और अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए उन्हें और लोगों के स्वार्थ-विरोधों को सुलझाने का कार्य भी अपने ऊपर लेना पड़ता

है। लोगों के विकास की अवस्था के अनुसार इस प्रकार के लोगों का मुखिया बन जाना उस समय के लिए आवश्यक होता है। मनुष्य का, किसी प्रकार का विरोध न होने पर और विरोध होने पर जहाँ तक अपनी शक्ति है वहाँ तक उस विरोध को दबा कर, अपने स्वार्थों की सिद्धि करना, एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। यही सत्य उस समय की समाज की विकास की अवस्था (stage of development) में काम कर रहा होता है। ज्यों-ज्यों समाज अधिकाधिक जटिल (complex) और लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध ज्यादा-ज्यादा जटिल और सूक्ष्म होते चले जाते हैं, त्यों-त्यों राज्य-संस्था भी अधिकाधिक जटिल (complex) होती चली जाती है। अन्त में राज्य लम्बे समय के बाद अपनी पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

अथर्ववेद में पर्याय की व्याख्या

अथर्ववेद के अष्टम काण्ड के दशम सूक्त में सृष्टि के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार 'विराट्' अवस्था (chaotic stage) या असंबद्धता, असंश्लिष्टता या बिखरेपन की अवस्था से 'उत्क्रान्ति' या विकास होकर संबद्धता, संश्लिष्टता (integrated stage) आती है, अर्थात् सृष्टि के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में किन-किन अवस्थाओं में से विकास होकर पूर्णता की अवस्था आती है, इसका वर्णन किया गया है। इस सूक्त के पहले तेरह मन्त्रों (प्रथम पर्याय) में राज्य के विकास का वर्णन किया गया है। बताया गया है कि राज्य किन-किन मुख्य अवस्थाओं (stages) में होकर पूर्ण विकास की अवस्था तक पहुँचता है। यह पर्याय इस प्रकार है—

विराड वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः

सर्वमविभेदियमेवेदं- भविष्यतीति ॥-1.

सोदक्रामत् सा गार्हपत्येन्यक्रामत् ॥-2.

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥-3.

सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥-4.

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥-5.

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥-6.

यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥-7.

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥-8.

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥-9.

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥-10.

यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥-11.

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥-12.

यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥-13.

विराट् अर्थात् राज्यविहीन अवस्था—प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि 'पहले

विराट् (वि + राज्) अवस्था थी। किसी प्रकार की कोई राज्य संस्था न थी, किसी प्रकार का 'शासक' और 'शासित' का सम्बन्ध न था। (सृष्टि के आरम्भ में जब कुछ मनुष्य पैदा किये गये होंगे तब इस प्रकार की अवस्था का होना स्वाभाविक ही है।) इस अवस्था से सब को डर लगने लगा और वे सोचने लगे कि क्या यही अवस्था रहेगी ?

गार्हपत्य अवस्था—दूसरे मन्त्र में बताया गया है कि इस विराट् (वि + राज्) की अवस्था के पश्चात् उत्क्रान्ति (विकास) होकर 'गार्हपत्य' की अवस्था आयी। गार्हपत्य की अवस्था का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि विराट् (वि + राज्) अवस्था में किसी प्रकार का 'शासित' और 'शासक' का सम्बन्ध नहीं था, सब लोग अलग-अलग बिखरे हुए पड़े थे। इस अवस्था में अलग-अलग बिखरे हुए व्यक्तियों को अपने स्वार्थों की रक्षा करना असम्भव प्रतीत होने लगा। तब कुछ लोग पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन आदि सम्बन्धों में बंध कर कुटुम्बों के रूप में रहने लगे। गृहपति या कुटुम्ब के मुखिया के अधीन रहकर ये लोग अपने स्वार्थों की रक्षा करने लगे। इस गृहपति के प्राधान्य की अवस्था का नाम 'गार्हपत्य' अवस्था प्रतीत होता है (गृहपतेर्भावो गार्हपत्यम्)।

आहवनीय अवस्था—चौथे मन्त्र में बताया गया है कि गार्हपत्य की अवस्था के पश्चात् 'आहवनीय' की अवस्था आई। आहवनीय की अवस्था का यह अभिप्राय मालूम होता है कि ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती गयी त्यों-त्यों कुटुम्बों की संख्या भी बढ़ती गयी और शनैः-शनैः इन कुटुम्बों के स्वार्थ भी बढ़ते गये। ये कुटुम्ब अपने-अपने गृहपतियों के अधीन दूसरे कुटुम्बों से अधिकाधिक कलह में प्रवृत्त होने लगे। तब कुछ कुटुम्बों ने मिलकर अपनी एक 'पंचायत' बना ली और कुटुम्ब इस पंचायत के शासन में रहकर अपनी उन्नति और अपने स्वार्थों की रक्षा करने लगे। इसी पंचायत का नाम 'आहवनीय' मालूम होता है। (आहूयन्ते गृहपतयोत्रेति आहवनीयम्) आजकल की ग्राम-पंचायतों से आहवनीय को समझने में सहायता मिल सकती है। इन पंचायतों में घरों के मुखिया (गृहपति) लोग आकर घरानों के पारस्परिक हित की बातें सोचते हैं।

दक्षिणाग्नि अवस्था—छठा मन्त्र कहता है कि आहवनीय की अवस्था के पीछे 'दक्षिणाग्नि' की अवस्था आयी। इस अवस्था का अभिप्राय समझने के लिए हमें 'दक्षिणाग्नि' शब्द की रचना पर ध्यान देना चाहिए। यह शब्द 'दक्षिण' और 'अग्नि' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'दक्ष' शब्द के दो अर्थ 'चतुर' और 'बल' होते हैं। अतः 'दक्षिण' शब्द का अर्थ 'चतुर' या 'बली' पुरुष हुआ। 'अग्नि' का अर्थ 'अग्रणी' या 'नेता' वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध ही है। अतः 'दक्षिणाग्नि' का अर्थ 'चतुर और बली नेता' हुआ। जनसंख्या की अभिवृद्धि के साथ-साथ 'आहवनीय' पंचायतों की संख्या भी बढ़ती गयी और उनके स्वार्थों की भी। ये आहवनीय एक दूसरे से विरोध खाने लगे।

इस विरोध को सुलझाने के लिए कई-कई आह्वनीयों के बीच में एक-एक चतुर और बली नेता खड़ा हो गया। यह 'दक्षिणाग्नि' की अवस्था हुई। 'दक्षिणाग्नि' की उत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है। एक तो इस तरह कि ये 'आह्वनीय' ही अपने नेताओं में से किसी चतुर और बली पुरुष को अपना नेता चुन लें और उसके शासन में रहकर अपने-अपने स्वार्थों की रक्षा करें या इस तरह कि इन आह्वनीयों का कोई चतुर या बली नेता अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए कई आह्वनीयों का नेता बन बैठे। दोनों ही प्रकार मनोवैज्ञानिक सत्य पर आश्रित हैं।

सभा की अवस्था—आठवाँ मन्त्र बताता है कि 'दक्षिणाग्नि' के पीछे 'सभा' की अवस्था आई। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ 'दक्षिणाग्नि' की संख्या भी बढ़ती जाती है। साथ ही व्यापार-वाणिज्य, उद्योग-धन्वे तथा दूसरे क्षेत्रों में भी उन्नति होती चली आती है। अब समाज (society) पहले की अपेक्षा अधिक जटिल (complex) हो जाता है। समाज को शासित करके उसे संतुलन (equilibrium) में रखने के लिए केवल 'आह्वनीय' और 'दक्षिणाग्नि' ही पर्याप्त नहीं रहते। एक अधिक शक्तिसम्पन्न राज्य-संस्था की आवश्यकता होती है। शक्ति-सम्पन्न होने के साथ-साथ ही इस राज्य-संस्था में समाज के भिन्न-भिन्न अंगों और घटकों (constituents) के मनोभावों को समझने की शक्ति भी होनी चाहिए। इसीलिए यह संस्था समाज द्वारा चुने हुए लोगों से बनी हुई होती है। इस संस्था को 'सभा' कहा गया है। इसका 'सभापति' देश का मुख्य शासक या राजा कहलायेगा। 'सभा' शब्द 'सह' अव्ययपूर्वक 'भा—दीप्ता' धातु से बना है, जिसका योगार्थ होता है—'लोगों का एक निश्चय के लिए समानरूप से या एक साथ चमकना अर्थात् अपने विचारों को प्रकाशित करना'—'सह भान्ति जना एकनिश्चयार्थं यत्र'। इस प्रकार समाज 'सभा' के निर्णयानुसार शासित होने लगता है। सभा अमेरिका, इंग्लैण्ड और भारत आदि की आज की संसदों की भाँति जनता द्वारा चुनी हुई एक संस्था है।

समिति की अवस्था—दसवाँ मन्त्र कहता है कि 'सभा' के बाद 'समिति' की अवस्था आती है। 'समिति' आजकल की संसदों (legislatures) की उच्च सभाओं (upper house) की तरह की संस्था मालूम होती है। 'समिति' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'इण्-गती' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'लोगों का एक निश्चय के लिए सम्यक् प्रकार से आना'—'सं सम्यक् यन्ति जना एक निश्चयार्थं यत्र'। 'सम्' (सम्यक्) उपसर्ग की ध्वनि यह है कि 'समिति' में भेजे जाने वाले लोगों की योग्यता सभा के सदस्यों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए। 'सभा' और 'समिति' शब्दों की व्युत्पत्ति से इनका प्रतिनिध्यात्मक संस्था (Representative Institution) होना स्पष्ट प्रतीत होता है। सभा और समिति संसद की निम्न और उच्च सभाओं (lower and upper houses) जैसी संस्थाएँ ही हैं, यह आगे दिखाया जायेगा। समाज की कम जटिल (complex) अवस्था में एक सभा (House) भी पर्याप्त रहती है। अधिक जटिल (complex) अवस्था में एक सभा (Upper House) की और

आवश्यकता है। इसीलिए विकास में 'सभा' के पीछे 'समिति' आती है। एक देश या राष्ट्र की दृष्टि से सभा और समिति की अवस्था में आकर राज्य अपने पूरे विकास को प्राप्त कर लेता है।

आमन्त्रण की अवस्था—बारहवें मन्त्र में बताया गया है कि 'राज्य की उत्क्रान्ति (विकास) की अन्तिम अवस्था (final stage of development) 'आमन्त्रण' होती है।' 'आमन्त्रण' एक सार्वभौम या विश्वभर की राजसभा प्रतीत होती है। राष्ट्रों के पारस्परिक विरोधों को सुलझाने के लिए 'आमन्त्रण' की आवश्यकता होती है। 'आमन्त्रण' शब्द का अर्थ है 'निमन्त्रण देकर बुलाना'। इसमें विभिन्न देशों को आमन्त्रित किया जाता है—उन्हें बुलाया जाता है। 'आमन्त्रण' एक सार्वभौम या विश्वभर की संस्था ही है। इसे स्पष्ट करने के लिए अधिक विचार आगे किया जायेगा। हमने राजनीतिक अर्थों में गर्भित विराट् (वि + राज्), सभा, समिति और आमन्त्रण, इन सूक्त में प्रयुक्त शब्दों के साहचर्य से गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि शब्दों के उपर्युक्त राजनीतिविषयक यौगिक अर्थ किये हैं। इन शब्दों के प्रसिद्ध याज्ञिक अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकते।

मन्त्र 3.5.7.9.11 और 13 क्रम से गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा, समिति और आमन्त्रण की ही अर्थवाद के रूप में प्रशंसा कर रहे हैं, इसलिए इन मन्त्रों का अर्थ ऊपर नहीं दिया गया है।

इन मन्त्रों का उपदेश किसलिए दिया गया?—राजनीति-शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के मन में, जब वह इस विषय का अध्ययन करने बैठता है तो, पहला प्रश्न यही उत्पन्न होता है कि राज्य की पृथिवी-तल पर उत्पत्ति कैसे हुई। वेद में राजनीति भी एक उपदेष्टव्य विषय है। इस विषय का वेद आप्रलय उपदेश करेगा। वेद के राजनीति-विषय के विद्यार्थी के मन में उपर्युक्त प्रश्न सदा ही स्वाभाविक तौर पर उत्पन्न होगा। उसका समाधान करने के लिए वेद के उपरिलिखित सूक्त में राज्य के विकास का संक्षिप्त किन्तु मार्मिक वर्णन कर दिया गया है। वेद के दूसरे स्थलों में पूर्ण विकसित राज्य का आदर्श क्या है, इसका वर्णन किया गया है।

एक शंका का समाधान—यहाँ एक आक्षेप उत्पन्न होता है। उसका निराकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। आक्षेप यह है, अगर वेद सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्यों के मार्ग-प्रदर्शक के रूप में दे दिये गये थे, और उन में आदर्श राज्य कैसा होना चाहिए इसका भी वर्णन कर दिया गया है तो फिर उपरिवर्णित राज्य का विकास कैसे सत्य हो सकता है? लोगों ने पहले ही आदर्श-राज्य की स्थापना क्यों न कर ली? इसका उत्तर यह है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्यों की संख्या और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता पर अवलम्बित है। सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों की संख्या अल्प और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता कम थी। वेदों के द्वारा आदर्श राज्य-संस्था का ज्ञान मिल जाने पर भी वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में जन-संख्या की अल्पता और सम्बन्धों की जटिलता की न्यूनता के कारण पूर्ण विकसित और

आदर्श राज्य स्थापित नहीं कर सकते थे। एक स्थान में रहने वाले दस आदमी, चाहे उन्हें राजनीति-शास्त्र का कितना ही पूर्ण ज्ञान क्यों न हो, पूर्ण विकसित और आदर्श राज्य (state) की स्थापना नहीं कर सकते। उनकी संख्या की अल्पता और पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता की कमी उन्हें इसकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होने देती। ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती जायेगी और पारस्परिक सम्बन्ध अधिकाधिक जटिल होते जायेंगे, त्यों-त्यों राज्य-संस्था, समाज के विकास की अवस्था के अनुकूल, गार्हपत्य आदि अवस्थाओं (stages) में से होती हुई पूर्ण विकास की अवस्था की ओर बढ़ेगी। उसका आदर्श क्या होना चाहिए इसका वर्णन वेदों में स्थान-स्थान पर स्पष्ट तौर पर कर दिया गया है, जैसा कि हम शनैः शनैः आगे देखते जायेंगे।

2

मातृभूमि की भावना

जब तक लोग किसी भूखण्ड को अपनी मातृ-भूमि न समझने लगे
तब तक उनमें राज्य का विकास नहीं हो सकता ।

पूर्ण विकसित राज्य की किसी जन-समुदाय में तब तक सम्भावना नहीं हो सकती जब तक कि उस जन-समुदाय की अपनी कोई स्थिर भूमि न हो, उसका कोई अपना देश (country) न हो, और वह उसे अपनी मातृभूमि न समझता हो, उसकी उन्नति और रक्षा के लिए उसी प्रकार कष्ट सहने के लिए तैयार न रहता हो जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी जन्मदात्री माता की रक्षा के लिए सब तरह के कष्ट सहने के लिए तैयार रहता है । किसी देश को मातृभूमि समझने का अभिप्राय यह है—जिस तरह एक व्यक्ति अपनी जन्मदात्री माता को, उसके सब गुण-दोषों के साथ, अपनी समझता है, उसकी हरेक बात और चीज की रक्षा के लिए तैयार रहता है, इसी प्रकार राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने देश की हरेक चीज को—उसके हरेक व्यक्ति को—अपना समझता हो । उसके भूत, वर्तमान और भविष्य इतिहास के साथ उसकी उसी तरह घनिष्ठ आत्मीयता रहती हो जिस तरह जन्मदात्री माता के भूत, वर्तमान और भविष्य इतिहास के साथ किसी पुत्र की रहती है । जब तक लोगों में किसी देश के प्रति यह 'मातृभूमि' की भावना पैदा नहीं होती तब तक उसमें राज्य की स्थापना नहीं हो सकती । लोगों में इस भावना के न रहने पर स्थापित राज्य (state) भी नष्ट हो जायेंगे । कोई अपनी मातृभूमि न रहने के कारण—किसी देश के साथ माता की सी आत्मीयता और प्रेम न रहने के कारण—ही फिरन्दर जातियों में किसी ऊँचे राज्य की स्थापना नहीं हो पाती । उनकी राज्य-संस्था कुटुम्ब या गार्हपत्य (family) की अवस्था तक ही सीमित रहती है, उसका आगे विकास नहीं हो पाता । वेदों में अगर आदर्श राज्य-संस्था का वर्णन किया गया है तो उसकी स्थापना और रक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि लोगों को यह उपदेश भी दिया जाये कि तुम लोग किसी न किसी भूखण्ड को अपनी मातृभूमि समझा करो । अतः देखना चाहिए कि वेदों में लोगों को 'मातृभूमि की भावना'

(idea of mother-land) का उपदेश भी दिया है या नहीं।

वेदों के विभिन्न स्थलों में मातृभूमि की भावना की शिक्षा

अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का पहला सूक्त एक बहुत बड़ा सूक्त है। इस सूक्त के 63 मन्त्र हैं। इस सूक्त को भूमि सूक्त कहते हैं। इस सारे सूक्त में इस बात की शिक्षा दी गई है कि मनुष्यों को अपनी जन्मभूमि के प्रति किस प्रकार के भाव रखने चाहिए? जैसे ओजस्वी भाव मातृभूमि के प्रति इस सूक्त में प्रदर्शित किये गये हैं वैसे ओजस्वी भाव शायद ही किसी देश के प्रचलित राष्ट्रीय गीतों में पाये जायें। इस सूक्त को 'मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रीय गीत' कह सकते हैं। इस सूक्त का विस्तृत उल्लेख यथास्थान आगे किया जायेगा। यहाँ सूक्त में से दो-चार ऐसे मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं जिनमें अपने देश को माता समझने और उसके प्रति नमन करने का अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उपदेश है।

(i) सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ।

अथ० 12.1.10

अर्थात् 'माताभूमि (मातृभूमि) मुझ पुत्र के लिए पय अर्थात् दुग्ध आदि पुष्टि-प्रद पदार्थ प्रदान करे।'।

(ii) माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ॥

अथ० 12.1.12

अर्थात् 'भूमि (अपना देश) मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।'।

(iii) त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः ।

अथ० 12.1.15

अर्थात्, 'हे मातृभूमि ! हम मरणधर्मा मनुष्य तुझसे उत्पन्न होते हैं और तुझ पर ही घूमते-फिरते हैं।'।

(iv) भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविभोगे अभवन्मातृमद्भयः ।

अथ० 12.1.60

अर्थात् 'जो भुजिष्य (भोग-सामग्री) और पात्र (रक्षा-साधन) गुहा निहित (छिपे) रहते हैं वे मातृमानों अर्थात् अपने देश को माता समझने वालों के लिए आविर्भूत (प्रकट) होते हैं।'।

(v) भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सप्रतिष्ठितम् ।

अथ० 12.1.63

अर्थात्, 'हे माताभूमि (मातृभूमि) तू मुझे अच्छी तरह प्रतिष्ठित करके रख।'।

'मातृभूमि की भावना' का कितने स्पष्ट और सुन्दर शब्दों में इन मन्त्रों में प्रदर्शन किया गया है इसे बताने के लिए किसी टीका की जरूरत नहीं है। मन्त्र

अत्यन्त साफ और सरल हैं ।

अथर्व० 12.1 सूक्त में भूमि का अर्थ मातृभूमि है । कई लोग कह सकते हैं कि इस सूक्त में स्थूल दिखाई देने वाली मृत्तिकामय पृथिवी को ही माता करके सम्बोधित किया गया है । 'मातृभूमि की भावना' की इसमें शिक्षा नहीं दी गयी है । सूक्त को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर किसी के मन में यह शंका उत्पन्न नहीं हो सकती । सूक्त स्पष्ट शब्दों में मातृभूमि के प्रति ही भाव-प्रदर्शन की शिक्षा दे रहा है । इसी सूक्त के कुछ मन्त्र ही इसको बिल्कुल साफ कर देते हैं ।

इसी सूक्त के 11वें मन्त्र में पृथिवी को 'इन्द्रगुप्ता' कहा गया है, जिसका अर्थ 'सम्राट् द्वारा रक्षित' होता है । 'इन्द्र' का अर्थ सम्राट् ही है यह आगे स्पष्ट किया जायेगा । पृथिवी को 'सम्राट् द्वारा रक्षित' कहना स्पष्ट सिद्ध करता है कि बोलने वाले के मन में अपने राजा का ख्याल है, और वह अपनी मातृभूमि को ही सम्बोधित कर रहा है । 43वें मन्त्र में कहा गया है, 'यस्याः पुरो देवकृताः' अर्थात् जिसके नगर देव अर्थात् कुशल शिल्पियों के बनाये हुए हैं । (दिवु धातु का व्यवहार भी एक अर्थ है, अतः इस धातु से निष्पन्न देव पद का व्यवहार कुशल शिल्पी अर्थ भी हो सकता है) । इस प्रकार की स्तुति से भी यही प्रतीत होता है कि स्तोता के मन में अपनी मातृभूमि का ही ध्यान है, और वह उसके कुशल शिल्पियों द्वारा निर्मित आश्चर्यरचनायुक्त नगरों को देखकर अभिमान से उनका वर्णन कर रहा है । 47वें मन्त्र में कहा है— 'ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्तमानसश्च यातवे' अर्थात् जो, तेरे पैदल चलने के, रथों के, और गड्ढों के चलने के मार्ग हैं । इससे यही मालूम होता है कि स्तोता अपनी मातृभूमि के विभिन्न प्रकार के पथों का वर्णन कर रहा है । 56वाँ मन्त्र इस प्रकार है—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।

ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥

अथ० 12.1.56

अर्थात्, 'हे मातृभूमि ! तेरे ग्रामों, जंगलों, सभाओं, युद्धों और समितियों में हम तेरे लिए चारु (अच्छा) ही बोलें ।' इस मन्त्र से तो साफ ही हो जाता है कि स्तोता के मन में अपनी मातृभूमि का ही ख्याल है । नहीं तो मृत्तिकामय भूमि के लिए उपर्युक्त स्थानों में चारु बोलने का कुछ भी अभिप्राय नहीं मालूम होता । 8वें मन्त्र का अन्तिम भाग है— 'सा नो भूमिस्त्विषि बलं राष्ट्रे दधातुत्तमे' अर्थात् 'वह भूमि (मातृभूमि, क्योंकि भूमि को इसी सूक्त के ऊपर उद्धृत मन्त्रों में स्पष्ट माता कहा गया है) हमारे राष्ट्र में तेज और बल धारण करे और इस प्रकार उत्तम बनाये ।' इस मन्त्र से यह स्पष्ट ध्वनि निकल रही है कि मातृभूमि की भावना राष्ट्र में तेज और बल प्रदान करती है; और मन्त्र उच्चारण करने वाला राष्ट्र-भक्त इसी भावना से अपने देश को सम्बोधन कर रहा है । 10वें मन्त्र में वर्णन है कि 'इन्द्रो यां चक्र

आत्मनेनमित्रां शचीपतिः' अर्थात् 'शक्तिशाली सम्राट् (इन्द्र) ने जिसे अपने लिए¹ शत्रुओं से रहित कर दिया है।' यहाँ पर भी वक्ता के मन में अपने राष्ट्र का ही विचार है—जिस राष्ट्र को उसके सम्राट् और राज्य-प्रबन्ध ने शत्रुओं से रहित कर रखा है। 13वें मन्त्र में आता है—'सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना' अर्थात् 'बढ़ती हुई वह भूमि हमें बढ़ाये'। यहाँ भूमि का अर्थ राष्ट्र अथवा मातृभूमि लेने पर ही मन्त्र किसी सार्थक अभिप्राय को कहने वाला बनता है। आत्मत्याग आदि द्वारा हम अपनी मातृभूमि को बढ़ाते हैं और हमारे द्वारा बढ़ती हुई मातृभूमि हमें बढ़ाती है। यहाँ भूमि का स्थूल मृत्तिकामय भूमि अर्थ करने पर मन्त्र में कोई भाव नहीं रह जाता। 14वाँ मन्त्र है—'यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योभिदासान्मनसा यो वर्धेन, तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि' अर्थात् 'हे पृथिवी ! जो हमसे द्वेष करे, जो सेना लेकर हम पर चढ़ाई करे, जो मन से अथवा शस्त्र से हमें दास बनाना चाहे, हे कामनापूर्ण करने वाली तू उसे राँध डाल।' मन्त्र के ये भाव राष्ट्र अथवा मातृभूमि के प्रति कहे गये होने पर ही अपने अन्दर कोई चमत्कार और गौरव रखने वाले बन सकते हैं। इस मन्त्र में जिन आपत्तियों का वर्णन है वे राष्ट्र की आपत्तियों की ओर ही निर्देश करती हैं। उनसे रक्षा के लिए मिट्टी की भूमि से प्रार्थना करने में कोई सार ही नहीं रहता। 18वें मन्त्र में आया है—'महांस्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्' अर्थात् 'महान् सम्राट् (इन्द्र) तेरी प्रमाद रहित होकर रक्षा करता रहे।' यह वर्णन भी अपने राजा से रक्षित राष्ट्र की ओर ही इशारा कर रहा है। 26वें मन्त्र में कहा गया है कि—'शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता, घृता। तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः' अर्थात् 'वैसे तो भूमि शिलाओं, पत्थरों, मिट्टी और बालू से बनी होती है, पर जब वही भूमि अच्छी तरह से धारण कर ली जाती है (संधृता, घृता) अर्थात् उसके साथ माता का भाव जोड़ लिया जाता है और तज्जन्य राष्ट्र-प्रबन्ध से उसकी रक्षा होने लगती है, तो वह भूमि (राष्ट्र) बन जाती है; ऐसे अच्छी प्रकार धारण किये हुए राष्ट्र में हिरण्य (सुवर्ण, सम्पत्ति) रहने लगता है; मैं ऐसी अपनी मातृभूमि (पृथिवी) को नमस्कार करता हूँ।' इस मन्त्र में तो स्पष्ट ही भूमि के स्थूल अर्थ से ऊँचा उठने के भाव का वर्णन है। 39वें मन्त्र में कहा है—'यस्यां पूर्वं भूतकृत ऋषयो गा उदानचुः' अर्थात् 'जिसमें भूतकाल को, हमारे इतिहास को, बनाने वाले (Makers of our History) पुराने तत्वदर्शी ऋषियों ने, वाणियाँ बोली हैं—उपदेश दिये हैं।' इस मन्त्र में भूतकाल के इतिहास को बनाने वाले ऋषियों का वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि वक्ता के मन में अपने राष्ट्र का ध्यान है जिसके इतिहास बनाये जाते हैं, मिट्टी की किसी स्थूल पृथिवी का नहीं। 62वें मन्त्र में

¹ 'जिस भूमि को इन्द्र ने अपने लिए शत्रुओं से रहित कर दिया है', मन्त्र के इस वाक्य से यह भी स्पष्ट सूचित होता है कि इन्द्र किसी कल्पित स्वर्ग में नहीं रहता, प्रत्युत इसी धरती पर रहता है और यहीं पर अपने शत्रुओं को पराजित करता है और धरती का ही शासक है। इन्द्र का अर्थ सम्राट् होता है यह आगे पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया जायेगा।

राष्ट्र के वासी कहते हैं—‘वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम’ अर्थात् ‘हे भूमि ! हम तुझे कर (बलि) देते रहें।’ इस कर देने के विधान से तो स्पष्ट ही हो जाता है कि यहाँ राष्ट्र अथवा मातृभूमि का ही वर्णन है, कोरी मृत्तिकामय भूमि रूप देवता का नहीं।

‘मातृभूमि की भावना’ की शिक्षा देने वाले दो-चार मन्त्र और उद्धृत करके हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। अथर्ववेद 5.21.11 में आता है—

(vi) यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रुन् ।

अर्थात् ‘अपने देश को माता समझने वाले (पृश्नि मातरः) हे उग्र सैनिकों (मरुतः) तुम अपने सेनापति के साथ मिलकर (इन्द्रेण¹ युजा) शत्रुओं को मारो।’ तैत्तिरीय 1.4.1.5 में ‘पृश्नि’ का अर्थ, ‘इयं वै पृश्निः’ अर्थात् ‘यह भूमि पृश्नि है’, ऐसा दिया है। अतः ‘पृश्नि मातरः’ का अर्थ हुआ ‘भूमिमातरः’ या भूमि को अपनी माता समझने वाले। सारे सूक्त का विषय दुन्दुभि बजाती हुई, विजिगीषु सेनाओं (देवसेना) का शत्रुओं पर चढ़ाई करना है। अतः इस प्रकरण में सैनिकों को ‘पृश्नि मातरः’ कहना सिद्ध करता है कि सैनिक अपने देश को ही माता समझ रहे हैं। ऐसे अवसर पर ‘पृश्नि’ का अर्थ ‘यावत् भूमि’ न लेकर ‘मातृभूमि’ ही लेना अधिक संगत प्रतीत होता है। अथर्ववेद 13.1.3. में आधा मन्त्र उपरोक्त ही है। वहाँ भी ‘पृश्नि मातरः’ का अर्थ ‘अपने देश को माता समझने वाले’ ऐसा करना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। इस सूक्त में वाजी* (राजा) राष्ट्र को रोहित* (परमात्मा) का समझ कर स्वीकार करता है, इस विषय का वर्णन है। अतः यहाँ भी ‘पृश्निमातरः’ में ‘पृश्नि’ का अर्थ ‘अपना देश’ ही करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(vii) इसी प्रकार ऋग्वेद 1.85.2,3 में भी मरुतों को क्रमशः ‘पृश्निमातरः’ और ‘गोमातरः’ कहा है, जिसका अर्थ है ‘भूमि को माता समझने वाले’। ऋग्वेद 1.89.7 में ‘पृश्नि मातरः’, और ऋग्वेद 5.58.5 में उन्हें ‘पृश्ने पुत्राः’ कहा है, जिसका अर्थ क्रमशः ‘भूमि को माता समझने वाले’ और ‘भूमि के पुत्र’ है। मरुत का एक अर्थ मरने-मारने वाला सैनिक होता है और इन सूक्तों में वही अर्थ अभिप्रेत है यह आगे सिद्ध किया जायेगा। सैनिकों के प्रकरण में भूमि का अर्थ ‘यावत् भूमि’ न लेकर ‘राष्ट्र या मातृभूमि’ लेना ही सुसंगत होता है। यजुर्वेद 25.20 में मरुतों को ‘पृश्निमातरः’ कहा गया है। यहाँ भी मरुत का अर्थ सैनिक है और उन्हें अपने राष्ट्र को माता समझने की शिक्षा दी गयी है।

इसी प्रकार यजुर्वेद अ० 9 मं० 22 में आता है—

(viii) नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या ।

अर्थात् ‘मातृभूमि को नमस्कार है ! मातृभूमि को नमस्कार है !!’ इस

¹ ‘इन्द्र’ का अर्थ ‘सेनापति’ भी होता है।

* इस सूक्त में ‘वाजी’ का अर्थ ‘राजा’ और ‘रोहित’ का अर्थ ‘परमात्मा’ है। इस पर आगे विचार किया जायेगा।

मन्त्र में 'पृथिवी' का अर्थ 'अपना देश' या 'जन्म-भूमि' लेना ही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। इस अध्याय की शतपथ ब्राह्मण में 'राजसूय' विषयक व्याख्या की गयी है। इससे ऊपर 21वें मन्त्र में आता है 'प्रजापतेः प्रजा अभूम' अर्थात् 'इस प्रजापति अर्थात् इस अभिषिक्त राजा की प्रजा हो गयी हैं।' इस प्रकार प्रकरण देखने से प्रतीत होता है कि प्रजाजन राजा के अभिषिक्त हो जाने पर अपने को उसकी प्रजा कहते हैं और अपने देश (मातृभूमि) को नमस्कार कहते हैं।

(ix) पृथिवी मातर्मा मा हिंसीमो अहं त्वाम्।

यजुः 10.23

अर्थात् 'हे पृथ्वी माता न तू हमारी हिंसा कर और न हम तेरी हिंसा करें।' यजुर्वेद के 10वें अध्याय में भी राजसूय का ही वर्णन है। अतः इस प्रकरण में भी पृथ्वी से अभिप्राय अपने राष्ट्र से ही है और उसे इस मन्त्र में 'माता' कहा गया है। इस प्रकार हमने देखा है कि वेद में 'मातृभूमि की भावना' की—जो भावना कि राज्य के उच्च विकास की आवश्यक शर्त है—यथेष्ट शिक्षा पायी जाती है। अब अगले प्रकरणों में हम देखेंगे कि वेदों की पूर्ण विकसित, आदर्श राज्य संस्था किस प्रकार की है।

मातृभूमि की भावना का वैदिक अभिप्राय

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व अथर्व० 12.1 सूक्त के सम्बन्ध में दो शब्द और कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। मातृभूमि के भाव की सबसे अधिक विस्तृत और पूर्ण शिक्षा इसी सूक्त में दी गयी है। बड़े-बड़े 63 मन्त्रों का यह सारा सूक्त इसी विषय को अर्पित हुआ है। हमने अपने इस अध्याय में सबसे अधिक मन्त्र इसी सूक्त से उद्धृत किये हैं। जितना हमने लिखा है उसे यदि उतना ही रहने दिया जाय तो हमें आशंका है कि अनेक पाठकों के मन में विषय का अधूरा चित्र उपस्थित होगा। उस अवस्था में वेद के साथ अन्याय होगा। वेद के इस सूक्त में 'मातृभूमि की भावना' अथवा 'राष्ट्र-भावना' का उन संकुचित अर्थों में उपदेश नहीं है जिन अर्थों में आजकल की राजनीति में नेशनलिज्म (Nationalism) शब्द प्रयुक्त होता है। वेद का मुख्य बल इस बात पर है कि राज्य नहीं बन सकता जब तक किसी भूखण्ड में रहने वाले मनुष्य उससे अपनी माता की तरह प्यार न करें। वेद में यह बात बिल्कुल भी नहीं सुझायी गयी है कि अपने देश को माता समझने का अर्थ है कि अन्य देशों को शत्रु समझा जाये या अपने देश के स्वार्थों को पूरा करने के लिए अन्य देशों के स्वार्थों को कुचला जाये। और न ही वेद के इस प्रकरण का यह अर्थ है कि पृथिवी आवश्यक तौर पर अनेक छोटे-छोटे भूखण्डों या राष्ट्रों में बँट जाये। वेद तो सिर्फ यह बताना चाहता है कि राज्य स्थापित होने के लिए किसी न किसी भूखण्ड को 'माता' समझना आवश्यक है। यदि छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने हैं तो छोटे-

छोटे भूखण्डों को 'माता' समझना होगा, और यदि बड़े-बड़े राज्य स्थापित करने हैं तो बड़े-बड़े भूखण्डों को 'माता' समझना होगा। और यदि सारी पृथ्वी पर ही एक राज्य और एक राष्ट्र स्थापित करना है तो सारी पृथ्वी के साथ ही मातृभूमि की भावना जोड़नी पड़ेगी। वेद के इस सूक्त के पदों और मन्त्रों की रचना इस प्रकार की है कि चाहे भूमि का अर्थ छोटे राष्ट्र किया जाये और चाहे सम्पूर्ण धरती पर फैला हुआ विशाल महा-राष्ट्र, मन्त्र दोनों ओर समान-रूप से लगते चले जायेंगे। दोनों में से कोई सा अर्थ लेने में कोई आपत्ति न आयेगी। अपने मानसिक विकास की अवस्था के अनुसार मनुष्य भूमि का दोनों में से कोई भी अर्थ ले सकता है। यह सत्य है कि वेद का अपना असली अभिप्राय—यदि हम सारे वेद को समन्वय की दृष्टि से पढ़ें—तो यही प्रतीत होता है कि मनुष्यों को अपने मन का इतना ऊँचा विकास करना चाहिये कि वे सारी धरती को ही एक राष्ट्र समझ सकें। राज्य-संगठन की दृष्टि से भी वेद अन्तिम ध्येय 'आमन्त्रण' को ही रखता है। चाहे छोटे-छोटे राज्य बनाओ और चाहे 'आमन्त्रण' जैसा सारी धरती का एक महा-राष्ट्र बनाओ, राज्य-संघटन बनने के लिए उसके नीचे आने वाले भू-प्रदेश को 'मातृ-भूमि' समझना आवश्यक है। नहीं तो राज्य खड़ा ही नहीं हो सकता। वेद के मातृ-भूमि की भावना भरने वाले प्रसंगों का यही वास्तविक अभिप्राय है।

३

राजा का चुनाव

वेदों के राजनीति-विषयक स्थलों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति के मन में सबसे पहले और स्पष्ट रूप में जो विचार आता है वह यह है कि वैदिक राज्य-प्रणाली में राजा या मुख्य शासक चुना हुआ—प्रजा के बहुमत से पसन्द किया हुआ—होना चाहिए। वैदिक राज्य-प्रणाली में वंशानुगत एकतन्त्र राजत्व का स्थान नहीं है। इसे दिखाने के लिए वेदों के भिन्न-भिन्न स्थलों से अनेक मन्त्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुछ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं :

अग्नि-सूक्तों के प्रमाण

1. त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।

अथ० 2.6.3.

अर्थात्, 'हे (अग्ने)सम्राट् ! तुझे ये ब्राह्मण लोग (वृणते) चुन रहे हैं, तू (नः) हमारे इस (संवरणे) चुनाव में भी मंगलकारक हो।' यहाँ पर अग्नि का अर्थ सम्राट् ही है यह सारे सूक्त को देखने से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। सूक्त के चौथे मन्त्र में आता है, 'क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व' अर्थात् 'हे अग्ने ! तुम अपनी क्षत्रशक्ति (क्षत्रिय-लोगों) से पराक्रम के कार्य आरम्भ करो (सं + रभस्व)', और 'मित्रणाग्ने मित्रघा यतस्व' अर्थात् 'हे अग्ने तुम अपने मित्र विभाग (राज्य का वह विभाग जो दूसरे राष्ट्रों से मित्रता के प्रयत्न करता रहता है) द्वारा मित्रता स्थापना करने का प्रयत्न करो।' इन मन्त्रखण्डों में ठीक राजाओं की तरह अग्नि के दूसरे राष्ट्रों से विग्रह और सन्धि की चर्चा की गई है। पुनः उसी मन्त्र में कहा है, 'सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञाम्' अर्थात् 'सजात राजाओं का मध्यस्थ।' अग्नि के इन विशेषणों से यहाँ पर 'सम्राट्' का ही बोध होता है। नहीं तो 'अग्नि' के 'क्षत्रिय', उसके दूसरों से मित्रता स्थापित करने वाले विभाग, और उसके 'सजात' राजाओं का मध्यस्थ होने का कोई अभिप्राय समझ में नहीं आता। अग्नि का अर्थ सम्राट् करने पर सारे सूक्त की बड़ी सुन्दर संगति लगती है। यजुर्वेद 27.3 में भी,

2. त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।

ये शब्द ज्यों के त्यों आते हैं। उक्त अध्याय के चौथे मन्त्र में आता है, 'क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यम्' अर्थात् 'हे अग्ने तेरे लिए क्षत्र-शक्ति सुनियमित रहे।' पंचम मन्त्र में फिर कहा है, 'क्षत्रेणाग्ने स्वायुः संरभस्व' और 'सजातानां मध्यमस्था एधि राज्ञाम्'। अग्नि के ये विशेषण हलके परिवर्तन के साथ वहीं हैं जो अथ० 2.6.4. में आये हैं। यजु० 27.7 में 'अग्नि' का एक विशेषण 'क्षत्रमृत्' अर्थात् 'क्षत्र-शक्ति की पालना करने वाला' है। ये सारे विशेषण इस स्थल में सम्राट् परक ही अधिक संगत प्रतीत होते हैं। अथ० 2.6 सूक्त और यजु० अ० 27 मन्त्र 1-7 का एक ही विषय है। शब्द भी प्रायः एक से ही हैं।

3. त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन् नहुषस्य विस्पतिम् ।

इडामकृण्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यत्पुत्रो ममकस्य जायते ॥

ऋ० 1.31.11.

अर्थात्, 'हे (अग्ने) सम्राट् (देवाः¹) विद्वान् पुरुषों ने (आयवे²) मनुष्यों के लिए—उनके कल्याण और सुख-समृद्धि के लिये (त्वाम्) तुझको (प्रथमं) प्रथम—मुख्य (आयुम्) मनुष्य (अकृण्वन्) बनाया है। उन्होंने तुझे (नहुषस्य³) नियम-बन्धन में बँधे हुए इस राष्ट्र की (विश्वपतिम् अकृण्वन्) प्रजाओं का पति अर्थात् पालनकर्ता स्वामी बनाया है और (इडाम⁴) इस भूमि और इसमें रहने वाली प्रजा को (मनुषस्य) तुझ मनुष्य की (शासनीम्⁵) शासन करने की जगह बनाया है (यत्) जब कि (ममकस्य) मेरे (पितुः⁶) इस राष्ट्र की प्रजारूप पिता का (पुत्रः) तू पुत्र (जायते) सम्राट् रूप में उत्पन्न होता है।'।

इस मन्त्र में भी वही बात कही गई है। राजा प्रजाजनों द्वारा चुना हुआ होना चाहिए। मन्त्र में आये हुए 'अकृण्वन्' और 'जायते' शब्द यही कह रहे हैं। 'सम्राट् का विद्वानों द्वारा बनाया जाना और प्रजा-रूप पिता से उत्पन्न होना' इन शब्दों द्वारा उसके चुनाव को ही दूसरे रूप में कहा गया है। प्रजा का राजा पर कितना अधिकार है यह राजा के लिए प्रयुक्त हुए 'पुत्र' और प्रजा के लिए प्रयुक्त हुए 'पिता' शब्द से स्पष्ट ध्वनित हो रहा है। अग्नि के 'आयु', 'विस्पति' और 'मनुषस्य' ये विश्लेषण इसमें सन्देह नहीं रहने देते कि उसका अर्थ आग नहीं हो सकता। 'विस्पति' शब्द और मन्त्र का सारा वर्णन यह सिद्ध करते हैं कि यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् ही लेना चाहिए।

¹ विद्वानो हि देवाः । श० 3.7.3.10.

² आयुरिति मनुष्यनामसु पठितम् । नि० 2.3.

³ नहुष इति मनुष्यनामसु पठितम् । निष० 2.3. नह बन्धने नहिकलिहनीति उपच० । उणादि कोषे ।

⁴ प्रजा वा इडा । श० 21.5.4.3. इयं (पृथिवी) वा इडा । की० 9.2. गोर्वा इडा । श० 3.3. 1.4.

⁵ शिष्यते अस्यामिति शासनी करणाधिकरणयोश्चेति अधिकरणे त्युद् टिप्तात् डीप् ।

⁶ पिताः पितरः । श० 7.1.1.4. मन्त्रे बहुष्वेवत्य विवक्षयैकवचनम् ।

जिस सूक्त में यह मन्त्र आया है वहाँ आने वाले अग्नि के विशेषण और उसके कार्यों के वर्णन भी यही बताते हैं कि यहाँ अग्नि का अर्थ आग न लेकर शरीरधारी सम्राट् ही लेना चाहिए। उदाहरण के लिए सूक्त में आये 'ऋषिः' अर्थात् तत्त्वदर्शी विद्वान् (ऋग्० 1.31.1), 'कविः' क्रान्तदर्शी विद्वान् अथवा कवि (1.21.2), 'मेधिरः मेधावान्' (1.31.1), 'प्रमतिः' प्रकृष्ट मननशील बुद्धि वाला (1.31.10), 'सुवीर' उत्तम वीर (1.31.10), इत्यादि विशेषणों वाला अग्नि कभी आग नहीं हो सकता। यह कोई चेतनावान् पुरुष ही होना चाहिए। साथ ही, 'तव व्रते कवयो विद्वानापसो जायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः' (1.31.1) अर्थात् 'तेरे नियमों (व्रते) में चलते हुए सामान्य मनुष्य अथवा मरने-मारने वाले सैनिक (मरुतः)¹ क्रान्तदर्शी (कवयः) ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाले (विद्वानापसः)² और चमकते हुए शस्त्रास्त्रों वाले (भ्राजदृष्टयः) अथवा दीप्तिमान् नेत्रों वाले (भ्राजद्-दृष्टयः) हो जाते हैं।' 'त्वमग्ने वृजिनवर्तिनि नरं सक्मन् पिपिषि विदथे विचर्षणे' (1.31.6), अर्थात् 'हे सबको पहचानने वाले विशेष ज्ञानी (विचर्षणे) सम्राट् (अग्ने !) आप पाप मार्ग पर चलने वाले मनुष्य को दण्डाति द्वारा सुधार कर करने योग्य (सक्मन्)³ कर्म या ज्ञान में (विदथे)⁴ लगाकर उसका पालन करते हो।' 'यः शूरसाता परितक्म्येधने दध्रेभिश्चित् समृता हंसि भूयसः' (1.31.6) अर्थात् 'जो युद्ध उपस्थित होने पर थोड़े से सिपाहियों से भी बहुत अधिक शत्रुओं को मार भगाता है।' 'त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः' (1.31.8) अर्थात् 'हे सम्राट् (अग्ने) हमारे राष्ट्र में यशस्वी शिल्पी लोग (कारुं) तैयार कीजिए, जिससे हमें धनों की प्राप्ति हो।' 'पितासि नस्त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्' (1.31.10) अर्थात् 'हे अग्नि (सम्राट्) ! तू हमारी आयु बढ़ाने के उपाय करने वाला (वयस्कृत्) पिता है और हम तेरे सम्बन्धी हैं।' 'शास्सि प्र दिशो विदृष्टरः' (1.31.14) अर्थात् 'तू औरों से अधिक ज्ञानी सारी दिशाओं का—उनमें रहने वाले प्राणियों का—शासन करता है।' इत्यादि अग्नि के कार्य यह सिद्ध करते हैं कि वह सामान्य-पुरुष नहीं किन्तु सम्राट् है। सारा सूक्त सम्राट् अर्थ में ही अधिक संगत लगता है।

4. तं त्वा देवासोजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय ।

ऋग्० 1.59.2.

अर्थात्, 'हे (वैश्वानर)⁵ सब मनुष्यों के हितकारी अग्निदेव—सम्राट् (देवाः)

¹ विद् वै मरुतः । तै० 1.8.3.3. विशो मरुतः । श० 2.5.2.6. विशो वै मरुतः । श० 3.9.1.18. मरुत् का अर्थ मरने-मारने वाला सैनिक ।

² विद्वानानि अपांसि कर्माणि येषां ते । ज्ञातकर्माणः । वेत्तेरोणादिके मकि विद्मो वेदनं तदस्यास्तीति विद्वानः । अपः इति कर्म नाम । निघ० 2.1.

³ समवेतु योग्य—एव समवाये अन्येभ्योपि दृश्यन्ते इति मनिन् ।

⁴ वेत्तेविन्दतेर्वा रुदिविदीत्योणादिकोय प्रत्ययः । विदथ इति यज्ञ नामसु पठितम् । निघ० 3.17. विदथानि वेदनानि इति निरुक्तम् । 6.2.7.

⁵ विश्वे चेमे नराः विश्वानराः तत्सम्बन्धी वैश्वानरः तस्येदमित्यण् ।

विद्वानों ने (आर्याय) वर्ण मर्यादा में रहने वाले चारों प्रकार के आर्य लोगों के कल्याण के लिए (तं) प्रसिद्ध (त्वा) तुझको (ज्योतिः) मार्ग-प्रदर्शक प्रकाशक रूप (अजनयन्त) उत्पन्न किया है। अर्थात् अव्यवस्था रूप अन्वकार न होने पावे और सबको उचित कर्तव्य-मार्ग दीखता रहे इसलिये तुझे राजा रूप में उत्पन्न किया है।¹ यहाँ भी स्पष्ट रूप में कहा गया है कि सम्राट् प्रजा के विद्वान् पुरुषों द्वारा बनाया जाता है, चुना जाता है। वह वंशानुगत—जिसके राजा बनने में प्रजा के मत का कोई स्थान न हो—नहीं होता।

इस प्रसंग में अग्नि का अर्थ आग न करके राजा ही लेना चाहिए यह बात सूक्त के अग्निविषयक, 'राजा कृष्टीनामसि मानुषीणाम्' (1.59.5) अर्थात् 'हे अग्नि ! तू मनुष्य प्रजाओं का राजा है;' 'नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनां उपमिद् ययन्थ' (1.59.1) अर्थात् 'हे अग्नि ! तू मनुष्यों का (क्षितीनां)² व्यवस्था के सूत्र में बाँधने वाला (नाभिः)³ है, गाड़कर खड़ा किया हुआ (उपमिद्)³ घर का स्तम्भ जैसे छत को सम्भाले रखता है वैसे ही तू मनुष्यों को सम्भाले रहता है (ययन्थ)'; 'आ सूर्यो न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेग्ना वसूनि । या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा' (1.59.3) अर्थात् 'जैसे सूर्य में किरणें स्थिर होकर रहती हैं—उससे कभी पृथक् नहीं होतीं—उसी प्रकार सब मनुष्यों के हितकारी (वैश्वानरे) तुझ अग्नि (सम्राट्) में सब धन रहते हैं—उससे अलग नहीं होते; पर्वतों, औषधियों (अनाज), जलों और मनुष्यों में जो भी धन है उसका तू ही राजा है'; इत्यादि वर्णनों से सुस्पष्ट है। आग अर्थ में सारा सूक्त सुन्दर ढंग से घट ही नहीं सकता।

5. त्वामग्ने मनीषिणः सम्राजं चर्षणीनाम् ।

देवं मर्तासि इन्धते समध्वरे ।

—ऋग् 3.10.1.

6. तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।

हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम् ॥

—ऋग् 3.10.9.

7. अग्निं वर्धन्तु नो गिरो यतो जायत उक्थ्यः ।

महे वाजाय द्रविणाय दर्शतः ॥

—ऋग् 3.10.6.

इन तीनों मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—'(अग्ने) हे राजन् ! (त्वां) तुझ (देवं)⁴ विद्वान् अथवा दिव्य गुणों वाले (चर्षणीनां) मनुष्यों के (सम्राजं)

¹ क्षितिरिति मनुष्यनामसु पठितम् । निष० 2.2.

² णह बन्धने औणादिक इन् हस्येभः ।

³ उप पूर्वात् मिनोतेः प्रक्षेपणार्थात् कर्मणि क्विप् ।

⁴ विद्वान्सो हि देवाः । श० 3.7.3.10. देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । निरुक्तम् 7.4.15. दीव्येतेर्वा ।

सम्राट् को (मनीषिणः) बुद्धिमान् (मर्तासः) मनुष्य (अध्वरे) राजसूय यज्ञ में (समिन्धते) प्रकाशित करते हैं। पहले वह अज्ञात अवस्था में पड़ा था। राज्याभिषेक द्वारा प्रकाशित हो जाता है।¹

‘(तं त्वा) उस तुझको हे अग्ने राजन् ! (विपन्यवः)¹ मेघावी (जागृवांसः) सदा अपने कर्तव्य कर्म में जागते रहने वाले, आलस्य-प्रमाद के वशीभूत न होने वाले (विप्राः) ज्ञानी ब्राह्मण लोग (समिन्धते) प्रकाशित करते हैं—राजारूप में लोगों के सामने लाते हैं (हव्यवाहम्) तू भोक्तव्य पदार्थों का प्राप्त कराने वाला है (सहोवृधम्) तू बल में बढ़ा हुआ है अथवा प्रजाओं के बल को बढ़ाने वाला है (अमर्त्यम्)² और तू अपने यशस्विता आदि गुणों के कारण कभी न मरने वाला है।’

(अग्निम्) इस सम्राट् को (नः) हमारी (गिरः) वाणियाँ (वर्धन्तु) बढ़ाएँ, राजसिंहासन पर बैठारें (यतः) जिनके द्वारा (उक्थ्यः) प्रशंसनीय गुणों वाला (दर्शतः) दर्शनीय रूप वाला यह राजा (महे) बड़े (वाजात) अन्न अथवा बल (द्रविणाय) और धन की प्राप्ति के लिए (जायते) राजा के रूप में उत्पन्न होता है।’

इन मन्त्रों में राजा के प्रजा के विद्वान् पुरुषों द्वारा चुने जाने की स्पष्ट सूचना मिल रही है। पहले दो मन्त्रों में ‘विद्वान् ब्राह्मणादि राजसूय-यज्ञ में प्रकाशित करते हैं’ इन शब्दों द्वारा यही चुनाव की बात दूसरे शब्दों में कही गई है। तीसरे मन्त्र में साफ ही कह दिया है कि इसे हमारी वाणियाँ उत्पन्न करती हैं। यदि प्रजा के लोगों की वाणियाँ मिलकर यह न कहतीं कि यह व्यक्ति हमारा राजा हो जाये तो वह कभी सम्राट् नहीं बन सकता था। मन्त्र में प्रयुक्त हुए ‘नः’—हमारी—और ‘गिरः’—वाणियाँ—ये बहुवचनान्त शब्द विशेष ध्यान से देखने योग्य हैं। प्रजा के सब लोग मिलकर राजा के चुनाव में अपना-अपना मत देते हैं। किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी समुदाय विशेष के समर्थन मात्र से ही कोई व्यक्ति राजसिंहासन पर नहीं बैठ सकता; यह इन बहुवचनान्त प्रयोगों की ध्वनि है। अग्नि का अर्थ इन मन्त्रों में ‘सम्राजं चर्षणीनाम्’ अर्थात् ‘मनुष्यों का सम्राट्’ इस विशेषण तथा पूर्व मन्त्रों में आये हुए विशेषणों के बल पर सम्राट् ही करना होगा, आग नहीं। सारे सूक्त का अर्थ भी सम्राट् अर्थ में अधिक संगत बैठता है।

¹ विपन्युर्मेघाविनामसु पठितम्। निष० 3.15.

² अग्नेरायुर्मनुषो ना एवमादिषु मनुष्यत्ववाचकेषु विशेषेणेषु बहुश उपलभ्यमानेषु तस्मिन् अमर्त्यत्वस्य विनाशप्रतियोगिनो दूरापास्ततया प्रस्तुत-मन्त्रे मर्त्यमिति विशेषणं यशः शरीररूपेणामरण-धर्मतामङ्गीकृत्य योज्यम्। तदिदमग्ने राजत्वपक्षे। तस्य परब्रह्मवाचकत्वपक्षे त्वाय्वादीनि विशेषणानि तत्र योगमाश्रित्य नेयानि। मन्त्राणामन्ततः परब्रह्मणोभिद्येयत्वात् परे ब्रह्मणि चाय्वादीनां योगमनाश्रित्य नेतुमशक्यत्वात्। अत्र देवानाममृतत्वे शतपथब्राह्मणमपि द्रष्टव्यम्—‘देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिर। त उभय एवानात्मान आसुर्मत्यां ह्यासुरनात्मा हि मर्त्यः’...॥ अथैनं देवा अन्तरात्मन्नादधत त इमममृतमन्तरात्मन्नाधायामृता भूत्वास्तर्थाभूत्वा स्तर्थान्सपत्नान् मर्त्यान्भ्यभवंस्तथो एवैव एतद् अमृतमन्तरात्मन्नाधत्ते। नामृतत्वस्याशास्ति। सर्वमायुरेति अस्त्यो ह्येव भरति न हैनं सपत्नस्तुतृपमाणश्च स्तृणुते’...॥ श० 2.2.8, 14.

8. अग्निं होतारं प्र वृणे मियेघे गृत्सं कविं विश्वविदममूरम् ।
स नो यक्षद् देवताता यजीयान् राये वाजाय वनते मघानि ॥

ऋग् ० 3.19.1.

यहाँ भी राजा के चुने जाने की स्पष्ट सूचना है। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—‘(अग्नि) सम्राट् को (मियेघे) इस राजसूय-यज्ञ में (प्रवृणे)¹ में भली-भाँति चुनता हूँ (होतारं) यह हमसे कर लेने वाला और बदले में कल्याण देने वाला है (गृत्सं)² नये-नये ज्ञान तत्त्वों की आकांक्षा रखने वाला है (कविं)³ क्रान्तदर्शी विद्वान् है (विश्वविदम्) सभी विषयों को जानने वाला है (अमूरम्)⁴ अकुण्ठित बुद्धि वाला है (यजीयान्)⁵ औरों से अधिक संगठनरूप लोकोपकार के पवित्र यज्ञ-कर्म करने वाला (सः) वह चुना हुआ सम्राट् (नः) हम सब को (देवताता)⁶ दिव्य गुणों वा भावों की प्राप्ति के निमित्त (यक्षत्) देवपूजा, संगतिकरण और दान करने वाला बनाये और (राये) हमें ऐश्वर्य देने के लिए (वाजाय) अन्न और बल देने के लिए (मघानि) सब प्रकार के धनों को (वनते)⁷ प्राप्त करे।’

अग्नि का अर्थ यहाँ आग नहीं लिया जा सकता। यह मन्त्र-गत अग्नि के विशेषणों से स्पष्ट है। ‘भूरीणि हि त्वे दधिरे अनीकाग्ने’ (3.19.4.) अर्थात् ‘हे अग्नि तेरी बहुत सारी सेनाएँ हैं; और ‘स तेजीयसा मनसा त्वोत उत शिक्ष’ (3.19.3.) अर्थात् ‘तेरे से रक्षित मनुष्य तेज—सूक्ष्म—मनवाला बन जाता है, तू हमें और शिक्षा दे’; इत्यादि अग्नि-विषयक सूक्त के वर्णन सम्राट् पर ही अधिक संगतरीति से लग सकते हैं आग पर नहीं। मन्त्र में चुनाव के लिए स्पष्ट ‘वृज्-वरणे’ धातु का प्रयोग किया गया है।

9. दश क्षिपः पूर्व्यं सीमजीजनन्त्सुजातं मातृषु प्रियम् ।
अग्निं स्तुहि दैवतातं देवश्रवो यो जनानामसद्वशी ॥

ऋग् ० 3.23.3.

¹ यह एक वचनान्त प्रयोग बहुवचन के अर्थ में है।

² मेघाविनामसु पठितम् । निधं० 3.15. गृधेरभिकांक्षार्थात् औणादिकः सप्रत्ययोन्यस्य वकारश्च ।

³ मेघाविनामसु पठितम् । निधं० 3.15. कविः क्रान्तदर्शनो भवति । निरु० 12.2.12.

⁴ मुह वैचित्ये निष्ठायां रूपम् । रेफश्छान्दसः । नवा-समासः ।

⁵ यष्टृतरः । यज्ञ देवपूजासंगतिकरणदानेषु ॥ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म । श० 1.7.1.5. ब्रह्म यज्ञः । श० 3.1.4.15. यज्ञो वैजान्तम् । श० 2.4.2.1 वाग् हि यज्ञः । श० 1.5.2.7. आत्मा वै यज्ञः । श० 6.2.1.7. पुरुषो यज्ञः । श० 3.1.4.23. पशवो यज्ञः । श० 3.2.3.11. यज्ञो वा आपः । श० 1.1.1.12. रेतो वान्न यज्ञः । श० 7.3.2.9. यज्ञो वै वसुः । श० 1.7.1.9, 14 एवं यज्ञशब्दस्य ब्राह्मणेषु भूयसी प्रवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥ निधं० 3.17. यज्ञनामसु प्रजापतिरित्ययमपि द्रष्टव्यो यत्किमपि प्रजापालकं कर्म तदेव यज्ञ इति येन ध्वन्यते ॥

⁶ देवशब्दात् स्वार्थे सर्वदेवात्तात्तिलि निमित्ते सप्तमी सुपां सुलुगिति सुपो ङादेशः ॥

⁷ वनतेः संभक्त्यर्थस्य लोटि लट् व्यत्ययेनात्मनेपदम् ।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—(पूर्वम्)¹ सब गुणों में पूर्ण (सीम) इस अग्नि—सम्राट्—को (क्षिपः)² फैली हुई (दश)³ श्रेष्ठव्यक्ति को पहचान कर पकड़ लेने वाली अथवा दसों दिशाओं में निवास करने वाली प्रजाओं ने (अजीजनन्) राजा रूप में उत्पन्न किया है। (सुजातं) इस प्रकार प्रजाओं द्वारा चुना जाने से यह राजा सु-जात हो गया है (मातृषु-प्रियम्) अपनी प्रजारूप माताओं को यह प्यारा है। (दैववातं)⁴ लोकोपकारी संगठन रूप यज्ञ के कर्मों में लगे रहने वाले अथवा अपने भाग्य-रूपी वायु से सम्राट् के ऊँचे पद पर पहुँचा दिये गये (अग्निम्) इस सम्राट् की (स्तुति) करो—उसका सत्कार करो (देवश्रयः) देवों जैसे बल, ज्ञान वा यश वाला (यः) जो यह (जनानाम्) प्रजाओं का (वशी) वश में रखने वाला (असत्) हो रहा है।'

इस मन्त्र में भी राजा के चुनाव का स्पष्ट वर्णन है। राजा को चुनने वाली प्रजाओं के लिए 'मातृ' शब्द का प्रयोग यह ध्वनित कर रहा है कि प्रजाओं का राजा पर कितना अधिकार होना चाहिए। मन्त्र-गत वर्णन तथा सूक्त में आये हुए 'युवा', 'कवि' (3.23.1) आदि विशेषण और 'अग्ने वि पश्य बृहताभि रायेषां नो नेता भवतादनु द्यून्' (3.23.2) अर्थात् 'हे अग्ने (सम्राट्) बहुत धन के साथ हमारी ओर देख अर्थात् हमें धन दे और प्रतिदिन हमें अन्न प्राप्त कराने वाला बन'। 'स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूवस्मे' (3.23.5) अर्थात् 'हे अग्ने (सम्राट्) हमारे पुत्र जिससे योग्यता और शक्तियों के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देने वाले (विजावा)⁵ बन सकें इस प्रकार की तेरी जो कल्याणकारिणी मति है उसे हमारे लिए लगा'; इत्यादि अग्नि-विषयक चर्चाएँ अग्नि के अर्थ सम्राट् में ही सुसंगत हो सकती हैं। आग्न अर्थ में इनकी संगति दुःशक्य है।

10. अग्निं वृणाना वृणते कविऋतुम् ।

ऋग्० 5.11.4

यहाँ भी राजा के चुने जाने का स्पष्ट प्रतिपादन है। शब्दार्थ है—'(कविऋतुम्)⁶ क्रान्तदर्शी विद्वानों जैसे कर्म करने वाले इस (अग्निम्) सम्राट् को (वृणानाः) चुनने वाले लोग (वृणते) चुनते हैं।' राजा के चुनाव का इससे स्पष्ट और क्या प्रतिपादन हो सकता है? चुनने वालों के लिये 'वृणानाः' और चुनने के

¹ पूर्व पूरणे इत्यस्मात्पूर्वशब्दे सिद्धे स्वार्थे यत् ।

² क्षिप्यन्ते इति क्षिपः औणादिकः कर्मणि क्विप् ।

³ दश दशने—औणादिकः कनिन् । दशन्ति गुणभूयिष्ठं पुरुषं दंष्ट्रास्त्रिव गृहीत्वा लोकोपकार-कर्मण्यादधतीति दश । दशनस्य बलवद्ग्रहणार्थतामभिप्रेत्यैवास्माद्धातोः संदश (संडासी) शब्दः सिद्धयति । यद्वा दशसु दिक्षु व्याप्तासु प्रजासु दशेत्यौपचारिकः प्रयोगः ।

⁴ वातो वै यज्ञः । श० 3.1.3.36. देवेभ्यो हितो वातो देववात स्तस्मिन्निवसति भवतीति वा देववातस्तस्यनिवासस्तत्र भव इति वाण् । यद्वा दैव-शब्दस्य प्रसिद्धं भाग्यमिति वात शब्दस्य वायुरिति चार्थमादाय दैवमेववातः दैववातस्तेन निवृत्त इत्यग्निं दैववातस्तम् ।

⁵ विविधं जायते विजावा । जायतेः क्वनिप् ।

⁶ ऋतुरिति कर्मनामसु पठितम् । निघं० 2.1.

लिए उसी की मूल धातु 'वृञ्- वरणे' का प्रयोग किया गया है।

सूक्त में अग्नि का अर्थ सम्राट् ही लेना अधिक सुसंगत है यह अग्नि के 'जनस्य गोपा अजनिष्ट' (5.11.1.) अर्थात् 'हे अग्नि ! तू लोगों की घरती की— राष्ट्र की रक्षा करने वाला (गोपाः)¹ बनाया गया है।' 'तुभ्येदमग्ने मधुमत्तमं वचस्तुभ्यं मनीषा इयमस्तु शं हृदे । त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर्महीरा पृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च ।' (5.11.5) अर्थात् 'तुम्हें हे सम्राट् (अग्ने) हमारा बहुत अधिक मधुर वचन पहुँचे, हमारी यह बुद्धि तुम्हारे हृदय के लिये शान्ति देने वाली हो, जैसे नदियाँ (अवनीः) समुद्र को भर देती हैं वैसे ही हमारी ये बड़ी (महीः) वाणियाँ तुझको पूरा करती और बल से बढ़ाती हैं'; इत्यादि वर्णनों से स्पष्ट है। आग में ये वर्णन सुसंगत नहीं हो सकते। आग हमारे मधुर वचन क्या सुनेगी, उसके हृदय को हमारी बुद्धियाँ क्या हर्ष और शान्ति देंगी। हमारी बड़ी वाणियों से वह क्या पूरा होगा और उसे बल प्राप्त होगा ? राजा अर्थ में ये सारी बातें साफ हो जाती हैं। राजा को हमारी वाणियों से ही बल प्राप्त होता है। जब राष्ट्र के लोग मिलकर कह देते हैं कि तू आज से हमारा राजा है, तो उसे राज्य-शक्ति का सारा बल मिल जाता है। वाणियों (गिरः) का बड़ी भारी (महीः) यह विशेषण यह ध्वनित करता है कि राष्ट्र के सारे लोग मिलकर उसे राज्य का अधिकार देते हैं। तभी उसमें शक्ति आती है। अग्नि के सूक्त-गत 'सुक्रतुः' 'सुदक्षः' 'कविः' आदि विशेषण भी अग्नि के आग-परक अग्नित्व का निषेध करते हैं। आग अर्थ में ये विशेषण चरितार्थ नहीं हो सकते।

11. आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे ।

वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥

ऋग्० 5.28.6.

राजा के चुनाव का उपदेश यहाँ भी सुस्पष्ट है—'हे मनुष्यों ! (अग्नि) सम्राट् को (वृणीध्वम्) चुन लो (प्रयति) शुरू हुए (अध्वरे) इस राजसूय-यज्ञ में (दुवस्यत) उसे बुलाकर सत्कृत करो और (आजुहोत) अग्निहोत्र द्वारा अभिषिक्त कर दो (हव्यवाहनम्) इस विधि से चुना हुआ यह तुम्हारे लिए हव्यवाहन होगा—भोग्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाला होगा।' चुनाव के लिए फिर 'वृञ् वरणे' धातु का प्रयोग किया गया है। सूक्तगत, 'अग्ने शर्धं महते सौभाग्यं तव द्युम्नात्युत्तमानि सन्तु, सं जास्पत्यं सुयममा-कृणुष्व शत्रूयतामभितिष्ठा महांसि' (5.28.3) अर्थात् 'हे सम्राट् ! (अग्ने) हमारे सौभाग्य के लिए तू पराक्रम कर (शर्धं)² तेरे राष्ट्र में उत्तम ऐश्वर्य हों, तू हमारे ग्रहस्थ जीवनों को (जास्पत्यम्)³ सुनियमित कर, और जो हमारे राष्ट्र पर शत्रुता करके आते हैं (शत्रूयताम्) उनका प्रतिरोध कर'; इत्यादि अग्नि के

¹ गौरिति पृथिवीनामसु पठितम् । निषं० 1.1. गां पातीति गोपाः । अत्र भूप इति संस्कृतवाङ्मये भूयः प्रयुज्यमानं राज्ञो नामस्वेकतमं विप्रष्टव्यम् ।

² शद्वन् सहस्वेति सायणः । शर्धं इति बलनामसु पठितम् । निषं० 2.9.

³ जाः जाया च पतिष्वच जास्पती तयोः कर्म जास्पत्यम् ।

कार्य राजा के ही हो सकते हैं। आग के नहीं। आग इनमें से कोई बात नहीं कर सकती। उत्तम संचालित राज्य यह सब कुछ कर सकता है।

12. मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।

कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥

ऋ० 6.7.1; यजु० 7.24.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—‘(देवाः) विद्वान् पुरुषों ने (दिवः)¹ व्यवहार, ज्ञान और आनन्द आदि के (मूर्धानं)² मूर्धा स्थानीय (पृथिव्याः) पृथिवी के—राष्ट्र के (अरतिं) सब प्रदेशों में पहुँच सकने वाले (वैश्वानरं) सब लोगों के लिए हितकारी (ऋते)³ सत्यज्ञान और यज्ञों—संगठित समारम्भों—के निमित्त (आजातम्) उत्पन्न हुए (कविम्) क्रान्तदर्शी विद्वान् (जनानां) लोगों के यहाँ आवश्यकता होने पर (अतिथि) झूट पहुँच जाने वाले (पात्रं) रक्षा करने वाले इस (अग्निम्)⁴ अग्रणी पुरुष को (आ) मिलकर (सम्राजं) सम्राट् (जनयन्त) बनाया है। (आसन्—आजनयन्त) अपने अन्दर उसे मुख के स्थान में रहने वाला—प्रधान बनाया है।’ इस मन्त्र में भी सम्राट् के विद्वान् पुरुषों द्वारा बनाये जाने का स्पष्ट वर्णन है। मन्त्र में उसके बनाये जाने की सूचना ‘आ जनयन्त’ इस क्रिया और उसी के ‘आजातम्’ इस प्रत्ययान्त प्रयोग द्वारा, दो बार दी गई है। मन्त्रगत अग्नि का विशेषण ‘सम्राट्’ उसके आग अर्थ को सूक्त में सर्वथा निषिद्ध कर देता है। ‘त्वद् विप्रो जायते वाज्यं न त्वद् वीरासो अभिमातिषाहः। वैश्वानर त्वमस्मासु घेहि वसूनि राजन् स्पृहयाय्याणि’ (6.7.3) अर्थात् ‘अग्नि राजन् (अग्ने—राजन्) ! तेरे कारण ब्राह्मण ज्ञानी हो जाता है, तेरे कारण अभिमानी शत्रुओं का पराभव करने वाले वीर उत्पन्न होते हैं, हे सब के हितकारी राजन् ! आप हमें चाहने योग्य धन दीजिये,’ इत्यादि सूक्त में आये हुए अग्नि के वर्णन भी यही सिद्ध करते हैं कि यहाँ अग्नि का अर्थ राजा ही लिया जा सकता है, आग नहीं। आग में ये वर्णन भली-भाँति संगत ही नहीं हो सकते। इस मन्त्र में पहले मन्त्र में आये हुए ‘सम्राट्’ पद के अतिरिक्त ‘राजन्’ विशेषण भी आया है जो कि अग्नि का अर्थ राजा सिद्ध करने में एक प्रबल प्रमाण है।

13. विप्रं विप्रासोवसे देवं मर्तास ऊतये ।

अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥

ऋ० 8.11.6.

यहाँ भी राजा के चुनने का वर्णन है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—‘(देवं) दिव्य गुणों वाले (विप्रं) मेधावी (अग्निं) इस सम्राट् को हम (विप्रासः) मेधावी

¹ दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्ति गतिषु ।

² मूर्ध्वन्मुख्यं व्यवहारादीनां प्रधानरूपेण निष्पादकम् ।

³ ऋतमिति सत्यनामसु पठितम् । निघं 3.10. ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे इत्येवं व्याचक्षाणो-यास्क ऋतस्य यज्ञवाचकतामयि स्फुटयति । निरु० 6.22.94. ऋते इति निमित्ते सप्तमी ।

⁴ अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति । निरु० 7.4.14.

(मर्तासः) मनुष्य लोग (ऊतये) अपनी रक्षा के लिए (गीभिः) अपने वचनों से (हवामहे) बुलाते हैं।' यहाँ स्पष्ट कथन है कि राजा राज्य करने के लिये प्रजाजनों द्वारा बुलाया जाता है। अपने जन्मगत अधिकार से वह राजा नहीं बन जाता है। अग्नि के सूक्त में आये हुए 'त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्व' (8.11.1) अर्थात् 'हे अग्निदेव ! तू मनुष्यों में से एक नियमों का पालन कराने वाला है,' 'स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि' (8.11.3) अर्थात् 'हमारे द्वेषियों को युद्ध करके परे भगा दे'। 'विशो विश्वा अनु प्रभुः समत्सु हवामहे' (8.11.8) अर्थात् 'तू सारी प्रजाओं का प्रभु है, तुझे हम युद्ध में अपनी रक्षा के लिए बुलाते हैं,' इत्यादि वर्णन असंदिग्ध रीति से सिद्ध करते हैं कि यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् है। आग में ये वर्णन संगत नहीं हो सकते।

14. मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम् ।

तमिदमं हविष्या समानमित्तमिन्महे वृणते नान्यं त्वत् ॥

ऋ० 10.91.8.

अर्थात् (मेधाकारं) राष्ट्र में बुद्धि बढ़ाने वाले (विदथस्य) यज्ञों के—लोकोपकारी संगठित कर्मों के (प्रसाधनम्) सिद्ध करने वाले (होतारं)¹ राज्य में दिव्यगुणों और भावनाओं को बुलाने वाले (परिभूतम्) शत्रुओं का सबसे बढ़कर पराभव करने वाले (मतिम्) मननशील (तं) प्रसिद्ध पुरुष को (अमं) छोटे (हविषि)² कर लेने के निमित्त अर्थात् छोटे राष्ट्रों में (इत्) भी (महे) और बड़े में (इत्) भी (समानं) मिलकर (अग्निं) अग्रणी सम्राट् (आवृणते) चुनते हैं (अन्यम्) अन्य किसी को (न) नहीं ।

15. त्वामिदत्र वृणते त्वायवो होतारमग्ने विदथेषु वेधसः ।

यद्देवयन्तो दधति प्रयांसि ते हविष्मन्तो मनवो वृक्तबर्हिषः ॥

ऋ० 10.91.9.

अर्थात् '(अग्ने) हे अग्नि सम्राट् ! (होतारं) राज्य में दिव्य गुणों और भावनाओं को बुलाने वाले (त्वाम्) तुझको (इत्) ही (देवयन्तः)³ अपने को दिव्य गुणों वाला बनाने की इच्छा वाले (वृक्तबर्हिषः)⁴ प्रजाओं को कुमार्ग से वर्जित करने वाले (हविष्मन्तः) राज्य को सब प्रकार से कर-रूप हवि देने वाले (वेधसः) ज्ञानी (मनवः)⁵ मनुष्य (अत्र) इस राज्य में (वृणते) चुनते हैं । कब ? (यत्) जबकि (ते) वे

¹ होतारं ह्यातारम् । जुहोतेर्होतृत्योणंवाभः । निरु० 7.4.15. देवानामाह्वतारमिति सायणः ।

² हु दानादनयोरित्यस्माद्धातोर्हविः शब्दः सिद्धयति । प्रजाभ्यो राज्ञा आदेयो भागो हविरित्यभिधीयते । अत्र च हविः शब्देन हविषो दातु राष्ट्रमुपलक्ष्यते ।

³ देवान् आत्मन इच्छन्तीति देवयन्ति शतरि देवयन्तः ।

⁴ वृक्तं कुमार्गभ्यो निवारितं बर्हिः प्रजा यैस्ते वृक्तबर्हिषः । वृजी वर्जने । प्रजा वै बर्हिः ।

श० 1.5.1.16. अयं लोको बर्हिः । श० 1.4.1.24.

⁵ मनवो मनुष्या इति सायणः । ये विद्वासस्ते मनवः । श० 8.6.3.18.

(प्रयांसि)¹ राज्य के लिये अन्नादि करों को (दधति)² देते हैं ।'

'जब कि वे राज्य के लिए देय अन्नादि करों को देते हैं' इस वाक्य का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि सामान्य अवस्था में चुनाव में भाग वही ले सकता है जो कि राज्य को कुछ न कुछ देता हो । राज्य किसी को मुक्त कर दे यह और बात है । पर स्वयं कोई व्यक्ति राज्यांश देने से इनकार करके चुनाव में भाग नहीं ले सकता ।

इन दोनों मन्त्रों में भी राजा के चुनाव का स्पष्ट वर्णन है । चुनाव के लिए 'वृज् वरणे' धातु का प्रयोग किया गया है । इन मन्त्रों में जो वर्णन है वह राजा पर ही सुसंगत रीति से घट सकता है । आग पर वह नहीं घट सकता । इसी प्रकार सूक्त के 'सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित्, वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः' (10.91.3) अर्थात् 'हे अग्नि (सम्राट्) ! तू बलों के कारण उत्तम बली है अथवा तेरे पास चतुर-पुरुष रहने से तू बड़ा चतुर है (सुदक्षः दक्षैः)³, कर्म करने से तू उत्तम कर्म करने वाला कहलाता है, काव्य के कारण तू सब कुछ जानने वाला कवि है, तू धनों का राष्ट्र में बसाने वाला होकर रहता है, द्युलोक और पृथिवीलोक जिन धनों को पुष्ट करते हैं—बनाते हैं—उनका तू ही स्वामी है'; इत्यादि अग्नि के विशेषण भी आग में संगत नहीं हो सकते । एक योग्य राजा में ही इनका समन्वय भली-भाँति हो सकता है ।

16. नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।

इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥

यजु० 11.76.

यहाँ भी राजा के चुनाव की स्पष्ट सूचना है । मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—'(पृथिव्याः) पृथिवी के (नाभा) मध्य में अर्थात् राष्ट्र की राजधानी⁴ में (अग्नौ) अग्नि के (समिधाने) अच्छी प्रकार प्रदीप्त होने पर अर्थात् राजसूयादि यज्ञ करके (बृहते) बड़े (रायस्पोषाय) धन और उससे प्राप्त होने वाली पुष्टि के लिए (इरम्मदं) अन्न से हमें आनन्दित करने वाले (बृहदुक्थम्) बड़े प्रशंसनीय (यजत्रं) सत्कार करने योग्य, संगति करने योग्य (जेतारं) विजयशील (पृतनासु) सेनाओं में (सासहिं) शत्रुओं का पराभव करने वाले (अग्निम्) अग्रणी सम्राट् को (हवामहे) हम राज्य के लिए बुलाते हैं ।'

¹ प्रय इति अन्न नामसु पठितम् । निधं० 2.7.6. हवींषि इति सायण ।

² प्रयच्छन्तीति सायणः ।

³ दक्ष इति दल नामसु पठितम् । निधं० 2.9. दक्ष शब्दः संस्कृते चतुरवाचकोपि प्रसिद्धः । दक्ष वृद्धौ श्रीधार्ये च, दक्ष गतिर्हिंसनयोरित्याभ्यां दक्षशब्दो निष्पद्यते ।

⁴ राजघाट्येव कस्यापि राष्ट्रस्य केन्द्रस्थानं प्रधानस्थानं भवति, नाभिर्यथस्मासु केन्द्रस्थानं तथा राजधानी राष्ट्रे । णह् बन्धने इत्यस्माक्षिपन्नस्य नाभिशब्दस्य योगार्थोऽप्यत्र विमर्शनीयः । राजधानी हि राष्ट्रमेकसूत्रे संनिबध्नाति ।

‘हवामहे’—बुलाते हैं—शब्द स्पष्ट ध्वनित कर रहा है कि प्रजाओं के बुलाने पर ही कोई व्यक्ति राजा बन सकता है। वंश-परम्परा के अधिकार से किसी को किसी राष्ट्र का राजा बनने का अधिकार नहीं है। ‘अग्नि के प्रदीप्त होने पर हम अग्नि को बुलाते हैं’ मन्त्र के इस वाक्य से निर्विवाद सिद्ध हो रहा है कि बुलाया जाने वाला अग्नि जलने वाले अग्नि से सर्वथा भिन्न है। और इस ‘बुलाये जाने वाले’ अग्नि के ‘जेता’ आदि विशेषण निश्चित कर रहे हैं कि इस प्रकरण में वह राजा का वाचक है। इस मन्त्र से आगे आने वाले 5 मन्त्रों (यजु० 11. 77-81) में जो वर्णन है वह भी यही सिद्ध करता है कि यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् है। ‘याः सेना अभीत्वरीरा-व्याधिनीरुगणा उत, ये स्तेना ये च तस्करास्तांस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये’ (11.77) अर्थात्—‘जो शत्रुओं की सेनाएँ हम पर आक्रमण करने आती हैं, हमें निशाना बनाकर मारने आती हैं, शस्त्रास्त्र धारण किये आती हैं (उगणाः)¹ और जो स्तेन (चोर) और तस्कर (कपट से पदार्थ हरने वाले) हमें कष्ट देने आते हैं उन सबको हे अग्ने ! (राजन्) तेरे सम्मुख लाते हैं, तू उन्हें दण्ड दे’; ‘यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः, निन्दाद्यो अस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु’ (11.80) अर्थात् ‘जो हमसे शत्रुता करे, जो हमसे नाहक द्वेष करे, जो हमारी निन्दा करे और जो हमसे दम्भ करे (धिप्सात्)² उसे तू भस्मसात् कर दे’; ‘संशितं मे ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्, संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः’ (11.81) अर्थात् ‘मेरा ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान तीक्ष्ण अर्थात् कार्य-शक्ति-सम्पन्न है (संशितम्), मेरे वीर्य और बल भी संशित हैं, जिसका (अग्नि का=राजा का) मैं पुरोहित बनता हूँ उसके जयशील क्षत्रिय लोग भी संशित हो जाते हैं’; अग्नि विषयक ये सारे वर्णन निर्विवाद सिद्ध करते हैं कि यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् ही लेना होगा, आग नहीं। शत्रुओं की सेनाओं, चोरों और हमसे द्वेष करने वालों को दण्ड देना तथा पुरोहित द्वारा अपने क्षत्रियों को कार्य-शक्ति सम्पन्न अथवा सुशिक्षित करना, अग्नि के ये सारे ही कार्य राजा-परक अर्थ में संगत हो सकते हैं, आग-परक अर्थ में नहीं।

17. आ त्वाऽहार्षमन्तरभूध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥

यजु० 12.11.

इस मन्त्र से तो इसमें सन्देह ही नहीं रह सकता कि वेद की सम्मति में राजा चुना हुआ होना चाहिए। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—‘हे अग्ने राजन् ! (त्वा) तुझको (आहार्षम्)³ मैंने बुलाया है (अन्तः) हमारे बीच में (अभूः) होजा (ध्रुवः)

¹ उद्यतायुधसमूहाः, पृषोदरादित्वादभीष्टसिद्धिरिति दयानन्दः ॥ उगणा उद्गूर्णगणाः, पृषोदरादिपाठान्मध्यमपदलोपः, उद्यतायुधगणोपेता बहुस्तोमा इत्यर्थः इति महीधरः ।

² दम्भितुमिच्छेदिति दयानन्दः ॥ दम्भितुमिच्छति जिपांसति, दम्भेः सन्नतस्य दम्भ इच्चेति अभ्यासलोप इकारश्चेति महीधरः ।

³ एकवचन के प्रयोग से प्रतीत होता है कि प्रधानामात्य या पुरोहित प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में बोल रहा है ।

स्थिर होकर (तिष्ठ) सिंहासन पर बैठ (अविचाचलिः) कभी विचलित न हो सके ऐसा होकर राज्य कर (त्वा) तुझे (सर्वाः) सारी (विशः) प्रजाएँ (वाञ्छन्तु) चाहें (त्वत्) तेरे कारण (राष्ट्रम्) राज्य (मा) न (अधिभ्रशत्) नष्ट हो सके अर्थात् तू राष्ट्र का अच्छी प्रकार पालन कर ।

‘प्रजाएँ तुझे चाहें’ इस वाक्य-द्वारा वेद स्पष्ट कह रहा है कि राजा के राज्याधिरोहण में प्रजाओं की सहमति का पूरा स्थान होना चाहिए । जिसे प्रजाएँ न चाहती हों वह राजा नहीं बनाया जा सकता । इस मन्त्र का देवता अग्नि है पर फिर भी विनियोगकार इसे राज्याभिषेक में लगाते हैं । महीधर ने भी इसका देवता अग्नि मानते हुए इसके उत्तरार्द्ध का मुख्य अर्थ यों किया है—‘किंच सर्वा विशः प्रजाः त्वां वाञ्छन्तु । इदं राष्ट्रं त्वत् त्वत्तः सकाशान्मा अधिभ्रशत्—अयं जनपदस्त्वत्तो मापभ्रश्यतु शून्यो मा भूत् । अस्मिन् राज्ये स्थित्वा सर्वाः प्रजाः पाहीत्यर्थः ।’ अर्थात् ‘सारी प्रजाएँ तुझे चाहें । यह राष्ट्र तुझसे छिने नहीं—यह जनपद तुझसे रहित न हो जाये । इस राज्य में स्थित होकर तू सारी प्रजाओं का पालन कर ।’ यदि उत्तरार्द्ध का मुख्य अर्थ महीधर राजा-परक करता है तो पूर्वार्द्ध का भी मुख्य अर्थ राजा-परक ही होना चाहिए । और तब अग्नि का अर्थ हमें राजा ही मानना पड़ेगा । क्योंकि मन्त्र का देवता अग्नि है । इस मन्त्र से ऊपर के सभी मन्त्रों का देवता अग्नि है । ठीक ऊपर के दसवें मन्त्र में ही ‘सह रय्या नि वर्तस्वान्ते’ इस प्रकार अग्नि को सम्बोधित किया गया है । उसी पूर्व मन्त्रों में सम्बोधित अग्नि का परामर्श (reference) प्रस्तुत मन्त्र में ‘त्वा’—तुझको—द्वारा किया गया है । इसलिये इस मन्त्र का देवता तो निर्विवाद अग्नि ही मानना पड़ेगा । पर मन्त्र-गत अग्नि का सारा वर्णन राजा पर ही संगत हो सकता है, अन्य पर नहीं । विनियोगकारों और महीधर ने इस वर्णन को राजा में लगाया है, इसलिये अग्नि का अर्थ यहाँ राजा ही करना होगा । यदि विनियोगकार और महीधर अग्नि के इस वर्णन को राजा पर न भी लगाते तो भी मन्त्र की पदावली इतनी स्पष्ट है कि उसे कोई भी आग्रह-हीन अर्थकार राजा-परक ही लगाता । ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 173वें सूक्त का प्रथम मन्त्र ‘अन्तरभूः’ के स्थान में ‘अन्तरेधि’ इस पाठ-भेद के साथ ज्यों का त्यों यही है । और वहाँ सभी भाष्यकार उसका अर्थ राजा-परक करते हैं । उस सूक्त का देवता ही ‘राज्ञः स्तुतिः’ माना जाता है । वही का वही मन्त्र यहाँ यजुर्वेद में आया है । इसलिये इसका प्रधान, सरल और स्पष्ट अर्थ तो राजा-परक ही मानना होगा । और यह मन्त्र क्योंकि यहाँ अग्नि देवता का बनकर आया है इससे यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि यहाँ अग्नि का अर्थ ‘राजा’ लेना चाहिए ।

इतना ही नहीं । इस मन्त्र से ऊपर के मन्त्रों में अग्नि के जो वर्णन और कार्य बताये गये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ अग्नि का अर्थ राजा लेना चाहिए । ‘अरातीयतो हन्ता’ (यजु० 12.5) अर्थात् ‘जो विद्यादि का दान नहीं करना चाहते उनको मारने वाला’; ‘शत्रूयतो हन्ता’ (12.5) अर्थात् ‘जो शत्रुता करते हैं

उनको मारने वाला'; 'दिशोऽनु वि क्रमस्व' (12.5) अर्थात् 'दिशाओं में पराक्रम कर'; 'अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा नि वर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया घनेन, सन्या मेघया रय्या पोषेण' (12.7) अर्थात् 'हे हमारे कल्याण के लिए हमारी ओर आने वाले अग्नि ! (राजन्) मेरी (मदुपलक्षित राष्ट्र की) ओर आइये और आते हुए आयु, वर्चस्, पुत्र, धन, इष्टपदार्थ, धारणावती बुद्धि, ऐश्वर्य और पुष्टि दीजिये।' आठवे, नवे, और दसवे मन्त्र में भी अग्नि से इसी प्रकार की प्रार्थनाएँ हैं। ये सारे वर्णन राजा अर्थ में तो संगत हो सकते हैं, पर आग अर्थ में नहीं। जड़ अग्नि में इन प्रार्थनाओं को पूरा करने की सामर्थ्य नहीं है। इस अध्याय में आने वाले अग्नि के 'सुमेधाः' (12.24) अर्थात् 'उत्तम धारणावती बुद्धि वाला' और 'मनीषाणां प्रापणः' (12.22) अर्थात् 'बुद्धियों को प्राप्त कराने वाला' आदि विशेषण सन्देह ही नहीं रहने देते कि यहाँ अग्नि का अर्थ जड़ आग नहीं हो सकता। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र—'अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य, सम्राड्को वि राजति' (12.117) अर्थात् 'यह अग्रणी (अग्निः) सम्राट् अभिलषित जन्म, स्थान और नामों में (धामसु) हमारी कामना पूरी करने वाला है, राष्ट्र की भूत और भविष्य सम्बन्धी कामनाओं को पूरा करने वाला (कामः) है, यह अकेला ही चमक रहा है, इस जैसा राष्ट्र में और किसी का प्रताप नहीं है'—में अग्नि को स्पष्ट ही सम्राट् शब्द से विशेषित किया गया है। इन साक्षियों के आधार पर स्पष्ट है कि अग्नि का अर्थ यहाँ क्या करना चाहिए।

18. अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्न आ रोहाधा नोवर्धया रयिम् ॥

अथ० 3.20.1.

यहाँ भी राजा के चुने जाने का स्पष्ट निर्देश है। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—'हे (अग्ने) राजन् ! (ऋत्वियः)¹ सब ऋतुओं में दातव्य करादि को लेकर तुझे प्राप्त होने वाला (अयं) यह जनपद-राष्ट्र (ते) तेरा (योनिः) उत्पत्ति का कारण है (यतः) जिस राष्ट्र से (जातः) उत्पन्न हुआ तू (अरोचथाः) दीप्तिमान् हो रहा है (तं) अपने उत्पत्ति-कारण उस जनपद को (जानन्) जानता हुआ अर्थात् सदा इस बात को स्मरण रखता हुआ कि मैं इस राष्ट्र-द्वारा उत्पन्न हुआ—बनाया हुआ—हूँ (आरोह) इस राजसिंहासन पर चढ़ (अघा) और (नः) हमारे (रयिम्) ऐश्वर्य को (वर्धय) बढ़ा'।

राष्ट्र राजा की उत्पत्ति का कारण है, उससे उत्पन्न होने पर—उसकी सलाह से राजा बनने पर—ही उस में दीप्ति आती है; 'मेरे बनाने वाले राष्ट्र के लोग हैं' यह बात राजा को कभी नहीं भुलानी चाहिए जिससे वह उत्पत्ति में जाने से रुका रहे। वेद मन्त्र के भावपूर्ण संक्षिप्त शब्दों में कही गई इन बातों से असंदिग्ध रूप में प्रकट होता है कि वेद की सम्मति में राजा के बनने में प्रजा का पूरा अधिकार होता है।

¹ ऋतु शब्दात् तस्य प्राप्तमित्यर्थे छन्दसिधिसिति षस्। इयादेशः सर्वेषु कालेषु प्राप्तः ऋत्वियः।

प्रजा की सहमति के बिना कोई व्यक्ति राजा नहीं बनाया जाना चाहिए।

यहाँ अग्नि का अर्थ आग न लेकर राजा ही लेना चाहिए। यह सूक्त के वर्णनों से सुस्पष्ट है। 'तं जानन्नग्ने' (3.20.1) अर्थात् 'हे अग्नि ! (राजन्) अपनी उत्पत्ति के कारण उस (जनपद) को जानता हुआ तू'; 'अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव, प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम्' (3.20.2) अर्थात् 'हे अग्ने ! (राजन्) तू हम से अच्छे प्रकार बोल, प्रसन्न मन वाला अथवा उत्तम मन वाला होकर हमारे सम्मुख आ, हे प्रजाओं के पति (विशांपते) तू हमें धन देने वाला है, हमें अच्छी तरह धन दे'; 'राजानमवसेऽग्नि गीर्भिर्हवामहे' (3.20.4) अर्थात् 'हम अपनी रक्षा के लिए अग्नि राजा को वाणियों से बुलाते हैं (हवामहे)'¹; 'त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्मा यज्ञं च वर्धय, त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय' (3.20.5) अर्थात् 'हे अग्ने ! (राजन्) तू अग्नियों से हमारे वेद (ब्रह्मा) और यज्ञों को बढ़ा; तू मुझे करादि देने वाले (दातवे)² के लिए धन दे'; 'उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ' (3.20.8) अर्थात् 'हे अग्नि ! (राजन्) जो नहीं देना चाहता उससे भी तू प्रकृष्ट ज्ञानी लोक-कल्याण के लिए दिलवादे, हमें धन दे और वीर पुत्र दे'; इत्यादि अग्नि के वर्णन राजा में ही सुसंगत हो सकते हैं। आग अर्थ में ये अग्नि के कर्म उपपन्न ही नहीं हो सकते। 'त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्मा यज्ञं च वर्धय' इस मन्त्र-खण्ड में 'अग्ने' इस सम्बोधनान्त पद का अभिधेय 'अग्निभिः' इस तृतीयान्त पद के अभिधेय से अवश्य ही भिन्न होना चाहिए और वह इस सूक्त में चेतन राजा का वाचक है जिसके लिए 'विशांपते' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

19. पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात् ।

स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामदेवोऽति दुरितान्यग्निः ॥

अथ० 7.63.1

अर्थात् (पृतनाजितं)³ शत्रुओं की सेनाओं को जीतने वाले (सहमानम्) उनका पराभव करने वाले (अग्निम्) अग्रणी सम्राट् को (परमात्) दूर के (सधस्थात्) निवासस्थान से (उक्थैः) प्रशंसा योग्य गुणों के कारण (हवामहे) हम बुलाते हैं (स) वह (नः) हमें (दुर्गाणि)⁴ दुर्लभ संकटों से (अति पर्षत्) पार उतारे (देवः) दिव्यगुणों वाला वह (अग्नि) अग्रणी सम्राट् (विश्वा) सब (दुरितानि) हमारे दुराचरणों को (अति क्षामत्)⁵ क्षीण कर देवे।

1 प्रजाभिराहूत एव पुमान् सिंहासनमधिरोहं, शक्नोतीति पुनरत्र मन्त्रे हवामहे इति क्रियापदेन ध्वन्यते।

2 दत्तवते पुरुषाय। ददातेरोगादिकस्तुन्।

3 शत्रुसंग्रामजेतारमिति सायणः।

4 दुर्गमनानि कष्टानि अरिष्टानीति सायणः।

5 अत्यर्थं क्षामाणि दग्धानि करोतु इति सायणः। क्षै क्षये अस्मान्निष्ठायां क्षायोम इति निष्ठा तकारस्य मकारादेशः। क्षाम शब्दात् तत् करोतीत्यर्थे णिच्। तस्माल्लेटि रूपम्।

यहाँ भी राजा के प्रजाओं द्वारा राज्य करने के लिए बुलाये जाने का स्पष्ट वर्णन है। प्रजाओं द्वारा बुलाया जाने पर ही कोई व्यक्ति राज्य कर सकता है, अन्यथा नहीं। मन्त्रगत वर्णन चेतन-सम्राट् में ही संगत हो सकता है, जड़ आग में नहीं। मन्त्रगत वर्णन तथा पूर्वोल्लिखित प्रमाणों के आधार पर यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् ही करना चाहिए।

20. मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥

अथ० 7.82.2

अर्थात् मैं (अग्रे) पहले (मयि) अपने में (अग्निम्) इस अग्रणी सम्राट् को (गृह्णामि)¹ लेता हूँ, (क्षत्रेण)² क्षत्रियों (वर्चसा) तेज (बलेन) और बल के (सह) साथ—अर्थात् इस सम्राट् के द्वारा मुझे क्षत्रियों, तेज और बल की प्राप्ति होती है। फिर (मयि) अपने में (प्रजाम्) उत्तम सन्तान को (मयि) अपने में (आयुः) लम्बी आयु को (दधामि) धारण करता हूँ—अर्थात् उत्तम राज्य-प्रबन्ध होने से मुझे उत्तम सन्तान और लम्बी आयु प्राप्त होती है। मैं (स्वाहा)³ उत्तम वाणी से (अग्निम्) इस अग्रणी सम्राट् को (मयि) अपने में लेता हूँ।

यहाँ भी स्पष्ट प्रतिपादन है कि राजा चुना हुआ होना चाहिए, वंशानुगत नहीं। प्रजाजन कह रहे हैं कि हम पहले योग्य पुरुष को राजा बनाकर अपने में कर लेते हैं और तदनन्तर सुप्रबन्ध में हमें सन्तानादि-रूप कल्याण प्राप्त होने लगते हैं। प्रजाजनों की यह उक्ति ध्वनित करती है कि प्रजा की सहमति के बिना कोई व्यक्ति प्रजाओं में राज्य करने के लिए नहीं आ सकता।

मन्त्र में कथित अग्नि का 'क्षत्र के साथ'—'सह क्षत्रेण'—होना तथा 'इहैवाग्ने अधि धारया रयि मा त्वा नि क्रन्पूर्वचित्ता निकारिणः, क्षत्रेणान्ते सुयममस्तु तुभ्यमुप-सत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः' (अथ० 7.82.3) अर्थात् 'हे अग्नि ! (राजन्) तू यहाँ हमारे राष्ट्र में ही ऐश्वर्य उत्पन्न कर, (पूर्वचित्ताः)⁴ अर्थात् पहले से गुप्त रूप में सलाहें सोचते रहने वाले अपकारी लोग तुझे नीचा न दिखा सकें, तेरी क्षत्रिय-शक्ति द्वारा तेरे लिए सुयम अर्थात् सुप्रबन्ध रहे, तेरे पास रहने वाला जनपद अहिंसित होकर बढ़ता रहे', इत्यादि अग्नि के सूक्तगत वर्णन यही सिद्ध करते हैं कि यहाँ अग्नि का अर्थ राजा लेना होगा। आग में क्षत्रियों से उत्तम प्रबन्ध कराना आदि बातें नहीं चरितार्थ हो सकतीं।

¹ वयं प्रजाजना गृह्णीम इत्यर्थः । प्रजासु एकत्व मुनीयैक वचन प्रयोगः ।

² जातावेकवचनम् ।

³ स्वाहेति वाङ् नामसु पठितम् । निघ० 1.11.

⁴ इमं पराभविष्याम इत्येवंरूपेण पूर्वं रहसि मन्त्रयन्तः । निकारिण इति पदस्य विशेषणभूतत्वेन पूर्वचित्त शब्दस्यायमर्थः स्वीकृतः ।

21. अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृदीदीहिह ।

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिरद्य परिपाहि नो गयम् ॥

अथ० 7.84.1

अर्थात् '(अग्ने) हे राजन् ! (अनाधृष्यः) किसी से न दबाया जा सकने वाला (जातवेदाः)¹ राष्ट्र में धन बढ़ाने वाला अथवा ज्ञान का प्रचार करने वाला (अमर्त्यः) अपने यशः शरीरादि के कारण अमर (विराट्) अपने गुणों के प्रभाव से खूब चमकने वाला और (क्षत्रभृत्) राष्ट्र की क्षत्र-शक्ति का भरण-पोषण करने वाला होकर (इह) हमारे इस राष्ट्र में (दीदिहि) तू प्रकाशमान बन । राज्य में से (विश्वाः) सब प्रकार के (अमीवाः) रोगों को (प्रमुञ्चन्) छुड़ाया हुआ (अद्य) आज (शिवाभिः) कल्याण-युक्त (मानुषीभिः)² प्रजाओं से (नः) हमारे (गयम्) रहने के स्थान—राष्ट्र—की (परिपाहि) सब ओर से रक्षा कर ।'

यहाँ भी राजा चुना हुआ होना चाहिए इसकी स्पष्ट ध्वनि है । प्रजाओं का राजा को यह कहना कि 'तू प्रकाशमान बन' (दीदिहि) यह सूचित करता है कि प्रजायें उसे अपनी इच्छा से वह अधिकार दे रही हैं जिससे वह सिंहासनासीन होकर प्रकाशमान बन सकता है । प्रजायें न चाहें तो वह सिंहासन पर बैठकर राजा के रूप में प्रजा के आगे प्रकाशमान नहीं हो सकता । 'अद्य'—आज—शब्द की ध्वनि यह है कि राज्यारोहण के दिन राजा से उक्त बातें कही जा रही हैं । 'तू'—हमारे—शब्द की ध्वनि यह है कि सारी प्रजायें सम्मिलित होकर राजा को सम्बोधित कर रही हैं, सारे राष्ट्र की ओर से उसे सिंहासनारोहण का अधिकार दिया जा रहा है । इस प्रकार राजा के राज्यासीन होने के लिए प्रजाओं की सहमति का आवश्यक होना इस मन्त्र से स्पष्ट सूचित हो रहा है ।

यह मन्त्र अग्नि के राजा-परक अर्थ में ही संगत हो सकता है, यह मन्त्र-गत वर्णन से सुस्पष्ट है । अग्नि के विशेषणों द्वारा उसके जो कार्य बताये गये हैं उन्हें योग्य राजा ही कर सकता है । जड़ अग्नि कभी नहीं कर सकता । क्षत्र-शक्ति का भरण-पोषण करना, राज्य में धन और ज्ञान उत्पन्न करना, रोगों को हटाना और प्रजाओं को कल्याणयुक्त बनाना, ये सारे कार्य आग में संगत नहीं हो सकते । यहाँ विशेषण बल से अग्नि का अर्थ राजा ही करना होगा ।

¹ जातवित्तो वा जातघनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः । निरु० 7.5.19.

जातं वेदो धनं वा प्रज्ञानं वा यस्मात् स जातवेदाः ।

² मनोज्ञाताव्यतौपुक् चेति जातौ मानुषशब्दो व्युत्पद्यते । जातिश्च समुदायार्थ इति ङीप् मानुषीशब्दो निष्पद्यते । स्त्रीत्वविवक्षा तु जनसमुदायस्य प्रजारूपतां विदूषतां वा मनसिकृत्य समुदेति । यद्वा मानुषशब्दात्तस्येदमित्यणि ततो ङीप् मानुषीशब्दो व्युत्पाद्यतां शिवाभिरित्येतस्य च विशेषणा-क्रियताम् ऊतिभिरिति च पदमध्याह्नियताम् । ततो मानुषहिताभिः शिवाभिरुक्तिभिरित्यर्थो निष्पत्स्यदे ॥

अत्रैव सूत्रे दीक्षितः । तस्य स्त्रीत्व विवक्षायां टिड्ढाणञ् इति ।

इन्द्र-सूक्तों के प्रमाण

22. अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांह्रणा द्रुवे ।
ह्वयाम्युग्रं चेतारं पुरुणामानमेकजम् ॥

अथ० 6.99.1

अर्थात् 'हे (इन्द्र) सम्राट् ! मैं तुझे (वरिमतः) विस्तीर्ण दूर देश से (अंह्रणात्)¹ अपनी दुर्गति होने से (पुरा) पूर्व ही (द्रुवे) बुलाता हूँ ।² (उग्र) तू उग्र है, (चेतारं) ज्ञानवान् है, (पुरुणामानं)³ अनेक नाम अर्थात् गुणों वाला या अनेक शत्रुओं को झुकाने वाला है और (एकजं) वर्तमान समय में राष्ट्र को चलाने के लिए एक ही उत्पन्न हुआ है ।' इस मन्त्र से भी साफ प्रकट हो रहा है कि प्रजा ही राजा को अपनी दुर्गति हटाने के लिए चुनती है ।

इस मन्त्र में 'इन्द्र' का अर्थ 'सम्राट्' किया गया है । इस शब्द का अर्थ सम्राट् ही ऐसे स्थलों में लेना उचित है, इसके लिए हमारे पास यथेष्ट प्रमाण हैं । इसी सूक्त का दूसरा मन्त्र है—'यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन्न उदीरते, इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दक्षः ।' (6.99.2) अर्थात् 'जो आज दुश्मन की सेनाओं से प्राप्त होने वाला वध हमें मारने की इच्छा से उठ रहा है, उससे बचने के लिए इन्द्र की दोनों भुजाओं से प्राप्त होने वाली भुजाओं को अपने चारों ओर करते हैं अर्थात् उसकी भुजाओं से प्राप्त होने वाली रक्षा के घेरे में अपने आपको करते हैं ।' जब हम पर शत्रुओं की फौजें आक्रमण करें तभी इन्द्र हमारी रक्षा के लिए आ जाये, यह बात काल्पनिक इन्द्र में तो घट नहीं सकती । वह मनुष्यों के बुलाने पर न कभी आया है, न आयेगा । चाहे कोई बुलाके देख ले । हाँ, इन्द्र का अर्थ सम्राट् करने पर यह वर्णन उसमें बड़ी सुन्दरता के साथ संगत हो जाता है । इस सूक्त (अथ० 6.99) से पहले सूक्त (अथ० 6.98) का देवता भी 'इन्द्र' ही है । उस सूक्त में दिये गये इन्द्र के कुछ विशेषण देखने योग्य हैं । एक विशेषण है, 'अधिराजो राजसु राजयात' (6.98.1) अर्थात् 'राजाओं में अधिराज होकर चमके' । दूसरा विशेषण है, 'त्वमिन्द्राधिराजः' (6.98.2) अर्थात् 'हे इन्द्र ! तुम अधिराज अर्थात् राजाओं में उपरि वर्तमान हो ।' तीसरा विशेषण है, 'आयुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु' (6.98.2) अर्थात् 'तेरे क्षत्रिय लोग आयुष्मान् और बुढ़ापे रहित हों अर्थात् उन्हें बुढ़ापा

¹ अंह्रण शब्द 'ह्रू' कौटिल्ये से बना है, अतः इसका अर्थ कुटिल गति, अर्थात् दुर्गति है । ग्रिफिथ(Griffith) ने इसका अर्थ Affliction अर्थात् कष्ट, विपत्ति किया है ।

² जहाँ 'बुलाता हूँ', 'चुनता हूँ' इस प्रकार के एक वचनान्त प्रयोग आये वहाँ सामान्यतः बहुवचन के स्थान में एकवचन समझ कर 'हम प्रजाजन बुलाते हैं' ऐसा समझना चाहिए । अथवा प्रजा का प्रतिनिधि पुरोहित या प्रधानात्मा बोल रहा है, ऐसा समझना चाहिए । अधिकांश स्थानों पर प्रजाजनों के लिए ही बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग हुआ है । ऐसे प्रयोगों में प्रजा को एक व्यक्ति समझ लिया जाता है ।

³ 'पुरुणामा' शब्द पुरु पूर्वक 'नामन्' शब्द ('णम्' धातु) से बना है ।

जल्दी न आवे ।' उसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में 'इन्द्र' को कहा गया है कि 'प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजतोदीच्या दिशो वृत्रहन्ध्रुहोसि, यत्र यन्ति स्रोत्यास्तञ्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः।' अर्थात् 'तुम पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशाओं के राजा हो, जहाँ नदियाँ जाती हैं उस जगह अर्थात् समुद्र को भी तुमने जीत रखा है ।' इन्द्र का राजाओं में अधिराज होकर चमकना, उसका क्षत्रिय होना, उसका सब दिशाओं का राजा होना और समुद्र को जीतना आदि विशेषण स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि इन स्थलों में 'इन्द्र' का अर्थ 'सम्राट्' ही लेना चाहिए । काल्पनिक 'इन्द्र' देवता नहीं । नहीं तो स्वर्ग में इन्द्र के अतिरिक्त और कौनसे राजा होते हैं जिनका कि वह 'अधिराज' है ? स्वर्ग का तो एक ही राजा 'इन्द्र' माना जाता है । साथ ही समुद्र का राजा तो 'वरुण' को माना जाता है, किन्तु यहाँ कहा गया है कि 'इन्द्र' समुद्र को जीत कर उस पर भी राज्य कर रहा है । अतः इन स्थलों में 'इन्द्र' का अर्थ 'सम्राट्' ही लेना अधिक संगत प्रतीत होता है । वेदों में 'इन्द्र' शब्द 'राजा' या 'सम्राट्' के लिए भी प्रयुक्त होता है, इसे सिद्ध करने के लिए हम वेदों में से ही कुछ प्रमाण और उपस्थित करते हैं । अथ० 20.44 सूक्त 'इन्द्र' देवता का है । उसमें आये 'इन्द्र' के विशेषण देखने योग्य हैं । 'प्र सम्राज¹ चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता' (20.44.1) अर्थात् 'मनुष्यों के सम्राट् इन्द्र की स्तुति करो !' 'नरं नृषाहं मंहिष्ठम्' (20.44.1) अर्थात् 'जो कि नर (मनुष्य) है, नृषाहं अर्थात् शत्रुओं के मनुष्यों का पराभव करने वाला है और पूजनीय है ।' इन्द्र को मनुष्यों का सम्राट्, मनुष्य और मनुष्यों का पराभवकर्ता कहना स्पष्ट सिद्ध करता है कि वेदों में इन्द्र शब्द 'राजा' या 'सम्राट्' के लिए भी आता है । काल्पनिक इन्द्र की ओर ये विशेषण लग ही नहीं सकते । काल्पनिक इन्द्र मनुष्यों का सम्राट् नहीं होता । वह 'देवों' का राजा होता है । वह 'मनुष्य' नहीं होता, और न ही उसे मनुष्यों को पराभव करने की आवश्यकता पड़ती है । उसके झगड़े और युद्ध तो 'दैत्यों' के साथ ही होते सुने जाते हैं । इसी सूक्त में एक विशेषण है, 'ज्येष्ठराजं' (20.44.3) अर्थात् 'ज्येष्ठ या मुख्य राजा ।' स्वर्ग में तो कोई और राजा होता ही नहीं, तो वह 'ज्येष्ठराज' कैसे हो सकता है ? यजुर्वेद 10.28 में राजा के और विशेषणों के साथ-साथ एक विशेषण 'इन्द्रोऽसि विशौजाः' भी आता है जिसका अर्थ है कि 'तुम विश् अर्थात् प्रजाएँ हैं ओज जिसका ऐसे इन्द्र हो ।' निघण्टु 2.3 में 'विशः' का अर्थ मनुष्य प्रजाएँ किया है । राजा का ओज या सामर्थ्य मनुष्य प्रजाएँ होती हैं, यह तो समझ में आता है । किन्तु काल्पनिक 'इन्द्र' देव का ओज मनुष्य प्रजाएँ कैसे होंगी यह समझ में नहीं आता । पुनः यजु० 20.48 में 'इन्द्र' का एक विशेषण 'नृपति' अर्थात् 'राजा' आता है । 'नृपति' का योगार्थ 'मनुष्यों का पति' अर्थात् 'राजा' होता है । इन्द्र तो देवों का राजा होता है, मनुष्यों का राजा तो नहीं । यजु० 17.34 में आता है, 'तदिन्द्रेण जयत तत्सहस्रं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा' अर्थात् 'बलवान् और बाणधारी इन्द्र के साथ मिलकर हे

¹ चर्षणय इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० 2.3 ।

मनुष्यो ! (नरः) तुम युद्धों को जीतो ।' 'इन्द्र' मनुष्यों की फौजों में शामिल होकर—उनका एक साथी योद्धा होकर तो कभी युद्ध नहीं कर सकता । इसी प्रकार ऋग्० 10.89.1 में भी 'इन्द्र' के दो विशेषण देखने योग्य हैं । एक है 'नूतम' जिसका अर्थ है सबसे अधिक मनुष्य, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि उसमें मनुष्यों के गुण सबसे अधिक मात्रा में विद्यमान हैं । यह विशेषण 'सम्राट्' की ओर ही अधिक संगत रूप में लगता है । उसमें मनुष्य के गुण सबसे अधिक मात्रा में होने से ही उसे 'सम्राट्' चुना जाता है । कल्पित 'इन्द्र' देव में मनुष्यों के गुण सबसे अधिक मात्रा में विद्यमान रहने पर वह देवत्व ही खो बैठेगा । दूसरा विशेषण है, 'चर्षणीघृत्' अर्थात् 'मनुष्यों' का धारण करने वाला । यह विशेषण भी सम्राट् की ओर अधिक सुन्दरता से लगता है । पुनः ऋग्० 10.134.1 में आता है, 'महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनां देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्' अर्थात् 'तू महान् जनता का महान् सम्राट् है, तुझे दिव्य गुणों वाली (देवी) माता (जननी) ने उत्पन्न किया है, तुझे भद्रा माता ने उत्पन्न किया है ।' महान् जनता (चर्षणीनां) का महान् सम्राट् होना उसका दिव्य गुणों वाली और भद्रा माता से उत्पन्न होना इन्द्र के ये विशेषण 'सम्राट्' पर ही अधिक युक्तियुक्त रूप में संगत होते हैं । 'काल्पनिक देवाधिदेव 'इन्द्र' की कौन माता होगी और कौन उसका वीर्य-सेक्ता पिता होगा ?'

1 पौराणिक साहित्य में इन्द्र देव की माता 'अदिति' और पिता 'कश्यप' कहे जाते हैं । पर वैदिक साहित्य का विचारपूर्वक अध्ययन करने पर 'अदिति' और 'कश्यप' नाम के कोई मनुष्यों जैसे शरीरधारी व्यक्ति सिद्ध नहीं होते । वेद में 'अदिति' का, और-और अर्थों के साथ, एक बहुत प्रसिद्ध अर्थ 'प्रकृति' है । उदाहरण के लिये 'अदितिर्हो रदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः, विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्' (अथ० 7.6.1; ऋ० 1.89.10; यजु० 25.23) वेद के इस मंत्र को देखिये । इसमें अदिति से उत्पन्न होने के कारण द्यौ, अन्तरिक्ष, माता पिता, विश्वे देव, पंचजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारों वेद की सामाजिक मर्यादा में रहने वाले लोग और पाँचवे उस सामाजिक मर्यादा में न रहने वाले लोग, जो कुछ उत्पन्न हो चुका है और जो कुछ उत्पन्न होगा, इन सबको अदिति कहा है । इस प्रकार की विश्व भर को उत्पन्न करने वाली 'अदिति' प्रकृति ही हो सकती है । प्रकृति को अदिति इसलिये कहा जाता है कि वह 'अदीना अखण्डनीया वा भवति' किसी से दबती नहीं और उसका कभी नाश नहीं होता । मनुष्य सदृश शरीरधारिणी, कश्यप ऋषि की पत्नी, कोई अदीति नामक स्त्री इस मंत्र में वर्णित विश्व को उत्पन्न नहीं कर सकती । और न ही उसमें वास्तव में अदिति का शब्दार्थ घट सकता है । वह तो अपने से बलवत्तर से दब भी सकती है और देहधारी का नाश तो अवश्यम्भावी है । शतपथ ब्राह्मण में भी, 'सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्' (श० 10.6.5.5) क्योंकि वह प्रलयावस्था में सबको खाकर अपने में कर लेती है, इस व्युत्पत्ति से प्रकृति को ही अदिति कहा है । ऐसी अदिति भी कोई स्त्री नहीं हो सकती । इसलिये 'अदिति' का अर्थ प्रकृति ही उत्पत्ति आदि के प्रकरणों में करना चाहिए । इस प्रकार की प्रकृति ता सभी की माता है । फिर उसे ऋग्० 10.134.1 में केवल इन्द्र की ही माता कहने में कौन सा विशेष चमत्कार हो सकता है ? हाँ, किसी सम्राट् को यह कहना कि तुम्हारी माता भी गुणवती थी इसलिये तुम गुणी हो और तुम्हें गुणी देखकर हमने सम्राट् बनाया है, इसमें अर्थ का एक विशेष चमत्कार है । अथवा यहाँ माता का अर्थ राजा को बनाने वाली प्रजा कर लेना चाहिए । 'कश्यप' का अर्थ भी वेद में कोई शरीरधारी

23. गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमकिणः ।

ब्राह्मणस्त्वा शतक्रत उद् वंशमिव येमिरे ।

ऋग्० 1.10.1

अर्थात् 'हे (इन्द्र) सम्राट्¹ (गायत्रिणः) गायक लोग (त्वा) तेरी (गायन्ति) महिमा को गाते हैं (अर्कम्) तुझ पूजनीय की (अकिणः) तेरे गुणों की पूजा करने वाले लोग (अर्चन्ति)² पूजा करते हैं (शतक्रतो)³ हे सैंकड़ों प्रकार के कर्म करने वाले अथवा सैंकड़ों प्रकार की बुद्धि वाले (ब्राह्मणः)⁴ ब्राह्मण लोग (त्वा) तुझे (वंशम्) ध्वजा दण्ड की (इव) तरह (उद् + येमिरे) ऊँचा उठाते हैं ।'

ध्वजा से उपमा देने का भाव यह है कि जैसे ध्वजा किसी धर्म-सभा या राष्ट्र के उच्च आदर्शों का चिह्न होती है और इसे सूचित करने के लिए उसे सबसे ऊँचे स्थान पर रखा जाता है, वैसे ही यह सम्राट् हमारे राष्ट्र के उच्च आदर्शों का प्रतिनिधि है और इसे राष्ट्र के सर्वोत्तम स्थान राजसिंहासन पर अधिष्ठित किया जा रहा है । राजा चुना हुआ होना चाहिए इसकी स्पष्ट सूचना इस मन्त्र में भी मिल रही है । 'ब्राह्मण लोग राजा को ऊँचा उठाते हैं' इस वाक्य का यह अभिप्राय है कि जब तक किसी राष्ट्र के ब्राह्मण लोग भी किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में उसके राजा होने के लिए अपनी सहमति न दे दें तब तक वह राजा नहीं हो सकता ।

'ब्राह्मण लोग तुझे ऊँचा करते हैं' इस वाक्य से स्पष्ट है कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् लेना होगा । सम्राट् अर्थ में ही यह वाक्य संगत हो सकता है । प्रसिद्ध काल्पनिक इन्द्र में यह संगत नहीं हो सकता । वह तो अपनी महिमा और अपने देवत्व से स्वयं ही ऊँचा उठा हुआ होता है । उसे ऊँचा उठाने के लिए ब्राह्मणों की पराधीनता की आवश्यकता नहीं रहती । ब्राह्मणों को उसकी कृपा की जरूरत हो सकती है । उसे ब्राह्मणों की कृपा की अपने महत्त्व के लिए कोई आवश्यकता नहीं ।

कश्यप ऋषि नहीं है । उसका अर्थ सर्वव्रष्टा परमात्मा है । शतपथ ब्राह्मण में कहा है—'प्रजापतिः प्रजा असृजद् यदसृजता अकरोद् यदकरोत् तस्मात् कूर्मः । कश्यपो धे कूर्मः । तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' (श० 7.5.1.5) अर्थात् 'क्योंकि प्रजापति परमात्मा ने प्रजाओं का निर्माण किया है इसलिये उसका कूर्म नाम है (करणात् कूर्म) और कूर्म और कश्यप एक ही हैं । दोनों प्रजापति के ही नाम हैं । इसलिये सारी प्रजाएँ 'काश्यपी', कश्यप की बनाई हुई हैं, ऐसा भी कह देते हैं ।' इससे परमात्मा का 'कश्यप' नाम स्पष्ट सिद्ध है । 'कश्यप' शब्द 'दुश्चिद् दर्शन' धातु से बनता है । इसका शब्दार्थ है सबको देखने वाला । इस प्रकार काल्पनिक इन्द्र के प्रकृति और परमात्मा के सिवाय, जो कि सभी के माता और पिता हैं, और कोई माता-पिता सिद्ध नहीं होते । पर ऋग्० 10.134.1 में इन्द्र की माता का स्पष्ट निर्देश है । अतः इन्द्र का अर्थ यहाँ 'सम्राट्' करना होगा ।

¹ इन्द्र का अर्थ सम्राट् होता है यह अगले पृष्ठों में देखेंगे ।

² अर्च पूजयाम् । पूजा च सत्कारः । अत एव सायणोपप्लार्चन्तीत्यस्य प्रशंसन्तीत्यर्थमभिधत्ते ।

³ ऋतुरिति कर्मनामसु पठितम् । निघं० 2.1. ऋतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघं० 3.9.

⁴ ब्राह्मणो ब्राह्मणाः । निरु० 5.1.5.

ब्राह्मणों द्वारा ऊँचा उठना तो प्रजा द्वारा चुने जाने वाले लौकिक इन्द्र अर्थात् सम्राट् में ही संगत हो सकता है। इस सूक्त के 'तमिन् सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्यं, स शक्त उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः' (1.10.6.) अर्थात् 'उसी इन्द्र के पास हम सखित्व के लिए, उसी के पास धन के लिए और उसी के पास उत्तम पराक्रम (सुवीर्य) की प्राप्ति के लिए जाते हैं, हमारे ऊपर—राष्ट्र पर—दया करने वाला वह शक्तिशाली (शक्तः) इन्द्र (सम्राट्) हमें धन देने में समर्थ होवे (शक्त)', 'गवामप व्रजं वृषि कृणुष्व राघो अद्रिवः' (1.10.7.) अर्थात् 'हे वज्रधारी सम्राट् ! (इन्द्र) हमारे लिए गौओं के बाड़े खोल दीजिए, अर्थात् हमें खूब गौओं का स्वामी बनने योग्य बनाइये, और हमें धन दीजिए'; 'नव्यमायुः प्र सू तिर कृषी सहस्रसामृषिम्' (1.10.11) अर्थात् 'हे इन्द्र सम्राट् ! मुझे ऐसा जीवन-दीजिए जिसकी सब प्रशंसा करें (नव्यम्) मुझे ऐसा ऋषि बना दीजिए जो कि हजारों को पढ़ा सकूँ या उपदेश दे सकूँ'; इत्यादि इन्द्रपरक वर्णन भी यही सिद्ध करते हैं कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् लेना ही अधिक सुसंगत होगा। जब हम चाहें तभी हमें धन, सुवीर्य, गौ, प्रशंसनीय जीवन और ऋषित्व आदि चीजें देने आ जाये यह बात काल्पनिक इन्द्र में उपपन्न नहीं हो सकती। कोई भी परीक्षण करके देख सकता है। वह हमें ये चीजें देने नहीं आ सकता, वह है ही नहीं तो आयेगा कहाँ से? वह तो निरी औपन्यासिक कल्पना है। सुयोग्य राजा के राज्य में हमें ये सारी चीजें अच्छी तरह प्राप्त हो सकती हैं। इसलिए इन्द्र का अर्थ सम्राट् लेना ही अधिक उपयुक्त है।

24. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त् समुद्रव्यचसं गिरः।

रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥

ऋग् 1.11.1, यजुं 1.2.56.

अर्थात् '(विश्वा) सब (गिरः) हमारी वाणियों ने (इन्द्रं) इस सम्राट् को (अवीवृधन्त्) बढ़ाया है (समुद्रव्यचसं)। इसके प्रभाव का विस्तार समुद्र पर भी है, यह (रथीनां) रथियों में (रथीतमः) सबसे बढ़कर कुशल रथी है, और (वाजानां) बलों या अश्वों का (सत्पतिम् पतिम्) बड़ा श्रेष्ठ पति है अर्थात् इसके राज्य में प्रजाओं को अन्न और बल खूब प्राप्त होंगे।'

यहाँ भी राजा के चुनाव का स्पष्ट वर्णन है। राष्ट्र की सब वाणियों ने मिल कर अपनी सम्मति प्रकाशित की है, तभी उसकी इतनी वृद्धि हुई है कि वह राज-सिंहासन पर आरूढ़ हो सका है। यदि प्रजा की सब वाणियाँ मिलकर अपनी सहमति न देतीं तो उसकी यह वृद्धि कभी नहीं हो सकती थी। 'विश्वा गिरः अवीवृधन्' इस वाक्य की यही ध्वनि है।

1 समुद्रवद्वयाप्तवन्तमिति सायणः। इन्द्रेण शरीरतः समुद्रवद्वयाप्तुमशक्यत्वात् स्वप्रभावेण समुद्रमपि व्याप्नोतीत्ययमर्थोऽस्य विशेषणस्याङ्गीकार्यः। स्वर्गाधिपतिः पुराणवर्णितः काल्पनिक इन्द्रोऽपि न समुद्रमिव परिणाहि आत्मनः शरीरमुपात्तुं प्रभुः किमुत सम्राट्पदवाच्यः लौकिक इन्द्रः। तथा च समद्रे व्यचः प्रभावविस्तारो यस्य स समुद्रचास्तं समुद्रव्यचसम् इत्येवं व्युत्पादनीयम्।

यहाँ इन्द्र का अर्थ स्पष्ट ही सम्राट् है। 'इन्द्र हमारी वाणियों से बढ़ता है' यह बात चुने हुए सम्राट् में ही उपपन्न हो सकती है। क्योंकि वह सचमुच ही हमारी वाणियों से बढ़ता है। काल्पनिक इन्द्र को हमारी वाणियों से वृद्धि प्राप्त करने की क्या आवश्यकता ? वह तो अपने देवत्व की महिमा से हमारी वाणियों से निरपेक्ष होकर वृद्धि को प्राप्त है। उसकी कृपा से हमें वृद्धि प्राप्त भले ही हो जाय। उसे हमारी वाणियाँ क्या वृद्धि दे सकती हैं ? इसी प्रकार इन्द्र के सूक्तगत 'सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते, त्वामभि प्राणोनुमो जेतारमपराजितम्' (1.11.2.) अर्थात् 'हे इन्द्र (सम्राट्) ! हे बल के पति ! तेरी मित्रता में हम बल, अन्न और ज्ञान वाले (वाजिनः) होकर कभी न डरें, तुझ कभी न पराजित होने वाले विजयशील को हम बार-बार प्रणाम करते हैं'; इत्यादि वर्णन भी यही सिद्ध करते हैं कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् लेना चाहिए, काल्पनिक इन्द्र नहीं। इस मन्त्र में इन्द्र के साथ जितना नजदीकी और आत्मीयता का सम्बन्ध प्रकट किया गया है वह एक सम्राट् के साथ उसकी प्रजा का तो हो सकता है पर काल्पनिक इन्द्र और इस भूलोक निवासियों का नहीं हो सकता। भूलोक-निवासियों की काल्पनिक इन्द्र के साथ इतनी खुली दोस्ती कहाँ सम्भव है ? वह हमें अन्न, बल और ज्ञान देने में, हमारे दैनिक जीवन में कहाँ रुचि ले सकता है ? वह हमारे शत्रुओं को जीतने के लिए जब हम चाहें तब कहाँ आ सकता है ? वह तो कोरी कल्पना है। असल में उसकी कोई सत्ता ही नहीं है। कोई भी प्रयत्न करके देख सकता है कि वह हमारे बुलाने पर हमारे जीवन में रुचि लेने नहीं आ सकता। उसके बल के सहारे पर हमारे शत्रु कभी नहीं जीते जा सकते। हाँ, एक योग्य सम्राट् से वह सब-कुछ सम्भव है जो कि इस मन्त्र में इन्द्र से माँगा गया है।

25. इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राघसे ।

अस्मान्तमु जिग्युपस्कृतम् ॥

ऋग्० 1.17.7.

अर्थात् 'हे इन्द्र और वरुण¹ (अहं)² ! मैं (त्वां) तुमको (चित्राय) अद्भुत (राघसे)³ सब कार्यों की सिद्धि कराने वाले धन की प्राप्ति के लिए (हुवे) बुलाता हूँ (अस्मान्) हम सब को (जिग्युपः) उत्तम विजयी (कृतम्) करो ।'

यहाँ भी इन्द्र (सम्राट्) के चुनाव की स्पष्ट सूचना है। जब तक प्रजा के लोग उसे न बुलायें तब तक वह राज्यारोहण नहीं कर सकता। इसके लिए प्रजा का

¹ कस्तावदयं वरुण इति परस्ताद् विवेचयिष्यते । वरुण क्या है इसका विवेचन आगे किया जायेगा ।

² अहमिति एकवचनान्तेन पदेन प्रधानामात्म्यो वा पुरोहित वा राष्ट्रप्रतिनिधित्वेन ब्रवीतीति सूच्यते । प्रजायामेव वा बहुवचनम् ।

³ राघ इति धननामसु पठितम् । निघं० 2.10.

राघ संसिद्धो इत्यस्मादयं शब्दो व्युत्पद्यते ।

बुलाना, उसकी सहमति प्रकाशित होना, अत्यन्त आवश्यक है।

मन्त्रगत वर्णन यह सिद्ध करता है कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही लेना चाहिए। नहीं तो काल्पनिक इन्द्र में यह वर्णन सुसंगत नहीं हो सकता। हम जब चाहें तभी हमें अद्भुत धन देने और हमें उत्तम विजयी बनाने के लिए हमारे बुलाने पर काल्पनिक इन्द्र हमारे पास नहीं आ सकता। यह बात एक योग्य सम्राट् में ही संगत हो सकती है। 'धर्तारा चर्षणीनाम्' (1.17.2.) अर्थात् 'मनुष्यों के धारण करने वाले उनकी रक्षा करने वाले' इन्द्र और वरुण का यही विशेषण भी यह सिद्ध करता है कि इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही लेना चाहिए, काल्पनिक इन्द्र नहीं। मनुष्यों के साथ सम्राट् का ही ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है। काल्पनिक इन्द्र का नहीं। फिर 'धर्तारा जगतः' न कहकर 'धर्तारा चर्षणीनाम्' ऐसा कहना साफ सिद्ध करता है कि इन्द्र और वरुण का मनुष्यों से सम्बन्ध है। काल्पनिक इन्द्र का विशेष सम्बन्ध स्वर्ग के देवों से होता है और वरुण का विशेष सम्बन्ध समुद्र के साथ होता है। मनुष्यों के साथ विशेष सम्बन्ध सम्राट् इन्द्र का ही होता है। वही मनुष्यों का विशेष रूप से धर्ता या रक्षक होता है। वरुण कौन है इसका विवेचन यथावसर आगे किया जाएगा।

26. शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।

शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं घनानाम् ॥

ऋ० 3.30.22. (ऋ० 10.10.11)

अर्थात् '(वाजसातौ) अन्न, बल और ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त (ऊतये) और अपनी रक्षा के लिए' (नृतमं) मनुष्यों में अतिशयित (इन्द्र) इस सम्राट् को (अस्मिन्) इस (भरे)¹ सब प्रकार के ऐश्वर्यों और कल्याणों का भरण करने वाले अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए (हुवेम) हम सब बुलाते हैं (शुनं)² यह उत्साह से बढ़ा हुआ है अथवा सुखकारी है (मघवानम्) धन देने वाला है। (शृण्वन्तं) हमारे निवेदनों को सुनने वाला है (समत्सु)³ संग्रामों में (वृत्राणि)⁴ हमारी उन्नति के अपकारक शत्रुओं को (घ्नन्तं) मारने वाला है—अर्थात् धन प्राप्ति के प्रत्येक उपाय का अवलम्बन करके राष्ट्र का धन बढ़ाने वाला है।'

यहाँ भी राजा के चुने जाने का स्पष्ट वर्णन है। 'हुवेम' हम बुलाते हैं इस बहुवचनान्त क्रिया का प्रयोग बताता है कि राजा के राज्यारोहण में सारी प्रजाओं

¹ विभ्रति सर्वविधमैश्वर्यं कल्याणञ्चानेनेति भरो राष्ट्रम् । निमित्ते सप्तमी । विभ्रति जयलक्ष्मीमनेनेति सायणः ।

² उत्साहेन प्रबृद्धमिति सायणः । दृगोऽश्विगतिवृद्धयोरित्यस्मान्निष्ठायां निष्पद्यते । यद्वा शुनमिति सुखनामसु पठितम् । निघं० 3.6.

³ समंदिति संग्राम नामसु पठितम् । निघं० 2.17.

⁴ वृत्रो वृणोतेर्वा वतंतेर्वा वर्धतेर्वा । यद्वृणोतद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवतंत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । निघं० 2.5.17. संग्राम-सम्बन्धेनादिमां व्युत्पत्तिमाश्रित्यास्माभिः शब्दरित्ययमर्थः स्वीकृतः ।

द्वारा उसका आह्वान होना चाहिए—सबकी सहमति प्रकाशित होनी चाहिए। जब तक प्रजा की सहमति न हो तब तक कोई व्यक्ति राजा नहीं चुना जा सकता।

यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही लेना अधिक सुसंगत है, यह मन्त्र के इन्द्र विषयक वर्णन से ही स्पष्ट हो रहा है। इतना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध इन्द्र का प्रजाओं के साथ उसका अर्थ सम्राट् लेने पर ही उपपन्न हो सकता है। हमें अन्न-बल देना, हमारी रक्षा के उपाय करना, हमारे शत्रुओं को मारना, उसका हमारी ओर से युद्धों में शामिल होकर लड़ना, हमारी बातें सुनना, हमारे धन बढ़ाने के उपाय करना आदि ये सारी बातें काल्पनिक इन्द्र में उपपन्न नहीं हो सकतीं। वह तो अधिकतर देवलोक में ही रहता है। उसका मनुष्य के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध नहीं होता कि उसे हमारे हरेक प्रकार के सुख-कल्याण की चिन्ता रहे—वह हमारे लिए लड़ाइयों तक में आकर लड़े। यह सब वर्णन एक योग्य सम्राट् में ही लग सकता है। काल्पनिक इन्द्र की तो असल में कोई सत्ता ही नहीं है। उसने हमारे लिए ये सब बातें क्या करनी हैं? कोई कितना ही बुलाता रहे वह उसकी ओर से लड़ाई में लड़ने आदि मन्त्र में वर्णित काम करने आ ही नहीं सकता। फिर मन्त्र में इन्द्र का एक विशेषण 'नूतमः' दिया है। इसका अर्थ है 'सब से अतिशयित, सबसे बढ़कर मनुष्य', यह विशेषण सम्राट् में तो संगत हो सकता है क्योंकि उसमें मनुष्योचित गुण सबसे अधिक मात्रा में होने के कारण ही उसे सम्राट् चुना जाता है। काल्पनिक इन्द्र में यह विशेषण घट ही नहीं सकता। यदि उसमें मनुष्योचित गुण सबसे अधिक मात्रा में रहें तो वह अपना देवत्व ही खो बैठेगा—वह देव न रहकर मनुष्य हो जावेगा। इसी प्रकार से ऊपर के बीसवें मन्त्र में इन्द्र को 'गोपति' अर्थात् 'भूपति' कहा है। इन्द्र का यह विशेषण भी यही सूचित करता है कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् या भूपति करना चाहिए।

27. पतिर्भव वृत्रहन् त्सूनृतानां गिरां विश्वायुर्वृषभो वयोधाः।

आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान् महीभिरुतिभिः सरण्यन् ॥

ऋग्० 3.31.18.

अर्थात् (वृत्रहन्)¹ विघ्नों और रुकावटों का नाश करने वाले (इन्द्र) सम्राट् ! तू (त्सूनृतानां) हमारी मधुर और सत्य (गिरां) वाणियों का (पतिः) स्वामी (भव) वन (विश्वायुः)² हमें पूरी आयु देने वाला हो (वृषभः) हम पर सब सुखों और कल्याणों की वर्षा करने वाला हो (वयोधाः)³ हमें अन्न देने वाला वन (महान्) तू महान् (महीभिः) अपनी महान् (उतिभिः) रक्षाओं के साथ, और (शिवेभिः) कल्याण कारी (सख्येभिः) अपनी मित्रताओं के साथ (सरण्यन्)⁴ हम तक पहुँचने की इच्छा

¹ वृत्रं वृणोतेर्वा। यद्वृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते इति निरुक्तम्। 2.5.17.

² विश्वामयुर्यस्मात्स विश्वायुः।

³ वयोधमिति निरुक्तम्। 'परिध्र'संभोमना वां वयोगात्' इत्यस्य व्याख्यायाम्। निरु० 6.1.4.

⁴ सरणशब्दात् क्यच् सरणमिच्छति सरण्यति शतरि सरण्यन्।

रखता हुआ (नः) हमारे पास (आगहि) आ—भाव यह है कि हम तुझे वर्णित गुणों वाला जानकर तुझसे रक्षा की आशा रखते हुए तेरे साथ स्नेह करते हैं और तुझे बुलाते हैं, तू हमारी रक्षा करने के विचार से हमारे पास आ ।

इस मन्त्र में भी इसकी स्पष्ट ध्वनि है कि राजा चुना हुआ होना चाहिए । जब तक उसे राष्ट्र के लिए कल्याणकारी समझकर प्रजाएँ न बुलायें तब तक कोई व्यक्ति उन पर राज्य करने के लिए नहीं आ सकता । यह 'नः आगहि' हमारे पास आओ—इस बुलावे से असंदिग्ध सूचित हो रहा है ।

28. मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारि दिव्यं शासमिन्द्रम् ।

विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम ॥

ऋग० 3.47.5; यजु० 7.36.

यहाँ भी सम्राट् चुना हुआ होना चाहिए इसकी स्पष्ट सूचना है । मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—(त) उस प्रसिद्ध (इन्द्रम्)¹ ऐश्वर्यशाली सम्राट् को (इह) इस राज्य-पालन के कार्य में (हुवेम) हम बुलाते हैं । जो इन्द्र की (दिव्यम्) दिव्य गुणों वाला (शासम्) शासक है (मरुत्वन्तं)² सेनाओं का संचालन कर सकता है (वृषभं) राष्ट्र में सब सुखों की वर्षा कर सकता है (वावृधानम्) गुणों में खूब बढ़ा हुआ है अथवा राष्ट्र को खूब बढ़ा सकता है (अकवारि)³ अधर्मात्माओं का शत्रु है । (विश्वासाहं) सब प्रकार के शत्रुओं या विपत्तियों का पराभव करने वाला है (उग्रं) शत्रुओं को चुभने वाला है, और (सहोदाम्) अपने आश्रितों को बल देने वाला है । किस लिए बुलाते हैं ? (नूतनाय) नवीन (अवसे) रक्षा के लिए ।

'हुवेम'—हम बुलाते हैं इस बहुवचन के प्रयोग से प्रतीत होता है कि सारी प्रजाएँ मिलकर अपनी सहमति प्रकाशित कर रही हैं । जब तक प्रजा की सहमति प्रकाशित न हो ले तब तक कोई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता । 'इह' यहाँ इस शब्द की ध्वनि यह है कि राजा को राज्य पालन के लिए राजधानी में बुलाया जा रहा है । 'नूतनाय अवसे' नवीन रक्षण के लिए—इसकी व्यंजना यह है कि पुराने सम्राट् के हटने पर नये सम्राट् को चुना जा रहा है और अब इस नये सम्राट् द्वारा वे नवीन रक्षाएँ और कल्याण प्राप्त होंगे जो कि पुराने सम्राट् से नहीं प्राप्त हो सके थे ।

यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही लेना चाहिए, यह मन्त्रगत वर्णन से स्पष्ट है ।

¹ इन्द्र इरां दुर्गातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दो रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा, तबदेनं प्राणेः समैधुंस्तदिन्द्रस्वैन्द्रत्वमिति विज्ञायते, इदं करणादित्याग्रयणः इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः, इन्दते-वैश्वर्यकर्मणः, इन्दन् शत्रूणां दारयिता वा, द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वानाम् । निरु० 10.1.9. ऐन्द्रो वै राजन्यः । तै० 3.8.22.2. इन्द्रः क्षत्रम् । श० 10.4.1.5. क्षत्रं वा इन्द्रः । श० 2.5.2.27.

² मरुत् शब्द मरण-मारण शील सैनिकों का वाचक है यह आगे सिद्ध किया जायेगा ।

³ कीर्ति धर्मेमुपदिशति इति कवो न कवोकवोधर्मात्मा तस्यारिस्तम् इति दयानन्दः । प्रभूतशब्दं यद्वा अकुत्सितारम् इति सायणः ॥

उसके 'दिव्यं शासम्' 'दिव्य गुणों वाला शासक' इस विशेषण से तो और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ इन्द्र का अर्थ शासन-कर्ता सम्राट् करना चाहिए । यदि इस विशेषण का अर्थ बुलोक या स्वर्ग का शासक ऐसा करने का आग्रह किया जाय तो तब उसे अपने यहाँ बुलाने की प्रार्थना उपपन्न नहीं हो सकती । बुलोक-वासी इन्द्र बुलाने पर हमारे बीच में आकर हमारी रक्षा नहीं कर सकता । न पहले कभी कोई इस प्रकार इन्द्र को बुलाने में समर्थ हो सका है और न अब हो सकता है । कभी भी परीक्षण करके यह बात देखी जा सकती है । जिस चीज की वास्तव में सत्ता ही न हो तो वह आ कहीं से सकेगी ? यह सारा वर्णन और यह सारे विशेषण सम्राट् अर्थ में अधिक उचित रीति से संगत होते हैं । इसलिए अर्थ-निर्णय के प्रमुख निर्णायक 'औचित्य'¹ के आधार पर हमें यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही करना होगा । इसी प्रकार इस सूक्त के 'जहि शत्रूरुप मृधो नुदस्वाऽथाभयं कृणुहि विश्वतो नः' (3.47.2.) अर्थात् 'हे इन्द्र (सम्राट्) ! हमारे शत्रुओं को मार दीजिए, हमारे हिंसकों को परे भगा दीजिए और हमारे लिए सब ओर से अभय कर दीजिये'; 'उत ऋतुभिर्ऋतुपाः पाहि² सोममिन्द्र' (3.47.3.) अर्थात् 'हे इन्द्र (सम्राट्) ! ऋतु-ऋतु में कर रूप में हमारे ऐश्वर्य का पान करने वाले आप ऋतु-ऋतु में उसका पान कीजिए', इत्यादि इन्द्र विषयक वर्णन भी यही घोषित करते हैं कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही करना चाहिए । काल्पनिक इन्द्र में, यहाँ पाया जाने वाला सम्बोध्य और सम्बोधनकर्ताओं की घनिष्ठता और समीपता का वर्णन उपपन्न ही नहीं हो सकता । हमारे शत्रुओं और हिंसकों को मारने के लिए काल्पनिक इन्द्र हर समय कहीं तैयार खड़ा रह सकता है । उसको ऋतु-ऋतु में धन देने का भी कोई अभिप्राय नहीं । सम्राट् अर्थ में इनकी संगति बड़ी औचित्यपूर्ण बनती है ।

29. युवामिद्वचसे पूर्व्याय परि प्रभूती गविषः स्वापी ।

वृणीमहे सख्याय प्रियाय शूरा मंहिष्ठा पितरेव शंभू ॥

ऋग् ० 4.41.7.

अर्थात् (गविषः) गौ अर्थात् गौ, भूमि वाणी, ज्ञान वा इन्द्रिय शक्ति को चाहने वाले हम (पूर्व्याय) पूर्ण (अवसे) रक्षण की प्राप्ति के लिए (प्रभूती)³ सब कार्यों में समर्थ (स्वापी) हमारे सबसे अच्छे बन्धु (शूरा) शूरवीर (मंहिष्ठा) अतिशय सत्कार के योग्य और (पितरा-इव) माता-पिता की तरह (शंभू) हमारा कल्याण करने वाले

¹ संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

² पुं प्रसवैश्वर्ययोरित्यस्मात् सोमशब्दो निष्पद्यते । श्रीर्वै सोमः । श० 4.1.3.9. अन्नं सोमः ।

श० 3.3.4.28. अन्नं वै सोमः । श० 3.9.1.8.

³ प्रभवन्ती इति सायणः ।

हे इन्द्र (सम्राट्) और वरुण ! (प्रियाय) प्यारी (सख्याय) मित्रता के लिए (युवां) तुम दोनों को (इत्-हि) निश्चय से (वृणीमहे) हम चुनते हैं। तुम क्योंकि इन गुणों वाले हो और इसलिए हमारी इच्छाओं की पूर्ति करके तुम हमारी रक्षा कर सकते हो अतः हम तुमको चुनते हैं।

इस मन्त्र में भी सम्राट् के प्रजा द्वारा चुने जाने का स्पष्ट प्रतिपादन है। चुनाव के लिए 'वृणीमहे' यह 'वृञ् वरणे' धातु का प्रयोग चुनाव में कोई सन्देह नहीं रहने देता।

मन्त्रगत इन्द्र का वर्णन सम्राट् में ही अधिक अच्छी तरह सुसंगत हो सकता है इसलिए यहाँ उसका अर्थ सम्राट् करना ही उपयुक्त है। तथा सूक्तगत 'अश्व्यस्य तमना रथ्यस्य पुष्टेर्नित्यस्य रायः पतयः स्याम, ता चक्राणा ऊतिभिर्नव्यसीभिरस्मन्ना रायो नियुतः सचन्ताम्' (4.41.10) अर्थात् 'हम अश्वसमूहों के, रथों के सब प्रकार की पुष्टि के, क्षीण न होने वाले धन के स्वामी बन जाएँ, इन्द्र और वरुण (ता=तौ) हमारे आगे चलने वाले बरों (चक्राणा)¹, उनकी नवीन रक्षाओं से हमें धन से लदे हुए घोड़े (नियुतः)² अर्थात् 'बहुत धन प्राप्त होवे'; 'आ नो बृहन्ता बृहतीभिरुती इन्द्र यातं वरुण वाजसातौ, यदिद्यवः पृतनासु प्रक्रीळान् तस्य वां स्याम सनितार आजेः' (4.41.11) अर्थात् 'हमें अन्न, बल और ज्ञान देने के लिए (वाजसातौ) हे इन्द्र-वरुण ! आप दोनों अपनी महती रक्षाओं के साथ आइये, जब सेनाओं में चमकते हुए शस्त्रों की क्रीड़ा होने लगे तो उस युद्ध में तुम्हारी सहायता से हमें विजय प्राप्त हो'; 'तोके हि ते तनय उर्वरासु सूरौ दृशीके वृषणश्च पौंस्ये, इन्द्रा नो अन्न वरुणा स्यातामचोभिर्दस्मा परितक्म्यायाम्' (4.41.6.) अर्थात् 'पुत्र की प्राप्ति के निमित्त, पौत्र की प्राप्ति के निमित्त, उपजाऊ भूमियों की प्राप्ति के लिए, दीर्घ जीवन के लिए, पुरुषों में पुरुषत्व डालने के निमित्त और मुसीबत के समय (परितक्म्यायाम्)³ इन्द्र और वरुण यहाँ हमारी रक्षा करें'; 'इन्द्रा ह रत्नं वरुणा घेष्ठेत्या नृभ्यः शशमानेभ्यस्ता, यदी सख्याया सख्याय सोमैः सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते' (4.41.3.) अर्थात् 'यदि इन्द्र और वरुण कर-रूप में धनादि ऐश्वर्य (सोमैः)⁴ और अन्न से (प्रयसा)⁵ आनन्दित रहते हैं तो वे परिश्रमी (शशमानेभ्यः)⁶ मनुष्यों को रत्न देते हैं'; 'इन्द्रा युवं वरुणा दिद्युमस्मिन्नो-जिष्ठमुग्रा नि वधिष्टं वज्रम्, यो नो दुरेवो वृकतिर्दभीतिस्तस्मिन् मिमाथामभिभूत्योजः' (4.41.4) अर्थात् 'हे इन्द्र और वरुण जो बुरे आचरणवाला (दुरेवः) हमारे धनों को

¹ चक्रममाणी इति सायणः । क्रमु पादविक्षेपे ।

² अश्वः इति सायणः ।

³ तकि कृच्छ्रजीवने ।

⁴ पु प्रसवैश्वर्ययोः ।

⁵ प्रय इति अन्ननामसु पठितम् । निघ० 2.7.

⁶ शश प्लुतगतौ ।

छीन ले जाने वाला (वृकतिः)¹ और हमारी हिंसा करने वाला (दभीतिः)² शत्रु है उस पर अपना शत्रुओं का अभिभव करने वाला जो बल है उसे लगाइये, उस पर अपना चमकता हुआ पेना शस्त्र फेंकिये,' इत्यादि इन्द्र-विषयक वर्णन भी यही सिद्ध करते हैं कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् करना चाहिए। काल्पनिक स्वर्णनामक स्थान में रहने वाला इन्द्र हमारे जीवनो में इतनी गहरी अभिरुचि न तो ले सकता है और न ही लेता है कि वह घोड़ों, रथों, घोड़ों पर लादकर ढोये जाने वाले प्रभूत धनों, अन्नो, ज्ञानों, पुत्र-पौत्रों, उपजाऊ भूमियों और रत्नों को देता रहे। और न ही वह जब हम पर कोई मुसीबत आये तभी हमारी रक्षा के लिए उपस्थित हो सकता है। युद्धों में हमारे शत्रुओं पर तीखे शस्त्र फेंकने के लिए वह हमारे साथ मिलकर हमारी सेनाओं में लड़ने भी नहीं आ सकता। ये सारी बातें एक सुयोग्य और उत्तम प्रबन्ध करने की शक्ति रखने वाले सम्राट् में ही संगत हो सकती हैं और अधिक सुन्दर रीति से संगत हो सकती हैं। वरुण कौन है इसका विवेचन यथास्थान आगे किया जायेगा।

30. महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विवर्हा अमिनः सहोभिः ।

अस्मद्रचगवावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ॥

ऋग् ० 6.19.1, यजु० 7.39.

यहाँ भी पुनः वही बात कही गई है कि राजा चुना हुआ होना चाहिए। मन्त्र के शब्दों का अर्थ इस प्रकार है— (इन्द्रः) यह सम्राट् (महान्) महान् है (नृवत्) नरों की भाँति (आ) सब ओर से (चर्षणीप्राः) मनुष्यों की पालना करने वाला है (द्विवर्हाः)³ दोनों प्रकार की प्रजाओं की वृद्धि करने वाला है या उसका प्रधान है। (सहोभिः) अपने बलों के कारण (अमिनः)⁴ अहिंसनीय है (उरुः)⁵ बड़े शरीर वाला है (पृथुः)⁶ बड़े गुणों वाला है (कर्तृभिः) बनाने वालों से (सुकृतः भूत्) उत्तम रीति से बनाया गया है (वीर्याय) राष्ट्र के बल-वीर्य के लिए (वावृधे) यह बढ़ाया गया है (अस्मद्रचक्) इसकी मनोवृत्ति सदा हमारी ओर रहती है।

‘सुकृतः कर्तृभिर्भूत्’—‘बनाने वालों ने इसे उत्तम रीति से बनाया है—यह वाक्य कोई सन्देह नहीं रहने देता कि राजा चुना हुआ होना चाहिए। उसे बनाया जाना चाहिए। वह वंशानुक्रम के अधिकार से स्वयं ही राजा न बन जाये। जब तक बनाने वाली प्रजाएँ न बनाना चाहें तब तक वह राजा नहीं बन सकता। ‘वीर्याय वावृधे’—‘वह राष्ट्र के बल-पराक्रम के लिए बढ़ाया गया है’—इस वाक्य की ध्वनि भी यही है

¹ वृक आदाने ।

² दम्नोतोति वधकर्मसु पठितम् । निघ० 2.19.

³ बृह वृद्धि वृद्धौ । वर्ह प्राधान्ये । स्त्रीपुरुषरूपेण द्वयी, पशुमनुष्यादिरूपेण द्वयी, जंगमाजंगम-रूपेण द्वयीति बहुविधं द्वित्वं प्रजासुहृत् ।

⁴ मीळ हिंसायाम् । अहिंसनीय इति सायणः ।

⁵ शरीरेण विस्तीर्णः इति सायणः ।

⁶ पृथुगुणैः प्रथित इति सायणः ।

कि राजा चुना जाना चाहिए। प्रजाओं ने उसे बढ़ाकर राजसिंहासन पर बिठाया है। यदि वे न चाहतीं तो उसे यह उच्च पदवी न मिल सकती। फिर, उसे राष्ट्र के बल-वीर्य के लिए बढ़ाया गया है। यदि वह अपने इस उद्देश्य में सफल न हो तो उसे राजसिंहासन से उतारा भी जा सकता है। यह ध्वनि भी 'वीर्याय वावृधे' में 'वीर्याय' इस पद की है।

यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् करना होगा यह तो मन्त्रगत वर्णन से ही अति स्पष्ट है। नहीं तो 'सुकृतः कर्तृभिर्भूत' इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं रहेगा। भला स्वर्गाधिपति देवाधिदेव काल्पनिक इन्द्र को बनाने वाले कर्ता लोग कौन होंगे ? उसे तो सब संसार का निर्माण करने वाली 'अदिति' माता ने सर्गारम्भ में समग्र सृष्टि के साथ देवाधिदेव बनाकर स्वर्ग के राज्य में अधिष्ठित किया है। फिर उसका निर्माण करने वाले कर्ता-लोग कौन हैं ? पुनः उसे बल-वीर्य की प्राप्ति के लिए बढ़ाया गया है—'वीर्याय वावृधे।' काल्पनिक स्वर्गाधिपति इन्द्र को कौन बढ़ायेगा ? वह तो अपने प्रभाव से स्वयं बढ़ा हुआ है। वह तो औरों को बढ़ाने वाला है न कि स्वयं औरों द्वारा बढ़ने वाला। 'वावृधे' पद का 'वह स्वयं बढ़ा है' ऐसा अर्थ यहाँ उपपन्न नहीं हो सकता। यहाँ कहा गया है कि वह 'वीर्याय वावृधे।' इन्द्र बढ़ पहले गया और फिर उसे वीर्य प्राप्त हुआ यह विचार-सह बात नहीं है। वीर्य से ही तो उसकी वृद्धि होनी है। बिना वीर्य के वृद्धि ही सम्भव नहीं हो सकती। वीर्यशालिता का ही तो दूसरा नाम वृद्धि है। वृद्धि और वीर्य साथ-साथ होंगे। आगे-पीछे नहीं हो सकते। इसलिए यहाँ इन्द्र स्वयं बढ़ गया है यह अर्थ 'वावृधे' का नहीं किया जा सकता। जो अर्थ हमने ऊपर किया है वही करना होगा। और उस अर्थ में इसकी संगति सम्राट् अर्थ में ही हो सकती है, काल्पनिक इन्द्र अर्थ में नहीं। भला उस इन्द्र के बढ़ाने वाले कौन हो सकते हैं ?

इस सारे सूक्त में जो इन्द्र का वर्णन हुआ है उससे भी यही स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् करना चाहिए। सूक्तगत इन्द्र के ये सारे वर्णन सम्राट् अर्थ में ही अधिक सुन्दर रीति से संगत होते हैं, काल्पनिक इन्द्र अर्थ में नहीं। उदाहरण के लिए 'पृथु करस्ना बहुला गभस्ती अस्मद्रघक् सं मिमीहि श्रवांसि, यूथेव पश्वः पशुपा दमूना अस्मां इन्द्राभ्या ववृत्स्वाजौ' (6.19.3) अर्थात् 'हे इन्द्र ! आप अपने कर्मशील बड़े-बड़े हाथ (गभस्ती)¹ हमारी ओर कीजिए और उनके द्वारा हमें ज्ञान और यश (श्रवांसि) दिलवाइये, ग्वाला जैसे अपने पशुओं के झुण्डों में रहता है वैसे ही आप संग्राम आदि में रक्षा करने के लिए हम में आकर रहिए' ; 'धृतव्रतो घनदाः सोमवृद्धः स हि वामस्य वसुनः पुरुक्षुः, सं जग्मिरे पथ्या रायो अस्मिन्समुद्रे न सिन्धवो यादमानाः', (6.19.5) अर्थात् 'यह इन्द्र राज्य के नियमों को यथावत् चलवाने वाला है (धृतव्रतः), घन देने वाला है, ऐश्वर्यवृद्ध है (सोमवृद्धः), कमनीय घन और बहुत अन्न देने वाला है, जैसे समुद्र में जल लिये हुए नदियाँ जाती हैं वैसे ही सब ओर से

¹ गभस्ती इति बाहुनामसु पठितम् । नि० 2.4.

हितकारी (पथ्या) धनों की धाराएँ इसकी ओर आ रही हैं'; 'शविष्ठं न आ भर शूर शव ओजिष्ठमोजो अभिभूत उग्रम्, विश्वा द्युम्ना वृष्या मानुषाणामस्मभ्यं वा हरिवो मादयध्वै' (6.19.6) अर्थात् 'हे शत्रुओं का पराभव करने वाले शूर इन्द्र ! हमें बलों में श्रेष्ठ बल दीजिए । और ओजों में श्रेष्ठ और तीक्ष्ण ओज दीजिए, मनुष्यों के योग्य जो सब पुष्टिकारक धन हैं उन्हें हे उत्तम घोड़ों वाले ! हमें दीजिए जिससे हम आनन्द से रहें'; 'जनं वज्रिन् महि चिन्मन्यमानमेभ्यो नृभ्यो रन्धया येष्वस्मि, अघा हि त्वा पृथिव्यां शूरसातौ हवामहे तनये गोष्वप्सु' (6.19.12) अर्थात् 'हे शस्त्रास्त्रधारी इन्द्र ! अपने आपको बड़ा समझने वाले हमारे शत्रु को भी इन मनुष्यों के लिए जिन में मैं रहता हूँ तू भून दे, हम तुझे अपनी भूमि में वीरों की प्राप्ति के लिए (शूरसातौ), पुरुषों के लिए तथा गौओं और जलों की प्राप्ति के लिए बुला रहे हैं'; 'वयं त एभिः पुरुहूत सख्यैः शत्रोः शत्रोस्तत्र इत् स्याम, धनन्तो वृत्राण्युभयानि शूर राया मदेम बृहता त्वोताः' (6.19.13) अर्थात् 'हे बहुसंख्या द्वारा बुलाये गये (पुरुहूत) शूरवीर इन्द्र ! हम तेरी मित्रताओं से प्रत्येक शत्रु के ऊपर हो जाएँ, तेरे से रक्षित हम दोनों प्रकार के (वृत्राण्युभयानि)¹ अर्थात् राष्ट्र के भीतरी और बाहरी शत्रुओं को मारते हुए खूब ऐश्वर्य को प्राप्त करके आनन्दित रहें;—इन मन्त्रों में जो इन्द्र-विषयक वर्णन है वह सम्राट् पर ही घट सकता है । इनमें हमारे जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं में गहरी अभिरुचि लेने की जो इन्द्र से प्रार्थनाएँ की गई हैं वे द्युलोकवासी इन्द्र में नहीं उत्पन्न हो सकतीं । वह इतनी गहरी और उष्ण अभिरुचि हमारे जीवन में नहीं ले सकता, न ही कभी लेता देखा गया है और न देखा ही जा सकता है । प्रजा के कल्याण में इतनी गहरी और उष्ण अभिरुचि तो उसका सम्राट् ही ले सकता है । एक योग्य सम्राट् के सुप्रबन्ध में ही वे सब बातें जो इन मन्त्रों में इन्द्र से माँगी गई हैं प्रजा को प्राप्त हो सकती हैं । सारे सूक्त को पढ़ने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्र से जिन सम्बोधनों और जिन शब्दों में याचनाएँ की गई हैं और उसके जिस प्रकार के कर्म बताये गये हैं उनके आधार पर वह प्रार्थना करने वाले प्रजाजनों के साथ रहने वाला—उनमें से ही एक—व्यक्ति है । इन्द्र के प्रायः सभी सूक्तों में पाये जाने वाले वर्णनों से यह प्रतीत होता है । ऐसी अवस्था में इस सूक्त तथा सूक्तान्तरो की साक्षी के आधार पर हमें इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही करना चाहिए । यह अर्थ करने पर ही सूक्तों के अर्थ में सौन्दर्य आता है और वे शिक्षाप्रद बनते हैं ।

31. त्वां हीन्द्रावसे विवाचो हवन्ते चर्षणयः शूरसातौ ।

त्वं विप्रेभिर्वि पणी रशायस्त्वोत इत् सनिता वाजमर्वा ।

ऋग् ० 6.33.2.

¹ 'येन वंसाम पतनासु शत्रून् तवोतिभिस्त जामी रजामीन्' (6.19.8.) इत्यस्मिन् मन्त्रे आत्मीयानां परेषाञ्च शत्रूणां हननस्य प्रार्थनमस्ति तदेवान् उभयशब्देन परामृश्यते ।

अर्थात् 'हे (इन्द्र) सम्राट् ! (शूरसाती)¹ शूरवीरों की प्राप्ति के लिए और (अवसे) रक्षा के लिए अथवा (शूरसाती-अवसे) युद्ध में रक्षा के लिए (विवाचः) विभिन्न प्रकार की वाणियों वाले (चर्षणयः) मनुष्य (हि) निश्चय से (त्वां) तुझको (हवन्ते) बुलाते हैं (त्वं) तू (विप्रेभिः) विद्वान् ब्राह्मणों—उनकी उच्च शिक्षाओं द्वारा (विपणीन्)² बुरा व्यवहार या व्यापार करने वाले लोगों को (अशायः) सुला देता है—उनके बुरे स्वभाव को दबा देता है (त्वोतः) तेरे से रक्षित (अर्वा)³ गतिशील पुरुषार्थी पुरुष (इत्) ही (वाजं) अन्न, बल और ज्ञान को (सनिता) प्राप्त करता है ।'

यहाँ भी राजा के चुनाव की स्पष्ट सूचना है। 'विवाचः चर्षणयः'—'विभिन्न प्रकार की वाणियों वाले पुरुष'—इस वाक्य से सूचित किया गया है कि राजा के राज्याभिषेक से पूर्व उसके चुनाव में प्रजा के सभी प्रान्तों और प्रदेशों में रहने वाले लोगों की सहमति ली जानी चाहिए। इस प्रकार प्रजा की सहमति के बिना किसी को भी राजा नहीं बनाया जाना चाहिए। मन्त्रगत वर्णन तथा पूर्व प्रमाणों के आधार पर यहाँ इन्द्र का अर्थ राष्ट्र में ऐश्वर्य देने वाला सम्राट् ही करना चाहिए।

32. त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।

ह्वयामि शक्रं पुरहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥

ऋग्० 6.47.11, यजु० 20.50, अथ० 7.86.1.

यहाँ भी सम्राट् चुना जाना चाहिए, उसे वंशानुक्रम के अधिकार से नहीं बनाया जाना चाहिए, इसकी स्पष्ट सूचना दी गई है। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—'(त्रातारम्)⁴ पालना करने वाले (इन्द्रं) इस सम्राट् को (अवितारम्)⁵ रक्षण, ज्ञान, तृप्ति आदि अनेक कल्याण के कर्म करने वाले (इन्द्रम्) इस सम्राट् को (हवे-हवे) आवश्यकता के समय प्रत्येक बुलावे में (सुहवम्) सबसे उत्तम बुलाने योग्य (शूरं) शूरवीर इस (इन्द्रम्) सम्राट् को (पुरहूतं) बहुसंख्या द्वारा बुलाये गये (शक्रं) शक्तिशाली (इन्द्रम्) इस सम्राट् को (ह्वयामि) मैं राज्य करने के लिए बुला रहा हूँ (मघवा) ऐश्वर्यशाली (इन्द्रः) वह सम्राट् (नः) हमें (स्वस्ति) कल्याण (धातु) देवे ।'

'पुरहूत'—'बहुसंख्या द्वारा बुलाया गया'—और 'ह्वयामि'—'बुलाता हूँ'—इन शब्दों के प्रयोग के पीछे सन्देह नहीं रह सकता कि सम्राट् प्रजा के बहुमत से चुना हुआ होना चाहिए। प्रजाओं के त्राण, रक्षण और स्वस्ति के लिए राज्य

¹ शूराणां साती संभजने प्राप्ती इति यावत् । यद्वा शूरसाती इति संग्रामनामसु पठितम् । निघ० 2.16.

² विरुद्धं धर्ममर्यादातो विपरीतं पणन्त इति विपणयः कुव्यवहारिणः तान् ।

³ अभिगन्ता इति सायणः ।

⁴ तैङ् पालने ।

⁵ अथ रक्षणगतिकान्तिप्रीतितुप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचन प्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्याल्लगन-भागवद्विषु ।

सिंहासन पर सम्राट् विठाया जाता है। जब तक प्रजा का बहुमत यह न प्रकट कर दे कि अमुक व्यक्ति प्रजा के कल्याण के कार्य करने में समर्थ है तब तक उसे राजा नहीं चुना जा सकता है। इस प्रकार की अपनी सहमति द्वारा प्रजा से बुलाये जाने पर ही उसे राज्य की बागडोर सम्भालने के लिए कहा जा सकता है।

‘रयिस्थानो रयिमस्मासु वेहि’ (6.47.6) अर्थात् ‘हे इन्द्र ! तू धनों का स्थान है हमें धन दे’; ‘इन्द्र प्र णः पुरएतेव पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ, भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिरुत वामनीतिः’ (6.47.7) अर्थात् ‘हे इन्द्र ! (सम्राट्) तू हमें नेता की तरह (पुरएतेव)¹ देख अर्थात् जैसे नेता अपने अनुयायियों के कल्याण और हित की चिन्ता रखते हैं वैसे ही तू हम प्रजाजनों के हित का खयाल रख, हमें उत्तम धन अच्छी तरह से प्राप्त करा, तू हमारा सब विपत्तियों से पार लगाने वाला हो, हमें अच्छी तरह से पार लगा, तू हमें अच्छी नीति देने वाला हो (सुनीतिः)² और चाहने योग्य पदार्थों का प्राप्त कराने वाला हो (वामनीतिः)³; ‘ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप स्थेयाम शरणा बृहन्ता’ (6.47.8) अर्थात् ‘हे इन्द्र ! हम तेरे सुन्दर बड़े-बड़े और आश्रय देने वाले दोनों हाथों की रक्षा में बैठें’; ‘बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम’ (6.47.12) अर्थात् ‘इन्द्र हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओं का पराभव करे, हमें अभय दे और उसकी सहायता से हम सुवीर्यशाली बन जावें’; ‘आराच्चिद् द्वेषः सनुतयुयोतु’ (6.47.13) अर्थात् ‘हमारे दूर और नजदीक के शत्रुओं को भगा देवे’; ‘शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन्नन्यमन्यमतिनेनीयमानः, एघमानद्विभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्’ (6.47.16) अर्थात् ‘यह इन्द्र (सम्राट्) वीर है ऐसा मैं सुनता हूँ, बड़े-चढ़े बल वाले (उग्रमुग्र)⁴ एक को अर्थात् शत्रु को यह दमन करता रहता है (दमायन्) और एक को अर्थात् आज्ञाकारी प्रजाजनों को उन्नति के रास्ते पर ले जाने वाला है (अतिने-नीयमानः), यह बढ़ते हुए दुश्मन का द्वेषी है, दोनों प्रकार की प्रजाओं का राजा है, मनुष्य प्रजाओं को लक्ष्य करके बार-बार उनके कल्याण की घोषणा करता है (चोष्कूयते)⁵; —इत्यादि सूक्तगत इन्द्र-विषयक वर्णन असंदिग्ध रूप से सिद्ध करते हैं कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही करना चाहिए। ये वर्णन सम्राट् में ही संगत हो सकते हैं। स्वर्गाधिवासी काल्पनिक इन्द्र अर्थ में नहीं। इन्द्र का हमें धन देना, नेता होकर मार्ग-प्रदर्शन करना, सुनीति सिखाना, विपत्तियों से पार उतारना, अपनी बाहुओं की छाया में रखना, दूर और समीप के हमारे शत्रुओं को मार भगाना, दुष्ट दुश्मनों को दवाना और श्रेष्ठ प्रजाजनों

¹ पुरएताग्रगन्ता मार्गदर्शक इति सायणः ।

² सुष्ठु शोभना नीतिः कल्याणमार्गोपदेशो यस्य सः ।

³ वामानां वननीयानां नीतिः प्रापणं यस्मात् सः ।

⁴ उद्गूर्णमुद्गूर्णं बलिनं शत्रुमिति सायणः ।

⁵ कु शब्दे पुनः पुनः कल्याणं कीति शब्दयति धोषयति इति चोष्कूयते । रक्षणार्थं पुनः पुनराह्वयति इति सायणः ।

की उन्नति करना ये ऐसे काम हैं जो एक सम्राट् में ही संगत हो सकते हैं। फिर उसे स्त्री-पुरुष आदि भेद से दोनों प्रकार की प्रजाओं का राजा कहना और यह कहना कि वह मनुष्य-प्रजाओं के कल्याण की घोषणा करता रहता है स्पष्ट ही कर देता है कि यहाँ 'इन्द्र' का अर्थ सम्राट् ही लेना चाहिए। 'मनुष्य प्रजाओं के कल्याण की घोषणा करता रहता है' यह वाक्य साफ ध्वनित करता है कि इन्द्र का मनुष्य प्रजा के साथ कोई विशेष सम्बन्ध है। यदि कोई देव-विशेष काल्पनिक इन्द्र अभिप्रेत होता तो 'प्राणियों या संसार के कल्याण की घोषणा कर रहा है' ऐसा कहा जाता। पुनः काल्पनिक इन्द्र की जिसे मनुष्यों की तरह ही शरीरधारी माना जाता है, तो किसी प्रकार की घोषणाएँ हमें कभी सुनाई नहीं पड़तीं, सम्राट् की घोषणाएँ प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के कानों तक पहुँचती हैं। इसलिए यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही करना चाहिए। फिर इसी सूक्त के अन्तिम छः (6.47.26-31) मन्त्रों में युद्धोपकरण रथ और दुन्दुभि का वर्णन तथा इन्द्र का मनुष्यों के साथ मिलकर लड़ाइयों को जीतने का जो वर्णन है उससे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ इन्द्र का अर्थ मनुष्य सम्राट् ही करना चाहिए। स्वर्गवासी काल्पनिक इन्द्र मनुष्यों की लड़ाइयों में किसी एक पक्ष के सैनिकों का साथी योद्धा बनकर लड़ने कहाँ आ सकता है? उसकी लड़ाइयाँ तो दैत्यों के साथ ही होती सुनी जाती हैं।

33. तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः ।

उतोपमानां प्रथमो निषीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥

ऋ० 8.61.2.

यहाँ भी राजा के चुनाव का स्पष्ट वर्णन है। मन्त्र का शब्दार्थ लीजिये—'(तं) उस प्रसिद्ध (वृषभं) प्रजाओं पर अनेक प्रकार के कल्याणों की वर्षा कर सकने वाले (स्वराजं) अपने गुणों से स्वयं प्रकाशमान व्यक्ति को (ओजसे) बल की प्राप्ति के लिए (धिषणे)¹ विद्यावान् स्त्री-पुरुषों ने (इन्द्रं)² सम्राट् (निष्टतक्षतुः) बनाया है अथवा (इन्द्रं) ऐश्वर्यवर्द्धक व्यक्ति को (स्वराजं) अपना राजा (निष्टतक्षतुः) बनाया है, ऐसी भी पद-योजना कर सकते हैं। दोनों योजनाओं का निचोड़ एक ही है। (उत्त) और हे इन्द्र ! तू (उपमानां) उपमाओं में (प्रथमः) सबसे मुख्य (निषीदसि) है—अर्थात् लोग प्रत्येक बात में तेरी ही उपमा देते हैं (ते) तेरा (मनः) मन (सोमकामं) सोम की कामना वाला है अर्थात् तू प्रजाओं से विभिन्न प्रकार के करों के रूप में सोम अर्थात् ऐश्वर्य लेना चाहता है।'

यहाँ असंदिग्ध रूप में बता दिया गया है कि प्रजायें अपने कल्याण और बल-प्राप्ति के लिए राजा को बनाती हैं। 'निष्टतक्षतुः'—बनाया है—पद इसमें

¹ वाग्वै धिषणा (श० 6.5.4.5) धिषणा वाङ्मामसु पठितम् । निष० 1.11. विद्या वै धिषणा । तै० 3.2.2.2. अत्र त्वन्यथानुपपत्तेर्लक्षणया वाग्व्यवहारकुशलं विद्यावन्तं पुरुषमाचष्टे । द्विवचनस्य प्रजागतस्य स्त्रीपुंसरूपस्य द्वित्वस्य विवक्षया ।

² इन्द्र इति पदं पूर्वं मन्त्रेभ्य आकृष्यते ।

भी सन्देह नहीं रहने देता कि इस सूक्त में इन्द्र का अर्थ सम्राट् करना चाहिए । तक्ष् धातु—जिससे यह 'निष्टतक्षतुः' पद बना है—का शाब्दिक अर्थ है, 'छीलकर, घड़कर किसी चीज को बनाना, कोई चीज पहले जिस रूप में नहीं थी उसे घड़ कर उस नये रूप में लाना ।' सामान्य प्रयोग में उसका अर्थ बनाना ऐसा भी हो जाता है । यहाँ इन्द्र के लिए 'निष्टतक्षतुः' पद का प्रयोग यह स्पष्ट बताता है कि उसे उस रूप में बनाया गया है जिस रूप में वह पहले नहीं था । सम्राट् रूप में वह पहले नहीं था । अब प्रजाओं ने उसे सम्राट् रूप में बनाया है । पास पड़ा हुआ 'स्वराज'—'अपना राजा'—यह पद इस बात की और पुष्टि कर देता है कि यहाँ जिस बनाने की ओर 'निष्टतक्षतुः' पद इशारा करता है वह सम्राट् रूप में बनाना ही है । काल्पनिक इन्द्र में 'निष्टतक्षतुः' पद की योजना दुर्घट है । वह तो पहले ही बना बनाया है । उसे अब और घड़-घड़ाकर, सुन्दर बनाकर किसने तैयार करना है । वह तो औरों का भाग्यविधाता देव है, उसके विधाता और कौन हो सकते हैं ? एक सम्राट् की विधाता उसकी प्रजा अवश्य ही हो सकती है ?

सूक्तगत इन्द्र के अन्य वर्णन भी सम्राट् अर्थ में ही सुसंगत हो सकते हैं । काल्पनिक इन्द्र में नहीं । उदाहरण के लिए—'विद्वा हि त्वा हरिवः पृत्यु सासहिमधृष्टं चिद् दधृष्वणिम्' (8.61.3) अर्थात् 'हे उत्तम घोड़ोंवाले इन्द्र ! हम जानते हैं कि तू युद्धों में शत्रुओं का पराभव करने वाला है । तू औरों को दबा सकता है, पर तेरा घर्षण कोई नहीं कर सकता'; 'आ पुरन्दरं चक्रम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे' (8.61.8) अर्थात् 'हम ब्राह्मणों जैसे वचनों वाले अथवा प्रकृष्ट वाणियों वालों (विप्रवचसः) ने अपनी रक्षा के लिए, इसके गुण गाते हुए, शत्रुओं के नगरों का विदारण करने वाले इस सम्राट् (इन्द्र) को बनाया है (चक्रम¹)'; 'उग्रं युयुज्म पृतनासु सासहिमृणकातिमदाभ्यम्' (8.61.12) अर्थात् 'हम इस सम्राट् को (इन्द्र) राज्य संभालने के काम में अथवा सेनाओं के संचालन में लगाते हैं (युयुज्म²) यह उग्र अर्थात् बली है, सेनाओं में शत्रुओं का पराभव करने वाला है, ऋणों का फैसला करने वाला है (ऋणकार्ति³) और यह किसी से नहीं दबता'; 'अद्याद्या इवः इव इन्द्र त्रास्व परे च नः, विश्वा च नो जरितून्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः' (8.61.17) अर्थात् 'हे इन्द्र (सम्राट्) ! तू आज भी, और कल भी और परसों भी हमारी रक्षा कर, हम प्रभु के उपासक लोगों की (जरितून्) सभी दिनों में रक्षा कर, दिन और रात रक्षा कर,—इत्यादि इन्द्र विषयक वर्णनों से यही प्रतीत होता है कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही करना चाहिए । नहीं तो उसका अपनी रक्षा के लिए हमारे द्वारा बनाया जाना, राज्य सम्भालने में या सेनाओं में लगाया जाना, उसका हमारे ऋणों

¹ चक्रमेति क्रियापदेन सम्राजः प्रजाभिर्निर्माणं सूच्यते ।

² युयुज्म योजयास इति क्रियापदेन राज्ञः प्रजाभिः कृतं राज कर्मणि योजनं संलक्ष्यते ।

³ ऋणानां कातिः शब्दनं यस्मात्स ऋणकातिः । कै शब्दे । इदमृणस्य पुरुषस्यानेन दातव्यमिति यः कायति शब्दयते स ऋणकातिः ।

के फ़ौसले करना और दिन-रात हमारी रक्षा के लिए तैयार रहना, ये कार्य इन्द्र में घट ही नहीं सकते। ये कार्य तो प्रजाओं द्वारा राज्य में अधिष्ठित किये गये सम्राट् में ही संघटित हो सकते हैं। काल्पनिक इन्द्र कहाँ हमारी सेनाओं में लड़ने और उनका संचालन करने आयेगा और कहाँ वह हमारे ऋणों के फ़ौसले करने आयेगा ?'

34. जज्ञानो नु शतक्रतुर्विपृच्छदिति मातरम् ।

क उग्राः के ह शृण्वरे ॥

ऋग्० 8.77.1.

अर्थात् '(शतक्रतुः) सैकड़ों प्रकार के कर्म कर सकने वाला यह इन्द्र सम्राट् (जज्ञानः) उत्पन्न होते (नु) ही (मातरं) अपनी बनाने वाली प्रजा माता को (इति) यह (विपृच्छत्) पूछता है कि इस राष्ट्र में (के) कौन (उग्राः) उग्र होकर खड़े हैं और (के) कौन (शृण्वरे) राजशासन को सुनते हैं—उसे मानते हैं।'

मन्त्र का भाव यह है कि सम्राट् राजसिंहासन पर बैठते ही प्रजा की शिकायतें सुनने लगता है। जो लोग उग्र होकर प्रजा को कष्ट देने वाले होते हैं, उनको दण्डित करता है और जो राजशासन को मानकर शान्ति से जीवन व्यतीत करते हैं उनकी रक्षा करता है।

यहाँ भी इन्द्र की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है और उसे उत्पन्न करने वाली माता का इशारा किया गया है ! इन्द्र की यह उत्पत्ति सम्राट् रूप में उत्पत्ति ही है और उसकी यह माता उसका सम्राट् रूप में निर्माण करने वाली प्रजा रूप माता से भिन्न दूसरी कोई माता नहीं है। प्रजा को माता शब्द से द्योतित करना यह स्पष्ट ध्वनित करता है कि प्रजा का राजा पर कितना अधिकार रहना चाहिए। वह चाहे तो उसे राजा बना सकती है और चाहे तो उसे अयोग्य होने पर हटा भी सकती है। इस प्रकार इन्द्र की उत्पत्ति और प्रजा के मातृत्व का वर्णन करके मन्त्र में सम्राट् के चुनाव की असंदिग्ध ध्वनि की गई है। काल्पनिक इन्द्र की जैसा हम पीछे दिखा आये हैं, कोई माता उपपन्न नहीं हो सकती। लौकिक सम्राट् अर्थ में ही इन्द्र की माता की उपपत्ति हो सकती है। और यहाँ उसका सम्राट् अर्थ करने पर भी माता का अर्थ प्रजा रूप माता करना होगा। शारीरिक जन्मदात्री माता अर्थ यहाँ अप्रासंगिक और सर्वथा निरर्थक होगा।

35. विश्वाः पूतना अभिभूतरं नरं सजुस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।

ऋत्वा वरिष्ठं वर आमुस्मृतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥

ऋग्० 8.97.10, अथ० 20.54.1.

इस मन्त्र को पढ़ने के पश्चात् किसी को सन्देह ही नहीं रह सकता कि वेद में इन्द्र शब्द सम्राट् के लिए भी प्रयुक्त होता है और वह सम्राट् प्रजाओं की सहमति द्वारा चुना जाना चाहिए। मन्त्र का शब्दार्थ पहले सुनिये—

'मनुष्यों ने (सजुः) मिलकर (इन्द्रं) इस सम्राट् को (ततक्षुः) बनाया है (च)

और (राजसे) राज्य करने के लिए (जजनुः) उत्पन्न किया है। यह इन्द्र (नरं) नर है—श्रेष्ठ मनुष्य है (विश्वः) शत्रुओं की सभी प्रकार की (पृतनाः) सेनाओं का (अभिभूतरं) औरों से अधिक पराभव करने वाला है (ऋत्वा) अपने ऋतु¹ अर्थात् कर्मों और बुद्धि से (वरिष्ठम्) राष्ट्र में सबसे श्रेष्ठ है (आमुरिम्) दुष्टों का मारने वाला है (उत) और (उग्रं) शक्ति से भरा हुआ है (ओजिष्ठम्) सबसे अधिक तेजस्वी है (तवसं)² गुणों में महान् है (तरस्विनम्)³ प्रत्येक काम को बड़ी शीघ्रता से करने वाला है और इसीलिये वह (वरे) अर्थात् राष्ट्र के सबसे श्रेष्ठपद अर्थात् राजसिंहासन पर है।¹

‘मनुष्यों ने उसे मिलकर बनाया है’—उसका चुनाव किया है। उसी भाव को और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—‘राज्य करने के लिए उत्पन्न किया है।’ इन शब्दों में असंदिग्ध रूप से वेद की सम्मति प्रकट हो रही है कि कोई व्यक्ति राजा नहीं बनाया जाना चाहिए जब तक कि किसी राष्ट्र के मनुष्य मिलकर उसका अपने ऊपर राज्य करने के लिए चुनाव न कर लें। वंशानुक्रम के अधिकार से कोई राजा नहीं बन सकता। राजा बनने के लिए प्रजा की सहमति का होना अत्यावश्यक है।

यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही लेना होगा। यह ‘सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे’—‘इन्द्र को मनुष्यों ने मिलकर बनाया है, राज्य करने के लिए उत्पन्न किया है’—इस वाक्य में असंदिग्ध शब्दों में कह दिया गया है। काल्पनिक इन्द्र अर्थ में मनुष्यों द्वारा उसका घड़ा जाना, उसका उत्पन्न होना उपपन्न ही नहीं हो सकता। वह तो देवराज है। उसके बनाने और उत्पन्न करने वाले मनुष्य कैसे हो सकते हैं? उसे तो सर्गारम्भ में अदिति माता ने बनाया था ऐसा सुनते हैं। यहाँ मन्त्रार्थ में अदिति की उपस्थिति सम्भव नहीं है।—‘ततक्षुः’ और ‘जजनुः’ ये बहुवचनान्त पद ‘अदिति’ पद के अध्याहार को सर्वथा असंभावनीय बना देते हैं। ‘त्वं राजा जनानाम्’ (8.64.3)—‘तू मनुष्यों का राजा है’; ‘यो राजा चर्षणीनाम्’ (8.70.1)—‘जो कि मनुष्यों का राजा है’; ‘मंहिष्ठं चर्षणीनाम्’ (8.92.1)—‘मनुष्यों में सबसे श्रेष्ठ’; ‘राजा विशामसि’ (8.95.3)—‘प्रजाओं का तू राजा है’; ‘इन्द्रः चर्षणीधृत्’ (8.96.20)—‘इन्द्र मनुष्यों का धारण करने वाला है’—इत्यादि इन्द्र-विषयक वर्णन उसे मनुष्यों का राजा सिद्ध करते हैं और उसका मनुष्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध तथा उसका मनुष्यों में से ही एक होना स्पष्ट प्रतिपादित करते हैं। इसके साथ ही इस प्रकरण में पूर्व लिखे गये दूसरे प्रमाण भी उसका सम्राट् होना ही सिद्ध करते हैं।

¹ ऋतुरिति कर्मनामसु पठितम् । निघ० 2.1. ऋतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघ० 3.9.

² तवस इति महत्तामसु पठितम् । निघ० 3.3.

³ तर इति वेगो वा बलम् वा । तर इति बलनामसु पठितम् । निघ० 2.9. वेगवन्तमिति सायणः ।

इसलिए यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'अदिति' आदि और किसी का अध्याहार न करके हमें 'मनुष्याः' का ही अध्याहार करना होगा। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र का अर्थ मनुष्य-सम्राट् ही लेना चाहिए और कुछ नहीं। इसे और अधिक पक्के रूप में मुद्रांकित करने के लिए उसे प्रस्तुत मन्त्र में ही 'नरं'—'मनुष्य'—इस विशेषण से विशेषित कर दिया गया है। इस प्रकार इन्द्र का अर्थ सम्राट् होता है। और सम्राट् प्रजाओं द्वारा चुना हुआ होना चाहिए इस बात के प्रतिपादन के लिए वेद में यदि और कोई भी वाक्य न होता तो भी यह अकेला मन्त्र ही पर्याप्त था। पर जैसा हम पीछे देखते आ रहे हैं और अभी और देखेंगे वेद में इस विषय के यथेष्ट प्रमाण हैं।

36. आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ।

ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळहम् ॥

ऋग्० 10.48.11.

इस मन्त्र में 'इन्द्र' अर्थात् 'सम्राट्' कह रहा है—'मैं (वसूनां, रुद्रियाणां, आदित्यानां) वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी रह के जिन्होंने विद्याभ्यास किया है ऐसे (देवानां) विद्वानों के (धाम) तेज या प्रभाव को (न मिनामि) नष्ट नहीं करता, क्योंकि मैं भी (देवः) विद्वान् हूँ—समझदार हूँ—और क्योंकि, (ते) इन लोगों ने ही मुझे (अपराजितं) अपराजित, (अस्तृतम्) अहिंसनीय, (अषाळहम्) शत्रुओं के लिए असह्य और (भद्राय) अपने राष्ट्र के मंगल कारक (शवसे) बल की रक्षा के लिए (ततक्षुः) बनाया है।'

इस मन्त्र में भी साफ कह दिया गया है कि प्रजा के शिक्षित विद्वान् लोग राजा को बनाते हैं—उसे चुनते हैं। 'ततक्षुः' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। जिस प्रकार कोई तक्षा (बढ़ई) मेज, कुर्सी आदि को बनाता है, वसु आदि विद्वान् लोग उसी प्रकार राजा को बनाते हैं। प्रजा का कितना जबरदस्त अधिकार राजा पर होना चाहिए यह इस 'ततक्षुः' शब्द से पता लगता है। इस सारे (ऋग्० 10.48) सूक्त का देवता 'इन्द्र' है। वेदों में इन्द्र का अर्थ काल्पनिक स्वर्ग का राजा, इन्द्र लेना कितना भ्रान्त है यह हम देखते आ रहे हैं।

कई विद्वान् इस सूक्त की व्याख्या परमात्मापरक करते हैं। यह ठीक है, एक दृष्टि से सभी सूक्तों की व्याख्या परमात्मापरक हो सकती है, यह सभी आचार्यों का माना हुआ मत है। पर हमारी सम्मति में इस सूक्त की व्याख्या मुख्य रूप से परमात्मापरक न होकर 'सम्राट्'-परक होनी चाहिए। क्योंकि 'अहं दस्युभ्यः परि नृष्णमा ददे' (10.48.2) अर्थात् 'मैं दस्यु लोगों की—प्रजा का उपक्षय करने वाले लोगों की—सम्पत्ति छीन लेता हूँ'; 'मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं' (10.48.3) अर्थात् 'त्वष्टा ने—कारीगर ने—मेरे लिए लोहे का वज्र बनाया है'; 'ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं' (10.48.3) अर्थात् 'मेरी फौज सूर्य की भाँति अजेय है'; 'अहमेताञ्छाश्वसतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युषयेकृण्वत, आह्वयमानां अव हन्मनाहनं हळहा वदन्नमस्युर्न-

मस्विनः' (10.48.6) अर्थात् 'जिन शत्रुओं ने युद्ध के लिए शस्त्र उठाया, मुझे ललकारा, उन्हें मैंने कठोर आवाज में ललकारते हुए, दो-दो करके सिसकाकर अपने हनन-साधन से मारा है, मैं नहीं झुका, वे ही झुके हैं'; 'अभीदमेकमेको अस्मि निष्पाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति, खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः' (10.48.7) अर्थात् 'मैं एक के लिए एक काफी हूँ, दो या तीन मेरा क्या कर लेंगे, खलियान में जैसे चनों को कुचल देते हैं उसी प्रकार मैं अनेक दुश्मनों को कुचल देता हूँ, ये दुश्मन मेरी क्या निन्दा करेंगे;—आदि वाक्य 'सम्राट्' परक ही अधिक सुन्दरता से लगते हैं। इस प्रकार इस सूक्त में इन्द्र का अर्थ 'सम्राट्' लेने पर वसु, रुद्र और आदित्य शब्दों का भी वही अर्थ लेना अधिक ठीक जँचता है जो ऊपर दिया गया है। ब्रह्मचारियों के वसु आदि तीन भेद हमारे धार्मिक साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं।¹

37. जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः ।

अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा ॥

ऋग् ० 10.73.1, यज० 33.64

अर्थात् 'हे सम्राट् ! तू (उग्रः) बल से भरा हुआ (बहुलाभिमानः) बड़े अभिमानवाला (ओजिष्ठः) राष्ट्र में सबसे अधिक तेजस्वी (मन्द्रः) हर्ष देने वाला (सहसे) प्रजाओं में बल देने के लिए और (तुराय) शत्रुओं वा दुष्टों की हिंसा के लिए (जनिष्ठाः) उत्पन्न हुआ है (घनिष्ठा) सबसे अधिक धनवाली (माता) प्रजा-रूप माता ने या मातृभूमि-रूप माता ने (यत्) जबकि (वीरं) इस वीर इन्द्र अर्थात् सम्राट् को (दधनत्) अपने में धारण किया हुआ था—छिपा रखा था—तब (मरुतश्चित्) मनुष्यों अथवा सैनिकों ने (इन्द्रं) इस सम्राट् को (अवर्धन्) बढ़ाया ।'

यहाँ भी राजा के चुनाव की स्पष्ट सूचना है। 'जनिष्ठाः'—'उत्पन्न हुआ है'—शब्द ध्वनित करता है कि उसे प्रजाओं ने उत्पन्न किया है। जो भाव इस पद में ध्वनि से कहा गया है, उसे ही 'मरुतः अवर्धन्'—'मनुष्यों वा सैनिकों ने बढ़ाया है'—इस वाक्य में विस्पष्ट कर दिया गया है। 'मरुतः' का अर्थ मनुष्य अथवा सैनिक होता है। यह आगे यथावसर सिद्ध किया जायगा। काल्पनिक इन्द्र अर्थ में 'मनुष्यों द्वारा बढ़ाये जाने का' कोई अर्थ ही नहीं बन सकता। अल्पशक्ति मनुष्य देवाधिदेव स्वर्गपति को कहाँ बढ़ा सकते हैं? इन्द्र का अर्थ सम्राट् करने पर ही यह बात संगत हो सकती है। सम्राट् को प्रजा के लोग ही मिलकर बढ़ाते हैं। उसकी सहमति के बिना वह राज्याधिकार के प्रवृद्ध पद पर आरूढ़ नहीं हो सकता। 'प्रजाओं से बढ़ाया गया है' इसका भाव यही हो सकता है कि प्रजाओं ने अपनी सहमति से उसे सिंहासन पर बिठाया है। इस प्रकार यहाँ भी चुनाव का स्पष्ट वर्णन है।

¹ छान्दोग्योपनिषद् 3.16, सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास ।

38. बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि ।

अग्निः सोमो वरुणस्ते च्यवन्ते पर्यावर्द्राष्ट्रं तदवाम्यायन् ॥

ऋग्वे० 10.124.4.

इस मन्त्र में प्रजारूप पुरुष कह रहा है—‘(अस्मिन्) इस (अन्तः) अपने अन्दर (बह्वीः) बहुत (समाः) वर्षों तक (अकरम्)¹ मैंने इन्द्र को—इस सम्राट् को—रखा है (इन्द्रं) अब इस सम्राट् को (वृणानः) चुनता हुआ मैं (पितरं)² अपने पिता को (जहामि) छोड़ता हूँ । इन्द्र के—सम्राट् के—बिना (अग्निः)³ अग्नि (सोमः) सोम (वरुणः) वरुण (च्यवन्ते) गिर जाते हैं—शिथिल हो जाते हैं (तत्) उस (पर्यावर्त्) उलट-पुलट होते हुए (राष्ट्र) अपने राष्ट्र की (आयन्) इन्द्र को चुनकर उसके साथ आता हुआ मैं (अवामि) रक्षा करता हूँ ।’

मन्त्र का भाव यह है कि सम्राट् चुना जाने से पहले सालों तक प्रजा के बीच में रहकर शिक्षा पा चुका होता है । फिर उसे प्रजाएँ चुनती हैं । अच्छा सम्राट् प्रजाओं के पिता से भी बढ़कर रक्षा करता है । इसलिए आलंकारिक ढंग से कहा कि मैं सम्राट् को चुनकर पिता को छोड़ता हूँ । बिना अच्छे सम्राट् या राष्ट्रपति के राष्ट्र के अग्नि, सोम, वरुण आदि अधिकारी शिथिल होने लगते हैं और उनकी शिथिलता से राष्ट्र उलटने लगते हैं । प्रजां सुयोग्य सम्राट् चुनकर उस उलटते हुए राष्ट्र की रक्षा कर लेती है ।

यहाँ भी राजा के चुनाव का स्पष्ट वर्णन है । चुनने वाले के लिए ‘वृणानः’ शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि ‘वृम् वरणे’ धातु से निष्पन्न होता है । यह मन्त्र राज्य-विषयक है यह तो मन्त्र में आये ‘राष्ट्र’ शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है । सूक्त के पाँचवें (10.124.5.) मन्त्र में प्रयुक्त हुआ ‘राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि’ अर्थात् ‘तू राष्ट्र का आधिपत्य कर’ इस वाक्य से भी यह नितान्त स्पष्ट है कि यह राज्य विषयक प्रकरण है । इसलिए यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही करना होगा । यही अर्थ संगत हो सकता है । काल्पनिक इन्द्र अर्थ संगत नहीं हो सकता । साथ ही ‘राष्ट्रस्यधिपत्यमेहि’ यह वाक्य वरुण के लिए प्रयुक्त हुआ है । इससे सूचित होता है कि इन्द्र के साथ आये सोम और वरुणादि देव भी कोई राज्य से ही सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति हैं । ये क्या हैं इस पर यथावसर आगे विचार किया जायेगा ।

39. आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज ।

सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥

अथ० 3.4.1.

¹ बहुषु एकत्वविवक्षयैकवचनम् ।

² बहुष्वेकत्वविवक्षयैकवचनम् ।

³ अग्नि का अर्थ सम्राट् होता है यह पीछे सिद्ध किया जा चुका है । परन्तु जब अग्नि इन्द्र के साथ सहकारी या गौण होकर आता है तब इसका अर्थ कुछ और भी होता है । क्या होता है यह यथा-प्रकरण आगे सिद्ध करेंगे । सोम और वरुण क्या हैं यह भी आगे देखेंगे ।

40. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥

अथ० 3.4.2.

41. पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥

अथ० 3.4.7.

इन तीनों मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(39) ‘(त्वा) तुझे (राष्ट्र) यह राष्ट्र (आगन्) प्राप्त होवे (वर्चसा) अपने तेज के (सह) साथ (उदिहि) तू उदय हो (प्राङ्) आगे बढ़ने वाले तू (विशां) प्रजाओं का (पतिः) पालन-कर्त्ता स्वामी (एकराट्) एकच्छत्र राजा होकर (त्वं) तू (विराज) खूब चमक—खूब सुन्दर राज्य कर । (राजन्) हे राजन् ! (सर्वाः) सब (प्रदिशः)¹ दिशाओं में फैली हुई प्रजाएँ (त्वा) तुझे (ह्वयन्तु)² बुलावें—राज्य करने की अनुमति देवें । (इह) इस राष्ट्र में तू (उपसद्यः) सब प्रजाजन जिसके पास पहुँच सकें ऐसा और (नमस्यः) सब जिसको नमस्कार कर सकें ऐसा अर्थात् गुणी राजा (भव) बन ।’

(40) ‘(त्वां) तुझको (विशः) प्रजाएँ (राज्याय) राज्य करने के लिए (वृणतां) चुनें (त्वा) तुझको (इमाः) ये (प्रदिशः) दिशाओं में फैली हुई (देवीः)³ तरह-तरह का व्यापार-व्यवहार करने वाली (पञ्च)⁴ पाँच प्रकार की प्रजाएँ, राज्य करने के लिए चुनें । तू (राष्ट्रस्य) राष्ट्र के (वर्ष्मन्) शरीर में (ककुदि) सब से ऊँचे स्थान पर अर्थात् राजसिंहासन पर (श्रयस्व) बैठ (ततः) वहाँ बैठकर (नः) हमारे (वसूनि) धनों का (विभजा) विभाग कर अर्थात् सबको यथायोग्य धन-प्राप्ति का प्रवन्ध कर ।’

(41) ‘(पथ्याः) पथ अर्थात् राज-नियम के मार्ग पर समुचित प्रकार से चलने वाली (रेवतीः) धन-धान्य से युक्त (बहुधा) बहुत प्रकार से (विरूपाः) विभिन्न रूपों वाली (सर्वाः) सब प्रजाओं ने (संगत्य) मिलकर (ते) तेरा (वरीयः)⁵ यह बड़ा महत्त्व (अक्रन्) किया है (ताः) वे (सर्वाः) सारी प्रजाएँ (संविदानाः)⁶ एक मत होकर (त्वा) तुझे (ह्वयन्तु) बुलावें—राज्य करने की अनुमति देवें (उग्रः) बल वाला और (सुमनाः) प्रसन्नमन वाला तू (इह) इस राष्ट्र में (दशमीं) नव्वे से बाद की सौ तक की आयु को (वश) अपने अधीन कर अर्थात् तू सौ वर्ष तक का लम्बा जीवन प्राप्त कर ।’

¹ तत्रस्था जना वेति सायणः ।

² अनुजानन्त्विति सायणः ।

³ दिवुघातोर्ध्वेषु व्यवहारोप्यन्यतमः । स एवार्थोत्तोपपद्यते ।

⁴ चत्वारो ब्राह्मणादय आर्यवर्णा वर्णैरुत्तरोनार्यश्चेति पन्वतय्यः प्रजाः । चत्वारो वर्णाः निषादः पञ्चम इत्योपमन्यव इति निरुक्तम् । (3.27.)

⁵ उरु शब्दात् ईयसुनि त्रियस्थिरेति वरादेशः । वृज्, वरणे घातोभावे औणादिक ईयसुन् यदि कल्प्येति तर्हि वरीय इत्यस्य वरणमित्ययमप्यर्थः शक्नोति भवितुम् । परं कल्पनागौरवाद्ब्रह्मव्यापामस्मा-भिर्नादृतः ।

⁶ ऐकमत्यं प्राप्ता इति सायणः ।

इन मन्त्रों में निर्विवाद रूप में राजा के चुने जाने का वर्णन है। मन्त्र अपने-आप में अत्यन्त स्पष्ट हैं। इनका वास्तविक भाव समझाने के लिए हमें अपनी ओर से कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है। जो भी इन्हें पढ़ेगा वह बिना संकोच के कह देगा कि इनमें राजा चुना जाना चाहिए, प्रजा की सहमति से उसे राजसिंहासन पर बिठाया जाना चाहिए, इस भाव का असंदिग्ध उपदेश है। जिस सूक्त के ये मन्त्र हैं वह सूक्त है ही राज्य प्रकरण का। इसमें सायण और यूरोपीयन भाष्यकार भी हमारे साथ हैं। उद्धृत तीनों मन्त्रों का भी श्री सायण ने भी लगभग वही अर्थ किया है जो हमने किया है। सूक्त में प्रयुक्त हुए 'राष्ट्रः', 'विशां पतिः', 'एकराट्', 'राजन्', 'विशः', 'वृणता', 'राज्याय', 'राष्ट्रस्य ककुदि' इत्यादि शब्द इसमें सन्देह का स्थान नहीं रहने देते कि इस सूक्त का अर्थ राज्य-विषयक होना चाहिए। इसलिए कोई भी भाष्यकार इसका अर्थ राज्यविषयक ही करेगा।

इस सूक्त (अथ० 3.4.) में राजा के चुनाव का वर्णन है और सारा सूक्त राज्य-विषय में ही लगना चाहिए, इसमें तो सायणादि सभी टीकाकार सहमत हैं। पर एक बात जिसकी ओर सायणादि का भी ध्यान नहीं गया है, हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं। वह यह है कि इस सूक्त का देवता 'इन्द्रेन्द्र' है। इन्द्र का अर्थ हम पिछले पृष्ठों में 'सम्राट्' दिखाते चले आये हैं इसलिए हमारे मत से 'इन्द्रेन्द्र' का अर्थ होगा 'इन्द्राणाम् इन्द्रः', अर्थात् 'सम्राटों का सम्राट्'। श्री सायण ने 'इन्द्रेन्द्र' को काल्पनिक इन्द्र देवता-परक ही लगा दिया है। वह हमारी सम्मति में सर्वथा अनुचित है। इस सूक्त में सात मन्त्र हैं। पहले पाँच मन्त्रों में चुने जा रहे राजा का 'त्वा'—'तुझको'—इस सर्वनाम-पद द्वारा परामर्श (reference) किया गया। केवल प्रथम मन्त्र के तृतीय चरण में एक बार उसको 'राजन्' इस पद से सम्बोधन किया है। नहीं तो पाँचों मन्त्रों में 'त्वा, त्वा' 'तुझको, तुझको'—की शृंखला चल रही है। इस 'त्वा, त्वा' की शृंखला के पीछे सीधा छठे मन्त्र 'इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणः संविदानः, स त्वायमह्वत्स्वे सवस्थे स देवान्यक्षतस उ कल्पयाद्विशः' में 'इन्द्रेन्द्र' यह सम्बोधन आया है। इस सम्बोधनान्त 'इन्द्रेन्द्र' का ही पुनः उसी छठे मन्त्र के तृतीय चरण में 'त्वा'—'तुझको'—इस सर्वनाम-पद से परामर्श (reference) हुआ है। फिर सातवें मन्त्र में कोई सम्बोधनान्त पद नहीं है। सम्बोध्य को 'त्वा' द्वारा ही परामृष्ट किया गया है। सातवें मन्त्र में आया हुआ 'त्वा' यह सर्वनाम-पद ऊपर आये हुए छठे मन्त्र में पढ़े सम्बोधनान्त पद का ही परामर्श कर सकता है। इसलिए सातवें मन्त्र में जिसे 'त्वा' कहा जा रहा है, वह 'इन्द्रेन्द्र' ही हो सकता है। सातवें मन्त्र की व्याख्या स्वयं सायण ने राजा-परक की है। अतः 'इन्द्रेन्द्र' पद राजा का ही वाचक होना चाहिए। इस प्रकार सारे सूक्त में 'त्वा, त्वा' की शृंखला द्वारा परामर्श किये जा रहे राजा चुने जाने वाले व्यक्ति को दो बार 'राजन्' और 'इन्द्रेन्द्र' इन सम्बोधनों से सम्बोधित किया गया है। 'त्वा, त्वा' की इस शृंखला के बीच में पड़ा हुआ 'इन्द्रेन्द्र' पद उसी को कहेगा, जिसे 'राजन्' पद कह रहा है, इसलिए 'इन्द्रेन्द्र' को काल्पनिक

इन्द्र देवता के अर्थ में न लेकर राजा अर्थ में ही लेना चाहिए। क्योंकि सारे सूक्त का विषय राजा है, जिसे छठे मन्त्र में 'इन्द्रेन्द्र' कहा है, इसलिए इस सूक्त का देवता 'इन्द्रेन्द्र' ही मानना चाहिए। 'राजन्' और 'इन्द्रेन्द्र' इन दो पदों में से ही कोई एक इस सूक्त का देवता-वाची पद बन सकता है। और क्योंकि 'इन्द्र' एक प्रधान पद है तथा बहुत प्रसिद्ध और बहुत स्थानों में प्रयुक्त देवतावाची पद है, इसलिए सूक्त का देवतावाची पद 'इन्द्रेन्द्र' को ही मानना होगा। साथ ही 'इन्द्रेन्द्र' पद जितने भाव अपने भीतर निहित रख सकता है उतने 'राजन्' पद नहीं रख सकता। अतः अपने अन्दर अधिक भाव-गाभीर्य रखने वाला पद होने के कारण भी 'इन्द्रेन्द्र' पद को ही देवता समझना चाहिए। हम नहीं कह सकते कि इतनी सीधी और स्पष्ट बात सायण क्यों नहीं समझ सके। उन्हें सारे सूक्त का देवता 'इन्द्रेन्द्र' मानकर इस सूक्त की राजा विषयक व्याख्या करनी चाहिए थी और इस शब्द का अर्थ जैसा हमने किया है 'सम्राटों का सम्राट्' ऐसा करना चाहिए था। उन्होंने सूक्त का अर्थ तो राजा-परक कर दिया, पर उसका देवता 'इन्द्रेन्द्र' है, यह वे नहीं समझ सके। इसीलिए उन्होंने छठे मन्त्र के शेष सारे मन्त्रों के अर्थ के विपरीत काल्पनिक इन्द्र देवता विषयक कर डाला जोकि सूक्त के मन्त्रों का गहरा और समन्वयात्मक अध्ययन करने पर विल्कुल संगत नहीं होता।

हमारी दिखाई पद्धति से सूक्त का देवता 'इन्द्रेन्द्र' मानकर उसका राजा-परक अर्थ करना चाहिए। वह राजा जिसके चुनाव का यहाँ वर्णन है किस प्रकार का राजा है यह 'इन्द्रेन्द्र' पद की समस्त रचना 'इन्द्राणामिन्द्रः' बता रही है; अर्थात् सम्राटों का सम्राट्। 'सम्राटों का सम्राट्' कौन-सी विशेष वस्तु है यह हम विस्तार से यथावसर आगे देखेंगे।

यहाँ हम प्रसंग से 'इन्द्रेन्द्र' पद वाले मन्त्र का अपना अर्थ भी लिख देते हैं जिससे पाठक देखेंगे कि हमारा अर्थ सारे सूक्त की राजाविषयक व्याख्या में किस प्रकार सुसंगत हो जाता है—'(इन्द्रेन्द्र) हे सम्राटों के सम्राट् ! (मनुष्याः) इन मनुष्य प्रजाओं में (परेहि) तू आ (वरुणैः)¹ वरुणों के साथ (संविदानः) मिलकर एक-मति वाला होकर (सं) अच्छी प्रकार (हि) निश्चय से (अज्ञास्थाः)² प्रजाओं की अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर (सः)³ उन (अयम्) इन वरुणों ने (स्वे) अपने (सधस्थे) रहने के स्थान इस राष्ट्र में (त्वा) तुझको (अह्वत्) बुलाया है। (सः) वे वरुण लोग (देवात्) दिव्य

¹ वरुण कौन है यह आगे देखेंगे। यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि वरुण का भी राज्य से एक विशेष सम्बन्ध है। ग्रिफ़िथ ने अपने भाष्य की टिप्पणी में लिखा है कि वेबर (Weber) ने इस मंत्र के 'वरुणैः' पद का अर्थ इसे 'वृद्धा वरुण' से बना मानकर 'electors' अर्थात् 'चुनने वाले' किया है। पाठक देखेंगे कोई-कोई यूरोपीयन टीकाकार कहीं-कहीं सायण से अधिक संगत और युक्तियुक्त अर्थ करते हैं। अधिकांश ये लोग सायण के पीछे ही चलते हैं।

² छन्दसि लुङ्लङ्लिट इत्यनेन जानीहि इत्यस्य स्थाने अज्ञास्थाः।

³ बहुवचनविवक्षयैकवचनम्।

भावनाओं या गुणों की (यक्षत्) राष्ट्र में वृद्धि करें (उ) और (सः) वे (विशः) प्रजाओं को (कल्पयात्) सामर्थ्यवान् बनावें ।'

अब इसी मन्त्र का श्री सायण का अर्थ भी देख लीजिए—

‘हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त ! मनुष्यान् मनोरपत्यभूताः प्रजाः प्रति आगच्छ । हि यस्मात् त्वं वरुणः वरुणेन ऐकमत्यं प्राप्तः एतदाह्वानं—विषये समान—ज्ञानवान् असि । सोयं वरुणेन ऐकमत्यं प्राप्त इन्द्रः हे राजन् ! त्वाम् आह्वयति । ततः स्वराष्ट्रं प्रविशेति शेषः । प्रविश्य च स्वकीये राष्ट्रे, सराजा देवान् इन्द्रादीन् यजतु । स एव राजा प्रजाः स्वस्वव्यापारेषु कल्पयतु ।’

इस संस्कृत का आर्य-भाषा में अर्थ इस प्रकार है—

‘हे परमैश्वर्ययुक्त इन्द्र देवता ! तू मनुष्य प्रजाओं में आ क्योंकि तू वरुण देवता के साथ ऐकमति वाला है और हमारे इस बुलावे का समान ज्ञान रखता है । वरुण से ऐकमति वाला यह इन्द्र हे राजा ! तुझे बुला रहा है, तू अपने राष्ट्र में आ । अपने राष्ट्र में आकर वह राजा इन्द्रादि देवों की पूजा करे । वह राजा प्रजाओं को अपने-अपने व्यापारों में लगावे ।’ जैसा हमने अभी पीछे देखा है सायण का यह अर्थ संगत नहीं है । सातों मन्त्रों में चली आ रही, ‘त्वा, त्वा’ की शृंखला जिसे कह रही है उसे ही प्रथम मन्त्र के तृतीय चरण में आया ‘राजन्’ और छठे मन्त्र में प्रयुक्त हुआ ‘इन्द्रेन्द्र’ यह सम्बोधन पद भी कहेंगे । ‘इन्द्रेन्द्र’¹ यह सम्बोधन पद इस ‘त्वा, त्वा’ और ‘राजन्’ की शृंखला से अलग होकर किसी इन्द्र देवता का वाचक नहीं हो सकता । ऐसा करने में व्याकरण और अर्थ का औचित्य श्री सायण के साथ नहीं है ।

42. इदं तद्युज उत्तरमिन्द्रं शुभ्राम्यष्टये ।

अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥

अथ० 6.54.1.

अर्थात् ‘(उत्तर) गुणों में औरों से उत्कृष्ट (इन्द्र) इस सम्राट् को (अष्टये) अभीष्ट फलों की प्राप्ति के लिए (शुभ्रासि) अभिषेक द्वारा पवित्र करता हूँ (तत्) प्रसिद्ध (इदं) अपने इस राष्ट्र में, राज्य कर्म चलाने के लिए (युजे)² इसे नियुक्त करता हूँ । हे प्रजाजनो ! (अस्य) इस सम्राट् की (क्षत्रं) क्षत्रिय शक्ति को (श्रियं) सम्पत्ति को (महीम्) भूमि को (वर्धय) बढ़ाओ (वृष्टिः) वर्षा (इव) जैसे (तृणम्) घास को बढ़ाती है ।’ उपमा का भाव यह है कि उक्त चीजें इस सम्राट् के पास प्रभूत मात्रा में रहें ।

¹ पाठकों के लिए यह मनोरंजन की बात होगी कि जब मैं अपनी यह आलोचना लिख चुका तो मन में आया कि देखना चाहिए कि यूरोपीय टीकाकार क्या लिखते हैं । जहाँ अन्य लेखकों ने सायण का ही साथ दिया है वहाँ ग्रिफ़िथ ने अपने भाष्य की टिप्पणी में ‘इन्द्रेन्द्र’ के विषय में लिखा है—
The newly-elected king अर्थात् नया चुना गया राजा । इस प्रकार ग्रिफ़िथ भी हमारे साथ है ।

² एक वचन से यह प्रतीत होता है कि अभिषेक के समय पुरोहित प्रजा का प्रतिनिधि होकर बोल रहा है । अथवा प्रजाओं में ही एकत्व की विवक्षा से एकवचन समझना चाहिए ।

यहाँ भी राजा के चुनाव में प्रजा का हाथ रहना चाहिए, इसकी स्पष्ट सूचना है । प्रजा के प्रतिनिधि लोग जब तक उसे राज्य करने के लिए नियुक्त न करें और उसे यह विश्वास न दिलायें कि प्रजा राष्ट्र की समृद्धि के कामों में उसका पूरा साथ देगी तब तक कोई व्यक्ति सम्राट् नहीं बन सकता ।

इस सूक्त में राजा का ही विषय है और राजा को ही इन्द्र कहा गया है यह सूक्त के दूसरे मन्त्र में विल्कुल स्पष्ट हो जाता है । मन्त्र इस प्रकार है—‘अस्मै क्षत्रमग्नी-षोमावस्मै धारयतं रयिम्, इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम्’ (अथ० 6.54.2.) अर्थात् ‘(अग्निषोमौ)¹ हे अग्नि और सोम नामक राज्य के अधिकारियों ! (अस्मै) इस इन्द्र अर्थात् सम्राट् के लिए (क्षत्रं) क्षात्र बल को (धारयतम्) प्रजाओं में धारण कराओ (अस्मै) इसके लिए (रयिम्) ऐश्वर्य को धारण कराओ (इमं) इस इन्द्र (सम्राट्) को (राष्ट्रस्य) राज्य की (अभीवर्गे)² बलवृद्धि के लिए (कृणुतं) सहयोग दो (उत्तरं) उत्कृष्ट गुणों वाले इस सम्राट् को (युजे)³ मैं राष्ट्र-पालन के कर्म में नियुक्त करता हूँ ।’ यहाँ स्पष्ट ही इन्द्र को राष्ट्र-पालन के कर्म में नियुक्त किया जा रहा है और अग्नि और सोम राज्याधिकारी उसकी सहायता कर रहे हैं । इन मन्त्रों में इन्द्र का अर्थ सम्राट् के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता ।

43. इन्द्रं वयमनूराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा ।

मा नः सेना अरुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो विनाशय ॥

अथ० 19.15.2.

अर्थात् ‘(वयं) हम सब प्रजा के लोग (अनुराधं) अनुक्रम से प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों की सिद्धि करने वाले (इन्द्रं) इस सम्राट् को (हवामहे) राज्य-पालन के लिए बुलाते हैं । अपनी सहमति देते हैं । इसे सम्राट् बना के (द्विपदा) दोपाये और (चतुष्पदा) चौपायों द्वारा (अनुराध्यास्म) हम सम्पन्न बन जायें (इन्द्र) हे सम्राट् ! तेरे कारण (अरुषीः)⁴ अभिमतफल को रोकने वाली (सेनाः) शत्रु-सेनाएँ (नः) हमारे पास (मा) कभी न (उपगुः) आवें (विषूची) हमारे चारों ओर फैली हुई (द्रुहः) हम से द्रोह करने वाली शत्रु-सेनाओं को (विनाशय) विनष्ट कर दे । अथवा हमारे अन्दर फैले हुए द्रोहों को ही नष्ट कर दे ।’

यहाँ भी सम्राट् के चुनाव का स्पष्ट वर्णन है । जब तक प्रजाएँ किसी व्यक्ति को राष्ट्र का ऐश्वर्य बढ़ाने वाला और विपत्तियों से रक्षा करने वाला समझ कर

¹ अग्नि का अर्थ सम्राट् पीछे लिखा गया है । पर जब इसका गौण प्रयोग होता है तब और भी अर्थ होता है । यह आगे दिखाया जायेगा । सोम कौन सा राज्याधिकारी है यह आगे सिद्ध किया जायेगा ।

² वर्ग इति बलनामसु पठितम् । निघ० 2.9.

³ एक वचनप्रयोगेण राजपुरोहितोभिषेकसमये प्रजाप्रतिनिधिरूपेण ब्रवीतीति ध्वन्यते ।

⁴ अरुषीः अदात्म्यः अभिमतफल प्रतिबन्धिकाः शाल्वीयाः सेनाः इति सायणः । नञ्पूर्वात् रातेः क्वसौ जगितश्चेति ङीष् वसोः संप्रसारणम् । वा छन्दसीति पूर्वसवर्णदीर्घः ।

अपने ऊपर राज्य करने के लिए न बुलायें तब तक वह केवल वंशानुक्रम के अधिकार से ही उनका राजा नहीं बन सकता यह इस मन्त्र से स्पष्ट सूचित होता है ।

मन्त्रगत वर्णन इन्द्र का अर्थ सम्राट् करने पर हो संगत हो सकता है । अन्यथा प्रजा की समृद्धि और रक्षा में रुचि काल्पनिक स्वर्गस्थ इन्द्र कभी नहीं ले सकता । 'इन्द्रस्नातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः, स रक्षिता चरमतः सः मध्यतः स पश्चात्स पुरस्तातो अस्तु' (अथ० 19.15.3) अर्थात् 'इन्द्र अर्थात् यह चुना जा रहा सम्राट् ही राष्ट्र का त्राता, वही रुकावटों को मारने वाला (वृत्रहा), वरण करने योग्य (वरेण्यः) वही श्रेष्ठों की वृद्धि करने वाला (परस्फानः)¹ है, वह हमारे (इस राष्ट्र की) पीछे से, बीच से, आगे से, सीमाओं से (चरमतः) रक्षा करे'; 'उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्स्वयंज्जोतिरभयं स्वस्ति, उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप श्येयं शरणा बृहन्ता' (अथ० 19.15.4.) अर्थात् 'सब कुछ समझने वाले (विद्वान्) हे इन्द्र हमें जीवन के लिए महान् स्थान प्राप्त कराइये जो कि सुखदायी (स्वः) हो, प्रकाश देने वाला (ज्योतिः) हो, अभय देने वाला हो और कल्याण (स्वस्ति) देने वाला हो, तुझ महान् की दोनों भुजाएँ बलिष्ठ और विशाल हैं, शरण देने वाली हैं, हम उनका आश्रय लेते हैं'; 'यत् इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि, मधवंच्छग्विष तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि' (अथ० 19.15.1) अर्थात् 'हे (इन्द्र) सम्राट् जहाँ से हमें भय हो वहीं से तू हमारे लिए अभय कर दे, तू ही अपनी रक्षाओं से हमारा रक्षण करने में समर्थ है, (द्विषः) हमसे द्वेष करने वाले को (वि जहि) नष्ट कर दे, (मृधः) हमारी हिंसा करने वालों को भी (वि जहि) मार डाल'; इत्यादि सूक्तगत इन्द्र-विषयक वर्णन भी यही सूचित करते हैं कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही करना चाहिए । हमारे जीवनो में इतनी गहरी रुचि एक सुयोग्य सम्राट् ही ले सकता है । काल्पनिक स्वर्गाधिपति इन्द्र देव कभी हमारे जीवनो में इतना उष्ण और गहरा अनुराग नहीं ले सकते । और न ही कभी इतिहास में देखा गया है कि उन्होंने मनुष्य-प्रजाओं के कल्याण और रक्षा में इतनी सचिन्तता दिखाई हो । जिस वस्तु की वास्तव में सत्ता ही नहीं उस द्वारा हमारे जीवनो में इतना अनुराग संभव ही कैसे हो सकता है । सम्राट् अर्थ में ही ये इन्द्र विषयक वर्णन सुसंगत होते हैं और उसी अर्थ में कोई चमत्कार उत्पन्न होता है ।

ऊपर सूक्त के तीसरे मन्त्र में इन्द्र के लिए प्रयुक्त 'वरेण्यः' शब्द जरा विशेष ध्यान-योग्य है । वरेण्य का अर्थ है—वरणीय अर्थात् जिसे चुना जाना चाहिए । द्वितीय मन्त्र में जो भाव 'हवामहे' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है तीसरे मन्त्र में वही 'वरेण्य' शब्द द्वारा परिस्पष्ट हुआ है ।

44. येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन् ।

तेनेमं ब्रह्माणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन् ॥

अथ० 19.24.1.

¹ स्फायी बृद्धौ ल्युट् यलोपशान्दसः । अन्तर्गतण्यर्थः । पराणां श्रेष्ठानां वर्धकः । परेभ्यः परस्माद्वा पातेति सायणः ।

45. परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन ।

यथैनं जरसे नयां ज्योक्क्षत्रेऽधि जागरत् ॥

अथ० 19.24.2.

46. परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन ।

यथैनं जरसे नयां ज्योक्श्रोत्रेऽधि जागरत् ॥

अथ० 19.24.3.

वेद में इन्द्र का अर्थ सम्राट् है और उसका प्रजाओं द्वारा चुनाव होना चाहिए इस मत की पुष्टि इन मन्त्रों में असन्दिग्ध-रूप से हो जाती है । मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(44) '(येन) जिस प्रकार (देवं) देव (सवितां) सविता को (देवाः) देवों ने (परिअधारयन्) धारण किया हुआ है (तेन) उसी प्रकार (ब्रह्मणस्पते)¹ हे ब्रह्मणस्पति ! (इमं) इस सम्राट् को (राष्ट्राय) राज्य के लिए (परि धत्तन) धारण करो—सिंहासन पर बिठाओ ।'

(45) '(इमं) इस (इन्द्रं) राष्ट्र के ऐश्वर्यादि बढ़ाने में समर्थ सम्राट् को (आयुषे) प्रजा की आयु वृद्धि के लिए—जीवन रक्षा के लिए (महे) महान् (क्षत्राय)² राष्ट्र के कल्याण के लिए (परिधत्तन) धारण करो—सिंहासन पर बिठाओ । ऐसा उपाय करो (यथा) जिससे (एनं) इसको (जरसे) बुढ़ापे तक (नयाम्) ले जा सकें (ज्योक्) देर तक यह राष्ट्र के कल्याण में (अधिजागरत्) जागता रहे ।'

(46) '(इमं) इस (सोमं)³ सोम-गुणयुक्त राजा को (आयुषे) प्रजाओं की जीवनरक्षा के लिए—आयु-वृद्धि के लिए और (महे) महान् (श्रोत्राय)⁴ श्रवण के लिए (परिधत्तन) सिंहासन पर बिठाओ । ऐसा उपाय करो (यथा) जिससे (एनं) इसको (जरसे) बुढ़ापे तक (नयाम्) ले जायें (ज्योक्) देर तक यह (श्रोत्रे) श्रवण के काम में (अधिजागरत्) जागता रहे ।'

यहाँ ब्रह्मणस्पति को सम्बोधन करके प्रजाजन कह रहे हैं कि इसे राज्य-सिंहासन पर बिठा दीजिये, हमारी इसमें सहमति है । प्रजाओं की सहमति के बिना कोई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता इसकी स्पष्ट सूचना प्रजा द्वारा बोले गये 'परि-

¹ ब्रह्मणस्पति राज्य प्रकरण में कौन है इसका विवेचन आगे किया जायेगा । यहाँ प्रजाजन अपने प्रतिनिधि-रूप में ब्रह्मणस्पति को, सम्राट् को सिंहासन पर बिठाने के लिये कह रहे हैं ।

² क्षत्रं हि राष्ट्रम् । ऐ० 7.22.

³ सोमवच्छान्त्यादिप्रद ऐश्वर्यप्रदो वा सोमः । राजा वै सोमः । श० 14.1.3.12. सोमो हि प्रजापतिः । श० 5.1.5.26. क्षत्रं सोमः । ऐ० 2.31, कौ० 7.10.9.5. क्षत्रं वै सोमः । श० 3.4.1.10. क्षत्रं राजन्यः । ऐ० 8.6, श० 5.1.5.3.

⁴ महान् श्रोत्रं वा श्रवणं का अभिप्राय न्यायाधीश के रूप में प्रकट हो रही राजा की श्रवण-शक्ति से है । न्यायाधीश के रूप में राजा अपने कान खोलकर प्रजाजनों के पारस्परिक विवाद सुनता है और उनके निर्णय करता है । सोम का एक अर्थ वेद में न्यायाधीश भी होता है । यह यथाप्रकरण आगे दिखाया जायेगा ।

धत्तन'—'सिंहासन पर बिठाओ'—इस आदेश-व्यञ्जक शब्द द्वारा दी गई है ।

यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही हो सकता है यह सूक्त पर दृष्टिपात करते ही स्पष्ट हो जाता है । सारे सूक्त का मुख्य विषय राज्याभिषेक है, यह सायणादि ने भी स्वीकार किया है । 'राष्ट्राय परिधत्तन', 'क्षत्राय परिधत्तन' इत्यादि सूक्तगत विशेषण इसमें सन्देह ही नहीं रहने देते कि सूक्त राजाविषयक है । पहले मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ सायण ने यों किया है—'इमं महाशान्तिप्रयोक्तारं यजमानं राष्ट्राय राज्याय—राज्यं रक्षितुं परिधत्तन परिधापय, रक्षकत्वेन धापय । अस्य राज्यस्य परकृतबाधापरिहारायर्हम् इमं साधकं राजानं रक्षकत्वेन कुर्वित्यर्थः ।' इसका भाव यह है कि 'इस व्यक्ति को राजा बनाकर उसे राष्ट्र की रक्षा का कार्य सौंपो ।' जो बात पहले मन्त्र में 'इमं' 'इसको'—इस सर्वनाम शब्द के प्रयोग से कही गई है वही बात दूसरे और तीसरे मन्त्रों में 'इमं' के साथ क्रम से 'इन्द्र' और 'सोम' इन शब्दों का प्रयोग करके कही गयी है । पहले मन्त्र में कहा गया है कि—'इसको राष्ट्र की रक्षा के कार्य में नियुक्त करो', और दूसरे और तीसरे मन्त्रों में क्रम से कहा गया है कि 'इस इन्द्र को, इस सोम को राष्ट्र की रक्षा के कार्य में नियुक्त करो ।' पहले मन्त्र में केवल 'इमं' इस कर्मस्थ सर्वनाम शब्द का प्रयोग हुआ है । वह सर्वनाम किसका परामर्श (reference) करता है यह दूसरे और तीसरे मन्त्रों में 'इन्द्र' और 'सोम' इन कर्मस्थ शब्दों के प्रयोग द्वारा बताया गया है । इस प्रकार इन तीनों मन्त्रों में जिसे राज्य की रक्षा का भार दिया जा रहा है वह एक ही व्यक्ति है । उसी को अवस्था-भेद से भिन्न गुणों वाला होने के कारण इन्द्र और सोम शब्दों से कहा गया है । और वह है अभिषिक्त हो रहा राजा जिसे श्री सायण ने यजमान शब्द से कहा है । इन्द्र और सोम कोई मनुष्यों से भिन्न प्रकार के और विशेष स्थान में रहने वाले दो देवता हैं, अपने इस संस्कार को श्री सायण वेद के अन्य स्थलों की तरह इस सूक्त का अर्थ करते हुए भी अलग न कर सके । उन्हें यह भास न हो सका कि—'इमं' इस द्वितीयान्त सर्वनाम द्वारा कहा गया उनका यजमान राजा ही वैसे गुण होने के कारण इन्द्र और सोम भी कहला सकता है; और इस प्रसंग में इन शब्दों को राजा का ही वाचक मानना चाहिए क्योंकि ये 'इमं' के साथ द्वितीयान्त होकर 'परिधत्तन' और 'नयाम्' क्रियाओं के कर्म बनकर आये हैं । मन्त्र में प्रयुक्त हुए 'इन्द्र' और 'सोम' इन द्वितीयान्त-पदों को श्री सायण ने अर्थ करते हुए अपने भाष्य में सम्बोधनान्त मानकर उनका अर्थ 'हे इन्द्र' और 'हे सोम' ऐसा कर दिया है । यह श्री सायण की सरासर ज़बरदस्ती है । वेद में विभक्तियों का व्यत्यय किया जा सकता है यह तो ठीक है । पर वह वहीं किया जाना चाहिए जहाँ उसके बिना शिक्षाप्रद और बुद्धिसंगत अर्थ न बन सकता हो, अर्थ का औचित्य मारा जाता हो, वेद के वेदत्व (ज्ञान-प्रदत्व) पर ही आक्षेप आता हो । केवल इन्द्र और सोम की अपनी काल्पनिक मूर्ति के आधार पर, वेद के किसी प्रकरण में उसे संगत और चरितार्थ होता न देखकर, विभक्ति-व्यत्यय करने का श्री सायण को कोई अधिकार नहीं है । ऐसे स्थलों में उन्हें इन्द्र और सोम के विषय में अपने संस्कार बदलने चाहिए

और वेद के स्थान-स्थान पर आये उनके विशेषणों के आधार पर कोई दूसरे अर्थ करने चाहिए।¹ केवल विभक्ति-व्यत्यय की जबरदस्ती—यही एक आक्षेप हमारा सायण पर नहीं है। सूक्त में अन्य साक्षियाँ भी हैं जिनके आधार पर हमें इन्द्र और सोम को राजा का ही वाचक मानना पड़ेगा और इसलिए उन्हें 'परिधत्त' और 'नयाम्' इन क्रियाओं का कर्म भी रखना होगा। पर श्री सायण ने इन साक्षियों की भी परवाह नहीं की है। सूक्त का चौथा ही मन्त्र लीजिये—'परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः, बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञेपरिधातवा उ ।' (अथ० 19.24.4)। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—'(नः) हमारे लिए (इमं) इस राजा को (परिधत्त) धारण करो—सिंहासन पर बिठाओ (वर्चसा) तेज से (धत्त) धारण करो—तेजस्वी बनाओ (जरामृत्युं) इसको बुढ़ापे से मरने वाला (कृणुत) बनाओ (आयुः) इसकी आयु (दीर्घम्) लम्बी हो, (बृहस्पतिः) बृहस्पति ने (एतत्) यह (वासः) वस्त्र (सोमाय) सोम (राज्ञे) राजा को (परिधातवै) पहिनने के लिए (उ) निश्चय से (प्रायच्छद्) दिया है।' पाठक देखेंगे कि यहाँ मन्त्र में स्पष्ट ही सोम को राजा का विशेषण बनाया गया है। मन्त्र की दृष्टि में राजा ही सोम है। फिर श्री सायण को सोम की राजा में संगति न करके उसको यहाँ एक अलग देवता का वाचक मानने का क्या अधिकार है। चौथे मन्त्र में जिसे सोम राजा कहा है उसी से पाँचवे मन्त्र में कहते हैं—'जरां सु गच्छ परि धत्स्व वासो भवा गृष्टीनामभिशस्तिपा उ, शतं च जीव शरदः पुरुची रायश्च पोषमुप संव्ययस्व ।' (अथ० 19.24.5) अर्थात् 'हे राजन् ! तू बुढ़ापे तक जी, सुन्दर वस्त्र पहिन, गौओं की नाश से रक्षा करने वाला हो, सो लम्बी-लम्बी शरद् ऋतुओं तक जी, और धन की पुष्टि कर।' चौथे और पाँचवे मन्त्र में आये हुए सोम राजा के विशेषण निर्विवाद रूप में सिद्ध कर रहे हैं कि वह सो साल तक जी कर बुढ़ापे में मरने वाला दूसरे प्रजाजनों जैसा मनुष्य ही है वह कोई उनसे कोई भिन्न प्रकार का देवता नहीं है। इन विशेषणों के आधार पर सोम को राजा चुना जा रहा यजमान ही समझना चाहिए। इस सूक्त में कम से कम उसे कोई मनुष्यों से भिन्न प्रकार का देवता समझना निरी भ्रांति है। छठे मन्त्र में भी उसी सोम राजा का वर्णन है। मन्त्र में उसे कहा गया है कि 'परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा¹ उ, शतं च जीव शरदः पुरुचीर्वसूनि चार्श्वि भजासि जीवन् ।' (अथ० 19.24.6) अर्थात् 'हे सोम राजन् ! यह वस्त्र पहिनिये, हमारे कल्याण के लिए हूजिये, हमारे कृषि-कूपादि (वापीनाम्)² को नाश से बचाने वाला बनिये, सो

¹ सायणादि भाष्यकारों के अनुयायी जो जोग दयानन्द के भाष्य पर यह आक्षेप किया करते हैं कि उसमें व्यत्ययों का बड़ा सहारा लिया गया है, वे सायण के इन व्यत्ययों को देखें। सायणादि ने अपने भाष्य में एक नहीं सैंकड़ों स्थान पर व्यत्यय किये हैं। पर इसकी विवेचना करना हमारे लिये प्रकरण-पतित नहीं है। इतना हम अवश्य कहेंगे कि दयानन्द के व्यत्ययों से जहाँ अर्थ में बुद्धि-संगतता और चमत्कार उत्पन्न हो जाते हैं वहाँ सायणादि के व्यत्यय चमत्कार-पूर्ण, शिक्षाप्रद और बुद्धि-संगत अर्थ बहुत कम उपस्थित करते हैं।

² दुवप्वीजतन्नुसन्ताने। वपिवसीत्यौणादिक इव। वपन्ति बीजान् विस्तारयन्ति यत्र तासां कृषिभूमीनाम्। जलाशयभेदेपि वापी शब्दः।

साल का लम्बा जीवन प्राप्त कीजिये, और जीते रहकर धनों का सुन्दर विभाग कीजिये। सौ साल तक जीने वाला, वस्त्र पहिने वाला, कृषि-कूपादि की रक्षा करने वाला, धनों का विभाग करने वाला सोम-राजा राजा ही हो सकता है। अतः सोम का अर्थ सोमगुणों वाला, श्री सायण के शब्दों में 'यजमान' राजा ही किया जाना चाहिए। और उसे 'परिषत्तन' और 'नयाम्' क्रियाओं का कर्म ही मानना चाहिए। श्री सायण ने ऐसा न करके सूक्त के वास्तविक तात्पर्य से अनभिज्ञता का परिचय दिया है और उसके साथ अन्याय किया है।

सूक्त के दूसरे मन्त्र में चुने जा रहे जिस राजा को इन्द्र शब्द से कहा था, तीसरे से छठे मन्त्र तक फिर जिसे 'सोम' शब्द से अभिहित करते रहे, उसे ही सातवें मन्त्र में पुनः 'इन्द्र' कहकर बुलाते हैं—'योगेयोगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे, सखाय इन्द्रमूतये।' (अथ० 19.24.7.) अर्थात् 'बड़े वली (तवस्तरं)¹ इस ऐश्वर्य-शाली राजा को प्रत्येक अप्राप्त लाभ की प्राप्ति के लिए नवीन अनुष्ठानारम्भ के अवसर पर (योगे योगे) तथा भाँति-भाँति के संग्रामों में (वाजे-वाजे) रक्षा के लिए हम इसके मित्र-भूत प्रजा के लोग (सखायः) बुलाते हैं।' उसी इन्द्र राजा को फिर सम्बोधन करके कहते हैं—'हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व, तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः।' (अथ० 19.24.8) अर्थात् सुवर्ण के समान कान्ति वाला, बुढ़ापे से रहित पूर्ण-युवा, उत्तम कोटि का वीर, जिसकी बुढ़ापे में जाकर ही मृत्यु होगी ऐसा तू प्रजा के साथ सुखी रह अथवा प्रजा के साथ इस राष्ट्र में रह (संविशस्व)², अग्नि ऐसा कह रहा है, सोम ऐसा कह रहा है, बृहस्पति, सविता और इन्द्र भी ऐसा कह रहे हैं। मन्त्र का भाव यह है कि प्रजाजनों ने तो अपनी अनुमति तुम्हारे राजा बनने में दे ही दी है, प्रजा की अनुमति के पीछे अग्नि आदि राज्याधिकारी³ भी तुम्हारा स्वागत कर रहे हैं। इन दोनों मन्त्रों में दिया गया इन्द्र विषयक वर्णन तथा उसके 'जरामृत्युः' और 'प्रजया संविशस्व' ये विशेषक पद इसमें सन्देह नहीं रहने देते कि इस सूक्त का इन्द्र मनुष्य ही हो सकता है। और वह श्री सायण का 'यजमान राजा' है। काल्पनिक इन्द्र में 'जरामृत्युः' और 'प्रजया संविशस्व' ये पद संगत नहीं हो सकते। उसे तो 'निर्जर' कहा जाता है। उसे कभी बुढ़ापा आता ही नहीं और न ही कभी उसकी मृत्यु होती है। वह 'अमर' है। पर सूक्त का इन्द्र बुढ़ापे में मरने वाला है। इसी भाँति इन्द्र देवता तो स्वर्ग में देवताओं के साथ रहते हैं।

¹ तव इति बलनामसु पठितम् । निघ० 2.9.

² संविशशब्देनात्र निर्बंशो विवक्ष्यते । निविश । यद्वा संविशस्व सम्यग् विभेति सायणः ।

³ अग्नि का अर्थ सम्राट् दिखा चुके हैं। गौण प्रयोग में इसका क्या अर्थ होगा यह आगे देखेंगे। 'सोम' का अर्थ इसी सूक्त के तीसरे चौथे मन्त्रों में राजा है। सोम का अर्थ न्यायाधीश भी होता है यह आगे देखेंगे। इस जगह गौण प्रयोग में सोम का अर्थ न्यायाधीश लेना ठीक होगा। बृहस्पति और सविता का अर्थ-निर्णय आगे करेंगे। इस मन्त्र का 'इन्द्र' शब्द पुराने सम्राट् को कह रहा है जिसने नये राजा को अपना उत्तरदायित्व (चाज) सौंपना है।

मनुष्य-प्रजा के साथ मिलकर सुख से रहना उनमें उपपन्न नहीं हो सकता । यह तो 'यजमान राजा' में ही हो सकता है ।

इस प्रकार हमने देखा कि सारे सूक्त में सिलसिलेवार एक वर्णन चल रहा है और वह है राजा का चुनाव और राज्याभिषेक । उस राजा को ही इन्द्र और सोम शब्दों से कहा गया है । ऐसी अवस्था में श्री सायण ने 'इन्द्र' और 'सोम' पदों को दूसरे और तीसरे मन्त्रों में 'परिधत्तन' और 'नयाम्' क्रियाओं का कर्म न मानकर उन्हें जो व्यत्यय से सम्बोधनान्त पद माना है यह उनका घोर अन्याय है ।¹

वेद में इन्द्र का अर्थ सम्राट् भी होता है इसमें हमारी अथर्ववेद के इस सूक्त की इस विवेचना को पढ़कर, किसी को सन्देह नहीं रहना चाहिए ।

47. इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।

अस्माकमस्तु

केवलः ॥

अथ० 20.70.16.

अर्थात्—(इन्द्रं) इस ऐश्वर्यशाली सम्राट् को (वः) हे प्रजाजनो ! तुम्हारे कल्याण के लिए (विश्वतः) सब (जनेभ्यः) मनुष्यों में (परि) से (हवामहे) बुलाते हैं । यह सम्राट् (अस्माकम्) हमारा (केवलः)² सुख देने वाला अथवा केवल हमारा ही (अस्तु) होवे ।

मन्त्र का भाव यह है कि राजा सब प्रजाजनों के बीच में से कोई भी चुना जा सकता है । वंशानुक्रम से आता हुआ कोई विशेष व्यक्ति ही राजा बन सकता हो ऐसी बात नहीं है । जिसे भी प्रजाजन समझें कि वह हमारी सुख-समृद्धि का औरों से अधिक बढ़ाने वाला होगा उसे ही अपने ऊपर राज्य करने के लिए बुला सकते हैं । उनसे बुलाये जाने—उनकी सहमति प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति राजा नहीं बन सकता यह मन्त्र की स्पष्ट ध्वनि है ।

कुछ अन्य सूक्तों के प्रमाण

48. आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्³ ॥

ऋग्० 10.173.1., अथ० 6.87.1.

¹ अपनी यह लम्बी विवेचना लिख लेने के पश्चात् मन में आया कि देखना चाहिए यूरोपीय टीकाकार यहाँ क्या लिखते हैं । ग्रिफ़िथ ने अपने छन्दोबद्ध भाष्य की टिप्पणी में इस सूक्त के विवादास्पद दूसरे और तीसरे मन्त्र के नीचे इस प्रकार लिखा है—This Indra=This King. This Soma=This King. अर्थात् 'इन्द्र' और 'सोम' पदों का अर्थ यहाँ चुना जा रहा राजा है । इस प्रकार एक यूरोपीय भाष्यकार भी इस स्थल में हमारे साथ है । पाठक देखेंगे कि कोई-कोई यूरोपीय टीकाकार कहीं-कहीं सायण से अधिक संगत और प्रामाणिक अर्थ करता है । पर अधिकांश में ये सायण का ही अनुकरण करते हैं ।

² केवु सेवने धातोरीणादिकः कलच् । सुखोपलब्धये सेवनीयः । यद्वा कं सुखं, वल वरणे संचरणे च, के वलते संचरति संचालयति वा स केवलः ।

³ अथर्ववेदेस्मिन् मन्त्रे 'अन्तरेधि' इत्यस्य स्थाने 'अन्तरभूः' इति 'अविचाचलिः' इत्यस्य स्थाने च 'अविचाचलत्' इति पठ्यते । पाठे तु भिद्यमानेपि अर्थे न कश्चिद्विशेषः ।

पृ. ११८ 49. इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥

ऋ० 10.173.2, अ० 6.87.2.

दोनों मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(48) 'हे राजन ! (त्वा) तुझको (आहर्षम्)¹ मैंने बुलाया है (अन्तः)² हमारे बीच में (एधि) ही (ध्रुवः) स्थिर होकर (अविचाचलिः) कभी विचलित न होने वाला होकर (तिष्ठ)³ इस राष्ट्र के सिंहासन पर बैठ । (त्वा) तुझे (सर्वाः) सारी (विशः) प्रजाएँ (वाञ्छन्तु) चाहें कि यह हमारा राजा बने । (त्वत्) तुझ से (राष्ट्रम्) यह राष्ट्र (मा) कभी न (अधिभ्रशत्) नष्ट होवे ।'

(49) '(इह) इस राष्ट्र की रक्षा के कर्म में (एव) ही (एधि) लगा रह (मा) इस रक्षा के कर्म से कभी न (अपच्योष्ठाः) गिर (पर्वत इव) पहाड़ की तरफ (अविचाचलिः) विचलित न होने वाला होकर राज्यारोहण कर (इन्द्र)⁴ इन्द्र की (इव) तरह (ध्रुवः) स्थिर होकर (तिष्ठ) सिंहासन पर बैठ (उ) और (इह) यहाँ रह कर (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (धारण)⁵ धारण कर प्रजाओं को अपने-अपने कर्म में लगा ।'

X जिस सूक्त के ये मन्त्र हैं वह सारा ही राज्यारोहण विषयक है । इसमें स्वदेश और विदेश के किसी भी विद्वान् की विप्रतिपत्ति नहीं है । सूक्त के मन्त्रों पर दृष्टिपात करते ही इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि सूक्त राजा-परक ही लग सकता है, इसका कोई और अर्थ नहीं हो सकता । यहाँ भी राजा चुना हुआ होना चाहिए इसका असंदिग्ध प्रतिपादन है । 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु'—'तुझे सारी प्रजाएँ चाहें' इस वाक्य द्वारा वेद स्पष्ट उपदेश करता है कि जब तक किसी व्यक्ति को उस राष्ट्र की प्रजाएँ पसन्द न करें, उसके राजा बनने के लिए अपनी सहमति प्रकट न करें, तब तक वह राजा नहीं बनाया जाना चाहिए । इस सूक्त में प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में बोल रहे पुरोहित या प्रधानामात्य के अभिषिच्यमान सम्राट् को सम्बोधन करके कहे गये 'एधि', 'तिष्ठ' आदि आदेशात्मक पदों की भी यही छ्वनि है कि राजा के राज्यारोहण में प्रजा या उसके प्रतिनिधियों का पूरा अधिकार होना चाहिए कि वे जिसे योग्य समझें उसे राष्ट्रपति चुनें और जिसे योग्य न समझें उसके हाथ में राष्ट्र की बागडोर न जाने दें ।

¹ प्रधानामात्यो वा राजपुरोहितो वा प्रजाप्रतिनिधिरूपेण ब्रवीतीति एकवचनप्रयोगेण ध्वन्यते ।

² अन्तरेधीत्यनेन मन्त्रिमण्डलान्तर्भवति ध्वन्यते ।

³ राष्ट्रमधितिष्ठेति सायणः ।

⁴ यहाँ 'इन्द्र' शब्द अपना राज्यकाल समाप्त करके वानप्रस्थ में जा रहे पुराने सम्राट् की सूचना देता है । तुझसे पहले सम्राट् ने जैसे स्थिर होकर राज्य किया है वैसे ही तू भी कर ।

⁵ स्वे स्वे कर्मण्यवस्थापयेति सायणः ।

50. भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥

अथ० 4.8.1

51. व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥

अथ० 4.8.4

दोनों मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(50) '(भूतः) अभिषिक्त हो रहा यह राजा भूत अर्थात् प्रजा के अन्य प्राणियों जैसा ही एक प्राणी है, चुना जाकर यह (भूतेषु) राष्ट्र के प्राणियों में (पयः) दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थ (आदधाति) धारण करेगा—उन्हें ये पदार्थ मिलते रह सकें इसका प्रबन्ध करेगा (सः) वह (भूतानां) राष्ट्र के प्राणियों का (अधिपतिः) हमारी सहमति से अधिपति (बभूव) हो गया है। (तस्य) उसके (राजसूयं) राजा बनाने के निमित्त हो रहे इस राजसूय में (मृत्युः) मृत्यु भी (चरति) चल रहा है—अर्थात् यदि उसने राष्ट्र का ठीक प्रकार से पालन न किया और स्वयं कुमार्ग पर जाने लगा तो उसे राज्य से च्युत भी कर दिया जायेगा और उसकी राजा रूप में मृत्यु हो जायेगी, उसे राजा बनते समय और बनकर भी सदा इस मृत्यु का स्मरण रखना चाहिए। (सः) वह (राजा) राजा (इदम्) इस (राज्यं) राज्य को (अनुमन्यताम्) स्वीकार करे।'

(51) '(व्याघ्रः) व्याघ्र की तरह बल वीर्यशाली शूरवीर होकर (वैयाघ्रे)¹ इस बिछे हुए व्याघ्र के चर्म पर (अधि=अधितिष्ठ) बैठ। 'व्याघ्रो अधि' का यह भी अर्थ हो सकता कि व्याघ्र के शौर्य-कर्म करने के लिए सिंहासन पर बैठ ! (महीः) बड़ी-बड़ी (दिशः) इन दिशाओं में (विक्रमस्व) विक्रम के कार्य कर (सर्वाः) सारी (विशः) प्रजाएँ तुझे (वाञ्छन्तु) चाहें (पयस्वतीः) दूध से भरे हुए दूध की तरह पुष्टि देने वाले (दिव्याः) द्युलोक में रहने वाले (आपः) जल भी तुझे चाहें अर्थात् तेरे राज्य में सदा समय पर वृष्टि होती वहा करे, कभी अनावृष्टि न देखनी पड़ा करे। अथवा अन्तिम वाक्य को प्रजाओं का ही विशेषण बना सकते हैं। (पयस्वतीः) दूध आदि पौष्टिक पदार्थों वाली (दिव्याः) दिव्य गुणों वाली, नाना प्रकार के व्यापार-व्यवहार करने वाली (आपः) राष्ट्र में फैली हुई (सर्वा विशः त्वा वाञ्छन्तु) सारी प्रजाएँ तुझे चाहें।'²

जिस सूक्त के ये दोनों मन्त्र हैं वह भी राज्याभिषेक विषयक हैं। इसमें सभी भाष्यकार सहमत हैं। श्री सायण ने स्पष्ट लिख ही दिया है कि—'राजसूये

¹ व्याघ्रस्य विकारश्चर्मं वैयाघ्रम् । अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्य इति विकारायें अण् । यद्वा तस्येदमित्यणि व्याघ्रस्येदं वैयाघ्रं शौर्यादि कर्म ।

² हमें यह दूसरा विकल्प ही अधिक स्वीकृत है। पहला विकल्प दूसरे भाष्यकारों के आधार पर दे दिया है।

आसन्धारोहणे राज्याभिषेके च एतत् सूक्तम् ।' अर्थात्—'राजसूय यज्ञ में, सिंहासनारोहण में और राज्याभिषेक में इस सूक्त का विनियोग है ।' इसमें किसी भाष्यकार के पीछे जाने की आवश्यकता नहीं है । सूक्त के 'राजा', 'राजसूय', 'राज्यम्', 'विशः' आदि पद इसमें सन्देह का स्थान ही नहीं रहने देते कि सूक्त का अर्थ क्या होना चाहिए । सूक्त के ऊपर अंकित मन्त्रों में राजा प्रजा द्वारा चुना हुआ, उसकी सहमति से बना हुआ होना चाहिए इसका स्पष्ट उपदेश दिया गया है । 'राजा राज्यमनुमन्यतामिदम्' की यही स्पष्ट ध्वनि है । पहले उसे राज्य स्वीकार करने के लिए कहा जाता है, पश्चात् (अनु) वह अपनी अनुमति अर्थात् स्वीकृति (अनु + मति) देता है । राज्य के लिए योग्य समझ कर पहले प्रजाजनों द्वारा उसके लिए अपनी सहमति प्रकाशित हो जाना आवश्यक है तभी कोई व्यक्ति 'राजा बनता हूँ, ऐसा कह सकता है । केवल वंशानुक्रम के अधिकार से ही कोई व्यक्ति राजा बनने नहीं आ सकता । फिर 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु'—'तुझे सारी प्रजाएँ चाहें'—इस वाक्य में तो अत्यन्त ही स्पष्ट है कि जब तक प्रजायें किसी को न चाहें, अपनी सहमति न प्रकाशित करें, कि वह हमारा राजा बन सकता है, तब तक वेद की सम्मति में उसे राजा नहीं बनाया जाना चाहिए ।

52. उदेहि वाजिन्यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत् ।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं विभर्तु ॥

अय० 13.1.1.

53. उद्वाज आ गन्यो अप्स्वन्तविश आ रोह त्वद्योनयो याः ।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥

अय० 13.1.2.

दोनों मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(52) '(वाजिन्) हे बली, ज्ञानी अथवा अन्न देने वाले राजन् ! (अप्स्वन्तः)¹ तुम जो कि अभी राजा चुने जाने से पूर्व प्रजाजों के अन्दर एक सामान्य व्यक्ति की तरह रह रहे हो । (सूनृतावत्) मधुर और सत्य वाणी बोलने वाले बनकर (देहि = उत् + आ + इहि) आओ और (राष्ट्रं) इस राष्ट्र में (प्रविश) प्रवेश करो—इसके कार्यभारों को संभालो (यः) जिस (रोहितः) सब को पैदा करने और बढ़ाने वाले परमात्मा ने (इदं) इस (विश्वं) जगत् को (जजान) उत्पन्न किया है (सः) वह (त्वा) तुझे (राष्ट्राय) राज्य के लिए—राज्य के रक्षण और पालन के लिए (सुभृतं विभर्तु) अच्छी तरह से धारित रखे, इस महान् कार्य में सदा तेरी सहायता करे और तुझे अपने कर्तव्य से कभी विचलित न होने दे ।'

1 आप इति बहुल वैदिकसाहित्ये जनपदे व्याप्तिमतीः विस्तारिणीः प्रजा बोधयति । व्युत्पत्तिश्च व्याप्नुवन्ति जनपदमिति आपो विशः । तथा च यजुः 12.102 व्याख्यानावासरे शतपथब्राह्मणम्—मनुष्या वा आपश्चन्द्राः । श० 7.1.1.2.

(53) 'हे राजन् ! (यः) जो (वाजः) बल (अप्स्वन्तः) प्रजाओं में था वह (उद्) ऊपर (आगन्) आ गया है—प्रकट हो गया है। अर्थात् तेरे राजा चुन लिया जाने से प्रजाओं की शक्ति दृढ़ हो गई है और उसका प्रकाश होने लगा है, उनकी छिपकर पड़ी हुई शक्ति अब ऊपर उठी हुई दीखने लगी हैं। (विशः) इन प्रजाओं पर (आरोह) आरोहण कर—राज्यारोहण द्वारा इन पर शासन करने लग (याः) जो प्रजाएँ (त्वत्) तेरी (योनयः) राजा रूप में उत्पत्ति का कारण हैं। (सोमं) ऐश्वर्य को (दधानः) धारण करता हुआ (इह) अपने इस राष्ट्र में (अपः) भाँति-भाँति के कर्म (ओषधीः)¹ विभिन्न प्रकार के अनाज और ओषधियाँ (गाः) वाणियाँ अर्थात् विधाएँ (चतुष्पदः) चौपाये और (द्विपदः) दोपाये (आवेशय) प्रविष्ट करा—अर्थात् ऐसा प्रबन्ध कर कि तेरे राज्य में प्रजाओं को ये वस्तुएँ खूब मिल सकें।'

ये दोनों मन्त्र भी स्पष्ट शब्दों में बता रहे हैं कि वेद के अनुसार राजा चुना जाना चाहिए। 'यो अप्स्वन्तः' और 'त्वद्योनयो याः' ये शब्द साफ कह रहे हैं कि राजा प्रजाओं के अन्दर का ही व्यक्ति होता है और प्रजायें उसके राजा बनने का कारण होती है। 'योनि' शब्द राजा और प्रजा के जन्य-जनक सम्बन्ध को प्रदर्शित कर रहा है। प्रजायें 'योनि' हैं—राजा की जनक हैं। जब तक प्रजाओं की सम्मति न मिल जाये तब तक कोई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता। प्रजा की सहमति ही किसी के राजा बनने का कारण है। प्रजा की सहमति के बिना केवल वंशानुक्रम के अधिकार से ही कोई व्यक्ति वेद की सम्मति में राजा नहीं बनाया जाना चाहिए।

54. विशो न राजानं वृणानाः ।

ऋग्वे० 10.124.8.

अर्थात् '(न) जैसे (विशः) प्रजायें (राजानं) राजा को (वृणानाः) चुनती हैं।'

इस उपमा से भी स्पष्ट है कि वेद की सम्मति में राजा प्रजा के द्वारा चुना हुआ ही होना चाहिए।

इस प्रकार पाठकों ने पिछले पृष्ठों में देखा कि राजा चुना हुआ ही—प्रजा की सहमति से बना हुआ ही—होना चाहिए इसको स्पष्ट या ध्वनित सूचना वेदों में स्थान-स्थान पर मिलती है। हमने ये कुछ थोड़े से ही प्रमाण उपस्थित किये हैं। इससे कहीं अधिक प्रमाणों का समावेश किया जा सकता है। पर हम जो बात दिखाना चाहते हैं उसके लिए इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं। इससे अधिक इस सम्बन्ध में जो सज्जन जानना चाहें वे सीधा वेदों का हमारी दिखाई पद्धति से अध्ययन करें। हम केवल दो प्रमाण और देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। राजा चुना हुआ ही होना चाहिए वेद इसके इतने अधिक प्रबल रूप में पक्षपाती हैं कि वे मनुष्यों को नक्षत्र आदि जड़ पदार्थों में भी 'चुनाव के भाव' को देखने का निर्देश करते हैं। कई स्थानों पर नक्षत्रों का वर्णन भी इस ढंग से किया गया है कि मानो नक्षत्र प्रजाजन हैं और

¹ ओषधयः फलपकान्ताः ।

उन्होंने धूमकेतु या सूर्य को राजा चुन रखा है। इन मन्त्रों को देखिये—

55. शकधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वत ।

भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥

अथ० 6.128.1.

56. येन देवं सवितारं परि देवा आधारयन् ।

तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय घत्तन ॥

अथ० 19.24.1.

दोनों मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(55) '(यत्) जब (नक्षत्राणि) नक्षत्रों ने (शकधूमं)¹ धूमकेतु को (राजानं) राजा (अकुर्वत) बनाया तो (अस्मै) इस धूमकेतु के लिए उन्होंने (भद्राहं) कल्याण से भरे दिन (प्रायच्छन्) दे दिये (इति) जिससे उसका (इदं) यह नक्षत्र-संसाररूपी (राष्ट्रन्) राष्ट्र (असात्) बना रहे ।'

(56) '(येन)² जिस प्रकार (सवितारं) सूर्य (देवं) देव को (देवाः) पृथिवी, चन्द्र आदि देवों ने (परि-आधारयन्) मिलकर धारण किया हुआ है—अपना राजा बनाया हुआ है (तेन) उसी प्रकार (ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मस्पति (इमं) इस व्यक्ति को भी (राष्ट्राय) राज्य करने के लिए (परिघत्तन) धारण करो—नियुक्त करो ।'

इनमें से पहले मन्त्र में यह दिखाया गया है कि मानो धूमकेतु एक सम्राट् है और नक्षत्रों ने मिलकर उसे अपना अधिपति बना रखा है और उसके शासन में अपने नक्षत्र—राष्ट्र को सौंप रखा है। एवं दूसरे मन्त्र में यह प्रदर्शित किया गया है कि सूर्य एक सम्राट् है और पृथ्वी-चन्द्र आदि देवों ने उसे अपना शासक बना रखा है। इस दूसरे मन्त्र में तो निर्देश ही स्पष्ट रूप में यह दिया गया है कि जैसे ग्रह-उपग्रहों ने अपना सम्राट् सूर्य को बना रखा है और उसके शासन में आनन्द से रहते हैं इसी प्रकार हमें भी अपने सम्राट् को चुनकर उसके शासन में आनन्द से रहना चाहिए।

¹ शकलु शक्ती—पचाद्यच्; धूब् कम्पने—मक्। शकः समर्थो धूमे लोकानां कम्पने इति शकधूमो धूमकेतुः ।

² अस्य मन्त्रस्य विशिष्टं व्याख्यानमस्यैव प्रकरणस्य चतुश्चत्वारिंशत्तमे (44) मन्त्रे द्रष्टव्यम् ।

चौथा अध्याय

अग्नि और इन्द्र

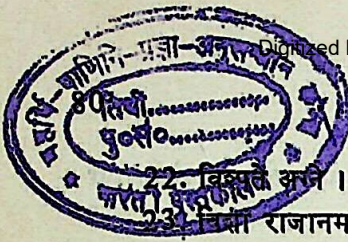
वेद में 'अग्नि' और 'इन्द्र' का एक अर्थ सम्राट् भी होता है। यह अग्नि और इन्द्र सम्बन्धी सूक्तों से राजा के चुनाव के सम्बन्ध में प्रणामों को उपस्थित करते हुए हम साथ-साथ दिखाते आये हैं। जितने प्रमाण हमने पिछले पृष्ठों में समाविष्ट किये हैं वे ही हमारी स्थापना की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। उन्हें पढ़कर कोई भी आग्रह-हीन पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि वेद में इन दोनों शब्दों का एक अर्थ सम्राट् भी अवश्य होता है और इसलिए जहाँ विशेषण और मन्त्र तथा सूक्त-गत वर्णन साथ देते हों वहाँ अग्नि और इन्द्र-सूक्तों की व्याख्या राजशास्त्र-परक करनी चाहिए। परन्तु आचार्य दयानन्द के अनुयायियों से बाहर की, वेदों का स्वाध्याय करने वाली, पंडितमण्डली में भ्रान्तिवश यह धारणा कि वेद में 'अग्नि' का अर्थ 'आग' या आग का देवता अग्नि, और 'इन्द्र' का अर्थ 'एक विशेष प्रकार का देवता' ही होता है, और कुछ नहीं, इतनी अधिक बद्धमूल है कि कदाचित् ही किसी स्थल में कोई पण्डित इसके विरुद्ध जाकर इन शब्दों का कोई और अर्थ करता है। वेद में ये शब्द सम्राट् अर्थ में भी अनेक सूक्तों में प्रयुक्त हुए हैं और उन सूक्तों में राजनीति-शास्त्र की बड़ी ऊँची और सुन्दर शिक्षाएँ दी गई हैं, हमारे इस मत को आर्यसमाज से बाहर के अनेक पण्डित इस ग्रन्थ में पढ़कर चौकेंगे और कहेंगे, यह तो एक आर्यसमाजी की जबरदस्ती है जो कि वेदों को विज्ञानों का मूल और भण्डार सिद्ध करने के पागलपन में वेद-मन्त्रों के अर्थों में यथेष्ट खँचातानी और तोड़-मरोड़ कर रहा है। इसलिए हम अपनी स्थापना की पुष्टि में वेदों से कुछ और मन्त्र उपस्थित करना चाहते हैं। इन मन्त्रों में अग्नि और इन्द्र के जो वर्णन हैं पाठक देखेंगे कि वे हमें उन स्थलों में इनका अर्थ 'सम्राट्' करने के लिए बाधित करते हैं। वहाँ इससे भिन्न और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता। आग और काल्पनिक इन्द्र-देवता में वे विशेषण और वर्णन संगत ही नहीं हो सकते। पाठकों ने देखा होगा कि पिछले पृष्ठों में जो प्रमाण उपस्थित किये गये हैं उनके अर्थों में हमने किसी खँचातानी और तोड़-मरोड़ से काम नहीं लिया है। शब्दों से जो सीधा और स्पष्ट अर्थ निकलता है उसी के पीछे चलने का हमारा प्रयत्न रहा है। अगले पृष्ठों में जो मन्त्र उपस्थित किये जायेंगे उनके अर्थों में भी हम इसी नीति का अनुसरण करेंगे। हाँ, यदि कोई अपनी बहुत

देर की और बढमूल धारणा पर चोट लगते हुए देखकर हमें मेन्त्रार्थों में खेंचातानी और तोड़-मरोड़ का अपराधी ठहराने लगे तो और बात है। उसका हमारे पास कोई उपाय नहीं है। यह मनुष्य के स्वभाव में है कि उसे अपनी पुरानी धारणाएँ बदलते हुए कष्ट होता है और बहुत देर तक वह अपनी धारणाओं के विरुद्ध युक्ति और प्रमाण सुनना नहीं चाहता तथा उन युक्ति-प्रमाणों को दूषित कहता रहता है। सच पूछिये तो हमें तो उन स्वदेशी और विदेशी भाष्यकारों के अर्थों में खेंचातानी और तोड़-मरोड़ प्रतीत होती है जो सूक्त-गत अग्नि और इन्द्र के विशेषणों और वर्णनों की परवाह न करके सर्वत्र उनका आग और एक देवता विशेष ही अर्थ करते चले जाते हैं। ये लोग कैसे उन विशेषणों और वर्णनों को आग और एक देवता विशेष में घटा लेते हैं यह हम कभी नहीं समझ सके। अस्तु।

अग्नि का अर्थ सम्राट्

पहले हम अग्नि का अर्थ सम्राट् दिखाने के लिए अग्नि-सूक्तों के कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

1. अग्निमर्गिन् हवीमभिः सदा हवन्त विश्वपतिम् । ऋग् ० 1.12.2.
2. राजा कृष्टीनामसि मानुषीणाम् । ऋग् ० 1.59.5.
3. अस्य शासुः.....विश्वपतिर्विष्णु वेधाः । ऋग् ० 1.60.2.
4. विशां गोपा । ऋग् ० 1.94.5.
5. राजा विशाम् । ऋग् ० 2.2.8.
6. मर्यातां राजा । सखा विष्णोर्नामसाधत् । ऋग् ० 3.1.18.
7. विश्वपतिम् । धृतराष्ट्रस्य उविष्योपमोऽग्निर्विष्णोर्विश्वपतिर्विष्णुः । ऋग् ० 3.2.10.
8. त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम् । ऋग् ० 3.6.5.
9. त्वामग्ने सम्राजं चर्षणीनाम् । ऋग् ० 3.10.1.
10. पुरएता विशमग्निमर्मानुषीणाम् । ऋग् ० 3.11.5.
11. विशां विश्वपतिं मानुषीणाम् । ऋग् ० 5.4.3.
12. विश्वपते । ऋग् ० 5.6.5.
13. धर्तारं मानुषीणां विशाम् । ऋग् ० 5.9.3.
- ✓ 14. जनस्य गोपा अजनिष्ट । ऋग् ० 5.11.1.
- ✓ 15. अग्ने राजन् । ऋग् ० 6.1.13.
16. यो राष्ट्री । ऋग् ० 6.4.5.
- ✓ 17. अग्नि सम्राजम् । ऋग् ० 6.7.1.
- ✓ 18. अग्ने राजन् । ऋग् ० 6.7.3.
19. स सत्पतिः । ऋग् ० 6.13.3.
- 20 स राजा । ऋग् ० 6.15.13.
- 21, सम्राजः कृष्टीनाम् । ऋग् ० 7.6.1.



वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

22. विश्वपति अग्ने ।

ऋग्० 7.15.7.

23. विश्व राजानमदभुतमध्यक्षं धर्मणामिमम् ।

ऋग्० 8.43.24.

24. विश्वपति विशाम् ।

ऋग्० 10.92.1.

25. अग्ने विशस्पते ।

ऋग्० 10.141.1.

इन मन्त्रों में अग्नि को विश्वपति, राजा, गोपा, नेता, सम्राट्, प्रजाओं के आगे चलने वाला, प्रजाओं का धारण करने वाला और राष्ट्री कहा गया है । ये सारे ही राजा के नाम हैं । फिर कहीं किसी को यह सन्देह न हो कि अग्नि किस प्रकार का और किन का राजा है, इसे स्पष्ट करने के लिए मन्त्रों में 'मानुषीणां कृष्टीनाम्', 'विशां', 'मर्त्यानां', 'चर्षणीनां', 'मानुषीणां विशाम्', 'जनस्य', 'कृष्टीनाम्', इन सम्बन्ध-वाचक षष्ठ्यन्त पदों का प्रयोग किया गया है ये सारे ही पद मनुष्यों अथवा मनुष्य-प्रजाओं के वाचक हैं । इनके प्रयोग से 'अग्नि' मनुष्य-प्रजाओं का ही विश्वपति, राजा और सम्राट् ठहरता है । इन स्थलों में अग्नि का अर्थ साधारण आग कभी संगत नहीं हो सकता । ऊपर उद्धृत 23वें मन्त्र-खण्ड में तो अग्नि को राजा कहने के अतिरिक्त 'धर्मों का अध्यक्ष' भी कहा है । धर्म का अर्थ होता है प्रजाओं के अपने-अपने कर्तव्य कर्म, राज्य-नियम, न्याय-व्यवस्था ।¹ अध्यक्ष का अर्थ होता है साक्षी, देखने वाला । धर्माध्यक्ष का अर्थ होगा वह जो कि यह देखता रहता है कि प्रजाजन अपने-अपने कर्तव्य कर्मों को ठीक कर रहे हैं कि नहीं, राज्य-नियम समुचित रूप में चल रहे हैं कि नहीं और न्याय-व्यवस्था ठीक हो रही है कि नहीं । जो अग्नि इन बातों का साक्षी है वह सम्राट् ही हो सकता है ।

1. कविमग्नि सत्यधर्माणम् । ^{इन्द्रः शैलिनो वा (सुतारं दाहकं वा)} ऋग्० 1.12.7.
2. त्वमग्ने प्रथमोः । ऋग्० 1.31.1.
3. त्वा श्रुत्कर्णम् अग्ने । ऋग्० 1.45.7.
4. विश्वः वेधाः । ऋग्० 1.60.2.
5. भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि । ऋग्० 1.94.1.
6. जीवातवे प्रतरं साधया धियोः । ऋग्० 1.94.4.
7. चितयन्तम् । ऋग्० 2.2.4.
8. चेतनः । ऋग्० 2.5.1.
9. विश्वानि काव्यानि विद्वान् । ऋग्० 3.1.18.
10. विदथस्य साधनम् । ऋग्० 3.3.3.
11. विद्वां आ वक्षि विदुषो नि षत्सि मध्य आ । ^{अन्तर्दक्षः} ऋग्० 3.14.2.
12. विप्रो अग्ने । ऋग्० 3.14.5.
13. कविक्रतो । ऋग्० 3.14.7.
14. स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ । ऋग्० 3.15.1.

¹ संस्कृत में धर्मशास्त्र शब्द से जिन ग्रन्थों का संग्रह होता है उनमें इन्हीं बातों का वर्णन होता है । उदाहरण के लिए स्मृति और धर्मसूत्र-साहित्य को देखिए ।

अग्नि और इन्द्र

15. त्वं नृचक्षाः ।	ऋग् 3.15.3.
16. कवितमः स वेधाः ।	ऋग् 3.14.1.
17. प्रमर्ति रास्व सुमर्ति विश्वजन्याम् ।	ऋग् 3.57.6.
18. आशृण्वते नृचक्षसे ।	ऋग् 4.3.3.
19. विद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम् ।	ऋग् 4.5.3.
20. त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषास्त्वदुवथा जायन्ते ।	ऋग् 4.11.3.
21. अग्ने अस्मदमतिमारे विश्वां दुर्मतिम् ।	ऋग् 4.11.6.
22. कविम् ।	ऋग् 5.4.3.
23. कविक्रतुम् ।	ऋग् 5.11.4.
24. ऋतं चिकित्वः ।	ऋग् 5.12.2.
25. कविम् ।	ऋग् 5.14.5.
26. विश्वचर्षणिम् ।	ऋग् 5.14.6.
27. ददन्मेधामृतायते ।	ऋग् 5.27.4.
28. स सत्पतिः विप्रः ।	ऋग् 6.13.3.
29. अविद्वांसो विदुष्टरं सपेम ।	ऋग् 6.15.10.
30. विश्वा वेद जनिमा ।	ऋग् 6.15.13.
31. विप्रम् ।	ऋग् 8.11.6.
32. विप्रस्य वेधसोज्जेः ।	ऋग् 8.43.1.
33. अग्निं धीषु प्रथमम् ।	ऋग् 8.71.12.
34. मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निम् ।	ऋग् 10.91.8.
35. यन्तारं धीनाम् ।	ऋग् 3.3.8.

इन मन्त्र-खण्डों में अग्नि को (1) 'क्रान्तदर्शी विद्वान्, सत्य धर्मों पर चलने-चलाने वाला', (2) 'प्रकृष्ट मननशील बुद्धि वाला', (3) 'सब बातों को सुनने वाला', (4) 'प्रजाओं के बीच में नयी-नयी बातों का निर्माण करने वाला विद्वान्', कहा है। यह भी कहा कि (5) 'उसकी सभा में बैठने से हमें प्रकृष्ट मननशील बुद्धि प्राप्त होती है।' उससे (6) 'जीवन के लिए हमारी बुद्धियों को अच्छी तरह सुधार', ऐसी प्रार्थना की गई है। उसे (7) 'जानने वाला', (8) 'चेतन', (9) 'सब काव्यों अर्थात् गहराई के ज्ञानों को जानने वाला', (10) 'ज्ञान का सिद्ध करने वाला', (11) 'विद्वान् और विद्वानों को बुलाकर उनके बीच में बैठने वाला', (12) 'विशेष-रूप से कार्यों को पूरा करने वाला विद्वान्', (13) 'क्रान्तदर्शियों जैसे काम करने वाला या उन जैसी बुद्धि वाला' बताया है। उससे प्रार्थना की है कि (14) 'तू मुझे उत्कृष्ट-नीति में चला।' उसे (15) 'मनुष्यों को पहचानने वाला', (16) 'सबसे बढ़कर क्रान्तदर्शी और वेधा अर्थात् नयी-नयी चीजों का बनाने वाला विद्वान्' कहा है। उससे कहा है कि (17) 'तू हमें प्रकृष्ट और भद्र मननशील बुद्धि दे जिससे सबका हित हो', (18) 'तू सब कुछ सुनने वाला और मनुष्यों को ताड़ जाने वाला है', (19) 'तू विद्वान् है, मुझे मननशील

बुद्धि सिखा', (20) 'तेरे कारण काव्य अर्थात् गहरे ज्ञान पैदा होते हैं, मननशील बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं और प्रशंसनीय प्रवचन होते हैं', (21) 'मूर्खता और दुर्भक्ति को हम से दूर कर।' उसे फिर (22) 'क्रान्तदर्शी', और (23) 'क्रान्तदर्शियों जैसे कर्म करने वाला' कहकर, (24) 'ऋत अर्थात् सत्य को समझने वाला', बताया है और पुनः (25) 'क्रान्तदर्शी विद्वान्' कहा है। फिर आगे कहा है कि (26) 'वह सब को जानने वाला अथवा सब मनुष्यों का संग्रह करने वाला है', (27) 'वह ऋत अर्थात् सत्यज्ञान चाहने वालों को धारणावती बुद्धि देता है', (28) 'वह सत्पालक और विभिन्न कार्यों को पूरा करने वाला विद्वान् है', (29) 'हम कम ज्ञानी उस अधिक ज्ञानी की परिचर्या करें', (30) 'वह सब उत्पन्न हुई चीजों को जानता है', (31) उसे 'विप्र अर्थात् विशेष-रूप से कार्यों को पूरा करने वाला विद्वान्', बताकर पुनः (32) 'विप्र और 'वेधा' कहा है। फिर कहा है कि (33) 'वह बुद्धि वालों में सबसे प्रथम है', (34) 'धारणावती बुद्धि देने वाला है और ज्ञान को सम्पन्न करने वाला है', (35) 'ज्ञान और कर्म को नियम में रखने वाला है'।

अग्नि के ये ज्ञान-कर्म जड़(आग)में नहीं संगत हो सकते। ऐसी योग्यता वाला ज्ञानी कोई चेतनावान् और ऊँचे विकसित मस्तक वाला व्यक्ति ही हो सकता है। जहाँ इन विशेषणों के साथ राजा, विशांपति और सम्राट् आदि राज-बोधक पद आ जायें जैसे कि अनेक सूक्तों में आते हैं, वहाँ अग्नि का ज्ञान-शक्ति सम्पन्न सम्राट् ही अर्थ करना चाहिए।

- | | |
|--|---------------|
| 1. त्वामग्ने प्रथममायुम् । | ऋग्० 1.31.11. |
| 2. मनुषस्य । | ऋग्० 1.31.11. |
| 3. दमूना गृहपतिः । | ऋग्० 1.60.4. |
| 4. अग्निर्मनुषः । | ऋग्० 2.2.8. |
| 5. स्वपत्य । | ऋग्० 3.3.7. |
| 6. अग्ने नृतमस्य ते । | ऋग्० 3.19.3. |
| 7. या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा । | ऋग्० 3.57.5. |
| 8. स्वस्वो अग्ने सुरथः सुराधाः । | ऋग्० 4.2.4. |
| 9. गोर्मा अनेऽविर्मा अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः । | |

इळावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रयिः पृथुवुज्जः सभावान् ॥ अन्तरिक्ष

- | | |
|---|---------------|
| 10. अर्वाचीनः परिवीतो निषीद । | ऋग्० 4.2.5. |
| 11. अग्ने पाहि नृतम वाजे अस्मान् । | ऋग्० 4.3.2. |
| 12. वर्षिष्ठाय क्षितीनाम् । | ऋग्० 5.4.6. |
| 13. सुषूरसूत माता क्राणा । | ऋग्० 5.7.1. |
| 14. स मर्त्येष्वमृत प्रचेता राया द्युम्नेन श्रवसा वि भाति । | ऋग्० 5.7.8. |
| 15. गृहपतिः । | ऋग्० 6.5.5. |
| | ऋग्० 6.15.13. |

- | | |
|---|---------------|
| 16. गृहपते । | ऋग्० 6.15.19. |
| 17. नृतमः । | ऋग्० 7.6.4. |
| 18. कविर्गृहपतिर्युवा । | ऋग्० 7.15.2. |
| 19. त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्व । | ऋग्० 8.11.1. |
| 20. स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निः । | ऋग्० 10.1.6. |
| 21. असुरस्य पुंसः । | ऋग्० 7.6.1. |

इन मन्त्रखण्डों में से 1, 2, 4 में अग्नि को 'प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ आयु'¹ और 'मनुष्य' कहा है। ये दोनों पद मनुष्य के वाचक हैं। 6, 11, 17 मन्त्रखण्डों में अग्नि को 'नृतम' कहा है। 'नृतम' का शब्दार्थ होता है 'अतिशयेन मनुष्यः', अर्थात् वह मनुष्य जिसमें मनुष्य के गुण सबसे अधिक-मात्रा में पाये जायें। दूसरे शब्दों में बहुत श्रेष्ठ मनुष्य को 'नृतम' कहते हैं। यहाँ अग्नि को 'नृतम' शब्द द्वारा बहुत श्रेष्ठ मनुष्य कहा गया है। मन्त्रखण्ड 3, 15, 16, 18 में अग्नि को क्रम से 'अपनी इन्द्रियों को दमन करके रखने वाला (दमूना) गृहस्थ (गृहपति)'; 'गृहस्थ'; 'गृहस्थ'; और 'युवक और क्रान्तदर्शी विद्वान् गृहस्थ' कहा है। पाँचवें मन्त्रखण्ड में उसे 'उत्तम अपत्य अर्थात् सन्तान वाला' सम्बोधन किया गया है। मन्त्र-खण्ड-7 में उसकी 'मधुर बोलने वाली और सुबुद्धि देने वाली जिह्वा' का वर्णन है। आठवें मन्त्रखण्ड में उसे 'उत्तम घोड़ों, रथों और धनो से युक्त' बताया है। 9वें सम्पूर्ण मन्त्र का ही अर्थ कर देना ठीक होगा—'(असुर) हे बलवान् (अग्ने) अग्नि ! (एषः) यह तू (गोमान्) गौओं वाला है (अविमान्) भेड़ों वाला है (अश्वी) घोड़ों वाला है (यज्ञः)² संगति करने योग्य, सत्कार करने योग्य है अथवा यज्ञों अर्थात् लोकोपकार के संगठित कर्मों का करने-कराने वाला है (नृवत्सखा) मनुष्यों का बढ़ाने वाला हमारा मित्र है, (सदमित्) सदा ही (अप्रमृष्यः) न दबने वाला है। (इडावान्) अन्न अथवा भूमि वाला है (प्रजावान्) सन्तान वाला है। (दीर्घः)³ लम्बे-चौड़े शरीर वाला है (रयिः) धन वाला है (पृथुबुध्नः)⁴ विस्तृत आधार वाला है (सभावान्) और सभा वाला है।' ये सारे विशेषण यह बताते हैं कि यहाँ अग्नि का अर्थ कोई मनुष्य ही हो सकता है, आग नहीं। मन्त्रखण्ड 10 में कहा है—'यज्ञोपवीतधारी हे अग्नि ! इधर आकर बैठ।' 11वें मन्त्रखण्ड में उससे प्रार्थना है कि 'हे सबसे श्रेष्ठ मनुष्य ! तू युद्ध में हमारी रक्षा कर ।' 12वें मन्त्र खण्ड में से 'मनुष्यों (क्षितियों)⁵ में सबसे श्रेष्ठ' बताया है।'

¹ आयुरिति मनुष्य नामसु पठितम् । निषं० 2.3.

² यज्ञ देवपूजासंगतिकरणदानेषु । यज्ञो यजनीयः सत्करणीयः संगन्तव्यः । पुरुषसूक्ते पुरुषस्य यज्ञ इति विशेषणमस्मिन्नवार्थे प्रयुज्यते । तन्नैव सूक्ते 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन् पुरुषम्' इति मन्त्रे यज्ञं यज्ञसाधनमिति सायणः ।

³ अविच्छिन्नानुष्ठानोपेत इति सायणः ।

⁴ बुध्नमाधारो वा मूलं वा बध्यतेस्मिन्निति । उच्छेत्तुमशक्यः स्पर्धेयवान् इति चास्य पृथुबुध्न पदस्य नेयार्थः ।

⁵ क्षितय इति मनुष्यनामसु पठितम् । निषं० 2.3.

मन्त्रखण्ड 13 में उसे कहा है कि 'कर्मशील उत्तम माता ने तुझे उत्पन्न किया है।' मन्त्रखण्ड 14 में उसे 'प्रकृष्ट ज्ञानी, धन और यश से चमकनेवाला तथा मनुष्यों के बीच में अमृत' कहा है। 'मनुष्यों के बीच में अमृत' कहने से यह तो स्वयं ही सिद्ध है कि वह मनुष्य है क्योंकि यह निर्धारण में सप्तमी है। वह मनुष्य है, औरों से इतना भेद है कि वह अमृत है। ऊपर के आयु, मनुष्य, नूतन आदि विशेषणों से उसका मनुष्य होना निर्विवाद है ही। कोई मनुष्य अमृत हो नहीं सकता। इसलिए अमृत का अर्थ यशस्विता आदि गुणों के कारण अमृत ऐसा करना चाहिए। अग्नि के अमृतत्व के ऊपर हम पीछे लिख आये हैं। मन्त्रखण्ड 19 में कहा है, 'हे अग्नि मनुष्यों में तू ही नियमों की रक्षा करने वाला है।' यहाँ भी निर्धारण में सप्तमी है। इसलिए अग्नि का मर्त्य अर्थात् मनुष्य होना स्वयं ही सिद्ध है। 20वें मन्त्रखण्ड में कहा है कि 'अग्नि सुन्दर वस्त्र पहनने वाला है।' सुन्दर वस्त्र पहनने वाला कोई मनुष्य ही हो सकता है, आग नहीं। मन्त्रखण्ड 21 में उसे 'प्राण देने वाला और पुमान् अर्थात् पुरुष' कहा है।

इन मन्त्रखण्डों से स्पष्ट है कि वेद में अग्नि का वर्णन मनुष्य के रूप में भी हुआ है। इसलिए जहाँ सम्राट्, विशांपति आदि विशेषण साथ हों, तथा दूसरे वर्णन भी साथ देते हों, जैसे कि वेद के अनेक सूक्तों में पाया जाता है, वहाँ मनुष्य-रूप में वर्णित अग्नि का अर्थ सम्राट् ही करना चाहिए।

अब थोड़े से अग्नि के अन्य प्रकार के कर्म भी देख लीजिए। इन कर्मों को करने वाला अग्नि कभी आग नहीं हो सकता। इन्हें किसी शक्ति-संपन्न और सुव्यवस्थित राज्य का कोई अधिपति ही कर सकता है। नीचे दिये गये मन्त्र पढ़िये और उनके अर्थ देखिये—

1. सं त्वा रायः शतितं: सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाम्भ्य ।

ऋग्० 1.31.10.

2. युधा वरिवश्चकर्थ ।

ऋग्० 1.59.5.

3. अग्निर्भुवद् रयिपती रतीणाम् ।

ऋग्० 1.60.4.

4. यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम् ।

स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

ऋग्० 1.94.2.

5. सौभगत्वस्य विद्वानस्माकमायुः प्र तिरेह देव ।

ऋग्० 1.94.16.

6. साम्राज्याय प्रतरं दधानः ।

ऋग्० 1.141.13.

7. अपांसि यस्मिन्नधि संदधुः ।

ऋग्० 3.3.3.

8. ऊर्जा पिन्वस्व समिषो दिदीहि नः ।

ऋग्० 3.3.7.

9. सहसस्पुत्र तिष्ठा अभिक्षितीः प्रथयन् त्सूर्यो नृन् ।

ऋग्० 3.14.4.

10. बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।

ऋग्० 3.15.1.

11. सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः विद्युद्ग्रथः ।

ऋग्० 3.14.1.

असुरः मेघः

12. अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः सौभाग्यस्य ।

राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहयानाम् । ऋग्० 3.16.1.

अर्थात् (1) 'हे कभी न दबने वाले ! नियमों का पालन करने वाले तुझ वीर को सैंकड़ों और हजारों प्रकार के धन प्राप्त होते हैं', (2) 'तू युद्ध करके धन देता है', (3) 'अग्नि धनों का धनपति है', (4) जिसके लिए 'हे अग्नि ! तू संगठन के कार्य करता है (आ यजसे) वह अपने सारे कार्य सिद्ध कर सकता है, वह किसी से भी अवाक्रान्त होकर रहता है, सुवीर्य अर्थात् उत्तम पराक्रम को धारण करता है, वह वृद्धि को प्राप्त होता है (तूताव), उसे दरिद्रता (अंहतिः) नहीं प्राप्त होती, अग्ने ! हम तेरी मित्रता में रहते हुए कभी नष्ट न हों (रिषाम)', (5) 'तू जानता है कि सौभाग्य¹ कैसे बढ़ता है, हमें लम्बी आयु प्रदान कर', (6) 'तू हमें साम्राज्य तक ले जाता है', (7) 'जिस तुझमें सभी प्रकार के कर्म रखे गये हैं', (8) 'रस से तृप्त कर और हमारी खेतियों को चमका', (9) 'हे बलिष्ठ ! तू सब का अभिसरणीय अर्थात् जिसके पास सब पहुँचते हैं (सूर्यः) लोगों की (नृन्) वृद्धि करता हुआ उन पर शासन कर (अभितिष्ठ)', (10) 'हम से द्वेष करने वालों, छिपकर घात करने वालों (रक्षसः)² और रोगों को रोक', (11) 'वह अग्नि सत्य का आचरण करने वाला है, यज्वा अर्थात् यज्ञ को, लोकोपकार के संगठित कर्मों को, करने वाला है, सबसे अधिक क्रान्तदर्शी विद्वान् है, नवीन-नवीन चीजों का निर्माण करने वाला विद्वान् (वेधाः) है, और वह विद्युत् से चलने वाले रथों पर बैठता है', (12) 'यह अग्नि सुवीर्य देने में समर्थ है, महान् सौभाग्य देने में समर्थ है, अच्छी सन्तान, गौर्व और धन देने में समर्थ है, वृत्र अर्थात् अवरोधक शत्रुओं के मारने में समर्थ है ।'

1. मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः ।

मागोतायै सहस्रपुत्र मा निदे ऽप द्वेषांस्या कृधि । ऋग्० 3.16.5.

2. पुरुदुहो हि क्षितयो जनानां प्रति प्रतीचीर्दहतादरातीः ।

ऋग्० 3.18.1.

3. स तेजीयसा मनसा त्वोत् उत शिक्षं स्वपत्यस्य शिक्षोः ।

अग्ने रायो नृतमस्य प्रभूतौ भूयाम ते सुष्टुतयश्च वस्वः ।

ऋग्० 3.19.3.

4. भूरीणि हि त्वे दधिरे अनीका ।

ऋग्० 3.19.4.

5. या ते अग्ने पर्वतस्येव धारासश्चन्ती पीपयद् देव चित्रा ।

तामस्मभ्यं प्रमति जातवेदो वसो रास्व सुमति विश्वजन्त्याम् ॥

ऋग्० 3.57.6

¹ सुष्टु भगः सुभगः । सुभग एव सौभगः स्वार्थेण । सौभाग्यमिति यावत् । भगस्तु—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः, ज्ञान—वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' ।

² रक्षो रक्षितव्यमस्मात्, रहसि क्षिणोतीति वा, रालो नक्षतीति वा । निरुक्तम् 4.3.18, नक्षतिः गतिकर्मा ।

6. प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः ।

यो नो दूरे अवशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥

ऋग्० 4.4.3.

7. अस्मे क्षत्राणि धारयेरनु द्यून् ।

ऋग्० 4.4.8.

8. अग्निरीशे बृहतः क्षत्रियस्याऽग्निर्वाजस्य परमस्य रायः ।

ऋग्० 4.12.3.

9. तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ बलिमग्ने अन्तित ओत दूरात् ।

ऋग्० 5.1.10.

10. विश्वा अग्ने अभियुजो विहृत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि ।

ऋग्० 5.4.5.

अर्थात् (1) 'हे अग्ने ! हमें बढ़ा जिससे हम मूर्ख न रहें, अवीर अर्थात् पराक्रमहीन न हों, गौओं से रहित न हों, हे बलिष्ठ ! हमारी निन्दा न होने दे, हमसे द्वेष करने वालों को दूर कर दे', (2) 'हमसे बहुत द्रोह करने वाले शत्रुओं के समुदायों को (अरातीः क्षितयः) जब वे हमारे लोगों की ओर चल कर आयें तो जला डाल', (3) 'तेरे से रक्षित मनुष्य तीव्र मन वाला हो जाता है, शिक्षा देना चाहने वाला तू अपनी (शिक्षोः) उत्तम सन्तान प्राप्त कर सकने की विद्या की (स्वपत्यस्य) शिक्षा दे (शिक्ष) हे अग्ने ! तुझ सबसे श्रेष्ठ मनुष्य से प्राप्त होने वाले धन की बहुतायत में हम रहें, और तुझ बसाने वाले की अर्थात् शासक की हम प्रशंसा करने वाले बने रहें', (4) 'हे अग्ने ! तेरे पास बहुत सेनायें हैं', (5) 'हे अग्ने ! तेरी जो अद्भूत प्रकृष्ट मति पर्वत से निकलने वाली धारा की तरह हमारे पास आकर हमें बढ़ाती है अपनी उस सबका कल्याण करने वाली सुमति का, हे सब कुछ जानने वाले और सबको बसाने वाले ! हमें दान दीजिए', (6) 'हे वेगशील ! अपने गुप्तचरों (स्पशः) को फैला दे, प्रजाओं का कभी न दबने वाला रक्षक बन, व्यवस्था पहुँचाने वाला दूर और समीप का पापकर्म करने वाला कोई भी तेरा धर्षण न कर सके अर्थात् तू पापिष्ठों को समुचित दण्ड दे', (7) 'अग्ने ! तू प्रतिदिन क्षत्रियों का धारण कर'...उनकी पालना और वृद्धि कर', (8) 'अग्नि महान् क्षत्रिय-शक्ति का स्वामी है, उत्कृष्ट बल और धन का स्वामी है (ईशे), अथवा इसका यह भी भाव हो सकता है कि वह इनको उत्पन्न कर सकने में समर्थ है', (9) 'हे युवा अग्ने ! मनुष्य दूर और समीप से आकर तुझे कर देते हैं', (10) 'हे अग्ने ! हमारे साथ जूझने वाले शत्रुओं को मार कर उनके भोजन छीन ले' ।

1. अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।

अस्तमर्वन्त आशवो ऽस्तं नित्यासो वाजिन ॥

ऋग्० 5.6.1, यजु० 15.4.1.

2. सो अग्निर्यो वसुगृणे सं यमायन्ति धेनवः ।

समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय ।

ऋग् 5.6.2. यजु 15.42.

अर्थात् (1) 'अग्नि उसको मानता हूँ जो सबको धन देने वाला है, जिसके घर में दुधारू गौवें आती हैं या जो दुधारू गौओं का आश्रय होता है, जिसके घर में शीघ्र-गामी घोड़े होते हैं या जो शीघ्रगामी घोड़ों का आश्रय होता है और जिसके पास सदा ही अन्न और बल वाले लोग रहते हैं।' (2) 'अग्नि वह है जो सबका बसाने वाला है, जिसके गुणों की सब लोगों द्वारा स्तुति की जाती है अथवा जो उत्तम बातों का उपदेश देता है, जिसके पास दुधारू गौवें होती हैं अथवा धेनु¹ का अर्थ वाणी कर लेने पर यह भाव होगा कि जिसके पास कामनाओं को पूरा करने वाली वाणियाँ अर्थात् विद्यायें रहती हैं, जिसके पास द्रुतगामी घोड़े रहते हैं अथवा जिसके पास शीघ्र काम करने वाले चेष्टाशील आदमी रहते हैं, और जिसके पास अच्छी प्रकार उत्पन्न किये विद्वान् रहते हैं।'।

पाठक वेद द्वारा स्वयं किये गये इस अग्नि के लक्षण को देखें। यह लक्षण आग में नहीं घट सकता। यह या तो परमात्मा में घट सकता है क्योंकि उसकी कृपा से इन सारी चीजों की प्राप्ति और वृद्धि होती है, या सुव्यवस्थित राज्य के अधिपति में घट सकता है क्योंकि उसके पास भी यह सारी चीजें होती हैं और उसके सुप्रबन्ध-द्वारा राष्ट्र में इन सबकी प्राप्ति और वृद्धि होती है।

1. ऐषु द्युम्नमुत श्रव आ चित्तं मर्त्येषु धाः । ऋग् 5.7.9.
2. सासह्याद् दस्यूनिषः सासह्या न्नृन् । ऋग् 5.7.10.
3. उत्तंषि पितृषु नो वृधे । ऋग् 5.9.7.
4. यो मे शता च विंशतिं च गोनां हरी च युक्ता सुधुरा ददाति । ऋग् 5.27.2.
5. पुरुष्यग्ने पुरुधा त्वाया वसूनि राजन् वसुता ते अश्याम् । ऋग् 6.1.13.
6. स चित्र चित्रं चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्र चित्रतमं वयोधाम् ।
चन्द्रं रथि पुरुवीरं बृहन्तं चन्द्र चन्द्राभिर्गुणते युवस्व ॥ ऋग् 6.6.7.
7. अस्माकमग्ने मघवत्सु धारयाऽनामि क्षत्रमजरं सुवीर्यम् । ऋग् 6.8.6.

¹ धेनुरिति वाङ्नामसु पठितम् । निष 1.11, धेनुः शब्दो बुह प्रपूरणे इत्यस्माद्धातोः प्रसिद्धयति ।

8. दस्युहन्तमम् धनंजयं रणेरणे । ऋग्० 6.16.15.
9. त्वं तं देव जिह्वया परि बाधस्व दुष्कृतम् ।
मर्तो यो नो जिघांसति । ऋग्० 6.16.32.
10. ब्रह्म प्रजावदा भर जातवेदो विचर्षणे । ऋग्० 6.16.36.
11. त्वा युजा पृतनार्यूभि ष्याम् । ऋग्० 7.1.13.
12. अग्निविशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः । ऋग्० 7.6.5.
13. दमयन्तं पृतन्यून् । ऋग्० 7.6.4.
14. अग्निमर्वत्यग्निं क्षैत्राय साधसे । ऋग्० 8.71.12.
15. मा नो अस्मिन् महाघने परा वग्भारिमृद्यथा ।
संवर्गं सं रयिं जय । ऋग्० 8.75.12.
16. अग्निः सप्ति वाजंभरं ददा त्यग्निवीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम् ।
अग्नी रोदसी वि चरत्समञ्जस्रग्निनारीं वीरकुक्षि पुरन्धिम् ॥
ऋग्० 10.80.1.
17. अयोब्दंद्रो अचिषा यातुवानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व ऋव्यादो वृक्स्वयपि घत्स्वासन् ॥
ऋग्० 10.87.2.
18. त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम । ऋग्० 10.128.1.
19. अग्ने विशस्पते धनदा असि नस्त्वंम् । ऋग्० 10.141.1.
20. यया गा आकरामहे सेनयाने तवोत्था ।
तां नो हिन्व मघत्तये । ऋग्० 10.156.2.

अर्थात् (1) 'हे अग्नि ! इन मनुष्यों में धन, यश और ज्ञान धारण करा', (2) 'दस्युओं का पराभव कर और साधारण मनुष्यों को भी वश में रख', (3) 'युद्धों में हमारी वृद्धि अर्थात् विजय कराने वाला हो ।' (4) 'अग्नि ऐसा है जो कि मुझे सैकड़ों धन और वीसियों गोवें और रथ में जुड़ने वाले घोड़ों की जोड़ी देता है ।' (5) 'हे अग्नि ! तेरे कारण बहुत किस्म के बहुत धन मिलते हैं, हम तुझसे प्राप्त होने वाले धनों को प्राप्त हों ।' (6) 'हे अद्भुत गुणों वाले ! हे अद्भुत क्षत्र-शक्तिवाले ! हे आह्लाद-कारक अग्नि ! अपनी आह्लादकारक शक्तियों द्वारा हमें अद्भुत गुणों वाला, सबसे अद्भुत गुणों वाला, ज्ञानी, लम्बी आयु वाला, धन वाला महान् वीर पुत्र दे ।' (7) 'हे अग्ने ! हमें धन-शालियों में कभी न झुकने वाली क्षत्रशक्ति दे और कभी न जीर्ण होने वाला सुवीर्य दे ।' (8) 'तू सबसे बढ़कर दस्युओं का मारने वाला है और युद्ध-युद्ध में धन का जीतने वाला है ।' (9) 'जो हमें मारना चाहता है पहले उसे समझा कि उसे दुष्कृत्य नहीं करने चाहिए ।' (10) 'हे सब चीजों को जानने वाले

और सबको पहचानने वाले हमें ब्रह्मा अर्थात् वेद का ज्ञान दे और उसके साथ ही सन्तान दे ।' (11) 'तेरे साथ मिलकर हम अपने ऊपर सेनाओं से आक्रमण करने वालों को जीत सकें ।' (12) 'इस अग्नि ने अपने पराक्रमों से सब प्रजाओं को कर देने वाली (बलिहृतः) बना लिया है ।' (13) 'यह अग्नि हम पर सेना लेकर चढ़ाई करने वाले शत्रुओं का दमन करता है ।' (14) 'अग्नि को हम घोड़ों की प्राप्ति के लिए और खेतों अर्थात् कृषि की सिद्धि के लिए (क्षेत्राय साधसे) बुलाते हैं ।' (15) 'हमें इस महाधन वाले राष्ट्र में वंचित मत कर, जिम्मेवार व्यक्ति (भारमृत) की तरह हमें बल और धन दे ।' (16) 'अग्नि बलशाली घोड़े देता है, यशस्वी और कर्मनिष्ठ पुत्र देता है, सबको क्रान्ति, स्नेह, ज्ञान देता हुआ (समञ्जन्)¹ यह भूमि और आकाश में विचरण करता है, वीर पुत्रों का प्रसव करने वाली, नगरों की रक्षा करने वाली नारी देता है ।' (17) 'अपने प्रभाव से प्रज्ज्वलित, सब चीजों को जानने वाले, लोहे के दाँतों (दंष्ट्राओं) वाले हे अग्नि ! प्रजाओं में पीड़ा पहुँचाने वाले दुष्टों को पकड़ ले, मूढ़तापूर्ण व्यवहार वाले (मूर्खदेवान्)² इन लोगों के साथ पहले जिह्वा से आरम्भ कर अर्थात् पहले इन्हें समझा कि वे दुष्कर्म न करें, फिर भी जो क्रव्याद अर्थात् मांस खाने वाले और पीड़ा पहुँचाने वाले ही रहें तो उन्हें काट डाल अथवा जेलों में (आसन्)³ बन्द कर दे ।' (18) 'तुझे अपना अध्यक्ष बनाकर हम शत्रुओं की सेनाओं को जीत सकें ।' (19) 'हे प्रजाओं के पति अग्नि ! तू ही हमें धन देने वाला है ।' (20) 'तुझसे रक्षा पाकर हे अग्नि ! तेरी जिस सेना द्वारा हम ने भूमियों का लाभ किया है, अपनी उस सेना को सदा तृप्त कर जिससे हमें धन मिलता रहे ।'

अग्नि के इन सब कार्यों को किसी संगठित और सुव्यवस्थित राज्य का अग्रणी अधिपति ही कर सकता है ।

क्षत्रस्य त्वा परस्पाय ब्रह्मणस्तत्त्वं पाहि ।

विशस्त्वा धर्मणा वयमनुक्रामाम सुविताय नव्यसे ॥

यजु० 38.19.

अर्थात्, 'हे अग्ने ! क्षत्र शक्ति की परम पालना के लिए हम तुझे स्वीकार करते हैं, तू ब्राह्मण के स्वरूप की भी रक्षा कर अर्थात् ब्राह्मणों को भी राष्ट्र में से नष्ट न होने दे, हम वैश्य प्रजायें (विशः)⁴ भी धर्मपूर्वक तेरे पीछे चलेंगी जिससे नवीन

¹ समञ्जन् । अञ्जु व्यक्तिभक्षणकान्तिगतिषु ।

² मुह वैचित्ये । दिवु घातोरर्थेषु मदव्यवहारावप्यन्यतमौ ।

³ पदस्रोमासिति आस्यस्यासम्भावः । सुपां सुलुगिति सप्तमया लुक् अस्यतेस्मिन्निति आस्यम् । अस्यन्तेपराधिनोस्मिन्नित्यास्थं कारागारः । मुखायस्यत्वनुपपत्तेर्नात् प्रहणम् । आस्यमस्यतेरिति । निरुक्तम् 1.8.

⁴ तस्माद् ब्रह्मा च क्षत्रं च विशि प्रतिष्ठिते । श० 1.1.2.1.16. अन्नं वै क्षत्रियस्य विद् । श० 3.3.2.8, इत्यत्र विदुशब्दो वैश्यपर्यायः । यद्वा समग्र प्रजावाचक एव विद् शब्दो मन्त्रे गृह्यताम् । राष्ट्राणि वै विशः । ऐ० 8.26.

सुन्दर व्यवहारों की प्राप्ति हो ।'

अग्नि का यह वर्णन भी उसके राजा-रूप को ही सूचित करता है । प्रजाओं का अग्नि से यह कहना कि हम तेरा धर्म मार्गों में अनुगमन करेंगी उसके राजा-रूप को कितनी दृढ़ता से पुष्ट करता है पाठक इसे देखें ।

1. पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्तृचक्षः ।

त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥

अथ० 1.7.5.

2. त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।

अथ० 1.7.7.

3. अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिः शस्तिमरातिम् ।

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हंस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥

अथ० 3.1.1.

4. अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिः शस्तिमरातिम् ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हंस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥

अथ० 3.2.1.

5. त्वं भिषम्भेपजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ।

अथ० 5.29.1.

6. उत्तारब्धान्स्पृणुहि जातवेदा उत्तारेभाणां ऋष्टिभिर्यातुधानान् ।

अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्षिवङ्क्तास्तमदन्त्वेनीः ॥

अथ० 8.3.7.

7. अन्नादायान्नपतये रद्राय नमो अग्नये ।

सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ।

अथ० 19.55.5.

8. अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्घ्रिनो ये चरन्ति ।

तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रऋष्टिः सपत्नान्प्रमृणन्पाहि वज्रः ।

अथ० 19.66.1.

अर्थात्, (1) 'हे सब कुछ समझने वाले (जातवेदः) ! हे मनुष्यों को पहचानने वाले (नृचक्षः) अग्नि ! हम तेरी वीरता को जानते हैं, जहाँ-जहाँ पीड़ा देने वाले (यातुधान) दुष्ट लोग हों उन्हें हमें बता दे जिससे हम सावधान रह सकें, तेरे प्रभाव से तपाये हुए वे सारे यातुधान 'मैं यह हूँ' ऐसा बोलते हुए आगे आ खड़े हों ।' (2) 'हे अग्ने तू हमें पीड़ा देने वाले यातुधानों को बाँधकर यहाँ ले आ ।' (3) 'अग्नि हमारे शत्रुओं के मुकाबले में जावे, हमारी हिंसा करने वाले शत्रु को जला डाले, वह शत्रुओं की सेना को मूर्च्छित कर दे (मोहयतु) और सब कुछ जानने वाला वह उनके हाथों को निकम्मा करके उन्हें निर्हस्त कर दे ।' (4) 'विद्वान् अग्नि हमारा

दूत¹ बनकर शत्रुओं के पास जावे और (अपने दूतकर्म के प्रभाव से) हिंसा करने वाले शत्रु को जला डाले (नष्ट कर दे), वह शत्रुओं की सेना को मोह ले (मोहयतु) और सब कुछ जानने वाला वह उन्हें निर्हस्त अर्थात् निकम्मा कर देवे ।' (5) 'हे अग्नि तू औषधियों का बनाने वाला वैद्य (भिषक्)² है, तेरे द्वारा हम गो, घोड़े और पुरुषों को प्राप्त करें—अर्थात् रोग निवारणोपाय द्वारा इन्हें मृत्यु से बचाकर हमें इनकी प्राप्ति करा ।' (6) 'हे सब कुछ जानने वाले अग्नि ! पीड़कों द्वारा आक्रान्तों की (आरब्धान्) तू रक्षा कर और आक्रमण कर रहे (आरेभणान्) पीड़कों को (यातुघनान्) तेजस्वी तू आगे बढ़कर (पूर्वः) अपनी दुधारी तलवारों से मार डाल, इन मरे हुएों को कच्चा मांस खाने वाले (आमादः)³ रंगबिरंगे (एनीः) चील आदि अव्यक्त-शब्द बोलने वाले पक्षी (क्विङ्का)⁴ खा जायें ।' (7) 'अन्न खाने वाले, अन्न की पालना करने वाले, दुष्टों को रलाने वाले (रुद्राय) अग्नि के लिए हम नमस्कार करते हैं, सभा में जाने वाले (सभ्यः) हे अग्नि दूसरे सभासदों और मेरी⁵ (अर्थात् राष्ट्र की) सभा की रक्षा कीजिये ।' (8) 'लोहे के जालों वाले, कुटिल ये जो दुष्ट पुरुष (असुराः)⁶ अपने लोहे के पाशों के साथ फिर रहे हैं, हे सब कुछ जानने वाले अग्नि ! तेरे तेज से मैं उनको भून रहा हूँ, तू अपनी सहस्रों दुधारी तलवारों से शत्रुओं को मारता हुआ वज्र बनकर हमारी रक्षा कर ।'

इन मन्त्रों में भी अग्नि का जो वर्णन है वह किसी संगठित और व्यवस्थित राज्य के अधिपति में ही घट सकता है, लोक प्रसिद्ध आग में नहीं । वेद में अग्नि शब्द राजा अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, और इसलिए जहाँ अग्नि के विशेषण और उसके कर्मों का वर्णन साथ देता हो वहाँ अग्नि देवता के मन्त्रों की व्याख्या राज्य-परक ही करनी चाहिए, यह दिखाने के लिए पिछले पृष्ठों में हमने ये कुछ थोड़े से

¹ दूते दूतवति चामेदोपचारादग्नी दूतत्वम् । नहि सम्राट् स्वयं दूतकर्मं कुरुते स स्वयन्त्यानेव विदुषः पुरुषान् दौत्ये नियुनक्ति । यहाँ दूत भेजने वाले अग्नि अर्थात् सम्राट् में अभेदोपचार से दूत का प्रयोग है, राजा स्वयं दूतकर्म नहीं करता, वह दूसरों से करवाता है ।

² भिषजि भिषग्वति चामेदोपचारादग्नी भिषक्त्वम् । यहाँ भिषगों का प्रबन्ध करने वाले अग्नि = सम्राट् में भिषक् का उपचार है ।

³ अपक्वमांसाशना इति सायणः । आमाच्छब्दप्रयोगेण विज्ञायते यातुघनानां हन्ता नायं पाकस्य कर्ता प्राकृतेषु प्रसिद्धोग्निः पाककर्ताग्निना हतानां मांसानि कथमामान्यपक्वानि स्युः ।

⁴ भिक्विदारनेहृतमोचनयोरव्यक्ते शब्दे च । तस्माद्वाते डिच्चेत्योणादिक इण् स च डिच्, क्विः अव्यक्तशब्दः । कं शब्दे क्विं कायति शब्दयते क्विङ्कः । स्त्रियां क्विङ्का ।

⁵ बहुष्वेकत्वविवक्षयैकवचनम् ।

⁶ असुरा अ-सुर-ताः स्थानेषु, अस्ताः स्थानेभ्य इति वा, अपि वा असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः, सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम्, असोरसुरानसृजत् तदसुराणामसुरत्वम् इति विज्ञायते । निरुक्तम् 3.2.7, निन्दायां मतुबर्थे रो बोध्यः । मतुबादयश्च निन्दायामपि भवन्ति तथा च 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेतिशायने, संसर्गेस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः' इति वैयाकरणानां कारिका । निन्दितप्राणवन्तो जीवनवन्तोसुराः ।

वेद-मन्त्र पाठकों की सेवा में उपस्थित कर दिये हैं। इनसे हमारी स्थापना की पुष्टि अच्छी तरह हो जाती है। वेद में ऐसे सैकड़ों अग्नि देवता के मन्त्र हैं जिनकी व्याख्या राज्य-परक ही हो सकती है। उन सबको इस जगह उपस्थित करने की स्थान और समय आज्ञा नहीं देते। उनमें से कुछ का यथावसर इस ग्रन्थ के अगले प्रकरणों में समावेश किया जायेगा। अधिक जो देखना चाहें वे हमारे दृष्टि-बिन्दु से सीधा वेदों का स्वाध्याय करें।

अधिष्ठात्री देवता-वाद वेद-सम्मत नहीं है

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसे देखकर सायणादि भाष्यकारों का अनुयायी एक दल यह कहेगा कि यद्यपि अग्नि के ये वर्णन स्थूल आग पर नहीं संगत होते तथापि आग की 'अधिष्ठात्री देवता अग्नि' पर ये सारे वर्णन चरितार्थ हो जाते हैं, इसलिए अग्नि का अर्थ सीधा अग्नि न करके उसकी 'अधिष्ठात्री देवता अग्नि' करना चाहिए। पौराणिक सम्प्रदाय में 'अधिष्ठात्री देवतावाद' की यह कल्पना बड़ी व्यापक है। वहाँ संसार की दिखाई देने वाली प्रायः प्रत्येक वस्तु की एक अधिष्ठात्री देवता मानी जाती है। नदियों की अधिष्ठात्री देवता, समुद्रों की अधिष्ठात्री देवता, गंगा की अधिष्ठात्री देवता, यमुना की अधिष्ठात्री देवता, पर्वतों और नगरों की अधिष्ठात्री देवता, हिमालय की अधिष्ठात्री देवता, पीपल की अधिष्ठात्री देवता, वड़ की अधिष्ठात्री देवता—सब किसी की ही एक-एक अधिष्ठात्री देवता है। पौराणिक सम्प्रदाय की इस कल्पना का ही प्रभाव है कि जब सायणादिक भाष्यकार वेद में अग्नि, आर्द्र, सोम, वायु, मरुत्, आदि के ऐसे विशेषण और गुण वर्णन पाते हैं जिनकी स्थूल-अग्नि आदि में संगति नहीं हो सकती तो वे झट इनकी एक-एक काल्पनिक अधिष्ठात्री देवता को घुसेड़ देते हैं और हमने वेद का युक्ति-युक्त, प्रामाणिक और बुद्धि-संगत भाष्य कर दिया ऐसा संतोष कर लेते हैं। पर चारों वेदों में इस काल्पनिक 'अधिष्ठात्री देवतावाद' की कहीं पुष्टि नहीं की गई है। स्वयं वेद संहिता इस कल्पना को मानती है, इसके लिए वेद में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए हम इस कल्पना को स्वीकार नहीं कर सकते। इस कल्पना के मानने पर भी वेद के वेदत्व की रक्षा नहीं होती। वेद का अर्थ है ज्ञान का ग्रन्थ जिसे सर्गारम्भ में भगवान की ओर से मनुष्य जाति के कल्याण के लिए दिया गया था। इस वेद में विज्ञानों का भण्डार है, ऐसा भारतवर्ष के मनु आदि स्मृतिकार और शंकर जैसे दार्शनिक तथा दूसरे विचारक एक स्वर से स्वीकार करते आये हैं। वेद की निखिल विज्ञान-प्रतिपादकता के सम्बन्ध में भारतीय विचारधारा क्या रही है इसे जानने के लिए इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय एक बार फिर पढ़ जाइये। अधिष्ठात्री देवतावाद की कल्पना भी वेद के मनुष्योपयोगी विज्ञान-ग्रन्थ होने में कोई सहायता नहीं देती। फिर अधिष्ठात्री देवतावाद के लिए जहाँ वेद में कोई प्रमाण नहीं वहाँ यह वाद अनुभव से भी सिद्ध नहीं होता, और प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है। अग्नि आदि के ऐसे अधिष्ठात्री

देवता कभी किसी ने नहीं देखे। वेद में अग्नि को बुलाया गया है, उससे उपदेश माँगे गये हैं, उसकी अध्यक्षता में सेनाओं का संचालन किया गया है और युद्ध जीते गये हैं, उसे राजसिंहासन पर बिठाया गया है, दूर-दूर की प्रजाएँ उसे कर देने के लिए आती हैं। इतिहास में कभी अग्नि की अधिष्ठात्री देवता ये कार्य करने के लिए मनुष्यों के पास नहीं आई और न ही अब कोई उसे बुलाकर उससे ये कार्य करवा सकता है। भला कोई अधिष्ठात्री देवतावाद के पक्षपाती अग्नि, इन्द्र, वायु, आदि महावली देवताओं का आह्वान करके उनकी अध्यक्षता में सेनाओं का संचालन कराके पराधीन भारतवर्ष¹ को स्वतन्त्र ही करा दें और उसकी अशिक्षित, रोगग्रस्त और भूखी जनता को शिक्षित, स्वस्थ और धनधान्य से परिपूर्ण ही बना दें। फिर, यदि पाठक पीछे जो कुछ अग्नि के सम्बन्ध में लिखा गया है उसे ध्यान से पढ़ेंगे तो देखेंगे कि उसके अनेक वर्णन ऐसे हैं जो अधिष्ठात्री देवता पर भी संगत नहीं हो सकते। इसलिए अधिष्ठात्री देवतावाद आदि किन्हीं भी अयौक्तिक कल्पनाओं का सहारा न लेकर, विशेषणों के बल पर हमें अग्नि आदि के लौकिक संस्कृत-साहित्य में आग आदि में रूढ़ अर्थों को ही बदलना चाहिए। प्रकरण-प्रकरण के अनुसार उसका अर्थ कहीं परमात्मा, कहीं सम्राट्, और कहीं कुछ और करना चाहिए। वेद के समझने का यही वास्तविक दृष्टिबिन्दु है।

आचार्य दयानन्द की अलौकिक प्रतिभा इसी में है कि उन्होंने युगों के बाद वेद को समझने के इस नवीन, परन्तु साथ ही अतिप्राचीन, वास्तविक दृष्टिबिन्दु को निर्भीक होकर मेघ-गम्भीर-घोष से फिर से संसार के सम्मुख उपस्थित किया। यदि वेदों के अध्ययनकर्त्ता इस दृष्टिबिन्दु से वेदों को पढ़ने लगे तो निश्चय ही एक दिन वेद एक महान् विज्ञान-राशि सिद्ध होंगे।

इन्द्र का अर्थ सम्राट्

अब लीजिए इन्द्र को। उसके लिए कहा है—

- | | |
|---|--------------|
| 1. पृथिव्याश्च सम्राट् । | ऋग्० 1.100.1 |
| 2. वस्वो यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा । | ऋग्० 2.14.11 |
| 3. सत्पतिश्चर्षणीप्राः । | ऋग्० 3.47.3 |
| 4. चर्षणीघृतम् । | ऋग्० 3.51.1 |
| 5. राजा यजाते वर आ पृथिव्याः । | ऋग्० 3.53.11 |
| 6. राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः । | ऋग्० 4.17.5 |
| 7. चर्षणीघृदनर्वा त्वं राजा जनुषाम् । | ऋग्० 4.17.20 |
| 8. पतिर्वभूथासमो जनानाम् । | ऋग्० 6.36.4 |
| 9. कृष्टीनां विचर्षणिः पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः । | ऋग्० 6.45.16 |

¹ यह प्रकरण जब लिखा गया था तब भारतवर्ष अंग्रेजों के अधीन था।

10. इन्द्रो राजा चर्षणीनाम् ।	ऋग्० 7.27.3
11. नृपते सुवज्र ।	ऋग्० 7.30.1
12. विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणीप्राः ।	ऋग्० 7.31.10
13. सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रम् ।	ऋग्० 8.16.1
14. आजितुरं सत्पतिं विश्वचर्षणिं कृधि प्रजास्वाभगम् ।	ऋग्० 8.53.6
15. त्वं राजा जनानाम् ।	ऋग्० 8.64.3
16. यो राजा चर्षणीनाम् ।	ऋग्० 8.70.1
17. पती राजा विशामसि ।	ऋग्० 8.95.3
18. स इन्द्रश्चर्षणीधृत् ।	ऋग्० 8.96.20
19. नृपतिं वज्रबाहुमुग्रम् ।	ऋग्० 10.44.3
20. इदं हविः प्रति सम्राजं हृणानो गृभाय ।	ऋग्० 10.116.7
21. सम्राजं चर्षणीनाम् ।	ऋग्० 10.134.1
22. शास इत्या मह्यं अस्य ।	ऋग्० 10.152.1
23. स्वस्तिदा विशस्पतिः ।	ऋग्० 10.152.2
24. अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ।	यजु० 7.25
25. इन्द्रश्च सम्राट् ।	यजु० 8.37
26. इन्द्रो अधिराजो राजसु ।	अथ० 6.98.1
27. त्वमिन्द्राधिराजः ।	अथ० 6.98.2
28. सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रम् ।	अथ० 20.44.1
29. ज्येष्ठराजम् ।	अथ० 20.44.3
30. यो राजा चर्षणीनाम् ।	अथ० 20.105.4

इन मन्त्रखण्डों में इन्द्र को क्रम से कहा है कि वह (1) 'पृथिवी का सम्राट् है।' (2) 'पृथिवी अर्थात् फैले हुए अन्तरिक्ष¹ के और क्षमा अर्थात् सबको अपने ऊपर सहने वाली पृथिवी के धन का राजा है।' (3) 'मनुष्य प्रजाओं का पालन करने वाला सत्पति अर्थात् श्रेष्ठ रक्षक है।' (4) 'मनुष्यों का धारण करने वाला है।' (5) 'वह राजा पृथिवी के उपयुक्त स्थानों में (वरे) यज्ञ अर्थात् लोकोपकारी संगठन के कार्य करता है।' (6) 'मनुष्यों (कृष्टीनां)² का राजा है, बहुत लोग मिलकर उसे बुलाते हैं।' (7) 'मनुष्यों का धारण करने वाला है, उस पर कोई हमला नहीं कर सकता (अनर्वा) और वह प्रजाओं का राजा है।' (8) 'प्रजाओं का अद्वितीय राजा है।' (9) 'बल के अथवा सुखों की वर्षा करने वाले, काम करने वाला (वृषक्रतुः) और सबको पहचानने वाला (विचर्षणिः) वह मनुष्यों का पति है।' (10) 'मनुष्यों

¹ पक्षिणां महार्घाणि पक्षादीनि अन्तरिक्षस्य घनानि ।

² कृष्टय इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघ० 2.3,

(चर्षणीनां) का राजा है ।¹ (11) 'उत्तम वज्रधारी नृपति है ।' (12) 'हे मनुष्यों का पालन करने वाले ! इन पूर्ण प्रजाओं में (पूर्वीः विशः) विचरण कर ।' (13) 'मनुष्यों का सम्राट् है ।' (14) 'युद्ध में तीव्र गति से चलने वाले, सबको पहचानने वाले इस सत्पति का प्रजाओं में—उनकी कमाई सम्पत्ति में—हिस्सा करो (कृधि प्रजास्वाभगम्) ।' (15) 'हे इन्द्र । तू प्रजाओं का राजा है ।' (16) 'वह जो कि मनुष्यों का राजा है ।' (17) 'हे इन्द्र ! तू प्रजाओं का {(विशः) पति राजा है ।'² (18) 'वह इन्द्र मनुष्यों का धारण करने वाला है ।' (19) 'वह वज्र हाथ में रखना वाला उग्र नृपति है ।' (20) 'सम्राट् इन्द्र हमारे इस हवि को—कर को—प्रसन्न मन से स्वीकार करे ।' (21) 'वह मनुष्यों का सम्राट् है ।' (22) 'वह महान् शासक (शासः) है ।' (23) 'वह कल्याण देने वाला प्रजाओं का पति (विशस्पतिः) है ।' (24) 'इन्द्र हम प्रजाओं को शत्रुओं के भय से रहित और एक मन वाली कर दे ।' (25) 'वह इन्द्र सम्राट् है ।' (26) 'इन्द्र राजाओं में अधिराज है ।' (27) 'हे इन्द्र ! तू अधिराज है ।' (28) 'इन्द्र मनुष्यों का सम्राट् है ।' (29) 'वह ज्येष्ठ राजा है ।' (30) 'मनुष्यों का सम्राट् है ।'

इन मन्त्रखण्डों में इन्द्र को राजा, नृपति, विशस्पति, जनपति, महान् शासक, सत्पति, अधिराज इन असंदिग्ध सम्राट् वाचक पदों से विशेषित किया है। वह किन प्रजाओं का राजा है इसमें किसी प्रकार का सन्देह न रहे इसलिये इन पदों के साथ बार-बार मनुष्य प्रजावाचक 'जनानां', 'विशः', 'कृष्टीनां', 'चर्षणीनां' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसलिए वेद की अपनी साक्षी के आधार पर वेद में इन्द्र का अर्थ, जहाँ उसके इस प्रकार के 'नृपति', 'सम्राट्' आदि विशेषण आते हों अथवा दूसरे वर्णन सहायक होते हों, मनुष्यों का सम्राट् करना चाहिए। 14 और 20 मन्त्र-खण्डों में तो इन्द्र के प्रजाओं से कर लेने का भी वर्णन है जो कि स्पष्ट तौर पर राजा का ही काम है।

इन्द्र मनुष्यों का राजा अधिक और देवों का कम

यहाँ पाठक एक मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर और ध्यान दें। वेद में जितनी बार इन्द्र को मनुष्यों का राजा और सम्राट्, मनुष्य प्रजाओं का पति (विशस्पतिः), मनुष्यों का धारण करने वाला (चर्षणीधृत्) आदि कहा है उसकी तुलना में बहुत कम बार उसे देवों का राजा या देवी प्रजाओं का पति आदि विशेषणों द्वारा स्मरण किया गया है। स्वर्ग का राजा, स्वर्ग का पति आदि विशेषण तो उसके कहीं भी नहीं आये हैं। जहाँ देवों का राजा, देवी प्रजाओं (देवीनां विशाम्) का राजा आदि विशेषणों का प्रयोग हो वहाँ देव शब्द का योगिक अर्थ लेकर उसे या तो मनुष्य

¹ चर्षणय इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघ० 2.3.

² विश इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघ० 2.3.

प्रजाओं का ही विशेषण बना लेना चाहिए और या, यदि सूक्तगत इन्द्र के दूसरे वर्णन साथ न देते हों तो, सूर्य-चन्द्रादि दिव्य शक्ति-सम्पन्न देवों का राजा परमात्मा, इन्द्र का ऐसा अर्थ कर लेना चाहिए ।

1. मानुष ।	ऋग्० 1.84.20.
2. नृणामु त्वा नृतमम् ।	ऋग्० 3.51.4.
3. वीरतमाय नृणाम् ।	ऋग्० 3.52.8.
4. नृतमः ।	ऋग्० 4.16.4.
5. एमिनृमिनृतमः ।	ऋग्० 4.17.11.
6. नृतमाय नृणाम् ।	ऋग्० 4.25.4.
7. नृतमस्य नृणाम् ।	ऋग्० 5.30.12.
8. नृभिः सुवीर उच्यसे ।	ऋग्० 6.45.6.
9. आ नृभिः पुरुहूत प्रयाहि ।	ऋग्० 7.24.1.
10. त्वं विश्वेषु सेन्यो जनेषु ।	ऋग्० 7.30.2.
11. नरं नृणाम् ।	ऋग्० 8.16.1.
12. इन्द्रं वर्धन्ति क्षितयः ।	ऋग्० 8.16.9.
13. नृतमाय ।	ऋग्० 8.24.1.
14. स्तोम्यं नरं कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ।	ऋग्० 8.24.19.
15. मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ।	ऋग्० 8.92.1.
16. नृतमस्य नृणाम् ।	ऋग्० 10.29.2.
17. नृतमम् ।	ऋग्० 10.104.11.
18. नरां नृतम् ।	अथ० 20.37.10.

इन मन्त्रखण्डों में से 1 में इन्द्र को 'मानुष' कहा है। मन्त्रखण्ड 4, 13, 17 में उसे 'नृतम' कहा है। मन्त्रखण्ड 2, 5, 6, 16, 18 में उसे मनुष्यों के बीच में 'नृतम' कहा है। 'नृणां' यह निर्धारण में षष्ठी विभक्ति है। इसलिए इन्द्र मनुष्यों में से ही एक है। भेद इतना है वह 'नृतम' है और दूसरे केवल 'नृ'¹ अर्थात् मनुष्य हैं। 'नृतम' का शब्दार्थ है 'अतिशयेन मनुष्य' अर्थात् जिसमें मनुष्योचित गुण सबसे अधिक मात्रा में हों, जो सबसे श्रेष्ठ मनुष्य हो। काल्पनिक इन्द्र देव तो 'अतिशयेन मनुष्य' होकर अपना देवत्व ही खो बैठेगा। जिसमें मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव सबसे अधिक मात्रा में रहें, तो वह देव कहाँ रहा? सम्राट् अर्थ में 'नृतम' विशेषण बड़ा सुन्दर संगत होता है। सम्राट् चुना ही उसे जाता है जिसमें मनुष्योचित गुण-धर्म सबसे अधिक मात्रा में पाये जाते हों। फिर 'नृणां' यह निर्धारण षष्ठी इन्द्र को और अधिक बल से जकड़ कर उसे मनुष्य-श्रेणी में घसीट रही है। मन्त्रखण्ड 3 में उसे मनुष्यों में सबसे

¹ नर इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघ० 2.3.

श्रेष्ठ वीर पुरुष बताया है। मन्त्रखण्ड 4 में उसे 'नूतम' कहा है और मन्त्रखण्ड 5 में 'इन मनुष्यों से' मिलकर गौ, धन आदि का विजय करने को कहा है। इन्द्र का अपने कार्यों में मनुष्यों की सहायता लेना उसे मनुष्य ही सिद्ध करता है। इन्द्र देव को मनुष्यों की सहायता की क्या आवश्यकता ? आठवें मन्त्रखण्ड में उसे कहा है कि हे इन्द्र तू अपने मनुष्यों के कारण सुवीर है। यहाँ इन्द्र की मनुष्य-सेनाओं से अभिप्राय है। काल्पनिक इन्द्र देव की सेनायें तो मनुष्य नहीं होतीं। उसकी सेनायें तो देव-सेनायें होती हैं। मन्त्रखण्ड 9 में उसे कहा है कि हे इन्द्र ! तू अपने मनुष्य के साथ आ। काल्पनिक इन्द्र के साथी संगी तो मनुष्य नहीं होते, वे तो देव होते हैं। मनुष्य साथी-संगी तो मनुष्य इन्द्र के ही हो सकते हैं। दसवें मन्त्रखण्ड में कहा है कि हे इन्द्र ! तू सारे मनुष्यों में सबसे अच्छा सेनाओं का संचालन करने वाला है। ग्यारहवें मन्त्रखण्ड में कहा है कि इन्द्र नर है और शत्रुओं के नरों का पराभव करने वाला है। बारहवें मन्त्रखण्ड में कहा है कि इन्द्र को मनुष्य (क्षतयः)¹ बढ़ाते हैं। काल्पनिक इन्द्रदेव को तो मनुष्य नहीं बढ़ा सकते। वह तो स्वयं मनुष्यों का बढ़ाने वाला है। सम्राट् को ही मनुष्य प्रजायें बढ़ा सकती हैं। मन्त्रखण्ड 14 में कहा है कि यह इन्द्र स्तुति करने योग्य मनुष्य है, इसका इतना प्रभाव है कि यह अकेला ही सब मनुष्यों को पराभूत कर देता है। मन्त्रखण्ड 15 में उसे मनुष्य में सबसे अधिक महिमा वाला कहा है। यह निर्धारण षष्ठी उसे मनुष्यों में ही एक बता रही है।

इन्द्र के इन विशेषणों से असंदिग्ध है कि वेद में उसका एक अर्थ मनुष्य भी होता है। किस प्रकार का मनुष्य यह उसके दूसरे विशेषण निश्चय करेंगे। जहाँ उसके 'मनुष्यों का सम्राट्' आदि विशेषण आते हों अथवा दूसरे वर्णन राजा-परक हों, जैसा कि अनेक स्थानों पर हुआ है, वहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् करना चाहिए।

1. ऋतावाना नि षेदतुः साम्राज्याय सुकृत् ।

धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः ।

ऋग्० 8.25.8.

2. क्षत्राय त्वमवसि ।

ऋग्० 8.37.6.

3. इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोजायथाः ।

ऋग्० 10.180.3

4. आयुष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु ।

अथ० 6.98.2.

5. क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् ।

यजु० 14.29.

इनमें से प्रथम मन्त्र में कहा है कि 'ऋत की रक्षा करने वाले, उत्तम कर्म और बुद्धि वाले इन्द्र और वरुण साम्राज्य के लिए अपने आसनों पर बैठे हैं, ये दोनों व्रतों को धारण करने वाले हैं, क्षत्रिय हैं और क्षत्र-शक्ति में व्याप्त हुए हैं अर्थात् उसकी रक्षा करेंगे।' दूसरे मन्त्रखण्ड में कहा है कि 'हे इन्द्र तू क्षत्रिय शक्ति की रक्षा करता है।' तीसरे मन्त्रखण्ड में कहा है कि 'हे इन्द्र तू क्षत्रिय शक्ति के लिए सुन्दर बल देने वाला बना है।' चौथे मन्त्रखण्ड में कहा है कि 'हे इन्द्र तेरे क्षत्रिय लोग आयुवाले, अजीर्णशक्ति वाले हों।' पाँचवें मन्त्रखण्ड में कहा है कि 'क्षत्रिय शक्ति

¹ क्षितय इति मनुष्यमनामसु पठितम् । निष० 2.3.

बनी और इन्द्र उसका अधिपति बना ।'

इन मन्त्रखण्डों द्वारा इन्द्र को क्षत्रिय कहना और उसका साम्राज्य और क्षत्रिय-शक्ति से सम्बन्ध बताना भी यही घोषित करता है कि इन्द्र का अर्थ इस प्रकार के प्रकरणों में सम्राट् होता है ।

ऋग्वेद 10.103, यजुर्वेद 17.33.51, अथर्ववेद 19.13 में इन्द्र का मनुष्यों के साथ एक वीर सैनिक अथवा सेनापति के रूप में मिलकर शत्रुओं के साथ लड़ना और युद्ध जीतना वर्णित हुआ है । ये सूक्त वीररस से इतने परिपूर्ण हैं कि पढ़ते ही बनता है । मनुष्य इन्द्र को साथ लेकर खूब युद्ध कर रहे हैं और उत्साहवर्धक चवनियाँ कर रहे हैं । उदाहरण के लिए इन प्रकरणों में आया हुआ एक मन्त्र देखिये—

संक्रन्देनानिमिषेण जिष्णुनाऽयोध्येन दुश्च्यवनेन घृष्णुना ।

तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥

अथ० 19.13.3.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—‘(संक्रन्देन) जो कि युद्ध में खूब गर्जता है (अनिमिषेण) युद्ध के समय इतना सावधान है कि उसकी कभी आँखें नहीं झपकतीं (जिष्णुना) जो सदा विजय ही प्राप्त करता है, कभी हारता नहीं (अयोध्येन) जिसके सामने युद्ध करने में कोई ठहर नहीं सकता (दुश्च्यवनेन) जिसे अपने अधिकृत स्थान से पीछे नहीं हटाया जा सकता (घृष्णुना) जो शत्रुओं का मर्षण करने वाला, उन्हें दबा डालने वाला है (इषुहस्तेन) सीधी मार करने वाला बाण जिसके हाथ में है (वृष्णा) जो बड़ा बली है अथवा युद्ध जीत कर प्रजाओं की कामनाओं को पूरा करता है (तत्) उस (इन्द्रेण) इन्द्र के साथ मिलकर (नरः)¹ हे मनुष्य (युधः) योद्धाओं ! (तत्) उस दुश्मन का (सहध्वम्) पराभव करो (जयत) उसे जीत डालो ।’

काल्पनिक स्वर्गाधिपति देवराज इन्द्र तो इस प्रकार मनुष्य सैनिकों में से एक होकर उनके साथ मिलकर कभी नहीं लड़ता । उसकी सेनाएँ तो देवों की सेनाएँ होती हैं । ये वर्णन इन्द्र को स्पष्ट मनुष्य सिद्ध करते हैं । इन्द्र का मनुष्यों के साथ मिलकर उनका एक साथी होकर युद्ध करना स्थान-स्थान पर वर्णित है । उदाहरणार्थ अथर्ववेद के 20.87.4 में आता है—

नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयार्जि सौश्रवसं जयेम ।

अर्थात् ‘हे इन्द्र ! मनुष्यों से घिरा हुआ तू शत्रु से युद्ध कर और हम तेरे साथ मिलकर युद्ध जीतें और उत्तम यश प्राप्त करें ।’

ये सारे वर्णन यही सिद्ध करते हैं कि यहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् या उसका प्रतिनिधि सेनापति है ।

1. सत्यशुष्माय ।

ऋग्० 1.51.15.

2. भुवः सम्राठिन्द्र सत्ययोनिः ।

ऋग्० 4.19.2.

¹ ‘हे युधः योद्धाः हे नरः मनुष्याः’ इति सायणः ।

3. सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ।

ऋग्० 8.69.4.

इन मन्त्रखण्डों में इन्द्र को क्रम से 'सत्य ही है शुष्म अर्थात् बल जिसका' 'सत्य का योनि अर्थात् कारण' और (3) 'सत्य का पुत्र'¹ अर्थात् बड़ा सत्यवान् कहा है ।

काल्पनिक स्वर्गाधिपति इन्द्र तो ऐसे सत्यनिष्ठ नहीं हैं । वे तो छल से, कपट से अहिल्या² के सतीत्व भंग जैसे अन्यायपूर्ण कार्य भी कर लेते हैं । ब्रह्मनिष्ठ तपस्वियों की तपस्या से डर कर उनके तपोभंग के लिए अपने स्वर्ग की वेश्याओं को भूमि पर भेजते रहते हैं । सौ-सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं से डरकर उनके यज्ञों को भंग करते रहते हैं । काल्पनिक इन्द्रदेव को 'सत्यशुष्म', 'सत्ययोनि' और 'सत्यस्य सूनः' कभी नहीं कहा जा सकता । सम्राट् अर्थ में ये विशेषण बड़े सुन्दर घटते हैं । प्रजाएँ अपने राजा को गर्व के साथ स्मरण करती हैं कि वह बड़ा सत्यनिष्ठ है, सत्य को ही अपना बल मानता है और प्रजाओं में सत्य का योनि अर्थात् कारण बनता है और वेद भगवान् ने प्रजाओं के मुख से इस प्रकार के उद्गार निकलवा कर यह शिक्षा दे दी कि सम्राट् को सत्यनिष्ठ, सत्य को ही बल मानने वाला और प्रजाओं में सत्य-निष्ठता का कारण होना चाहिए ।

कियत् स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत् पितुर्जनिनुयोर्यो जजान ।

—ऋग्० 4.17.12.

कस्ते मातरं विधवामक्रचत् ।

—ऋग्० 4.18.12.

इन मन्त्रों का क्रम से अर्थ यों है—'इन्द्र अपनी माता को कितना स्मरण करता है ? और जिस पिता ने उसे उत्पन्न किया है उसे कितना स्मरण करता है ? 'हे इन्द्र तेरी माता को विधवा कौन कर सकता है ?'

हम जैसा पीछे राजा के चुनाव विषयक मन्त्रों के प्रकरण में बाईसवें मन्त्र की एक बड़ी टिप्पणी में दिखा आये हैं काल्पनिक इन्द्र के, रज-वीर्य के संयोग से उसे उत्पन्न करने वाले, कोई माता-पिता वेद से सिद्ध नहीं होते । पुराण में जिन्हें अदिति और कश्यप कहा है वे असल में विश्व के रचयिता प्रकृति और परमात्मा हैं । ऐसी अवस्था में वेद द्वारा इन्द्र को इस प्रकार सम्बोधित किये जाने का क्या अभिप्राय हुआ ? फिर उपासक ने इन्द्र के इस वर्णन द्वारा उसकी कौन-सी महिमा बढ़ाई ? इस स्तुति में कौन-सा चमत्कार है ? सम्राट् अर्थ में ये वर्णन बड़ा चमत्कारपूर्ण अर्थ रखते हैं । हम चुनाव विषयक मन्त्रों में दिखा चुके हैं कि प्रजायें ही सम्राट् को सम्राट्

¹ वेद की यह कहने की एक शैली है । किसी में यदि किसी बात की अधिकता बतानी हो तो उसे उसका पुत्र कह दिया जाता है । बड़ा बल वाला कहना हो तो वेद में उसे 'सहसः सूनुः' अर्थात् 'बल का ऐसा' भी कह दिया जाता है । इसी प्रकार यहाँ इन्द्र को 'सत्यस्य सूनुः' अर्थात् सत्य का पुत्र अर्थात् बड़ा सत्यनिष्ठ कहा गया है ।

² गोतमाल्यस्य कस्यचिन्महर्षेरहल्यानाम्न्यां भार्यायां गोतमसदृशं स्वरूपमास्थायेन्द्रो जारकर्म कृतवानिति संहितासु नैव कुत्राप्युपलभ्यते । अहल्येति पदमेव न तत्र क्वचित्पठ्यते !

रूप में उत्पन्न करने के कारण उसके माता और पिता हैं। प्रस्तुत मन्त्र में माता और पिता का एक साथ वर्णन है। इसलिए यहाँ माता से प्रजा के स्त्री-जन और पिता से पुरुष-जन समझने चाहिए। इन्द्र (सम्राट्) अपने इन माता-पिताओं का बड़ा ध्यान रखता है। उसे स्मरण रखता है कि स्त्री-पुरुष प्रजाओं ने मुझे उत्पन्न किया है—सम्राट् बनाया है—इसलिए उनके अभ्युदय और कल्याण की चिन्ता करना मेरा कर्तव्य है। उसे यह भी भय रहता है कि यदि मैंने प्रजाओं का ध्यान न रखा तो मैं सिंहासन से भी च्युत किया जा सकता हूँ। दूसरे मन्त्र में केवल माता शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ माता से सामान्य प्रजा को समझना चाहिए। विधवा का अर्थ होता है जिसका धव अर्थात् पति, स्वामी न हो, जिसकी रक्षा और पालन करने वाला कोई न हो—जो असहाय हो। प्रजाजन कह रहे हैं कि इस प्रजा को तो यह इन्द्र (सम्राट्) मिल गया है, इसे अरक्षिता, अपालिता और असहाय कौन बना सकता है? वेद ने प्रजाजनों द्वारा सम्राट् की यह महिमा कहला कर उसे उसके कर्तव्य का कितना सुन्दर उपदेश दिया है? काल्पनिक इन्द्र में इन मन्त्रों को लगाकर मध्यकालीन भाष्यकारों ने इन्हें विलकुल निर्जीव कर दिया है।

1. इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।

नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।

ऋग० 10.86.11. अथ० 20.126.11.

2. वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्तुषे ।

ऋग० 10.86.13. अथ० 20.126.13.

इन दोनों मन्त्रों में इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी का वर्णन है। मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

‘इन नारियों में मैंने इन्द्राणी को ही सबसे सौभाग्यवाली सुना है, इसका पति इससे पहले (अपरं-चन) बुढ़ापे से (जरसा) नहीं मरता, यह इन्द्र (इसका पति) सबसे उत्कृष्ट है।’ ‘हे धर्मश्रेष्ठ इन्द्र की पत्नी (वृषाकपायि)¹ हे धनवाली, हे उत्तम पुत्रों वाली और हे उत्तम स्तुषा !’

इन मन्त्रों में पहली बात तो देखने की यह है कि इन्द्राणी को ‘इन नारियों में सौभाग्यवाली’ कहा है। ‘नर’ का अर्थ निघण्टु 2.3 में मनुष्य किया है। इसलिए ‘नारी’ का अर्थ हुआ मनुष्य-स्त्री। ‘नारियों में’ (नारिषु) यह निर्धारण में सप्तमी विभक्ति है। इसलिए इन्द्राणी भी नारियों (मनुष्य-स्त्रियों) में से एक हो जाती है। फिर ‘आसु’ (इन) इस ‘इदम्’ शब्द के प्रयोग को देखिये। ‘इदम्’ शब्द समीप की वस्तु को कहा करता है। बोलने वाला प्रजाजन अपने चारों ओर जिन स्त्रियों को देख

¹ वृषो हि भगवान् धर्मः । मन्त्रः 8.16, वृषो हि भगवान् धर्मः श्यातो लोकेषु भारत । कपिर्वराहा श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते । महा० शान्ति० 342.88, 89 श्लोकौ । वृषे धर्मं कपिः श्रेष्ठो वृषाकपिः । वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायि । सम्बोधनं वृषाकपायि । सम्बोधनं वृषाकपायि । सायणोपि वृषाकपेः पत्नि वृषाकपायि इति व्याचष्टे ।

रहा है उनकी ओर ही 'आसु' शब्द द्वारा इशारा कर रहा है और इन्द्राणी उनमें से ही एक है। जब इन्द्राणी 'नारी' है तो उसका पति भी 'नर' ही होगा—मनुष्य ही होगा।

दूसरी बात देखने की यह है कि इन्द्राणी के लिए कहा है कि 'इससे पहले इसका पति बुढ़ापे से नहीं मरता।' अर्थात् इन्द्राणी से पहले इन्द्र को बुढ़ापा नहीं आता, दोनों साथ ही वृद्धावस्था को प्राप्त होकर पूरी आयु भोग कर मरते हैं। इस वाक्य से स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'इन्द्र' वृद्धावस्था में मर जाता है। जो 'इन्द्र' वृद्धावस्था में मर जाता है वह काल्पनिक इन्द्रदेव नहीं हो सकता। क्योंकि उसे तो कहा है कि वह 'निर्जर' है, उसे बुढ़ापा कभी नहीं आता, और वह 'अमर' है, कभी मरता नहीं। सायणादि भाष्यकार 'नहस्या अपरंचन जरसा मरते पतिः' इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'और दूसरी बात यह है कि (अपरंचन) इसका पति बुढ़ापे से नहीं मरता।' यह अर्थ ठीक नहीं है नारी का—मनुष्य-स्त्री का पति—नर होगा और नर के लिए मरना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हम चुनाव विषयक मन्त्रों में प्रकरण के पीछे अथ० 19.24 सूक्त की व्याख्या में दिखा आये हैं कि वहाँ इन्द्र के लिए कहा गया है 'जरां सु गच्छ'—बुढ़ापे को प्राप्त हो, 'शतं च जीव शरदः पुरुचीः' सौ वर्ष तक जी, 'जरा मृत्युः'—बुढ़ापे से मरने वाला हो, पहले मत मर। इसलिए श्रीसायण का अर्थ ठीक नहीं है। हमने जो अर्थ किया है वही सही समझना चाहिए।

तीसरी बात देखने की यह है कि इन्द्राणी को 'उत्तम स्नुषा' कहा है। 'स्नुषा' कहते हैं पुत्रवधू को। जो स्नुषा है उसके सास और स्वसुर भी होने चाहिए। इन्द्राणी इन्द्र की पत्नी है। इसलिये इन्द्र के माता-पिता इन्द्राणी के सास और स्वसुर होंगे। पर यह हम पीछे दिखा चुके हैं कि काल्पनिक इन्द्र के कोई, रज और वीर्य से उसे उत्पन्न करने वाले, माता-पिता वेद से सिद्ध नहीं होते। जब काल्पनिक इन्द्र के माता-पिता ही नहीं तो इन्द्राणी स्नुषा, पुत्रवधू, कहाँ से होगी? इन्द्राणी को स्नुषा कहना सिद्ध करता है कि उसके पति इन्द्र के माता-पिता भी हैं। सो यह बात इन्द्र का अर्थ मनुष्य-वाचक सम्राट् अर्थ करने पर ही उपपन्न हो सकती है।

वेद के इन सूक्तों में सम्राज्ञी का वर्णन करके एक आदर्श पत्नी कैसी होनी चाहिए इसका चित्र खींचा गया है।

इन्द्र जीव सूर्य देवा जीव जीव्यासमहम्।

सर्वमायुर्जीव्यासम्।

अथ० 19.70.1.

अर्थात्—'(सूर्य) सबको कर्मों में प्रेरित करने वाले अथवा सबके अभिसरणीय हे इन्द्र (जीव) तू जीवन प्राप्त कर (देवाः) हे देवपुरुषो! (जीवाः) तुम भी जीवन वाले होओ। (अहं) मैं (जीव्यासम्) जीऊँ। (सर्वम्) सारी (आयुः) आयु (जीव्यासम्) जीऊँ।'।

यहाँ इन्द्र और देवों को आशीर्वाद दिया गया है कि ये दीर्घजीवी होंगे और अपने लिए आशीर्वाद माँगा गया है कि उनकी सहायता से मैं दीर्घ-जीवन प्राप्त करूँ। इन्द्र के लिये दीर्घ-जीवन की आशंसा करना यह ध्वनित करता है कि वह कोई ऐसा व्यक्ति है जिसके दीर्घ-जीवन से पहले भी मर जाने की संभावना हो सकती है। 'निर्जर' और 'अमर' इन्द्र देव के लिए यह आशीः नहीं हो सकती। जो न कभी बूढ़ा हो सकता और न कभी मर सकता है उसके लिए यह आशीः करना कि 'तू जीवन प्राप्त कर' कोई अर्थ नहीं रखता। यहाँ इन्द्र का अर्थ पार्थिव शरीरधारी मनुष्य ही हो सकता है।

अब इन्द्र कार्य किस प्रकार के करता है इसका भी थोड़ा सा नमूना देख लीजिये। इन कार्यों को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसा सम्राट् है जो अपनी प्रजाओं के सब प्रकार के अभ्युदय और कल्याण में भारी रुचि लेता है। वेद के इन प्रसंगों में प्रजा-जनों और इन्द्र के बीच इतनी आत्मीयता और घनिष्टता दिखाई गई है कि वह किसी काल्पनिक स्वर्ग में रहने वाले देवता-विशेष और उसके भूमिस्थ उपासकों में संभव ही नहीं हो सकती। मन्त्र लीजिये—

1. दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः ।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं शुणीमसि ॥
ऋग्० 1.53.2.
2. निरुन्धानो अमति गोभिः ।
ऋग्० 1.53.4.
3. त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विंशाऽबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः ।
षष्टि सहस्रां नवति नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥
ऋग्० 1.53.9.
4. विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ।
ऋग्० 1.84.20.
5. इन्द्रेण दस्युं दरयन्तः ।
ऋग्० 1.53.4.
6. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टि तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ।
ऋग्० 2.21.6.
7. उत ऋतुभिर्ऋतुपाः ।
ऋग्० 3.47.3.
8. पूर्वोरस्य निष्पिधो मर्त्येषु पुरु वसूनि पृथिवी विभति ।
ऋग्० 3.51.5.
9. परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र ! आतरुभयन्ना ते अर्थम् ।
ऋग्० 3.53.3.
10. बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानलुत्सु नः ।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि । ऋग्० 3.53.18.

11. समिन्द्रो गा अजयत् सं हिरण्या समदिवया मधवा यो ह पूर्वीः ।
एमिर्नृमिर्नृतमो अस्य शाकै रायो विभक्ता संभरश्च वस्वः ।
ऋग्० 4.17.11.
12. सः युध्मः सत्वा खजकृत् समद्वा तुविभ्रक्षो नदनुमां ऋजीषो ।
वृहद्रेणुश्च्यवनो मानुषीणामेकः कृष्टीनामभवत् सहावा ।
ऋग्० 6.18.2.
13. वयं त एभिः पुरुहूत सख्यैः शत्रोः शत्रोरुत्तर इत् स्याम ।
ऋग्० 6.19.13.
14. स नो बोधि पुरएता सुगेषुत दुर्गेषु पथिकृद् विदानः ।
ऋग्० 6.21.12.
15. अरन्धयः शर्धत इन्द्र दस्यून् ।
ऋग्० 6.23.2.
16. त्वं तां इन्द्रोभयां अमित्रान् दासा वृत्राण्यायां च शूर ।
वधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा पृत्सु दधि नृणां नृतम ।
ऋग्० 6.33.3.
17. कदा धियः करसि वाजरत्नाः ।
ऋग्० 6.35.1.
18. एना मन्दानो जहि शूर शत्रूञ्जामिमजामि मधवन्नमित्रान् ।
अभिषेणं अघ्यादेदिशानान् पराच इन्द्र प्र मृणा जही च ।
ऋग्० 6.44.17.
19. त्वं हि हव्हा मधवन् विचेता अपा वृधि परिवृतं न राधः ।
ऋग्० 7.27.2.
20. महे नृम्णाय नृपते सुवज्र महि क्षत्राय पौंस्याय शूर ।
ऋग्० 7.30.1.
21. अस्माकं बोध्यविता रथानामस्माकं शूर नृणाम् ।
ऋग्० 7.32.11

अर्थात्—(1) हे इन्द्र ! तू हमें घोड़े देता है, गौवं देता है, जो आदि अन्न देता है, तू धन का स्वामी है, सब का पालक पति है, हम मनुष्य को (नरः) व्यापार-व्यवहारों (प्रदिवः)¹ की शिक्षा दे, तू हमारी इच्छाओं को कभी नहीं मारता, तू हम मित्रों का मित्र है । इस तुझको ही हम अपनी आवश्यकताएँ कहते हैं । (2) तू वाणियों अर्थात् शिक्षाओं से अमति—मूर्खता और अज्ञान—को रोकने वाला है । (3) हे प्रसिद्ध इन्द्र ! तू (उनकी अपनी समझ में) बन्धु-रहित असहाय (अबन्धुना) धनधान्य से पूर्ण (सुश्रवसा)² इस राष्ट्र के साथ युद्ध करने के लिए बीस-बीस की संख्या में (द्विर्दशा) आये हुए इन

¹ दिवुष्वातोर्नेकेष्वर्थेषु व्यवहारोप्यन्यतमः ।

² श्रव इति अन्ननामसु पठितम् । निष० 2.7.

राजाओं को (जनराज्ञः) तथा साठ (षष्टि) और निन्यानवे (नवति नव) हजार (सहस्रा) उनकी सेनाओं को अपने जिस तक पहुँचा नहीं जा सकता (दुष्पदा) ऐसे रथ के पहियों से कुचल कर मार भगा सकता है। (4) हे मनुष्य ! हम मनुष्य के लिए सब प्रकार के धन बना। (5) डाकू आदि नियम में न रहने वाले दस्युओं को हम इन्द्र की सहायता से मार डालते हैं। (6) हे इन्द्र ! तू हमें श्रेष्ठ धन दे, ज्ञान (चिन्ति) दे, बल का सौभाग्य दे, धनों की पुष्टि दे, शरीरों की नीरोगता और स्वस्थता दे, वाणियों की मधुरता दे, हमारे दिनों को सुदिन बना। (7) तू ऋतु-ऋतु में हमारी रक्षा करने वाला है। (8) मनुष्य में इस इन्द्र के अनेक प्रकार के (पूर्वीः¹) शासन हैं (निष्पिधः)² और इस शासनकर्ता³ के लिए पृथिवी बहुत प्रकार के धन धारण करती है। (9) हे हमारा भरण-पोषण करने वाले हमारे भाई (भ्रातः) इन्द्र ! तू चाहे दूर जा और चाहे हमारे पास आ तुझे सब कहीं धन मिलेगा। (10) इस मन्त्र का भाव यह है कि इन्द्र राष्ट्र के दूर और समीप के सभी प्रजाजन कर आदि के रूप में देश धन देते हैं। हे इन्द्र ! तू हमारे शरीर में बल दे, जीवन के लिए तू ही बल देने वाला है। (11) यह ऐश्वर्यशाली (मघवा) और मनुष्यों में श्रेष्ठ इन्द्र अपनी शक्तियों (अस्य शक्तेः) और इन मनुष्यों की सहायता से (एभिर्नृभिः) बहुत (पूर्वीः) गौर्वे, सुवर्ण और घोड़े जीत लेता है—अर्थात् राष्ट्र में बहुतायत से ये चीजें उत्पन्न कर देता है, यह धन का विभाग करने वाला और राष्ट्र में धन भरने वाला है। (12) वह इन्द्र योद्धा है, शत्रुओं का भेदन करने वाला है (सत्त्वा)⁴, युद्ध करने में कुशल है (खजकृत्)⁵ सबको हर्ष देने वाला, बड़ा स्नेह देने वाला, (तुविभ्रक्षः)⁶, खूब गर्जता है, सरल स्वभाव वाला अथवा कुटिलता-रहित सरल नीति वाला (ऋजीषी)⁷ है, शत्रुओं की खूब धूल उड़ाने वाला है, शत्रु मनुष्यों का अकेला पराभव कर देता है, और अपने मनुष्यों का पालक है। (13) हे बहु-संख्या द्वारा बुलाये जाने वाले इन्द्र ! हम तेरी मित्रताओं के कारण शत्रु-शत्रु को जीतने वाले बन जायें। (14) सब कुछ जानने वाला और हमारे लिये रास्ते बताने वाला (पथिकृत्) तू सुगम और दुर्गम सभी अवसरों पर हमारे आगे चलने वाला हो। (15) हे इन्द्र ! तू बल में बढ़ते हुए डाकू आदि दस्यु लोगों को भून डालता है। (16) हे मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य (नृणां नूतम्) हे शूर इन्द्र ! तू दास (दासा) और आर्य (आर्या) दोनों प्रकार के कार्यों में रुकावट डालने वाले

1 प्रभूतानीति सायणः ।

2 अनुशासनानीति सायणः ।

3 शासकाय तस्मा इन्द्रायेति सायणः ।

4 सनोतेर्भेदतार्थस्य रूपमिति सायणः ।

5 खज इति संग्रामनामसु पठितम् । निष० 2.17.

6 भ्रक्षतिः स्नेहकर्मा धातुः ।

7 सरलस्वभावः ऋजुनीतिरिति दयानन्दः ।

(वृत्राणि)¹ शत्रुओं को (अमित्रा) सुतीक्ष्ण अपने शस्त्रों (अत्कैः)² से युद्धों में जंगल के वृक्षों की तरह (वना, इव) काट मार और फाड़ डाल। (18) हे इन्द्र ! हर्ष से भरा हुआ तू अपने (जामि)³ और पराये (अजामि) दोनों प्रकार के शत्रुओं को मार डाल, जब वे सेना लेकर आयें और अपने शस्त्र दिखाते लगें तो उन्हें मारकर वापिस भगा दे, उन्हें मार ही डाल। काल्पनिक इन्द्र के पराये शत्रु तो भला राक्षस लोग हो गये, पर उसके आत्मीय शत्रु कौन होंगे ? स्वर्ग के देव-लोग तो कभी इन्द्र के विरुद्ध बगावत करते नहीं सुने गये। मनुष्य सम्राट् में यह वर्णन पूरा संगत बैठता है। उसके पराये शत्रु भी हो जाना संभव है और अपनी प्रजाओं का भड़क उठना भी संभव है।

यहाँ अनेकों के मन में एक आशंका होगी कि जब प्रजाएँ किसी असन्तोष के कारण आन्दोलन करें तो क्या वेद की सम्मति में उन्हें मार डालना चाहिए। इसका उत्तर मन्त्र में आये शत्रुवाची 'अमित्र' शब्द से मिल जाता है। अमित्र का घात्वर्थ है जो स्नेह न करता हो। यदि प्रजाएँ स्नेह और शान्ति से कोई आन्दोलन करती हैं तो करें। पर यदि वे विद्वेष से भर कर अव्यवस्था मचाती हैं तो राष्ट्र में शान्ति रक्षा के लिए प्रजा-जनों को भी मारा जा सकता है।

(19) हे इन्द्र ! तू सब कुछ जानने वाला है, छिपे हुए धन हमारे लिए खोल दे—अर्थात् हमें धन कमाने के लिए नये-नये उपाय सिखा। (20) हे नृपति इन्द्र ! बहुत धन देने के लिए और मनुष्यों में बहुत क्षत्र-शक्ति अर्थात् बल पैदा करने के लिए हममें आ। (21) हे शूर इन्द्र ! हमारे रथों और हमारे आदमियों की रक्षा करने वाला बन।

और लीजिये—

1. तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता । ऋग्० 7.32.15
2. त्वामिद्वययुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः । त्वामश्वयुरेषते ॥

ऋग्० 8.78.9.

3. तवेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्रं चना ददे ।
दिनस्य वा मघवन् त्संभृतस्य वा पूर्धि यवस्य काशिना ॥

ऋग्० 8.78.10.

4. असौ य एषि वीरको गृहंगृहं विचाकशत् । ऋग्० 8.91.2.
5. यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति स्वराज्यम् ।
न देवो नाग्निगुर्जनः । ऋग्० 8.93.11.

6. यो नो दास आयो वा पुरुष्टुताऽदेव इन्द्र युधये चिकेतति ।
अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान् वनुयाम संगमे ।

ऋग्० 10.38.3.

¹ आवरकानीति सायणः ।

² आयुधैरिति सायणः । अत्क इति वज्रनामसु पठितम् । निघ० 2.20.

³ जामि ज्ञातिमजामि तद्विलक्षणमेवमुच्यविधानमित्थान् प्रतिकूलाचरणपरान् शब्द्वनिति सायणः ।

7. यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मधवा काममस्मे ।
आराचिच्त् सन् भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्यां नमन्ताम् ।
ऋग्० 10.42.6.
8. प्रावो देवाँ आतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र ।
ऋग्० 10.54.1.
9. त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता ।
ऋग्० 10.54.5.
10. अप प्राच इन्द्र विश्वाँ अमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम ।
ऋग्० 10.131.1.
11. वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः । ऋग्० 10.152.4.
12. अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उ ।
आभूपन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ।
ऋग्० 10.160.5.
13. त्वं रयि पुरुवीरामु नस्कृषि ।
ऋग्० 10.167.1.
14. इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।
अपानुदो जनममित्रयन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ।
ऋग्० 10.180.3.

अर्थात्—(1) हे इन्द्र ! तेरी उत्कृष्ट नीति में रहकर विद्वानों द्वारा हम सब दुर्गतियों को तर जावें । (2) हे इन्द्र जौ आदि अन्नों को, गौओं को, सुवर्ण को, घोड़ों को चाहने वाली मेरी इच्छा तेरे पास पहुँचती है । (3) हे इन्द्र ! तेरी आज्ञा से कि तू मेरी सहायता करेगा मैं हाथ में दांती लेता हूँ, हे ऐश्वर्यशाली ! चाहे तू क्षीण (दिनस्य) और चाहे खूब समृद्ध (संभृतस्य) जौ आदि अनाज से मेरी मुट्ठी भर दे । (4) इस मन्त्र का भाव यह है कि हे इन्द्र मैं खेती करता हूँ और उसे काटने के विचार से हाथ में इस आज्ञा से दांती लेता हूँ कि तू अपने प्रबन्ध से खूब जलादि दिलवाकर उसे बढ़िया खेती बना देगा । तू यदि अपना कर्त्तव्य पालन करेगा तो मुझे अच्छा अनाज मिलेगा । और यदि तू ने अपने कर्त्तव्य का पालन न किया तो मेरी खेती मारी जायेगी और मुझे क्षीण अनाज मिलेगा । तू वीर पुत्रों को देने वाला घर-घर में उजाला करता चलता है । (5) हे इन्द्र ! तेरी आज्ञा को (आदिशं) और तेरे अपने राज्य को (स्वराज्यम्) कोई भी नहीं तोड़ सकते, न तो दिव्य गुणों वाले विद्वान् लोग (देवः) और न चेष्टाशील सामान्य लोग (अध्रिगुः)¹ । (6) भाव यह है कि तेरी आज्ञा और तेरा राज्य शासन सबको मानना पड़ता है । हे बहुतों-द्वारा

¹ अध्रिगो अष्टतममन कर्मवन् इति निरुक्तम् । 5.2.11.

स्तुति किये गये इन्द्र ! जो दास, आर्य अथवा अदेव¹ हमसे युद्ध करने का विचार करता है, उन शत्रुओं का हम अच्छी तरह पराभव कर सकें, तेरी सहायता से हम उसे संग्राम में जीत सकें। (7) जिस इन्द्र में हम अपनी सारी इच्छाएँ रखते हैं, जो हमारी इच्छाओं को पूरा करता, इस इन्द्र के शत्रु दूर से ही डर जाएँ, इसकी और प्रजाजनों के (जन्या)² कर आदि रूप में देय-धन झुकते रहें—प्राप्त होते रहें। (8) हे इन्द्र ! इस प्रजा को (प्रजायै) जो तूने शिक्षा दी (यत् अशिक्षः) उससे तू ने राष्ट्र में देव-पुरुषों के बल की रक्षा कर दी और दासों के बल को मार दिया। (9) भाव यह है कि तू ने प्रजा को शिक्षा देकर सबको देव बना दिया, दास किसी को नहीं रहने दिया। (10) हे इन्द्र ! तू आज्ञा करने वाला है और तू ही सब कुछ देने वाला है, ! हे शत्रुओं का पराभव करने वाले इन्द्र सारे शत्रुओं को (अभिघ्नान्) मार भगा दे (अपनुदस्व) किन्हीं को पूर्व की ओर भगा दे, किन्हीं को पश्चिम की ओर भगा दे, किन्हीं को उत्तर की ओर भगा दे और किन्हीं को दक्षिण की ओर भगा दे—अर्थात् सब दिशाओं से आने वाले शत्रुओं का निराकरण कर, जिससे हम तेरे द्वारा प्राप्त होने वाले कल्याण में (धर्मन्) रहें। (11) हे इन्द्र ! हमें मारने वालों को (मृषः) मार दे, जो हम पर सेनाएँ लेकर चढ़ते हैं उन्हें नीचा दिखा दे, जो हमें दास बनाना चाहता है—हमें क्षीण करना चाहता है (अभिदासति) उसे गहरे अन्धकार में पहुँचा दे। गहरे अन्धकार में पहुँचा दे का भाव यह है कि उसे मार डाल या अंधेरे जेलखानों में डाल दे। (12) घोड़े चाहने वाले, गौवं चाहने वाले, अन्न और बल चाहने वाले हम तुझे अपने पास बुलाते हैं—अर्थात् आकर तू हमारा ध्यान कर, हमारी खबर ले, तेरी नवीन सुमति में अर्थात् तेरे द्वारा प्राप्त होने वाली नई-नई शिक्षाओं में रहकर हम सुभूषित हो जाएँ, तुझ कल्याण देने वाले को हम बुलाते हैं। (13) हे इन्द्र ! तू हमें धन दे और उसके साथ ही खूब वीर पुरुष दे। (14) हे मनुष्यों में बलवान् अथवा उन पर सुखों की वर्षा करने वाले (वृषभ) इन्द्र ! तू इस क्षत्रिय-शक्ति अथवा राष्ट्र के लिए (क्षत्रमभि) सुन्दर बल बनकर उत्पन्न हुआ है, हमसे शत्रुता करने वाले (अभिमन्त्रयन्तम्) लोगों को मार भगा और दिव्य गुणों वाले विद्वान् और व्यवहारशील पुरुषों के लिए खूब स्थान बना।'

इन्द्र के सारे वर्णन, उसका भूमिवासी मनुष्य प्रजाओं के रक्षण, कल्याण और अभ्युदय में गहरा अनुराग और उष्ण अभिरुचि लेने वाला जो स्वरूप उपस्थित करते हैं वह किसी सम्राट् में ही संगत हो सकता है। काल्पनिक स्वर्गाधिपति इन्द्रदेव हमारे प्रतिदिन जीवन में इतनी सचिन्तता नहीं दिखा सकते। फिर ऐसा इन्द्र इतिहास में न कभी मनुष्यों के बुलाने पर उनके जीवन की लड़ाइयाँ लड़ने के लिए उपस्थित

¹ समाज की मर्यादा में रहकर व्यापार-व्यवहार करने वाले देव और समाज-मर्यादा को तोड़कर आपा-धापी करने वाले अदेव ढाकू आदि। समाजमर्यादामनुस्संध्य दीव्यन्ति व्यवहरन्ति ते देवाः। ये तुच्छदुःखलचारिणस्तेदेवाः।

² शत्रुजनपदभवानीति सायणः।

होता रहा है और न अब हो सकता है। उसकी वास्तव में सत्ता ही नहीं है। वह तो वेद के वास्तविक रहस्य को न समझने वाले भाष्यकारों की कल्पना का परिणाम है।

पाठक जरा इस ओर भी ध्यान करें कि प्रजाजनों द्वारा प्रार्थना के और इन्द्र की महिमा वर्णन के रूप में वेद ने सम्राट् के कैसे-कैसे कर्तव्य बताएँ हैं।

पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं सनश्रुतम् ।
इन्द्र इति ब्रवीतन ।

ऋगु० 8.92.2.

अर्थात्—(पुरुहूतं) जिसे बहुत लोग बुलावें (पुरुष्टुतं) जिसकी स्तुति बहुत लोग करें (गाथान्यं) जिसके गुणों की गाथाएँ बहुत हों (सनश्रुतम्)¹ जो तरह-तरह के कल्याण देने में प्रसिद्ध हो उसे (इन्द्रः) यह इन्द्र है (इति) ऐसा (ब्रवीतन) बोलो।

वेद का यह इन्द्र का लक्षण और ऐसे लक्षणधारी व्यक्ति को इन्द्र समझने की उसकी आज्ञा भी जरा पाठक देख लें। क्या इसके पीछे किसी काल्पनिक इन्द्र देव का स्थान वेद में रह जाता है ?

1. अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ अथ० 1.21.4.
2. इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिद्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥
अथ० 6.97.3.
3. इन्द्रः सुत्रामा स्वर्वा अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं न कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥
अथ० 7.91.1.
4. स सुत्रामा स्वर्वा इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतयुयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥
अथ० 7.92.1.
5. स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत् ।
उरुधारेव दोहते ॥ अथ० 20.7.3.
6. गोभिष्टरेमार्मति दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजेनना जयेम ॥ अथ० 20.17.10.
7. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥
अथ० 20.79.1.

¹ षण् संभक्तौ । सननं सनः । सने श्रुतः सनश्रुतस्तम् । नैकविधकल्याणानाम् संभाजने लोक-विश्रुत इति यावत् ।

अथर्ववेद के इन मन्त्रों का भी अर्थ क्रमशः सुन लीजिये—

(1) हे इन्द्र ! हम से द्वेष करने वालों के मन को परे कर दो, जो हमारी जीवन-हानि करना चाहता है उससे होने वाले हमारे वध को हटा दो, हमें बहुत कल्याण दो और सब प्रकार के वधों को हमसे दूर फेंक दो—अर्थात् हम तेरी सहायता से सब प्रकार के विघ्नों से परे रहें। (2) हे मित्रो ! इस वीर इन्द्र के पीछे चलते हुए खूब हर्षित रहो, तरह-तरह के कर्मों का आरम्भ करो, यह इन्द्र ग्रामों को जीतने वाला है, भूमियों को जीतने वाला है, वज्र इसके हाथ में रहता है, और यह युद्धों का विजय करना वाला और अपने ओज से शत्रुओं को मार डालने वाला है। (3) यह इन्द्र उत्तम पालक है (सुत्रामा), अपने रक्षणों से हमें धन देने वाला है, यह सब कुछ जानने वाला हमें सुखी करने वाला होवे, हम से द्वेष करने वालों या हमारे द्वेषों को रोके, हमारे लिए सब ओर से अभय करें, और इसकी सहायता से हम उत्तम पराक्रम के स्वामी बन जाएँ। (4) वह इन्द्र उत्तम पालन करने वाला है, धनों को देने वाला है, दूर से ही हम से द्वेष करने वाले शत्रुओं को परे फेंक कर छिपा देवे (सनुतर्युयोतु)¹ उस सत्करणीय और संगतियोग्य की सुमति में हम रहें—उसकी उत्तम सलाह के अनुसार हम चलें, और मंगलकारक (भद्रे) सुख अथवा मन की प्रसन्नता की अवस्था में (सीमनसे) रहें। (5) वह इन्द्र हमारा कल्याणकारी मित्र है, घोड़ों, गौओं और यवादि अनाज को हमें बहुत दूध देने वाली गौ (उरुधारा)² की तरह बहुतायत से देता है। (6) हे इन्द्र ! तेरे द्वारा दी हुई शिक्षाओं से (गोभिः) हम दुर्गति कराने वाली (दुरेवां) मूर्खता को (अमर्ति) तर जाएँ, और हे बहुतों द्वारा बुलाये जाने वाले ! तेरे प्रबन्ध से प्राप्त होने वाली यवादि की खेती से हम सब प्रकार की भूख को तर जावें, और तेरे क्षत्रियों अथवा तेरी अधीनता और निरीक्षण में रहने वाले राजाओं (राजभिः)³ की सहायता से हम अपने बल से (वृजनेन)⁴ प्रथम कोटि के धनों को जीतें—प्राप्त करें। (7) हे इन्द्र ! हमें ज्ञान और कर्म (क्रतु) दे जैसा पिता पुत्रों को देता है, हे बहुतों द्वारा बुलाये जाने वाले इस जीवन-मार्ग में (यामनि) हमें शिक्षा दे जिससे हम जीवधारी प्रकाश को प्राप्त हों।

यहाँ भी इन्द्र जितनी गहरी और उष्ण अभिरुचि हमारे जीवनों में ले रहा है। उस तथा उसके कार्यों का जो वर्णन हुआ है वह किसी प्रजावत्सल, प्रजापालक सम्राट् में ही संगत हो सकता है। काल्पनिक स्वर्गाधिवासी इन्द्र में ये वर्णन संगत नहीं हो सकते। वह कभी हमें घोड़े, गौ और खेतियाँ देने, हमारे शत्रुओं को मारने और हमें सुशिक्षित करने नहीं आ सकता। क्योंकि उसकी असल में कोई सत्ता ही नहीं है।

¹ सनुतरित्यन्तहितनामधेयम् । निघ० 3.25.

² बहुक्षीरागौरिवेति सायणः ।

³ क्षत्रियैर्ममिपालैरिति सायणः ।

⁴ वृजनमिति बलनामसु पठितम् । निघ० 2.9.

प्रजाजनों द्वारा इन्द्र की महिमा-वर्णन के रूप में वेद ने सम्राट् के जो ऊँचे कर्तव्य बताए हैं उनकी और विचारशील पाठकों का ध्यान खिंचा ही होगा।

वेद में दस, पचास, सौ नहीं, सैंकड़ों ऐसे मंत्र हैं, जहाँ इन्द्र का, उसके विशेषणों और वर्णनों के आधार पर, सम्राट् ही अर्थ हो सकता है। हमने कुछ थोड़े से मन्त्र पाठकों की सेवा में उपस्थित कर दिये हैं।

इन विवेचनाओं में—चुनाव विषयक मन्त्रों के नीचे की गई अल्प विवेचनाओं तथा इस अध्याय के इस विषयक इन विस्तृत प्रकरणों में हमारे साथ-साथ चलते हुए पाठकों ने देखा होगा कि वेदों में 'अग्नि' और 'इन्द्र' के अनेक ऐसे विशेषण और वर्णन आते हैं जो राजा या सम्राट् पर ही घट सकते हैं। स्थूल आग और इसकी कल्पित अधिष्ठात्री देवता तथा काल्पनिक इन्द्र पर नहीं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद में 'अग्नि' और 'इन्द्र' का अर्थ 'सम्राट्' भी होता है। अतः इन देवताओं के मन्त्रों में जहाँ विशेषण ठीक उपपन्न होते जाएँ वहाँ इनका अर्थ सम्राट् करना चाहिए। अनेक सूक्तों में विशेषण-बल से इनके अर्थ आग, विद्युत, सूर्य, आत्मा, परमात्मा, विद्वान्, संन्यासी आदि भी होते हैं। कहाँ क्या अर्थ करना चाहिए इसका निर्धारण विशेषण करेंगे। विशेषणों के आधार पर 'विशेष्य' का अर्थ निर्धारित करने के इस सिद्धान्त पर भी सायणादि स्वदेशी तथा उनके अनुयायी विदेशी भाष्यकारों ने ध्यान नहीं दिया, जिस पर कि ऋषि दयानन्द ने सबसे अधिक बल दिया है। यही कारण है कि अनेक सूक्तों में, जो कि शुद्ध रीति से अध्ययन करने पर राजनीति-शास्त्र के उत्तमोत्तम सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं, इन भाष्यकारों ने इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि काल्पनिक देवता यों ही रखकर बिलकुल बिगाड़ दिये हैं।

'अग्नि' और 'इन्द्र' का अर्थ 'सम्राट्' हृदय में अंकित कर लीजिए और हमारे साथ चलते हुए अगले प्रकरणों में देखिये कि वेद इन देवताओं के सूक्तों में किस प्रकार की राजनीतिक शिक्षाएँ देते हैं।

5

राजा के वैयक्तिक गुण

हम पीछे विस्तार से देख चुके हैं कि वैदिक राज्य पद्धति में वंशानुगत, एक-तन्त्र, स्वेच्छाचारी राजत्व का स्थान नहीं है। वेद के अनुसार राजा चुना हुआ होना चाहिए। प्रजा की सहमति के बिना कोई व्यक्ति राजसिंहासन पर अधिकार नहीं कर सकता। जो राजा बनना चाहता है पहले उसे प्रजा की स्वीकृति प्राप्त करनी होगी।

अब अगला प्रश्न यह उठता है कि जिस व्यक्ति को राजा चुना जाना है उसमें वैयक्तिक गुण किस प्रकार के होने चाहिए, वह कैसी योग्यता का पुरुष होना चाहिए? वेद में इसको भी हल कर दिया गया है। हम देख चुके हैं कि वेद के अनेक सूक्तों में 'अग्नि' और 'इन्द्र' शब्द राजा या सम्राट् परक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इन सूक्तों में अग्नि और इन्द्र के संकडों ऐसे विशेषण आते हैं जिनसे इस बात पर भली-भाँति प्रकाश पड़ता है कि राजा के वैयक्तिक गुण कैसे होने चाहिए। अगले पृष्ठों में हम 'अग्नि' और 'इन्द्र' देवता के कुछ ऐसे सूक्तों से जिनमें इनका अर्थ राजा ही सुसंगत हो सकता है अग्नि और इन्द्र के कुछ विशेषण उपस्थित करते हैं जिनसे पाठक देखेंगे कि वेद की सम्मति में जिस व्यक्ति को राजा बनाया जाना है उसमें किस प्रकार की योग्यताएँ होनी चाहिए। वेद राजा के वैयक्तिक गुणों का आदर्श हमारे सम्मुख रख देता है। व्यावहारिक क्षेत्र में हम इस आदर्श तक जितना पहुँच सकें उतना ही अच्छा है। अस्तु वैदिक राजा की गुणशीलता की मूर्ति अपने मानसिक चित्रपट पर अंकित करने के लिए राजा के निम्न विशेषण देखिये—

1. 'विपश्चितम्' (ऋग्० 1.4.4)—जो मेधावी हो। निघण्टु 3.15 में विपश्चितम् शब्द मेधावी के नामों में पढ़ा गया है। 'विपा' कहते हैं वाक् या वाणी को (निघ० 1.11)। 'वाक्' शब्द वेद में अनेक स्थानों पर विद्या या विज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है। क्योंकि विद्या-विज्ञानों का प्रकाश भाषित या लिखित वाणी से ही होता है इसलिए उन्हें भी अभेद से वाक् ही कह दिया जाता है। उदाहरण के लिए यजुर्वेद के 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' (यजु० 26.2) इस मन्त्र में वेद-विद्या को 'वाक्' शब्द से कहा गया है। 'विपश्चितम्' शब्द वाक् अर्थात् विद्या वाचक बहुवचनान्त 'विपा' शब्द उपपद होने पर 'चिन् चयने' धातु से निष्पन्न होता है। 'विपः नानाविध

विद्याविज्ञानानि चिनुते इति विपश्चित् ।' विपश्चित् उस मेधावी विद्वान् को कहा जाता है जिसने अपने भीतर अनेक प्रकार के विद्या-विज्ञानों का संग्रह किया है—उनका गम्भीर अध्ययन किया है। जो व्यक्ति राजा चुना जाये वह 'विपश्चितम्' होना चाहिए। हलन्त 'विप्' शब्द अंगुलि का वाचक भी होता है (निघ० 2.5) तब विपश्चितम् का अर्थ होगा—जिसने अंगुलिकर्म अर्थात् नाना प्रकार के हस्तकौशलों को—शस्त्र-चालन तथा लेखनादि कलाओं को—सीखा है।

2. 'एवा ह्यस्य सूनृता' (ऋग्० 1.8.8)—जो 'सूनृता' अर्थात् मधुर और सत्य वचन बोलता हो।

3. 'रथीतमं रथीनाम्' (ऋग्० 1.11.1)—जो रथ¹ चलाने में बड़ा प्रवीण हो।

4. 'युवा' (ऋग्० 1.11.4)—जो युवा अर्थात् 25 वर्ष से बड़ी आयु का हो (आपंचविंशतेयौवनम्) और जिसमें कार्यशक्ति भरपूर मात्रा में हो।

5. 'कविः' (ऋग्० 1.11.4)—जो कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी हो—गहराई में जाकर बातों को समझ सकता हो।²

6. 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (ऋग्० 1.11.4)—जो सभी प्रकार के कार्य कर सकने का सामर्थ्य रखता हो।

7. 'तेन सत्येन जागृतम्' (ऋग्० 1.21.6)—जो सदा सत्य में जागृत रहे—सदा सत्य पर आरुढ़ रहे।

8. 'शतक्रतो' (ऋग्० 1.30.6)—जो सैंकड़ों प्रकार के कर्म कर सकता हो अथवा जिसमें सैंकड़ों प्रकार की बुद्धियाँ हों।³

9. 'चित्रश्रवस्तम' (ऋग्० 1.45.6)—जिसका 'श्रवस्' अर्थात् बल और यश खूब प्रसिद्ध हो।

10. 'असमं क्षत्रम्' (ऋग्० 1.54.8)—जिसके बराबर क्षत्रशक्ति अर्थात् क्षत्रियोचितगुण किसी में न हों।

11. 'असमा मनीषा' (ऋग्० 1.54.8)—जिसके बराबर मननशील बुद्धि किसी में न हो।

12. 'जातवेदाः' (ऋग्० 1.59.5)—जो सब कुछ समझने वाला हो। अथवा जो प्रजाओं के धन को बढ़ा सकने की शक्ति रखता हो।⁴

13. 'वेधाः' (ऋग्० 1.60.2)—जो नवीन-नवीन बातों का आविष्कार कर सकने में कुशल विद्वान् हो।

¹ रथ शब्द सभी प्रकार के वाहनों का उपलक्षण है, युद्ध में काम आने वाली गाड़ियों का भी यह उपलक्षण है।

² कविः क्रान्तदर्शनो भवति। निरु० 12.2.12.

³ ऋतुरिति कर्मनामसु पठितम्। निघ० 2.1 ऋतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघ० 3.9.

⁴ जातवेद्यो वा जातप्रज्ञानः। जातवित्तो वा जातधनः। निरु० 7.5.19.

14. 'गृहपतिः' (ऋग्० 1.60.4)—जो गृहपति अर्थात् गृहस्थ हो—विवाहित हो ।
15. 'नृणां नूतमः' (ऋग्० 1.77.4)—जिसमें मनुष्यों के गुण सबसे अधिक मात्रा में विद्यमान हों ।
16. 'सुसंद्दशम्' (ऋग्० 1.82.3)—हरेक बात को अच्छी तरह से देखने वाला हो ।
17. 'अप्रतिघृष्टशवसम्' (ऋग्० 1.84.2)—जिसके 'शवस्' अर्थात् बल का कोई भी घर्षण न कर सके ।
18. 'सौभगत्वस्य विद्वान्' (ऋग्० 1.94.16)—राष्ट्र के सौभाग्य को बढ़ाने वाले उपायों को जानने वाला । ऐश्वर्य, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान और वैराग्य इन छः को भग कहते हैं । ये छहों जिस राष्ट्र के लोगों के पास होंगे वही सौभाग्यशाली कहलायेगा । राजा ऐसा होना चाहिए जो इन छहों को बढ़ाने के उपाय जानता हो ।¹
19. 'सतां ज्येष्ठतमाय' (ऋग्० 2.16.1)—जो कि सत्पुरुषों में सबसे श्रेष्ठ हो ।
20. 'नेता चर्षणीनाम्' (ऋग्० 3.6.5)—जो मनुष्यों का नेता हो, जिसमें मनुष्यों को मार्ग दिखाने की और उन्हें अपने पीछे लगाने की शक्ति हो ।
21. 'विद्वान्' (ऋग्० 3.14.2)—जो विद्वान् हो ।
22. 'विप्रः' (ऋग्० 3.14.5)—जो विशेष-विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने वाला विद्वान् हो ।
23. 'नृचक्षाः' (ऋग्० 2.15.3)—जो मनुष्य को पहचान सकता हो ।
24. 'यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत्' (ऋग्० 3.36.1)—जो कि अपने महान् कर्मों से सुप्रसिद्ध हो चुका हो ।
25. 'वीरतमाय नृणाम्' (ऋग्० 3.52.1)—जो कि मनुष्यों में सबसे अधिक वीर हो ।
26. 'भद्रा ते हस्ता सुकृता' (ऋग्० 4.21.9)—जिसके हाथ कल्याणकारी उत्तम कर्म करने वाले हों, जिसके हाथों किसी प्रकार के अमंगल कर्म न होते हों ।
27. 'शूर' (ऋग्० 4.22.5)—जो शूर-वीर हो ।
28. 'शुचिम्' (ऋग्० 5.4.3)—जो सब प्रकार से शुद्ध हो, पवित्र हो, निष्कलंक हो ।
29. 'पुरुषम्' (ऋग्० 5.8.2)—जो बड़े रूप वाला हो । देखने में बड़ा सुन्दर लगता हो ।
30. 'अथा विश्वासु हव्योऽग्निर्विष्णु प्र शस्यते' (ऋग्० 5.17.4)—जिसकी सब प्रजाओं में प्रशंसा होती हो ।

¹ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव वर्णा भग इतीरणा ॥

31. 'कवितमं कवीनाम्' (ऋग्० 6.18.14)—जो क्रान्तदर्शी-गहराई में जाकर बातों को समझने वाले—विद्वानों में भी सबसे बढ़कर क्रान्तदर्शी विद्वान् हो।

32. 'अजरं' (ऋग्० 6.19.2)—जो बूढ़ा न हो, जिसकी कार्यशक्ति जीर्ण न हुई हो।

33. 'कारो' (ऋग्० 6.21.1)—जो अनेक प्रकार की नई-नई बातें कर सकता हो। कारू शिल्पी को कहते हैं। जैसे शिल्पी को नई-नई रचनाएँ सूझती हैं, ऐसे ही राज्य के कल्याण के लिए राजा को नई-नई बातें सूझती रहें और उन्हें क्रियाओं में लाने की उसमें शक्ति हो; इन्द्र के कारू विशेषण का यह अभिप्राय है।

34. 'तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुः' (ऋग्० 8.17.8)—जो विस्तीर्ण ग्रीवा वाला हो। शक्ति प्राप्त करने के लिए पेट में जिसके घृतादि वपायें (चर्वियाँ) जाती हों। अर्थात् राजा को सुडौल और बलिष्ठ शरीर वाला होना चाहिए।

35. 'धीषु प्रथमम्' (ऋग्० 8.71.12)—जो बुद्धि में सबसे प्रथम हो, जिसकी विचार-शक्ति सबसे बढ़कर हो।

36. 'शुद्धः' (ऋग्० 8.95.8)—जो शुद्ध हो, जिसमें किसी प्रकार की मलिनता न हो।

37. 'वस्त्राण्यध पेशानानि वसानः' (ऋग्० 10.1.6)—जो सुंदर वस्त्र पहनता हो। जहाँ राजा का उसके अनुचरों और प्रजाओं पर प्रभाव उसकी योग्यता, शारीरिक बल और स्वास्थ्य तथा रूपादि से पड़ता है, वहाँ इन बातों के साथ सुन्दर ढंग से पहने हुए वस्त्रों का भी दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। इस विशेषण का यह भाव है कि जिस व्यक्ति ने राजा बनना है, उसे वस्त्र भी ढंग से पहनने आते हों। वह कहीं वस्त्र पहनने में इतनी लापरवाही न करता हो कि उसकी यह उपेक्षा दूसरी बातों से पड़ने वाले उसके प्रभाव को बहुत कम कर बैठे। राजा के लिए रोव-दाव वाले वस्त्रालंकारों का धारण करना भी आवश्यक है। उसको देखने मात्र से राजकीय सत्ता का प्रभाव दूसरों पर पड़ना चाहिए। इस विशेषण का यही भाव है।

38. 'स्वोजा' (ऋग्० 10.29.8)—जिसमें ओज अर्थात् आत्मिक बल प्रकृष्ट रूप में हो।

39. 'उग्रम्' (ऋग्० 10.44.3)—जो उद्गूर्ण बल वाला हो, जिसकी शक्ति फूट-फूट कर बाहर प्रकट होती हो। अर्थात् जो किसी से न दबता हो, प्रयुक्त जो उसे दवाने आये उन्हें चुभता हो।

40. 'तीक्ष्णनागे चक्षुषा' (ऋग्० 10.87.9)—जो तीक्ष्ण दृष्टि से युक्त हो। आवश्यकता होने पर विरोधियों को उसकी आँख से ही—उसके देखने मात्र से ही—उसके प्रभाव और शक्ति का पता लग जाये। उसकी तीक्ष्ण दृष्टि ही उसका तेज बता रही हो।

41. 'विश्ववित्' (ऋग्० 10.91.3)—जो सब कुछ समझने और जानने वाला हो।

42. 'वशी' (अथ० 1.21.1)—जो अपने को वश में रखने वाला अर्थात् संयमी हो। या जो दुश्मनों और दुष्टों को वश में रख सके।

43. 'अभयंकरः' (अथ० 1.21.1)—जो देखने में भयंकर न लगे, सौम्य मूर्ति हो।

44. 'जागृह्यप्रयुच्छन्' (अथ० 2.6.3)—जो सदा जागरूक या सतर्क रहने वाला हो और कभी प्रमाद न करने वाला हो (युच्छ प्रमादे)।

45. 'चेत्ता' (अथ० 4.8.2)—जो खूब ज्ञानी शिक्षित हो (चिती, संज्ञाने)।

46. 'मित्रवर्धनः' (अथ० 4.8.2)—जिसमें अपने मित्र बढ़ाने की विशेष योग्यता हो।

47. 'व्याघ्र, सिंह, द्वीपि' (अथ० 4.8.7)—जो व्याघ्र, सिंह और द्वीपी (चीता) की तरह पराक्रमी हो।

48. 'ईड्यः, वन्द्यः, नमस्यः' (अथ० 6.98.1)—जिसकी पूजा की जा सके। जो वन्दना और नमस्कार के योग्य हो, जिसके गुणों के कारण अनायास ही उसका सत्कार करने की इच्छा हो।

49. 'उपसद्यः' (अथ० 6.98.1)—लोग जिसके पास आनन्द से जा सकें।

50. 'चकृत्यः' (अथ० 6.98.1)—जो खूब क्रियाशील हो।

51. 'वृद्धवृष्णः' (अथ० 7.62.1)—जिसका बल खूब बढ़ा हुआ हो।

52. 'त्रातारम् अवितारम्' (अथ० 7.86.1)—जिसमें आश्रितों के पालन और रक्षण की सामर्थ्य हो (त्रैड् पालने, अव रक्षणादिषु)।

53. 'शक्रम्' (अथ० 7.86.1)—जो शक्तिशाली हो अथवा सब कुछ करने में समर्थ हो।

54. 'मन्युना' (अथ० 7.93.1)—जिसमें मन्यु अर्थात् सात्विक क्रोध हो।

55. 'सहस्रशृङ्गो वृषभः' (अथ० 13.1.12)—जो सहस्रों शृङ्गों वाले बल की तरह बली हो। यह विशेषण आलंकारिक रूप में दिया गया है। या 'सहस्रशृङ्गवृषभं' सूर्य को कह सकते हैं। सहस्रों किरणों होने से 'सहस्रशृङ्ग' और वर्षण कर्त्ता होने से 'वृषभ'। तब इस विशेषण का अर्थ यह होगा कि जो सूर्य के समान तेजस्वी हो और उपकारों की वर्षा करने वाला हो।

56. 'सुवीरः' (अथ० 13.1.12)—जो उत्तम वीर हो।

57. 'वाचस्पते' (अथ० 13.1.17)—जो वाक् अर्थात् वाणी का स्वामी हो, अर्थात् उत्तम वक्ता हो। ये तीनों विशेषण (अथ० 13.1.12, 17 में) राजा के लिए आये हैं।

58. 'हिरण्यवर्णः' (अथ० 19.24.8)—जो सुवर्ण की तरह कान्तिमान् हो। इस सूक्त में 'इन्द्र' देवता है। इन्द्र का अर्थ यहाँ सम्राट् ही हो सकता है। X

59. 'सत्ययोनिः' (ऋग्वे० 4.19.2)—जिसका सत्य ही योनि अर्थात् घर हो अर्थात् जो सदा सत्य में ही निवास करता हो, जिसके पास झूठ कभी भी न फटके

और जो सत्य का योनि अर्थात् कारण हो अर्थात् जिसके व्यवहार और आचरण से लोगों में सत्य पालन की भावना उत्पन्न होती हो। जिसके उदाहरण से लोग सत्य का पालन करने लगें।

60. 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति' (अथ० 11.5.17)—अर्थात् 'ब्रह्मचर्य के सेवन और तप के द्वारा ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है।' तप कहते हैं कर्त्तव्य पालन के लिए सब प्रकार के कष्ट सहने के लिए उद्यत रहने वाले तथा सादगी के जीवन को। जो सादगी और कर्त्तव्य पालन के लिए कष्टसहिष्णुता का—शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करने का—जीवन व्यतीत करता है वह तपस्वी है। इस मन्त्र से यह स्पष्ट भाव निकलता है कि जिस व्यक्ति को राजा बनाया जाय वह ब्रह्मचारी रह चुका हो, तपस्वी हो तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके भी संयम का ही जीवन व्यतीत करता हो। उच्छृंखलता और लम्पटता उसके पास न फटकती हो।

ये कुछ थोड़े से राजा के वैयक्तिक गुण दिखा दिये गये हैं। वेद में ऊपर उद्धृत राजा के विशेषण एक नहीं अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जिनसे राजा के वैयक्तिक गुणों पर और अधिक प्रकाश पड़ता है।

6

राजा का राज्य-काल

राजा सारी आयु के लिए चुना जायेगा

अगली जो बात वेदों का स्वाध्याय करने से राजा या राष्ट्रपति के सम्बन्ध में मालूम पड़ती है वह यह है कि वैदिक राज्य में राजा सारी आयु भर के लिए चुना जाता है। कुछ सालों के छोटे अरसे के लिए, जैसा कि आजकल अनेक राज्यों में होता है, उसे नहीं चुना जाता। राजा को सारी आयु भर के लिए चुन लिये जाने में अपने लाभ हैं। जबकि राजा की क्षमता और योग्यता, उसकी विद्या और बुद्धि को खूब जाँच लेने के पश्चात् उसे राजा चुना गया है, जबकि 'सभा' और 'समिति' के निर्णयों के अनुसार ही, जैसा कि आगे दिखाया जायेगा, उसे चलना पड़ेगा और इन सभाओं का उस पर सदा अधिकार और नियन्त्रण रहेगा, और जबकि उत्पथगामी होने पर, जैसा कि आगे हम देखेंगे, उसे राज्य-च्युत भी किया जा सकता है, तब वह सारी आयु भर राजा रहने पर कोई शरारत कर सकेगा, इसकी तो कोई सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती। दूसरी ओर सारी आयु भर के लिए राजा चुन लिये जाने से राष्ट्र के लोगों को एक बड़ा भारी आर्थिक लाभ होगा। आजकल जो हर चौथे-पाँचवें साल नये राष्ट्रपति चुने जाते हैं और उस अवसर पर चुनाव के बहाव में जो लोगों का रुपया बहता है, वैदिक राज्य में वह नहीं बहेगा। साथ ही जबकि चुने हुए व्यक्ति को सारी आयु भर के लिए राजा रहने का प्रलोभन और उत्पथगामी होने पर तत्काल ही राज्य-च्युत कर दिये जाने का डर रहेगा तो वह व्यक्ति अपने सारे शासन-काल में राष्ट्र की उन्नति के लिए अधिकाधिक उपयोगी बातें सोचने और करने में प्रयत्नशील रहेगा। थोड़े समय के लिए चुना जाने पर वह अपने आदर्शों को क्रियान्वित करने का समुचित अवसर नहीं पा सकेगा। उसके आदर्श अभी बहुत अधूरे तौर पर ही क्रिया में आ पाये होंगे कि उसका शासन-काल समाप्त हो जायेगा और उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति शासनारुढ़ होकर अपने नये आदर्शों के अनुसार कार्य करना आरम्भ कर देगा। इससे राष्ट्र को उतना लाभ नहीं हो सकेगा जितना कि पहली हालत में हो सकता। एक प्रभावशाली राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री के अपने आदर्शों का राज्य पर कितना असर पड़ता है और पड़ सकता है यह अमरीका और इंग्लैण्ड के क्रमागत राष्ट्रपतियों और प्रधानमन्त्रियों के शासन-कालों के इतिहास को देखने से स्पष्ट

पता लग सकता है। राष्ट्र को एक शासक के अच्छे आदर्शों का अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिए और बुरे तथा हानिकारक आदर्शों को एकदम रोक दिया जाना चाहिए। हम देखते हैं कि वैदिक राज्य में ये दोनों ही बातें सम्भव हैं। राजा सारी आयु के लिये चुना जाना चाहिए, वेद का ऐसा आशय है, इसे दिखाने के लिए हम निम्न हेतु उपस्थित करते हैं—

(1) जितने भी वेद के राज्याभिषेक सम्बन्धी प्रकरण हैं उनमें अभिधा या व्यंजना, किसी भी तरह से, यह स्पष्ट नहीं बताया गया है कि राजा या राष्ट्रपति को कितने वर्ष के लिए राज्यासन पर बिठाना चाहिए। राजा को केवल चार-पाँच वर्ष के अल्पकाल के लिए सिंहासन पर बिठाना चाहिए, इसका वेद में कहीं भी प्रतिपादन नहीं है। प्रत्युत् राज्याभिषेक के प्रकरणों में कई स्थानों पर, और-और आशीर्वादों के साथ, उसे बुढ़ापे तक जीने, सौ वर्ष तक जीने के आशीर्वाद दिये गये हैं। इन आशीर्वादों से ध्वनि और व्यंजना से यदि कुछ झलकता है तो यही झलकता है कि राजा बुढ़ापा आने तक राज्य कर सकता है।

(2) अथर्व० 2.6 सूक्त अग्नि-देवता का सूक्त है। यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् है, यह हम पहले सिद्ध कर आये हैं। यह सारा सूक्त राज्यारोहण विषयक है। इसके पहले ही मन्त्र में सिंहासनासीन होते हुए राजा को आशीर्वाद दिया गया है कि 'समास्त्वाग्निं ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सराः' अर्थात् 'हे सम्राट् ! तुम्हें वर्ष, ऋतुएँ और संवत्सर बढ़ायें।' यहाँ वर्षों की संख्या नहीं कही गई है। केवल बहुवचनान्त समा, ऋतु और संवत्सर¹ शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस बहुवचनान्त प्रयोग की व्यंजना यह है कि राजा बहुत देर तक राज्य कर सकता है। योग्य सिद्ध होने पर उसे आजीवन राज्य करने का अधिकार दे देना चाहिए।

(3) ऋग्वेद 10.173 और अथ० 6.87-88 सूक्तों में जो कि राज्यारोहण विषयक सूक्त हैं, राजा के राज्यारोहण करते समय कहा गया है—'ध्रुवस्तिष्ठा-विचाचलिः' (ऋग्० 10.173.1), 'ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्' (अथ० 6.87.1) अर्थात् 'हे राजन् तू स्थिर (ध्रुव) और अविचलित होकर सिंहासन पर बैठ'; 'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वतो इमे, ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम्' (ऋग्० 10.173.4), 'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्, ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम्' (अथ० 6.88.1) अर्थात् 'यह द्युलोक भी स्थिर है, पृथिवी भी स्थिर है, पहाड़ भी स्थिर हैं, सारा जगत् ही स्थिर है, प्रजाओं का यह राजा भी इन्हीं की तरह स्थिर होकर रहे।' पृथिवी-पर्वतादि को परमात्मा ने जिस कार्य में नियुक्त किया है उसमें वे बहुत देर तक स्थिर होकर लगे रहते हैं। इन उपमाओं की व्यंजना यह है कि इसी प्रकार इस राज्यारोहण कर रहे राजा को भी

¹ पुनः संवत्सरशब्देन मासार्धमासदिवसरूपाः तदवयवाश्च त्वां वर्धयन्त्विति सायणः। ययन्तु संवत्सरवाचिसमाशब्दप्रयोगानन्तरं पुनः संवत्सरशब्दप्रयोगो राजा सुबहून् संवत्सरान् राज्यं पालयितुमावेष्टव्य इति व्यंजयतीति पश्यामः।

अपने राज्यपालन के कर्तव्य में दीर्घकाल तक स्थिर होकर लगे रहना है।

(4) अथ० 19.24 सूक्त 'इन्द्र' देवता का सूक्त है। इसमें सम्राट् के राज्यारोहण का ही वर्णन है। इस सूक्त में सम्राट् को राज्यारोहण करते हुए कुछ वाक्य इस प्रकार कहे गये हैं—'यथैनं जरसे नयाम्' अर्थात् 'जिससे इसे बुढ़ापे तक ले जा सकें'; 'जरां सु गच्छ' अर्थात् 'बुढ़ापे को प्राप्त हो'; 'जरामृत्युं कृणुत' अर्थात् 'इसे बुढ़ापे से मृत्यु वाला बनाओ'; 'जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व' अर्थात् 'हे राजन् तू बुढ़ापे से मृत्यु वाला होकर प्रजा के साथ रह।' 'जरामृत्युः' पद का यह भाव नहीं लेना चाहिए कि जब बुढ़ापे से उसकी मृत्यु हो जाये तभी वह राज्य करना छोड़े। इस विशेषण का भाव यह है कि राजा की राजा रूप में मृत्यु बुढ़ापे में होगी। उसे बुढ़ापे में अशक्ति के कारण राजसिंहासन से हटा दिया जायगा। मृत्युकाल तक राज्य करते रहना वैदिक धर्म की मर्यादा के विरुद्ध है ऐसा हम अभी देखेंगे। इसलिए इस पद का वही भाव लेना चाहिए जो हमने लिया है। राजा देर तक राज्य करेगा, चार-पाँच वर्ष के बाद ही उसे राज्य-कार्यों से पृथक् नहीं कर दिया जायेगा इस भाव को बताने के लिए इसी सूक्त में एक और मन्त्र में कहा है—'ज्योक् क्षत्रेऽधि जागरत्' अर्थात् 'यह राजा चिरकाल तक राष्ट्र के पालन कर्म में जागता रहे।'

(5) त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत्।

अहरहर्वलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ॥

अथ० 19.55.6

अर्थात्—(अग्ने) हे अग्नि के समान तेजस्वी (पुरुहूत) बहुमत से चुने हुए (इन्द्र) सम्राट् (त्वं) तुम (विश्वम्) सारी (आयुः) आयु (व्यश्नवत्) प्राप्त करो। प्रजाजन (ते) तुझे (अहः-अहः) दिन-दिन अर्थात् सदा (बलिम्) कर (हरन्तः) देते रहें (तिष्ठते) अपने स्थान में बँचे हुए (अश्वाय) घोड़े को (इव) जैसे (घासम्) प्रतिदिन घास देते हैं।

इस मन्त्र में भी राजा को सारी आयु राज्य करते और प्रजाओं से कर प्राप्त करते रहना चाहिए ऐसा निर्देश किया गया है। अथर्ववेद के जिस सूक्त का यह मन्त्र है वहाँ प्रजाजन सम्राट् को 'अग्नि' और 'इन्द्र' दोनों नामों से सम्बोधन कर रहे हैं। यह सूक्त परमात्मापरक भी बड़े स्पष्ट रूप में लग सकता है। इसके परमात्मापरक अर्थ में ऊपर उद्धृत मन्त्र से राजा के सारी आयु राज्य करने का भाव व्यंजना या ध्वनि से निकलेगा।

सारी आयु का तात्पर्य गृहस्थाश्रम का काल

हमने ऊपर की पंक्तियों में राजा 'सारी आयु राज्य करे' ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही राजा का मृत्युपर्यन्त राज्य करते रहना वैदिक धर्म की मर्यादा के विरुद्ध भी बताया है। इस दिखाई देने वाले विरोध का परिहार समझ लेना चाहिए। 'सारी आयु' का अभिप्राय गृहस्थाश्रम की आयु से है। जितना गृहस्थाश्रम

का काल है उतना समय राजा को राज्य करते रहना चाहिए। वैदिक धर्म से जरा सा भी परिचय रखने वाला व्यक्ति जानता है कि इसकी मर्यादा के अनुसार प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों में से गुजरना होगा।¹ ब्रह्मचर्याश्रम में बालक को अपनी रुचि, संस्कार और सामर्थ्य के अनुसार चारों में से किसी एक वर्ण को अपना लक्ष्य बनाकर उसके कर्तव्य-कर्मों को पालन करने के योग्य अपने आपको बनाने की तैयारी करनी होती है। शरीर, मन और आत्मा की शक्तियों का गहरा संचय करके अपने अभीष्ट वर्ण के आदर्शों के योग्य अपने आपको बनाना होता है। गृहस्थ में अपने गुण, कर्म, स्वभाव की कन्या से विवाह करके अपने संकल्पित वर्ण के अनुसार सांसारिक कर्तव्यों का जीवन व्यतीत करना होता है। वानप्रस्थ में गृहस्थाश्रम को समाप्त करके अपना समय संन्यास की तैयारी करने और अपने पहले दो आश्रमों की शिक्षा और अनुभवों के आधार पर जाति के बालकों को निःशुल्क विद्या पढ़ाने का काम करना होता है। और संन्यास में अपने-पराये, देश-विदेश के भेद को भुला कर मनुष्यमात्र को धर्म, सत्य और न्याय का उपदेश करते हुए नगर-नगर और गाँव-गाँव में फिरना होता है। संन्यास में मनुष्यमात्र को अपना कुटुम्बी समझने की भावना उत्पन्न करनी होती है। संन्यासाश्रम में वही प्रवेश कर सकता है जिसने पहले ब्रह्मचर्याश्रम में अपने-आपको ब्राह्मण बना लिया है, अथवा, ब्रह्मचर्य में ब्राह्मण न बन सकने की अवस्था में फिर वानप्रस्थ में जाकर जिसने साधना द्वारा अपने को ब्राह्मण बना लिया है। इस प्रकार संन्यास में केवल ब्राह्मण ही प्रवेश कर सकता है। शेष पहले तीन आश्रमों में से प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को गुजरना होगा। वेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम सौ वर्ष तक अवश्य ही जीना चाहिए और कोई भी व्यक्ति सौ वर्ष तक जी सकता है। सौ वर्ष तक जीना कोई असम्भव बात नहीं है। सौ वर्ष की आयु को शास्त्रकारों ने चार आश्रमों के आधार पर पच्चीस-पच्चीस साल के चार भागों में बाँट दिया है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष को मोटे तौर पर प्रत्येक आश्रम में 25 वर्ष तक रहना होगा।

¹ ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।

—श० ब्रा० कां० 14.

वेदानधीत्य वेदो वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।

अविस्तृतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ —मनु० 3.2.

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ —मनु० 6.2.

वनेषु च हवृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ —मनु० 6.33.

वेद में भी उदाहरण के लिए अथ० 11.5 सूक्त में ब्रह्मचर्याश्रम का विधान है। अथ० 14.1-2 सूक्तों तथा ऋग्० 10.85 सूक्त में गृहस्थाश्रम का विधान है; अथ० 9.5 सूक्त में वान-प्रस्थाश्रम का विधान है और ऋग्० 9.113 सूक्त में संन्यासाश्रम का विधान है। अन्यत्र भी वेद में चारों आश्रमों का वर्णन मिलता है।

आवश्यकता पड़ने पर गृहस्थाश्रम के काल में 4-5 साल की बढ़ती भी हो सकती है। 25-30 साल से अधिक कोई गृहस्थाश्रम में नहीं रह सकता। इसके बाद प्रत्येक पुरुष को वानप्रस्थ में जाना होगा। वहाँ अपने को यदि ब्राह्मण बना सका है तो उसके बाद संन्यास में चला जाये। नहीं तो मृत्यु-पर्यन्त वानप्रस्थ में ही रहे।¹

राजा भी वानप्रस्थाश्रम में जायेगा

राजाओं को भी इस मर्यादा में चलते हुए गृहस्थाश्रम के पीछे वानप्रस्थाश्रम में जाना होगा। यह हम स्मृतियों और सूत्र ग्रन्थों के आधार पर ही नहीं कह रहे। स्वयं वेद में इसका विधान है। ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 63वें सूक्त का 5वाँ मन्त्र इस प्रकार है—

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
तां आ विवास नमसा सुवृत्तिभिर्महो आदित्यां अदितिं स्वस्तये ॥

अर्थात्—(सुवृधः) राष्ट्र की प्रजाओं को सुरक्षा और कल्याण से अच्छी तरह बढ़ाने वाले (अपरिह्वृताः) सब प्रकार की कुटिलताओं से रहित (ये) जिन (सम्राजः) सम्राटों ने (यज्ञ) वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश के यज्ञ को (आययुः) कर लिया है, और अब जो (दिवि) वानप्रस्थाश्रम में (क्षयं) निवास (दधिरे) कर रहे हैं (तान्) उन (आदित्यान्) आदित्य अर्थात् सूर्य की तरह महिमा वालों की (सुवृत्तिभिः)² उनकी संगति में बैठकर बुराईयों के त्यागने और (नमसा) नमस्कार द्वारा (आविवास) हे मनुष्य ! तू परिचर्या कर, सत्कार कर (अदितिं) जिस शक्ति के कारण वे आदित्य जैसे बन सके हैं, उस अदिति-शक्ति की भी परिचर्या (स्वस्तये) अपने कल्याण के लिए, अपनी सु + अस्ति अर्थात् उत्तम स्थिति के लिए कर ।

मन्त्र में आये 'यज्ञमाययुः' का यह भी अर्थ हो सकता है कि जिन्होंने राष्ट्र-पालन रूपी यज्ञ, जिसका प्रारम्भ राजसूय यज्ञ द्वारा हुआ था, समाप्त कर लिया है। और 'आदित्यान्' का यह भी अर्थ हो सकता है कि जिन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पहले 48 वर्ष का आदित्य ब्रह्मचर्य पालन किया था ।

ऋग्वेद के इस सारे सूक्त (ऋग्० 10.63) में झुलोक अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में रहने वाले देवों अर्थात् विद्वानों का वर्णन है और मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि वह अपने ब्रह्मचर्यकाल में, और समय मिलने पर गृहस्थ में भी इन देवों की सेवा में उपस्थित होकर उनसे अपने जीवन में स्वस्ति अर्थात् कल्याण प्राप्त करने के लिए

¹ यह 50-55 वर्ष की आयु के पीछे गृहस्थाश्रम त्याग देने का नियम उन लोगों के लिए है जो वसु ब्रह्मचारी रहते हैं। जो विरले लोग रुद्र (36 वर्ष का) और आदित्य (48 वर्ष का) नामक अष्टषड ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहस्थाश्रम में जायेंगे वे वहाँ 60-65 और 75-80 वर्ष की आयु तक रह सकेंगे। यहाँ हमने पुरुषों की आधम-मर्यादा की ओर संकेत किया है। स्त्रियों के लिए उनकी शारीरिक रचना की दृष्टि से कुछ और नियम हैं।

² वृजी वर्जने। स्त्रियां क्लिन् ।

नाना प्रकार की शिक्षायें प्राप्त करें। इसी सूक्त का ऊपर उद्धृत मन्त्र पाँचवाँ मन्त्र है जिसमें वानप्रस्थ में प्रवेश करने वाले सम्राटों का वर्णन है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि वेद की सम्मति में गृहस्थाश्रम के पीछे राजाओं को भी वानप्रस्थ में जाना चाहिए। जब राजाओं ने वानप्रस्थ में भी जाना है तो मृत्युपर्यन्त राज्य करते रहने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इसलिए 'राजा सारी आयु राज्य करे' इसका अर्थ गृहस्थाश्रम की सारी आयु, वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने की आयु तक, राज्य करे ऐसा समझना चाहिए।¹ दूसरे शब्दों में एक बार चुना हुआ राजा, यदि वह उत्पथगामी न हो तो 25-30 वर्ष तक राज्य करता रह सकता है, ऐसा वेद का आशय है।

द्युलोक का अर्थ वानप्रस्थाश्रम

हमने राजाओं के वानप्रस्थ में जाने का विधान बताने वाला मन्त्र उपस्थित करते हुए उसमें आये 'द्यौः' शब्द का अर्थ वानप्रस्थाश्रम किया है। इसके सम्बन्ध में भी यहाँ दो शब्द लिख देना आवश्यक है। अथर्ववेद 9.5 सूक्त में 'अज' के 'तृतीय नाक' अर्थात् तृतीय दुःख रहित सुखमय स्थान में जाने का वर्णन है। यदि यहाँ 'नाक' का अर्थ 'स्वर्ग' कर लें तो उस सूक्त में 'अज' के तीसरे स्वर्ग में जाने का वर्णन है। 'तृतीय नाक' में जाकर अज ने क्या करना है इसका निर्देश इसी सूक्त के 15वें मन्त्र में 'स्तभान द्यां' अर्थात् 'द्युलोक को संभाल' ; और 17वें मन्त्र में 'स्वर्द्वेषु गन्तवे' अर्थात् 'स्वः तक जाने के लिए और देवों में जाने के लिए' ; इन शब्दों द्वारा कर दिया गया है। अर्थात् अज ने 'तृतीय नाक' में जाकर देवों में जाना है (देव द्युलोक में ही रहते हैं) और द्युलोक को संभालना है और इस प्रकार 'स्वः' को प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में तीसरे नाक में जाना, देवों में जाना और द्युलोक में जाना एक ही बात है। तीसरे नाक अथवा द्युलोक में जाकर रहने का परिणाम 'स्वः' की—परम सुख—की प्राप्ति है। ऋषि दयानन्द ने संस्कार विधि के वानप्रस्थाश्रम-प्रकरण में वानप्रस्थ के लिए वेद का प्रमाण देते हुए और-और मंत्रों के साथ, इसी सूक्त के प्रथम मंत्र को उद्धृत किया है और उसमें आये 'नाकमा क्रमतां तृतीयम्' इन शब्दों का अर्थ 'तीसरे नाक अर्थात् दुःख रहित वानप्रस्थाश्रम को आक्रमण कर अर्थात् रीति-पूर्वक आरूढ़ हो' ऐसा किया है। इसलिए ऋषि दयानन्द के अनुसार देवों में जाने और द्युलोक को संभालने का भाव भी वानप्रस्थ में जाना ही होगा। ऋषि दयानन्द के पीछे चलते हुए, इस अर्थापत्ति के आधार पर हमने 'द्युलोक' का अर्थ वानप्रस्थ किया है। ऋषि दयानन्द ने इस सूक्त में वानप्रस्थ का वर्णन यों ही अपनी कल्पना से नहीं कर लिया है। सारे सूक्त को पढ़ने से इस आश्रम का बड़ा स्पष्ट वर्णन इसमें प्रतीत होता है और अर्थों में एक चमत्कार आ जाता है। श्री सायणादि का बकरे को मारने

¹ जहाँ ऐसे प्रसंगों में सी वर्ष तक जीने का आशीर्वाद राजा को दिया गया हो वहाँ इसे दीर्घ जीवन की प्राप्ति के लिए सामान्य आशीर्वाद समझना चाहिए। इसे सी वर्ष की आयु तक राज्य करने की प्रार्थना नहीं समझना चाहिए।

विषयक अर्थ मंत्रों के शब्दार्थों पर ध्यान देने से सर्वथा असंगत और वेदार्थ को बिगाड़ने वाला मालूम पड़ता है।

वेद में 'द्यौः' का एक अर्थ वानप्रस्थाश्रम भी होता है और ऋषि दयानन्द ने 'तृतीय नाक' अर्थात् 'द्युलोक' का—तीन लोक हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः, द्युलोक तृतीय लोक है—अर्थ वानप्रस्थाश्रम करने में कोई अनौचित्य नहीं किया है, पहले तीन आश्रम 'स्वः' की ओर ले जाने वाले हैं—संन्यास की तैयारी के लिए हैं—इसलिए 'स्वर्ग' कहलाते हैं। सुखदायक होने के कारण आश्रमों को ही 'नाक' भी कह दिया जाता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः का सर्वत्र लोक में अति प्रसिद्ध भूमि आदि ही अर्थ नहीं करना चाहिए। अनेक स्थानों पर इनका अर्थ क्रम से ब्रह्म-चर्यादि आश्रम भी होता है और आश्रम अर्थ करने पर वेद के अनेक स्थल बड़े सुन्दर खुलते हैं और बड़ा शिक्षापूर्ण अर्थ देने लगते हैं।¹

प्राचीन भारतीय राजा वानप्रस्थाश्रम में जाते थे

इस प्रसंग को समाप्त करते हुए पाठकों की जानकारी के लिए हम यह और लिख देना चाहते हैं कि राजा भी वानप्रस्थाश्रम में जाया करें, यह बात भारतीय सभ्यता में इतनी बद्धमूल है कि अनेक भारतीय कवि अपने राजाओं का वर्णन करते हुए उनके वानप्रस्थ में प्रवेश करने का भी वर्णन करते हैं। महाभारत में धृतराष्ट्र का विदुर, गान्धारी और कुन्ती के साथ वानप्रस्थ में जाने का विशद वर्णन है। 36 वर्ष तक राज्य करने के पीछे युधिष्ठिर आदि पाण्डव भी वानप्रस्थ में गये हैं। कालिदास और भवभूति तक ने रघुवंशी राजाओं का वर्णन करते हुए उनके वानप्रस्थ में जाने का उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास ने सामान्य रूप में रघुवंशी राजाओं के सम्बन्ध में और-और बातों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

शैशवेभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्धकै मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

रघु० 1.8.

अर्थात्—रघुवंशी राजा बाल्यकाल में ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करते थे, यौवन में गृहस्थाश्रम के विषयों का सेवन करते थे, वृद्धावस्था में वानप्रस्थी होकर मुनि बन जाते थे और जीवन के अन्तिम भाग में संन्यासी होकर योगाभ्यास द्वारा शरीर का त्याग करते थे।

¹ इस विषय में विस्तार से देखना चाहने वालों को आर्य समाज के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित बृद्धदेव विद्यालंकार की 'स्वर्ग' नामक पुस्तक देखनी चाहिए। उस पुस्तक में उक्त विद्वान् ने प्रबल प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि वेद में तीन नाकों, तीन स्वर्गों और पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः इन तीन लोकों का अर्थ क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम होता है और 'स्वः' का अर्थ संन्यास होता है, क्योंकि यह आश्रम मोक्षप्राप्ति द्वारा परमात्मा के 'स्वः' आनन्दस्वरूप को प्राप्त कराता है।

फिर राजा दिलीप के वर्णन में लिखा है—

अथ व विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूतवे ।
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये ।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ।

रघु० 3.70.

अर्थात्—राजा दिलीप ने विषयों से निवृत्त होकर अपने पुत्र रघु को विधिपूर्वक अपना राजचिह्न श्वेत छत्र देकर अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ मुनिवन के वृक्षों की छाया का आश्रय ले लिया अर्थात् वानप्रस्थी हो गया । इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के कुल का यही नियम है कि बूढ़े होकर वानप्रस्थी हो जायें ।

पुनः दिलीप के पुत्र रघु के सम्बन्ध में लिखा है—

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं
विजनयिमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोभूत्
न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥

रघु० 7.71.

अर्थात्—रघु को अपने पुत्र अज की विजय और स्वयंवर में वधू प्राप्ति का वृत्तान्त पहले ही पता लग चुका था । जब अज प्रशंसित गुणों वाली इन्दुमती के साथ वापिस अयोध्या में आया तो विजयी पुत्र का रघु ने खूब स्वागत किया और स्वयं कुटुम्ब का भार पुत्र को सौंपकर मोक्षमार्ग की इच्छा करने लगा—वानप्रस्थ, संन्यास लेने की बात सोचने लगा । क्योंकि कुल को संभालने वाला पुत्र हो जाने पर सूर्यवंशी राजा घर में नहीं रहा करते ।

आगे रघुवंश के अष्टम सर्ग के कुछ श्लोकों में कालिदास ने रघु के तपस्वी जीवन का जो हृदयग्राही वर्णन किया है वह पढ़ते ही बनता है ।

इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल में भी कालिदास ने कण्व से पति के पास जाती हुई शाकुन्तला को कहलवाया है—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धम्
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेस्मिन् ॥

शाकु० 4.19.

अर्थात्—हे प्यारी शाकुन्तला ! देर तक सम्पूर्ण घरती की सपत्नी रहकर, राजा दुष्यन्त का अद्वितीय वीर पुत्र उत्पन्न करके तथा उसका विवाह करके (निवेश्य) और उसे राजसिंहासन पर बिठाकर, और जबकि तेरा पति कुटुम्ब का भार पुत्र को

सौंप कर वानप्रस्थ लेगा तब उसके साथ फिर इस हमारे आश्रम में आना ।

इसी भाँति महाकवि भवभूति ने भी अपने उत्तररामचरित में लंकाविजय के पश्चात् अयोध्या में वापिस आये हुए राजा रामचन्द्र को एक दिन अपनी चित्रशाला में रामायण की अतीत घटनाओं का परिशीलन करते हुए लक्ष्मण से कहलवाया है—

पुत्रसक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम् ।

धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम् ॥

उत्तरराम० 1.22.

अर्थात्—जिस पवित्र आरण्यक अर्थात् वानप्रस्थ के व्रत को पुत्रों पर राज्य भार सौंपने के पीछे बूढ़े इक्ष्वाकु राजा धारण किया करते थे वह वानप्रस्थ का व्रत आपने बाल्यकाल में ही धारण कर लिया था ।

पाठक अनुभव करेंगे कि भारतीय सभ्यता में राजाओं तक के लिए भी चारों आश्रमों में से गुजरना कितना आवश्यक था । यह बात इतनी सर्वसिद्ध थी कि अपने नाटकों और काव्यों तक में प्राचीन राजाओं का वर्णन करते हुए भारतीय कवि उनके गृहस्थाश्रमत्याग और वानप्रस्थ में प्रवेश का वर्णन भी करते हैं । प्राचीन भारतीय राजाओं में यह प्रथा वैदिक शिक्षाओं के प्रचार के कारण ही थी । और वेद किस प्रकार राजाओं के लिए वानप्रस्थ सेवन का विधान करते हैं यह हम संक्षेप में अभी देख चुके हैं ।

राजा की राष्ट्रीयता

अपने राष्ट्र का व्यक्ति ही राजा चुना जायेगा

पीछे राजा के चुनाव विषयक प्रकरण में 'उदेहि वाजिन्यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्' (अथ० 13.1.1) 'विश आ रोह त्वद्योनयो याः' (अथ० 13.1.2) इन मन्त्रों से जहाँ यह भाव निकलता दिखाया गया है कि प्रजा राजा को चुनती है, वहाँ इन मन्त्रों से यह भाव भी स्पष्ट निकलता है कि राजा अपनी राष्ट्रीयता का—अपने राष्ट्र में उत्पन्न व्यक्ति—होना चाहिए। 'यो अप्स्वन्तः' का स्पष्ट अर्थ है कि 'जो तू प्रजाओं में रहता है', और 'त्वद्योनयो याः' स्पष्ट कह रहा है कि 'जो प्रजायें तेरी जननी हैं—जिनमें तू उत्पन्न हुआ है।' 'विशो वृणतां' (अथ० 3.4.2) 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु' (अथ० 4.8.4) (अथ० 6.87.1) (ऋग० 10.173.1) (यजु० 12.11) आदि मन्त्रों में 'विशां'—प्रजाओं—द्वारा राजा के चुने जाने का भी सीधा और स्पष्ट भाव यही निकलता है कि प्रजायें अपने में से किसी व्यक्ति को राजा चुनती हैं। अर्थात् राजा अपनी राष्ट्रीयता का होना चाहिए। सामान्य तौर पर ऐसा ही होना स्वाभाविक भी है। हरेक राष्ट्र अपने अन्दर से ही किसी व्यक्ति को राजा चुनेगा।

विशेष अवस्थाओं में अन्य राष्ट्र का व्यक्ति भी राजा बन सकता है

परन्तु वेदों का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि कभी-कभी—विशेष अवस्थाओं में—भिन्न राष्ट्रीयता का—दूसरे राष्ट्र में उत्पन्न व्यक्ति—भी राजा बनाया जा सकता है। कभी-कभी राष्ट्रों के इतिहास में ऐसे समय आ सकते हैं, जबकि अपने राष्ट्र में कोई ऐसा व्यक्ति मिलना सम्भव न हो सके जिसमें वे सारी क्षमतायें, जो कि राष्ट्र का गुरुतम भार सम्भालने के लिए आवश्यक हैं, यथेष्ट परिमाण में विद्यमान हों। ऐसी अवस्था में किसी परराष्ट्र से कोई योग्य व्यक्ति बुलाकर प्रजा अपना राजा चुन ले तो इसमें कोई आपत्ति-योग्य बात मालूम नहीं पड़ती। एक स्थूल उदाहरण से इस बात को इस तरह समझा जा सकता है। मान लीजिये कि आज का पराधीन भारतवर्ष¹ स्वतन्त्र हो जाता है। अब भारतवासियों के सामने

¹ जब यह प्रकरण लिखा गया था तब भारत अंग्रेजों के अधीन था।

अपना राजा या राष्ट्रपति चुनने की समस्या आती है। शताब्दियों तक विदेशियों के अधीन रहने के कारण यहाँ के अधिवासियों को राजनीतिक प्रतिभा का यथोचित विकास न पाने से, यह सम्भव हो सकता है कि हमें कोई ऐसा प्रवीण राजनीतिज्ञ राष्ट्रपति या राजा न मिल सके, जो कि राजनीतिक दृष्टि से परमोन्नत दूसरे राष्ट्रों के साथ भारत के हितकर सम्बन्धों की स्थापना में कर्णधार का काम दे सके। ऐसी अवस्था में यदि भारत का राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र से किसी महती राजनीतिक प्रतिभा के धनी व्यक्ति को बुलाकर अपना नेता चुन ले तो इसमें भारत की बुराई होने के स्थान में भलाई ही अधिक होगी। इस पर एक आक्षेप यही हो सकता है कि दूसरी राष्ट्रीयता का व्यक्ति हमारे राष्ट्र की भावनाओं को समझने में असमर्थ रहेगा। किन्तु यह आक्षेप भी शक्ति नहीं रखता। दूसरी राष्ट्रीयता का व्यक्ति भी यदि चाहे तो हमारी राष्ट्रीय भावनाओं को पूरी तरह से समझ सकता है। जहाँ दूसरे राष्ट्र की सरकार किसी दूसरे राष्ट्र पर शासन कर रही होती है वहाँ तो ठीक है कि शासक राष्ट्र के लोग शासित राष्ट्र के लोगों की भावनाओं को समझने में असमर्थ रहते हैं। पर इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि शासक लोग शासितों की भावनाओं को समझने की शक्ति ही नहीं रखते। इसका कारण यह होता है कि इन लोगों के स्वार्थ शासित लोगों के स्वार्थों से भिन्न होते हैं, इसलिए ये लोग अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए शासित लोगों की भावनाओं को समझ कर उनके अनुकूल कार्य नहीं करते। उदाहरण के लिए यदि अंग्रेज लोग चाहें तो हमारी भावनाओं को समझ कर उनके अनुकूल काम कर सकते हैं। पर भिन्न-स्वार्थता उन्हें ऐसा करने नहीं देती। जहाँ कोई राष्ट्र किसी योग्य व्यक्ति को दूसरे राष्ट्र से बुलाकर अपना राष्ट्रपति चुनता है, वहाँ राष्ट्रीय भावनाओं को न समझ सकने का सवाल पैदा नहीं हो सकता। यह बुलाया हुआ व्यक्ति विदेश सरकार का पुर्जा नहीं होगा। यह अपनी सरकार का ही अंग रहेगा। यह व्यक्ति दूर-देश से हमारा राष्ट्रपति बनने के लिए आमंत्रित होने पर इतना मान और गौरव समझेगा और हमारी भावनाओं को समझ कर हमारे राष्ट्र के हितसम्पादन में अधिकाधिक प्रयत्नशील रहेगा। विशेष-विशेष विद्याओं के विशेषज्ञ विद्वान् उपाध्याय और कला कुशल इंजीनियर आजकल भी एक देश से दूसरे देश में बुलाये जाते हैं। इससे बुलाने वाले देशों को किसी प्रकार की हानि नहीं होती। प्रत्युत इन लोगों की विशेषज्ञ प्रतिभा से अपने राष्ट्र को भारी लाभ पहुँचता है। दूर देश से किसी विशेष कार्य के लिए बुलाये जाने वाले व्यक्ति पर बुलाने वाले राष्ट्र का निरीक्षण और नियन्त्रण रहने पर उससे किसी प्रकार की हानि का भय नहीं रह सकता।

कभी-कभी—अति विशेष अवस्थाओं में ही ऐसा हो सकेगा—भिन्न राष्ट्रीयता का व्यक्ति भी अपना राजा चुना जा सकता है ऐसा भाव जिन वेद मंत्रों से निकलता प्रतीत होता है वे ये हैं—

1. अर्वाञ्चमिन्द्रमुतो हवामहे ।

अथ० 5.3.11,

अर्थात्—हम (इन्द्र) सम्राट् को (अमृतः) उधर से (अर्वाञ्च) इधर (हवामहे) बुलाते हैं ।

‘अमृतः’—उधर से—इस सर्वनाम से ये भाव स्पष्ट निकलता है कि ‘सम्राट्’ विदेश से अपने अन्दर बुलाया जा रहा है । यह सारा सूक्त (अथ० 5.3) राजनीति विषयक हैं । उद्धृत मंत्र से पहले मंत्र में आता है, ‘आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेतारमधिराजमक्रत’ (अथ० 5.3.10) अर्थात् ‘आदित्य और रुद्र ब्रह्मचारी रहकर शिक्षा-प्राप्त पुरुषों ने ‘उग्र’ और ‘चेत्ता’ पुरुष को अधिराज बनाया है—चुना है ।’ ऊपर के मंत्र में ‘अधिराज’ चुने जाने का वर्णन और अगले मंत्र में उसका ‘उधर से इधर बुलाया जाना’ स्पष्ट सूचित करता है कि यहाँ भिन्न राष्ट्रीयता का व्यक्ति भी राजा चुना जा सकता है ऐसा भाव है ।

2. पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात् ।

अथ० 7.63.1.

अर्थात्—हम (पृतनाजितम्) सेनाओं के जीतने वाले (सहमानं) शत्रुओं के पराभव-कर्ता (अग्निं) सम्राट् को (परमात्सधस्थात्) अति दूर देश से बुलाते हैं—चुनते हैं ।

यहाँ तो स्पष्ट ही कहा है कि—इस राजा को ‘परम सधस्थ’ अर्थात् अति दूर देश से बुलाकर चुनते हैं । ‘सधस्थ’ शब्द वैदिक साहित्य में स्थान, देश या साथ रहने का स्थान इन अर्थों में प्रयुक्त होता है । यहाँ इसका विशेषण ‘परम’ दिया है । अतः इसका अर्थ ‘दूर देश’ स्पष्ट है । ‘अग्नि’ का अर्थ ‘सम्राट्’ किस प्रकार होता है, यह पीछे सिद्ध किया जा चुका है ।

3. परावत आ जगम्यात्परस्याः ।

अथ० 7.84.3.

अर्थात्—(इन्द्रः) सम्राट् (परस्याः परावतः) दूर से दूर देश से (आ जगम्यात्) आये ।

यहाँ भी राजा दूर देश से भी—पर राष्ट्र से भी—बुलाया जा सकता है इसकी स्पष्ट ध्वनि निकल रही है । इस सारे सूक्त (अथ० 7.84) में राजा को ‘अग्नि’ और ‘इन्द्र’ शब्दों से सम्बोधन किया गया है । ‘अग्नि’ और ‘इन्द्र’ के जो कार्य मन्त्रों में बताये गये हैं उनसे इन शब्दों का अर्थ राजापरक ही लिया जा सकता है ।

4. अभित्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्भुवे ।

अथ० 6.94.1.

अर्थात्—(इन्द्र) हे सम्राट् ! मैं तुझे (वरिमतः) विस्तीर्ण दूर देश से (अंहूरणात्) अपनी दुर्गति होने से (पुरा) पहिले ही (द्भुवे) बुलाता हूँ ।

‘बुलाता हूँ’ यह एक वचन का प्रयोग बहुवचन में एकत्व की विवक्षा से है । यहाँ प्रजा को ही एक व्यक्ति समझ लिया गया है । इस मन्त्र पर विशेष विचार चुनाव विषयक प्रकरण में किया जा चुका है । इस मन्त्र में भी सम्राट् को विस्तीर्ण दूर देश से बुलाया गया है । इसकी ध्वनि भी स्पष्ट है कि आवश्यकता पड़ने पर सुदूर देश से भी किसी व्यक्ति को बुलाकर राजा बनाया जा सकता है ।

5. इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।

अस्माकमस्तु केवलः ॥

अथ० 20.70.16

अर्थात्—(इन्द्रं) इस ऐश्वर्यशाली सम्राट् को (वः) हे प्रजाजनो ! तुम्हारे कल्याण के लिए (विश्वतः) सब कहीं से (जनेभ्यः) मनुष्यों में (परि) से (हवामहे) बुलाते हैं । यह सम्राट् (अस्माकम्) हमारा (केवलः) सुख देने वाला (अस्तु) होवे अथवा (अस्माकं केवलः अस्तु) हमारा ही केवल हो कर रहे ।

इस मन्त्र को भी हम चुनाव विषयक प्रकरण में दे चुके हैं । वहाँ हमने सिर्फ इससे चुनाव विषयक जो भाव निकलता है उसी पर बल दिया है । परन्तु पाठक देखेंगे कि इसके 'विश्वतः जनेभ्यः परि हवामहे' इन पदों से यह अर्थ भी स्पष्ट निकल रहा है कि कहीं के भी—किसी भी देश में रहने वाले—लोगों में से किसी व्यक्ति को अपना राजा बनाने के लिए बुलाया जा सकता है । पर एक शर्त है कि वह सम्राट् बनने वाला व्यक्ति 'अस्माकमस्तु केवलः'—हमारे राष्ट्र का सुख बढ़ाने वाला होकर, केवल हमारा होकर रहे । जो व्यक्ति हमारे राष्ट्र का होकर नहीं रहता उसे अपना सम्राट् नहीं चुनना चाहिए ।

6. अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।

उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥

ऋग्० 3.37.11

अर्थात्—हे (इन्द्र) सम्राट् (अर्वावतः) समीप देश से अर्थात् हमारे अपने देश में से (अथो) और (शक्र) हे शक्तिशाली (परावतः) दूर देश से भी (नः) हमारे पास (आगहि) आ (अद्रिवः) हे वज्रधारी अथवा हे कभी न दबने वाले विद्वानों से युक्त (य उ) जो भी (ते) तेरा (लोकः) स्थान है (ततः) वहाँ से (इह) यहाँ राजधानी में (आगहि) आ ।

इस मन्त्र से भी वही ध्वनि निकलती है । राजा अपने देश और परदेश कहीं से भी राज्य करने के लिए बुलाया जा सकता है । मन्त्र के उत्तरार्द्ध में यह जो कहा गया है कि जो भी तेरा स्थान है वहाँ से तू आ, इसका यही भाव है कि जहाँ भी सम्राट् के गुणोचित आदर्श व्यक्ति प्राप्त हो जायें वहाँ से उसे बुला लेना चाहिए । साधारण अवस्थाओं में अपने राष्ट्र में ही ऐसा व्यक्ति मिलना अधिक सम्भव होगा । पर विशेष अवस्थाओं में अपने राष्ट्र में ऐसे व्यक्ति का अभाव होने पर पर-राष्ट्र से भी व्यक्ति प्राप्त किया जा सकता है ।

7. अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन् ।

इमा जुषस्व नो गिरः ॥

ऋग्० 3.40.8

अर्थात्—हे (वृत्रहन्) राष्ट्रोन्नति के विघ्नों को मारने वाले इन्द्र—सम्राट्—(अर्वावतः) इधर से अर्थात् अपने राष्ट्र में से (च) और (परावतः) दूर देश से (नः) हमारे पास

(आगहि) आ (नः) हमारी (इमाः) इन वाणियों को (जुषस्व) सेवन कर अर्थात् सुन ।
भाव यह कि हमारी आवश्यकताओं को सुन और उन्हें पूरा कर ।

इस मन्त्र में भी पूर्वोक्त बात ही ध्वनित की गई है ।

8. यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे ।

इन्द्रेह तत आ गहि ॥

ऋग० 3.40.9

अर्थात्—(अर्वावतं) इधर के अर्थात् हमारे देश के (च) और (परावतं) बहुत दूर देश के (अन्तरा) बीच में जो देश है वहाँ से (यत्) जो (इन्द्र) हे सम्राट् (हूयसे) तुम बुलाये जाते हो, (ततः) वहाँ से (इह) यहाँ राजधानी में (आगहि) आओ ।

इस मन्त्र से यह भाव निकलता है कि राजा अपनी प्रजाओं में से, अपने राष्ट्र के समीपस्थ राष्ट्र की प्रजाओं और बहुत दूर के राष्ट्र की प्रजाओं में से, कहीं से भी अपने यहाँ राज्य करने के लिए बुलाया जा सकता है ।

समय पड़ने पर भिन्न राष्ट्रीयता का व्यक्ति भी बुलाकर अपना राजा बनाया जा सकता है, वेद का यह भाव इस पर कुछ थोड़ा-सा प्रकाश डालता है कि वेद की राजनीति कितनी उदार है ।¹

¹ ऊपर दिये गये मन्त्रों का यह भाव भी हो सकता है कि अपने राष्ट्र के राजधानी से समीप और दूर सब कहीं के प्रजाजन राजा को अपनी रक्षा के लिए बुला रहे हैं । शिक्षा यह है कि राजा को राज्य के कोने-कोने में प्रजाओं की समुचित रक्षा और उन्नति का प्रवन्ध करना चाहिए । इस प्रकार का अर्थ करने पर भी हमने जो कहा है वह ध्वनि और ध्वंजना से अवश्य निकलेगा ।

८

राजा के चुनाव का अधिकार

राजा के चुनाव में समग्र प्रजा की सहमति आवश्यक है

अब अगला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राजा को चुनेंगे कौन ? क्या प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से राजा के चुनाव में अपनी सहमति प्रकाशित करने का, अपना मत—या आजकल की बोलचाल में कहें तो वोट देने का अधिकार होगा या किन्हीं विशेष प्रकार के लोगों की सम्मति पर ही किसी व्यक्ति को राज-सिंहासन पर बैठा दिया जायगा ? अथवा इन दोनों ही बातों का सम्मिश्रण होगा अर्थात् प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत देने का समान रूप से अधिकार तो होगा ही, परन्तु एक विशेष योग्यता के लोगों को विशेष मत देने का अधिकार भी होगा । चुनाव विषयक प्रकरणों पर ज़रा सूक्ष्म रूप से दृष्टिपात करने पर वेद इन तीनों विकल्पों में से किसका समर्थन करते हैं यह आसानी से मालूम किया जा सकता है । पहले तो हम राजा के चुनाव के सम्बन्ध में देखते हैं कि—

- | | |
|--|---------------|
| 1. अग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम् । | ऋग्० 5.11.4. |
| 2. अग्निं...वृणीध्वं हव्यवाहनम् । | ऋग्० 5.28.6. |
| 3. त्वामिदत्र वृणते...मनवः...। | ऋग्० 10.91.9. |
| 4. हवामहे...अग्निम्...। | यजु० 11.76. |
| 5. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु । | यजु० 12.11. |
| 6. अग्निं हवामहे परमात्सघस्थात् । | अथ० 7.63.1. |
| 7. इन्द्रं विश्वा अवीवृषन्त् समुद्रव्यचसं गिरः । | ऋग्० 1.11.1. |
| 8. शुनं हुवेम मधवानमिन्द्रम् । | ऋग्० 3.30.22. |
| 9. इन्द्रं...सहोदामिह तं हुवेम् । | ऋग्० 3.47.5. |
| 10. वृणीमहे सख्याय प्रियाय शूरा...। | ऋग्० 4.41.7. |
| 11. इन्द्रः...सुकृतः कर्तृभिर्भूत् । | ऋग्० 6.19.1. |
| 12. त्वां हीन्द्रावसे विवाचो हवन्ते चर्षणयः । | ऋग्० 6.33.2. |
| 13. तं धिषणे निष्टतक्षतुः । | ऋग्० 8.61.2. |
| 14. नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे । | ऋग्० 8.97.10. |

15. अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र । ऋग्० 10.73.1.
 16. सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तु । अथ० 3.4.1.
 17. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
 अथ० 3.4.2.
 18. सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्
 तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु । अथ० 3.4.7.
 19. इन्द्रं वयमनूराधं हवामहे । अथ० 19.15.2.
 20 इन्द्रं हवामहे । अथ० 20.70.16.
 21. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु । ऋग्० 10.173.1.
 22. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु । अथ० 4.8.4.

इन मन्त्रों में यह बताया गया है कि राजा को सारी प्रजायें ही चुनती हैं। मन्त्रों में प्रयुक्त हुए 'हवामहे', 'हुवेम', 'वृणते', 'वृणीष्व', 'वृणीमहे', 'तक्षतुः', 'जजनुः', 'ह्वयन्तु', 'वाञ्छन्तु' आदि बहुवचनान्त क्रियापद प्रजामात्र की सूचना देते हैं। इनके साथ किसी विशेषग्राही शब्द का प्रयोग नहीं है। 'सर्वा विशः वाञ्छन्तु' के 'सर्वा विशः' ये दो पद प्रजामात्र को अपने भीतर लिये हुए हैं। इन मन्त्रों में वेद असंदिग्ध रूप से कह रहा है कि राजा के चुनाव में समग्र प्रजा की सहमति का प्रकाशित होना आवश्यक है। इसी भाँति—

वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेतारमधिराजमक्रन् ।

यजु० 34.46.

अर्थात्—(वसवः) वसु (रुद्रः) रुद्र (आदित्याः) और आदित्य नामक ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या-प्राप्त विद्वानों ने (मा) मुञ्ज (उग्रं) उग्र (चेतारं) और ज्ञानी को (उपरिस्पृशं) राष्ट्र के ऊपर रहने वाला (अधिराजं) अधिराज (अक्रत) बनाया है।

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ।

ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळहम् ॥

ऋग्० 10.48.11.

अर्थात्—(आदित्यानां) आदित्य (रुद्रियाणां) रुद्र (वसूनां) और वसु (देवानां) विद्वानों के (धाम) तेज या प्रभाव को मैं (न) नहीं (मिनामि) नष्ट करता हूँ, क्योंकि (ते) उन्होंने (मा) मुझे राष्ट्र के (भद्राय) मंगलकारी (शवसे) बल के लिए (अपराजितं) अपराजित (अस्तृतं) अहिंसनीय (अषाळहम्) और शत्रुओं तथा दुष्टों के लिए असह्य बनाया है।

वेद के इन और ऐसे ही अन्य मंत्रों में बताया गया है कि सम्राट्, वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी रहकर जिन्होंने विद्या प्राप्त की है, ऐसे विद्वानों द्वारा चुना जाता है। अब वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचर्य किसी एक ही वर्ण के लोगों की विशेष

सम्पत्ति नहीं है । वेद के धर्म के अनुसार सभी वर्णों के लोगों को कम से कम वसु ब्रह्मचर्य का पालन तो अवश्य ही करना होगा और रुद्र तथा आदित्य ब्रह्मचर्य का पालन भी अपनी शक्ति के अनुसार सभी वर्णों के लोग कर सकते हैं । इस प्रकार वसु, रुद्र, और आदित्य शब्दों के प्रयोग से भी यही सूचित होता है कि सभी वर्णों—प्रजामात्र का राजा के चुनाव में हाथ होना चाहिए । ऐसे ही अथर्ववेद के—

1. ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।

उपस्तीन्पर्णं मह्यत्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥

2. ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।

उपस्तीन्पर्णं मह्यत्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥

अथ० 3.5.6-7

इन मन्त्रों में सम्राट् चुना जाना चाहने वाले व्यक्ति कह रहा है कि—

(1) (ये) जो (धीवानः) धीमर लोग हैं (रथकाराः) रथों को बनाने वाले बढ़ई लोग हैं (कर्माराः) लोहे आदि धातुओं का काम करने वाले लुहार, सुनार आदि लोग हैं (ये) जो (मनीषिणः)¹ दिमागी काम करने वाले बुद्धिजीवी लोग हैं (अभितः) चारों ओर रहने वाले हैं (सर्वान्) उन सब (जनान्) लोगों को (पर्णं) हे चुनाव के लिए प्रयुज्यमान मत-पत्र (Ballot Paper) (त्वं) तू (मह्यं) मेरे लिए (उपस्तीन्) अनुकूल (कृणु) कर दे ।

(2) (ये) जो (राजकृतः) राजाओं को बनाने वाले (राजानः) राजा लोग हैं (सूताः) रथों को हँकने वाले सूत लोग हैं (ग्रामण्यः) गाँवों को चलाने वाले कृषक आदि लोग हैं (अभितः) चारों ओर रहने वाले (सर्वान्) उन सब (जनान्) लोगों को (पर्णं) हे चुनाव के लिए प्रयुज्यमान मत-पत्र (त्वं) तू (मह्यं) मेरे लिए (उपस्तीन्) अनुकूल (कृणु) कर दे ।

इन मन्त्रों से भी स्पष्ट है कि राजा के चुनाव में प्रजा के सभी प्रकार के लोगों की सहमति का प्रकाशित होना आवश्यक है । प्रजा के सभी वयः-प्राप्त लोगों को उसके चुनाव में मत देने का अधिकार रहना चाहिए ।

राजा के चुनाव में राष्ट्र के ब्राह्मणों की सम्मति का विशेष महत्त्व होगा

परन्तु इसके साथ ही हमें वेद के—

1. त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे ।

अथ० 2.6.3.

2. त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे ।

यजु० 27.3.

3. तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।

ऋग्० 3.10.9.

4. ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद् वंशमिव येमिरे ।

ऋग्० 1.10.1.

इन और ऐसे ही अन्य प्रकरणों से यह भी प्रतीत होता है कि राजा के चुनाव में

¹ बुद्धिविशेषोपजीविन इति सायणः ।

ब्राह्मणों की विशेष सहमति होनी चाहिए। इन मन्त्रखण्डों की शब्द रचना अत्यन्त स्पष्ट और सरल है। इन्हें पढ़ते ही पाठक को अर्थ-बोध हो जाता है। राजा के चुनाव विषयक मन्त्रों में और किसी वर्ण का अलग नाम नहीं लिया गया है। वहाँ अधिकांश मन्त्रों में ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो सारी प्रजा मात्र का—चारों वर्णों का—समान रूप से भान कराते हैं। किसी एक वर्ण का आग्रह उनसे नहीं निकलता। परन्तु इन मन्त्रों में ब्राह्मण का विशेष निर्देश है। जब 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु'—सारी प्रजाएँ तुझे चाहें—में सब वर्णों के साथ ब्राह्मण का भी समावेश हो ही जाता है तो इन मन्त्रों में 'ब्राह्मणों' का अलग नाम लेकर क्यों कहा गया कि वे राजा को चुनते हैं, जबकि अन्य किसी वर्ण का 'विशेष' रूप में नाम नहीं लिया गया है। इसका अभिप्राय यही है कि वेद की सम्मति में किसी व्यक्ति को राजा चुनते समय उसके सम्बन्ध में ब्राह्मणों की सम्मति का विशेष मूल्य होना चाहिए। जब तक ब्राह्मणों की सहमति न मिल जाये तब तक उसे राजा नहीं चुना जा सकता। अथ० 2.6.3 और यजु० 27.3 का अर्थ पाठक चुनाव विषयक प्रकरण में पीछे पढ़ आये हैं। यहाँ उक्त मन्त्र का एक बार फिर अर्थ दे देना हमारे इस मत की पुष्टि में सहायक होगा। मन्त्र आप पढ़ चुके हैं—

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवानः ।

अर्थात्—(अग्ने) हे सम्राट् (त्वां) तुझे (इमे) ये (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोग (वृणते) चुन रहे हैं (नः) हमारे (संवरणे) चुनाव में भी (शिवः) तू राष्ट्र के लिए कल्याणकारी (भव) हो।

यह मन्त्र प्रजाजनों की ओर से बोला जा रहा है। वे कह रहे हैं कि हे सम्राट् तुम्हें ब्राह्मणों ने तो चुन लिया है, अब हम भी चुन रहे हैं, हमारे इस चुनाव में तू राष्ट्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो। इस मन्त्र से स्पष्ट सूचित होता है कि ब्राह्मणों द्वारा चुन लिए जाने पर ही प्रजा के दूसरे लोग किसी व्यक्ति को राजा चुन सकेंगे। इसी प्रकार,

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥

ऋग्वेद के इस मन्त्र में पुरोहित कह रहा है कि 'आ त्वाहार्षम्'—मैंने तुझे बुला लिया है, अब 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु'—सारी प्रजाएँ भी तुझे चाहें। इस वाक्य से भी यही असंदिग्ध ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण पहले अपनी सम्मति प्रकाशित कर देते हैं तब दूसरे प्रजाजन अपना मत देते हैं। अथ० 6.87.1 में तथा यजु० 12.11 में भी हल्के शाब्दिक परिवर्तन के साथ यही मन्त्र आता है।

दोनों पक्षों का समन्वय

अब अगला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि राजा के चुनाव में ब्राह्मणों

की सम्मति का विशेष आदर होना है तो वह सम्मति प्रकाशित किस प्रकार हो। इसके प्रकाशित करने के तीन विकल्प हो सकते हैं—(1) सामान्य प्रजा पहले चुन ले और फिर उस व्यक्ति के सम्बन्ध में ब्राह्मणों की सम्मतियाँ ली जाएँ। यदि ब्राह्मण अस्वीकार कर दें तो फिर नये सिरे से चुनाव हो। (2) अन्य लोगों में से जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को एक सम्मति देने का अधिकार हो वहाँ ब्राह्मणों में से प्रत्येक को दो सम्मतियाँ देने का अधिकार हो, और इस प्रकार ब्राह्मणों को अपनी सम्मति का प्रभाव डालने का अवसर दिया जाय। अथवा, (3) ब्राह्मण लोग पहले दो चार व्यक्तियों को राष्ट्र में से चुन लें। फिर इन ब्राह्मणों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों में से सामान्य प्रजा के लोग जिसे चाहें चुनकर राजा बना लें। इनमें से पहले दो विकल्प तो, वेद का सूक्ष्म अध्ययन करने पर प्रतीत होता कि, वेद को स्वीकार नहीं हैं। इनके समर्थन में वेद में ध्वनि से या स्पष्ट रूप से कहीं कुछ नहीं कहा गया है। इनमें अपने दोष भी हैं। पहले विकल्प में तो बड़ा दोष यह है कि सामान्य प्रजा द्वारा पसन्द किये हुए व्यक्ति को यदि ब्राह्मण लोग अस्वीकार कर दें तो प्रजा को फिर नए सिरे से चुनाव में समय और धन नष्ट करना पड़ेगा। एक के बाद तत्काल दूसरा राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन चुनाव के लिए खड़ा करना जनता और राज्याधिकारियों के लिए बहुत अधिक असुविधा की बात होगी। दूसरे विकल्प में बड़ा दोष यह है कि किसी भी राष्ट्र में सामान्य प्रजा की तुलना में ब्राह्मण लोग सदा ही थोड़े—बहुत थोड़े—होंगे। उन्हें प्रत्येक को दो सम्मतियाँ देने का अधिकार होने पर भी उनके मत सामान्य प्रजा के लोगों की तुलना में सदा ही थोड़े रहेंगे। एक व्यक्ति को यदि ब्राह्मणों के सारे मत (वोट, vote) भी मिल जाएँ परन्तु दूसरी प्रजा के मत उसे न मिल सकें तो वह व्यक्ति निश्चित ही चुनाव में हार जायेगा—राजा न चुना जावेगा और ऐसी अवस्था में वेद ब्राह्मणों की सम्मति को जो मूल्य देना चाहता है उसका राजा के चुनाव पर कोई प्रभाव न पड़ सकेगा। तीसरे विकल्प में ये दोष नहीं रहते। पहले राष्ट्र के ब्राह्मण लोग राजा बनने के प्रार्थी पुरुषों में से किन्हीं दो चार को स्वीकार कर लेंगे। फिर उनमें से सारी प्रजा मिलकर किसी एक को राजा चुन लेगी। यदि प्रार्थी एक ही हुआ और वह ब्राह्मणों को स्वीकार हुआ तो सामान्य-प्रजा द्वारा वह प्रतिद्वन्द्विता के बिना ही (unopposed) राजा बना लिया जायेगा। इस तीसरे विकल्प का ही वेद समर्थन करते हैं।

हमने अभी अथ० 2.6.3. और यजु० 27.3 मन्त्र—

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।

देखा है। इसमें प्रजाजन स्पष्ट कह रहे हैं कि हे सम्राट् ! तुझे ब्राह्मणों ने चुन लिया है, अब हम भी चुनते हैं, तू इस चुनाव में राष्ट्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो। ऊपर दिये गये 'आ त्वाहार्षम्'—मन्त्र से भी यही ध्वनि निकलती है। इसमें पुरोहित कह रहा कि मैंने तुझे बुला लिया है, अब प्रजाएँ भी तुझे स्वीकार कर लें। इसकी

व्यंजना यही है कि ब्राह्मण पहले अपनी सहमति प्रकाशित कर लें तभी कोई व्यक्ति सामान्य प्रजाओं द्वारा राजा चुना जा सकता है। यजुर्वेद के नवम् और दशम् अध्याय राज्याभिषेक-विषयक हैं। सभी भाष्यकार उनका अर्थ राज्याभिषेक-परक करते हैं। वहाँ दशम् अध्याय के तीसरे और चौथे मन्त्र को देखिये। इन दोनों बड़े-बड़े मन्त्रों में अभिषिच्यमान राजा प्रजाओं के बहुत से गुणों में से क्रम से एक-एक की ओर निर्देश करके कहता है कि हे अमुक गुण वाली प्रजाओं मुझे राज्य प्रदान करो। इस पर पुरोहित कहता है—हाँ, हे अमुक गुण वाली प्रजाओं ! इसे राज्य प्रदान करो। उदाहरण के लिए तृतीय मन्त्र का पहला वाक्य है—

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा ।

यजु० 10.3.

अर्थात्—हे प्रजाओं ! तुम (अर्थतः) अर्थ अर्थात् प्रयोजन या ऐश्वर्य को लक्ष्य में रख कर चलने वाली, व्यवहार करने वाली (स्थ) हो (राष्ट्रदाः) तुम राज्य देने वाली हो (मे) मुझे (राष्ट्रं) राज्य (दत्त) दो (स्वाहा) मैं विधिपूर्वक वाणी से माँग रहा हूँ।

इस पर दूसरे वाक्य में पुरोहित प्रजाओं को सम्बोधन करके कहता है—

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ।

यजु० 10.3.

अर्थात्—हे प्रजाओं ! तुम (अर्थतः) प्रयोजन या ऐश्वर्य को लक्ष्य में रखकर चलने वाली, व्यवहार करने वाली हो (राष्ट्रदा) राज्य देने वाली हो (अमुष्मै) इसको (राष्ट्रं) राज्य (दत्त) प्रदान करो।

इसी प्रकार इन दोनों मन्त्रों में अभिषिच्यमान व्यक्ति ने बहुत से वाक्यों द्वारा प्रजा से राज्य की प्रार्थना की है और उसी प्रकार के वाक्यों में पुरोहित ने उसे राज्य प्रदान करने की प्रजा को अनुमति दी है। इससे यह स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि जब तक पुरोहित अर्थात् ब्राह्मण अपनी अनुमति न दे लेवें तब तक किसी व्यक्ति को राज्य नहीं मिल सकता।

इसी सम्बन्ध में वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में ब्राह्मणों के लिए बहुत बार प्रयुक्त होने वाले 'पुरोहित' शब्द पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। पुरोहित शब्द का अर्थ है—'पुर एनं दधति' (निरु० 2.2.12)—'जिसे सब कामों में आगे रखते हैं', 'पुरः सर्वकर्मसु धीयते'—'जो सभी कामों में आगे रखा जाता है।' एक आदर्श पुरोहित अथवा ब्राह्मण का वेद की दृष्टि में कितना अधिक महत्त्व है, वह राष्ट्र के ज्ञान, बल, वीर्य और गौरव को बढ़ाने में कितना कार्य कर सकता है, इसे जानना चाहने वाले अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का 19वां सूक्त पढ़ें। इस सारे सूक्त का देवता ही पुरोहित अथवा ब्रह्मणस्पति अर्थात् ब्राह्मण है। जो लोग ब्राह्मणों को पुरोहित बनाकर रखते हैं, उन्हें प्रत्येक काम में आगे रखते हैं, प्रत्येक कार्य करने से पहले

उनकी सम्मति ले लेते हैं उनके राष्ट्र का कैसा अभ्युदय होता है यही इस सूक्त का विषय है। ब्राह्मण को पुरोहित कहना, यह कहना कि प्रत्येक काम में उसे आगे रखना चाहिए, उसकी सम्मति से प्रत्येक कार्य करना चाहिये—यह स्पष्ट ध्वनित करता है कि राजा के चुनाव के समय भी पहले ब्राह्मणों की सम्मति ले लेनी चाहिए कि किस व्यक्ति को राजा बनाना राष्ट्र के लिए हितकर होगा। उन द्वारा सहमति मिल जाने पर ही कोई व्यक्ति सामान्य प्रजा द्वारा राजा चुना जा सकेगा।¹

1 वेद ब्राह्मणों को इतना अधिक महत्त्व क्यों देता है कि इससे पहले कि प्रजाजन किसी व्यक्ति को राजा चुने, देश के ब्राह्मणों की सम्मति उसके सम्बन्ध में पहले प्राप्त कर ली जाय, और ब्राह्मण किन लोगों को कहा जाता है, इस विषय पर हम आगे 'सभा और समिति' नामक अध्याय में विस्तार से लिखेंगे। क्योंकि उस अध्याय में फिर हमें पाठकों का ध्यान इस ओर खींचना होगा कि सभा और समिति के कार्यों में भी ब्राह्मणों की सम्मति की वेद की दृष्टि में विशेष कीमत होनी चाहिए।

9

पर्णमणि अथवा संवरण-पत्र

अथर्ववेद के पर्णमणि सूक्त पर कुछ विचार

गत अध्याय में अथर्व० 3.5.6-7 मन्त्रों का अर्थ करते हुए हमने उनमें प्रयुक्त 'पर्ण' शब्द का अर्थ संवरण पत्र अर्थात् वह पत्र या परची किया है जिस पर कोई मतदाता अपनी सम्मति लिखकर देता है कि उसकी सम्मति में अमुक व्यक्ति राजा बनना चाहिए। दूसरे शब्दों में चुनाव के समय मत देने के काम में आने वाला मत-पत्र (ballot paper) हमने 'पर्ण' शब्द का अर्थ किया है। इस अर्थ को देखकर अनेक पाठक—विशेषकर जिन्हें सायण और तदनुयायी पाश्चात्य और भारतीय टीकाकारों की दृष्टि से ही वेद को देखने की आदत पड़ी हुई है—चौकेंगे और झट हम पर, ऋषि दयानन्द की दृष्टि से वेद को पढ़ने वाले लोगों पर प्रायः लगाया जाने वाला आक्षेप लगा देंगे कि 'ओह ! अर्थ की कितनी बुरी खोजातानी की है ! किस प्रकार लेखक ने अपनी खोपड़ी के भाव देवारे वेद के शब्द पर थोप डाले हैं।' इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि आगे बढ़ने से पहले उक्त सूक्त पर जरा विशेष विस्तार से विचार लिया जावे।

यह सूक्त 8 मन्त्रों का है। इसका देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'पर्णमणि' है। पर्णमणि की महिमा इसमें बताई गई है। 'पर्ण' का अर्थ श्री सायण ने ढाक किया है और पर्णमणि का अर्थ ढाक से बनी हुई कोई मणि अर्थात् अभिमन्त्रित मणि अथवा ताबीज (amulet) किया है। उन्होंने सूक्त की उत्थानिका में लिखा है—'आयमागन् पर्णमणिरित्यनेन सूक्तेन तेजोबलायुर्धनादिपुष्टये पलाशद्वक्षमणि वासितं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य वध्नीयात्।' अर्थात् 'आयमागन् पर्णमणि' इस सूक्त के मन्त्रों से तेज, बल, आयु और धनादि की प्राप्ति के लिए पलाश द्वक्ष की मणि को वासित करके जमीन पर गिराकर फिर अभिमन्त्रित करके बाँधें। 'वासित करने' का अभिप्राय उन्होंने अथ० 2.9 सूक्त की उत्थानिका में स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है—'अत्र वासितमित्यस्यायमर्थः, त्रयोदश्यादयस्तिस्त्रो दधि मधुनि वासयित्वा वध्नात्याशयति' इति (को० 1.7) परिभाषणात् त्रयोदश्यादिषु दिवसेषु दधिमधुपूर्ण पात्रे मणिं प्रक्षिप्य चतुर्थेऽहनि तन्मणिबन्धनं तद्दधिमधुप्राशनं च कुर्यादिति।' अर्थात्

‘त्रयोदशी आदि दिनों में दही और शहद से भरे पात्र में मणि को डालकर चौथे दिन मणि को निकाल कर बाँध ले और उस दही और शहद को खा लेवे, इस क्रिया का नाम ‘वासित’ करना है।’ यह पर्णमणि ढाक की लकड़ी की बनानी चाहिए या उसके बीज की यह सायण ने स्पष्ट नहीं किया है। मणि या ताबीज की आकृति तो ढाक के बीज की सी होती है। सम्भव है इस प्रकार की अभिमन्त्रित मणि बाँधने वाले लोग ढाक के सूखे बीज को ही तीन दिन दही और मधु में वासित करके बाँधते हों। पर बीज के गलकर खराब होने का डर है। इसलिए यह भी सम्भव है कि ढाक की लकड़ी की ही आकृति विशेष की मणि बनाई जाती हो। हमें इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। यूरोपियन और उनके पीछे चलने वाले भारतीय अर्थकार भी इस सूक्त में पर्णमणि का अर्थ ढाक की बनी हुई मन्त्रों के प्रभाव से प्रभावित जादू की मणि ही करते हैं। क्योंकि इन सबके अर्थ-गुरु सायण ही हैं।

अब यदि ज़रा सूक्ष्मता से विचार करें तो प्रतीत होगा कि सायण और उनके चरणचिह्नों पर चलने वाले टीकाकारों का अर्थ सर्वथा भ्रान्त है। वेद यदि सचमुच ईश्वर-प्रणीत है, जैसा कि सायण मानते हैं, और उनमें मनुष्यों के कल्याण के लिए सत्य ज्ञान दिया गया है तो पर्णमणि की जो महिमा इस सूक्त में कही गई है वह सत्य होनी चाहिए। जो कोई भी पर्णमणि की अपने कण्ठ में या भुजा पर सूक्त के मन्त्रों को श्रद्धा और भक्तिपूर्वक पढ़कर बाँध ले उसे ही वह गौरव और विभूति प्राप्त हो जानी चाहिए जिनका वर्णन इस मणि की महिमा गाते हुए उनमें किया गया है। पर ऐसा हो नहीं सकता। नहीं तो भारतवर्ष से आर्यों का राज्य कभी नष्ट नहीं हो सकता था। भारतवर्ष का प्रत्येक आर्य सूक्त के मन्त्र पढ़कर पर्णमणि को बाँध लेता, बस, फिर वह अजेय था, राष्ट्र उसका था, उसे उससे कोई छीन नहीं सकता था। इस प्रकार की मन्त्राभिभावित मणियों में विश्वास रखने वाले कोई सज्जन शायद कह बैठें कि पर्णमणि की महिमा तो वही है जो मन्त्रों में कही गई है—इसके बाँधने वाले को राज्य प्राप्त हो सकता है, पर हमारे पूर्वजों ने पीछे आकर वेद पढ़ना छोड़ दिया था, वे पर्णमणि की महिमा भूल गये थे और इसीलिए उनका राज्य छिन गया। ऐसे लोगों से हमारा इतना ही निवेदन है कि वे ज़रा अब ही हिन्दुओं को यह अभिमन्त्रित मणि बँधवाकर उनका छिन गया साम्राज्य फिर से दिलवा दें। हमें अंग्रेजों¹ से अपने को स्वाधीन करने के लिए आजकल के विकट राजनीतिक आन्दोलन करने की आवश्यकता ही क्या है? पैंतीस करोड़ पर्णमणियाँ बनवा लीजिये। एक दिन निश्चित करके किसी त्रयोदशी के दिन प्रत्येक व्यक्ति को एक-एक मणि बाँट दीजिये और कह दीजिये कि उसी दिन हरेक व्यक्ति दही, शहद में उस मणि को ‘वासित’ करने के लिए डाल छोड़े, तीन दिन पड़ा रहने दे, साथ ही पर्ण मणि सूक्त की एक-एक प्रति छपवा कर सबके घरों में भिजवा दीजिये। प्रतिपदा के दिन नहा-धोकर, पवित्र होकर, श्रद्धा-भक्ति के साथ मणि को दही-शहद से निकालकर दही-शहद को खा जाने

¹ जब यह प्रकरण लिखा गया था तब भारत अंग्रेजों के अधीन था।

और मणि को सूक्त के मन्त्र पढ़कर बाँध लेने की हिदायत सबको कर दीजिये। वस फिर क्या है अगले ही प्रातः काल भारतवर्ष स्वतन्त्र मिलेगा। पर्णमणि की महिमा के अनुसार तो यदि भारतवर्ष का कोई एक ही आदमी उसे बाँध ले तो उसे भारत का राज्य प्राप्त हो जाना चाहिए। यदि पैंतीस करोड़ के पैंतीस करोड़ ही भारत निवासी पर्णमणि को बाँध लेंगे तब तो भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने में कोई सन्देह ही नहीं रहना चाहिए। पर यह नहीं हो सकता। एक क्या यदि भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर पर पैंतीस करोड़ पर्णमणियाँ भी बाँध ले तो भी इससे भारतवर्ष स्वतन्त्र नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपाय और ही हैं जिनका वर्णन वेद ने स्थान-स्थान पर किया है और जिनके अनुसार चलकर संसार के और राष्ट्र स्वाधीनता का सुख भोग रहे हैं। नहीं, वेद के इस और ऐसे ही अन्य स्थलों का मन्त्राभिभाषित मणियों, जादू-टोने के ताबीजों-परक अर्थ सत्य नहीं हैं। और इसीलिए सत्य-ज्ञानमय भगवान् का इन सूक्तों में वह अभिप्राय नहीं हो सकता जो कि सायण देखते हैं। दो ही विकल्प हैं। या तो वेद निरर्थक जादू-टोने की और ऐसी ही अन्य बातों से भरा हुआ है जिनका वर्णन श्री सायण और उसके पीछे चलने वाले भाष्यकार करते हैं। उस अवस्था में वेद को ज्ञान की पुस्तक और भगवान् की वाणी नहीं माना जा सकता। या वेद ज्ञान के ग्रन्थ और भगवान् की मनुष्य हितार्थोपदिष्ट वाणी है, जैसा कि भारतवर्ष के विचारकों की सारी परम्परा उन्हें कहती है और मनु, व्यास, पतंजलि और शंकराचार्य आदि प्राचीन आचार्य और विचारक उसकी पुष्टि करते हैं।¹ इस दूसरे विकल्प को स्वीकार करने की अवस्था में सायण और उनके पदचिह्नों पर चलने वालों की टीकाओं को अशुद्ध और वेद के आशय को प्रकट करने में असमर्थ मानना पड़ेगा। हम प्राचीन आचार्यों और सारी भारतीय परम्परा के आधार पर दूसरे विकल्प को ही सत्य मानने के लिए बाधित हैं और इसीलिए हमें सायण और दूसरे टीकाकारों का अर्थ अस्वीकार करना पड़ता है। तब वेद के इस पर्णमणि सूक्त का कोई अर्थ होना चाहिए। हम जो सूक्त का अर्थ समझते हैं वह नीचे दिया जाता है।

पर्णमणि का अर्थ

इससे पहिले कि हम सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या आरम्भ करें मन्त्रों में प्रयुक्त हुए 'पर्ण' या 'पर्णमणि' शब्द के अर्थ पर थोड़ा सा विचार कर लेना उचित होगा। हम पर्णमणि का अर्थ जैसे ऊपर बताया जा चुका है 'संवरण-पत्र' (ballot paper) करते हैं। सूक्तगत मन्त्रों के अर्थों में 'संवरण-पत्र' अर्थ ही पर्णमणि का सबसे अधिक संगत होता है। हम 'पर्णमणि' का अर्थ संवरण-पत्र करने में इसके अपने अर्थ से दूर

¹ रेले, पावगी, अरविन्द घोष, सत्यन्रत सामर्थ्यमी प्रभृति कितने ही अर्वाचीन विद्वान् भी, जिन्हें ऋषि दयानन्द का अनुयायी नहीं कहा जा सकता, वेदों को विज्ञान के ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

नहीं जा रहे हैं यह दिखाने के लिए यहाँ कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है ।
पर्णमणि शब्द पर्ण और मणि इन दो पदों के योग से निष्पन्न होता है ।

पर्ण का अर्थ—‘पर्ण’ शब्द के संस्कृत में निम्न अर्थ होते हैं—

- (1) पत्र ।
- (2) पक्ष (पक्षियों के पंख) ।
- (3) पत्रयुक्त (कोई भी पत्रयुक्त चीज) ।
- (4) इषुपत्र (बाण में लगाये जाने वाले पत्र) ।
- (5) ताम्बूल (पान और उसके पत्ते) ।
- (6) पलाश (ढाक और उसके पत्ते, पलाश का अर्थ किसी वृक्ष का पत्ता भी हो सकता है) ।

(7) वाहन (किसी चीज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का साधन, सवारी आदि) । ‘अश्वपर्ण’ शब्द में पर्ण शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।)

वास्तव में पर्ण के मुख्य तीन अर्थ हैं—पत्र, पक्ष और वाहन । क्योंकि सभी प्रकार के पत्तों को पर्ण कहते हैं इसलिए ताम्बूल और पलाश के पत्र पर्ण हुए ही । क्योंकि पलाश यज्ञादि में अधिक प्रयुक्त होता था और ताम्बूल के पत्र खाने की प्रथा चल पड़ी इसलिए इनके पत्रों को विशेष रूप से पर्ण कहने लग पड़े और फिर इनके पत्तों से आगे बढ़कर पर्ण शब्द पलाश के पेड़ और ताम्बूल की वेल को भी कहने लग पड़ा । इसी प्रकार पत्र से पत्रयुक्त को भी ‘पर्ण’ कहने लग गये । अति प्रसिद्ध अर्थ पर्ण का ‘पत्र’ और ‘पक्ष’ है ।

पत्र का अर्थ—अब ‘पत्र’ शब्द के, जो कि, ‘पर्ण’ का एक अर्थ है, अर्थों पर दृष्टि डालिये—

- (1) वाहनमात्र (किसी प्रकार का भी वाहन का साधन, सवारी आदि) ।
- (2) पर्ण (पत्र) ।
- (3) पक्ष (पक्षियों के पंख) ।
- (4) लेखनाधार (लिखने का पत्र) ।
- (5) धातुमय पत्राधार (किसी धातु के पत्र) ।
- (6) तेजपत्र ।
- (7) लिपि (लेख) ।
- (8) पलाश (ढाक व उनके पत्ते, इसका अर्थ किसी वृक्ष के पत्ते भी होता है) ।
- (9) दल (तह या पत्ता) ।
- (10) छदः (आवरण या ढकने का साधन, चादर, आदि) ।
- (11) पात्र (वरतन, पत्तों की बनी हुई पत्तल, दौना, आदि) ।

यदि ‘पत्र’ के इन सब अर्थों को ध्यान से देखें तो वे मुख्य दो विभागों में बँट जाते हैं—(i) वाहन, और (ii) कोई भी चौड़ी फैली हुई पतली चीज । इसी प्रकार

‘पर्ण’ के अर्थों पर भी यदि ध्यान दें तो वे भी इन्हीं दो विभागों में बँट जाते हैं। इस प्रकार ‘पत्र’ और ‘पर्ण’ ये दो समानार्थक और पर्यायवाची शब्द हैं। यों जैसा कि हमने ऊपर देखा है कोश भी ‘पर्ण’ को ‘पत्र’ और ‘पत्र’ को ‘पर्ण’ कहकर उन्हें समानार्थक और पर्यायवाची ही बता रहे हैं। इनके जो भिन्न-भिन्न अर्थ गिनाये हैं वे भी मिलते-जुलते ही हैं। इसलिए यदि ‘पर्णमणि’ के पर्ण का ‘पत्र’ अर्थ कर लें और ‘पत्र’ का अर्थ ‘लेखनाधार’ अर्थात् लिखने का पत्र कर लें तो हम कोई अर्थ की खींचातानी नहीं कर रहे होंगे। और, विशेषकर जबकि पत्र अर्थ करने पर सूक्त के मन्त्रों का अर्थ अधिक संगत, अधिक युक्तियुक्त, अधिक शिक्षाप्रद और अधिक वैज्ञानिक बन जाता हो। जब कि एक शब्द के दो भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हों, एक अर्थ लेने पर वेद का अभिप्राय निरर्थक और असत्य और अनुभव के विरुद्ध जाने वाला बनता हो, और दूसरा अर्थ लेने पर उसका अभिप्राय उपदेशपूर्ण और शिक्षाप्रद बनता हो तो हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम पहले अर्थ पर आग्रह करके वेद का आशय विगाड़ डालें। हमें वह अर्थ करना होगा जिसके अनुसार वेदार्थ शिक्षाप्रद बनता हो। पर्ण का अर्थ पत्र करने पर यहाँ किस प्रकार का पत्र समझना होगा यह सूक्त की अपनी अन्तःसाक्षी से निश्चित होता है। सूक्त के मन्त्रों में प्रार्थना की गई है कि पर्ण (पत्र) की महिमा से मुझे राष्ट्र (राज्य) मिल जाये और राष्ट्र के सब प्रकार के लोग मेरे अनुकूल हो जायें। किसी व्यक्ति को राष्ट्र तभी प्राप्त हो सकता है जबकि राष्ट्र के लोग उसके अनुकूल हो जायें—उसे अपनी सहमति दे दें। और पर्ण (पत्र) राष्ट्र के लोगों की अनुकूलता एक ही ढंग से करा सकता है और वह यह कि राष्ट्र के लोग पत्रों पर उस व्यक्ति के सम्बन्ध में अपनी सहमति लिखकर भेज दें। इसलिए हमने पर्ण (पत्र) का अर्थ वह पत्र किया है जिस पर चुनने वाले अपनी सम्मति लिखेंगे अर्थात् ‘निर्वाचन (वेद के शब्दों में ‘संवरण’) पत्र’।

यहाँ ‘पर्ण’ और ‘पत्र’ शब्दों के धात्वर्थ पर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिए। वेद में शब्दों के धात्वर्थ, किसी प्रसंग में किसी शब्द का क्या अर्थ करना है, इसके निर्णय में सब से अधिक सहायक होते हैं। धात्वर्थ के आधार पर हमें वेद में ‘पर्ण’ और ‘पत्र’ शब्दों के ऊपर दिये गये लौकिक संस्कृत के कोशों में पाये जाने वाले अर्थों से भिन्न अर्थ भी कई बार करने पड़ते हैं। इसलिए देखना चाहिए कि इन शब्दों का धात्वर्थ भी हमारे ‘निर्वाचन-पत्र’ अर्थ में संगत हो सकता है या नहीं। पर्ण शब्द ‘पू, पालनपूरणयोः’ धातु से औणादिक ‘न’ प्रत्यय करने से बनता है। जो पालन करे और कामनाओं की पूर्ति करे वह पर्ण। वृक्ष के पत्तों को पर्ण इसीलिए कहते हैं कि वे वायुमण्डल से वृक्ष के जीवन के लिए आवश्यक वायुतत्त्व और सूर्य की गरमी और प्रकाश को भीतर खींच कर उसकी पालना और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। वाहन को—सवारी के घोड़े, रथ आदि को—भी पर्ण इसीलिए कहते हैं कि वे सवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और इसीलिए उसकी पालना करते हैं। पर्ण का यह धात्वर्थ ‘संवरण पत्र’ में भी चरितार्थ हो जाता है। संवरण पत्र राजा

चुना जाना चाहने वाले प्रार्थी (candidate) की कामनाओं की पूर्ति का साधन होता है। और प्रार्थी को अभीष्ट पद पर पहुँचा कर उस स्थिति में उसकी रक्षा करने वाला होता है—संवरण पत्र अनुकूल होने पर उसे उस पद से गिरने का भय नहीं रहता। 'पत्र' शब्द 'पत्नू गमने' धातु से औणादिक 'टन्' प्रत्यय होने पर बनता है। पत्र वह है जिसमें गति हो। वृक्ष के पत्तों को पत्र इसीलिए कहते हैं कि उनमें विशेष प्रकार की गति रहती है। वाहन को पत्र इसीलिए कहते हैं कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर सवार को बिठा कर ले जाता है। पंखों को पत्र इसीलिए कहते हैं कि पक्षी उन की सहायता से गति करते हैं। पत्र का यह धात्वर्थ निर्वाचन-पत्र में भी संगत हो जाता है। निर्वाचन पत्र अपनी सम्मति देने वाले के स्थान से चलकर मत संग्रह किये जाने के स्थान में पहुँचता है। तथा वह सम्मतिदाता के मत को अपने ऊपर बिठाकर उचित स्थान में ले जाता है।

पर्णमणि का विचाराधीन प्रस्तुत सूक्त में 'निर्वाचन पत्र' ही अर्थ करना चाहिए। इस मत के समर्थन में एक सहायक युक्ति और है। इससे ऊपर का (अथ० 3.4) सूक्त राज्यारोहण विषयक है। इसका प्रतिपाद्य विषय 'इन्द्रेन्द्र' अर्थात् 'सम्राटों के सम्राट्' का संवरण है। यह हम चतुर्थ अध्याय में विस्तार से दिखा चुके हैं। 'राजा के चुनाव का अधिकार' विषयक अध्याय में हमने लिखा है कि ब्राह्मण लोग किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में अपनी सम्मति पहले दे लेते हैं, फिर सामान्य प्रजा के लोग मिलकर ब्राह्मणों से प्रस्तावित व्यक्तियों में से किसी को अपना राजा चुनते हैं। अथ० 3.4 में ब्राह्मण शक्ति का प्रतिनिधि पुरोहित ही बोल रहा है। वह कह रहा है—'आ त्वागन् राष्ट्रम्' (अथ० 3.4.1) अर्थात् 'तुम्हें राष्ट्र (राज्य) प्राप्त होवे।' 'सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्यन्तु।' (अथ० 3.4.1) अर्थात् 'हे राजन् तुझे दिशाओं में फैली हुई प्रजायें बुलावें।' 'त्वां विशो वृणतां राज्याय।' (अथ० 3.4.2) अर्थात् 'तुम्हें सारी प्रजायें राज्य के लिए चुन लें।' पुरोहित कह रहा है कि हम ब्राह्मण लोगों की तो इच्छा है कि तुम्हें राज्य प्राप्त हो जावे। अब सामान्य प्रजाओं के चुनने का प्रश्न है, हमारी इच्छा है कि वे भी तुमको राजा चुन लें। अब अगला पर्णमणि वाला प्रस्तुत (अथ० 3.5) सूक्त आता है। इस सूक्त में प्रार्थी कह रहा है कि हे पर्णमणि तेरी महिमा से मुझे राष्ट्र (राज्य) मिल जाय; क्षीमर, रथकार, धातुकार, सूत, ग्रामणी, बुद्धिजीवी, राजा लोग, ये सब के सब मेरे अनुकूल हो जायें। चौथे सूक्त में पुरोहित कह रहा है कि तुम्हें प्रजाओं की भी स्वीकृति मिल जाये और पाँचवें सूक्त में प्रार्थी पर्ण द्वारा प्रजाओं की स्वीकृति की आशंसा कर रहा है। दोनों सूक्तों के इस क्रम को देखने से प्रस्तुत सूक्त में पर्णमणि का अर्थ निर्वाचन-पत्र करना ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

मणि का अर्थ—अब प्रश्न रह जाता है पर्ण के साथ जुड़े हुए 'मणि' शब्द का। ये दोनों शब्द कर्मधारय तत्पुरुष समास में मिले हुए हैं। 'पर्णश्चासौ मणिश्चेति पर्णमणिः' अर्थात् 'पर्ण ही जो मणि, पर्णरूप जो मणि,' यह पर्णमणि समस्त पद का

व्यस्तार्थ है। मणि शब्द के कोशों में निम्न अर्थ दिये गये हैं—

1. मुक्तादी रत्ने (मोती आदि कोई भी कीमती वस्तु) ।
2. मृण्मयपात्रभेदे अलिजरे (मिट्टी की बनी हुई पानी की सुराही) ।
3. लिंगाग्रे (लिंग की अगली स्थूल मांसग्रन्थि) ।
4. नागभेदे (एक विशेष प्रकार का मणि वाला सांप) ।
5. मणिवन्धे (हाथ की कलाई अथवा पहुँचा) ।
6. अजागलस्तने (बकरी का कण्ठस्तन) ।

ये अर्थ संस्कृत के वाचस्पत्य वृहदभिधान और शब्दकल्पद्रुम आदि कोशों में दिये हैं। इनमें मणि का अर्थ मन्त्राभिभावित जादू की मणि कहीं नहीं किया गया है। मोनियर विलियम्स और आप्टे आदि के संस्कृत-इंग्लिश कोशों में मणि के निम्न अर्थ किये गये हैं—

1. A jewel; a gem (रत्न) ।
2. A precious stone (मूल्यवान् पत्थर, लाल, नीलम, आदि) ।
3. An ornament (आभूषण) ।
4. An amulet in general (बाँधने का ताबीज) ।
5. Anything excellent of its kind (कोई भी मूल्यवान् और प्रशस्त वस्तु) ।
6. A crystal (स्फटिक) ।
7. A magnet, loadstone (चुम्बक) ।
8. Glans penis (लिंगाग्र) ।
9. A water pot (सुराही) ।

इन अर्थों में जहाँ अधिकांश अर्थ संस्कृत कोशों के 'मुक्तादी रत्न' की व्याख्या हैं और शेष वही है जो संस्कृत कोशों में दिये गये हैं वहाँ An amulet in general कहकर मणि शब्द का अर्थ 'ताबीज' भी दिया गया है। पर हमें कोई कारण नहीं मालूम होता कि हम पर्णमणि में मणि का अर्थ मन्त्राभिभावित मणि या ताबीज ही क्यों करें जबकि उसका एक अर्थ 'Anything excellent of its kind' अर्थात् कोई भी बहुमूल्य और प्रशस्त वस्तु, भी होता है। बोलचाल में आज तक वीर्य को 'मणि' कहते हैं क्योंकि वह बहुत मूल्यवान् और प्रशस्त वस्तु है। मणि शब्द 'मण शब्दे' घातु से औणादिक 'इनि' प्रत्यय होकर बनता है। 'मण्यते स्तुयते स मणिः' अर्थात् जो भी पदार्थ स्तुति के योग्य, प्रशंसनीय, मूल्यवान् हो उसे मणि कहते हैं। एक राजा चुना जाना चाहने वाले व्यक्ति के लिए निर्वाचन पत्र से बढ़कर मणि—मूल्यवान् प्रशस्त पदार्थ—और क्या हो सकता है? इसीलिए सूक्त में प्रार्थी की मनोवृत्ति को दृष्टि में रखकर पर्ण को—संवरण-पत्र को—मणि बना दिया गया है। वह प्रार्थी के लिए खाली पर्ण—पत्र—नहीं है, पर्णमणि है। इसलिए हमें सूक्त में पर्ण या पर्णमणि शब्द का अर्थ कोई मन्त्राभिभावित मणि या ताबीज न करके निर्वाचन-पत्र करना

चाहिए। तभी वेद के इस सूक्त का अर्थसंगत, सत्य और शिक्षाप्रद बनता है।

पर्णमणि सूक्त की विस्तृत व्याख्या

अब पर्णमणि का संवरणपत्र अर्थ करने पर सूक्त के मन्त्रों का जो अर्थ बनेगा वह भी देख लीजिए। और फिर हमारे अर्थ की सायणादि के अर्थों से तुलना करके देखिये कि वेद के वेदत्व (सत्य-ज्ञानप्रदत्व) की रक्षा किस अर्थ का आश्रयण करने से होती है। नीचे हम आठों मन्त्रों का अपना अर्थ दे रहे हैं—

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।

ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन्॥

अर्थात्, (बली) बल का आधार (अयं) यह (पर्णमणिः) संवरणपत्र अर्थात् तदुपलक्षित संवरण-कर्ताओं का मत (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) मेरे प्रतिद्वन्द्वियों को (प्रमृणन्) मारता हुआ—हराता हुआ (आगन्) मुझे प्राप्त होवे—मुझे सब सम्मतियाँ प्राप्त हो जावें। यह संवरणपत्र (देवानाम्) देवों का (ओजः) बल है (ओषधीनां) शिक्षा संस्थाओं का (पयः)¹ सारभूत है। (अप्रयावन्)² मुझसे अलग न जाता हुआ यह पर्णमणि (वर्चसा) अपने तेज से (मा) मुझे (जिन्वतु) परितृप्त करे।

इस मन्त्र में पर्णमणि को बली कहा है। सो संवरणपत्र में, तदुपलक्षित सम्मतिदाताओं की सम्मति (वोट, vote) में, बल होता ही है। जहाँ चुनाव और दूसरे निर्णय वोट के आधार पर होते हैं वहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है कि उसमें कितना बल होता है। उसके बल की तुलना कोई और शक्ति नहीं कर सकती।

‘देवानामोजः’—देवों का बल—का भाव सुस्पष्ट है। जहाँ राष्ट्रपति और राजसभाओं के सदस्यों का संवरण प्रजाओं की सम्मति के आधार पर होता है वहाँ इन चुने जाने वाले देवों का बल संवरणपत्र अर्थात् तदुपलक्षित मत ही होता है। उसके बिना उन्हें अभीष्ट पद और इसलिए कार्य करने की शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। राजसभाओं में ही क्यों, साधारण सभा-समाजों और संगठनों में भी, देवों का, भाँति-भाँति के व्यवहार करने वाले विद्वान् पुरुषों का, बल यह ‘कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्था’—किसी विचार विशेष के अनुसार करने, न करने अथवा उसके विरुद्ध ही करने में समर्थ—सम्मतिदाताओं की सम्मति (वोट) ही तो होती है।

‘अप्रयावन्’—मुझसे अलग न जाता हुआ—पद का अभिप्राय यह है कि प्रार्थी आशंसा कर रहा है कि सारी सम्मतियाँ उसे ही प्राप्त हों, उससे अलग न जावें, किसी दूसरे को प्राप्त न हों।

ओषधि अर्थात् शिक्षा-संस्थायें

‘ओषधीनां पयः’—शिक्षा संस्थाओं का सारभूत—इन शब्दों पर कुछ थोड़ा

¹ सारभूत इति सायणः।

² अप्रयावन् अप्रयावा मां विहाय अनपगन्ता सन्निति सायणः।

विस्तार से लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य में 'सोम' का ओषधियों के साथ विशेष सम्बन्ध बताया गया है। सोम को ओषधियों का राजा तक कहा गया है। उदाहरण के लिए—

1. सौम्या ओषधयः । श० 12.1.1.2.
2. सोम ओषधीनामधिराजः । गो० उ० 1.17.
3. सोमो वै राजौषधीनाम् । कौ० 4.12, तै० 3.9.17.1.
4. ओषधो हि सोमो राजा । ऐ० 3.40.
5. या ओषधीः सोमराज्ञीः । मं० 2.8.3-4; ऋग्० 10.97.18-19.
6. ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा । ऋग्० 10.97.22.

ब्राह्मणों और वेद के इन वाक्यों को लीजिए। इनमें स्पष्ट ही ओषधियों का सोम-सम्बन्धिनी होना, सोम का ओषधियों का राजा होना और ओषधियों का सोम राजा से संवाद करना—मिल के रहना—बताया गया है। यों भी भारतीय आयुर्वेद में सोम को एक बड़ी प्रभावशालिनी ओषधि माना गया है। ओषधि शब्द का सामान्य लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध अर्थ शरीर के रोगों का नाश करने वाली दवायें होता है। और, सोम को ओषधियों का राजा अर्थात् एक बहुत प्रभावशाली तथा शक्ति देने वाली ओषधि समझा जाता है। वेद और वैदिक साहित्य में भी ओषधि और सोम के अनेक स्थानों में ऐसे वर्णन आते हैं जहाँ इनका अर्थ प्रसिद्ध ओषधियाँ या दवायें ही करना होगा। परन्तु क्या सर्वत्र वेद में सोम का अर्थ एक विशेष प्रकार की प्रभावशाली ओषधि अथवा वूटी ही होता है? वेद में सर्वत्र सोम का अर्थ सोम नामक वूटी नहीं होता। वेद के बहुत स्थलों में सोम का अर्थ परमात्मा होता है। और बहुत स्थलों में सोम का अर्थ वेद में गुरुकुलों से विद्याप्राप्त ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के विद्वान् स्नातक होता है। फिर कई प्रसंगों में स्नातकवाची सोम शब्द को न्यायाधीश और संन्यासी आदि अर्थों में भी प्रयुक्त किया गया है। कहाँ क्या अर्थ लेना है यह प्रकरण-प्रकरण में आये हुए सोम के विशेषणों और वर्णनों के आधार पर निर्णीत होगा। सोम का सब जगह वूटी अर्थ करना वेद के साथ घोर अन्याय है। यह ठीक है कि वूटी, रस, जल, ऐश्वर्य, चन्द्रमा आदि अर्थ भी सोम के वेद में होते हैं। पर सर्वत्र यही अर्थ करना असंगत है। विशेषणों के आधार पर ही हमें कोई अर्थ करना होगा और इस पद्धति से अर्थ करने पर हमें वेद के अपेक्षाकृत बहुत थोड़े स्थल ऐसे मिलेंगे जहाँ सोम का अर्थ वूटी, रस, चन्द्र आदि ही हो सकेगा। अधिकांश स्थलों में दूसरे अर्थ होंगे जिनका अभी निर्देश किया गया है।

सोम का अर्थ स्नातक

सोम का अर्थ सर्वत्र सोम नामक वूटी अथवा चन्द्रमा या कोई और जड़ पदार्थ नहीं किया जा सकता यह दिखाने के लिए हम नीचे वेद के कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं। जरा इन पर दृष्टि डालिये—

1. ऋतं वदन्तूतद्युम्न सत्यं वदन् त्सत्यकर्मन् । ऋग् ० 9.113.4.
2. गुहा चिद्दधिषे गिरः । ऋग् ० 9.6.9.
3. स्पृधः अभि सीदति । ऋग् ० 9.7.5.
4. नू नव्यसे नवीयसे सूक्ताय साधया पथः ।
प्रत्नवद्रोचया रुचः ॥ ऋग् ० 9.9.8.
5. विचक्षणः सुक्रतुः कविः सोमः । ऋग् ० 9.12.4.
- X 6. एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः ।
पतिः सिन्धूनां भवन् ॥ ऋग् ० 9.15.5.
- X 7. एते ससृवांसो न शश्रमुः । ऋग् ० 9.22.4.
8. सोमा असृग्रम् विश्वानि काव्या । ऋग् ० 9.23.1.
- X 9. सोमास आयवः पवन्ते मृदम् । मृदं ऋग् ० 9.23.4.
- X 10. सोमः सुवीरः । ऋग् ० 9.23.5.
11. सोम नृभिर्विनीयसे । ऋग् ० 9.24.3.
12. एष विश्ववित् नृभिर्विनीयते । ऋग् ० 9.27.3.
13. विश्वविन्मनसस्पतिः । ऋग् ० 9.28.1.
14. एष वनेषु विनीयते । ऋग् ० 9.27.3.
15. वसूनि संजयन् । ऋग् ० 9.29.4.
16. स्वायुधस्य ते सतो भुवनस्य पते वयम् ।
इन्दो सखित्वमुश्मसि । ऋग् ० 9.31.6.
17. त्वया वीरेण वीरवो ऽभि प्याम पृतन्यतः ।
क्षरा णो अभि वार्यम् ॥ ऋग् ० 9.35.3.
18. विश्वो यस्य व्रते जनो दाधार धर्मणस्पतेः ।
पुनानस्य प्रभूवसोः ॥ ऋग् ० 9.35.6.
19. विप्रवीरः सदावृधः । ऋग् ० 9.44.5.
20. एते सोमास इन्द्रं वर्धन्ति कर्मभिः । ऋग् ० 9.46.3.
21. गिरा जातः । ऋग् ० 9.62.15.
22. या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे ।
रक्षा समस्य नो निदः । ऋग् ० 9.61.30.
23. विघ्नन्तो दुरिता । ऋग् ० 9.62.2.
24. कवि मृजन्ति मर्ज्यं धीभिर्विप्रा अवस्यवः ।
वृषा कनिकृदर्षति । ऋग् ० 9.63.20.
25. चेतनः प्रियः कवीनाम् । ऋग् ० 9.64.10.
26. हिन्वन्ति सूरमुत्तयः स्वसारो जामयस्पतिम् ।
महामिन्दुं महीयुवः । ऋग् ० 9.65.1.
27. अयं सोमः कर्पादिने घृतं न पवते मधु ।

- आ भक्षत् कन्यासु नः । ऋग्० 9.67.11.
28. सं दक्षेण मनसा जायते कविऋतस्य गर्भो निहितो यमा परः ।
यूना ह सन्ता प्रथमं वि जज्ञतुर्गुहा हितं जनिम नेममुद्यतम् ॥
ऋग्० 9.68.5.
29. अव्ये वधूयुः पवते परि त्वचि श्रथ्नीते नप्तीरदितेऋतं यते ।
हरिरक्रान् यजतः संयतो मदो नृम्णा शिशानो महिषो न शोभते ॥
ऋग्० 9.69.3.
30. ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः ।
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यं नाम तृतीयमधि रोचने दिवः ॥
ऋग्० 9.75.2.
31. विद्वान् । ऋग्० 9.77.4.
32. राजा । ऋग्० 9.78.1.
33. नृचक्षाः कविः । ऋग्० 9.78.2.
34. पञ्चाया गर्भं शृणुहि ब्रवीमि ते अन्तर्वाणीषु
प्र चरा सु जीव सेऽनिन्द्यो वृजते सोम जागृहि । ऋग्० 9.82.4.
35. ब्रह्मणस्पते । ऋग्० 9.83.1.
36. स्वायुवः वाचो अग्रियो गोषु गच्छति । ऋग्० 9.86.12.
37. विश्वाभिर्मतिभिः परिष्कृतम् । ऋग्० 9.86.24.
38. स सूर्यस्य रश्मिभिः परि व्यत तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे ।
नयनृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतम् ।
ऋग्० 9.86.32.
39. रेतोधाः सुवीरः विश्ववित् । ऋग्० 9.86.39.
40. ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्वीर उशना काव्येन ।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम् ।
ऋग्० 9.87.3.
41. शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळहः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥
ऋग्० 9.90.3.
42. वचोवित् । ऋग्० 9.91.3.
43. विश्वेषु काव्येषु रन्ता । ऋग्० 9.92.3.
44. सीदन् वनस्य जठरे । ऋग्० 9.95.1.
45. कविर्गीभिः काव्येना कविः । ऋग्० 9.96.17.
46. भद्रा वस्त्रा समन्याऽवसानो महान् कविर्निवचनानि शंसन् ।
ऋग्० 9.97.2.
47. सत्यमन्मा । ऋग्० 9.97.48.

48. अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षे ।	ऋग्० 9.97.50.
49. वाचस्पतिः ।	ऋग्० 9.101.5.
50. परि णेता मतीनाम् ।	ऋग्० 9.103.4.
51. धीभिर्हिन्वन्ति वाजिनं वने क्रीळन्तम् ।	ऋग्० 9.106.11.
52. वाचं जनयन् ।	ऋग्० 9.106.12.
53. जागृविः विप्रः ।	ऋग्० 9.107.6.
54. युवा ।	ऋग्० 9.14.5.
55. सोमो वधूयुरभवत् ।	ऋग्० 10.85.9.

इन मन्त्रों और मन्त्रखण्डों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—

(1) वह सोम ज्ञान की बातें बोलता है, ज्ञान को ही धन समझता है, सत्य का उपदेश करता है और सत्यपूर्ण ही कर्म करता है। (2) बुद्धि में वाणियों को—विद्याओं को धारण करता है। (3) युद्धों में शत्रु सेनाओं का मुकाबला करता है। (4) नई-नई ज्ञान-चर्चाओं के लिए मार्ग साफ करता है और अपने से पुराने लोगों की भाँति ही ज्ञान के प्रकाश को फैलाता है। (5) विलक्षण समझने की शक्तिवाला है, ऋतु अर्थात् ज्ञान और कर्म से युक्त है, क्रान्तदर्शी विद्वान् है। (6) 'सेनाओं' का पति होता हुआ वह वली चमकता हुआ सुवर्ण सज्जित सिपाहियों के साथ चलता है। (7) ये सोम परिश्रम करते हुए कभी थकते नहीं। (8) ये सोम सभी प्रकार के काव्यों¹ अर्थात् गहरे ज्ञानों की रचना करते हैं। (9) ये सोम आयु² अर्थात् मनुष्य हैं और हर्षकारक पदार्थों को पवित्र करते हैं। (10) सोम बड़ा उत्तम वीर है। (11) वह मनुष्यों द्वारा सुशिक्षित किया जाता है। (12) यह सब कुछ जानता है और मनुष्यों द्वारा सुशिक्षित किया जाता है। (13) वह सब कुछ जानता है और मन का पति अर्थात् मनस्वी है। (14) इसको वनों में शिक्षा दी जाती है। (15) नगरों से दूर सुन्दर जंगलों में बनी हुई शिक्षा संस्थाओं अर्थात् गुरुकुलों की ओर कितना स्पष्ट इशारा है ! वह सोम व्यापार आदि द्वारा धनों को जीत कर लाने वाला है। (16) हे लोक की रक्षा करने वाले सोम हम तुझ उत्तम शस्त्रधारी की मित्रता चाहते हैं। (17) हे वीरों से युक्त और वीर सोम तेरी सहायता से हम पर सेनाओं द्वारा आक्रमण करने वाले शत्रुओं को जीत सकें, तू हमारे लिए अपना वरणीय रक्षण बहा दे। (18) सबको पवित्र करने वाले, सबको बसाने वाले और धर्म के रक्षक इस सोम के प्रभाव से ही सब जनता अपने-अपने काम कर सकती है। (19) वह ऐसा वीर विप्र है कि अपने ज्ञान की सदा वृद्धि करता रहता है। (20) ये सोम अपने कर्मों से इन्द्र अर्थात् सम्राट् की महिमा को बढ़ाते हैं। (21) वह सोम वाणी अर्थात् उत्तम उपदेश से उत्पन्न होता है। (22) हे सोम तेरे जो तीखे और भयंकर शस्त्रास्त्र हैं, हे दुश्मनों को कंपाने वाले, उनसे तू हमारे निदकों

¹ कवेर्भावः काव्यम् । कविः क्रान्तदर्शनो भवति । निरु० 12.2.12.

² आयुरिति मनुष्यनामसु पठितम् । निघ० 2.3.

से हमारी रक्षा कर। (23) ये सोम दुराचरणों को मारने वाले हैं। (24) राष्ट्र की रक्षा चाहने वाले विप्र लोग इस मांजने योग्य सोम को अपनी वाणियों से मांजकर कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी विद्वान् बनाते हैं, और फिर यह कल्याणों की वर्षा करने वाला सोम गर्जता हुआ चलता है। (25) यह चेतन है और ज्ञानियों का प्यारा है। (26) इस रसाद्रं, गौरवान्वित और वीर्यवान् अपने-अपने सोम को कल्याणकामिनी बहिनें और पत्नियाँ उत्तम कर्म के लिए प्रेरणा करती हैं। (27) यह सोम विवाह के समय मुकुटधारी, अपने लिए हमारी कन्याओं में से किसी वृता द्वारा दिये हुए मधु को खाता है। (28) यह विद्वान् सोम माँ के गर्भ से नहीं उत्पन्न हुआ, यह तो ज्ञान के गर्भ में था और यम-नियमों का पालन कर रहा था, इस प्रकार गुरुओं के चतुर और समर्थ मन से यह उत्पन्न होता है, यह युवक सोम ही इस प्रकार उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत दोनों ही युवक (यूना) अर्थात् युवक और युवतियाँ इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं, यही इनका प्रथम अर्थात् मुख्य जन्म है, अज्ञानी लोगों के लिए यह जन्म तो इनका छिपा ही रहता है, उनके लिए तो इनका एक जन्म अर्थात् माँ के पेट से उत्पन्न होना ही स्पष्ट होता है। (29) जब यह सोम वधुयू होता है अर्थात् विवाह की इच्छा करने लगता है और इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम के वस्त्र वृक्षों की छाल में शिथिलता करता है अर्थात् उसे उतारता है तो किसी भोग-विलास की कामना से ऐसा नहीं करता प्रत्युत राष्ट्र की रक्षा के ख्याल से (अव्ये) ऐसा करता है, यह ज्ञान प्राप्त करता है और पृथिवी माता की सन्तानों को उस ज्ञान के द्वारा पवित्र करता है, यह सब के मनों को हरने वाला, पूजनीय, संयमी, सबको हर्षित करने वाला (मदः) सोम व्यवहारों में विचरण करता है (अक्रान्) और धनों का संग्रह करता हुआ राजा की तरह शोभा पाता है। (30) यह सोम ज्ञान की जिह्वा है, सबको ज्ञान द्वारा पवित्र करता है, मधुर और प्रिय वाणी बोलता है, ज्ञान का किसी से न दबने वाला पति है—वाचस्पति है, ज्ञान की प्रकाशमान स्थिति में बैठा हुआ यह माता-पिता को एक छिपा हुआ तीसरा नाम दे देता है। (31) अर्थात् एक तो माता-पिता का अपना-अपना नाम होता है जिस से लोग उन्हें बुलाते हैं, दूसरा नाम पति-पत्नी के आधार पर होता है—लोग कहते हैं यह अमुक योग्य पुरुष की पत्नी है, यह अमुक योग्य स्त्री का पति है। अब तीसरा नाम इस योग्य सोम ने यह दिलाया है कि वह अमुक आदमी इस योग्य पुत्र का पिता है, वह अमुक स्त्री इस योग्य पुत्र की माता है। यह विद्वान् है। (32) यह राजा है अथवा गुणों से चमकने वाला है। (33) मनुष्यों को परखने वाला ज्ञानी है। (34) हे वाग् देवता के पुत्र सोम सुन मैं तुझे कहता हूँ, वाणियों के—विद्याओं के अन्दर विचरण कर, जीवनदान कर, हमारे शत्रुओं के मुकाबले में अनिन्द्य होकर जागता रह। (35) हे सोम तू ब्रह्म अर्थात् वेद का पति है—उसका जानने वाला और रक्षक है। (36) वह उत्तम शस्त्रधारी है, विद्याओं में जाता है और आगे-आगे चलता है। (37) वह सब प्रकार के ज्ञानों से परिष्कृत किया गया है। (38) यह इतना तेजस्वी है कि मानो सूर्य की किरणों

से परिवेष्टित है, इसने तीन घागों वाला तन्तु अर्थात् यज्ञोपवीत पहना हुआ है जिससे यथावत् विचार्यें पढ़ सके, यह ज्ञान के नये-नये आविष्कारों को आगे ले जाता है और इस प्रकार ज्ञान से अपनी उत्पन्न करने वाली प्रजाओं के ऋण से छुटकारा पाता है। (39) इसने अपने अन्दर ब्रह्मचर्यपूर्वक वीर्य धारण किया है, यह उत्तम वीर है और सब कुछ जानने वाला विद्वान् है। (40) यह ऋषि है, विप्र है, मनुष्यों के आगे चलने वाला उनका नेता है, कुशल शिल्पी है, धीर है, ज्ञान से सब कुछ जानना चाहता है, वाणियों का जो छिपा हुआ रहस्य—मर्म है उसे भी यह जानता है। (41) हे सोम तू शूरों के समूह में रहता है, तेरे सारे ही साथी-संगी वीर हैं, तू सहनशील है, विजेता है, धनों का देने वाला है, हमें पवित्र कर, तू तीक्ष्ण शस्त्रधारी है, तेजी से धनुष चलाने वाला है, युद्धों में असह्य है, शत्रुओं का युद्धों में पराभव करने वाला है। (42) वचनों का समझने वाला है। (43) सभी प्रकार के काव्यों अर्थात् गहरे ज्ञानों में रमण करने वाला है। (44) वन के बीच में रहता है। फिर यहाँ गुरुकुल की ओर इशारा है। (45) वह वाणियों द्वारा कवि है और ज्ञान द्वारा गहरा ज्ञानी है। (46) वह सुन्दर वचन बोलता है। (47) सत्य का मनन करने वाला है, उसका मर्म समझता है। (48) हे सोम तू सुन्दर वस्त्र पहन। (49) सोम वाचस्पति है। (50) वह मतियों का, मननशील बुद्धियों का, परिणेत (हल्हा) है। (51) वन में खेलते हुए उसको बुद्धियों से अर्थात् ज्ञान-चर्चाओं से तृप्त करते हैं। फिर गुरुकुलों की ओर निर्देश है। (52) वह वाणी अर्थात् ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। (53) वह सदा जागने वाला विप्र है। (54) वह युवा है। (55) वह वधू की कामना करने वाला होता है।

इन वर्णनों को पढ़कर किसी के मन में सन्देह नहीं रह सकता कि इन मन्त्रों में वर्णित सोम कोई बूटी या अन्य जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। वह मनुष्य ही हो सकता है। ये कुछ थोड़े से वर्णन उपस्थित कर दिये गये हैं। वेद में सोम के ऐसे सैंकड़ों वर्णन आते हैं।

अब पाठकों के मन में यह प्रश्न होगा कि माना कि सोम का अर्थ सब जगह बूटी या चन्द्र आदि जड़ पदार्थ नहीं हो सकता, परन्तु इसका अर्थ गुरुकुल का स्नातक (graduate) कैसे हो गया ? इसका अर्थ कोई भी विद्वान् पुरुष हो सकता है। गुरुकुल का स्नातक अर्थ करने में हमारे पास यह युक्ति है कि—

(1) एक तो जैसे अभी हमने ऊपर देखा है सोम के सम्बन्ध में,

(i) एष वनेषु विनीयते ।

(ii) सीदन् वनस्य जठरे ।

(iii) धीभिर्हिन्वन्ति वाजिनं वने क्रीडन्तम् ।

इन मन्त्रों में कहा गया है कि उसे जंगलों में, गुरुकुलों में, रखकर शिक्षित किया जाता है।

(2) दूसरे उसे अनेक प्रसंगों में युवा कहा है। साथ ही जैसे अभी हमने ऊपर

देखा है सोम को 'नू नव्यसे नवीयसे सूक्ताय साधया पथः, प्रत्नवद् रोचया रुचः' इत्यादि मन्त्रों में यह कहा गया है कि तू ज्ञान आदि में नवीनता बेशक ला परन्तु पुरानों का मार्ग मत छोड़ना। इन वर्णनों से भी यही ध्वनित होता है कि वह युवक है।

(3) तीसरे उसे 'वधूयुः' कहा है अर्थात् अभी उसका विवाह नहीं हुआ है। वह पढ़ लिखकर योग्य बनकर युवक होने पर वधू की कामना करने लगा है। ऊपर आया 'वह हमारी कन्याओं में से किसी वृता द्वारा विवाह के समय मधु खाता है' यह वाक्य भी 'वधूयुः' शब्द के भाव का ही समर्थन करता है। सारे वेद में सोम के सिवाय और किसी देवता को 'वधूयुः' नहीं कहा है।

इन युक्तियों से यह स्पष्ट है कि सोम ऐसा विद्वान् है जो युवक है, अभी-अभी शिक्षा-संस्थाओं से, गुरुकुलों से, विद्या पढ़कर आया है और गृहस्थाश्रम में प्रवेश की तैयारी कर रहा है—अर्थात् गुरुकुलों का स्नातक है। तीनों वर्णों के ही स्नातक को सोम कहा गया है। क्योंकि सोम के वर्णन ऐसे हैं जो कोई ब्राह्मण पर घटते हैं, कोई क्षत्रिय पर और कोई वैश्य पर। इस प्रकार सोम के पुरुषवाची अर्थ में सामान्यतः उसका अर्थ स्नातक¹ है और कई स्थलों में उसका अर्थ न्यायाधीश और संन्यासी और सामान्य गृहस्थ आदि भी हो जाता है क्योंकि ये सभी सोम अर्थात् स्नातक हो चुके होते हैं। वह नया सोम है, ये पुराने सोम होते हैं।

ओषधि पर और अधिक विचार

इस प्रकार हमने देखा कि सोम गुरुकुल के स्नातक को कहते हैं। यदि सोम स्नातक हुआ तो उससे सम्बन्ध रखने वाली 'ओषधियाँ' क्या होंगी? पहले ओषधि शब्द का शब्दार्थ देखिये। निरुक्त 9.3.26. में ओषधि का निर्वचन इस प्रकार दिया है—'ओषधय ओषद् धयन्तीति वा, ओषति एना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा।' अर्थात् ओषधियों को ओषधि इसलिए कहते हैं कि 'ये मनुष्य को जला रहे रोग को पी डालती हैं, अथवा जला रहे रोग के उपस्थित होने पर लोग इन्हें पीते हैं, अथवा ये दोष को पी लेती हैं।' ओषधि शब्द की एक और निरुक्ति होती है—'ओषं दधतीति वा, ओषोधीयत आभिरिति वा ओष आसु धीयत इति वा।' अर्थात् 'जो गरमी धारण करती हैं, अथवा जिनके द्वारा गरमी धारण की जाती है या जिनमें गरमी धारित रहती है।' पहली निरुक्ति 'ओष' पूर्वक, जिसका अर्थ गरमी होता है, 'घेद् पाने' धातु से 'कि' प्रत्यय करने पर बनती है और दूसरी निरुक्ति 'ओष' पूर्वक 'डुधान् धारणे' धातु से 'कि' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होती है। दोनों ही अर्थ प्रसिद्ध ओषधियों में घटते हैं। वे बीमारी की रोगजन्य अनभीष्ट गरमी को पी डालती हैं, उस बीमारी के कारण दोषों को पी डालती हैं, इस प्रकार पहले अर्थ में भी ओषधियाँ ओषधियाँ ही हैं। वे जिसकी बीमारी या अन्य किसी कारण से गरमी निकल गई है उसके

¹ सोम का अर्थ गुरुकुल का स्नातक होता है इस विषय में जो अधिक विस्तार से देखना चाहें वे पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार की 'सोम' नामक पुस्तक देखें।

शरीर में गरमी डालती हैं—ठण्डे पड़े हुए को जीवन की उष्णता प्रदान करती हैं, इस प्रकार दूसरे अर्थ में भी वे ओषधियाँ ही हैं। संस्कृत में ओषधि का एक अर्थ अनाज भी होता है। अनाज अर्थ में तो ओषधि की दूसरी निरुक्ति ही घटती है। अनाज खाने से हमारे शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है जिसके कारण हम जीते रहने में समर्थ होते हैं। ओषधियों का गरमी देने से—जीवनोपयोगी उष्णता और बल प्रदान करने से—भी सम्बन्ध है यह 'अग्नेर्वा एषा तनुः यदोषधयः' (तै० 3.2.5.7), 'ओषधयः खलु वै वाजः' (तै० 1.3.7.1) इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों से अनुमोदित है। इस प्रकार ओषधि वह हुई जो अनुचित गरमी को, दोष को, पी डाले—शान्त कर दे—और जीवनोपयोगी आवश्यक गरमी को प्रदान करे। क्योंकि प्रसिद्ध ओषधियों और अनाज में यह अर्थ घटता है इसलिए उन्हें भी ओषधि कहते हैं। और भी जहाँ यह अर्थ घटेगा उसे भी ओषधि कहा जायेगा। हमने ऊपर सोम का एक अर्थ स्नातक भी होता है यह दिखाया है। अब स्नातक के साथ सम्बन्ध रखने वाली ओषधियाँ क्या होंगी? किन ओषधियों में रहने से, किन ओषधियों का सेवन करने से स्नातकों की अनुचित गरमी—उनके दोष—शान्त होती है और जीवन के लिए आवश्यक गरमी उनमें उत्पन्न होती है? ऐसी ओषधियाँ शिक्षा-संस्थाएँ—गुरुकुल—हैं। शिक्षा-संस्थाओं में रहने से स्नातक की गर्व, घमण्ड, काम, क्रोधादि की गरमी बुझा दी जाती है और उसके लोभ, मोह और असत्य भाषणादि दोष दूर कर दिये जाते हैं, तथा उसमें ब्रह्मचर्य, विज्ञान, बुद्धि की प्रखरता, उत्साह, स्वात्माभिमान, अपने राष्ट्रीय आदर्शों और मनुष्य जाति के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग (self-sacrifice) की उमंग आदि की गरमी भर दी जाती है। इस प्रकार आदर्श शिक्षा-संस्थाएँ जहाँ स्नातकों के मानसिक दोषों को दूर करने वाली होने के कारण ओषधियाँ हैं, वहाँ वे उनमें जीवनोपयोगी गरमी भरने के केन्द्र स्थान (national heat-centres) होने के कारण भी ओषधियाँ हैं। हम, ओषधियों का एक अर्थ शिक्षा संस्थाएँ भी होता है, यह कोई निरा अपनी कल्पना से ही कह रहे हैं पाठक ऐसा न समझ लें। शतपथ 13.8.1.20 में कहा है कि पितर लोग ओषधि लोक में रहा करते हैं—'ओषधिलोको वै पितरः।' अब उचित पद्धति से वेदों और वैदिक शास्त्रों का अध्ययन करने वाले सज्जन जानते हैं कि 'पितरः'¹ वानप्रस्थी लोगों को कहते हैं। वैदिक मर्यादा के अनुसार वानप्रस्थी लोग गृहस्थ का सांसारिक जीवन त्याग कर नगरों से बाहर जंगलों में बने हुए गुरुकुलों में चले जाते हैं और वहाँ योगाभ्यासादि द्वारा आत्मिक उन्नति करते हैं तथा जाति के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा देते हैं। इसलिये पितरों के निवास स्थान ओषधिलोक का अर्थ शिक्षा-संस्थाएँ—गुरुकुल—ही हो सकता है। इस प्रकार हमने ओषधियों का अर्थ शिक्षा-संस्था करने में कोई अनौचित्य नहीं किया है।

इसलिए पर्णमणि सूक्त के अर्थाधीन उक्त प्रथम मन्त्र में आये 'ओषधीनां पयः'

¹ इस सम्बन्ध में जो अधिक जानना चाहें वे ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ और आर्यसमाज का दूसरा साहित्य देखें। विशेषकर पं० बुद्धदेव जी की 'स्वर्ग' नामक पुस्तक देखें।

इस वाक्य का अर्थ वही हुआ जो हमने किया है कि 'यह शिक्षा संस्थाओं का सारभूत है।' इसका भाव यह हुआ कि सम्मतिप्रदाता (वोटर, voter) सारे-के-सारे शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षित लोग हैं, उनके मानसिक विकार वहाँ धुल चुके हैं, इनमें ऊँची भावनायें ही काम कर रही हैं, इसलिए उनकी सम्मति का जो परिणाम होगा वह एक सार वस्तु होगा—वह राष्ट्र के लिए वास्तव में कल्याणकारी होगा। सूक्त में बोल रहा प्रार्थी (candidate) एक विशेष आत्मविश्वास के साथ बोल रहा है जिसका भाव यह है कि वह अनुभव कर रहा है कि जनता की सम्मति उसी पर आकर पड़ेगी।

शिक्षा-संस्थाओं को भी मताधिकार

'ओषधीनां पयः'—शिक्षा-संस्थाओं का सार—इस वाक्य से एक ध्वनि यह भी निकलती है कि शिक्षा-संस्थाओं को भी चुनाव में एक विशेष अधिकार रहना चाहिए—उनका अपना अलग एक निर्वाचन क्षेत्र (constituency) होना चाहिए जिससे शासन पर शिक्षा-संस्थाओं के विचारों का भी प्रभाव पड़ सके। सूक्त के छंदे और सातवें मन्त्र में बताया गया है कि प्रजा के सामान्य झीमर, रथकार आदि सभी को मत देने का अधिकार होना चाहिए। 'ओषधीनां पयः' इस वाक्य से यह ध्वनित किया गया है कि शिक्षा-संस्थाओं का भी चुनाव में एक विशेष स्थान होना चाहिए।

जिन्हें हमारे ऊपर के अर्थों में खींचातानी प्रतीत होती हो—हमें तो इसमें कोई खींचातानी प्रतीत नहीं होती, हमारा अर्थ धात्वर्थ-सहकृत और प्रमाणपुष्ट है—वे ओषधि का सीधा धात्वर्थ 'गरमी धारण करनी वाली, उष्णतायुक्त' लेकर इसका अर्थ साधारण सम्मतिदाता लोग (वोटर) कर लें। चुनाव के दिनों में लोगों में कितनी गरमी होती है यह चुनावों का ज्ञान और अनुभव रखने वाले लोग अच्छी तरह जानते हैं। प्रार्थी कह रहा है कि वह जो मत मुझे मिल रहा है वह इन गरमी से भरे हुए लोगों की सम्मति का सारभूत है। जिन्हें इस अर्थ में भी कृच्छ्राकर्षण (खींचातानी) ही प्रतीत होती हो वे 'ओषधीनां पयः' का बिल्कुल प्रचलित अर्थ ही कर लें। इसे उपमा (रूपक) वाक्य समझ लें। जैसे गीता में कृष्ण ने अपने लिए 'ऋतूनां कुसुमाकारः'—अर्थात् 'ऋतुओं में मैं वसन्त ऋतु हूँ' आदि वाक्य करें हैं। उसका भाव इतना ही होता है कि जैसे ऋतुओं में वसन्त ऋतु श्रेष्ठ है ऐसे ही मैं भी श्रेष्ठ हूँ। इसी प्रकार 'ओषधीनां पयः'—'यह पूर्ण ओषधियों का सार है'—इस वाक्य का अर्थ भी यह होगा कि जैसे ओषधियों का रस एक सार वस्तु होता है, काम की चीज होता है, चाहने योग्य वस्तु होता है, उसी प्रकार यह पूर्ण भी—तदुपलक्षित मत भी—एक सार पदार्थ है, काम की चीज है, चाहने योग्य वस्तु है।

पाठक यहाँ एक चीज और देखें। यदि पूर्ण का अर्थ पलाश की बनी हुई मणि अर्थात् ताबीज ही होता तो उसे 'ओषधीनां पयः' कहने में क्या सुन्दरता होती? एक प्रकार की ओषधि तो वह है ही। फिर इस उपमा (रूपक) का अभिप्रायः क्या हुआ।

इससे प्रतीत होता है कि पर्ण का अर्थ यहाँ पलाश नहीं है। उसका अर्थ यहाँ कुछ और है। इसीलिए उसे 'ओषधीनां पयः' कहकर उपमा दी गई है वह अर्थ निर्वाचन-पत्र है यह हम दिखा चुके हैं। अब सूक्त के अगले मन्त्र देखिये—

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम् ।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥

अर्थात्—(पर्णमणे) हे संवरणपत्र—तदुपलक्षित मतदाताओं के हे मत ! (मयि) मुझ में (क्षत्रं) राष्ट्र के बल अथवा क्षत्रिय शक्ति को (मयि) मुझ में (रयिम्) राष्ट्र के ऐश्वर्य को (धारयताद्) धारण करा (अहं) मैं तेरी कृपा से (राष्ट्रस्य) राष्ट्र की (अभीवर्गे)¹ प्राप्ति में (निजः) राष्ट्र का अपना और (उत्तमः) अन्य सबसे उत्कृष्ट (भूयासम्) हो जाऊँ। 'राष्ट्रस्याभीवर्गे' का अर्थ 'राष्ट्र के मण्डल में' ऐसा भी हो सकता है। तब उत्तरार्ध का अर्थ यह होगा कि मैं इस राष्ट्र के मण्डल में इसका अपना और अन्यो से उत्कृष्ट हो जाऊँ।'

किसी भी व्यक्ति को राष्ट्र का क्षत्र अर्थात् बल या उसकी सैन्य आदि के रूप में क्षत्रिय-शक्ति, तथा ऐश्वर्य जनता की सम्मति प्राप्त करने से ही मिल सकते हैं। राष्ट्र की प्राप्ति भी तभी हो सकती है। 'उत्तमः' का भाव यहाँ यह है कि मुझे ही सबसे अधिक सम्मतियाँ प्राप्त हों। सम्मति प्राप्त करने में मुझसे उत्तम कोई न हो सके।

यं निदधुर्वनस्पतौ गृह्यदेवाः प्रियं मणिम् ।

तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥

अर्थात्—(यं) जिस (गृह्य) सम्भाल कर रखने योग्य (प्रियं) प्यारे इस (मणिम्) निर्वाचनपत्र रूप मणि को—तदुपलक्षित मतदाताओं के मत को (देवाः) विद्वन् पुरुषों ने (वनस्पतौ)² सेवनीय प्रजाओं के रक्षक, ज्ञान की रक्षा करने वाले, हिंसाओं से—नाश से प्रजाओं को बचाने वाले, प्रजा की माँगों को पूरा करने वाले राष्ट्रपति में (निदधुः) रखा है (तं) उस पर्णमणि को (देवाः) प्रजा के विद्वान्, व्यवहार-कुशल लोग (आयुषा) आयु के साथ (अस्मभ्यं) हमें (ददतु) देवें (भर्तवे) प्रजाओं का भरण करने के लिए।

पर्ण, तदुपलक्षित मत (वोट, vote), एक गृह्य वस्तु है। संवृत करके, ढकके,

¹ अभीवर्गे आवर्जने स्वाधीनीकरणे, अभिपूर्वाद् वृजेभवे षञ् इति सायणः। यद्वा अभितो वर्गो मनुष्यादि समूहो यस्मिन् तस्मिन् राज्यमण्डले। अभि पूर्वाद् वृजीवर्जने इत्यस्माद् भावे षञ् उपसर्गस्य घञ् बाहुलको दीर्घः।

² पतिः पाता वा पालयिता वा। निरु० 8.1.3, 10.4.41, 10.2.18. वनस्पतिः वनानां पाता वा पालयिता वा। निरु० 8.1.3, वन संभक्तौ, वनानां संभजनीयानां सेवनीयानां प्रजानां पाता वा पालयिता वा। वनशब्दे, वनानां वाचां ज्ञानानां पाता वा पालयिता वा। वनहिंसायाम्, वनेभ्यः हिंसकेभ्यः प्रजानां पाता वा पालयिता वा। वनु याचने, वनानां प्रजानां याचनानां पाता वा पालयिता वा तद्विच्छानां पूरयितेति यावत्, वनस्पतिरेतद्गुणविशिष्टो राष्ट्रपतिः।

सम्भाल के रखने की चीज है। कोई भी प्रार्थी अपने मतों को बिखर जाने देना पसन्द नहीं कर सकता। वह उन्हें बटोर कर काबू में रखने का प्रयत्न करता है।

वह प्रिय भी है। प्रार्थी के लिए वह कितना प्रिय होता है यह चुनावों से सम्बन्ध और उनका ज्ञान रखने वाले अच्छी तरह जानते हैं।

‘देवाः वनस्पतौ निदधुः’—विद्वानों ने उसे राष्ट्रपति में रखा है—इसका भाव भी स्पष्ट है। सारे मतों का विभाजन और निरीक्षण राष्ट्रपति अर्थात् राष्ट्रपति से उपलक्षित राज्य-प्रशासन ही करता है, राज्य ही देखता है किसे मत देने का अधिकार है, किसे नहीं। वही इस बात का निरीक्षण करता है कि मत उचित रीति से दिये जा रहे हैं या नहीं।

‘सह आयुषा’—आयु के साथ—का भाव यह है कि प्रार्थी के चुन लिये जाने पर वह अपने को गौरवान्वित और प्रसन्न अनुभव करता है। इस प्रसन्नता से उसकी आयु की भी अगिवृद्धि होती है। या इसका यह भी भाव हो सकता है कि प्रार्थी कहता है कि मुझे राजा चुनकर आयु अर्थात् राज्य करने का खुला अवसर भी दो जिससे मैं अपनी योग्यता दिखा सकूँ।

‘भर्तवे’—भरण पोषण के लिए—इसका भाव यह है कि प्रार्थी का चुनाव के लिए खड़ा होने में मुख्य उद्देश्य प्रजा का भरण-पोषण होना चाहिए, प्रजा के कल्याण की भावना होना चाहिए।

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥

अर्थात्—(पर्णः) यह संवरणपत्र—तदुपलक्षित मत (सोमस्य) सोम का (सहः) बल और उग्रम् तेज है (इन्द्रेण) सम्राट् ने (दत्तः) इसे मुझे दिया है (वरुणेन) वरुण ने (शिष्टः) इसकी मुझे अनुमति दी है (बहु रोचमानः) अपने गुणों से खूब चमकता हुआ मैं (तं) उस पर्ण को, तदुपलक्षित मत को (प्रियासं)¹ प्रसन्न करूँ। प्रजाओं की (शतशारदाय) सौ वर्ष की (दीर्घायुत्वाय) लम्बी आयु के लिए।

इन्द्र का अर्थ हम दिखा चुके हैं कि सम्राट् होता है। ‘इन्द्रेण दत्तः’—इन्द्र ने इसे मुझे दिया है—इस वाक्य का अर्थ यह है कि सम्राट् अर्थात् तदुपलक्षित सरकार ने मुझे चुनाव के लिए खड़ा होने की अनुमति दे दी है। ‘सोम’ का अर्थ राज्य प्रकरणों में न्यायाधीश और ‘वरुण’ का अर्थ पुलिस का अध्यक्ष होता है यह हम आगे यथावसर दिखायेंगे। यहाँ ‘वरुणेन शिष्टः’ का भाव यह है कि पुलिस विभाग ने भी चुनाव में खड़ा होने के लिए मेरा रास्ता साफ़ कर दिया है, मुझ पर लांछन या अपराध का आरोप नहीं है। और ‘सोमस्य सह उग्रं’ कहने का भाव यह है कि न्याय-विभाग को भी मेरे चुनाव के लिए खड़ा होने में कोई आपत्ति नहीं है। पुलिस और न्याय-विभाग को जब किसी व्यक्ति के चुनाव के लिए खड़ा होने में कोई आपत्ति नहीं

¹ प्रबिन्ध् तर्पण आशीर्लिङ्गि रूपम्।

होगी—उसके निर्णय उसके अनुकूल होंगे, तभी सरकार उसे चुनाव के लिए खड़ा होने दे सकती है। यह मन्त्र के पूर्वाह्न का भाव और उसकी शिक्षा है। चुनाव में राज्य के इन विभागों का कितना हाथ होता है और होना चाहिए यह इन विषयों के पण्डित लोग अच्छी तरह जानते हैं।

‘तं प्रियासं बहु रोचमानः’ का भाव यह है कि प्रार्थी कहता है कि मैं अपने गुणों से सम्मति दाताओं को इतना प्रसन्न कर लूँ कि सारी सम्मतियाँ मुझे ही प्राप्त हों।

‘दीर्घायुत्वाय शतशारदाय’ का भाव यह है कि प्रजा के कल्याण की अभिवृद्धि की भावना से, उनके सुख-चैन को बढ़ाकर उनकी आयु लम्बी करने की भावना से, ही किसी व्यक्ति को राजा बनाने के लिए खड़ा होना चाहिए। प्रजा के मंगल की भावना ही उसमें मुख्य हो।

आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।

यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥

अर्थात्—(पर्णमणिः) यह पर्णमणि, तदुपलक्षित मतदाताओं का मत (मा) मुझे (आ + अरुक्षत्)¹ चारों ओर से राजसिंहासन पर आरोहण करवाये (मह्या) महान् (अरिष्टतातये) प्रजाओं के मंगल के लिए—जिससे मैं सिंहासन पर बैठकर खूब मंगल कर सकूँ। इस पर्ण की महिमा से ऐसा हो (यथा) जिससे (अहम्) मैं (अर्यम्णः)² बलियों से अथवा धनिकों से और (संविदः) ज्ञानिकों से (उतरः) उत्कृष्ट (असानि) हो जाऊँ।

लोगों द्वारा चुना जाकर राजा बनने पर कोई व्यक्ति सम्राट् की हैसियत में प्रजा के सब प्रकार के लोगों से श्रेष्ठ हो ही जाता है।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारो ये मनीषिणः ।

उपस्तीन्पर्णं मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥

अर्थात्—(ये) जो (धीवानः) क्षीमर लोग हैं (रथकाराः) रथादि बनाने वाले बढ़ई लोग हैं (कर्मारो) लोहे आदि धातुओं का काम करने वाले कारीगर हैं (ये) जो (मनीषिणः) बुद्धिजीवी लोग हैं (पर्णं) हे संवरणपत्र (सर्वान्) उन सब (जनान्) लोगों को (अभितः) चारों ओर से (मह्यं) मेरे लिए (उपस्तीन्) अनुकूल (कृणु) कर दे।

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।

उपस्तीन्पर्णं मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥

अर्थात्—(ये) जो (राजकृतः) राजा को बनाने वाले (राजानः) राजा लोग हैं (ये) जो (सूताः) रथादि हाँकने वाले लोग हैं (च) और (ग्रामण्यः) ग्रामों को चलाने वाले कृषकादि लोग हैं। (सर्वान्) उन सब (जनान्) लोगों को (पर्णं) हे संवरण पत्र

¹ छन्दसि लुङ्लङ्लिट इति लोटः स्थाने लुङ् अन्तर्भावितव्यर्थः ।

² अरीन् यमयतीति अर्यमा अधिकबलः पुरुषदाता च । अर्यमा अधिक धन इति सायणः ।

(अभितः) सब ओर से (मह्य) मेरे लिए (उपस्तीन्) अनुकूल (कृणु) कर दे ।

पर्ण का अर्थ संवरण पत्र ही होना चाहिए यह इन दोनों मन्त्रों के वर्णन से कितना स्पष्ट है ! क्योंकि इस सूक्त से पहले सूक्त में 'इन्द्रेन्द्र' अर्थात् सम्राटों के सम्राट् के चुनाव का वर्णन है, इन्द्रेन्द्र के चुनाव में राजाओं की भी सम्मति ली जानी चाहिए इसलिए इस प्रस्तुत सातवें मन्त्र में 'ये राजानो राजकृतः' ऐसा कहा गया है । अथवा इन दोनों मन्त्रों में गिनाये गये सामान्य प्रजा के लोगों को ही, राजा बनाने वाले होने से असल में तो वे ही राजा हैं इस भाव से, 'राजानो राजकृतः' कह दिया है, ऐसा भी समझा जा सकता है ।

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।

संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥

अर्थात्—(मणे) हे संवरण पत्र रूप मणि—तदुपलक्षित मत ! (वीरः) तू वीर (मया) मुझे (वीरेण) वीर के साथ (सयोनिः) एक सूथान वाला होकर (तनूपानः) प्रजाजनों के शरीरों की रक्षा करने वाला (पर्णः) सचमुच पर्ण (असि) हो जायेगा (तेन) इसीलिए (संवत्सरस्य) सब को अपने भीतर बसाने वाले राष्ट्र के (तेजसा) तेज से युक्त (त्वा) तुझको (बध्नामि) मैं अपने अधिकार में करता हूँ ।

'पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया'—मन्त्र के इस पूर्वार्द्ध का भाव यह है कि प्रार्थी कह रहा है कि यदि प्रजा की सम्मतियाँ मुझे मिल गईं तो यह पर्ण—संवरणपत्र—वास्तव में पर्ण बन जायेगा । पर्ण का धात्वर्थ है पालना करने वाला । मैं क्योंकि राज्यासीन होकर प्रजाओं की पालना करूँगा इसलिए मुझे सिंहासन पर बैठाने का कारण होने से यह पर्ण असल में पर्ण हो जायेगा । क्योंकि राजा की वीरता के सहायक सेना आदि उसी के कारण मिलते हैं इसलिए आलंकारिक ढंग से पर्ण को वीर कह दिया है । अथवा, किसी के प्रेम और भय के दबाव में न आकर उचित आदमी को अपनी सम्मति (वोट) देने के लिए भी एक प्रकार की वीरता की आवश्यकता होती है, इस अभिप्राय से भी पर्ण को वीर कहा जा सकता है ।

संवत्सर का अर्थ साधारण तौर पर वर्ष होता है । इसका शब्दार्थ है बसाने वाला । क्योंकि वर्ष में सब बसते हैं इसलिए उसे संवत्सर कह देते हैं । यहाँ राज्यपरक अर्थों में संवत्सर का अर्थ सबको बसाने वाला राष्ट्र करना होगा । पर्ण में—संवरण पत्र में, तदुपलक्षित सम्मतियों में—राष्ट्र का तेज होता ही है । उसके द्वारा ही राष्ट्र के लोग अपना तेज प्रकट करते हैं । इसलिए पर्ण को राष्ट्र के तेज से युक्त कहा है ।

'बध्नामि' का अर्थ हमने 'अधिकार में करता हूँ' ऐसा कर दिया है । 'बन्ध' धातु का अर्थ 'बन्धन' होता है । बन्धन का अर्थ साधारण तौर पर रस्सी आदि से किसी चीज़ को बाँधना समझा जाता है । पर सर्वत्र बन्ध का अर्थ इसी प्रकार का बन्धन नहीं होता । 'प्रेमबद्ध', 'बद्धामिलाप', 'बद्धतृष्ण', 'भावबद्ध', 'वचनबद्ध' आदि प्रयोगों में रज्जुजन्य बन्धन से भिन्न प्रकार के अर्थ भी होते हैं । ऐसे प्रयोगों में बन्धन

का अर्थ अधिकार में करना, वश में करना आदि होते हैं। इसलिए हमने 'बघ्नामि' का अर्थ 'रस्सी से बाँधता हूँ' न करके 'अधिकार में, वश में, करता हूँ' ऐसा किया है। यही अर्थ यहाँ अधिक उपयुक्त हो सकता है। 'बघ्नामि' कहने का भाव यह है कि प्रार्थी कह रहा है कि मैं जनता के सन्मुख अपने गुणों और योग्यताओं को इस प्रकार उपस्थित करूँगा कि सारी सम्मतियों को अपने साथ ही बाँध लूँगा, किसी दूसरे प्रार्थी के पास नहीं जाने दूँगा।

इस प्रकार इस पर्णमणि सूक्त में यह उपदेश दिया गया है कि राजा का चुनाव प्रजा की सम्मतियों द्वारा होना चाहिए और सम्मतियाँ संवरण पत्र पर लिखकर डाली जानी चाहियें जिससे निःसंकोच होकर हरेक सम्मतिदाता अपनी सम्मति दे सके। साथ ही चौथे मन्त्र में यह भी इशारा कर दिया गया है कि 'मताधिकार का ठीक प्रयोग हो रहा है कि नहीं' इसका राज्य के अधिकारियों को खूब निरीक्षण रखना चाहिए और उसकी उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

10

राजा के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें

(क) राजा चुना जाना चाहने वाला व्यक्ति चुनाव के लिए खड़ा होते समय अपने कार्यक्रम की घोषणा करेगा ।

- | | |
|--|--------------------------------|
| 1. त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः । | ऋग्० 2.1.4. |
| 2. धृतव्रतो धनदाः सोमवृद्धः (इन्द्र) । | ऋग्० 6.19.5. |
| 3. अग्ने धृतव्रताय ते । | ऋग्० 8.44.25. |
| 4. धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः (इन्द्रः) । | ऋग्० 8.97.11.,
अथ० 20.54.2. |

इन मन्त्रों में अग्नि और इन्द्र का एक विशेषण 'धृतव्रत' आया है । अग्नि और इन्द्र का एक अर्थ वेद में सम्राट् भी होता है यह हम पीछे विस्तार से दिखा आये हैं । इसलिए अग्नि और इन्द्र 'धृतव्रत' हैं वेद के इस कथन का दूसरे शब्दों में यह अर्थ हुआ कि सम्राट् 'धृतव्रत' है । सम्राट् को धृतव्रत कहने का क्या अभिप्राय हुआ इसे स्पष्ट करने से पहले हम एक और बात की ओर पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं । ऊपर के 'त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः' इस वेद वाक्य में 'अग्नि' को 'राजा वरुण' कहा है । अग्नि और वरुण को पर्यायवाची बताया है । इससे यह स्पष्ट है कि वेद का स्वाध्याय करते हुए हमें कई प्रसंगों में वरुण को अग्नि अर्थात् सम्राट् अर्थ में भी लेना होगा । वरुण असल में क्या है इसकी विस्तृत विवेचना यथावसर आगे करेंगे ।

वरुणः सम्राट्

यहाँ पाठक सामान्य रूप में वरुण का अर्थ भी अग्नि अर्थात् सम्राट् मान लें और फिर वेद के निम्न मन्त्रों को देखें—

- | | |
|---|---------------|
| 1. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्याश्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः । | ऋग्० 1.25.10. |
| 2. वरुणो धृतव्रतः । | ऋग्० 1.44.14. |
| 3. वरुणो धृतव्रतः । | ऋग्० 1.141.9. |
| 4. वरुणो धृतव्रतः । | ऋग्० 10.66.5. |

5. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।

साम्राज्याय सुक्रतुः ।

यजु० 10.27.

6. अप्सु ते राजन्वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।

ततो धृतव्रतो राजा सर्वा घामानि मुञ्चतु ॥

अथ० 7.83.1.

इनमें वरुण को भी 'धृतव्रत' कहा है। वरुण को धृतव्रत कहने का अर्थ सम्राट् को ही दूसरे शब्दों में धृतव्रत कहना है। हम केवल 'त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः' ऊपर दिये गये इस एक ही मन्त्र के आधार पर वरुण का अर्थ सम्राट् नहीं कर रहे हैं। 'निषसाद धृतव्रतः'—इस अभी ऊपर उद्धृत किये गये मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि 'धृतव्रत, उत्तम कर्म करने वाला और उत्तम बुद्धि वाला (सुक्रतुः) वरुण प्रजाओं में साम्राज्य के लिए सिंहासन पर बैठा है।' इससे वरुण का साम्राज्य के साथ सम्बन्ध अर्थात् उसका सम्राट् होना स्पष्ट सिद्ध है। यजुर्वेद के जिन प्रकरणों में यह मन्त्र आया है वहाँ इसमें प्रयुक्त वरुण शब्द का अर्थ सम्राट् या राजा के सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता। उवट और महीधर तक को इस मन्त्र का अर्थ राजा-परक करना पड़ा है। उदाहरण के लिए महीधर का अर्थ देखिए—

यजमानस्य उरोभिर्मृश्य जपति । निषसाद धृतव्रतः । वारुणी गायत्री ।
अधियज्ञं यजमानो वरुणः निषसाद निषण्णः । धृतव्रतः धृतं व्रतं कर्म येन स
तथोक्तः । 'धृतव्रतो वै राजा न वा एष सर्वस्मा इव वदनाय न सर्वस्मा कर्मणे
यदेव साधु वदेत् यत्साधु कुर्यात् तस्मै वा एष श्रोत्रियश्च' इति श्रुतिः ।
पस्त्यासु प्रजासु । आधिपत्येनेत्युपसर्गद्विर्थपरिपूर्तिः । साम्राज्याय 'सम्राट्भावाय
राज्याय' इति श्रुतिः । सुक्रतुः सुकर्मा । शोभनप्रज्ञो वा ।¹

यहाँ महीधर ने असंदिग्ध-रूप में वरुण का अर्थ राज्य में अभिषिच्यमान यजमान राजा किया है। इसी भाँति 'अप्सु ते राजन् वरुण गृहः' ऊपर उद्धृत इस मन्त्र में भी वरुण को स्पष्ट रूप में राजा कहा है और कहा है कि हे वरुण राजन् तेरा प्रजाओं में (अप्सु)¹ गृह अर्थात् निवास है।

अब सम्राट् को 'धृतव्रत' कहने का क्या अभिप्राय हुआ ? 'धृतव्रत' शब्द का अर्थ है, जिसने व्रत धारण किया हुआ है। व्रत के यास्काचार्य ने निरुक्त में तीन अर्थ किये हैं—

1. कर्म,
2. अन्न,
3. लोकप्रसिद्ध व्रत ।

व्रत के कर्म और अन्न दो अर्थ लेने पर सम्राट् या राजा के विशेषण 'धृतव्रत' का भाव यह होगा कि उसने राष्ट्र के कर्मों और अन्नों को धारण किया हुआ है।

¹ 'आपः' का अर्थ प्रजायें पीछे चुनाव विषयक अध्याय को एक टिप्पणी में सिद्ध कर आये हैं।

उसके सुप्रबन्ध से राष्ट्र के विभिन्न प्रकार के लोग अपने-अपने विभिन्न प्रकार के कर्मों को करते चले जाते हैं—राष्ट्र की कर्मव्यवस्था में किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं होने पाती और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के सुखपूर्वक यापन के लिए आवश्यक अन्नादि भोग्य पदार्थ पुष्कल मात्रा में प्राप्त होते रहते हैं—किसी को भूखा नहीं मरना पड़ता ।

परन्तु हमारी सम्मति में राजा के धृतव्रत विशेषण का केवल इतना ही अभिप्राय नहीं है । राजा राष्ट्र के कर्मों की व्यवस्था को बिगड़ने न दे और प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक अन्नादि भोग्य सामग्री मिलती रह सके इसकी व्यवस्था करें, इस बात का उपदेश वेद में स्थान-स्थान पर बहुत अधिक स्पष्ट शब्दों में किया गया है । यह यथावसर आगे देखेंगे । अन्य स्थलों में अधिक स्पष्ट और विस्तृत रूप में जिस भाव का उपदेश किया है उसी की पुनरुक्ति 'धृतव्रत' विशेषण द्वारा की गई है ऐसा मानने से इस विशेषण में कोई चमत्कार नहीं रहता । फिर 'निषाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा । साम्राज्याय सुक्रतः ॥' (यजु० 10.27, यजु० 20.2) इस मन्त्र में तो कहा है कि 'जो धृतव्रत है अर्थात् जिसने व्रत को धारण किया हुआ है ऐसा वरुण प्रजाओं में राज्य करने के लिए राज्यासन पर बैठा है ।' अब राष्ट्र के कर्मों और अन्नों की व्यवस्था तो राजा ने राज्यासन पर बैठने के पश्चात् करनी है । राज्यासन पर बैठने से पूर्व ही वह यह कार्य कैसे कर सकता है ? मन्त्र में प्रयुक्त हुए धृतव्रत विशेषण का अर्थ है, जो व्रत धारण कर चुका है । अर्थात् राज्यासन पर बैठने से पहले वह व्रत धारण कर चुका है । तब राज्यासन पर बैठने से पहले व्रत धारण करने का—धृतव्रत होने का—क्या अर्थ हुआ ? इसे समझने के लिए यास्क के तीसरे अर्थ 'सामान्य व्रत' पर ध्यान दीजिए । व्रत के संस्कृत साहित्य में प्रचलित और-और अर्थों के अतिरिक्त कुछ अति प्रसिद्ध अर्थ ये हैं—

1. यमनियमादि पवित्राचरण ।
2. यमनियमादि पवित्राचरणों में सहायता देने वाले उपवासादि कर्म ।
3. नियम ।
4. प्रतिज्ञा ।
5. किसी बात का तत्परता से पालन करना ।

मोनियर विलियम्स और आप्टे आदि ने अपने संस्कृत-इंग्लिश कोशों में व्रत के जो अर्थ दिये हैं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

1. realm, sphere, sway (राज्य, प्रदेश) ।
2. law, ordinance, command, rule (नियम, कानून) ।
3. any religious act or obligation (धर्म की आज्ञाओं का पालन) ।
4. fasting (उपवास) ।
5. observance, vowed observance (किसी बात का तत्परता से पालन) ।

6. vow, promise (प्रतिज्ञा) ।

7. resolve (किसी काम को करने का दृढ़ निश्चय) ।

वास्तव में व्रत शब्द का क्या अर्थ है इसे संस्कृत के प्रसिद्ध कोश वाचस्पत्यवृहदभिधान में इस प्रकार स्पष्ट किया है—‘व्रतश्च सम्यक् संकल्पजनिता-नुष्ठेयक्रियाविशेषरूपम् । तच्च प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयरूपम् ।’ अर्थात् अच्छी प्रकार विचार कर लेने के पीछे किसी काम को करने का जो संकल्प है उसे व्रत कहते हैं, चाहे यह काम किसी बात को प्राप्त करने के लिए किया जाय और चाहे किसी बात को त्यागने के लिए ।¹ इस प्रकार व्रत का असल में अर्थ है किसी बात को तत्परता से करने या पालने का संकल्प अथवा प्रतिज्ञा । इस संकल्प या प्रतिज्ञा अर्थ में व्रत शब्द का व्यवहार भाषा तक में होता है । हिन्दी में ‘व्रत करना’ का अर्थ होता है किसी बात को करने का संकल्प, प्रतिज्ञा या नियम करना, क्योंकि उनसे तत्परता से पालन करने की प्रतिज्ञा अथवा संकल्प करने होते हैं इसलिए व्रत के वे सब अर्थ भी हो जाते हैं जिनका कोषों में निर्देश किया गया है ।

इस प्रकार ‘धृतव्रत’ विशेषण का अर्थ होगा, जिसने कोई कार्य करने की प्रतिज्ञाएँ अथवा संकल्प धारण किये हैं । राजा के धृतव्रत विशेषण द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राजा चुने जाने के प्रार्थी व्यक्ति को चुनाव के लिए खड़ा होते समय प्रजा के सम्मुख अपने व्रत रखने होंगे—अपनी प्रतिज्ञाएँ और संकल्प सुनाने होंगे । उसे घोषणा करनी होगी कि वह क्यों राजा बनना चाहता है । उसे बताना होगा कि वह राजा बनकर प्रजा के लिए कौन-कौन से कल्याण के कार्य करना चाहता है । दूसरे शब्दों में उसे चुनाव के लिए खड़ा होते हुए प्रजा के सामने अपना कार्यक्रम (प्रोग्राम) रखना होगा ।

(ख) चुनाव के समय राजा के गुणों का वर्णन

ऋग्वेद 7.98.5 और अथर्व० 20.87.5 मन्त्र इस प्रकार है—

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।

यदेदेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य ॥

अर्थात्—(इन्द्रस्य) इस इन्द्र के (प्रथमा) पुराने (कृतानि) किए हुए कर्मों का (प्रवोचम्) मैं वर्णन करता हूँ (मघवा) इस महिमाशाली ने (या) जो (नूतना) नवीन कर्म किये हैं उनका भी (प्रवोचम्) मैं वर्णन करता हूँ (यत्) जिस प्रकार (अदेवीः) अदिव्य भावनाओं से युक्त (मायाः)¹ अपनी बुद्धि की वृत्तियों को (असहिष्ट) उसने पराभव किया—अर्थात् जिस प्रकार इसने अपने चित्त की बुरी वासनाओं को जीत कर अपने को श्रेष्ठ देव पुरुष बनाया (अथ) और (सोमः) दिव्य भावनाओं से अन्य सोम अर्थात् ऐश्वर्य (अस्य) इसका (केवलः) अपना (अभवत्) हो गया—अर्थात् यह

¹ माया इति प्रज्ञानामसु पठितम् । निबं० 3.9.

उत्कृष्ट कोटि पर पहुँच गया—(प्रवोचम्) यह भी मैं वर्णन करता हूँ ।

इस मन्त्र में प्रजा-पुरुष बोल रहा है । वह इन्द्र के पुराने और नये अद्भुत कर्मों का वर्णन करना चाहता है । वह बताना चाहता है कि किस प्रकार यह इन्द्र अपने चित्त की अदिव्य-भावनाओं से युद्ध करके एक आदर्श श्रेष्ठ पुरुष बन गया है । इस मन्त्र से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि जो व्यक्ति इन्द्र अर्थात् सम्राट् बने उसके गुणों का वर्णन प्रजा के सन्मुख हो जाना चाहिए । उस व्यक्ति को सम्राट् बनाना चाहने वाले लोगों को चाहिए कि वे जनता के सन्मुख रख दें कि वह किस चरित्र का आदमी है और उसने अपने उस समय तक के जीवन में कौन-कौन से कार्य किये हैं जिससे प्रजा उस व्यक्ति की योग्यता और सामर्थ्य को भली-भाँति समझकर उसे अपना सम्राट् बना सके । राजा बनने वाले व्यक्ति की योग्यताओं के सम्बन्ध में प्रजा को अन्धकार में नहीं रखा जाना चाहिए ।

(ग) राजा बहुमत से चुना जायेगा

वेद के पचासों स्थलों में इन्द्र के 'पुरुहूत' और 'पुरुष्टुत' ये दो विशेषण आये हैं । नीचे पादटिप्पणी में ऐसे कुछ स्थलों की प्रतीक दी जा रही है ।¹ इन स्थलों में इन्द्र का अर्थ सम्राट् ही अधिक संगत हो सकता है । इन्द्र का अर्थ सम्राट् भी वेद में होना है यह हम पीछे सिद्ध कर आये हैं । इसी भाँति ऋग्वेद 1.44.7 और 5.8.5 में अग्नि के लिए भी क्रम से पुरुहूत और पुरुष्टुत विशेषणों का प्रयोग हुआ है । अग्नि का अर्थ सम्राट् भी होता है यह हम देख ही चुके हैं । इस प्रकार अग्नि और इन्द्र के विशेषण 'पुरुहूत' और 'पुरुष्टुत' दूसरे शब्दों में सम्राट् के विशेषण हुए । 'पुरुष्टुत' का अर्थ है जिसकी बहुत लोग स्तुति करें—'पुरुभिः स्तुतः' । और 'पुरुहूत' का अर्थ है जिसे बहुत लोग बुलावें—'पुरुभिः हूतः' । सम्राट् के इन विशेषणों से यह भाव निकलता है कि जिसके गुणों की बहुत लोग स्तुति करें और गुणों से आकर्षित होकर बहुत लोग जिसे राज्य करने के लिए बुलावें—चुनें—वही व्यक्ति सम्राट् हो सकता है । दूसरे शब्दों में राजा बहुमत से चुना जाना चाहिए ।

(घ) राजा की राज्यच्युति

हम देख चुके हैं कि वैदिक राज्य पद्धति में राजा वंशानुक्रमिक नहीं हो सकता । वह चुना हुआ होना चाहिए । उसके राज्यारोहण में प्रजाओं की सम्मति

¹ पुरुहूतः—ऋग्वेद 1.30.10, 1.51.1, 1.104.7, 1.174.3, 3.51.8, 4.16.8, 4.20.5, 7; 5.31.4, 5.36.2, 3; 6.18.11, 6.19.13, 6.21.5, 6.22.11, 6.24.3, 7.24.1, 7.32.17, 26; 8.16.7, 11; 8.21.12, 8.24.8, 9; 10.42.7, 10; 10.102.1, 10.180.1. यजु० 18.69, अथ० 20.36.4, 19.55.6; 20.17.2, 10; 20.79.1, 20.89.7, 10; 20.94.10.

पुरुष्टुतः—ऋग्वेद 1.57.4, 1.102.3, 3.40.2, 3.45.5, 3.52.6, 3.60.6, 4.21.10, 8.15.1, 3, 11; 8.62.7, 8.76.7, 8.93.17; 10.38.3, अथ० 6.2.3, 20.6.2, 20.7.4, 20.15.4.

होनी चाहिए । हम यह भी देख चुके हैं कि जो व्यक्ति एक बार सम्राट् चुन लिया गया है वह गृहस्थाश्रम की सारी आयुभर राज्यासन पर आसीन रहेगा । उसे गृहस्थाश्रम की पूरी अवधि से पहले सिंहासन से नहीं उतारा जा सकता । परन्तु यह नियम उसी व्यक्ति के लिए है जो राज्यारोहण के पश्चात् अपनी शक्तिभर राष्ट्र के कल्याण और अभ्युदय की वृद्धि में लगा रहता है । जो व्यक्ति राजसिंहासन का दुरुपयोग करेगा—सिंहासनासीन होकर प्रजाओं के अभ्युदय और मंगल की वृद्धि के स्थान में उनके उपक्षय करने में लगेगा उसे गृहस्थाश्रम की पूरी अवधि से पहले ही राज्य से च्युत कर दिया जायेगा । इसका भी वेद में स्थान-स्थान पर निर्देश मिलता है । उदाहरण के लिए निम्न स्थलों को देखिये—

1. आं रभस्व जातवेदोस्माकार्थाय जज्ञिषे ।

अथ० 1.7.6.

अर्थात्—राष्ट्र में धन वा ज्ञान को बढ़ाने वाले (जातवेदः)¹ हे सम्राट् (अग्ने) तू हमारे कल्याण के लिए उत्पन्न हुआ है, तू पराक्रम के कार्य कर ।

राजा को यह कहना कि 'तू हमारे कल्याण के लिए उत्पन्न हुआ है' यह ध्वनित करता है एक राजा का राजापन तभी तक है जब तक वह प्रजाओं का कल्याण करता है । प्रजाओं का कल्याण न करने वाला राजा राजा नहीं है । और इसीलिए इस कथन से यह भी व्यंजित होता है कि ऐसे व्यक्ति को राज्य से च्युत कर दिया जाना चाहिए । क्योंकि वह अपने राजापन के उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा है ।

पृ. 212

2. ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्...मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ।

अथ० 6.87.1

3. ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः...मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ।

ऋग० 10.173.1, यजु० 12.11.

अर्थात्—हे राजन् ! तुम स्थिर और अचल होकर सिंहासन पर रहो, तुम से (त्वत्) राष्ट्र कभी भ्रष्ट न हो—छिन जाये ।

राजा को राजसिंहासन पर बैठाते समय ऐसे शब्द कहने का स्पष्ट अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि अगर राजा भला सिद्ध न होगा तो वह सिंहासन से उतारा जा सकेगा ।

4. सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ।

स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ।

विशां च वै सबन्धूनां चाप्तस्य चाप्ताद्यस्य च

प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।

अथ० 15.8.1-3

¹ जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः । निरु० 7.5.19.

5. स विशोऽनु व्यचलत् ।

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ।
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।

अथ० 15.9.1-3.

अथर्ववेद के ये दोनों सूक्त भी इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं । सूक्तों का अर्थ अपने आप में विलकुल स्पष्ट है । पहले सूक्त का भाव है—

‘राजा को राजन्य इसलिए कहते हैं कि वह प्रजाओं का रंजन करता है, (अरज्यत, रंज रागे) उन्हें प्रसन्न रखता है । इस गुण के कारण ही राजा प्रजाओं की (विशः), सबन्धुओं की, अन्न और अन्नाद्य की उन्नति कर सकता है । इस तत्त्व को जानने वाला राजा इन सब चीजों का प्रिय धाम हो जाता है ।’ अर्थात् जो राजा इस तत्त्व को नहीं समझता—प्रजाओं का रंजन नहीं करता—वह उनका प्रिय धाम नहीं रहता । भाव यह है कि ऐसे राजा को प्रजाएँ राज्य से च्युत कर देंगी ।

दूसरे सूक्त का अभिप्राय यह है कि—

‘जो राजा प्रजाओं के अनुकूल चलता है सभा, समिति, सेना और सुरा¹ (राजकोश) उसके अनुकूल चलती है । जो राजा इस तत्त्व को समझ लेता है वह इन सब चीजों का प्रिय धाम बन जाता है ।’ अर्थात् जो इस तत्त्व को नहीं समझता—प्रजाओं के अनुकूल नहीं चलता—सभा, समिति, सेना और सुरा उसके अनुकूल नहीं चलतीं—उसे राज्य से च्युत कर दिया जाता है ।

6. विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये ।

अग्नि गीर्भिर्हवामहे ॥

ऋग्० 8.11.6.

इस मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

‘दिव्य गुणों वाले, मेधावी, इस सम्राट् को हम मेधावी मनुष्य लोग रक्षा के लिए अपने वचनों से बुलाते हैं—चुनते हैं ।’

राजा प्रजा की रक्षा के लिए चुना जाता है । जो राजा अपने इस प्रयोजन को पूरा नहीं करता वह असल में राजा ही नहीं है । और इसीलिए उसे राज्य से च्युत कर दिया जाना चाहिए यह अर्थापत्ति से निकलता है ।

7. रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।

यजु० 11.76.

इस मन्त्र-खण्ड वाले सम्पूर्ण मन्त्र पर ‘राजा का चुनाव’ नामक अध्याय में विचार हो चुका है । मन्त्र-खण्ड का भाव यह है कि ‘हम धन और उससे प्राप्त होने वाली पुष्टि

¹ सुरा शब्द ‘षु प्रसवैश्वर्ययोः’ धातु से व्युत्पन्न होता है ।

सुरा राज्यैश्वर्यम् । राज्यकोष इति यावत् ।

के लिए राजा को चुनते हैं ।'

अर्थापत्ति यह है कि जिससे धन और पुष्टि प्राप्त नहीं होते वह राजा ही नहीं है और इसीलिए उसे राज्य-च्युत कर दिया जाना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त 'राजा का चुनाव' विषयक अध्याय में दिये गये प्रायः सभी मन्त्रों को पाठक पुनः एक बार ध्यान से देखते जायें । वहाँ प्रायः प्रत्येक मन्त्र में राजा को राष्ट्र के किसी-न-किसी मंगल की वृद्धि के लिए चुना गया बताया गया है, जिसकी अर्थापत्ति यह है कि यदि राजा अपने उक्त उद्देश्य को पूरा नहीं करता है तो वह वस्तुतः राजा ही नहीं है इसीलिए उसे राज्य से च्युत कर दिया जाना चाहिए । हमने केवल स्थालीपुलाक न्याय से यहाँ उस अध्याय के दो-चार मन्त्रों की ओर निर्देश कर दिया है । उसी अध्याय में दिये गये एक मन्त्र की ओर पाठकों का ध्यान और खींच कर हम इन पंक्तियों को समाप्त करते हैं । वहाँ उपस्थित किया गया एक मन्त्र इस प्रकार है—

8. भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।

तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥

अथ० 4.8.1

अर्थात्—(भूतः) अभिषिक्त हो रहा यह राजा भूत अर्थात् प्रजा के अन्य प्राणियों जैसा ही एक प्राणी है, चुना जाकर यह (भूतेषु) राष्ट्र के प्राणियों में (पयः) दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थ (आदधाति)¹ धारण करेगा—उन्हें यह पदार्थ मिलते रह सकें इसका प्रवन्ध करेगा (सः) वह (भूतानाम्) राष्ट्र के प्राणियों का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हो गया है (तस्य) उसके (राजसूयं) राजा बनने के निमित्त हो रहे इस राजसूय में (मृत्युः) मृत्यु भी (चरति) चल रहा है—अर्थात् यदि उसने राष्ट्र का ठीक प्रकार से पालन न किया और स्वयं कुमार्ग पर जाने लगा तो उसे राज्य से च्युत भी कर दिया जायेगा और उसकी राजा रूप में मृत्यु हो जायेगी । उसे राजा बनते समय और बनकर भी सदा इस मृत्यु का स्मरण रखना चाहिए । (सः) वह (राजा) राजा (इदम्) इस राज्य को (अनुमन्यताम्) स्वीकार करे ।

यहाँ हम पाठकों का ध्यान मन्त्र के 'तस्य राजसूयं मृत्युश्चरति'—'उसके राजसूय में मृत्यु भी चलता है'—केवल इन शब्दों की ओर खींचना चाहते हैं । राजसूय में मृत्यु चलने का क्या अभिप्राय है यह हमने मन्त्र के अर्थ में ही समझा दिया है । जो बात इस प्रकरण में इससे पहले दिये गये मन्त्रों में अर्थापत्ति और व्यंजना से दिखाई गई है वही इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कह दी गई है । इस प्रकार वेद की सम्मति में राजसूय के समय ही राजा चुने जा रहे व्यक्ति पर प्रकट कर देना चाहिए कि यदि उसने अपने कर्तव्य का ठीक प्रकार पालन न किया तो उसकी राजा रूप में मृत्यु कर दी जायेगी—उसे राजसिंहासन से उतार दिया जायेगा ।

¹ वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति भविष्यति लट् ।

हम समझते हैं कि वेदों की सम्मति में उत्पथगामी, स्वेच्छाचारी राजा को राज्य-न्युत कर दिया जाना चाहिए इसे सिद्ध करने के लिए इससे अधिक स्पष्ट और कोई प्रमाण नहीं हो सकता ।

(ङ) राजा कोई दैवी व्यक्ति नहीं है

मनुस्मृतिकार का मत है कि—

1. अराजके हि लोकेस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्यराजानमसृजत् प्रभुः ॥
2. इन्द्रानिलयमाकर्णामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हुत्य ज्ञाश्वतीः ॥
3. यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येव सर्वभूतानि तेजसा ॥
4. तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभि वीक्षितुम् ॥
5. सोग्निर्मवति वायुश्च सोकः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥
6. बालोपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

मनु० 7.3-8.

इन श्लोकों का भाव यह है कि 'अराजक लोक की रक्षा के लिए परमात्मा ने राजा को बनाया है । उसका इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के अंशों से निर्माण हुआ है । बालक राजा को भी मनुष्य समझ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिए, वह एक महान् देवता है ।'¹ महाभारत शान्ति पर्व में भी राजा के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार प्रदर्शित किये गये हैं । राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और इसीलिए वह एक दैवी शक्ति है इस मत का पाश्चात्य देशों में भी गत शताब्दियों में पर्याप्त प्रचार रहा है । अच्छे-अच्छे विचारकों और दार्शनिकों ने इस मत की पुष्टि की थी । फ्रांस का लुई चतुर्दश कहा करता था, 'We princes are the living images of Him who is all holy and all powerful.' अर्थात् 'हम राजा लोग परम पवित्र और परम शक्तिशाली परमात्मा की पृथिवी पर जीती-जागती प्रतिमायें हैं—उसके प्रतिनिधि हैं ।' परन्तु वेद राजा के सम्बन्ध में इन विचारों से सहमत नहीं है । पिछले प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि राजा पर प्रजा का कितना

¹ ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में मनु के इन श्लोकों की जो व्याख्या की है उसके अनुसार इन श्लोकों में कोई आपत्ति की बात नहीं रहती । उस व्याख्या से इनमें राजा के दैवी अधिकार की गन्ध नहीं रहती । पर कुल्लूक आदि की प्रचलित टीकाओं में इनका जो अर्थ किया गया है वह राजा के देवत्व और दैवी अधिकार का ही पोषक है ।

अधिकार और नियन्त्रण वेदों ने माना है। अभी ऊपर उद्धृत अथ० 4.8.1 में राजा को और प्राणियों जैसा ही प्राणी कहा गया है, उसमें किसी प्रकार का ईश्वरीयत्व नहीं माना गया है। मन्त्र को एक बार फिर देखिये—

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।

तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥

यहाँ पर राजा चुने जाने वाले व्यक्ति को स्पष्ट शब्दों में भूत शब्द से स्मरण किया गया है और उसे 'भूतो' का अधिपति बनकर उनकी पुष्टि (पयः) करने को कहा गया है। भूत शब्द संस्कृत में प्राणियों के लिए बहुधा प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी के 'क्रीचर' (creature) और 'बीइंग' (being) शब्द जिन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं उन्हीं अर्थों में संस्कृत का 'भूत' शब्द भी प्रयुक्त होता है। यहाँ राजा को 'भूत' अर्थात् 'प्राणी' कह कर उसे दूसरे प्राणियों की कोटि में डालना उसके 'दैवी अधिकार' का स्पष्ट खण्डन है। प्रत्युत दूसरी ओर प्रजाओं को 'दैवी' कहा गया है। देखिये अथ० 3.4.2.

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।

इसी प्रकार अथ० 4.8.4. 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः' इस मन्त्र में भी प्रजाओं को 'दिव्य' कहा है।

इसी प्रकार अथर्ववेद का 13.1 सूक्त भी देखने योग्य है। वहाँ कहा गया है कि राष्ट्र (प्रजायें) रोहित (परमात्मा) का है। अर्थात् राष्ट्र परमात्मा की चीज है, राजा को उसे अपनी चीज—इच्छानुसार भोग की सामग्री नहीं समझना चाहिए। परमात्मा ने यह अपना राष्ट्र राजा को दिया है। राष्ट्र की उन्नति और अभिवृद्धि के लिए, अपने वैयक्तिक भोग के लिए नहीं। इन भावों के दिखाने वाले मन्त्र देखिये—

1. आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहर्षोद् ।

अथ० 13.1.5.

अर्थात्—रोहित (परमात्मा) ने राष्ट्र तुम्हें दिया है।

2. सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन ।

अथ० 13.1.8.

अर्थात्—'रोहित तुम्हारे राष्ट्र को दूध और घी से युक्त करे' भाव यह है कि तुम्हें परमात्मा की मदद से राष्ट्र में खाने-पीने की चीजों की खूब उन्नति करनी चाहिए।

3. राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ।

अथ० 13.1.9.

अर्थात्—रोहित के राष्ट्र में सदा जागरूक रहकर उसकी उन्नति करो।

4. गोपोषं च मे वीरपोषं च घेहि ।

अथ० 13.1.12.

अर्थात्—‘रोहित के इस मुझ राष्ट्र में तू गौओं और वीरों की पुष्टि कर ।’ यहाँ राष्ट्र अपने आपको रोहित समझता हुआ राजा से अपनी पुष्टि पाने का अधिकार दिखा रहा है ।

इस प्रकार पिछले प्रकरणों के साथ इस प्रकरण को मिलाकर हम इस स्पष्ट परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेदों की सम्मति में राजा पर प्रजा का पूरा अधिकार और नियन्त्रण होना चाहिए, राजा भी प्रजाजनों की तरह सामान्य व्यक्ति है, उसे राष्ट्र (प्रजाओं) को परमात्मा की चीज—दैवी—समझ कर उसकी रक्षा और पुष्टि करनी चाहिए, उसे अपने आपको ईश्वर का अवतार समझ कर राष्ट्र को अपने स्वच्छन्द भोग की चीज नहीं समझना चाहिए ।

11

स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य बुरा है

पिछले प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि वेदों की सम्मति में राजा प्रजा द्वारा चुना जाना चाहिए और उस पर प्रजा का पूरा अधिकार और नियन्त्रण रहना चाहिए। हम यह भी देख चुके हैं कि जो राजा अपने राजा होने के वास्तविक उद्देश्य को—प्रजा के मंगल और अभ्युदय की वृद्धि के कार्य को—पूरा न करता हो और उत्पथगामी होकर राष्ट्र का अहित करता हो उसे वेद की सम्मति में राजा नहीं रहने देना चाहिए, उसे सिंहासन से उतार देना चाहिए और उसकी राजा रूप में मृत्यु कर देनी चाहिए। इस प्रकरण में हम यजुर्वेद के दो मन्त्र उद्धृत करके यह दिखाना चाहते हैं कि वेद, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, न केवल 'संवृत राजत्व' (Elected Kingship) का समर्थन ही करते हैं, प्रत्युत एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजत्व का सैद्धान्तिक रूप में विरोध करते हैं। स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य को वेद राष्ट्र के वास्तविक कल्याण की दृष्टि से सर्वथा अहितकर समझते हैं। मन्त्र इस प्रकार हैं—

1. यकासकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वञ्चति ।

आहन्ति गमे पसो निगल्गलीति धारका ॥

यजु० 23.22.

2. यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते ।

शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥

यजु० 23.30.

यजुर्वेद के मध्यकालीन भाष्यकार उवट और महीधर ने इन मन्त्रों के वास्तविक तात्पर्य को न समझ कर इनका जो भद्दा और अश्लील अर्थ किया था वह वेद का स्वाध्याय करने वालों को भली-भाँति विदित है। सबसे पहले भगवत्पाद ऋषि दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण के आधार पर इन मन्त्रों का वास्तविक अभिप्राय विशद किया है। शतपथ ब्राह्मण और ऋषि दयानन्द इन मन्त्रों का जो अभिप्राय समझते हैं उसे ही हम नीचे दे रहे हैं। उसे देखने से पता चलेगा कि ये दोनों वेद-मन्त्र राजनीति के एक कितने सुन्दर सिद्धान्त की शिक्षा दे रहे हैं। प्रथम मन्त्र की शतपथ की व्याख्या इस प्रकार है—

‘(यकासकौ शकुन्तिका) विड्वै शकुन्तिका (आहलगिति वञ्चति) विशो वै राष्ट्राय वञ्चति (आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका) विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं धातुकः ।’

शत० 13.2.9.6.

शतपथकार ने अपनी व्याख्या में केवल कठिन शब्दों के पर्याय दे दिये हैं और अन्तिम शब्दों में सम्पूर्ण मन्त्र का भाव किधर जा रहा है इसका निर्देश कर दिया है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में शतपथ की व्याख्या को यों स्पष्ट किया है—

‘(यकासकौ शकुन्तिका) जैसे श्येन के सामने छोटी चिड़िया निर्बल होती है उसी तरह राजा के सामने प्रजा निर्बल होती है। (आहलगिति वञ्चति) राजा लोग प्रजा को राज्य-सुख प्रयोजन के लिए सदा ही ठगते रहते हैं—लूटते रहते हैं (आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका) राजा प्रजा में रहता हुआ उसका नाश करता है और उसे अपने लिए सुख की धारिका और अपने द्वारा निगली हुई सी—निगलने योग्य, खाने योग्य समझता है। इसलिए राजा को ‘विशं धातुकः’ कहते हैं। अतः एक स्वेच्छा-चारी राजा नहीं होना चाहिए। उसे सभाधीन सभाध्यक्ष होना चाहिए ।’

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र पर जो कुछ संस्कृत में लिखा है उसी का यह हिन्दी अनुवाद अपने शब्दों में हमने दे दिया है। हमने अनुवाद में ऋषि के भाव को पूर्ण रीति से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऋषि ने शतपथ के निर्देश पर चलते हुए केवल मन्त्र का आशयार्थ ही दिया है। उससे मन्त्र के प्रतिपद का अर्थ सुस्पष्ट नहीं होता। अपने यजुर्वेदभाष्य में ऋषि ने इसका प्रतिपद अर्थ भी दिया है। उसी के आधार पर हम पाठकों के लिए मन्त्र का अपना शब्दार्थ नीचे देते हैं—

‘(यका) जो (असको) वह प्रजा है (शकुन्तिका)¹ वह तो एक छोटी-सी चिड़िया-सी है (इति) ऐसा मानकर (आहलक)² चारों ओर से प्रजा का विमर्दन करने वाला राजा (वञ्चति)³ प्रजा के साथ कुटिलता का व्यवहार करता है (पसः)⁴ वह राजा (गभे)⁵ प्रजा पर (आहन्ति) सब तरह से आक्रमण करता है—अत्याचार करता है (धारका) राज्य का असल में धारण करने वाली प्रजा (निगल्गलीति)⁶ गलित हो जाती है, क्षीण हो जाती है ।’

मन्त्र के इस शाब्दिक अर्थ को देखकर पाठक अनुभव करेंगे कि शतपथ-ब्राह्मणकार ने, तथा उसके आधार पर ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में

¹ शकुन्तिका शकुन्तिकेव प्रजा । लुप्तोपमा ।

² समन्ताद्वलं विलेखनं प्रजाविमर्दनमञ्चति योसौ आहलग् अत्याचारी राजा ।

³ वञ्चु गतो प्रलम्बने च ।

⁴ राष्ट्रं पसः । शत० 13.2.3.6, अत्र तु लक्षणया राष्ट्रिणं बोधयति ।

⁵ विड्वै गभः । शत० 13.2.3.6.

⁶ गल स्रवणे । यङ्लुकि रूपम् ।

इसका जो आशय व्यक्त किया है वह स्वयं मन्त्रानुमोदित ही है। मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि यद्यपि राष्ट्र की असल में धारण करने वाली प्रजा ही होती है परन्तु यदि उसका राजा के चुनाव और शासन में अधिकार और नियन्त्रण न हो तो स्वेच्छाचारी राजा उसे एक दुर्बल चिड़िया-सी समझता है और बाज जैसे चिड़िया को सताता रहता है, वैसे ही वह प्रजा को तंग करता रहता है। ऐसा प्रजा के अधिकार और नियन्त्रण से सर्वथा स्वच्छन्द राजा प्रजा का सभी तरह से विमर्दन करता है, उसके साथ सभी प्रकार के कुटिलता के व्यवहार करता है, तरह-तरह से उस पर आक्रमण करता है और इस प्रकार उसे सर्वथा क्षीण कर देता है।

अब दूसरे मन्त्र को लीजिए। इस पर शतपथकार की व्याख्या इस प्रकार है—

‘(यद्धरिणो यवमत्ति) विड्वं यवो राष्ट्रं हरिणः विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति (न पुष्टं पशु मन्यते) तस्माद्राजा पशून् न पुष्यति (शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति) तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति।’

शत० 13.2.9.8.

शतपथ की व्याख्या संक्षिप्त होते हुए भी मन्त्र का भाव समझने के लिए पर्याप्त स्पष्ट है। ऋषि दयानन्द ने भाष्यभूमिका में शतपथ के आशय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘(यद्धरिणो यवमत्ति) राज्य-सम्बन्धी एक स्वेच्छाचारी राजा मृग की तरह प्रजा के उत्तम-पदार्थों का आहरण करता रहता है। जैसे मृग शस्य को खाकर प्रसन्न होता है वैसे ही राजा भी नित्य अपने सुख को चाहता है। अतः वह अपने सुख प्रयोजन के लिए प्रजा को भक्ष्य बना लेता है। (न पुष्टं पशु मन्यते) जैसे मांसाहारी पुष्ट पशु को देखकर उसके मांस को खाने की इच्छा करता है, उसे बढ़ाना या जिलाना नहीं चाहता उसी तरह एक स्वेच्छाचारी राजा अपने सुख-सम्पादन के लिए यही सोचता रहता है कि प्रजा में मुझसे अधिक कोई न हो पाये। वह प्रजा की पुष्टि नहीं करता। (शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति) जैसे कोई शूद्र, जिसकी शूद्रा, अर्यजारा—स्वामी या वैश्य है जार जिसका ऐसी—हो गई है, पुष्टि को प्राप्त नहीं होता वैसे ही ऐसे स्वेच्छाचारी राजा की प्रजा भी पुष्टि और वृद्धि को प्राप्त नहीं होती। इसीलिए भीरू वैशीपुत्र और मूर्ख शूद्रापुत्र को राज्याधिकार में स्थापित नहीं करना चाहिए।’

ऋषि के भूमिका स्थित संस्कृत भाष्य का यह हमारा अपना अनुवाद है। इसमें ऋषि के भाव की पूरी रक्षा की गई है। शतपथकार तथा ऋषि दयानन्द दोनों ही ने इस मन्त्र की भी प्रतिपद व्याख्या नहीं की है। केवल मन्त्र के भाव की सामान्य व्याख्या की है। यजुर्वेद भाष्य में ऋषि ने इसका प्रतिपद अर्थ भी दिया है। उसके आधार पर हम मन्त्र का अपना शब्दार्थ नीचे देते हैं—

‘(यत्) जब राजा (हरिणः)¹ हरिण जैसे (यवम्)² खेत में उगे हुए जौ को

¹ हरिण इव राजा। लुप्तोपमा।

² यवमिव प्रजाम्। लुप्तोपमा।

(अत्ति) खा जाता है, वैसे ही प्रजा को खा जाता है और प्रजारूप जी को (पुष्टं) पुष्ट (पशु) देखने योग्य (न) नहीं (मन्यते) मानता—उसे पुष्ट नहीं देखना चाहता—तब प्रजा (पोषाय) अपनी पुष्टि के लिए (न) नहीं (धनायति) धन प्राप्त करती अर्थात् स्वेच्छाचारी प्रजाभक्षक राजा के राज्य में प्रजा को जो धन प्राप्त होता वह उसकी वास्तविक और चिरस्थायी पुष्टि का कारण नहीं होता। उपमा देते हैं—(यत्) जैसे (अर्यजारा) उसका स्वामी वैश्य है जार जिसका ऐसी (शूद्रा) सेविका शूद्र स्त्री (पोषाय न धनायति) अपनी वास्तविक समृद्धि के लिए धन प्राप्त नहीं करती। अर्थात् जैसे अपनी सेविका शूद्र स्त्री पर बलात्कार करने वाले मालिक की कृपा से शूद्रा को जो कुछ धन प्राप्त हो जाता है वह उसकी वास्तविक समृद्धि का कारण नहीं होता।'

यहाँ भी पाठक देखेंगे कि शतपथ-ब्राह्मण तथा भूमिका में ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र के भाव की जो व्याख्या की है वह भी स्वयं मन्त्रानुमोदित ही है। मन्त्र में मृग और जी तथा अर्यजारा शूद्रा की उपमा से स्पष्ट बताया गया है कि जिस राजा के चुनाव और शासन में प्रजा का अधिकार और नियन्त्रण न हो उस लोकमत के प्रभाव से स्वतन्त्र स्वेच्छाचारी राजा के राज्य में प्रजा वास्तविक रूप में सर्वात्मना फलने और फूलने नहीं पाती। मृग जैसे खेत को चर जाता है वैसे ही वह प्रजा को चर जाता है और अनाचारी मालिक जैसे अपनी सेविका पर बलात्कार करके उसके सतीत्व का अपहरण कर लेता है वैसे ही वह प्रजा पर बलात्कार करके उसकी सुख-सम्पत्ति का अपहरण कर लेता है और प्रजा की कितनी ही स्त्रियों के सतीत्व का भी अपहरण कर लेता है।

इस प्रकार ये दोनों यजुर्मन्त्र स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य की बुराई बड़े ही जोरदार शब्दों में करते हैं। यद्यपि स्वयं मूलमन्त्रों में कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसका अर्थ 'स्वेच्छाचारी' या 'एकतन्त्र' होता हो। वेद के दूसरे प्रकरणों को ध्यान में रखते हुए हमें इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि इन मन्त्रों में 'स्वेच्छाचारी' राजा की ही निन्दा की गई है। वेद के दूसरे स्थलों में हमें 'प्र च वर्धेयममुच्च तिष्ठ महते सौभाग्य' (अथ० 2.6.2); 'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत' (अथ० 15.8.1); 'स विशोऽनु व्यचलत्' (अथ० 15.9.1) जैसे वाक्य मिलते हैं जिसमें राजा से प्रजाओं को बढ़ाकर महान् सौभाग्य तक ले जाने के लिए, उनका रंजन (प्रसन्नता) करने के लिए, तथा उनके अनुकूल चलने के लिए कहा गया है। किन्तु यजुर्वेद के इन दो मन्त्रों में राजा को प्रजा का घातक बताया गया है। इससे स्पष्ट परिणाम यही निकलता है कि इन दोनों मन्त्रों में स्वेच्छाचारी राजा की ही निन्दा की गई है। इनमें राजा मात्र की निन्दा नहीं हो सकती। अन्यथा राजा के चुनाव विषयक प्रकरणों का क्या अभिप्राय रहेगा? यदि राजा ने प्रजा को खाना ही है तो वेद उसके चुनने की, जैसा कि पीछे दिखाया जा चुका है, शिक्षा क्यों देते हैं? वेदों की सम्मति में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य नहीं होना चाहिए क्योंकि उसमें प्रजा की उन्नति नहीं हो सकती।

12

संघीय राज्य प्रणाली

संघीय राज्य प्रणाली का प्रतिपादन

वेदों का स्वाध्याय करते हुए हमें अनेक ऐसे स्पष्ट निर्देश मिलते हैं जिनसे मालूम होता है कि वेदों की सम्मति में किसी राष्ट्र का शासन 'संघीय राज्य' या 'राज-मध्यस्थ राज्य' प्रणाली से होना चाहिए। प्रत्येक देश में छोटे-छोटे राज्य हों जो अपना आन्तरिक शासन करने में पूर्ण स्वतन्त्र हों। ये सारे राज्य मिलकर एक राष्ट्रपति—वेद की भाषा में 'इन्द्र' या सम्राट्—चुन लें। राष्ट्रपति या सम्राट् की सरकार का काम, इन राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को सुलझा कर उनके सम्बन्धों को स्नेहान्वित और स्वस्थ रखना तथा सम्पूर्ण राष्ट्र (Federation of States) का परराष्ट्रों के साथ सम्बन्ध निर्धारित करना होगा। ये छोटे राज्य अपने-अपने राजा को चुनेंगे। और सब मिलकर 'सम्राट्' या राष्ट्रपति का चुनाव करेंगे। पिछला 'राजा का चुनाव' नामक प्रकरण छोटे राजाओं और सम्राट् पर समान रूप से लागू होता है। उस प्रकरण में दिये गये वैदिक प्रमाणों में से कितने ही सम्राट् के सम्बन्ध में आये हैं और कितने ही राजामात्र के सम्बन्ध में आये हैं। इन छोटे राज्यों तथा सम्राट् की सरकार की अपनी-अपनी सभा और समितियाँ (Lower and Upper Houses of Legislature) होंगी यह आगे दिखाया जायेगा। यहाँ कुछ ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं जिनसे यह स्पष्ट होगा कि वेदों की सम्मति में राष्ट्र का शासन 'संघीय' या 'राज-मध्यस्थ' राज्य प्रणाली (Federal System of Government) से होना चाहिए—

- | | |
|---|--------------|
| (क) 1. प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्ति पृंसः । | ऋग्० 7.6.1. |
| 2. त्वामग्ने मनीषिणः सम्राजं चर्षणीनाम् । | ऋग्० 3.10.1. |
| 3. अग्निं कविं सम्राजमतिथिं जनानाम् । | ऋग्० 6.7.1. |
| | यजु० 7.14. |
| 4. अग्ने सम्राडभि धुम्नमभि सह आ यच्छस्व । | यजु० 3.38. |
| 5. अग्निः.....सम्राडैको वि राजति । | यजु० 12.117. |

इन मन्त्रखण्डों में अग्नि को सम्राट् कहा गया है। पीछे भी हम अनेक प्रमाणों से सिद्ध करके आये हैं कि वेद में अनेक स्थानों पर अग्नि मनुष्यों के सम्राट् के लिए प्रयुक्त हुआ है। और वह स्वयं मनुष्य है। अब सम्राट् शब्द की स्पष्ट ध्वनि है कि उसके नीचे और राजा लोग भी हैं, जिनके ऊपर वह समान रूप से चमकता या राज्य करता है। सम्राट् शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के विद्वान् 'स समानरूपेण स्वाधीनेषु राजसु राजत इति सम्राट्' ऐसी किया करते हैं। अर्थात् जिसके अधीन अन्य माण्डलिक राजा लोग हों वह सम्राट् कहलाता है। संस्कृत साहित्य में अधिकांश सम्राट् शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसे उस भाषा से थोड़ा सा भी परिचय रखने वाले लोग भली-भाँति जानते हैं। संस्कृत का यह शब्द अपने इसी अर्थ में, संस्कृत से अपना शब्द-कोश लेने वाली हिन्दी आदि भारत की प्रान्तीय भाषाओं तक में प्रयुक्त होता है। इसीलिए लोक भाषा में भारत की वर्तमान रियासतों के शासकों को राजा और उन पर राज्य करने वाले इंग्लैण्ड¹ के राजा को सम्राट् कहते हैं। इसी प्रकार अग्नि को सम्राट् कहना संघ-राज्य की कल्पना को व्यक्त करता है। इसी भाँति—

- (ख) 1. प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रम् । ऋग्० 8.16.1.
 2. महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम् । ऋग्० 10.134.1.
 3. पृथिव्याश्च सम्राट् । ऋग्० 1.100.1.
 4. भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः । ऋग्० 4.19.2.
 5. सम्राट् साह्वान् तरुनो अभ्यस्ति कृष्टीः । ऋग्० 4.21.2.
 6. इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रम् । ऋग्० 4.21.10.
 7. मघवा मघ्वं सम्राट् । ऋग्० 6.27.8.
 8. इदं हविर्मववन् तुभ्यं रातं प्रति सम्राळहृणानो शुभाय ।
 ऋग्० 10.116.7.
 9. प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यम् । अथ० 20.44.1.

इन मन्त्रों में इन्द्र को सम्राट् कहा गया है। अग्नि की भाँति ही इन्द्र के सम्बन्ध में भी हम पीछे दिखा आये हैं कि वह मनुष्य है और मनुष्यों का सम्राट् है। अतएव इन्द्र को सम्राट् कहने की भी वही ध्वनि है। अर्थात् इन्द्र एक ऐसा राजा है जिसके नीचे और अनेक छोटे-छोटे माण्डलिक राजा हैं जिन पर वह समान रूप से चमकता और राज्य करता है—'सं राजते'। यहाँ भी संघ-राज्य की कल्पना स्पष्ट व्यक्त होती है।

- (ग) 1. सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिहृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
 ऋग्० 10.63.5.

इस मन्त्र-खण्ड में किसी देवता-विशेष का विशेषण न होकर विशेष्य के रूप में बहुवचनान्त सम्राट् शब्द का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण मन्त्र का विस्तृत व्याख्यान पीछे

¹ जब यह प्रकरण लिखा गया था तब भारत अंग्रेजों के अधीन था।

किया जा चुका है। इसमें सम्राटों के वानप्रस्थाश्रम में जाने का वर्णन है। हम दिखा ही चुके हैं कि सम्राट् उन राजाओं को कहते हैं जिनके अधीन और अनेक माण्डलिक राजा हों।

(घ) 1. युष्मोतः सम्राट् हन्ति वृत्रम् ।

ऋग्वे० 7.58.4.

यह मन्त्र जिस सूक्त का है उसका देवता मरुत् है। मरुत् मरने-मारने वाले सैनिकों को कहते हैं। प्रस्तुत मन्त्र-खण्ड में मरुतों की महिमा गाई गई है कि हे मरुतो ! तुम्हारे द्वारा रक्षित होकर सम्राट् अपने राष्ट्र के अपवारक शत्रु को (वृत्रम्) मार भगाता है। यहाँ भी सम्राट् शब्द किसी देवता का विशेषण होकर नहीं आया है प्रत्युत विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार इस मन्त्र में भी ऐसे राजा की कल्पना की गई है जो खाली राजा नहीं है प्रत्युत सम्राट् है, जो अपने अधीनस्थ अन्य राजाओं पर समान रूप से चमकता और शासन करता है—‘सं राजते’।

(ङ) 1. वाजस्येमां प्रसवः शिश्विषे दिवमिमा च विष्वा भुवनानि सम्राट् ।

अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्तस नो रयि सर्ववीरं नि यच्छुत स्वाहा ।

यजु० 9.24.

यजुर्वेद के नवम् और दशम् अध्याय में राज्याभिषेक का विषय है। वहाँ राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग हुआ है और राजा के लिए प्रजापति, राजा आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। राजा के ही भिन्न-भिन्न स्वरूपों को बताने वाले सोम, विष्णु, अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र¹ आदि शब्दों द्वारा भी रूपान्तर से उसे पुकारा गया है। इन्द्र के सम्बन्ध में हम विस्तार से कह चुके हैं कि यह सम्राट् के लिए प्रयुक्त होता है। इन अध्यायों में इन्द्र शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि यहाँ जिस राजा का वर्णन है वह सम्राट् है अर्थात् ऐसा राजा है जिसके अधीन और भी अनेक माण्डलिक राजा हैं जिन पर वह शासन करता है। यह और बात है कि गौणी वृत्ति से इन अध्यायों के मन्त्रों की व्याख्या माण्डलिक राजाओं के राज्याभिषेकपरक भी की जा सके। केवल इन्द्र शब्द के प्रयोग से ही यहाँ सम्राट् की ध्वनि निकलती हो ऐसा नहीं है। ऊपर जो यजु० 9.24. मन्त्र उद्धृत किया गया है उसमें अभिषिच्यमान राजा को सम्राट् शब्द से कहा गया है और उससे राष्ट्र के ऐश्वर्य की वृद्धि की याचना की गई है। इस प्रकार इन अध्यायों में राजा को सम्राट् कहकर राज्यसंघ की कल्पना को पुष्ट किया गया है।

(च) 1. सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।

देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥

अथ० 6.86.3.

¹ अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।

वाचं विष्णुं सरस्वतीं सविस्तारं च वाजिनं स्वाहा । यजु० 9.27.

अर्यं मन्त्र उदाहरणरूपेणावगतव्यः । अत्र हि कर्तव्यमेदवशतया अर्यमादिरूपावस्थायिनं नृपति प्रजाभ्यः कल्याणदानाय प्रेरयितुं याज्ञकैरीश्वरः प्रार्थयते ।

अथर्ववेद के 86, 87 और 88 सूक्तों का विषय राजा का चुनाव और अभिषेक है। इसमें से 87वें सूक्त के प्रथम और द्वितीय मन्त्रों को हम 'राजा का चुनाव' विषयक प्रकरण में दे भी चुके हैं। इन सूक्तों में जिस व्यक्ति का नाम संवरण और अभिषेक हो रहा है उसे 'त्वम्'—तू और 'त्वाम्'—तुझको शब्दों से सम्बोधित किया गया है। ऊपर उद्धृत (अथ० 6.86.3) मन्त्र में उसी 'त्वम्'-पद-वाच्य व्यक्ति को सम्राट् शब्द से भी अभिहित किया है। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

‘हे अभिषिच्यमान व्यक्ति ! तू (असुराणाम्)¹ बुद्धिमान् (मनुष्याणां) मनुष्यों का (सम्राट्) सम्राट् (असि) बन रहा है (ककुट्) शिखा की तरह उनमें मुख्य स्थान प्राप्त कर रहा है (देवानाम्)² प्रजा के व्यवहार-शील, विजय-शील लोगों का (अर्घभाक्)³ वृद्धि देने वाला (असि) बन रहा है (त्वम्) तू (एकवृषः) एक रूप से सब के ऊपर कल्याणों की वर्षा करने वाला (भव) हो ।’

इस प्रकार यहाँ भी राजा के लिये सम्राट् शब्द का प्रयोग इसी बात को ध्वनित करता है। अर्थात् वह ऐसा राजा है जिसकी अधीनता में और भी अनेक माण्डलिक राजा हैं।

(छ) 1. वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चैतारमधिराजमक्रन् ।

ऋग्० 10.128.9.

ऋग्वेद 10.128 सूक्त राजधर्म विषयक है। राजा राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों के अधिकारियों और परमात्मा से सहायता माँग रहा है कि वह उनके सहयोग से अपने कर्तव्यों के पालन में समर्थ हो सके। और प्रजाजन उसको कह रहे हैं कि वह अपने कर्तव्य से कभी विचलित न हो और उनका मंगल सदा करता रहे। उसी सूक्त के अन्तिम मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर उद्धृत मन्त्र खण्ड है। इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में राजा कह रहा है कि हम राष्ट्र के सभी (सपत्ना) दुश्मनों को मार भगावेंगे। उत्तरार्द्ध में हेतु देता है—‘क्योंकि राष्ट्र के वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी रहकर विद्या प्राप्त विद्वानों ने मुझ तेजस्वी (उग्रं) और ज्ञानी (चैतारम्) को राष्ट्र के ऊपर बैठने वाला (उपरिस्पृशम्) अधिराज बनाया है ।’

संस्कृत साहित्य में जो अर्थ सम्राट् का होता है वही ‘अधिराज’ का भी होता है। प्रत्युत अधिराज शब्द सम्राट् से भी अधिक स्पष्टता से सम्राट् के भाव को व्यक्त करता है। अधिराज शब्द की व्युत्पत्ति है—‘राजसु अधि अधिराजः’। अर्थात् जो अन्य राजाओं के ऊपर हो उस राजा को अधिराज कहते हैं। इस मन्त्र में ‘अधिराज’ शब्द का प्रयोग स्पष्ट ध्वनित करता है कि उसकी अधीनता में और माण्डलिक राजा भी हैं जिनका वह अधिराज है। इस अधिराज शब्द से भी संघ-राज्य के विचार की

¹ असुरिति प्रज्ञानाम् । निरु० 10.23, रो मत्वर्थीयः ।

² दिव् धातोरर्थेषु विजिगीषाव्यवहारावप्यन्यतमौ ।

³ ऋधु वृद्धौ । भावे धञ् । अर्द्धा वृद्धिः ।

पुष्टि होती है।

अथर्ववेद के पाँचवें काण्ड का तीसरा सूक्त भी वही है जो कि ऋग्० 10.128. सूक्त है। अथर्ववेद में आये इस सूक्त में दो मन्त्र अधिक हैं। ऋग्वेद में 9 मन्त्रों का सूक्त है और अथर्ववेद में 11 का। अथर्ववेद के सूक्त का 10वाँ मन्त्र वही है जो ऋग्वेद के सूक्त का 9वाँ है। इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध भी वही है जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। ऋग्वेद में इस मन्त्र पर सूक्त समाप्त हो जाता है। परन्तु अथर्ववेद में इसके आगे एक ग्यारहवाँ मन्त्र और आता है। जिसका देवता इन्द्र है। इस प्रकार दसवें और ग्यारहवें मन्त्रों को मिलाकर पढ़ने से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो अपने को दसवें मन्त्र में अधिराज कह रहा है वही ग्यारहवें मन्त्र में इन्द्र हो गया है जिसे प्रजायें अपने कल्याण के लिए बुला रही हैं। इन्द्र मनुष्य है और मनुष्यों का सम्राट् है यह हम दिखा ही चुके हैं। उस सम्राट् को ही अथर्ववेद के इस सूक्त में अधिराज कहा है। उसे अधिराज कहना संघ-राज्य के विचार को जन्म देता है।

(ज) 1. त्वमिन्द्राधिराजः ।

अथ० 6.98.2.

2. यो देवानामधिराजो बभूव ।

अथ० 19.46.4.

यहाँ पुनः इन्द्र को अधिराज कहा है। इन्द्र मनुष्य है और मनुष्यों का सम्राट् है यह हम देख चुके हैं। उसी सम्राट् को अधिराज कह रहे हैं। अधिराज का अर्थ, जैसा अभी देख चुके हैं, जो अन्य माण्डलिक राजाओं के ऊपर राज्य करे वह राजा होता है। इन्द्र को अधिराज कहने का स्पष्ट अभिप्राय है कि उसके नीचे अन्य राजा भी हैं जिनका वह अधिराज है। इस प्रकार यहाँ भी संघ-राज्य के विचार का समर्थन हो रहा है।

(झ) 1. त्वं राजेन्द्र ।

ऋग्० 1.174.1.

यहाँ इन्द्र को राजेन्द्र कहा गया है। राजेन्द्र शब्द का प्रयोग भी संस्कृत साहित्य में ऐसे राजा के लिए होता है जिसके अधीन और अनेक राजा होते हैं। इन्द्र के इस विशेषण की ध्वनि भी असंदिग्ध रूप में राज्य-संघ शासन प्रणाली की ओर है।

(ञ) 1. अधिराजो राजसु राजयार्त ।

अथ० 6.98.1.

अब तक जो बात हम 'अधिराज' और 'सम्राट्' शब्दों की बनावट से ध्वनि और व्यंजना द्वारा निकालते रहे हैं वही बात अथर्ववेद के इस मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कह दी गई है। इस मन्त्र-खण्ड का शाब्दिक अर्थ है कि 'इन्द्र अधिराज होकर राजाओं पर राज्य करे।' इन्द्र मनुष्य है और मनुष्यों का सम्राट् है यह अब पाठकों को बार-बार स्मरण कराने की आवश्यकता नहीं है। इस मन्त्र में विस्पष्ट और खुले शब्दों में कहा गया है कि इन्द्र अधिराज है, उसकी आधीनता में ओर छोटे-छोटे माण्डलिक राजा हैं, जिन पर वह शासन करता है। इस प्रकार वेद के इन प्रमाणों से स्पष्ट निर्देश निकलता है कि किसी राष्ट्र का शासन राज्य-संघ प्रणाली (Federal System of Government) से होना चाहिए। प्रान्तों के अपने छोटे-छोटे राज्य हों, जिनके

राजा चुने जाया करें। सारे राज्य मिलकर एक बड़ा राष्ट्र बनाएँ जिसके राष्ट्रपति का नाम इन्द्र, सम्राट् अथवा अधिराज हो। इस राष्ट्रपति को भी राष्ट्र के सारे लोग मिलकर चुनें।

और प्रमाण लीजिये—

(त) 1. तं ज्येष्ठराजम् ।

ऋग्० 8.16.3, अथ० 20.49.3.

जिन दोनों सूक्तों में यह मन्त्रखण्ड आया है उनका विषय राजनीति सम्बन्धी ही है। इसमें इन्द्र को ज्येष्ठ अर्थात् बड़ा राजा कहा है। इन्द्र को ज्येष्ठ राजा कहने का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि उसके नीचे उससे छोटे और भी राजा हैं। ज्येष्ठ शब्द की प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब कि जिसे ज्येष्ठ कहा जा रहा है उससे छोटे उसी श्रेणी के और भी व्यक्ति हों। ज्येष्ठ भ्राता का अर्थ यही होता है कि जिसे ज्येष्ठ भ्राता कहा जा रहा है उससे छोटे उसके और भी भाई हैं। इन्द्र को ज्येष्ठ राजा कहना भी तभी सार्थक हो सकता है जब उसके नीचे और भी छोटे राजा हों जिनका वह ज्येष्ठ राजा है। इन्द्र के इस विशेषण से भी राज्य-संघ की असन्दिग्ध ध्वनि निकलती है।

(थ) 1. अस्ताव्यग्निः शिमीवद्भिरर्कैः साम्राज्याय प्रतरं दधानः ।

ऋग्० 1.141.13.

अर्थात्—‘कर्मशील और ज्ञानवान् (शिमीवद्भिः)¹ अर्चकों ने (अर्कैः) साम्राज्य के लिए प्रकृष्ट सामर्थ्य को (प्रतरं) धारण किए हुए अग्नि की स्तुति की है।’ अग्नि में साम्राज्य को चलाने के लिए आवश्यक उत्कृष्ट गुण हैं और इसीलिए प्रजा के अर्चक लोग उसकी स्तुति करते हैं। अग्नि मनुष्य है और मनुष्यों का सम्राट् है यह हमें पाठकों को बार-बार स्मरण कराना नहीं होगा। यहाँ अग्नि को साम्राज्य चलाने वाले के रूप में उपस्थित किया है। राजा के शासन-विषय को जैसे राज्य कहते हैं वैसे ही सम्राट् के शासन-विषय (Domain) को साम्राज्य कहते हैं। सम्राट् हम देख चुके हैं कि उस राजा को कहते हैं जिसके अधीन और अनेक छोटे-छोटे राज्य हैं। इसीलिए साम्राज्य वह राज्य हुआ जिसमें अनेक छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित हों। इस प्रकार यह साम्राज्य शब्द भी संघ-राज्य शासन-प्रणाली को ध्वनित करता है।

(द) 1. त्वा साम्राज्येनाभि षिञ्चामि ।

यजु० 9.30.

हम पीछे दिखा चुके हैं कि यजुर्वेद के नवें और दसवें अध्याय का विषय सम्राट् के राज्याभिषेक का है। इस मन्त्रखण्ड में याजक पुरोहित यजमान राजा से कह रहा है कि मैं तेरा साम्राज्य से अभिषेक कर रहा हूँ अर्थात् तुझे अभिषिक्त करके साम्राज्य पर बिठा रहा हूँ। यहाँ भी साम्राज्य शब्द की वही ध्वनि है जो ऊपर अभी दिखाई गई है। अर्थात् ऐसे राज्य की कल्पना है जिसमें और अनेक छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित हों।

¹ शिमीति कर्मनामसु पठितम् । —निघ० 2.7.

शिमीति प्रज्ञानामसु पठितम् । —निघ० 3.9.

(घ) 1. त्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ।

यजु० 18.37

यहाँ भी अभिषेक द्वारा साम्राज्य पद पर अधिष्ठित करने का वर्णन है। साम्राज्य शब्द की ध्वनि पाठक समझ ही गये हैं।

(न) इसके अतिरिक्त वेद में कई स्थानों पर मित्र, वरुण, रुद्र आदि देवताओं के साथ भी सम्राट् और साम्राज्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये देवता क्या हैं इस पर यथावसर आगे विचार किया जायेगा। यहाँ मोटे तौर पर इतना ही समझ लेना चाहिए कि ये इन्द्र अर्थात् सम्राट् के ही कर्त्तव्य-भेद से उसमें आ जाने वाली विभिन्न-रूपता को बताने वाले नाम हैं। इसलिए इनके साथ आने वाले सम्राट् और साम्राज्य पदों की भी वही ध्वनि समझनी चाहिए जो अब तक हम दिखाते आ रहे हैं। हमने विस्तार भय से इन देवताओं के सम्राट् और साम्राज्य पदों वाले मन्त्र उद्धृत नहीं किये हैं।

(प) 1. सजातानाम् मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने ।

अथ० 2.6.4.

2. स जातानां मध्यमस्था एधि राज्ञामग्ने ।

यजु० 27.5.

ये दोनों मन्त्रखण्ड जिन प्रकरणों के हैं उनमें अग्नि अर्थात् सम्राट् के चुनाव का वर्णन है। यह 'राजा का चुनाव' प्रकरण में हम विस्तार से दिखा आये हैं। प्रस्तुत मन्त्र-खण्डों में अग्नि को सजात राजाओं में मध्यस्थ राजा बनने के लिए कहा जा रहा है। अर्थात् यहाँ ऐसे राजा का चुनाव हो रहा है जिसे अन्य राजाओं में मध्यस्थता का काम करना है, उनके पारस्परिक झगड़े मिटाकर उनके सम्बन्धों को स्वस्थ रखना है। मध्यस्थ का यही कार्य हुआ करता है। यहाँ स्पष्ट रूप में राजाओं का मध्यस्थ राजा चुना जा रहा है। इन मन्त्रों को पढ़ने के पीछे किसी को सन्देह का स्थान नहीं रहना चाहिए कि वेद राज्य-संघ या राज्य-मध्यस्थ-राज्य-प्रणाली (Federal System of Government) का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र में छोटे-छोटे राज्य हों जिनके राजा चुने जाया करें, और फिर ये सारे राज्य मिलकर बड़ा राष्ट्र बनायें जिससे राष्ट्रपति का सारा राष्ट्र मिलकर चुनाव किया करें। यह राष्ट्रपति या मध्यस्थ राजा अधीनस्थ छोटे राज्यों में पारस्परिक सम्बन्धों को स्वस्थ और स्नेहान्वित रखने का कार्य करेगा तथा समूचे राष्ट्र हितों की रक्षा करेगा।

उद्धृत मन्त्र-खण्डों में मध्यस्थ राजा तथा दूसरे राजाओं को सजात इसलिए कहा है कि ये सारे ही चुनाव द्वारा समान रूप से उत्पन्न होते हैं। सजात=स+जात=समान+जात।

(फ) 1. सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ।

अथ० 3.8.2.

अथर्ववेद का 3.8 सूक्त भी राजनीति विषयक है। इसमें राजा बन गया व्यक्ति प्रजाजनों तथा राज्य के भिन्न-भिन्न अधिकारियों की अनुकूलता प्राप्त करना चाह रहा है। उसी प्रसंग में वह ऊपर उद्धृत मन्त्र-खण्ड बोलता है। इसमें वह कहता है कि मैं सजात राजाओं का मध्यस्थ हो सकूँ—सजात राजा लोग इसमें मेरी सहायता

करें और मैं अपने मध्यस्थ राजा के धर्म को भली-भाँति निभा सकूँ। उसी सूक्त के चौथे मन्त्र में 'सजातेरिद्वोप्रति ब्रुवद्भिः' कहकर यह आशंसा प्रकट की गई है कि राज्य के सोम आदि अधिकारी इस प्रकार मेरी सहायता करें कि सजात राजा लोग मेरे निर्णयों का प्रति वचन अर्थात् विरोध न कर सकें—मेरे निर्णय खूब सोच-विचार कर दिये हुए हों। इस प्रकार इस सूक्त में भी संधीय राज्य या राज-मध्यस्थ राज्य-प्रणाली का विस्पष्ट निर्देश है।

(व) यतध्वं सजातानां मध्यमेष्ठयाय ।

यजु० 10.29.

यजुर्वेद के दशम अध्याय का विषय राज्याभिषेक है, यह हम देख चुके हैं। उसी का यह उद्धृत मन्त्रखण्ड है। इसमें यह कहा गया है कि 'ऐसा यत्न करो जिससे यह अभिविच्यमान यजमान राजा सजात राजाओं की मध्यस्थता प्राप्त कर सके—राष्ट्र के माण्डलिक राजाओं का मध्यस्थ राजा—राष्ट्रपति—बन सके। राजा को मध्यस्थ राजा कहने का क्या भाव है यह पाठक समझ ही चुके हैं। यहाँ भी संधीय राज्य प्रणाली की स्पष्ट ध्वनि है।

(भ) ये राजानो राजकृतः ।

अथ० 3.5.7.

इसमें राजा को बनाने वाले (राजकृतः) राजाओं का वर्णन है। जब राजा लोग अन्य किसी को अपना राजा बनाने की सहमति देंगे तो वह उनका मध्यस्थ—उनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्वस्थ रखने वाला—राजा ही होगा। इस प्रकार इस मन्त्रखण्ड में भी संधीय राज्य या राज-मध्यस्थ राज्य प्रणाली का स्पष्ट समर्थन होता है।

(म) इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा ।

यजु० 8.37.

इस मन्त्र में सम्राट् की 'इन्द्र' संज्ञा और राजा की 'वरुण' संज्ञा बताई गई है। यहाँ सम्राट् और राजा शब्दों का साथ-साथ आना स्पष्ट संधीय राज्य या राज-मध्यस्थ राज्य-प्रणाली की सूचना देता है। सम्राट् की सत्ता ही तब उपपन्न हो सकती है जब उसके नीचे और अनेक छोटे माण्डलिक राजा भी हों। इस मन्त्र में ऐसे माण्डलिक राजाओं की एक संज्ञा 'वरुण' भी बताई गई प्रतीत होती है। यहाँ इन्द्र और वरुण का अर्थ कोई कुछ भी ले ले, उन्हें सम्राट् राजा रूप में उपस्थित करता हुआ यह मन्त्र संधीय राज्य प्रणाली की विस्पष्ट ध्वनि अवश्य कर देता है।

(य) सम्राळन्यः स्वराळन्य उच्यते वाम् ।

ऋग्० 7.82.2.

ऋग्वेद 7.82 सूक्त के देवता इन्द्र और वरुण (इन्द्रावरुणी) हैं। सूक्त के उपर्युक्त दूसरे मन्त्र में इन्द्र को सम्राट् और वरुण को स्वराट् कहा है। सम्राट् का अर्थ हम बता चुके हैं कि जो अन्य राजाओं पर राज्य करे। स्वराट् का अर्थ है (स्व) अपने ही शासन-विषय (domain) में राज्य करने वाला (राट्)। अर्थात् वरुण लोग तो अपने ही राज्य में राज्य करते हैं—वे स्वराट् हैं, परन्तु इन्द्र लोग इन वरुणों के राज्यों पर भी शासन करते हैं—वे सम्राट् हैं। यहाँ भी इन्द्र और वरुण का अर्थ कोई कुछ ले ले, परन्तु उन्हें सम्राट् और स्वराट् के रूप में उपस्थित करता हुआ यह मन्त्र भी

संघीय राज्य-प्रणाली के राजनीतिक सिद्धान्त की झलक अवश्य दे जाता है ।

- (र) 1. इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम् ।
निरमित्रानक्षुण्णस्य सर्वास्तान्धवयास्मा अहमुत्तरेषु ॥
2. एमं भज ग्रामे अश्वेषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य ।
वर्षं क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥
3. अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विस्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥
4. अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥
5. युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥
6. उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥
7. सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् ।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के इस वाईसवें सूक्त से हमारी स्थापना की ओर भी असंदिग्ध रूप में पुष्टि होती है । हमारी स्थापना है कि वेद संघीय राज्य प्रणाली के पोषक हैं । प्रत्येक देश में, कम से कम बड़े देशों में, छोटे-छोटे राज्य हों जो अपने आन्तरिक प्रबन्धों में स्वतन्त्र हों । ये छोटे राज्य मिलकर एक बड़ा राष्ट्र बनाएँ । इस बड़ी राष्ट्रीय सरकार का काम छोटे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्नेहान्वित और स्वस्थ रखना तथा समूचे राष्ट्र की दूसरे राष्ट्रों के आक्रमणों से रक्षा करना एवं दूसरे राष्ट्रों के साथ स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करना होगा । छोटे राज्यों के चुने हुए प्रधान शासक को राजा और समूचे राष्ट्र के चुने हुए प्रधान शासक को वेद में सम्राट् या 'इन्द्र' कहा गया है । अथर्ववेद के इस प्रस्तुत सूक्त में इसी प्रकार के एक छोटे राज्य का राजा सिंहासन पर बैठा है । उसका पुरोहित या प्रधानामात्य उसकी प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में इन्द्र (सम्राट्) से—सम्राट् की सरकार से—इस माण्डलिक राजा के कल्याण, मंगल और अभ्युदय को बढ़ाने तथा उसके शत्रुओं को नष्ट करने में सहायता करने की प्रार्थना कर रहा है । और साथ ही इस माण्डलिक राजा को सम्बोधन करके कह रहा है कि तेरा इन्द्र की सरकार के साथ सम्बन्ध हो गया है, इसलिए तू उसकी सहायता से अपने राज्य में सुखों की वर्षा कर और अपने राज्य के शत्रुओं को दबा । हमने पाठकों के लिए सम्पूर्ण सूक्त को उद्धृत कर दिया है । नीचे उसके प्रत्येक मन्त्र का सरल शाब्दिक अनुवाद दे रहे हैं । प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में पुरोहित या प्रधानामात्य कहता है—

‘(इन्द्र) हे सम्राट् (मे) मेरे (इमं) इस (क्षत्रियं) क्षत्रिय राजा को (वर्धय)

तू बड़ा (त्वम्) तू (इमं) इसको (विशां) इसके राज्य की प्रजाओं का (एकवृषं) एक-मात्र सुख मंगल बरसाने वाला (कृणु) कर दे (अस्य) इसके (अमित्रान्) शत्रुओं को (निरक्षुहि) तू फैलने मत दे (तान्) उन (सर्वान्) सबको (अहमुत्तरेषु) मैं बड़ा हूँ—मैं बड़ा हूँ इस भाव को लेकर किये गये युद्धों अथवा अन्य झगड़ों के अवसरों पर (अस्मै) इस राजा के लिए (रन्धय) नष्ट कर दे । अर्थात् इसके अन्यो के साथ लड़ाई-झगड़ों को तू सुलझाने का काम कर ।'

‘(इमं) इसको (ग्रामे) ग्राम (आभज) दिलवा (अश्वेषु) घोड़े दिलवा (गोषु) गौवें दिलवा (यः) जो इसका (अमित्रः) शत्रु है (तं) उसको (निर्मज) मत दिलवा । अर्थात् जब ग्राम आदि को लेकर इसका दूसरे राजा के साथ झगड़ा होने लगे तब इसके अन्यायाश्रित शत्रु को ये चीजें मत दिलवा । यहाँ अन्यायाश्रित पद का अध्याहार करना होगा । क्योंकि इन्द्र ने तो सभी माण्डलिक राजाओं की मध्यस्थता करनी है, इसलिए वह किसी एक का पक्षपात कैसे कर सकता है । (अयं) यह (राजा) राजा (क्षत्राणां) अपने राज्य के सारे क्षत्रियों का (वर्ष्म) मूर्धन्य (अस्तु) हो जावे (अस्मै) इसके लिए (सर्वं) सारे (शत्रुं) शत्रुओं को (रन्धय) नष्ट कर दे ।’

‘(अयं) यह (धनानां) धनों का (धनपतिः) धनस्वामी (अस्तु) हो जाये अर्थात् तेरी सहायता से इसके राज्य में खूब धनधान्य बढ़े । (अयं) यह (राजा) राजा (वशां) अपने राज्य की प्रजाओं का (विश्वपतिः) प्रजापति, मालिक (अस्तु) हो जावे । तेरी संरक्षा में यह अपनी प्रजाओं का आदर्श राजा बन सके । (इन्द्र) हे सम्राट् (अस्मिन्) इस राजा में (महि) अपने महान् (वर्चोसि) तेजों को (वेहि) धारण कर । अर्थात् तेरा जो अधिकार-तेज (authority) है उसका इसे पूरा लाभ मिले (अस्य) इसके (शत्रुं) शत्रु को (अवर्चसम्) तेजहीन (कृणुहि) कर दे । अर्थात् इसके अन्यायाश्रित शत्रु को तेरे अधिकार-तेज का लाभ न मिले ।’

‘(अस्मै) इस राजा के लिए (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (कामं) कमनीय कल्याणों की (दुहायां) वर्षा करें (इव) जैसे—(धर्मदुधे)¹ धाराओं में झरने वाले दूध को देने वाली अर्थात् बहुत दूध देने वाली (वेनु) दुधारू गौवें (दुहाते)² दूध की वर्षा करती हैं । अर्थात् इसके लिए द्युलोक समय पर सुन्दर दृष्टि करता रहे और पृथिवी अग्रादि रत्नों को देती रहे ऐसी भगवान् से विनय है । (अयं) यह (राजा) राजा (इन्द्रस्य) सम्राट् का (प्रियः) प्यारा (भूयात्) होकर रहे । सम्राट् की सरकार के साथ इसके कभी झगड़े न हों । (गवां) गौओं का (औषधीनां) अनाज और औषधियों का (पशूनाम्) सब प्रकार के पशुओं का भी (प्रियः) यह प्यारा रहे । इसके राज्य में गौ आदि की कमी न रहे ।’

हे राजन् मैं (ते) तेरे साथ (उत्तरावन्तम्) तुझसे अधिक ऊँची स्थिति में

¹ धर्मं दुहाते इति धर्मदुधे । धर्मश्चात्र दुग्धम् ।

धृक्षरणदीप्त्योरित्यस्मान्निष्पन्नत्वात् ।

² दुहाते इति पदमस्माभिरध्याहृतम् ।

रहने वाले (इन्द्रं) सम्राट् को (युनज्मि) जोड़ता हूँ (येन) जिस सम्राट् की सहायता से (जयन्ति) विजय को पाते हैं । (न पराजयन्ते) पराजय नहीं पाते अर्थात् मैं तेरे और सम्राट् की सरकार के सम्बन्धों की पारस्परिक अनुकूलता युक्त बनाता हूँ जिससे तुझे हरेक कार्य में विजय प्राप्त हो (यः) जो सम्राट् (त्वा) तुझे (जनानाम्) अपने राज्य के लोगों के लिए (एकवृषं) एकमात्र सुख-मंगल बरसाने वाला (करत्) कर देगा (इत्) और (मानवानां) मनुष्यों के (राज्ञाम्) राजाओं में (उत्तमं) उत्तम श्रेणी का (करत्) बना देगा । अर्थात् इसकी सहायता से तू ऐसा उत्तम राज्य प्रबन्ध करेगा कि तेरी प्रथम श्रेणी के राजाओं में गणना होगी । 'ते इन्द्रं युनज्मि'—तेरे साथ सम्राट् को जोड़ता हूँ मन्त्र का यह वाक्य ध्यान देने योग्य है । इसमें छोटे माण्डलिक राजाओं के मध्यस्थ या प्रधान राष्ट्रपति राजा के साथ सम्बन्ध जोड़ने (Accession to Federation) का बड़ा स्पष्ट वर्णन है । इसके लिए 'युजिर् योगे' धातु का प्रयोग हुआ है ।

‘(राजन्) हे राजन् (त्वं) तू (उत्तरः) उत्कृष्ट हो (च) और (ये) जो (के) कोई तेरे (प्रतिशत्रवः) प्रतिद्वन्द्वी होकर शत्रुता करने वाले (सपत्नाः) दुश्मन हों (ते) वे सब (अधरे) नीचे हो जाएँ—हार जायें (एकवृषः) अपने राज्य में एकमात्र सुख-मंगल की वर्षा करने वाला तू (इन्द्रसखा) सम्राट् का मित्र बनकर (जिगीवान्) हरेक कार्य में विजय प्राप्त करने वाला होकर (शत्रूयताम्) तुझसे शत्रुता करने वालों के (भोजनानि)¹ भोग-साधनों को (आभर) छीन ले ।’

‘(सिंहप्रतीकः) सिंह जैसे शरीर वाला अर्थात् पराक्रमी होकर (सर्वा) अपनी सारी (विशः) प्रजाओं पर (अद्धि)² राज्य कर (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्र जैसे शरीर वाला अर्थात् शौर्यशाली होकर (शत्रून्) दुश्मनों को (अववाधस्व) रोक (एकवृषः) अपनी प्रजाओं पर एकमात्र या एकरस सुख-मंगल की वर्षा करने वाला तू (इन्द्रसखा) सम्राट् का मित्र बनके (जिगीवान्) हरेक कार्य में विजय प्राप्त करने वाला होकर (शत्रूयताम्) तुझसे शत्रुता करने वालों के (भोजनानि) भोगसाधनों को (आभर) छीन ले । अर्थात् तेरे राज्य में जो लोग तेरी शासन व्यवस्था के अनुसार न चलें, न्याय-नियम में गड़बड़ करें और इस प्रकार तुझसे शत्रुता करें तू उनके भोग साधनों को छीनकर उन्हें दण्डित कर ।’

सम्राट् की सरकार और माण्डलिक राज्यों के मधुर सम्बन्ध

अथर्ववेद के इस सूक्त में माण्डलिक राजा और सम्राट् का जो सम्बन्ध दिखाया है यह हमारी स्थापना की विस्पष्ट पुष्टि करता है । माण्डलिक राजाओं और सम्राट् की सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार के हों इस पर पिछले दो मन्त्रों में प्रयुक्त हुए ‘इन्द्रसखा’ विशेषण से विशेष प्रकाश पड़ता है । माण्डलिक राजा इन्द्र के

¹ भोगसाधनानि सायणः ।

² उपभुङ्क्ष्व परिपालयेत्यर्थः ।

सखा हों, मित्र हों। उनकी स्थिति सम्राट् की सरकार के सामने सर्वथा पराधीन की, दास की, न हो। उन्हें सम्राट् की सरकार से निरीक्षण और संरक्षण तो प्राप्त होता हो पर वह ऐसा है जैसा कि छोटे और कम शक्तिशाली मित्र को अपने एक बड़े और शक्तिशाली मित्र से प्राप्त होता है। जैसे कम शक्ति-सम्पन्न मित्र का व्यक्तित्व अपने प्रचुर शक्ति-सम्पन्न मित्र के आगे मिट नहीं जाता उसी प्रकार माण्डलिक राज्यों का व्यक्तित्व, उनकी विशेषताएँ, सम्राट् की सरकार के सामने मिट न जायें। उनके व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर उन्हें मिलना चाहिए। माण्डलिक राज्यों के जो अधिकार इन्द्र की सरकार के पास गये हों वे जबरदस्ती न छीने गये हों, प्रत्युत उन द्वारा स्वयं, वैसा करना अपने कल्याण का कारण समझा जाकर, हस्तान्तरित किये गये हों। जैसे कोई मित्र अपने हित की कोई बातें अपने अधिक कल्याण की दृष्टि में रखकर अपने किसी अधिक योग्य और शक्ति-सम्पन्न हितकारी मित्र के हाथ में सौंप देता है। सम्राट् की सरकार भी जितने अंश में माण्डलिक राज्यों पर शासन करे उसमें जहाँ तक हो सके इस बात का ध्यान रखे कि शासन माण्डलिक राज्यों की अनुकूलता को प्राप्त करके ही किया जाय। अर्थात् शासन इस ढंग से किया जाये कि वह माण्डलिक राज्यों को चुभे नहीं। यह सब इन्द्र-सखा शब्द की ध्वनि है।

संघीय राज्य-प्रणाली की उत्कृष्टता

वेद प्रतिपादित संघीय राज्य प्रणाली की विशेषता को समझना जरूरी है। बड़े-बड़े राष्ट्रों के निवासियों में सभ्यता, संस्कृति और धर्म आदि की दृष्टि से एकता रखते हुए भी, उनसे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की जलवायु सम्बन्धी तथा भौतिक या प्राकृतिक परिस्थितियाँ (Climatic and physical environments) उन प्रान्तों के निवासियों के स्वभावों में बड़ा भारी भेद डाल देती हैं। एक बंगाली और एक पंजाबी के स्वभाव में, सभ्यता, संस्कृति और धर्म की एकता रहते हुए भी, कितना अन्तर रहता है यह स्पष्टतया देखा जा सकता है। इसलिए इन प्रान्तों के निवासियों को एक ही प्रकार के शासन से चलाना बहुत अधिक लाभप्रद न होगा। अतः आवश्यक है कि इन्हें अपना शासन करने में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय ताकि ये लोग अपने स्वभाव और आवश्यकताओं के अनुकूल शासन चला सकें। परन्तु इनकी सभ्यता, संस्कृति और धर्म आदि सम्बन्धी एकता यह भी चाहती है कि ये प्रान्तीय या माण्डलिक राज्य पारस्परिक झगड़ों से बचते हुए प्रेमपूर्वक रहें और अपनी सभ्यता और संस्कृति को सत्य और उन्नतिशील मार्ग की ओर ले जावें। इसके लिए इन राज्यों का परस्पर मिलकर एक 'सम्राट्' या 'राष्ट्रपति' चुन लेना आवश्यक है। सम्राट् की सरकार इन राज्यों के पारस्परिक तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के पर-राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों को स्वस्थ रखने का काम करेगी। अपने आन्तरिक शासन में ये राज्य स्वतन्त्र रहेंगे।

13

उदार राजनीति

पाँच जनों का हितकारी सम्राट्

वेद के—

- | | |
|--|------------------------------|
| 1. पाञ्चजन्यो भवत्विन्द्र ऊती । | ऋग्० 1.100.12. |
| 2. सत्पति पाञ्चजन्यं इन्द्रम् । | ऋग्० 5.32.11. |
| 3. अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्य । | ऋग्० 9.66.20.,
यजु० 26.9. |
| 4. ये अग्नयः पाञ्चजन्याः । | यजु० 18.67. |
| 5. अग्नेः प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य । | अथ० 4.23.1. |

इन मन्त्रों में इन्द्र और अग्नि को 'पांचजन्य' कहा है। इन्द्र और अग्नि सम्राट् के वाचक हैं यह हम जानते ही हैं। इसीलिए वेद में सम्राट् को 'पांचजन्य' कहा गया है ऐसा समझना चाहिए। पांचजन्य का अर्थ होता है जो 'पाँच जनों' के लिए, पाँच प्रकार के आदमियों के लिए हितकारी, उनका रक्षक हो। पंचजन शब्द से 'तत्र भवः' अर्थ में 'ज्यः' प्रत्यय होने से यह शब्द बनता है। सायण ने इसका अर्थ 'पंचजनेषु रक्षकत्वेन भवः' (ऋग्० 1.100.12) अर्थात् 'रक्षा करने के लिए पाँच प्रकार के लोगों में रहने वाला' ऐसा किया है। इससे 'पांचजन्य' शब्द में सम्राट् द्वारा 'पाँच जनों' की रक्षा का भाव स्पष्ट है। ऊपर उद्धृत प्रथम मन्त्र में स्वयं वेद ने ही कहा है कि 'हे इन्द्र तू पांचजन्य है इसलिए हमारी रक्षा कर।' ऊपर ही उद्धृत दूसरे मन्त्र में इन्द्र को कहा है—'सज्जनों का पालक पांचजन्य।' अर्थात् वह सम्राट् पाँच प्रकार के लोगों की रक्षा और पालन करता है। वह तभी रक्षा और पालन करता है जबकि वे 'पंचजन' सज्जन हों। इसलिए यद्यपि 'पांचजन्यः' यह 'भव' अर्थ में 'ज्य' प्रत्यय हुआ है तो भी इसका अर्थ केवल 'पांचजनों' में रहने वाला इतना ही नहीं है प्रत्युत वेद की अन्तःसाक्षी के आधार पर 'पांचजनों' में रहकर उनकी रक्षा करने वाला, ऐसा अर्थ मानना होगा। जैसा कि सायण ने भी निर्देश किया है। अथवा 'तस्मै हितम्' अर्थ में 'पांचजन्यः' में छान्दस 'ज्य' प्रत्यय माना जा सकता है। तब तो इसका अर्थ सीधा ही 'पाँच जनों' का हितकारी ऐसा होगा। ऊपर दिखाये गये वेद मन्त्रों के

अर्थ को ध्यान में रखते हुए तो 'पांचजन्यः' में 'हित' अर्थ से ही 'ज्य' प्रत्यय मानना चाहिए। प्रत्यय चाहे 'भव' अर्थ में मानिये और चाहे 'हित' अर्थ में, वेद में 'पांचजन्यः' शब्द में 'पांचजनो' के हित और रक्षा का भाव स्पष्ट है। निम्न मन्त्र से हमारी यह स्थापना और भी अधिक पुष्ट होती है :

यत् पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असूक्ष्म ।

अस्तृणाद्वर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः ॥

ऋग्० 8.63.7

अर्थात्—जब पांचजनो से बनी हुई प्रजा द्वारा इन्द्र के लिए पुकार (घोषा) की जाती है (असूक्ष्म)¹ तो वह इन्द्र (सम्राट्) उनके हिंसक शत्रुओं को (वर्हणा)² मार देता है (अस्तृणात्)³ और इस प्रकार वह स्वामी (अर्यः) बुद्धिमान् पुरुषों के (विपः) मान का आश्रय बनता है अर्थात् उसका बुद्धिमान् लोग मान करते हैं।

इस मन्त्र में प्रजा को 'पांचजन्या' कहा है क्योंकि वह पांच जनों में रहती है अर्थात् उनसे मिलकर बनती है। दूसरे शब्दों में क्योंकि 'पांचजनो' में प्रजात्व रहता है इसलिए प्रजा को 'पांचजन्या' कहा गया है। मन्त्र कहता है कि वह 'पांचजन्या' प्रजा जब संकट आने पर सम्राट् की पुकार लगाती है तो वह उसके शत्रु को मार देता है—उसकी विघ्न-बाधाओं को दूर कर देता है। सम्राट् के 'पांचजन्य' प्रजा की रक्षा करने के कारण बुद्धिमान् लोग उसका मान करते हैं। इस मन्त्र में असन्दिग्ध तौर पर कहा गया है कि सम्राट् प्रजा के 'पांचजनो' की रक्षा करता है। इसलिए सम्राट् (इन्द्र) के 'पांचजन्यः' विशेषण का भी यह निश्चित भाव है कि वह पांचजनों की रक्षा और पालन करता है।

पांचजन किन्हे कहते हैं ?

अब प्रश्न यह है कि प्रजा के 'पांचजन' कौन हैं ? वेद के पुरुष सूक्त में, जहाँ सारी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, मनुष्य समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र⁴ इन चार स्वाभाविक विभागों में बाँटा गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थानों पर वेद ने मनुष्य समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में ही बाँटा है। उदाहरण के लिए यजु० 18.48 और अथ० 19.62.1 मन्त्र देखे जा सकते हैं।

¹ सूज्यन्ते इति सायणः ।

² वर्हं हिसायाम् । चौरादिकः । वर्हयति हिनस्तीति वर्हणो हिंसकः शत्रुः । तान् वर्हणा, छान्दसं शस आत्वम् । सायणस्तु वर्हणा महत्त्वेनेत्येवं व्याचष्टे । तत्र समीचीनम् । सायणार्थे अस्तृणादिति क्रियापदस्य कर्म किमपि मन्त्रेनोपलभ्येत । तदानीं शत्रून्त्यध्याहर्त्तव्यं स्यात् । अस्मदर्थे तु नास्त्यध्याहारस्य स्थानम् ।

³ हिनस्ति शत्रूनि सायणः ।

⁴ ऋग्० 10.90.12 ; यजु० 31.11 ; अथ० 19.6.6 ।

वर्ण गुण-कर्म पर आधारित हैं, जन्म पर नहीं

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों के लिए वेद में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् ये चारों वर्ण हैं। वर्ण इसलिए हैं कि मनुष्य अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार इनमें से किसी एक का जीवन व्यतीत करना अपने लिए वरण करता है, चुनता है। चुने जाने के कारण, वरण किये जाने के कारण, ब्राह्मणत्वादि वर्ण हैं। और उन्हें वर्ण कहना ही इनके जन्मसिद्ध होने का खण्डन कर देता है, यह भी पाठक देखेंगे। क्योंकि जन्म से मिली हुई चीज चुनी हुई नहीं कही जा सकती। उसमें हमारी इच्छा का हाथ नहीं है। वह तो ऊपर से हम पर थोपी गई है। जब हम स्वयं अपनी इच्छा से किसी चीज को पसन्द करके लें तभी वह हमारी चुनी हुई हो सकती है। जब ब्राह्मणत्वादि वर्ण हैं तो हमारे चुने हुए हो गये और इसीलिए वे जन्म पर आश्रित नहीं हो सकते। वे हमारी अपनी योग्यता से उत्पन्न हुए हमारे गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित होंगे।

ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग

कोई पूछ सकता है कि वेद में ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग कहाँ हुआ है। यह ठीक है कि ब्राह्मणादि शब्दों के साथ स्पष्ट लिखा हुआ वर्ण शब्द हमको वेद में कहीं भी नहीं मिलता। परन्तु फिर भी एक ढंग से वेद ने ब्राह्मणादि को वर्ण कह दिया है। वह इस प्रकार है कि वेद के—

हत्वी दुस्यून् प्रायं वर्णमावत् ।

अथ० 20.11.9; ऋग० 3.34.9.

इस मन्त्र में लिखा है 'इन्द्र (सम्राट्) दस्युओं को मार कर 'आर्य वर्ण' की रक्षा कर लेता है।' इस मन्त्र के अनुसार आर्य वे लोग हैं जिनकी रक्षा करनी चाहिए और ये आर्य लोग 'वर्ण' के लोग हैं। आर्य लोगों को 'वर्ण' के लोग कहने का अभिप्राय यह है कि ये 'वर्ण-विभाग' में रहते हैं। अब दूसरी ओर देखिये। पुरुष सूक्त में वेद ने मनुष्य समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन विभागों में बाँट दिया है। अब, जो विभाग स्वयं वेद ने बनाया है उसमें रहने वाले लोगों की तो वेद के इन्द्र (सम्राट्) को रक्षा करनी ही होगी—वे लोग तो इन्द्र के लिए रक्षा करने योग्य होंगे ही क्योंकि यह विभाग तो वेद का अपना है। भला उसके लोगों की रक्षा वेद कैसे नहीं चाहेगा ? इसलिए स्पष्ट ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र लोग ऐसे लोग हैं जिनकी इन्द्र को रक्षा करनी चाहिए। अतः जब इन्द्र मनुष्य-समाज के आर्य लोगों की रक्षा करता है और मनुष्य-समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र लोगों की रक्षा भी करता है, और शेष दस्यु लोगों को मार देता है, तो निस्सन्देह आर्य लोग बराबर हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र लोगों के। अर्थात् जो आर्य हैं वे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। दूसरे शब्दों में इसी को यों भी रख सकते हैं कि 'हत्वी दुस्यून्

प्रायः वर्णमावत्'। इस मन्त्र के अनुसार, मनुष्य समाज के दो विभाग हैं, एक आर्य और दूसरा दस्यु। और पुरुष सूक्त के अनुसार, जो कि ऋग्०, यजु० और अथर्व० तीनों वेदों में आता है, मनुष्य समाज के दो विभाग हैं, एक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और दूसरा इनसे बाहर के लोग। आर्यों की रक्षा तो इन्द्र को उपर्युक्त मन्त्र के अनुसार करनी ही है। ब्राह्मणादि चारों की रक्षा भी उसे करनी होगी क्योंकि ब्राह्मणादि का विभाग वेद का अपना प्रिय विभाग है जिसे पुरुष सूक्तों में स्थान मिला है। 'हत्वो दुस्यून्' मन्त्रगत मनुष्य समाज के दो विभागों में से 'आर्य' विभाग रक्षणीय है और पुरुष सूक्त के दो विभागों में से 'ब्राह्मणादि चार' वाला विभाग रक्षणीय है। अतः मनुष्य समाज का 'आर्य' विभाग और 'ब्राह्मणादि चार' वाला विभाग एक ही है। अर्थात् जो आर्य हैं वे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। जब आर्यों को वर्ण कहा गया तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आप ही वर्ण हो गये। यदि आर्य और ब्राह्मण-क्षत्रियादि शब्दों के अर्थों को देखें तो भी आर्य लोग और 'ब्राह्मणादि चार' विभागों के लोग एक ही प्रतीत होते हैं। 'आर्य' का अर्थ होता है विद्वान्, श्रेष्ठ, उत्तम, गुणी पुरुष। ब्राह्मण का अर्थ होता है अपनी विद्या और तप के द्वारा लोगों का भला करने वाला पुरुष, क्षत्रिय का अर्थ होता है अपने भुजबल से दुःखिया लोगों की रक्षा करने वाला पुरुष, वैश्य का अर्थ होता है अपने धन से लोगों का भला करने वाला पुरुष, और शूद्र का अर्थ होता है वह पुरुष जो उपर्युक्त तीनों बातों के अभाव में केवल अपने शरीर से ही सेवा करके लाभ पहुँचा सकता है। अब पाठक देखेंगे कि ब्राह्मणादि भी विद्वान्, श्रेष्ठ, उत्तम गुणी पुरुष ही ठहरते हैं। इसलिए ये भी आर्य ही हैं। और जब आर्य वर्ण हैं तो ब्राह्मणादि वर्ण आप ही हो गये।

समाज का ब्राह्मणादि चार वर्णों में विभाग आदर्श विभाग

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे पाठक देखेंगे कि वेद की सम्मति में किसी राष्ट्र की आदर्श उत्पत्ति के लिए उसके जन-समाज का विभाग ब्राह्मणादि चार वर्णों में होना चाहिए। अपनी रुचि और शक्ति पहचान कर कुछ लोग ब्राह्मण बनने का संकल्प कर लें, जो ब्राह्मण न बन सकते हों वे क्षत्रिय बनने का संकल्प कर लें, जो क्षत्रिय भी न बन सकते हों वे वैश्य बनने का संकल्प कर लें, और जो यह भी न बन सकते हों अर्थात् जो किसी प्रकार का भी बुद्धिजन्य काम और परिश्रम न कर सकते हों वे केवल शरीर से सेवा करने वाले शूद्र बनने का संकल्प कर लें। इस प्रकार अपने-अपने वर्ण-संकल्प के अनुसार मानसिक और शारीरिक योग्यता प्राप्त करके उस योग्यता को जीवन-भर राष्ट्र के लोगों की सेवा में लगाते रहें। वेद के अभीष्ट ये ब्राह्मणादि चार वर्णों के लोग ही 'चार जन' हैं।

पांचवाँ जन कौन होगा ?

तो पांचवाँ जन कौन हुआ ? यह भी सुनिए। वेद तो यही चाहता है कि सब

लोग वेद की व्यवस्था को मानें और उसके अनुसार ब्राह्मणादि चार वर्णों में विभक्त होकर राष्ट्र की सेवा करें। परन्तु मनुष्य एक स्वतन्त्र विचार वाला प्राणी है। यह सम्भव हो सकता है कि किसी राष्ट्र के कुछ लोग वेद की वर्ण-मर्यादा को अपने विचारों के अनुसार पसन्द न करते हों और उन्हें वैदिक धर्म की ओर भी एक या अनेक बातें पसन्द न पड़ती हों। भले ही ये लोग वेद की शिक्षा न मानने के कारण अपनी आदर्श उन्नति नहीं कर सकेंगे और इसीलिए उन्हें कई अंशों में क्लेश भी प्राप्त होगा। परन्तु क्या किया जाये, मनुष्य एक स्वतन्त्र प्राणी है। वह अपने विचार के अनुसार कुछ भी मान और कर सकता है। वे कुछ लोग वैदिक वर्ण मर्यादा को और वैदिक धर्म की कई अन्य बातों को स्वीकार नहीं करते तो न करें। उनके साथ जबरदस्ती नहीं की जा सकती। ये लोग ही, जो कि वैदिक वर्ण-मर्यादा को स्वीकार नहीं करते, 'पाँचवें जन' हैं। चार जन ब्राह्मण, क्षत्रियादि वैदिक धर्मी लोग और पाँचवें जन ये वर्णोत्तर और वैदिक धर्मोत्तर लोग मिलकर 'पाँच जन' कहलाते हैं।

इसी अभिप्राय से ऊपर उद्धृत ऋग्० 8.63.7 मन्त्र में प्रजा को 'पाञ्चजन्यया' कहा गया है। इसी अभिप्राय से ऋग्० 3.53.16 में 'पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु' ऐसा लिखकर 'कृष्टि'¹ अर्थात् मनुष्यों को 'पाञ्चजन्य' कहा है। और इसी अभिप्राय से वेद के 'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' (ऋग्० 10.53.4) आदि मन्त्रों में मनुष्यों का एक नाम ही 'पञ्चजनः' ऐसा रख दिया गया है। वैदिक कोश निघण्टु ने भी इसी अभिप्राय से वेद के 'पञ्चजनाः' शब्द का अर्थ मनुष्य (निघ० 2.3) ऐसा किया है। वेद में मनुष्यों और प्रजा के लिए क्रमशः 'पञ्चजनाः' और 'पाञ्चजन्याः' शब्दों का प्रयोग यह सूचित करता है कि वेद में इस सम्भावना को भी ध्यान में रखा गया है कि किसी राष्ट्र में ऐसी भी अवस्था हो सकती है कि उसके कुछ व्यक्ति, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से कर्म और विचार में स्वतन्त्र हैं, वैदिक वर्ण मर्यादा और धर्मबन्धन को न स्वीकार करते हों।

सम्राट् सज्जन वर्णोत्तर लोगों की भी रक्षा करेगा

तो वैदिकधर्मी सम्राट् इन वर्णोत्तर पाँचवें जनों के प्रति किस प्रकार का बर्ताव रखे ? इसका उत्तर सम्राट् के 'पाँचजन्यः' इस विशेषण में दिया गया है। इस शब्द का क्या अर्थ है यह हम इसी प्रकरण के आरम्भ में दिखा चुके हैं। इसके अनुसार वैदिक धर्मी सम्राट् अपनी प्रजा के 'पाँचों जनों' की ही रक्षा और पालना करेगा। ऊपर उद्धृत ऋग्० 5.32.11 में सम्राट् को 'सत्पति पाञ्चजन्य' कहा है। अर्थात् सम्राट् 'पाँचों जनों' की रक्षा और पालना करता है यदि वे 'सत्' हों, सज्जन हों। यदि वर्णोत्तर 'पाँचवें जन' कोई ऐसा काम नहीं करेंगे जिससे किसी प्रजाजन को क्लेश पहुँचता है, या सार्वजनिक हित के राष्ट्रीय नियमों का भंग होता है, तो वैदिक धर्मी सम्राट् उन्हें केवल विचार भेद के कारण दण्डित नहीं करेगा। न केवल दण्डित ही नहीं

¹ कृष्टय इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघ० 2.3.

करेगा प्रत्युत उनके उचित अधिकारों की रक्षा भी करेगा—उन्हें दूसरे के हाथों क्लेशित होने से भी बचायेगा। सम्राट् के 'पाँचजन्य' विशेषण से ही यह निष्कर्ष नहीं निकलता, प्रत्युत ऊपर उद्धृत 'यत् पाँचजन्यता विशा' (ऋग्० 8.63.7) मन्त्र में यही बात और स्पष्ट रीति से कही गई है। पाठक देखें वेद की राजनीति कितनी उदार है।

पाँचवें जन का अर्थ निषाद या पापी नहीं

कई लोग 'पंचजनाः' का अर्थ ब्राह्मणादि चार वर्ण और पाँचवाँ 'निषाद' ऐसा करते हैं और फिर निषाद का अर्थ दुष्ट, दस्यु लोग ऐसा करते हैं। यास्क ने भी निरुक्त में 'निषण्णमस्मिन् पापकमिति'¹ ऐसा लिखकर निषाद का अर्थ वर्ण-मर्यादा भंग करने वाला पापी किया है। हमारी सम्मति में 'पाँचवाँ जन' पापी या दस्यु नहीं है। वेद में सर्वत्र दस्यु लोगों को मारने और दण्डित करने का ही वर्णन आता है। परन्तु ऊपर उद्धृत मन्त्रों में हमने देखा है कि सम्राट् 'पाँचों जन' की रक्षा कर रहा है। 'पाँचों जन' उसे अपनी रक्षा के लिए पुकार रहे हैं और वह उनके शत्रुओं को मार रहा है। इसके साथ ही 'पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्' (ऋग्० 10.53.4) में चारों वर्णों के साथ 'पाँचवें जन' को भी 'होत्र' अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञों में प्रीतिपूर्वक बुलाया गया है। उसी मन्त्र में 'पंचजनाः' को 'यज्ञियाः' भी कहा गया है। 'यज्ञियाः' का अर्थ होता है यज्ञ में बैठने के योग्य, सत्कार करने के योग्य, संगति करने के योग्य। जब 'पंचजनाः' यज्ञिय हैं तो चार वर्णों के साथ 'पाँचवाँ जन' भी यज्ञिय हो गया। पापी और दस्यु को यज्ञ में बैठने के लिए प्रीतिपूर्वक नहीं बुलाया जा सकता और न ही उसे 'यज्ञिय' अर्थात् सत्कार के योग्य ही कहा जा सकता है। इसलिए 'पाँचवें जन' का ऊपर दिया गया हमारा अर्थ ही ठीक समझना चाहिए। 'पाँचवें जन' वे लोग हैं जो कि विचार-भेद के कारण वर्ण-मर्यादा और वैदिक धर्म की अन्य कई बातों को तो नहीं मानते परन्तु वैसे हैं सज्जन और सदाचारी पुरुष। ऐसे लोगों को प्रेमपूर्वक यज्ञों में भी बुलाया जा सकता है और ये लोग 'यज्ञिय' अर्थात् सत्कार के योग्य भी हो सकते हैं। यज्ञों आदि में बुलाने से इन लोगों के प्रेमपूर्वक विचार बदल कर इन्हें वैदिक वर्ण-मर्यादा और वैदिक धर्म के अन्दर लाने में अधिक सुविधा होगी। इसीलिए इन्हें चारों वर्णों के साथ अपने यज्ञ में सम्मिलित होने का प्रेममय निमन्त्रण वैदिक गृहस्थ दे रहा है। 'पाँचवाँ जन' व्यक्ति वैदिक वर्ण-मर्यादा की और वैदिक धर्म की कई बातों को, केवल विचार-भेद के कारण, न मानने से दस्यु या पापी नहीं हो जाता। यह दस्यु या पापी तब होगा जबकि उसके हाथों दूसरे प्राणियों को कष्ट मिलने लगेगा। जैसे कि ब्राह्मणादि भी तभी दस्यु और पापी कहलाते हैं। दस्यु व्यक्ति को, चाहे वह चातुर्वर्ण्य के लोगों में से हो अथवा 'पाँचवें जन' में से, दण्डित किया जाएगा। परन्तु सज्जन 'पाँचवें जन' की ओर ब्राह्मणादि

¹ निह० 3.2.7।

चारों वर्णों की रक्षा की जायेगी। शान्त विचार-भेद के कारण कोई दण्डनीय नहीं होगा।

विचार-भेद के कारण किसी को दण्डित नहीं किया जायेगा

केवल विचार-भेद के कारण, जब तक कि कोई कर्म में दस्यु न बन जाये, किसी को दण्डित नहीं किया जाएगा और न ही इस हेतु किसी से व्यवहार में ही किसी प्रकार की घृणा की जायेगी यह वेद में अन्यत्र भी उपलब्ध होता है। 'पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्' अर्थात् 'पाँचों जन मेरे यज्ञ में प्रेमपूर्वक आवें' यह वेद-वाक्य पाठकों ने अभी ऊपर देखा है। यह वाक्य ऋग्० 10.53.5 में भी आता है। इस वाक्य में जो उदार भावना है उसे पाठक देख चुके हैं। इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखिये—

1. यं गमसा रातहव्या अञ्जन्ति पञ्च जनाः । ऋग्० 6.11.4.
2. जना यदग्निमयजन्त पञ्च । ऋग्० 10.45.6;
यजु० 12.33.

इन दोनों मन्त्र-खण्डों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

- (1) 'जिस अग्नि का हव्य देने वाले पाँचों जन तर्पण करते हैं (अञ्जन्ति)¹;
- (2) 'जबकि पाँचों जन अग्नि का यजन करते हैं।'

इन मन्त्रों में अग्नि का अर्थ कुछ मान लीजिए। यदि अग्नि का अर्थ यज्ञाग्नि करेंगे तो भाव यह होगा कि पाँचों जन अग्नि में हवि डालकर यजन करते हैं। इस अर्थ में पाठक देखेंगे कि पाँचवें जन को भी अग्निहोत्रादि यज्ञ करने और उनमें सम्मिलित होने की मनाही नहीं है। वह अपनी इच्छा से यज्ञ न करे और उसमें सम्मिलित न हो तो और बात है। यदि अग्नि का अर्थ परमात्मा करेंगे तो भाव यह होगा कि पाँचों जन अपनी भक्ति रूप हवि के द्वारा परमात्मा का यजन करते हैं। इस अर्थ में भी पाँचवे जन को अपने साथ मिलाकर परमात्मा की भक्ति और उपासना करने से रोका नहीं गया है। वह हमारे साथ प्रभु की उपासना में सम्मिलित हो सकता है। और जब अग्नि का अर्थ सम्राट् करेंगे तो भाव यह होगा कि कर आदि रूप हवि देकर पाँचों जन सम्राट् का यजन करते हैं अर्थात् उसके शासन चक्र को चलाते हैं। इस अर्थ में भी पाँचवें जन के साथ कोई भेद-भाव का स्थान नहीं है। वह चारों वर्णों के लोगों की तरह ही राज्य को देय कर आदि दे रहा है और राज्य को चलाने में सहायक हो रहा है।

इसी सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखिये—

ते न इन्द्रः पृथिवी क्षाम वर्धन् पूषा भगो अदितिः पञ्चजनाः ।

सुशर्माणः स्ववसः सुनीथा भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः ॥

ऋग्० 6.51.11

¹ सिञ्चन्ति तर्पयन्ति इति सायणः ।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

‘सम्राट् (इन्द्रः) और उसके पूषा, भग आदि कर्मचारी, हमारी मातृभूमि (पृथिवी), अदीन राष्ट्रशक्ति (अदितिः) और पाँचों जन ये सब हमारे निवास को (क्षाम) बढ़ावें, वे सब हमारे लिए सुन्दर सुख देने वाले (सुशर्माणः) हों, अच्छी तरह रक्षा करने वाले (स्ववसः) हों, अच्छी तरह मार्ग दिखाने वाले (सुनीथाः) हों, अच्छी तरह पालना करने वाले (सुत्रात्रासः) हों, और अच्छी तरह सम्भाल कर रखने वाले (सुगोपाः) हों ।’

यहाँ पाठक देखें कि इन्द्रादि के अतिरिक्त पाँचों जनो से भी ‘सुशर्मा’ आदि बनने की प्रार्थना की गई है । ब्राह्मणादि चारों जन तो हमारे लिए ‘सुशर्मा’ हों ही, उनसे बाहर के ‘पाँचवें जन’ भी हमारे लिए वैसे ही बनें यह मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है । यह विल्कुल सम्भव है कि कुछ ऐसे लोग भी किसी राष्ट्र में हों जो विचार की भिन्नता के कारण वेद के चातुर्वर्ण्य और उसकी कई अन्य बातों को स्वीकार न कर सकते हों, परन्तु उनका व्यावहारिक चरित्र ऐसा अच्छा हो कि वे जहाँ भी रहते हों वहीं आसपास के प्रजाजनों के लिए अपनी उपकारशीलता के कारण ‘सुशर्मा’ आदि बन जाते हों । ऐसे लोगों से केवल उनके विचार-भेद के कारण किसी प्रकार की द्वेषबुद्धि नहीं रखनी है, और उनसे भी राष्ट्र के कल्याण के लिए जो लाभ लिया जा सके ले लेना है यह इस मन्त्र से स्पष्ट सूचित हो रहा है ।

साथ ही पाठक देखेंगे कि जिन ‘पाँचवें जनो’ को ‘सुशर्माणः’, ‘स्ववसः’, ‘सुनीथाः’, ‘सुत्रात्रासः’ और ‘सुगोपाः’ कहा जा रहा है वे निषाद, पापिष्ठ और दस्यु, लोग नहीं हो सकते ।

विभिन्न भाषा-भाषी और विभिन्न धर्मावलम्बी
राष्ट्रवासी प्रेम से मिलकर रहें

हम इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का एक मन्त्र और प्रस्तुत करके इस प्रकरण को समाप्त करते हैं । मन्त्र इस प्रकार है—

✓ जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवीयथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥

अथ० 12.1.45

इस सूक्त में एक राष्ट्र-भक्त अपनी मातृभूमि के प्रति अपने उद्गारों को प्रकट कर रहा है यह हम पीछे ‘मातृभूमि की भावना’ नामक अध्याय में देख चुके हैं । प्रस्तुत मन्त्र भी इसी मातृभूमि के गीत की एक कड़ी है । इसमें वह अपनी मातृभूमि से कह रहा है—

‘इस मातृभूमि में विविध प्रकार की वाणियों को बोलने वाले और नानाधर्मों को रखने वाले लोग इस तरह मिलकर रहते हैं जैसे कि एक घर के व्यक्ति मिलकर रहा करते हैं, यह मेरी मातृभूमि मेरे लिए हजारों प्रकार के ऐश्वर्य की धाराएँ बहाये जिस प्रकार कि कोई गौ निश्चल खड़ी होकर बिना दुलत्ती मारे (अनपस्फुरन्ती) दूध

की धाराएँ बहाया करती है ।'

इस मन्त्र में स्पष्ट उपदेश है कि यदि किसी कारणवश किसी राष्ट्र में अनेक भाषा-भाषी और अनेक धर्मों के अनुयायी लोग इकट्ठे हो जायें तो उन्हें परस्पर इस प्रकार प्रेम से मिलकर रहना चाहिए जिस प्रकार कि किसी एक कुटुम्ब के आदमी मिलकर रहा करते हैं । उन्हें विचार-भेद के कारण लड़ना-झगड़ना नहीं चाहिए । जो बात ऊपर के मन्त्रों में कही गई है वही प्रकारान्तर से बड़े सुन्दर शब्दों में इस मन्त्र में कही गई है ।

जिस राष्ट्र में एक ही भाषा को बोलने वाले और एक ही धर्म का अनुसरण करने वाले लोग होंगे वहाँ 'विवाचसं' का अर्थ होगा कण्ठ की ध्वनि-भेद से और विषय-भेद से नाना वाणियाँ बोलने वाले और 'नानाधर्माणं' का अर्थ होगा अनेक प्रकार के व्यवहारों को करने वाले । मन्त्र के शब्दों से दोनों ही प्रकार के अर्थ निकल सकते हैं और इसलिए इसकी दोनों ही व्याख्यायें ठीक समझनी चाहिए ।

पाठक देखें कि वेद का धर्म और उसकी राजनीति दोनों ही कितने उदार हैं ।

14

ब्राह्मणों को पूरा वाक्-स्वातन्त्र्य प्राप्त हो

अथर्ववेद के पंचम काण्ड के 18वें और 19वें तथा द्वादश काण्ड के 5वें सूक्त में ब्राह्मण की गौ को मारने वाले राजा और उसके राज्य को किन-किन आपत्तियों का सामना करना पड़ता है इस बात का विस्तृत वर्णन किया गया है। अथर्व० 5.18, 19 सूक्तों में 30 और अथ० 12.5 सूक्त में 73 मन्त्र हैं। इस प्रकार इन 103 मन्त्रों में ब्राह्मण की गौ को मारने वाले राजा और उसके राष्ट्र पर आने वाली विपत्तियों का वर्णन है। यहाँ हम इन सभी मन्त्रों को उद्धृत करके उनके अर्थ और उन अर्थों की विवेचना नहीं दे सकते। इसके लिए एक अलग ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। अपने आशय को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछ ही मन्त्र उपस्थित कर सकेंगे। जो राजा ब्रह्मगवी को—ब्राह्मण की गौ को—मारता है उसको किन आपत्तियों को सहना पड़ता है इसका कुछ नमूना निम्न मन्त्रों में देखिये—

1. अक्षद्रुघो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा इवः । अथ० 5.18.2.
2. ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् । अथ० 5.18.10.
3. गौरेव तान्हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् । अथ० 5.18.11.
4. ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ अथ० 5.19.4.
5. तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नमिवोदकम् । अथ० 5.19.8.
6. सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य । अथ० 5.19.7.
7. न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन । अथ० 5.19.10.
8. न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ अथ० 5.19.15.
9. तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥
अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः । अथ० 12.5.5-6.

10. ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥
 ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥
 आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥
 पयश्च रसश्चान्नं चाक्ष्माद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥
 तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥
 अथ० 12.5.7-11.

11. अशिता लोकाच्छिनन्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥
 अथ० 12.5.38.
12. क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वन्त ऐलवम् ॥
 अथ० 12.5.47.
13. क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनी-
 राघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलवम् ॥
 अथ० 12.5.48.
14. क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वन्त ऐलवम् ॥
 अथ० 12.5.49.
15. क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत्तदासीदिति नु तादिति ॥
 अथ० 12.5.50.
16. आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥
 अथ० 12.5.56.
17. त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहन्तु दुश्चितम् ॥
 अथ० 12.5.61.

अर्थात् (1) जो राजा ब्राह्मण की गौ को खा लेगा उसकी इन्द्रियाँ उससे द्रोह करेंगी; उसका आत्मा ही उसे पराजित करेगा, वह आज भले ही जी ले, कल नहीं जी सकेगा । (2) जो सहस्रों पर राज करते थे, जो स्वयं भी दस सौ थे वे ब्राह्मण की गौ को खाकर वीतहव्य अर्थात् जिनकी खाद्यसामग्री नष्ट हो गई है ऐसे होकर पराजित हो जाते हैं । (3) मारी जाती हुई ब्राह्मण की गौ उसे मारने वालों को वीतहव्य बना कर मार देती है । (4) पकाई हुई अर्थात् सन्तप्त की हुई ब्राह्मण की गौ जब तक चारों ओर तड़पती रहती है, वह राष्ट्र के तेज को नष्ट कर देती है । और इस कारण राष्ट्र में कोई वृष-शील वीर पुरुष नहीं उत्पन्न होता । (5) वह ब्राह्मण की गौ को मारनारूप कर्म राष्ट्र को बहा देता है, जैसे कि टूटी हुई नाव को पानी बहा देता है । (6) वह मारी हुई ब्राह्मण की गौ ब्रह्मज्य अर्थात् ब्राह्मण की गौ को मारने वाले राजा के राष्ट्र को कम्पा देती है । (7) ब्राह्मण की गौ को खाकर राष्ट्र में कोई जागता नहीं रह सकता । (8) ब्रह्मज्य राजा के राज्य में मित्र और वरुण¹ अर्थात् सूर्य और वायु द्वारा किया जाने वाला वर्षाजल नहीं बरसता, ऐसे राजा की 'समिति' कार्यसमर्थ नहीं हो पाती और न ही वह मित्रों को अपने वश में ला सकता है । (9) ब्राह्मण की उस गौ को लेने वाले और इस प्रकार ब्राह्मण को मारने वाले क्षत्रिय (राजा) की प्रिय सत्य वाणी चली जाती है, वीर्य चला जाता है और मंगलमयी लक्ष्मी भी चली जाती है । (10) ओज, तेज, सहन सामर्थ्य, बल, वाणी, इन्द्रियाँ, श्री, धर्म, ब्रह्मशक्ति, क्षत्रशक्ति, राष्ट्र, प्रजाएँ, प्रताप, यश, वर्चस्, धन, आयु, रूप, नाम, कीर्ति,

¹ वेद में मित्र का अर्थ उद्जन (Hydrogen) और वरुण का अर्थ ओषजन (Oxygen) भी होता है ।

प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, पयस्, रस, अन्न, अन्नाद्य, ऋत, सत्य, इष्ट, पूर्त, सन्तान और पशु ये सब उससे चले जाते हैं जो क्षत्रिय (राजा) ब्राह्मण की गौ को ले लेता है और इस प्रकार ब्राह्मण को मार देता है। (11) खाई हुई ब्राह्मण की गौ ब्रह्मज्य राजा को इस और उस दोनों लोकों से काठ गिराती है। (12) ब्राह्मण की गौ को मारने वाला राजा शीघ्र ही मार दिया जाता है और उसके मारे जाने पर गृध्र शब्द करते हैं। (13) ब्राह्मण की गौ को मारने वाला राजा शीघ्र ही मार कर जला दिया जाता है और उसके जलने के स्थान के चारों ओर उसके कुटुम्ब की स्त्रियाँ हाथों से छाती पीठती हुई बाल बखेरे हुए, विह्वल होकर नाचती हैं और बुरे शब्द करती हैं। (14) ब्राह्मण की गौ को मारने वाले राजा के घर शीघ्र ही उजड़ जाते हैं उनमें भेड़िये आदि जंगली जानवर शब्द करने लगते हैं। (15) ब्राह्मण की गौ को मारने वाले राजा की और उसके निवास-स्थानों की शीघ्र ही ऐसी दुरावस्था हो जाती है कि लोग उन्हें देखकर आपस में पूछते हैं कि क्या जो पहले था वह यही है। (16) हे ब्राह्मण की गौ मारी हुई तू मारने वाले राजा के तेज, इष्ट, पूर्त और कामनाओं को हर लेती है। (17) हे ब्राह्मण की गौ तेरे द्वारा मारे हुए दुर्विचारी राजा को अग्नि जला डाले।

ब्राह्मण की गौ का अर्थ ब्राह्मण की वाणी

अब देखना यह है कि इन सूक्तों में आने वाले गौ शब्द का क्या अभिप्राय है। इन सूक्तों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। विदेशी भाष्यकार और उनके पीछे चलने वाले भारतीय टीकाकार इनमें प्रयुक्त हुए गौ शब्द का अर्थ, 'अद्यात्', 'जग्वा', 'अशिता' आदि भक्षणार्थक पदों, 'हन्यमाना', 'जिनतः' आदि मारणार्थक पदों तथा गो-पशु पर लगते प्रतीत होने वाले कुछ आलंकारिक वर्णनों के आधार पर गो-पशु करते हैं। यह अर्थ सूक्तों के भाव के साथ संगत प्रतीत नहीं होता। यह समझ में नहीं आता कि यदि कभी कोई राजा ब्राह्मण की किसी गौ को मार बैठे तो उस पर और उसके राज्य पर ऐसी घोर विपत्तियाँ जिनका इस सूक्त में वर्णन किया गया है, कैसे आजायेंगी। साथ ही इन सूक्तों में गौ के जो विशेषण आये हैं उनमें से अधिकांश गो-पशु पर घट ही नहीं सकते। उदाहरण के लिए, अथ० 12.5 के प्रथम पर्याय में गौ के ये विशेषण आये हैं—

1. श्रमेण तपसा सृष्टा ब्राह्मणा वित्तर्ते श्रिता ॥
2. सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥
3. स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता
यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥

4. ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥

अर्थात् (1) श्रम और तप से बनाई गई, ब्रह्म (वेद) से प्राप्त की गई, सत्य ज्ञान पर आश्रित। (2) सत्य, श्री और यश से ढकी हुई। (3) स्वधा से सहारा दी गई, श्रद्धा

से उठाई हुई, दीक्षा से रक्षित, यज्ञ में प्रतिष्ठित, यह सारा लोक (संसार) जिसका स्थिति स्थान (निधनम्)¹ है। (4) ब्रह्मा (परमात्मा) जिसका पदवाय (पैरों को बाँधने वाली रज्जु) है, ब्राह्मण जिसका अधिपति है।

गौ के ये विशेषण गो-पशु में किसी प्रकार भी संगत और चरितार्थ नहीं हो सकते। अथ० 5.18.3 में इस गौ को 'अघविषा पृदाकूरिव' अर्थात् 'सर्पिणी की तरह घोर विषैली' कहा है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि गो-पशु में विष बिलकुल भी नहीं होता। लाखों मांसाहारी लोग प्रतिदिन गौओं को मारकर खाते हैं। यदि गौ में सांप जैसा विष होता तो वे उसके मांस को खाते ही मर जाया करते। गौ को खाने से घोर विपत्तियाँ आ जाती हैं इसलिए आलंकारिक रूप से गौ को घोर विषैली कहा हो सो बात भी नहीं बनती है। देशी और विदेशी जो लाखों—नहीं, करोड़ों—लोग गौओं का मांस प्रतिदिन खाते हैं उन पर और उनके राष्ट्रों पर प्रत्यक्ष में तो कोई घोर विपत्तियाँ आती हुई नहीं दीख पड़तीं। ब्राह्मण लोगों की गौओं में ही कोई ऐसा चमत्कार होता हो यह प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त इन सूक्तों में अनेक स्थानों पर गौ को लेना और मारना ब्राह्मण को ही मारना कहा गया है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्रों को देखिये—

- | | |
|---|--------------|
| 1. यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नम् । | अथ० 5.18.4. |
| 2. य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानः । | अथ० 5.18.5. |
| 3. न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव । | अथ० 5.18.6. |
| 4. अन्नं यो ब्राह्मणां मल्वः स्वाद्वश्चीति मन्यते । | अथ० 5.18.7. |
| 5. प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमससंभव्यं पराभवन् । | अथ० 5.18.12. |
| 6. यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति । | अथ० 5.18.13. |
| 7. उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति । | |
| परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ | अथ० 5.19.6. |
| 8. ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना । | अथ० 5.19.8. |

अर्थात् (1) जो ब्राह्मण को अपना अन्न समझता है। (2) जो इस ब्राह्मण को मृदु समझ कर मारता है। (3) ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए वह अपने प्यारे शरीर के अग्नि की तरह उपयोगी है। (4) जो लुब्धक ब्राह्मणों को मारकर समझता है कि मैं स्वादु अन्न खा रहा हूँ। (5) ब्राह्मणों की प्रजा को मारकर ऐसे पराजय को प्राप्त हुए जिसकी संभावना भी नहीं थी। (6) जो देवों के बन्धु ब्राह्मण को मारता है। (7) जो राजा अपने को उग्रशक्ति वाला मानकर ब्राह्मण को खा जाना चाहता है, उसका वह राष्ट्र बह जाता है जहाँ ब्राह्मण मारा जाता है। (8) जहाँ ब्राह्मण को मारते हैं उस राष्ट्र को दुरावस्था मार देती है।

इन मन्त्रों में स्पष्ट ही ब्राह्मण को मारने का वर्णन है। ब्राह्मण की गो को

¹ निधीयतेऽनेति निधानम् । अधिकरणे ल्युट् । छान्दसं ह्रस्वत्वम् ।

मारने का वर्णन करने वाले कुछ मन्त्र पाठक ऊपर देख ही चुके हैं। इस प्रकार ब्राह्मण की गौ को मारना और ब्राह्मण को मारना इन सूक्तों में एक कर दिये गये हैं। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये—

अष्टापदी चतुरक्षि चतुः श्रोत्रा चतुर्हनुः ।

व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धनुते ब्रह्मज्यस्य ।

अथ० 5.19.7

अर्थात्—यह गौ आठ पैरों वाली, चार आँखों वाली, चार कानों वाली, चार ठोडियों वाली, दो मुँह और दो जिह्वाओं वाली बनकर अपने मारने वाले ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र को कम्पा देती है ।

इस मन्त्र में गौ को मारने वाले राजा को 'ब्रह्मज्य' कहा है। यह शब्द ब्रह्म-पूर्वक 'ज्या वयोहानौ' धातु से बनता है। इसका अर्थ है ब्राह्मण को मारने वाला। इससे तो नितान्त स्पष्ट है कि इन सूक्तों में गौ को मारना ब्राह्मण को ही मारना है। राजा को लिए 'ब्रह्मज्य' शब्द का प्रयोग केवल इसी मन्त्र में नहीं हुआ है। और भी कितने ही स्थानों पर इन सूक्तों में राजा के लिए 'ब्रह्मज्य' विशेषण का प्रयोग हुआ है। तो वह गौ कौनसी है जिसके मार देने से ब्राह्मण मर जाता है अथवा ब्राह्मण के मार दिये जाने पर जो स्वयं मर जाती है? इस मन्त्र में यह भी कहा है कि यह गौ ऐसी है कि यदि इसे मार दिया जाय तो यह एक के स्थान में दो बन जाती है, इसके चार के आठ पैर हो जाते हैं, इत्यादि। सामान्य गो-पशु में तो यह सामर्थ्य नहीं। तो वह कौनसी गौ है जो मार दिये जाने पर दुगुनी हो जाती है? इसी भाँति अथ० 12.5 सूक्त के निम्न मन्त्रों में भी ब्राह्मण की गौ को लेने वाले—छीनने वाले—राजा को ब्राह्मण को मारने वाला कहा है—

1. तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य । अथ० 12.5.5.

2. तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य ।

जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥

अथ० 12.5.11.

3. सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्या दीयमाना मृत्योः षड्वीश आ द्यति ॥

अथ० 12.5.15.

अर्थात् (1) जो क्षत्रिय (राजा) ब्राह्मण की गौ को छीनकर ब्राह्मण को मारता है। (2) जो क्षत्रिय (राजा) ब्राह्मण की गौ को छीनकर ब्राह्मण को मारता है उसकी ये सारी बातें जाती रहती हैं। (3) छीनी गई वह ब्राह्मण की गौ ब्राह्मण को मारने वाले, विद्वानों को सताने वाले (देवपीयुं) राजा को मृत्यु के बन्धन में बाँध देती है।

इन मन्त्रों में पाठक एक बात और देखें। यहाँ गौ के लिए लेने—छीनने—का प्रयोग हुआ है, मारने का नहीं। परन्तु इस गौ का छीन लेना ही मानो ब्राह्मण को मार देना है। यहाँ स्पष्ट ही ब्राह्मण के लिए 'मारने' शब्द का प्रयोग आलंकारिक है। क्योंकि वास्तव में इन मन्त्रों में ब्राह्मण मारा नहीं गया है। उसकी तो केवल गौ

छीनी गई है। उसकी गौ छीन जाने से ही वह मानो मर गया है। जैसे मर जाने से कोई व्यक्ति किसी उपयोग का नहीं रहता वैसे ही ब्राह्मण की गौ छिन जाने से ब्राह्मण की भी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। इसलिए वह मानो मर ही जाता है। इससे यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जैसे यहाँ ब्राह्मण के लिए 'मारने' का प्रयोग आलंकारिक है वैसे ही अन्यत्र गौ के मारने का वर्णन भी आलंकारिक समझना चाहिए। इन मन्त्रों में गौ को मारा नहीं गया है, उसे केवल लिया गया है—छीना गया है। इससे स्पष्ट है कि इन सूक्तों की दृष्टि में ब्राह्मण की गौ को छीनना और मारना एक ही बात है। 'मारने' का प्रयोग केवल आलंकारिक है। अन्यत्र सूक्तों में ब्राह्मण के लिए जो 'मारने' का प्रयोग हुआ है उसे प्रसिद्धार्थ में लेने पर भी कोई हानि नहीं है।

तो यह गौ कौन सी है जिसके छिन जाने से ब्राह्मण मर जाता है ?

यदि गौ का अर्थ गो-पशु ही लेना है तो उपर्युक्त सारी बातें समझ में नहीं आतीं। तब इन सूक्तों में गौ का अर्थ क्या करना चाहिए ? हमारी सम्मति में यहाँ गौ का अर्थ वाणी करना चाहिए। निघ० 1.11 में गौ का अर्थ वाणी किया भी गया है। सायण और विदेशी भाष्यकार स्वयं भी वेद में अनेक स्थलों पर गौ का अर्थ वाणी करते हैं। गौ का अर्थ वाणी तो लौकिक संस्कृत साहित्य में भी अति प्रसिद्ध है। यदि यहाँ गौ का अर्थ वाणी कर लिया जाय तो संगति की कोई कठिनाई नहीं रहती। गौ के 'श्रम और तप से उत्पन्न हुई' आदि सारे विशेषण ब्राह्मण की वाणी में बड़े सुन्दर संगत होते हैं। आदर्श ब्राह्मणों की वाणी में ये सारे गुण पाये जाते हैं। ब्राह्मण की वाणी को मारना ब्राह्मण को मारना ही है। ब्राह्मण लोग अपनी वाणी से सत्य, न्याय और धर्म की बातों का प्रचार करते हैं। यदि उनकी वाणी को राजा छीन ले, मार दे—उन्हें राष्ट्र में सत्य, न्याय और धर्म का प्रचार न करने दे—तो ब्राह्मण एक प्रकार से मार ही दिया जाता है। राष्ट्र के लिए उसकी उपयोगिता को नष्ट कर देना उसे मार देना ही है। तो इस प्रकार ब्राह्मण की वाणी को मारने से ब्राह्मण मर ही जाता है। ब्राह्मण को मारने से ब्राह्मण की वाणी तो निःसन्देह ही मर जाती है। यदि राजा ब्राह्मण को फाँसी पर चढ़ा दे या गोली से मरवा दे तो उसके मर जाने से उसकी वाणी द्वारा होने वाला सत्य, न्याय और धर्म का प्रचार राष्ट्र में नहीं हो सकेगा। क्योंकि उसके मरने से उसकी वाणी भी मर गई। ब्राह्मण की वाणी को मारने वाले या ब्राह्मण को मारने वाले राजा और उसके राष्ट्र का नाश हो जायेगा यह भी समझ में आ जाता है। क्योंकि ब्राह्मण लोग निःस्वार्थ परोपकारैकपरायण, प्रजा और राजा के वास्तविक हित की दृष्टि में ही सब कुछ कहने और करने वाले, निष्काम कार्यकर्ता, तत्त्वदर्शी विद्वान् होते हैं, इसलिए वे जो कुछ बोलते हैं राष्ट्र के भले के लिए सत्य, न्याय और धर्म की बात ही बोलते हैं। ऐसे लोगों की बात को जो राजा सुनता नहीं, जो उन्हें कारागारों में ठूस देता है अथवा मृत्यु के घाट उतरवा देता है, ऐसे राजा और उसके राष्ट्र का भारी अहित होना—उस पर भ्रांति-भ्रांति के दुःखों, संकटों और विपत्तियों का आना—सर्वथा स्वाभाविक ही

है । ऐसे ब्राह्मणों को सताकर, उनकी वाणी को सत्य, न्याय और धर्म का प्रचार करने से रोककर, कोई राजा यह न समझ बैठे कि चलो बात समाप्त हुई, निश्चिन्तता हुई । नहीं, इन लोगों की इस वाणी-रूपी गौ में अद्भुत शक्ति है । यदि तुम एक को मार दोगे तो वह दो बन कर उठेगी । यदि राजा ने एक ब्राह्मण पर अत्याचार करके उसको मार दिया और सत्य, न्याय और धर्म के प्रचार को रोक दिया तो उसकी जगह वैसे दो ब्राह्मण और उत्पन्न हो जायेंगे । यह ब्राह्मणों की—सत्य और न्याय के प्रचारकों की—परम्परा नष्ट नहीं होने की । भला इसी में है कि राजा ब्राह्मणों की बात को ध्यान से सुने और उसके अनुसार शक्ति-भर चलने का प्रयत्न करे । इसी में उसका और राष्ट्र का—दोनों का—कल्याण है ।

यदि इन सूक्तों में गौ का अर्थ वाणी कर लिया जाय तो इन सूक्तों का अभि-प्राय यह निकलेगा कि राष्ट्र में ब्राह्मणों को पूरा वाक्स्वातन्त्र्य होना चाहिए । वह उपदेश और अध्यापन द्वारा सत्य, न्याय और धर्म समझकर राष्ट्र में जिस बात का प्रचार करना चाहें स्वच्छन्दता से कर सकें ।

परन्तु यह स्मरण रहे कि वेद का धर्म जन्म से किसी को ब्राह्मण नहीं मानता । वहाँ गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर ब्राह्मणत्व देखा जाता है । एक चाण्डाल को भी ब्राह्मण बनने का पूरा अधिकार है । इसीलिए वेद ने आदेश दिया है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कि राजा का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र में सबके लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करे ।

15

स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति

गार्हस्थ्य जीवन में स्त्रियों की जिस स्वतन्त्र, उन्नतिशील और उदार स्थिति का वर्णन वेदों में पाया जाता है उसको विदेशी भाष्यकारों तक ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। पीछे के स्मार्त और सौत्र व्यवस्थाकारों ने जो विचार स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में प्रकट किये हैं वेदों में कहीं इशारे के रूप में भी उनका समर्थन नहीं पाया जाता, यद्यपि ये ग्रन्थकार अपने आपको वेद-प्रतिपादित धर्म की व्याख्या करने वाला ही कहते हैं। यहाँ हमें यह देखना है कि स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति के सम्बन्ध में वेदों की क्या सम्मति है।

नगर-सभाओं का प्रबन्ध स्त्रियों के हाथ में होना चाहिए

वेद में स्त्री के लिए बहुत स्थानों पर 'पुरंधिः'¹ इस नाम का प्रयोग हुआ है। इसका शब्दार्थ है—'पुरं नगरं दधातीति पुरंधिः' अर्थात्, 'जो नगर की रक्षा और पोषण करे'। 'स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होने वाले इस नाम से यह सूचित होता है कि नगरों के प्रबन्ध का, उनकी आन्तरिक रक्षा और सफाई आदि का, काम स्त्रियों के हाथ में रहना चाहिए। यदि पूर्ण रूप से नहीं तो अधिकांश में नगरों के प्रबन्ध का काम स्त्रियों के ही हाथ में रहना चाहिए यह उनके इस नाम से स्पष्ट प्रतीत होता है। साथ ही इस नाम से यह भी ध्वनि निकलती है कि नगरों के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए कोई अलग सभा भी होनी चाहिए जिसका मुख्य काम नगरों की सुख-समृद्धि को देखना होगा। आजकल की प्रचलित भाषा में कहना हो तो स्त्रियों के इस 'पुरंधि' नाम से यह सूचित होता है कि नगरों के प्रबन्ध के लिए म्युनिसिपैलिटियाँ (नगर सभायें) होनी चाहिए और उनमें स्त्रियों का बड़ा हाथ होना चाहिए।

स्त्रियाँ सभा और समिति की सदस्य भी चुनी जा सकती हैं

अब इससे आगे चलिए। हमने 'सभा और समिति' नामक अध्याय में बतलाया

¹ उदाहरण के लिये देखिये—ऋग्० 10.80.1 ; यजु० 22.22 ।

है कि प्रत्येक राज्य में सभा और समिति नामक दो राजसभाएँ होनी चाहिए जिनके निर्मित किए हुए नियमों के अनुसार ही राज्य का संचालन और प्रबन्ध किया जायेगा । किसी राज्य की ये सबसे ऊँची व्यवस्थापक सभाएँ हैं । स्त्रियाँ भी इन सभाओं में सदस्य चुनी जाकर जा सकती हैं ऐसा वेद के निम्न मन्त्रों से प्रकट होता है—

1. अहं वदामि नेत्वं सभायामह त्वं वद । अथ० 7.38.4.

2. सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधि शेर्वाधि परि दत्त एतम् ।

....अव गान्मा समित्यां.... ।

अथ० 12.3.46.

3. यत्समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या ।

अथ० 12.3.52.

इनका क्रम से अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे पति, सभा में मैं ही बोलती हूँ तू नहीं, और जब मैं (अहं) कह दूँ तो तू भी बोल । (2) सत्य और तप के जीवन के लिए विद्वानों से प्राप्त होने वाले (देवताभ्यः) सुखदायक विद्यारूप खजाने को (शेर्वाधि) हम तुम्हें देते हैं, हे स्त्री-पुरुषो तुम दोनों से वह खजाना समिति में अलग न हो जाये अर्थात् समिति में जाने पर वह विद्या तुम्हारे काम आवे । (3) तुम स्त्री-पुरुष समिति में जाकर अथवा धन की कामना से जो झूठ बोलते हो उसे छोड़ दो ।

मन्त्रगत इन वर्णनों से यह स्पष्ट सूचित होता है कि पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी राज्य की सभा और समिति नामक नियामक सभाओं में जाकर भाग ले सकती हैं । जिन स्थानों के ये मन्त्र हैं वहाँ पति-पत्नी के कर्त्तव्य-कर्मों का वर्णन है ।

स्त्रियाँ राजा भी चुनी जा सकती हैं

अब इससे और आगे चलिये । यजुर्वेद के 20वें अध्याय में राज्याभिषेक का विषय है । उस अध्याय के पाँचवें मन्त्र से नवम् मन्त्र तक राजा ने अपने एक आलंकारिक रूप का वर्णन किया है । राजा ने राष्ट्र में जो सुख-समृद्धि के काम करने हैं उन्हीं को उसने अपने इस आलंकारिक रूप में अपना एक-एक अंग बना लिया है । वह इस रूप द्वारा यह दिखाना चाहता है कि सिंहासन पर बैठने के पश्चात् मेरे इस दीखने वाले शरीर के जो सिर आदि हैं अब से वे मेरे असली सिर आदि नहीं हैं, मेरे असली सिर आदि तो अब से राष्ट्र की 'श्री' आदि बढ़ाना हो गये हैं । वह राष्ट्र के अभ्युदय के साथ अपनी पूरी तन्मयता को इस आलंकारिक रूप वर्णन द्वारा प्रकट कर रहा है । प्रस्तुत प्रकरण से सम्बन्ध रखने वाले राजा के अंगों की ओर हम पाठकों का ध्यान यहाँ खींचना चाहते हैं । वह कहता है—'अपचितिः'¹ अर्थात् 'प्रजाओं में पूजा योग्य गुणों की वृद्धि करना' ही मेरी 'भसत्' अर्थात् 'योनि' है । 'भसत्' और 'योनि' स्त्री की जननेन्द्रिय को कहते हैं । पुरुष के शरीर में तो 'भसत्' होती ही नहीं । और अभिषिच्यमान राजा कह रहा है कि 'अपचितिः' ही मेरी 'भसत्' है ।

¹ अपचितिः पूजेति उच्यते ।

कोई कह सकता है कि संभवतः पुरुष की गुदा को ही लक्षणा से 'भसत्' कह दिया होगा। यह बात नहीं है। गुदा के लिए 'वायु' शब्द का पृथक् प्रयोग हुआ है। तो फिर 'अपचितिर्भसत्' ऐसा कहने का क्या तात्पर्य हुआ? हमारी सम्मति में इस वाक्य से यह सूचित होता है कि आवश्यक योग्यता होने पर स्त्रियों को भी राजा चुना जा सकता है। एक जननेन्द्रिय को छोड़कर मंत्रों में जिन अंगों को गिनाया गया है वे स्त्री और पुरुष दोनों में समान होते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों की जननेन्द्रियों का नाम गिना कर यह सूचना दे दी गई है कि राजा चुने जाने में स्त्री और पुरुष का, केवल स्त्री और पुरुष होने के कारण, कोई भेद नहीं है। योग्य होने पर दोनों ही राजा चुने जा सकते हैं। स्त्री को केवल स्त्री होने के कारण राजा चुने जाने की मनाही नहीं है।

राज्याभिषेक के समय इन मन्त्रों के बोलने का ढंग यह रहेगा कि यदि राजा चुना जाने वाला व्यक्ति पुरुष है तो वह मन्त्र पढ़ते समय स्त्री के विशेषांग का नाम छोड़ देगा और यदि वह व्यक्ति स्त्री है तो वह मन्त्र पढ़ते समय पुरुष के विशेषांग का नाम छोड़ देगी। अथवा दोनों जने सम्पूर्ण मन्त्रों का पाठ भी कर सकते हैं। पुरुष राजा द्वारा स्त्री के अंग का नाम लेने का यह भाव होगा कि वह अपने अन्दर स्त्रीत्व का भी आरोप कर लेता है। जिसका अभिप्राय यह होगा कि वह प्रजा के पुरुष भाग की तरह उसके स्त्री-भाग की सुख-समृद्धि की भी पूरी चिन्ता रखेगा। और स्त्री के राजा रूप में अभिषिक्त किए जाने के समय उस द्वारा पुरुष के अंग का नाम लेने का यह भाव होगा कि वह अपने अन्दर पुरुषत्व का भी आरोप कर लेती है। जिसका तात्पर्य यह होगा कि वह प्रजा के स्त्री-भाग की तरह ही उसके पुरुष-भाग की सुख-समृद्धि की भी पूरी चिन्ता रखेगी। पाठक देखेंगे कि वेद ने अपने थोड़े में बहुत कहने के अद्भुत प्रकार में किस भाँति स्त्रियों के राजा चुने जाने के अधिकार को स्पष्ट कर दिया है। यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के इन मन्त्रों पर अन्यत्र भी विचार किया गया है।

इस प्रकार वैदिक राष्ट्र में स्त्रियाँ नगरों के प्रबन्ध में भाग ले सकती हैं—प्रत्युत नगर-प्रबन्ध में तो अधिक भाग होना ही स्त्रियों का चाहिए—वे राष्ट्र की सभा और समिति नामक नियामक सभाओं की सदस्य भी चुनी जा सकती हैं और चाहें तो राजा भी निर्वाचित की जा सकती हैं। इससे वैदिक राष्ट्र में स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति कितनी उदात्त है पाठक यह भलीभाँति देख सकते हैं। केवल स्त्री होने के कारण वेद में राष्ट्र का कोई भी पद स्त्रियों के लिए रोक नहीं गया है। स्त्री रुचि और योग्यता होने पर वह सब कुछ कर और बन सकती है जोकि पुरुष कर और बन सकता है।

16

सभा और समिति : संसद के दो सदन

सभा और समिति का कार्य

राजा को—माण्डलिक राजा और सम्राट्, दोनों ही को—राज्य-कार्य में सहायता देने और उसकी स्वेच्छाचारिता को नियंत्रित रखने के लिए, राज्य को वस्तुतः प्रजा का राज्य रखने के लिए, राज्य में 'सभा' और 'समिति' नामक नियामक सभाओं का होना भी आवश्यक है, यह भाव वेदों का अध्ययन करते हुए स्थान-स्थान पर मिलता है। वेद में कोई 34 स्थानों पर 'सभा' और 21 स्थानों पर 'समिति' शब्द अपने शुद्ध, सरल और तद्धित रूपों में आये हैं। इनमें अधिकांश स्थानों में इनका प्रयोग राजा या राज्य के सम्बन्ध में हुआ है। इस अध्याय में हम सभा और समिति के निश्चित स्वरूप, उनके कार्य और पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में जानने का प्रयत्न करेंगे। अपने इस अन्वेषण में हम आवश्यकतानुसार स्थान-स्थान पर उन स्थलों की ओर निर्देश करेंगे जहाँ सभा और समिति शब्द राजनैतिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकरण को हम अथर्ववेद के सातवें काण्ड के 12वें सूक्त के साथ आरम्भ करते हैं। सूक्त इस प्रकार है—

1. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरी संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥
2. विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥
3. एषस्महं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्या सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥
4. यद्वो मनः परागतं यद्वद्धमिह वेह वा ।
तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥

इन मन्त्रों में सभा और समिति की राज्य में स्थिति और उनके कार्य संक्षेप में बड़ी उत्तमता के साथ बता दिये गये हैं। साथ ही यह भी बता दिया गया है कि सभा और समिति में उपस्थित होकर विचार करते समय सभासद् लोगों की मानसिक अवस्था किस प्रकार होनी चाहिए। यह सूक्त राजा की ओर से सभा और समिति के

सदस्यों को लक्ष्य करके कहा गया है। चारों मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) (संविदाने) मिली हुई (सभा च समिति: च) सभा और समिति (मा) मेरी (अवताम्) रक्षा करें। ये सभा और समिति (प्रजापते:)¹ मुझ प्रजापति की—राजा की—(दुहितरी)² दुहिता हैं—राज्य सम्बन्धी बातों को पूरा करने वाली हैं। मैं इनके (येज) जिस भी सभासद् से (संगच्छै) मिलूँ—उसके किसी विषय में मैं विचार जानना चाहूँ तो (स:) वह (मा) मुझे (उप शिक्षात्) उचित बात की शिक्षा दे—उस विषय में अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर सत्य और हित की बात ही बताये (पितर:)³ हे प्रजा के और मेरे पितृ-स्थानीय सदस्यों (संगतेषु)⁴ इन सभा और समिति के अधिवेशनों में (चारु) रोचक (वदानि) भाषण मैं करूँगा।

(2) (सभे)⁵ हे सभा और समिति नामक सभाओं (ते) तुम्हारे (नाम) नाम को (विद्म) हम जानते हैं (नरिष्ठा) तुम नरिष्ठा (नाम वा) नाम वाली (असि) हो। नरिष्ठा⁶ के दो अर्थ हैं—एक, जो प्रजा के लोगों के लिए हितकारिणी है; दूसरे, जो अहिंसित है अर्थात् जिसके निर्णयों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। (ये) जो (के च) कोई भी (ते) तुम्हारे (सभासद:) सभासद् हैं (ते) वे (मे) मेरे साथ (सवाचस:) एक वाणी वाले अर्थात् मिलकर एक निर्णय पर पहुँचने वाले (सन्तु) होवें।

(3) (अहं) मैं (एषां) इन (समासीनानाम्) उपस्थित सभासदों के (वचं:) तेज और (विज्ञानं) विज्ञान को (आददे) लेता हूँ। अर्थात् इनके तेज और विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान के आधार पर राज्यकार्य करता हूँ (इन्द्र)⁷ हे परमेश्वर्यशाली परमात्मन् आप (माम्) मुझे (अस्या:) इस (सर्वस्या:) सम्पूर्ण (संसद:)⁸ सभा और

¹ प्रजापतिर्वै क्षत्रम् । श० 8.2.3.11, एष वै प्रजापते: प्रत्यक्षतमां यद्राजन्यस्तस्मादेकः सन् बह्वनामीष्टे । यद्वेव चतुरक्षरः प्रजापतिश्चतुरक्षरो राजन्यः । श० 5.1.5.14, प्रजापतिशब्दो राजसामान्यं बोधयतीति संस्कृतवाङ्मयमाध्यातवतोपि स्पष्टम् ।

² 'दुह-प्रपूरणे' इत्यस्मान्निष्पन्नस्य दुहितृशब्दस्य घात्वर्थोऽत्र विभर्शनीयः ।

³ 'पा-रक्षणे' इत्यस्मान्निष्पन्नस्य पितृशब्दस्यापि घात्वर्थो विचारमानेयः ।

⁴ अत्राधिकरणे छान्दसः क्तः । संगच्छते येषु तानि संगतानि सभासमित्योरधिवेशनानि । यद्वा नपुंसके भावे तेनपि न दोषः । सभासमित्योः संगमनानि तयोरधिवेशनान्येव स्युः ।

⁵ अत्र सभाशब्दः सभाञ्च समितिञ्चोभे बोधयति ।

⁶ द्विधा शक्यते नरिष्ठा शब्दो व्युत्पादयितुम् । नृणामिष्ठा नरिष्ठा । छान्दसो गुणः । यद्वा न रिष्ठा नरिष्ठा । रिष हिंसायाम् । तथा हि द्वितीयं निर्वचनप्रकारमाश्रित्य सायणेन व्याख्यातम्—'नरिष्ठा, अहिंसिता परैरनभिभाष्या, बहवः सम्भूय यद्येकं वाक्यं वदेयुस्मद्वि न परैरतिलब्धम् । अतः अनतिलब्धवाक्यत्वात् नरिष्टेति नाम ।'

⁷ अत्र त्वन्यथानुपपत्तेरिन्द्रशब्दः परमात्मानयेव बोधयति । अस्मिन्नेवाध्यायेन सभासमित्यो राज्ञा सभाज्ञा च सम्बन्धो दर्शयिष्यते । एवञ्चैतत्सूक्तगतः प्रजापतिशब्दो राजानं सभाञ्चोभावेव गमयति । तथा सति भाषणकर्तुः सभाज्ञं इन्द्रेति स्वविषयं सम्बोधनमर्थकं स्यात् ।

⁸ संसच्छब्दः सभासमिती उभे बोधयति ।

समिति नामक सभा के (भगिनं) भग¹ से—ज्ञान और ऐश्वर्य से—युक्त (कृणु) कीजिए । अर्थात् आपकी कृपा से सभा-समिति के ज्ञान और उनकी शक्तिमत्ता से जो ऐश्वर्य उत्पन्न होता है वह मुझे मिले अर्थात् मेरे राष्ट्र में आये ।

(4) हे सभासदो (यत्) जो (वः) तुम्हारा (मनः) मन (परागतं) विचारणीय विषय से दूर भिन्न विषय में गया हुआ है (वा) अथवा (यत्) (जो इह-इह) इस-इसमें अर्थात् पहले से ही किसी विशेष विषय में (बद्धम्) बँधकर बैठा हुआ है (तत्) उस (वः) तुम्हारे मन को (आवर्तयामसि) वहाँ से हटाते हैं (वः) तुम्हारा (मनः) मन (मयि) मुझमें (रमताम्) रमण करे । अर्थात् मेरी बातों को सुने और फिर निष्पक्ष होकर किसी उचित निर्णय पर पहुँचे जिससे मैं राज्यकार्य को कर सकूँ ।

प्रथम मन्त्र से निम्न परिणाम निकलते हैं—

1. सभा और समिति राजा या राज्य की रक्षा करती है ।
2. ये दोनों राज्य सम्बन्धी बातों को पूरा करती हैं । इनकी सहमति के बिना राजा या उसकी सरकार का कोई निश्चय पूरा नहीं समझा जा सकता । अन्तिम स्वीकृति सभा और समिति की होगी ।
3. इनका प्रत्येक सभासद् इतना योग्य है कि राजा या राज्य उसमें राजनीति सम्बन्धी बातें सीखना चाहता है । राज्य का कौन-सा निश्चय प्रजा के कल्याण के लिए हितकर या अहितकर होगा, इसमें उसकी सम्मति जानना चाहता है ।
4. इनके सभासद् राजा के पितृ-स्थानीय हैं । राज्य को उनका और उनकी सम्मतियों का सम्मान करना चाहिए । राष्ट्र के भी वे ही पितृ-स्थानीय हैं—उसके वास्तविक पालक और रक्षक वे लोग ही हैं ।
5. इनके अधिवेशनों में राजा या उसके प्रतिनिधियों को चारु अर्थात् रोचक और मधुर भाषण करना होगा । वह वहाँ जाकर अपने अधिकार की धौंस नहीं दिखा सकता ।

दूसरे मन्त्र से निम्न परिणाम निकलते हैं—

6. सभा और समिति राष्ट्र का इष्ट करती हैं । और इनके निर्णयों का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता । यदि राजा इनके निर्णयों का उल्लंघन करेंगे तो उसे भी राज्यच्युत कर दिया जायेगा ।
7. सभासद् लोगों को मिलकर एक निर्णय पर पहुँचने का यत्न करना चाहिए । तभी इनके निर्णयों में बल आ सकेगा ।

तीसरे मन्त्र से निम्न परिणाम निकलते हैं—

8. राजा या राज्य सभा और समिति के तेज और ज्ञान से कार्य करता

¹ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

है। यदि इनकी सहमति का तेज राजा को प्राप्त न हो तो वह कोई कार्य नहीं कर सकता।

9. राष्ट्र को भग या ऐश्वर्य देने वाली ये ही हैं। जिस राज्य में राजा स्वेच्छाचारी रहता है, सभा-समिति का उस पर नियन्त्रण नहीं रहता और इनके द्वारा प्रजा के वास्तविक हित-अहित की बातें उसे सुनने को नहीं मिलतीं, वह राष्ट्र ऐश्वर्य प्राप्त नहीं कर सकता।

चतुर्थ मन्त्र से निम्न परिणाम निकलते हैं—

10. अधिवेशनों में किसी विषय पर विचार करते समय सभासदों का मन विचारणीय विषय पर ही रहना चाहिए, उन्हें अन्यमनस्क होकर अधिवेशनों में नहीं बैठना चाहिए।
11. सभासदों को पहले से ही किसी पक्ष के लिए कट्टर सम्मति बाँधकर नहीं बैठना चाहिए। उन्हें खुले हृदय से वहाँ बैठना चाहिए। पक्ष-विषय के तर्क-वितर्क और युक्ति-प्रमाणों को सुनने के पीछे ही किसी विषय में अपना स्थिर निश्चय करना चाहिए और उस विषय में अपनी सम्मति देनी चाहिए।

ये परिणाम अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट हैं। यह दिखाने के लिए कि राज्य में सभा और समिति की क्या स्थिति है, उनके क्या कार्य हैं और उनका राजा पर कितना नियन्त्रण है, हमें इन पर कोई टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

राज-सभा दुहिता क्यों है

सभा-समिति के लिए प्रयुक्त हुए 'दुहिता' शब्द से किसी को सन्देह न हो जाय कि वैदिक सभा और समिति तो राजा की दुहिता हैं—लड़की हैं—उनका राजा पर कोई अधिकार नहीं; वह उनसे जैसा चाहे करा सकता है। वेद में जहाँ सभा-समिति को 'दुहिता' कहा है वहाँ उन्हें 'नरिष्ठा' भी कहा है और उनके सभासदों को 'पितरः' कहा है। जिनके सभासद राजा के 'पितरः' हैं वे सभाएँ राजा की 'लड़की' नहीं हो सकतीं। यहाँ हमें दुहिता का रूढ़ अर्थ 'पुत्री' न लेकर उसका यौगिक अर्थ लेना होगा। सभा-समिति 'दुहिता' इसलिए है कि वे राज्य-कार्यों को पूरा करती हैं। सारे सूक्त में सभा-समिति की जो अधिकारपूर्ण स्थिति बतलायी गई है वह भी हमें 'दुहिता' का योगार्थ ही लेने के लिए बाधित करती है। सारे सूक्त के अधिकार द्योतक वर्णन के सन्मुख केवल 'दुहिता' शब्द की व्यंजना के आधार पर हम सभा-समिति की हीन स्थिति स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए इस शब्द का योगार्थ ही हमें लेना होगा।

उपर्युक्त परिणाम जहाँ सभा और समिति की राज्य में स्थिति, उनके कार्य और अधिकार को बता रहे हैं वहाँ उनके सभासदों का कर्तव्य भी उनमें संकेतित कर दिया गया है।

सभा और समिति राज-सभाएँ हैं

ग्रिफिथ (Griffith) महाशय ने इस सूक्त में आये सभा शब्द का अर्थ 'Meeting of the people of a village' अर्थात् 'किसी ग्राम के लोगों का जमाव' और समिति शब्द का अर्थ 'A congregation for sacrificial and religious purposes', अर्थात् 'किसी याज्ञिक या धार्मिक प्रयोजन से लोगों का इकट्ठा होना' किया है। यूरोपीय टीकाकार प्रायः वेद के सभा और समिति शब्दों का ऐसा ही अर्थ किया करते हैं। और इन टीकाओं की सहायता से वेद को पढ़ने वाले भारतीय लेखक भी प्रायः इससे भिन्न और कोई अर्थ नहीं करते हैं। पर यह उन लोगों की भ्रान्ति है और वेद के साथ अन्याय है। हम नीचे कुछ हेतु उपस्थित करते हैं जिनसे यह स्पष्ट होगा कि वेद की सभा और समिति किसी ग्राम-सभा और धार्मिक या याज्ञिक सम्मेलनमात्र ही नहीं है, प्रत्युत उनका राजा या राज्य से भी विशेष सम्बन्ध है—

(1) अथर्ववेद के पाँचवें काण्ड के 19वें सूक्त में ब्राह्मण की गौ (वाणी = वाक्स्वातन्त्र्य = freedom of speech) को मारने वाले राजा पर क्या-क्या संकट और विपत्तियाँ आती हैं इसका वर्णन किया गया है। वहीं एक विपत्ति यह भी गिनाई गई है कि—'नास्यै समितिः कल्पते'—(अथ० 5.19.15.) अर्थात् ऐसे राजा की 'समिति' किसी कार्य को करने के योग्य नहीं रहती। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि समिति कोई ऐसी सभा है जिसमें राज्य सम्बन्धी कार्य हुआ करते हैं। राजा जब वाणी की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देता है तो उसकी समिति किसी कार्य को करने के योग्य नहीं रहती और उससे होने वाले लाभ राष्ट्र को नहीं मिल सकते। राजा स्वेच्छाचारी हो जाता है और परिणामतः समिति के लोगों को उसका विरोध करना पड़ता है। इसलिए कहा है कि इस संकट से बचे रहना चाहने वाले राजा को ब्राह्मणों की गौ अर्थात् वाणी की स्वतन्त्रता को नहीं मारना चाहिए।

(2) स विशोऽनु व्यचलत् ॥

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥

सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च

प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥

अथ० 15.9.1-3.

अर्थात् जो राजा प्रजाओं के अनुकूल चलता है उसकी सभा, समिति, सेना और सुरा (राज्य-कोश, षु प्रसवैश्वर्ययोः) उसके अनुकूल चलती हैं। इससे ऊपर के आठवें सूक्त में राजा (राजन्य) का ही वर्णन चल रहा है। वहाँ बताया गया है कि वह राजन्य इसलिए कहलाता है कि वह प्रजाओं का रंजन करता है, उनका कल्याण-मंगल करता है। उसी राजन्य का इस 9वें सूक्त में वर्णन है। यहाँ स्पष्ट कहा है कि प्रजा के अनुकूल चलने वाले राजा की ही सभा, समिति, सेना और राजकोश उसकी सहायता करके उसे लाभ पहुँचा सकते हैं। इन मन्त्रों से असंदिग्ध है कि सभा और समिति राजा को

राज्यकार्य में सहायता देने वाली कोई राजनैतिक सभाएँ ही हैं।

(3) यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र ।

रत्ना च यद्विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात् ॥

ऋग्० 10.11.8.

ऋग्वेद के इस मन्त्र में अग्नि की समिति का वर्णन है। मन्त्र में प्रजाजन अग्नि से कह रहे हैं कि 'हे (यजत्र) सत्करणीय, संगति करने योग्य और राष्ट्र को कल्याण-मंगल देने वाले (अग्ने) अग्नि (देवेषु) दिव्यगुणों और शक्तियों वाले पदार्थों में (देवी) दिव्यगुणों और शक्तियों वाली (यजता) सत्करणीय, संगति करने योग्य और राष्ट्र को कल्याण-मंगल देने वाली (यत्) जो (एषा) यह (समितिः) तेरी समिति (भवाति) है (यत्) और जो इसकी सहायता से (स्वधावः) हे शक्ति वाले तू (रत्ना) विविध प्रकार के रत्नों को (विभजासि) प्रजाओं को देता है (अत्र) इसमें (नः) हमारे लिए भी (वसुमन्तं) समृद्ध (भागं) हिस्सा (वीतात्) प्राप्त करा। अर्थात् तेरी समिति द्वारा राष्ट्र को प्राप्त होने वाले कल्याणों से हम भी वंचित न रहें।' अग्नि का अर्थ हम सम्राट् सिद्ध कर ही चुके हैं। जिस सूक्त का यह मन्त्र है वह सारा ही सम्राट् पर बड़ी सुन्दर रीति से लगता है। यहाँ सम्राट् की समिति का वर्णन स्पष्ट सिद्ध करता है कि यह कोई राजनीतिक सभा है।

(4) यत्रौषधीः समग्मत् राजानः समिताविध ।

ऋग्० 10.94.6, यजु० 12.80.

इस मन्त्र में उपमा से वैद्य की प्रशंसा की गई है। कहा है कि 'जैसे राजा लोग समितियों में जाते हैं वैसे जिस वैद्य में औषधियाँ जाती हैं—जो औषधियों सम्बन्धी ज्ञान का ठिकाना हो—वह वैद्य प्रशंसनीय है।' यहाँ राजा के समितियों में जाने का वर्णन है। इससे समिति स्पष्ट एक राजनीतिक सभा सिद्ध होती है।

(5) राजा न सत्यः समितीरियानः ।

ऋग्० 9.92.6.

इस मन्त्र में भी 'जैसे कोई सत्यनिष्ठ राजा अपनी समिति में जाता है ऐसे ही जो समितियों में जाता है,' इस प्रकार की उपमा है। और यह सोम के लिए प्रयुक्त हुई है। इस मन्त्र में समिति शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक तो राजा की समिति जिसमें वह जाता है। यह स्पष्ट ही राजनीतिक समिति होगी। और दूसरे वे समितियाँ जिनमें सोम (स्नातक विद्वान्) जाकर अपने प्रवचन करता है। ये सामान्य धर्म सभा या विद्या सभाएँ होंगी। इस प्रकार इस मन्त्र में भी समिति का एक राजनीतिक अर्थ स्पष्ट है।

(6) समानो मन्त्रः समितिः समानी ।

ऋग्० 10.191.3.

ऋग्वेद 10.191 सूक्त का देवता अग्नि है। अग्नि का एक अर्थ सम्राट् भी होता है यह हम दिखा चुके हैं। इस उद्धृत मन्त्र-खण्ड वाले मन्त्र में सम्राट् (अग्नि) प्रजाओं से कह रहा है कि हमारी समिति का संचालन किस प्रकार हो रहा है। इस सूक्त पर

विस्तृत विचार हम अभी आगे करेंगे। इस प्रकार यहाँ भी समिति स्पष्ट एक राजनीतिक सभा है।

(7) ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह।

अथ० 6.88.3.

अथर्ववेद के 6ठे काण्ड के 87 और 88 सूक्तों में सम्राट् के राज्यारोहण का वर्णन है। इसमें सभी भाष्यकार सहमत हैं। इन सूक्तों में सम्राट् को सिंहासन पर बिठाकर उसके लिए स्थिर (ध्रुव) होकर राज्य करने की आशंसा की गई है। 88वें सूक्त के अन्तिम मन्त्र में 'आशंसा' यह है कि—'हे राजन् तू ध्रुव और अच्युत होकर शत्रुओं का नाश कर, तेरे राष्ट्र से शत्रुता करने वालों को तू जमीन पर बिछा दे, तेरे लिए सारी दिशाओं में रहने वाली प्रजायें एकमन वाली होकर, मिलकर चलें,' और फिर इसी मन्त्र के ऊपर उद्धृत अन्तिम चरण में कहा है, 'तुझ स्थिर (ध्रुव) के लिए समिति कार्य समर्थ होवे (कल्पताम्)।' इससे भी स्पष्ट है कि यहाँ समिति एक राजनीतिक सभा है।

(8) स मा रोहैः सामित्यै रोह्यतु।

अथ० 13.1.13.

इस मन्त्र में राष्ट्र को उन्नति-समृद्धि की सीढ़ी पर चढ़ाने वाले (रोहित) राजा से प्रार्थना की गई है कि वह हमें 'समिति द्वारा होने वाली उन्नतियों पर आरुढ़ करे।' यहाँ भी समिति अवश्य ही एक राजनीतिक सभा है जो कि राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर आरुढ़ करती है।

(9) ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।

ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

अथ० 12.1.56.

अथर्ववेद का 12.1 सूक्त एक 63 मन्त्रों का सूक्त है। इसको पृथिवी सूक्त कहते हैं। इसमें यह शिक्षा दी गई है कि मनुष्यों को अपनी मातृभूमि के प्रति किस प्रकार के भाव रखने चाहिए। इस सूक्त में पृथिवी का अर्थ मातृभूमि है, सामान्य घरती नहीं। इसी सूक्त के उक्त मन्त्र में मातृभूमि के भक्त कह रहे हैं—'जो ग्राम हैं, जो जंगल हैं, जो सभायें हैं, जो युद्ध हैं; जो समितियाँ हैं, उनमें हे मातृभूमि हम तेरे हित की बात ही बोलें।' यहाँ सभा और समिति को 'ग्रामाः' से सर्वथा पृथक् कर दिया गया है। इसलिए सभा का अर्थ ग्राम-सभा नहीं हो सकता। ग्राम-सभाओं के लिए 'ग्रामाः' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। क्योंकि ग्रामों में मातृभूमि के हित की बातें बोलने का अभिप्राय ग्राम-सभाओं में बोलना ही हो सकता है। मातृभूमि के इस सूक्त में प्रयुक्त हुए सभा और समिति एक प्रकार की राजनीतिक सभाओं को ही द्योतित करते हैं, जिनके स्वरूप का अध्ययन हम इस अध्याय में कर रहे हैं।

(10) यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायाम्।

यजु० 20.17., 3.45.

इस मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना है कि—'ग्राम में, जंगल में अथवा सभा में हमने जो पाप किया हो उससे छुड़ाने वाले आप ही हैं।' यहाँ सभा को ग्राम से पृथक् पढ़ा गया है। इसलिए सभा का अर्थ ग्राम सभा नहीं हो सकता जैसा कि ग्रिफिथ कहते हैं।

ग्राम सभा के लिए यहाँ ग्राम शब्द का व्यवहार हुआ है।

(11) पृथुवुध्नः सभावान् ।

ऋग्० 4.2.5.

इस मन्त्र में अग्नि को 'सभावाला' कहा गया है। अग्नि का अर्थ सम्राट् हम देखते आ रहे हैं। इस प्रकार यहाँ सभा का सम्राट् के साथ स्पष्ट सम्बन्ध बताया गया है।

(12) सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः । अथ० 19.55.5.

यहाँ प्रजापुरुष अग्नि को अन्य सभासदों की तरह ही सभ्य अर्थात् सभासद् कह रहे हैं और उससे सभा की रक्षा की प्रार्थना कर रहे हैं। यहाँ भी सभा का अग्नि अर्थात् सम्राट् से स्पष्ट सम्बन्ध है।

इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेद में सभा और समिति का अर्थ 'ग्राम के लोगों का जमाव' और 'याज्ञिक और धार्मिक प्रयोजन से लोगों का इकट्ठा होना' ही नहीं हो सकता। इनका कोई और उद्देश्य और प्रयोजन है। इन प्रमाणों से हम देखते हैं कि वह उद्देश्य और प्रयोजन राजनीतिक है। सभा और समिति अधिकांश स्थलों में राजनीतिक सभाओं के तौर पर आई हैं। इसी राजनीतिक अर्थ में सभा और समिति शब्दों का प्रयोग अथर्ववेद के ऊपर व्याख्यात 7.12 सूक्त में हुआ है। इस सूक्त में बताया दिया गया है कि सभा और समिति राज्य शासन के लिए उचित निर्णयों को करती और राजा पर नियन्त्रण रखती हैं। सूक्त में सभा और समिति को राजा (प्रजापति) की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली (दुहिता) कहना तथा उन्हें नरिष्टा—जिनके निर्णयों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता ऐसी—कहना इसमें संदेह नहीं रहने देता कि यहाँ इनका वर्णन राजनैतिक अर्थ में हुआ है। राजनैतिक 'राष्ट्र-सभा' के अतिरिक्त और कोई सभा वास्तविक अर्थों में राजा या राज्य की दुहिता नहीं बन सकती और न ही इसके अतिरिक्त किसी अन्य सभा में यह शक्ति हो सकती है कि कोई उसके निर्णयों का उल्लंघन न कर सके। किं बहुना सूक्तगत सारा का सारा वर्णन ही सभा और समिति को राजनीतिक राष्ट्रसभा सूचित करता है। किसी सामान्य सभा और समिति में वह प्रभाव और क्षमता नहीं हो सकती जिसका वर्णन सूक्त में किया गया है।

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में समिति के कर्त्तव्य

ऋग्वेद 10.191.3 मन्त्र और स्पष्ट कर देता है कि राज्य में समिति का क्या कार्य है। मन्त्र इस प्रकार है—

समानोः मन्त्रः¹ समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।

समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

ऋग्० 10.191.3.

¹ अत्र मन्त्रशब्दो लक्षणया मन्त्रगृहं बोधयति । विचारणावाचकस्तु मन्त्रशब्दो द्वितीयः तृतीय-पादस्थः ।

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

‘मन्त्र-गृह समान हो, समिति समान हो, इनका—सभासदों का—मन समान हो और इनका विचार भी समान हो। मैं तुम्हें समान रूप से मन्त्रणा-विषय के सम्बन्ध में अभिमन्त्रित करता हूँ, तुम्हारे समान निर्णय प्रदान से (हविषा, हु दाना-दानयोः) कार्य करता हूँ (जुहोमि)।’

इस मन्त्र का पूर्णरूप से अभिप्राय समझने के लिए सारे के सारे 10.191 सूक्त पर विचार कर लेना आवश्यक है। सूक्त ऊपर उद्धृत मन्त्र सहित 4 मन्त्रों का है। पहिले मन्त्र में प्रजाजन अग्नि (सम्राट्) से कह रहे हैं—

ससमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।

इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥

ऋग्० 10.191.1

अर्थात्—‘(वृषन्) हे राष्ट्र में सुख-समृद्धि की वर्षा करने वाले हे (अग्ने) उत्साह की गरमी और ज्ञान के प्रकाश वाले सम्राट् (अर्यः) राष्ट्र के स्वामी तुम (विश्वामि) सभी प्रकार के राष्ट्रगत व्यवहारों को (संसम्) अच्छी प्रकार से (युवसे)¹ संयुक्त और वियुक्त करते हो—अर्थात् जिन बातों को राष्ट्र के कल्याण के लिए चलने देना चाहिए उनसे अपना सम्बन्ध जोड़कर उनकी सहायता करते हो और जिन्हें नहीं चलने देना चाहिए उनसे अपना सम्बन्ध तोड़कर उनको रोकने का प्रयत्न करते हो। (सः) ऐसे आप (नः) हम प्रजाजनों के लिए (वसूनि) ऐश्वर्यों को (आभर) दीजिये।’

पाठक देखें इस मन्त्र में राजा के कर्तव्यों का कितना सुन्दर उपदेश दिया गया है ! इस प्रकार प्रजाजनों द्वारा सम्बोधन किये जाने पर सम्राट् दूसरे मन्त्र में उनको सुख-समृद्धि के सार्वदेशिक और सार्वकालिक सामान्य मूलमन्त्र का उपदेश देता है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते ॥

ऋग्० 10.191.2

अर्थात्—‘सुख-समृद्धि के अभिलाषी हे प्रजाजनो ! (संगच्छध्वं) मिलकर चलो, इकट्ठे रहो (संवदध्वम्) मिलकर बातचीत करो (वः) तुम सबके (मनांसि) मन (सं जानताम्) मिलकर ज्ञान प्राप्त करें (यथा) जैसे (पूर्वं) पुराने (देवाः) विद्वान् लोग (संजानानाः) एक मत होकर (भागं) भजनीय सुखों को (उपासते) प्राप्त करते रहे हैं।’

मन्त्र का भाव यह है कि राजा कह रहा है कि मैं तो जो कुछ बनेगा कहूँगा ही, परन्तु सुख-समृद्धि प्राप्त करने का असली मूलमन्त्र तो यह है कि तुम प्रजाजनों को चाहिए कि अपने सब व्यवहारों में ऐक्यमत प्राप्त कर लो। इस प्रकार उन्नति के सामान्य सूत्र का उपदेश करके ऊपर उद्धृत तीसरे मन्त्र में राष्ट्र की सर्वोच्च राज-

¹ युवसे । यु मिश्रणामिश्रणयोः ।

नीतिक सभा समिति के—जिसमें सारे राष्ट्र की इच्छायें और आकांक्षायें अभिव्यक्त होती हैं तथा जो उन इच्छाओं को कार्यरूप में परिणत करने का सबसे बड़ा साधन है—के सम्बन्ध में प्रजाजनों के कर्त्तव्य का उपदेश दिया है। मन्त्र का शब्दार्थ हम ऊपर दे चुके हैं। उसका भाव यह है कि राजा प्रजाओं से कह रहा है कि मुझसे तुम्हारी सुख-समृद्धि के लिए जो बनेगा वह तो कहेगा ही पर तुम्हें दूसरी बात यह करनी चाहिए कि तुम समिति के कार्यों में भाग लो और मुझे सही कार्य करने के लिए अपने विचारों का सहयोग दो। समिति द्वारा तुम्हारी सहायता मिलने पर ही मैं राष्ट्र का कुछ कल्याण कर सकता हूँ। समिति के सभासदों को समिति में बैठकर कैसी मनोवृत्ति रखनी चाहिए इसका कुछ उपदेश तीसरे मन्त्र में दिया गया है। चौथे मन्त्र में उसी विषय में तथा सामान्य रूप से और कहते हैं—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

ऋग्० 1.191.4

अर्थात्—'(वः) तुम्हारा (आकूतिः) संकल्प (समानी) समान हो (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय (समाना) समान हों (वः) तुम्हारा (मनः) मन (समानं) समान (अस्तु) हो (यथा) जिससे (वः) तुम्हारी (सुसह) सुन्दर एकता अथवा भली-भाँति परस्पर मिलकर एक साथ रहने से प्राप्त होने वाला ऐश्वर्य और अभ्युदय (असति) हो सके ।'

मन्त्र का भाव यह है कि—समिति के सभासदों को एक-मन, एक-संकल्प होकर एकतायुक्त एक निर्णय पर पहुँचने का यत्न करना चाहिए। सामान्य प्रजाओं को भी इस बात को क्रिया में लाना चाहिए। तभी राष्ट्र की सुख-समृद्धि हो सकती है। सूक्त के तीसरे और चौथे मन्त्र से समिति के सम्बन्ध में निम्न परिणाम निकलते हैं—

1. मन्त्रणागृह में समिति की बैठक होती है।
2. सदस्यों को एक मन होकर विचार करना चाहिए।
3. समिति के सदस्यों के आगे राजा या राज्य को मन्त्रणा-विषय उपस्थित करके उन्हें विचार के लिए अभिमन्त्रित करना चाहिए।
4. समिति के सदस्यों के निर्णय के अनुसार राजा कार्य करता है।
5. सदस्यों को एक निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।¹

ग्रिफिथ का भ्रम

इस सूक्त के तीसरे मन्त्र 'समानो मन्त्रः' का अर्थ ग्रिफिथ ने इस प्रकार किया

¹ ऋग्वेद के इस 10 191 सूक्त के प्रथम मन्त्र में प्रयुक्त अग्नि शब्द का अर्थ परमात्मा करने पर भाव यह होगा कि मनुष्य परमात्मा से ऐश्वर्य की प्रार्थना कर रहे हैं और प्रभु उत्तर में उपदेश दे रहे हैं कि तुम सब मिलकर रहो तथा सब काम मिलकर करो तभी तुम्हें सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होंगे।

है—'The place is common, common the assembly, common the mind, so be their thoughts united. A common purpose do I lay before you, and worship with your general oblation.'

पाठक देखेंगे कि ग्रिफिथ महोदय मन्त्र के उत्तरार्द्ध का भाव ठीक प्रकार नहीं समझ सके हैं। फिर भी इस मन्त्र में आये समिति शब्द के सम्बन्ध में उनको भी इतना तो लिखना ही पड़ा है कि, 'This Samiti appears to have been a general assembly of the people on some important occasion, such as the election of King.' अर्थात् समिति राष्ट्र के सम्पूर्ण लोगों की सम्मिलित सभा प्रतीत होती है जो कि किसी राजा के चुनाव जैसे महत्त्वपूर्ण अवसर पर हुआ करती थी। राजा के चुनाव के लिए इकट्ठे हुए राष्ट्र के सारे लोगों का नाम समिति है। ग्रिफिथ के इस विचार से हम सहमत नहीं हैं। हमारी सम्मति में समिति, जैसा कि हम इस अध्याय में अब तक देखते आ रहे हैं और अभी आगे देखेंगे, एक राजनीतिक सभा है जिसमें राज्य के नियमों और नीति आदि सभी आवश्यक विषयों पर विचार होता है और जिसका राजा पर नियन्त्रण रहता है। राजा के चुनाव से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा का चुनाव तो सारी प्रजा सीधे रूप में करती है। पर ग्रिफिथ जैसे इन यूरोपीय भाष्यकारों की इस प्रकार की सम्मतियों से समिति की स्थिति के सम्बन्ध में बहुत भ्रांति फैली है।

जायसवाल का भ्रम

डा० के० पी० जायसवाल जैसे भारतीय विद्वानों तक ने समिति के सम्बन्ध में इस मत को स्वीकार कर लिया है। अपनी 'हिन्दु पालिटी' नामक पुस्तक में जायसवाल महोदय ने लिखा है, 'The samiti was the national assembly of the whole people or Vishah (विशः), for we find 'the whole people' or Samiti, in the alternative, electing and re-electing the Rajan (राजा) or king. The whole people were supposed to be present in the Assembly.' अर्थात् 'समिति' राष्ट्र के सम्पूर्ण लोगों की सभा होती थी, क्योंकि हम 'सारी प्रजाओं' और समिति को विकल्प से राजा का चुनाव करते हुए पाते हैं। प्रजा के सारे ही लोग समिति में बैठते हैं ऐसा समझा जाता था। सारी प्रजायें राजा को चुन रही हैं यह तो जायसवाल महोदय का कथन ठीक है। वेद में 'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु'—तुम्हें सारी प्रजायें चाहें; त्वां विशो वृणतां राज्याय'—तुझे सारी प्रजायें राज्य के लिए चुनें—इस प्रकार के अनेक वाक्य आते हैं। परन्तु समिति भी राजा को चुनती है यह उनका कथन ठीक नहीं है। समिति राजा को चुनती है ऐसा जहाँ कहा गया हो ऐसा चारों वेदों में एक भी वाक्य नहीं है। जायसवाल महोदय ने अपनी पुष्टि में 'ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह' (अथ० 6.88.3) और 'नास्मि समितिः कल्पते' (अथ० 5.19.15) ये दो वाक्य उपस्थित किये हैं। इन दोनों

वाक्यों से राजा के चुनाव का वर्णन निकालना उनकी निरी भूल है। हम इन दोनों वाक्यों का वास्तविक अर्थ पीछे इसी अध्याय में दिखा चुके हैं। इनमें से पहले वाक्य पर विचार करते हुए हम कह चुके हैं कि अथर्व० काण्ड 6 सूक्त 87, 88 में सम्राट् के राज्यारोहण का वर्णन है। प्रजाओं ने मिलकर राजा को चुना है¹, उसके लिए पहाड़², पृथिवी³ और द्यौ की तरह स्थिर (ध्रुव) होकर राज्य करने की आशा की गई है। अन्तिम मन्त्र में राजा को सम्बोधित करके कहा है—‘ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून् छत्रयतोऽधरान् पादयस्व। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीवीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह।’ (अथ० 6.88.3) अर्थात् ‘स्थिर (ध्रुवः) और न गिरने वाला होकर शत्रुओं का नाश कर, शत्रुता करने वालों को नीचे पहुँचा दे, सब दिशाएँ (दिशाओं में रहने वाली प्रजाएँ) एक मन वाली और तेरे साथ मिलकर चलने वाली (सध्रीचीः) हों, तुझ स्थिर के लिए (ध्रुवाय) समिति कार्य करने में समर्थ होवे।’ ‘कल्पताम्’ ‘क्लृप् सामर्थ्यं’ धातु के लोट लकार के प्रथम पुरुष का एक वचन है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि समिति सामर्थ्यवती बने—अपने कार्यों को करने में समर्थ हो सके, और इस प्रकार की समर्थ समिति से तुझे (राजा को) प्रत्येक प्रकार की सहायता मिलती रहे। हमें यह समझ में नहीं आता कि इस वाक्य से यह अर्थ कैसे निकल सकता है कि समिति राजा को चुने। हाँ, यदि वाक्य इस प्रकार होता कि ‘समितिः त्वां ध्रुवं कल्पयतु’ तब तो कदाचित् ऐसी ध्वनि निकल सकती थी कि समिति राजा के चुनाव में भी भाग लेती है। पर फिर भी वह ध्वनि ही होती। परन्तु ‘ध्रुवाय ते समितिः कल्पयताम्’ वाक्य से जायसवाल महोदय का अर्थ कभी नहीं निकल सकता। इसी प्रकार दूसरे वाक्य ‘नास्मै समितिः कल्पते’ पर विचार करते हुए भी हम लिख चुके हैं कि इस वाक्य का तो केवल इतना अभिप्राय है कि जो राजा ब्राह्मणों की गौ (वाणी की स्वतन्त्रता) को मार देता है उसकी समिति कार्य करने में समर्थ नहीं रहती। इससे समिति का राजा के चुनाव से कोई सम्बन्ध नहीं प्रकट होता है। जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें राज्यारोहण या राजा के चुनाव का कोई प्रसंग ही नहीं है। वहाँ तो वाणी की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले राजा पर आने वाली विपत्तियों को गिनाया गया है। इसलिए जायसवाल महोदय ने यूरोपीय लेखकों के आधार पर ‘समिति’ और ‘विशः’ को पर्यायवाची मानकर भूल की है। उनका यह विचार भी भूल है कि समिति का राजा के चुनाव में किसी प्रकार का हाथ है। हाँ, उनका यह कथन सही है कि—समिति में राज्य सम्बन्धी बातों पर विचार होता है। समिति एकत्र हुई सारी प्रजा का नाम नहीं है, समिति प्रजा के प्रतिनिधियों की सभा है जिसमें राज्य की बातों पर विचार होता है और जो राज्य

¹ विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु। अथ० 6.87.1.

² पर्वत इवाविचाचलत्। अथ० 6.87.2.

³ ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।

ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विश्वामयम् ॥ अथ० 6.88.1.

की सारी नीतियों को नियन्त्रित रखती है ।

कुछ अन्य स्थलों में समिति और सभा के कार्यों का वर्णन

अथर्ववेद के छठे काण्ड के 64 वें सूक्त के 3 मन्त्र हैं । ये मन्त्र थोड़े-से पाठ भेद के साथ ऋग्वेद 10.191 सूक्त के पिछले 3 मन्त्र हैं । भेद इतना है कि जहाँ ऋग्वेद के सूक्त में ये तीनों मन्त्र प्रजा को लक्ष्य करके सम्राट् की ओर से बोले गये हैं वहाँ अथर्ववेद में आकर ये मन्त्र एक स्वतन्त्र सूक्त बनाते हैं जोकि परमात्मा की ओर से मनुष्य मात्र को एकता का उपदेश करने के लिए कहा गया है । इस सूक्त का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।

समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥

अर्थात्—‘तुम्हारी मन्त्रणा समान हो, समिति समान हो, नियम या कर्म समान हों, चित्त समान हो, मैं तुम्हें समान रूप से त्याग के कर्म में नियुक्त करता हूँ—अर्थात् तुम्हें समान रूप से एक दूसरे के लिए त्यागपूर्वक कर्म करने चाहिए—तुम समान विचार में रहो ।’

इस मन्त्र में भगवान् ने मनुष्य को उपदेश किया है कि तुम्हें अपनी सुख-समृद्धि के लिए भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार करने के लिए समितियाँ बनानी चाहिए और उनमें एक दूसरे के लिए त्याग की भावना से युक्त होकर, एकमन और विचार से जाना चाहिए और वहाँ मिलकर मन्त्रणा करनी चाहिए । पर इससे इस पर भी प्रकाश पड़ जाता है कि राजनीतिक प्रयोजनों को पूरा करने वाली राष्ट्रीय समितियों में जाने वाले लोगों की मनोभावना कैसी होनी चाहिए । ग्रिफिथ ने इस मन्त्र के समिति शब्द पर भी वही कुछ लिखा है जो ऋग्वेदस्थ मन्त्र के समिति शब्द पर लिखा है । कुछ भी हो, ध्वनि से यह मन्त्र इतना अवश्य बताता है कि समिति में राज्य के विचारणीय विषयों पर विचार (मन्त्र) हो और समिति के सदस्यों को एक-चित्त और रागद्वेष रहित होकर उस विचार में प्रवृत्त होना चाहिए ।

अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के पहले सूक्त का 56वाँ मन्त्र इस प्रकार है—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।

ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥

इस मन्त्र पर कुछ विचार किया जा चुका है । इसमें मातृ-भूमि का भक्त ग्राम, अरण्य युद्ध तथा सभा और समिति में राष्ट्र के हित की बातें बोलने को कह रहा है । इससे भी सभा और समिति के कार्यों पर प्रकाश पड़ता है । अर्थात् सभा और समिति ऐसी सभायें हैं जिनमें राष्ट्र के हित की बातों पर विचार होता है ।

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के छठे मन्त्र में, ‘धर्माय सभाचरम्’ ये शब्द आते

हैं। इससे ऊपर चतुर्थ मन्त्र में 'हवामहे' यह क्रिया आती है। इसकी छठे मन्त्र में अनुवृत्ति होती है और उपर्युक्त मन्त्र खण्ड का अर्थ इस प्रकार बनता है—'हम धर्म या नियम के लिए सभा में जाने वाले सभासद को बुलाते हैं।' इससे यह परिणाम निकलता है कि सभा का—और साथ ही समिति का, क्योंकि इन दोनों का वेद के अनेक राजनीतिक प्रकरणों में साहचर्य है—कार्य धर्म या नियम (law) निर्माण करना है। अंग्रेजी भाषा के ला (law) शब्द में जो भाव है वही वेद के 'धर्म' शब्द में भी है। धर्म शब्द का योगार्थ है, जो धारण करे। राजनीतिक नियम (law) राष्ट्र का कारण करते हैं। इसलिए वे धर्म हैं। आप्टे ने अपने संस्कृत-इंगलिश कोश में धर्म के law, ordinance, statute ये अर्थ भी दिये हैं। हमारे सब धर्मसूत्रों और स्मृतियों में राज्य-नियमों के लिए 'धर्म' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार सभा और समिति राज्य की नियामक (legislative) सभायें हैं।

यहाँ तक के विवेचन में हमने देखा है कि वैदिक राज्य में राज्य के चक्र को चलाने के लिए आवश्यक नियमादि विषयों का विचार (मन्त्र) सभा और समिति में होना चाहिए।

राष्ट्री संगमनी

ऋग्० 10.125 सूक्त से इस सम्बन्ध में और भी प्रकाश पड़ता है। सूक्त इस प्रकार है—

1. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैस्त विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥
2. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्यैश्यजमानाय मुन्वते ॥
3. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थान्नां भूयविशयन्तीम् ॥
4. मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिनि य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥
5. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिस्त मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥
6. अहं रुद्राय घनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥
7. अहं सुवे पितरमस्य सूर्धन् मम योनिरप्स्वशन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ध्मणोप स्पृशामि ॥
8. अहमेव वात इव प्र वाम्या रभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥

इस सूक्त में राजसभा के लिए 'राष्ट्री संगमनी' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'राष्ट्री

संगमनी' शब्द सभा और समिति दोनों को ही सामान्य रूप से कहता है। सभा और समिति राजसभा के ही—राष्ट्री संगमनी के ही—दो विभाग हैं। जैसे आजकल भी अधिकांश राज्यों की राजसभाओं (Legislature) के निचली और ऊपर की सभा (Lower and Upper Houses) इस प्रकार से दो विभाग होते हैं। ऊपर व्याख्यात अथर्व० 7.12 सूक्त में जहाँ सभा और समिति का पृथक्-पृथक् नाम लेकर वर्णन है वहीं इन दोनों के लिए सामान्य वाची 'सभा' और 'संसद' शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इस सूक्त में प्रजापति (राजा) की राज्य सम्बन्धी बातों को पूरा करने वाली जिन सभा और समिति को सामान्य रूपेण सभा और संसद कहा है उन्हीं को ऋग्वेद 10.125 के प्रस्तुत सूक्त में सामान्य राजसभा वाची 'राष्ट्री संगमनी' शब्द से अभिहित किया गया है। राष्ट्र का अर्थ होता है राज्य। इसे जिसने संस्कृत साहित्य को सूँधा भी है वह भी जानता है। राष्ट्र¹ का अर्थ होता है, राज्य की, राज्य सम्बन्धी। 'संगमनी'² शब्द में 'सम्' पूर्वक 'गम्' धातु से अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय है। इसका अर्थ होगा, जहाँ जाकर इकट्ठे हों। मन्त्र में राष्ट्री शब्द संगमनी का विशेषण है। इसलिए राष्ट्री संगमनी का अर्थ हुआ राज्य की वह सभा जहाँ राष्ट्र के प्रतिनिधि लोग राज्य की बातों (Matters of State) पर विचार करने के लिए इकट्ठे होते हैं। हम पीछे अथर्ववेद 7.12 की व्याख्या में देख चुके हैं कि वहाँ सभा और समिति के अधिवेशनों के लिए 'संगत' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ 'संगत'³ शब्द 'सम्' पूर्वक 'गम्' धातु से अधिकरण में 'क्त' प्रत्यय से बना है। इस प्रकार 'संगत' शब्द का भी शाब्दिक अर्थ है, जहाँ इकट्ठे हों। 'संगत' और 'संगमनी' शब्दों की मूल धातु और उपसर्ग एक ही है और इनमें क्रम से होने वाले 'क्त' और 'ल्युट्' प्रत्यय भी एक ही अर्थ अधिकरण में है। इन दोनों शब्दों का अर्थ भी एक ही है। भेद केवल इतना है कि संगत शब्द नपुंसक लिंग में है और संगमनी शब्द स्त्रीलिंग में है। अपने स्त्रीलिंग की ध्वनि से संगमनी शब्द सभा और समिति को बताता है। क्योंकि सभा और समिति शब्द भी स्त्रीलिंग के हैं। संगमनी कोई राजसभा है यह उसके राष्ट्री विशेषण से स्पष्ट है। राजा के साथ सम्बद्ध सभायें वेद में सभा और समिति ही मिलती हैं। इसलिए सभाओं का सामान्य वाचक 'संगमनी' शब्द अपने 'राष्ट्री' विशेषण के आधार पर सभा और समिति को ही बतायेगा। राजसभा का कितना महत्त्व है यह इस सूक्त में बताया गया है।

इस सूक्त में राजसभा का ही वर्णन है यह सूक्त के प्रचलित देवता पर भी गहरा ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में इसका देवता 'वागाम्भृणी' लिखा है। उसी के आधार पर श्री सायण भी इसका देवता 'वागाम्भृणी' ही मानते

¹ राष्ट्रयेदं राष्ट्रम् । तस्येदमण् । स्त्री चेत् राष्ट्री । टिड्ढाणिनि डीप् ।

² सम्पूर्वाद् 'गम्भृगती' इत्यस्माद्धातोः करणाधिकरणयोश्चेत्यधिकरणे ल्युट् । संगच्छन्त्यन्तेति संगमनम् । स्त्रियां संगमनी । टिड्ढाणिनि डीप् ।

³ नपुंसके भावे क्तेऽपि न दोषः । सभासमित्योः संगतानि संगमनानि तयोरधिवेशनान्येव स्युः ।

हैं। मुद्रित मूल पुस्तकों में भी इस सूक्त के ऊपर देवता 'वागाम्भृणी' ही लिखा रहता है।

देवता का निर्णय तर्क से होता है

यों हम, किसी सूक्त का वही देवता है जो प्रचलित परम्परा से माना चला आ रहा है, यह मानने के लिए बाधित नहीं हैं। हमें किसी भी सूक्त या मन्त्र का देवता तर्क से निर्णय करना होगा। पुराने लोग भी यही मानते रहे हैं कि देवता आदि का निर्णय तर्क से होता है। उदाहरण के लिए उवट ने अपने यजुर्वेद भाष्य की भूमिका में लिखा है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः ।

ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छन्दसं च यत् ॥

अर्थात्—'मैं अपने गुरु, शतपथ ब्राह्मण और तर्क के आधार पर मन्त्रों के देवता, छन्द और ऋषियों का वर्णन करूँगा।' अब यदि देखा जाय तो देवता आदि का निर्णय तर्क से ही हुआ। क्योंकि उवट के गुरु ने देवता आदि का जो निर्णय किया था वह तर्क के ही आधार पर किया था, और शतपथ में स्पष्ट तो लिखा ही नहीं कि अमुक मन्त्र का अमुक देवता है, शतपथगत मन्त्रों के विनियोग को देखकर तर्क से ही निर्णय करना पड़ता है कि अमुक मन्त्र का अमुक देवता है। और यदि कहीं शतपथ में किसी मन्त्र का देवता लिखा भी हो तो भी वह याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपने तर्क से ही निर्णय किया है। इस प्रकार देवता आदि का अन्तिम निर्णय तर्क पर ही आकर ठहरता है। यदि किसी सूक्त या मन्त्र का प्रचलित परम्परासिद्ध देवता तर्कसंगत प्रतीत न होता हो तो हम उसका परित्याग भी कर सकते हैं और सूक्त या मन्त्र के विषय को देखकर हम देवता की स्वयं कल्पना भी कर सकते हैं। यदि हमें अपने तर्क के आधार पर इस प्रस्तुत सूक्त का देवता निर्णय करना हो तो हम कहेंगे कि इसका देवता 'राष्ट्री संगमनी' होना चाहिए। क्योंकि सूक्त में बोलने वाली जिस चीज के लिए बार-बार 'अहं'—मैं—शब्द का प्रयोग हुआ है वह 'अहं' पदवाच्य क्या है यह 'राष्ट्री संगमनी' पदों से ही स्पष्ट होता है। सारे सूक्त में 'राष्ट्री संगमनी' पदों के अतिरिक्त और कोई ऐसा पद नहीं है जिसका वाच्य 'अहं' इस बार-बार दोहराये गये सर्वनाम पद का वाच्य बन सके।

वागाम्भृणी का अर्थ

इसलिए हम प्रचलित 'वागाम्भृणी' को सूक्त का देवता मानने के लिए बाधित नहीं हैं। क्योंकि यह पद सूक्त में नहीं आता है। हमारी सम्मति में सूक्त का देवता 'राष्ट्री संगमनी' होना चाहिए। परन्तु यदि हम सूक्त का देवता प्रचलित वागाम्भृणी भी स्वीकार कर लें तो भी हमारे मत की पुष्टि होती है कि सूक्त में राष्ट्रसभा का वर्णन है। 'वागाम्भृणी' शब्द को ध्यान से देखिये। इसमें दो पद हैं, वाग् और

आम्भृणी । अम्भृण¹ शब्द का अर्थ निघण्टु में महान् दिया है । महत्त्व परिमाणगत, गुणगत और संख्यागत तीन प्रकार का होता है । महान् भारत देश, महान् आकाश, इस प्रकार के वाक्यों में महत्त्व परिमाणगत है । किसी देश में गुणगत महत्त्व भी हो सकता है । महती आर्य जाति, महान् जंगल, इस प्रकार के वाक्यों में महत्त्व संख्यागत है । आर्य जाति के लोगों की संख्या अधिक होने से ही इस जाति में दूसरी जातियों की अपेक्षा महत्त्व है । जंगल के वृक्षों की संख्या अधिक होने से ही जंगल विशेष में अन्य जंगलों की अपेक्षा महत्त्व है । अम्भृण शब्द दोनों ही प्रकार के महत्त्व को बताता है । अम्भृण शब्द से 'तस्येदम्'—उसका—इस अर्थ में तद्धित 'अण्' प्रत्यय होकर आम्भृण शब्द बनता है । जो अम्भृण का, अम्भृण सम्बन्धी, हो उसे आम्भृण कहा जायेगा । यदि वह चीज स्त्रीलिंग हो तो उसे 'आम्भृणी'² कहा जायेगा । 'वागाम्भृणी' में 'आम्भृणी' शब्द 'वाग्' शब्द का विशेषण है । इसलिए 'वागाम्भृणी' का अर्थ हुआ वह वाणी जो महान् की हो (परिमाणगत महत्त्व) अथवा जो बहुतों की हो (संख्यागत महत्त्व) । महान् की (गुणगत और परिमाणगत महत्त्व में) वाणी परमात्मा की ही वाणी हो सकती है । पर 'वागाम्भृणी' का अर्थ इस सूक्त में नहीं लिया जा सकता । प्रमेष्टु क्योंकि 'वागाम्भृणी' का अर्थ निर्णय करने में हमें उसके सूक्तगत वर्णन को भी ध्यान में रखना होगा । सूक्त में उसके स्वरूप के नियामक 'राष्ट्री संगमनी' ये पद भी आते हैं । इसलिए वागाम्भृणी ऐसी वाणी होनी चाहिए जिसमें 'राष्ट्री संगमनी' पदों का अर्थ भी संगत हो सके । अर्थात् वह ऐसी वाणी होनी चाहिए जो 'राज्य सम्बन्धी इकट्ठा होने की जगह में' बोली जाती हो । परमात्मा की वाणी में यह बात संगत नहीं हो सकती । अतः हमें 'वागाम्भृणी' का अर्थ बहुतों की वाणी (संख्यागत महत्त्व में) ऐसा करना होगा । बहुतों की वाणी राष्ट्र के लोगों की वाणी ही हो सकती है । इस अर्थ के साथ सूक्तगत 'राष्ट्री संगमनी' पदों के अर्थ का भी समन्वय हो जाता है । क्योंकि 'राष्ट्री संगमनी' में—राष्ट्रसभा में—बहुतों की, बहुतों के प्रतिनिधियों की, वाणी ही बोल रही होती है । इस प्रकार प्रचलित वागाम्भृणी देवता पर गहरा विचार करने पर भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रस्तुत सूक्त में राष्ट्रसभा का ही वर्णन है । क्योंकि बहुतों की वाणी राष्ट्र-सभा की वाणी ही हो सकती है और जबकि सूक्त में उसके वर्णन के प्रसंग में राष्ट्री और संगमनी इन दो पदों का भी प्रयोग हुआ हो तब तो हमें वागाम्भृणी का अर्थ राष्ट्र की या राष्ट्र-सभा की वाणी ही करना होगा ।

राष्ट्री संगमनी के कार्य

अब क्रम से सूक्त के एक-एक मन्त्र का अर्थ सुनिये और देखिये कि वेद की सम्मति में राष्ट्र-सभा का कितना महत्त्व और कितना ऊँचा स्थान है—

(1) (अहम्) मैं (वसुभिः) वसु (रुद्रेभिः) रुद्र (आदित्यैः) और आदित्य

¹ अम्भृण इति महन्नामसु पठितम् । निघ० 3.3.

² अम्भृणस्येदमाम्भृणम् । तस्येदमण् । स्त्रियामाम्भृणी । टिड्ढाणमिति डीप् ।

ब्रह्मचारी रहकर विद्या प्राप्त विद्वानों के साथ (चरामि) चलती हूँ (उत) तथा (विश्वदेवैः)¹ सभी प्रकार के व्यवहारशील लोगों के साथ चलती हूँ (अहं) मैं (मित्रा-वरुणा) मित्र और वरुण (उभा) दोनों को (बिभर्मि) धारण करती हूँ (अहं) मैं (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि को धारण करती हूँ (अहं) मैं (उभा) दोनों (अश्विना) अश्विनों को धारण करती हूँ ।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध का भाव यह है कि राष्ट्र-सभा में सभी प्रकार के व्यवहारों को करने वाले वसु, रुद्र और आदित्य² विद्वान् प्रतिनिधि होकर जाते हैं । उनके विचार-विमर्श से ही राष्ट्र-सभा चलती है । मन्त्र के उत्तरार्द्ध का भाव यह है कि राष्ट्र-सभा के द्वारा ही इन्द्र (सम्राट्) तथा राज्य के अग्नि, मित्र, वरुण और अश्विन्³ आदि कर्मचारियों का धारण होता है । यदि राष्ट्र-सभा की सहायता इन्हें प्राप्त न हो तो ये कर्मचारी अपना कार्य नहीं कर सकते । इससे प्रतीत होता है कि राष्ट्रसभा में राज्य के सभी विभागों से सम्बन्ध रखने वाली बातों का विचार होता है ।

(2) (अहम्) मैं (आहनसम्) अन्याय-अत्याचार को मारने वाले (सोमं) सोम को (बिभर्मि) धारण करती हूँ (अहम्) मैं (त्वष्टारम्) त्वष्टा को (उत) और (पूषणम्) पूषा को और (भगम्) भग को धारण करती हूँ (अहम्) मैं (हविष्मते) जो राष्ट्र को अपनी आय में से उचित अंश कर आदि के रूप में दान देता है (सुप्राव्ये)⁴ और इस प्रकार कर आदि के दान से राष्ट्र की रक्षा करता है (सुन्वते) तथा जो राष्ट्र की उन्नति के लिए नाना प्रकार के ज्ञान-रसों को, धन-रसों को निचोड़ता रहता है, उत्पन्न करता रहता है, ऐसे (यजमानाय)⁵ नाना भाँति के व्यवसाय रूप संगतिजन्य यज्ञकर्म करने वाले व्यक्ति के लिए (द्रविणं) ऐश्वर्य (दधामि) धारण करती हूँ, देती हूँ ।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध का भाव यह है कि राष्ट्रसभा द्वारा ही राज्य के सोम, पूषा, त्वष्टा और भग आदि कर्मचारियों का धारण होता है । यदि राष्ट्रसभा की सब प्रकार की सहायता इन कर्मचारियों को न प्राप्त हो तो वे अपना कार्य नहीं कर सकते । इससे यह भी सूचित होता है कि राष्ट्रसभा में राज्य के सभी विभागों के सम्बन्ध में विचारणीय विषयों पर विचार होता है । मन्त्र के उत्तरार्द्ध का भाव यह है कि जो लोग किसी न किसी प्रकार से राष्ट्र को अपनी सेवाओं द्वारा लाभ पहुँचाते

¹ विनुधातोर्लेशेषु व्यवहारोप्यन्यतमः । ये दीव्यन्ति विविधं व्यवहरन्ति ते देवाः । विश्वे च ते देवाश्च विश्वदेवाः सर्वविधव्यवहारकारिणः कर्मकुशला विद्वांसः ।

² वैदिक धर्म के अनुसार प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार कम से कम 24 वर्ष की आयु तक तो अवश्य ही शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए । जो 24 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते हैं वे वसु, जो 36 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते हैं वे रुद्र और जो 48 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते हैं वे आदित्य नामक विद्वान् कहलाते हैं ।

³ अग्नि, वरुण, मित्र, अश्विन् कौन हैं इस पर आगे सोलहवें अध्याय में विचार किया गया है ।

⁴ सुप्रपूर्वाद् अवतेरविनुस्तुतं त्विभ्य ईरितीकारः ।

सुप्रावतीति सुप्रावीः । तस्यै सुप्राव्ये ।

⁵ यजघतोः संगतिकरणमप्येकोर्थः ।

हैं उन्हीं को राष्ट्रसभा की रक्षा और तदङ्ग ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। इससे अर्थापत्ति यह भी निकलती है कि जो लोग राष्ट्र को हानि पहुँचाते हैं उनका दमन भी राष्ट्र-सभा करवाती है।

(3) (अहं) मैं (राष्ट्री) राज्य की (संगमनी) सभा (वसूनां) सब प्रकार के ऐश्वर्यों को (चिकितुषी) अच्छी प्रकार जानने वाली हूँ (यज्ञियानाम्) जितने संगति के, मिलकर करने के कार्य हैं उनमें (प्रथमा) सबसे अग्रगण्य हूँ (भूरिस्थात्रां) जिसमें बहुत लोग आकर बैठते हैं अथवा जो बहुत विचार-स्थानों में ठहरती है (भूरि) बहुतों को (आवेशयन्ती) जो बसाती है ऐसी (तां) उस प्रसिद्ध (मा) मुझको (देवाः) विद्वान् पुरुषों ने (पुरुत्रा)¹ बहुत स्थानों पर अथवा बहुतों की रक्षा करने वाली (व्यदधुः) बनाया है।

राष्ट्रसभा ही ऐसे नियम बनाती है जिनके अनुसार चलते हुए राष्ट्र के लोग सब प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए उसे मन्त्र में ऐश्वर्यों को जानने वाली कहा है। जितने भी मिलकर किए जाने वाले लोकोपचार के कर्म हैं सभी यज्ञिय कर्म हैं, परन्तु राष्ट्रसभा सबसे मुख्य यज्ञिय कर्म है। क्योंकि राष्ट्र के ठीक प्रकार से संचालन के लिए उचित नियम बनाने वाली और अतएव उसकी रक्षिका राष्ट्रसभा न हो तो राष्ट्र के कोई भी यज्ञिय कर्म चल नहीं सकते, पूरे नहीं हो सकते। राष्ट्रसभा में राष्ट्र के प्रतिनिधि बहुत लोग तो आकर बैठते ही हैं, इस लिए वह भूरिस्थात्रा है। वह अनेक विचारणीय विषयों में आकर ठहरती है, कोई राज्य-नियम नहीं चल सकता जब तक कि उस पर विचार करने के लिए पहले राजसभा का अधिवेशन न बैठ ले। इसलिए भी वह भूरिस्थात्रा है। राष्ट्रसभा से प्राप्त होने वाली रक्षा के कारण ही राष्ट्र की बहुत प्रजाएँ सुखपूर्वक बस सकती हैं। इसलिए वह 'भूर्यविशयन्ती' तो है ही, बहुतों की रक्षा करने के कारण वहुपुत्रा भी है। अथवा इसलिए भी पुरुत्रा है कि उसे बहुत देशों से बनाया जाता है—सभी राज्यों में ठीक प्रकार से राज्य संचालन के लिए राष्ट्रसभा की आवश्यकता रहती है। उसे देव पुरुष ही बनाते हैं। जिन विद्वान् पुरुषों में दिव्य भावनाएँ रहती हैं वे राष्ट्रसभाओं का निर्माण करते हैं। राक्षसी भावनाओं वाले राजकर्मचारी तो सदा यही प्रयत्न करते रहते हैं कि उनके राज्य में कोई ऐसी राष्ट्र-सभा न बन सके जो उनकी स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित रख सके।

(4) (यः) जो (विपश्यति) देखता है (यः) जो (प्राणिति) सांस ले रहा है (इं) और (यः) जो (उक्तम्) वचनों को (शृणोति) सुनता है (सः) वह (मया) मेरे कारण ही (अन्नम्) अन्न को (अत्ति) खाता है (श्रुत)² हे सुनने वाले (श्रुधि) तू सुन (ते) तेरे लिए (श्रद्धिवं) श्रद्धा करने योग्य बात (वदामि) कहती हूँ कि (ते) वे लोग

¹ पुरुष इति पुरुष । सप्तम्यास्त्रन् । छान्दसो दीर्घः । यद्वा पुरुन् जायत इति पुरुत्रा । तां पुरुत्रा । अमः स्थाने छान्दस आकारोन्तोदेशः ।

² अन्न शृणोते कर्तृरित्तः ।

यदि (मां) मुझे (अमन्तवः) न मानने वाले बन जाते हैं तो (उपक्षियन्ति) क्षीण हो जाते हैं। 'अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति' का यह भी अर्थ हो सकता है कि (ते) वे लोग (अमन्तवः) चाहे मुझे न मानने वाले भी बन जायें तो भी वे (मां) मेरे (उप) सहारे ही (क्षियन्ति) बस सकते हैं, जी सकते हैं।

मन्त्र के पूर्वाह्न का भाव यह है कि राष्ट्र के सभी प्राणी अपना भोजन और दूसरे प्रकार के भोग्य पदार्थ इसीलिए प्राप्त कर सकते हैं कि उनकी सुख-शान्ति और रक्षा की चिन्ता न करने वाली राष्ट्रसभा उनके ऊपर बैठी होती है। इसके अभाव में उत्तम कोटि की सुख-शान्ति तो दूर रही, उन्हें जी सकना भी दूभर हो जाये। मन्त्र के उत्तराह्न का भाव यह है कि जो लोग राष्ट्रसभा की आज्ञाओं को नहीं मानेंगे वे नष्ट हो जायेंगे। ऐसे व्यक्तियों को राज्य की ओर से दण्डित किया जायेगा। अन्यथा ऐसे राष्ट्र अव्यवस्था से स्वयं ही क्षीण शक्ति वाले होकर नष्ट हो जायेंगे। व्याख्या के दूसरे विकल्प के अनुसार इसका भाव होगा कि बीच-बीच में राज्य के जो लोग राष्ट्रसभा की आज्ञाओं और नियमों को तोड़ते भी रहते हैं वे भी इसीलिए बचे हुए हैं, जी रहे हैं, कि राज्य में राष्ट्रसभा के कारण सुव्यवस्था है। नहीं तो राष्ट्रसभा के अभाव में राज्य में जो घोर अव्यवस्था हो जाये उसमें इन थोड़े से उच्छृंखल लोगों को भी जीना और इसीलिए अपनी उच्छृंखलताएँ भी कर सकना कठिन हो जाये। इसलिए सभी को राष्ट्रसभा की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। इसी में सबका वास्तविक कल्याण है।

(5) (अहम्) मैं (एव) ही (स्वयं) स्वयं (इदम्) यह बात (वदामि) कहती हूँ जोकि (देवेभिः) दिव्य भावनाओं वाले विद्वान् पुरुषों द्वारा (उत) और (मानुषेभिः) साधारण मनुष्यों द्वारा (जुष्टम्) प्रीति करने योग्य और सेवनीय होती है। (यं) जिसको (कामये) मैं चाहती हूँ (तं तं) उस-उसको (उग्रं) उग्र शक्ति वाला क्षत्रिय (तं) उसको (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण (तं) उसको (ऋषिं) ऋषि और (तं) उसको (सुमेधाम्)¹ अच्छी बुद्धि वाला प्रजा का सामान्य वैश्य जन (कृणोमि) बना देती हूँ।

ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था राज-सभा करेगी

मन्त्र के पूर्वाह्न का भाव यह है कि राष्ट्रसभा ऐसी बात बोलती है—ऐसे नियम बनाती और निर्णय करती है—जोकि प्रजा के देव-पुरुषों और सामान्य लोगों के लिए प्रीतिजनक और सेवनीय हों—जो सबके हित के और सबको पसन्द आने वाले हों। मन्त्र के उत्तराह्न का भाव यह है कि राष्ट्रसभा ही यह भी निर्णय करती है कि कौन ब्राह्मण, कौन ऋषि, कौन क्षत्रिय और कौन वैश्य है। जो ब्राह्मणादि न बन सकेगा वह परिशेष से शूद्र ही रह जायेगा। इस प्रकार यह मन्त्र जन्म पर आश्रित वर्णव्यवस्था की जड़ पर सीधा कुठार रख देता है। ब्राह्मणादि वर्ण जन्म पर आश्रित

¹ सुमेधां शब्द से यह भी सूचित होता है कि राष्ट्र में शिक्षा की व्यवस्था करना भी राजसभा का काम है।

नहीं प्रत्युत राजसभा के निर्णयों पर आश्रित हैं। राष्ट्रसभा ऐसे नियम और व्यवस्था बना देगी जिनसे ब्राह्मणादि का निर्णय हुआ करेगा। जिसने योग्यता प्राप्त करके राष्ट्रसभा के नियमों और व्यवस्था के अनुसार राज्य द्वारा ब्राह्मणादि वर्ण की प्राप्ति नहीं करली वह उस वर्ण का केवल जन्म के कारण अधिकारी नहीं बन सकेगा। महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में वर्णव्यवस्था पर लिखते हुए यह जो लिखा है कि—'इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है,' प्रतीत होता है कि वेद के इसी मन्त्र के आधार पर लिखा है। हमने मन्त्र के शब्दार्थ में 'सुमेधाम्' का अर्थ 'अच्छी बुद्धि वाला प्रजा का सामान्य वैश्यजन' कर दिया है। क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय भी सुमेधा—अच्छी बुद्धि वाले—तो होंगे ही। फिर 'सुमेधा' को अलग पढ़ना व्यर्थ हो जाता है। वेद का कोई शब्द व्यर्थ नहीं हो सकता। प्रत्येक शब्द का कोई न कोई अभिप्राय अवश्य होता है। इसलिए यहाँ 'सुमेधा' शब्द का पृथक् पाठ वैश्य का बोध कराता है।

(6) (ब्रह्मद्वेषे) जो लोकोपकार के पवित्र कर्म में लगे हुए ब्राह्मणों से द्वेष करता है ऐसे ब्रह्मद्वेषी को (शरवे)¹ जो प्रजा की तरह-तरह से हिंसा करता है ऐसे प्रजापीड़क को (हन्तवा) मारने के लिए (उ) निश्चय से (अहं) मैं (रुद्राय) रुद्र के लिए (धनुः) धनुष (आतनोमि) तानती हूँ (अहं) मैं (जनाय) प्रजाजनों के लिए (समदं)² युद्ध (कुणोमि) करती हूँ (अहं) मैं (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी में (आविवेश) अपने प्रभाव से घुसी हुई हूँ।

रुद्र (सेनापति)³ ब्रह्मद्वेषियों और प्रजाहिंसकों के वध के लिए अपने धनुष तभी तानेंगे जब राष्ट्रसभा से राजा ऐसा करने के लिए आज्ञा प्राप्त कर ले। इसी भाँति राजा कोई युद्ध नहीं कर सकता चाहे वह युद्ध प्रजा के भले के लिए ही किया जा रहा हो, जब तक राष्ट्रसभा में उस पर विचार होकर उसके लिए इस सभा की स्वीकृति प्राप्त न करली जाये। राष्ट्रसभा का प्रभाव द्यौ और पृथिवी तक होता है यह तो स्पष्ट ही है। पृथिवी से—राष्ट्र की भूमि से—सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों पर विचार, उनके सम्बन्ध में नियम और निर्णय राष्ट्रसभा में ही होते हैं। इसी भाँति राष्ट्र के आकाश के सम्बन्ध में विचार, नियम और निर्णय राष्ट्रसभा में ही होते हैं। उदाहरण के लिए दूसरे राष्ट्रों के वायुयान किसी राष्ट्र के आकाश में से उड़कर नहीं जा सकते जब तक उस राष्ट्र की राजसभा उनके उड़ने की स्वीकृति न प्रदान कर दे।

(7) (अहं) मैं (पितरम्) प्रजाओं के पालक राजा रूप पिता को (अस्य) इस राष्ट्र में (सूर्धन्) मस्तक पर (सुवे) प्रेरित करती हूँ (मम) मेरा (योनिः) उत्पत्ति-कारण (समुद्रे) राष्ट्र-समुद्र में (अप्सु-अन्तः) प्रजाओं के भीतर है (ततः) इस हेतु से

¹ शब्दोयं शृ हिंसायामित्यस्माद्धातोनिष्पद्यते। शृणातीति शस्स्तस्मै शरवे।

² समदिति संग्राम नामसु पठितम्। निघ० 2.17.

³ रुद्र सेनापति को कहते हैं यह हम आगे बतावेंगे।

⁴ मनुष्या वा आपः। शत० 7.1.1.2.

(विश्वा) सब (भुवना)¹ भुवनों अर्थात् उत्पन्न प्राणियों पर (वितिष्ठे) मैं विविध प्रकार से बैठती हूँ—शासन करती हूँ (उत) और (वर्ष्मणा) अपने प्रभाव-शरीर से (द्यां) द्यौ को भी (उपस्पृशामि) मैं स्पर्श करती हूँ ।

प्रजापालक राजा राष्ट्र के भूषा पर बैठकर सब प्रकार के राज्यकर्म करने में क्यों समर्थ होता है ? इसीलिए कि उसे राष्ट्रसभा से सब प्रकार की प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं । यदि राष्ट्रसभा उसे प्रेरणा प्रदान न करे और उसकी सहायता न करे तो राजा भी—राष्ट्र का भूषण्य राजा भी—कुछ नहीं कर सकता । यह राष्ट्रसभा कोई साधारण चीज नहीं है । राष्ट्र समुद्र में रहने वाली प्रजायें इसका कारण हैं—उन्होंने इसे उत्पन्न किया है । इसलिए इसमें सारी प्रजा का बल निहित है । यह प्रजा की—जिस प्रजा को पीछे राजा का भी योनि, कारण कह आये हैं उस प्रजा की—सभा है । इसी हेतु से यह राष्ट्र के सब प्राणियों पर शासन करती है । न सिर्फ राष्ट्र में रहने वाले प्राणियों पर ही इसका शासन है प्रत्युत इसके निर्णयों का प्रभाव आकाश में विचरने वाले पक्षियों और विमानों आदि तक पर होता है ।

‘राष्ट्री संगमनी’ प्रजा द्वारा बनाई हुई प्रजा के प्रतिनिधियों की सभा है यह इस मन्त्र से विलकुल स्पष्ट हो जाता है ।

(8) (अहम्) मैं (एव) ही (विश्वा) सब प्रकार के (भुवनानि)² उत्पन्न होने वाले कार्यों को (आरभमाणा) आरम्भ करती हुई (वातः) वायु की (इव) तरह (प्रवामि) दौड़ती फिरती हूँ (महिना) अपनी महिमा से (एतावती) इतनी (संवभूव) हो गई हूँ कि (दिवा) द्यौ से भी (परः) परे और (पृथिव्या) पृथिवी से भी (परः) परे, मैं अपना प्रभाव रखती हूँ ।

राष्ट्र में होने वाले सब कार्य राष्ट्रसभा की आज्ञा से ही होते हैं इसलिए कह दिया गया है कि राष्ट्रसभा ही सब प्रकार के कार्यों को कर रही है । और क्योंकि राष्ट्रसभा की आज्ञाओं और निर्णयों का प्रभाव राष्ट्र के दूर से दूर के प्रदेशों में भी तत्क्षण होता है इसलिए अलंकार से कहा कि मानो वह वायु की तरह दौड़ती फिरती है । उसकी महिमा इतनी है कि वह अपने राष्ट्र के आकाश और पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों पर तो नियन्त्रण रखती ही है—जैसा कि पिछले दोनों मन्त्रों में कहा गया है—परन्तु कितनी ही बार उसके निर्णयों का प्रभाव अपनी भूमि और आकाश से परे दूसरे राष्ट्रों की भूमि और आकाश पर भी पड़ता है ।

पाठक इस सूक्त को ध्यान से पढ़ें और देखें कि इसमें राष्ट्रसभा का कितना महत्त्व और उसके राष्ट्र में कितने कार्य वर्णन किए गए हैं । इस सूक्त में सामान्य रूप से वर्णन की गई ‘राष्ट्री संगमनी’ के ही—राष्ट्रसभा के ही—सभा और समिति ये दो विभाग हैं जिन्हें अथर्व० 7.12 में प्रजापति (राजा) की राज्य सम्बन्धी बातों (Matters of State) को पूरा करने वाली बताया गया है ।

¹ भुवनानि भूतजातानीति सायणः ।

² भुवनानि भूतजातानि कार्याणीति सायणः ।

सूक्त में अम्भृण ऋषि की कन्या 'वाक्' का वर्णन नहीं।

सायण ने अपने ऋग्वेदभाष्य में इस सूक्त के देवता 'वागाम्भृणी' को विशद करते हुए लिखा है—'अम्भृणस्व महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी स्वात्मानमस्तौत् ।' अर्थात् इस सूक्त में अम्भृण नामक महर्षि की ब्रह्मविदुषी पुत्री की, जिसका नाम 'वाक्' था, अपने सम्बन्ध में स्तुति है। पाठक स्वयं विचार लें कि किसी ऋषि की पुत्री में, चाहे वह ब्रह्मविदुषी भी क्यों न हो, वह महिमा कैसे हो सकती है जोकि इस सूक्त में वर्णन की गई है। और फिर इस कहानी की ओर इशारा करने वाला एक शब्द भी सूक्त में नहीं है। स्वयं 'वागाम्भृणी' पद भी सूक्त में नहीं आया है। स्पष्ट है कि सायण सूक्त के वास्तविक आशय को नहीं समझ सके हैं और इसीलिए उनकी दृष्टि से राजनीति की वह शिक्षा ओझल रही जोकि इस सूक्त में दी गई है।

राष्ट्र में सभी प्रकार के कार्य सभाओं में विचार करके किए जाने चाहिए

अध्याय के इस खण्ड को समाप्त करने से पहले हम पाठकों को यह और बता देना चाहते हैं कि वेद सभाओं के कितने पक्षपाती हैं। वेद की सम्मति में सामाजिक जीवन का अंगभूत कोई भी कार्य किये जाने से पहले तत्सम्बन्धी किसी सभा में विचारित और निर्णीत कर लिया जाना चाहिए। तभी वह सामाजिक जीवन के उस अंग के लिए क्षेमकारी हो सकता है। सभाओं में विचार और निर्णय कर लेने के पश्चात् कार्य करने की विधि को वेद वज्र की तरह कार्यसाधिका बताते हैं। पर इसमें वज्र की तरह कार्य सिद्ध करने की शक्ति तभी आ सकती है जबकि सभाओं के सदस्य अपने अन्दर से सब प्रकार की गन्दगी, अपवित्रता निकाल कर सभाओं को पवित्र करने के भाव से उनके विचार-विमर्शों में भाग लें। जो बात सामाजिक जीवन के सामान्य अंगों के लिए ठीक है वही राजनीतिक अंग के लिए भी ठीक है। राजनीतिक कार्य भी तभी सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकते हैं जबकि उन्हें राजनीतिक सभाओं में सुविचारित और सुनिर्णीत कर लिया जाये तभी वे वज्र की तरह शीघ्र अभिलषित सिद्धि को देने वाले हो सकेंगे। राजनीतिक सभाओं को वेद में सभा और समिति कहा है यह हम बराबर देखते आ रहे हैं। वेद के इन आशयों को बताने वाले मन्त्र देखिये—

क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते ।

ऋग्वे० 10.94.12.

अर्थात्—'क्षेम चाहने वाले लोग जैसे सभाओं (सदसः)¹ को अपने साथ संयुक्त करते हैं'—इस उपमा से यह स्पष्ट भाव निकलता है कि जो लोग अपने कार्यों में क्षेम चाहते हैं उन्हें सभायें बनानी चाहिए और उनमें प्रत्येक विषय पर भली-भाँति विचार होना चाहिए। वहाँ विचार के पश्चात् ही किसी बात को कार्य का रूप दिया जाना चाहिए। अर्थात्पति से यह असंदिग्ध भाव निकलता है कि राजनीतिक

¹ सदांसीति सायणः ।

कार्यों में क्षेम के लिए राजनीतिक सभाओं—सभा और समिति—का होना भी आवश्यक है। सभाओं में सुविचारित कार्य विफल नहीं होते हैं, इस भाव को वेद के निम्न मन्त्र में कहा गया है—

सुवज्रमनपच्युतं सदसो न भूम।

ऋग्वे० 4.17.4.

जिस सूक्त का यह मन्त्रखण्ड है उस सारे ही सूक्त का देवता इन्द्र है। इन्द्र का अर्थ सम्राट् हम दिखा चुके हैं। इस सूक्त में इन्द्र की महिमा गाते हुए उद्धृत मन्त्रखण्ड में कहा है—‘उसका सुवज्र अनपच्युत है, वह कभी कार्यसिद्धि में विफल नहीं हो सकता जैसे कि उसकी सभा का (सदसः) तेज अनपच्युत है, कभी विफल नहीं होता।’ यहाँ तो ‘सदस्’ शब्द आया ही सम्राट् (इन्द्र) के साथ है। मन्त्र की शिक्षा यह है कि सम्राट् की सभा और उसका वज्र दोनों ही अनपच्युत रहने चाहिए। उसकी सभा इतनी तेजस्वी हो कि उसकी आज्ञाओं और निर्णयों का कोई उल्लंघन न कर सके—स्वयं सम्राट् भी उल्लंघन न कर सके, और, उसका वज्र अर्थात् शस्त्र अर्थात् सेना और पुलिस भी इतनी शक्तिशाली होनी चाहिए कि वह अपने कर्तव्य में कभी भी अपच्युत न हो सके—विफल न हो सके। सभाओं में सोच-विचार कर किये गए कार्यों में बल आ जाता है यह इस मन्त्र से अति स्पष्ट है। और यह भी अति स्पष्ट है कि राज्य में सेना और पुलिस की तरह ही सभा का—सभा और समिति का—रहना भी आवश्यक है, जिनमें कार्यरूप में परिणत होने से पहले प्रत्येक बात पर अच्छी तरह विचार हो जाया करेगा और ये इतनी शक्तिशाली होनी चाहिए कि इनके निर्णयों का विरोध कोई भी न कर सके—स्वयं सम्राट् का वज्र भी उनका विरोध न कर सके।

सभा और समिति के सदस्य पवित्र भावना वाले हों

सभा और समिति के कार्यों का वर्णन करते हुए उनके सदस्यों के कर्तव्य पर भी पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। यह दिखाया जा चुका है कि सभा और समिति में जाकर विचारणीय विषयों पर विचार करते समय उनके सदस्यों की मानसिक अवस्था कैसी होनी चाहिए? इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से भी कुछ प्रकाश पड़ता है—

प्र सुमेधा गातुविद्विष्वदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम्।

ऋग्वे० 9.92.3.

अर्थात्—‘(सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला (गातुविद्) मार्गों को, उपायों को जानने वाला (विष्वदेवः) सब देवों के गुणों वाला (सोमः) स्नातक विद्वान् (नित्यम्) नित्य ही—सदा ही—(पुनानः) पवित्र करता हुआ (सदः) सभा में (एति) जाता है।’

यहाँ सोम (स्नातक)¹ के वर्णन द्वारा सभाओं में जाने वाले सदस्यों के कर्तव्य

¹ सोम गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त स्नातक (Graduate) का नाम है यह हम संक्षेप में पीछे

का उपदेश हो गया है। सदस्यों का कर्त्तव्य है कि जब वे सभाओं में जायें तो उनके वहाँ जाने से सभायें पवित्र हो जावें। उनकी उपस्थिति सभा में किसी प्रकार के गन्द का, पाप का, कारण नहीं बननी चाहिए। उन्हें सभा में जाकर धर्म को, न्याय को, सत्य को बढ़ाने वाला बनना चाहिए; अधर्म को, अन्याय को, असत्य को बढ़ाने वाला नहीं। यहाँ सभा के लिए 'सदः' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह सभाओं का सामान्यवाची शब्द है। अथर्व० 7.12 में सभा और समिति के लिए भी सभाओं के सामान्यवाची 'संसद्' शब्द का प्रयोग हुआ है। सभा और समिति भी एक प्रकार की 'सदः' ही है। भेद इतना ही है कि ये राजनीतिक 'सदः' हैं। इसलिए सामान्य 'सदः' के सदस्यों का जो कर्त्तव्य है वही सभा और समिति के सदस्यों का भी होगा। अर्थात् उन्हें भी सभा और समिति को पवित्र बनाने वाले ही बनना चाहिए, अपवित्र बनाने वाले नहीं।

सभा और समिति का पारस्परिक सम्बन्ध

अब हमें यह देखना है कि सभा और समिति का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। अथ० 8.10 सूक्त के प्रथम पर्याय की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि सभा की उत्पत्ति के पश्चात् समिति की उत्पत्ति होती है। वहाँ समिति शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर यह भी दिखाया जा चुका है कि सभा में जाने वाले लोगों की अपेक्षा समिति में जाने वाले लोगों की योग्यताएँ (qualifications) अधिक होती हैं। वैदिक राज्य सदस्यों की किस प्रकार की योग्यता चाहता है इस पर अभी लिखा जायेगा। समिति का सभा से पीछे विकसित होना और इसके सदस्यों का सभा के सदस्यों की अपेक्षा अधिक योग्यता रखना यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक राज्य में सभा की अपेक्षा समिति का महत्त्व अधिक है। अथ० 5.19.18 में 'नास्मै समितिः कल्पते' कहकर ब्राह्मण की गौ (वाणी की स्वतन्त्रता) को मारने वाले राजा को डराना कि उसकी 'समिति' कार्य करने में समर्थ नहीं रहती' भी यही सिद्ध करता है कि राज्य में सभा की अपेक्षा समिति का महत्त्व अधिक है। साथ ही अथ० 7.12 की व्याख्या में अभी हमने देखा है कि सभा और समिति दोनों ही राजा की रक्षा करती हैं, राज्य की कामनाओं को पूरा करती हैं तथा परस्पर मिलकर—'संविदाना' होकर—कार्य करती हैं—'सभा च मा समितिश्चावतां प्रजायतेर्दुहितरौ संविदाने'। अथ० 15.9 सूक्त के 1-2 मन्त्र, 'स विशोऽनु व्यचलत्। तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्', भी स्पष्ट सूचना देते हैं कि राजा के साथ 'सभा' और 'समिति' दोनों का ही सम्बन्ध है। पीछे 'धर्मयि सभाचरम्' (यजु० 30.36) और 'समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः' (ऋग्० 10.191.3) की व्याख्याओं में स्पष्ट किया जा चुका है कि सभा और समिति

दिखा आये हैं। सोम का अर्थ कोई कुछ भी माने, 'सोम सभाओं में जाता है और उन्हें पवित्र करता है' इस कथन से यह अभिप्राय अब व्यक्त होता है जो हमने यहाँ दिखाया है।

दोनों में ही राज्य के लिए आवश्यक नियमादि पर विचार होता है। इस प्रकार सभा और समिति दोनों का ही मिलकर राजा या राज्य की रक्षा करना, राजा या राज्य की कामनाओं का पूरा करना, दोनों में ही राज्य के लिए आवश्यक नियमादि पर विचार होना, किन्तु सभा की अपेक्षा समिति के सदस्यों की योग्यता का अधिक होना और समिति का सभा की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखना, हमें इस परिणाम पर पहुँचाते हैं कि सभा और समिति का पारस्परिक वही सम्बन्ध है जो आधुनिक नियामक सभाओं (Legislatures) के निचले और ऊपर के सदनों (Lower and Upper Houses) में होता है। सभा और समिति एक ही नियामक सभा (Legislature) की छोटी और बड़ी दो सभायें हैं। ये एक ही नियामक सभा की दो सभायें हैं इसकी इससे भी पुष्टि होती है कि अथ० 7.12.3 में सभा और समिति दोनों को सामान्य सभावाची 'संसदः' इस षष्ठी विभक्ति के एकवचनान्त शब्द से भी अभिहित किया है। इसी भाँति 'सुवञ्जमनपच्युतं सदसो न भूम' (ऋग्वे० 4.17.4) इसका अभी ऊपर व्याख्यात मन्त्र में सम्राट् की सभा के लिए सामान्य सभा वाची 'सदसः' इस षष्ठी विभक्ति के एकवचनान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। सभा छोटी सभा (Lower House) और समिति बड़ी सभा (Upper House) समझनी चाहिए। अन्तर इतना है कि जहाँ आधुनिक नियामक सभाओं में छोटी सभा (Lower House) का महत्त्व अधिक होता है वहाँ वैदिक राज्य में बड़ी सभा (Upper House) या समिति का महत्त्व अधिक है। इस अन्तर में क्या खूबी है इसे हम अभी आगे देखेंगे। इस प्रकरण के आरम्भ में अन्त तक के विचार से हम समझते हैं कि यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक सभा और समिति, आधुनिक राज्यों की नियामक सभाओं (Legislatures) की छोटी और बड़ी सभायें ही हैं।

सभा और समिति की रचना

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सभा और समिति के सदस्य किस योग्यता के और कौन लोग हों? हमारा अभी तक किसी ऐसे मन्त्र पर ध्यान नहीं गया है जिसमें इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दे दिया गया हो। फिर भी वेद के कुछ इशारों के आधार पर हम इस प्रश्न के उत्तर का अनुमान कर सकते हैं। 'राजा का चुनाव' प्रकरण में प्रचुर प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि वैदिक राज्य में निर्वाचित राजा का ही स्थान है, अन्य का नहीं। इससे यह सूचना मिलती है कि राज्य के मामलों में लोकमत के आधार पर निर्णय करना चाहिए। हम यह देख चुके हैं कि सभा और समिति में राज्य के मामलों पर ही विचार होता है। इस विचार पर लोकमत का असर एक ही तरह पड़ सकता है, जबकि सभा और समिति के सदस्य प्रजा के प्रतिनिधि हों—प्रजा द्वारा चुने गये हों। एक और तरह से भी इस विचार पर लोकमत का प्रभाव पड़ सकता है। यदि सभा और समिति में सारी प्रजा ही आकर बैठे। सारी प्रजा तभी आकर बैठ सकती है जबकि राज्य

छोटे-छोटे नगर-राज्य (city states) हों। पर वैदिक राज्य नगर-राज्य नहीं मालूम होते। अथ० 12.1.43 में मातृभूमि का भक्त उसके 'कुशल कारीगरों' द्वारा बनाये गये बड़े-बड़े नगरों का वर्णन कर रहा है।¹ अथ० 12.1.47 में वह उसके बहुत से जनमार्गों, रथमार्गों और भारवाहक गाड़ियों के मार्गों का वर्णन कर रहा है और कह रहा है कि वे सभी मार्ग चोर, डाकू आदि लुटेरों के भय से रहित हों।² अथ० 12.1.11 में उसकी पहाड़ियों और बर्फीले पर्वतों तथा जंगलों का वर्णन है।³ अथ० 12.1.3 में उसके समुद्रों, नदियों और दूसरे जलाशयों का वर्णन है।⁴ अथ० 12.1.9 में दिन-रात बिना रुकावट के चलने वाली उसकी नहरों का वर्णन है।⁵ अथ० 12.1.56 में उसके ग्रामों, जंगलों, सभाओं और समितियों का वर्णन किया गया है।⁶ इससे प्रतीत होता है कि वेद ऐसे राज्यों की कल्पना कर रहा है जो पर्याप्त बड़े होते हैं, जिनमें अनेक नगर, ग्राम, और जंगल होते हैं, छोटी-छोटी पहाड़ियाँ और बर्फीले पहाड़ होते हैं, जिनका विस्तार कभी-कभी समुद्र तक भी होता है, जिनमें नदियाँ और नहरें होती हैं, जिनमें ग्रामों और नगरों को परस्पर मिलाने के लिए मनुष्यों के चलने के मार्ग अलग, रथों के चलने के मार्ग अलग और भारी भार ढोने वाले वाहनों के मार्ग अलग होते हैं, ये राज्य कभी-कभी इतने बड़े होते हैं कि उनका समुचित प्रबन्ध करने के लिए उन्हें अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त करना पड़ता है जिनकी अलग सभायें और समितियाँ होती हैं। वेद बहुत छोटे-छोटे नगर-राज्य की कल्पना नहीं करता प्रत्युत इससे उल्टा वह एक प्रकार के साम्राज्यों की कल्पना करता है। इतना ही नहीं, वेद में तो एक प्रकार के सार्वभौम राज्य (World-State) तक की कल्पना की गई है। इसलिए जैसे राज्यों की वेद कल्पना करता है वैसे बड़े-बड़े राज्यों की सारी प्रजा का तो सभा और समितियों में बैठ सकना असम्भव है। अतः सभा और समिति पर लोकमत का असर डालने का यही तरीका हो सकता है कि इनके सदस्य प्रजा से निर्वाचित हुआ करें।

किस योग्यता के लोगों को सभा और समिति के सदस्य चुनने तथा निर्वाचन के लिए खड़े होने का अधिकार होना चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर का अनुमान करने के लिए भी हमारे पास एक-दो आधार हैं। हम पीछे देख चुके हैं राजा के चुनाव में

¹ यस्याः पुरो देवकृताः । अथ० 12.1.43.

² ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्तमानसश्च यातवे ।

यैः संचरन्त्युभये भ्रष्टपापास्तं पन्थानं जयेमानमिन्नमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥

अथ० 12.1.47.

³ गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते । अथ० 12.1.11.

⁴ यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापः । अथ० 12.1.3.

⁵ यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति । अथ० 12.1.9.

⁶ ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।

ये संग्रामाः समितयस्तेषु चाव वदेम ते ॥ अथ० 12.1.56.

सारी की सारी प्रजा भाग लेती है। ब्राह्मणों और दूसरे बुद्धिजीवी लोगों से लेकर धीवर, रथकार, लुहार आदि धातुकार, कृषक और रथ हांकने वाले गडवालों तक को राजा के चुनाव में अधिकार दिया गया है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो प्रजा के प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को राजा के चुनाव में मत देने का अधिकार वेद ने दिया है। इसी नियम को हम सभा और समिति के निर्वाचन के सम्बन्ध में भी लगा सकते हैं। अर्थात् प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को सभा और समिति के चुनाव में मत देने का अधिकार (Adult Franchise) होना चाहिए। जो व्यक्ति चुनाव में मत देने का अधिकार रखता है वह स्वयं चुनाव के लिए खड़ा भी हो सकता है यह तो स्वयंसिद्ध बात ही है। इस प्रकार हम यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रजा का कोई भी वयस्क व्यक्ति सभा और समिति का सदस्य बन सकता है। सामान्य नियम तो यह हुआ।

समिति के सदस्यों की विशेष योग्यता

साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि समिति का सभा के पश्चात् विकसित होना यह सिद्ध करता है कि समिति के सदस्यों की योग्यता सभा के सदस्यों की योग्यता से अधिक होती है। इन दोनों शब्दों की निरुक्ति भी इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालती है। सभा की निरुक्ति है—‘समानरूपेण जना एकनिर्णयार्थं भान्ति यत्र’, अर्थात्—जहाँ लोग समान रूप से मिलकर एक-निर्णय पर पहुँचें। समिति की निरुक्ति है—‘सं सम्यक्तया जना एक निर्णयार्थं भान्ति यत्र’, अर्थात्—जहाँ लोग सम्यक् प्रकार से एक निर्णय के लिए एकत्र हों। सभा अपने सदस्यों को समान रूप से प्रजा में से लेती है, उसमें आने के लिए किसी विशेषता या भेदभाव की आवश्यकता नहीं है, कोई भी प्रजा का वयस्क व्यक्ति उसका सदस्य चुना जा सकता है, ऐसी सभा शब्द में स्थित ‘सह’ (सह + भा = सभा) अव्यय की ध्वनि है। समिति अपने सदस्यों को सम्यक् प्रकार से लेती है। उनके भीतर विशेष प्रकार की योग्यता होने के कारण उन्हें सम्यक् समझ कर लेती है अर्थात् सभा के सदस्यों की अपेक्षा समिति के सदस्यों की योग्यता कुछ विशेष प्रकार की होनी चाहिए। ऐसी समिति शब्द में स्थित ‘सम्’ अव्यय की ध्वनि है। इस प्रकार समिति शब्द का ‘सम्’ उसके सदस्यों की योग्यता की विशेषता के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश अवश्य डालता है। यह योग्यता की विशेषता किस प्रकार की होगी? आजकल के सभी राज्यों में धन की पूजा है। इसके परिणामस्वरूप कुछ दशक पूर्व तक यह स्थिति थी कि कुछ राज्यों को छोड़कर प्रायः सभी राज्यों की नियामक सभाओं में, विशेषकर उनके उच्च सदनों में, चुने जाने और मत देने का अधिकार प्रायः उन्हीं लोगों को होता था जो विशेष धन-सम्पत्ति रखते हों—राज्य को एक निश्चित मात्रा में कर देते हों। अब इस स्थिति में शनैः-शनैः परिवर्तन आ रहा है। अब प्रायः सभी देशों में प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को चुनाव में मत देने और स्वयं चुनाव के लिए खड़े होने का अधिकार दिया जा रहा

है। फिर भी, चुनावों में धन का महत्त्व कम नहीं हुआ है। चुनावों की पद्धति इस प्रकार की रहती है कि चुनाव जीतने के लिए बहुत भारी मात्रा में धन व्यय करना पड़ता है। जो व्यक्ति स्वयं बड़ा धनी न हो अथवा किसी और प्रकार से चुनाव के लिए धन की व्यवस्था न कर सकता हो वह चुनाव में कभी जीत नहीं सकता। परन्तु वेद में प्रारम्भ से ही धन को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। वहाँ धन-सम्पत्ति के स्वामित्व को चुनाव का आधार नहीं बनाया गया है। वेद पहले से ही प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को मताधिकार का पोषक है। इसलिए कोई भी वयस्क व्यक्ति मत दे सकता है और चुनाव के लिए खड़ा हो सकता है, यह आवश्यक नहीं कि वह विशेष प्रकार का धनवान् ही हो। फिर समिति के सदस्यों की विशेष योग्यता का क्या मतलब धन सम्बन्धी योग्यता तो यह हो नहीं सकती। क्योंकि प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को मताधिकार दे देने के पीछे इसका कोई अर्थ नहीं रहता। धनी लोग केवल धनी होने मात्र से प्रजामात्र के कल्याण की दृष्टि से राज्य का संचालन कर सकेंगे, जो कि वैदिक राज्य का उद्देश्य है, यह तो आवश्यक नहीं है। उलटा उनके स्वार्थवश होकर राज सभा को मुख्य तौर पर अपनी स्वार्थसिद्धि की वस्तु बनाने का यत्न करने की अधिक सम्भावना है। वैदिक धर्म का प्रत्येक स्वाध्यायी जानता है कि इस धर्म में जितनी आचार, संयम और विद्या की पूजा है उतनी और किसी बात की नहीं है। वर्णों में ब्राह्मण की और आश्रमों में संन्यास की इसीलिए इतनी महिमा है। ब्राह्मण और संन्यासी संयम और विद्या का ही जीवन व्यतीत करते हैं। वैदिक धर्म में धन-सम्पत्ति की तीसरी संख्या पर पूजा है। और उसकी भी विशेष पूजा तभी है जब वह संयम और विद्या के प्रचार में लगे हुए लोगों को उनके कार्य की वृद्धि में सहायता देने के काम आ रही हो। इसलिए समिति के सदस्यों की योग्यता आचार और विद्या की योग्यता होगी। जहाँ सभा का सदस्य तो कोई भी वयस्क व्यक्ति जो दस्यु न हो—बन सकता है, वहाँ समिति के सदस्यों को एक विशेष प्रकार की आचार और विद्या की योग्यता (Moral and Intellectual qualification) रखनी होगी। इस योग्यता का मापदण्ड देश और काल के अनुसार नियत किया जा सकता है। कोई भी वयस्क व्यक्ति उस मापदण्ड की आचार और विद्या की योग्यता रखे बिना समिति का सदस्य नहीं बन सकेगा।

समिति के सदस्य कौन होंगे इस सम्बन्ध में अथ० 5.19.15. के ऊपर कई बार दोहराये गये 'नास्मै समितिः कल्पते' इस वाक्य से भी एक बड़ी सूचना मिलती है। इसमें राजा को भय दिखाया गया है कि जो राजा ब्राह्मण की गौ (वाणी की स्वतन्त्रता) को नष्ट कर देता है उसकी समिति कार्य करने में समर्थ नहीं रहती। इससे ऊपर दिखाया गया जहाँ यह परिणाम निकलता है कि राज्य कार्यों के लिए सभा की अपेक्षा समिति का अधिक महत्त्व है, वहाँ यह भी परिणाम निकलता है कि समिति में ब्राह्मणों की आवाज अधिक होती है, उनकी संख्या और प्रभाव समिति में दूसरे सदस्यों की अपेक्षा अधिक होते हैं। तभी यह संभव है कि यदि राजा ब्राह्मणों

की वाणी की स्वतन्त्रता को नष्ट कर दे तो समिति पंगु हो जाये, निकम्मी हो जाये, अपने कार्य करने में समर्थ न रहे। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि समिति में दूसरे सदस्यों की संख्या की अपेक्षा ब्राह्मणों की संख्या अधिक रहनी चाहिए, क्योंकि ब्राह्मणों के जीवन का उद्देश्य ही आचार, संयम और भिन्न-भिन्न विद्याओं के प्रचार में संलग्न रहना होता है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त जो अन्य लोग समिति के सदस्य होंगे उन्हें भी ऊपर की विवेचना के आधार पर आचार और ज्ञान की एक विशेष योग्यता रखनी होगी।

समिति में ब्राह्मणों की प्रधानता होगी

इन सब बातों को मिलाकर देखने से यह मालूम होता है कि वेदों की सम्मति में सभा और समिति के सदस्यों के निर्वाचन के लिए भी, राजा के निर्वाचन की तरह ही, प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को मत देने का अधिकार होगा। सभा के सदस्य तो सामान्य प्रजामात्र में से चुने हुए लोग होंगे, परन्तु समिति के सदस्य एक विशेष योग्यता वाले लोग होंगे और इनमें भी ब्राह्मणों की संख्या अधिक होगी। वह विशेष योग्यता, ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि, ज्ञान और आचार की है। ब्राह्मण समाज के सबसे अधिक ज्ञानी और आचारवान् लोग होते हैं और इसलिए वे योग्यतम लोग होते हैं।

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि निःस्वार्थ, परोपकारक-परायण, आचार के धनी और अपने विषय के तत्त्वदर्शी विद्वानों को ही वैदिक परिभाषा में ब्राह्मण कहा जाता है। ऐसे ब्राह्मणों का जन्म किसी भी घर में हो सकता है। ब्राह्मणत्व के साथ जन्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका तो गुण, कर्म और तदनुकूल स्वभाव से सम्बन्ध है। राज्य की विशिष्ट और अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था अर्थात् समिति में ऐसे ही लोगों का प्राधान्य होगा। समिति की सभा की अपेक्षा अधिक महत्ता का यही रहस्य है। सभा में तो प्रजा के सर्वसाधारण लोग भी आ सकेंगे जो ज्ञान और आचार की दृष्टि से उतने अधिक योग्य न होंगे। उनकी अधिक महत्ता न रखकर समिति के सदस्यों की अधिक महत्ता रखी गयी है। क्योंकि इन ज्ञान, आचार और परोपकार की भावना की दृष्टि से अधिक योग्य लोगों के हाथ में राज्य शासन की बागडोर अधिक सुरक्षित रह सकेगी और अधिक जन-कल्याणकारी हो सकेगी।

इस प्रकार हमने देखा है कि वैदिक राज्य में राजा का निर्वाचन हो या राज्य के अन्य मामलों पर विचार हो, सब जगह समाज के आचारवान्, ज्ञानी और समझदार लोगों का ही मत अधिक सुना जाता है। वैदिक राज्य में पूंजीपतियों का बोलवाला नहीं है, यद्यपि राज्य की प्रत्येक बात में उन्हें अपनी राय प्रकाशित करने का पूरा-पूरा अवसर अवश्य है। इसका परिणाम राज्यों में वह सुख और शांति होगी जिसे आजकल के पूंजीपति-शासित देश नहीं होने दे रहे।

सभा और समिति के सदस्यों का कार्यकाल

अभी ऊपर की पंक्तियों में हमने सभा और समिति की रचना और उनके सदस्यों की योग्यता के सम्बन्ध में विचार किया है। इस सम्बन्ध में हमने यहाँ जो कुछ लिखा है वह सब कुछ हमने राजा के चुनाव के प्रसंग में उद्धृत किये गये प्रमाणों और वेद के कुछ अन्य प्रसंगों से निकलने वाले संकेतों के आधार पर लिखा है। सभा और समिति की रचना के विषय में वेद का अभिप्राय देख लेने के पश्चात् यह भी प्रश्न उठता है कि इन दोनों सभाओं के सदस्यों का कार्यकाल कितना होगा। इस प्रश्न के समाधान के लिए भी वेद का कोई स्पष्ट प्रमाण हमें नहीं मिल सका है। इस प्रश्न का उत्तर भी हमें अनुमान और अर्थापत्ति से ही मिल सकेगा। पीछे सप्तम अध्याय में हमने निर्वाचित राजा के राज्यकाल के सम्बन्ध में विचार करते हुए देखा है कि एक बार चुना जाने के पश्चात् राजा गृहस्थ आश्रम की अवधि पूर्ण होने तक राजसिंहासन पर आरूढ़ रहेगा। गृहस्थ आश्रम की अवधि पूरी होने पर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश के समय ही वह राजसिंहासन का परित्याग करेगा। इसके अतिरिक्त तो उसका स्थान उसकी मृत्यु हो जाने पर अथवा ऐसा रोगी हो जाने पर ही खाली होगा कि वह राज्य प्रशासन चला सकने के योग्य ही न रहे। इन दोनों स्थितियों के लिए वेद का कोई प्रमाण हमने उद्धृत नहीं किया है। इन दोनों अवस्थाओं में राजसिंहासन का खाली होना तो स्वतःसिद्ध है। या फिर राजा सिंहासन तब खाली करेगा जबकि उसके किसी दुराचरण अथवा अपराध के लिए उसके सम्बन्ध में अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे सिंहासन से उतार दिया जायेगा। इन स्थितियों में सिंहासन रिक्त होने की अवस्था में नये राजा का चुनाव होगा।

राजा के राज्य-काल के सम्बन्ध में जो बात लागू होती है वही सभा और समिति के सदस्यों के काल के विषय में भी लागू होगी। सभा और समिति के सदस्य भी एक बार चुने जाने के पश्चात् गृहस्थ आश्रम की अवधि पूरी हो जाने पर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश के समय ही अपना स्थान खाली करेंगे। या फिर उनकी मृत्यु हो जाने पर अथवा उनके ऐसा रोगी हो जाने पर कि वे इन सभाओं की सदस्यता के अपने कर्तव्यों को पूरा कर सकने के ही योग्य न रहें अथवा उनके किसी दुराचरण और अपराध पर उनके विरुद्ध उन्हें सदस्यता से हटाये जाने का प्रस्ताव इन सभाओं में स्वीकार हो जाने पर ही उनका स्थान खाली होगा। इन स्थितियों में किसी सदस्य का स्थान रिक्त हो जाने पर उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति सदस्य चुना जायेगा।

माण्डलिक राजा और सम्राट् दोनों ही की सभा और समितियाँ

हमने पीछे देखा है कि वैदिक राज्य एक संघीय राज्य या 'राज मध्यस्थ राज्य' प्रणाली का राज्य (Federal System of Government) मालूम होता है। हम यह भी देख चुके हैं कि प्रधान राजा या राष्ट्रपति को वैदिक परिभाषा में 'इन्द्र'

अथवा 'सम्राट्' और माण्डलिक राजाओं को 'वरुण'¹ या 'राजा' कहते हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपरि-वर्णित सभा और समिति सम्राट् और राजा में से किसी एक की होती है या दोनों ही की, अथवा एक किसी की और एक किसी की। यों तो इस प्रश्न का उत्तर ऊपर के विवेचनों में ही आ गया है। सम्राट् और राजा दोनों की ही नियामक सभा का सभा और समिति आवश्यक अंग हैं। फिर भी, इस मत की विशदता के लिए, ऊपर दिये गये प्रमाणों को इस दृष्टि से पाठकों के आगे ला देना आवश्यक है।

अथर्ववेद के पाँचवे काण्ड के 18वें और 19वें सूक्तों में ब्राह्मण की गौ (वाणी) को मारने वाले राजा को किन-किन विपत्तियों का सामना करना पड़ता है इसका वर्णन किया गया है। एक बड़ी विपत्ति यह बताई गई है कि ऐसे राजा की समिति किसी कार्य को करने के योग्य नहीं रहती—'नास्मै समितिः कल्पते' (अथ० 5.19.15)। इन दोनों सूक्तों में राजा के पर्यायवाची नाम 'नृपति' (अथ० 5.18.1), 'राजन्य' (5.18.2), 'गोपति' (5.18.15) और 'राजा' (5.19.6) आये हैं। ये चारों नाम—विशेषकर पहिले तीन—सम्राट् और माण्डलिक राजा दोनों का ही बोध करा सकते हैं। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उक्त नाम सम्राट् का ही या माण्डलिक राजा का ही बोध कराते हैं। दोनों सूक्तों का तात्पर्य भी यही प्रतीत होता है कि ये सामान्य राजा-मात्र को लक्ष्य करके कहे गये हैं। नहीं तो, यदि इन सूक्तों को केवल सम्राट् या माण्डलिक राजा परक ही लगाया जाये, क्या सम्राट् और राजा में से किसी एक को ब्राह्मण की गौ (वाणी) का हनन करने पर सूक्तोक्त विपत्तियों का सामना न करना पड़ेगा? इससे स्पष्ट है कि सूक्तों में आये 'नृपति' आदि शब्द सम्राट् और माण्डलिक राजा दोनों से समिति के समान सम्बन्ध को बता रहे हैं।

अथर्व० 7.12 में सभा और समिति को प्रजापति की दुहितार्ये बताया गया है। इस प्रकरण की विस्तृत विवेचना ऊपर के पृष्ठों में हो चुकी है। इस सूक्त का 'प्रजापति' शब्द सम्राट् और माण्डलिक राजा दोनों का ही ग्रहण करायेंगा। दोनों ही प्रजापति हैं। सूक्त को किसी एक पर लगाने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ सभा और समिति दोनों का ही सम्राट् और माण्डलिक राजा, दोनों प्रकार के प्रजापतियों से सम्बन्ध बताया गया है। अथर्व० 15.9 सूक्त में भी सभा और समिति दोनों का सम्बन्ध सम्राट् और राजा दोनों के साथ बताया गया है—'स विशोनु व्यचलत्'। इस सूक्त से ऊपर के आठवें सूक्त से 'राजन्य' की अनुवृत्ति इन मन्त्रों में आ रही है। 'राजन्य' शब्द सम्राट् और राजा का समान रूप से बोधक है। इन सारे स्थलों को देखने से इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि सभा और समिति दोनों का ही सम्राट् और राजा दोनों से सम्बन्ध है। दोनों ही की नियायक सभाओं का

¹ इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा। यजु० 8.37।

सभा और समिति आवश्यक अंग हैं ।

सभा और समिति के अधिवेशनों का संचालन

जब सभा और समिति में किसी विषय पर विचार होने लगे तो अधिवेशन के ठीक प्रकार से संचालन के लिए एक सभापति का होना भी आवश्यक है जोकि भाषणकर्ताओं तथा अधिवेशन सम्बन्धी दूसरी बातों पर नियन्त्रण रखेगा । दूसरे शब्दों में जोकि अधिवेशनों के संचालन का पूर्णरूप से उत्तरदाता होगा । वेद में सभाओं के सभापति भी होने चाहिए इसका भी उपदेश दिया गया है । और इन सभापतियों को नमस्करणीय आदरणीय बताया गया है । यजुर्वेद 16.24 में इस सम्बन्ध में यों लिखा है—

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो ।

अर्थात्—‘तुम्हें अपनी सभाओं और उनके सभापतियों को नमस्कार देना चाहिए ।’ सभाओं और सभापतियों को नमस्कार देने का अभिप्राय है—उनका आदर करना, उनकी बात मानना । सभाओं में जो बातें पास हो जायें उन्हें सबको मानना चाहिए और सभाओं के अधिवेशनों में सभापति लोग जो कुछ कहें उसे प्रत्येक भाषणकर्ता को मानना चाहिए । सभापति जिसे बोलने को कहे वह बोले और जिसे रुक जाने को कहे वह रुक जाये । जिन सभाओं के लोगों में अपनी सभाओं और उनके सभापतियों के लिए नमस्कार-बुद्धि, आदर-बुद्धि होती है वे ही सभाओं से लाभ ले सकते हैं ।

इस सम्बन्ध में वेद का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।

सनि मेधामयासिपम् ॥

ऋग् ० 1.18.6, यजु ० 32.13.

अर्थात्—‘(अद्भुत) अद्भुत बुद्धि वाले (इन्द्रस्य) सम्राट् के (प्रिय) प्यारे, और (काम्यं) चाहने योग्य (सनि) बुद्धि देने वाले (सदसस्पति) सभापति के पास (मेधाम्) बुद्धि को माँगने के लिए (अयासिपम्) मैं आया हूँ ।’

इस मन्त्र में सभापति को सम्राट् (इन्द्र) का प्यारा और चाहने योग्य बताया है । सम्राट् की सभा और समिति के अधिवेशन ठीक प्रकार से चल नहीं सकते जब तक उनके संचालन के लिए सभापति न हो । इसलिए सम्राट् को चाहिए कि सभा और समिति के सदस्यों में से किसी को सभापति बनवा दे । किस आदमी को सभापति बनाया जाए, जिसमें अद्भुत बुद्धि हो, जो सभा-संचालन के सारे नियमों तथा राजनीति की सारी बातों को खूब समझता हो और जो आवश्यकता पड़ने पर उचित निर्णय देकर अधिवेशनों का संचालन कर सकता हो । अनेक समयों पर सभाओं के अधिवेशनों में बड़े-बड़े जटिल प्रश्न आकर उपस्थित हो जाते हैं । सभापति में उनको समझने की अद्भुत बुद्धि और उचित निर्णय देने की शक्ति होनी चाहिए ।

सभापति का काम क्या है ? उसके सभासद् लोग समय-समय पर मेधा माँगे, निर्णय लेंगे । उसे वह मेधा, वह समझ, वह निर्णय देना होगा ।

सभा और समिति का सभापति कौन हो

इस मन्त्र के सभापति के सम्बन्ध में एक और बात पर भी प्रकाश पड़ता है । जिस सूक्त का यह मन्त्र है उस सारे सूक्त का देवता 'ब्रह्मणस्पति' है । ब्रह्मणस्पति को ही उक्त मन्त्र में 'सदसस्पति' के रूप में उपस्थित किया गया है । ब्रह्मणस्पति का अर्थ होता है—ब्राह्मण¹ । इसलिए इस मन्त्र से एक बात यह भी सूचित होती है कि सम्राट् (इन्द्र) को अपनी सभा का—सभा और समिति का—सभापति ब्राह्मण को बनवाना चाहिए । इस प्रकार उसके किसी प्रलोभन या विकार में फँसकर अपने सभापतित्व के न्यायपूर्ण कर्तव्य से विचलित होने का भय न रहे ।

सभा और समिति में विचारणीय विषयों पर विचार किस प्रकार हो

सभा और समिति में विचारार्थ विषयों पर विचार किस विधि से हो इस पर भी वेद से प्रकाश पड़ता है । इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये—

वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्याय ।

अथ० 2.20.11.

अथर्व० 5.20. सूक्त दुन्दुभि सूक्त है । संग्राम के लिए चलते हुए सैनिक अपने दुन्दुभि (युद्धवाद्य) को सम्बोधित करके अपने वीर भावों को प्रकट कर रहे हैं । उद्धृत मन्त्रांश का अर्थ है—हैं दुन्दुभि ! तू संग्राम को जीतने के लिए सैनिकों में अपने घोष (वाचं) को भर दे, उन्हें उत्तेजित करदे, जिस प्रकार वाग्वी (वाग्मी) लोग—बड़े-बड़े वक्ता लोग मन्त्र (विचार) को श्रोताओं में भर देते हैं । अभी पीछे हम देख चुके हैं कि सभा और समिति में विचारणीय राज्य की बातों को (मन्त्र) मन्त्रणा कहा गया है । उद्धृत मन्त्र का 'वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व' यह अंश स्पष्ट रूप से सूचित कर रहा है कि सभा और समितियों में बैठे सदस्य लोग विचारार्थ विषयों के सम्बन्ध में अपने विचारों को अच्छा-अच्छा प्रभावशाली भाषण देकर दूसरे सदस्यों के मन में भरें अर्थात् उपस्थित विषयों पर खूब अच्छी तरह से सदस्यों का विचार-विनियम हो और प्रत्येक सदस्य युक्ति-प्रमाणों से भरा हुआ प्रभावशाली भाषण देकर दूसरों के मन को जीतने का प्रयत्न करे ।

इस सम्बन्ध में ऋग्वेद 10.166 सूक्त से और भी अधिक प्रकाश पड़ता है । सूक्त इस प्रकार है—

¹ ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः । को० 8.5.9.5. ता० 16.5.8.

ब्रह्म वै ब्राह्मणः । शत० 13.1.5.3. तै० 3.9.14.2.

ब्रह्महि ब्राह्मणः । शत० 5.1.5.2.

1. ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥
2. अहमस्मि सपत्नहेन्द्रं इवारिष्टो अक्षतः ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ॥
3. अत्रैव वोऽपि नह्याभ्युभे आत्नीं इव ज्यया ।
वाचस्पते नि षेधेयान् यथा मदधरं वदान् ॥
4. अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना ।
आ वश्चित्तमा वो व्रतमा वोऽहं समितिं ददे ॥
5. योगक्षेमं व आदायाऽहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम् ।
अधस्पदान्म उद्धत मण्डूका इवोदेकान्मण्डूका उदकादिव ॥

इस सूक्त में समिति के एक सदस्य की समिति में भाषण करते समय की मनोवृत्ति का चित्र खींचा गया है । मैं सभी प्रतिद्वन्द्वियों को जीत लूंगा ऐसी उत्साह और वीरतापूर्ण निर्भीक भावना से भरा हुआ वह कह रहा है—

(1) हे प्रभो ! (मा) मुझे (समानानां) मेरी बराबरी के सभासदों में (ऋषभं) श्रेष्ठ (कृधि) बना दीजिये (सपत्नानां) सपत्नों का (विषासहिं) पराभव करने वाला, और (शत्रूणां) शत्रुओं को (हन्तारं) हरा मारने वाला (कृधि) बना दीजिये (विराजं) चमकने वाला (गवाम्) वाणियों का (गोपतिम्) वाक्पति (कृधि) बना दीजिये ।

सपत्न¹ उन शत्रुओं को कहते हैं जो पहले हमारे ही कुल के थे परन्तु बाद में हमसे शत्रुता करने लग गये । शत्रु² वे शत्रु कहलाते हैं जो दूसरे लोग हमसे शत्रुता करते हैं । यहाँ क्योंकि वाणी का युद्ध चल रहा है, समिति में विजय पाने की आशंसा की जा रही है, इसलिये सपत्न वे सदस्य होंगे जो किसी विषय में पहले हमारे साथ थे परन्तु बाद में हमारे विरोधी बन गये और शत्रु वे सदस्य होंगे जो शुरू से ही किसी विषय में हमारे विरोधी रहे हैं । वाक्पति बनकर दोनों प्रकार के सदस्यों को जीतने की इच्छा की जा रही है ।

(2) (अहं) मैं (इन्द्र) इन्द्र की (इव) तरह (अरिष्टः) अहिंसित हूँ और (अक्षतः) आक्रमणों के घावों से ऊपर हूँ (सपत्नहा) शत्रुओं को मारने वाला हूँ (इमे) ये (सर्वे) सारे (सपत्नाः) शत्रु (मे) मेरे (पदोः) पैरों में (अभिष्ठिताः) पड़े हुए हैं ।

जैसे मेरे इन्द्र (सम्राट्) को कोई घायल नहीं कर सकता और मार नहीं सकता वैसे मुझे भी कोई मार और घायल नहीं कर सकता । मैंने अपने सारे विरोधियों को हरा कर नीचा दिखा दिया है । मन्त्र में वाणी के आक्रमणों द्वारा घायल होने और मरने का—हारने का—वर्णन है ।

(3) (उभे) धनुष के दोनों (आत्नीं) सिरों को (इव) जैसे (ज्यया) धनुष की डोर से बाँव लेते हैं वैसे ही (वः) तुम को हे सभासदों (अत्रैव) इसी विषय में (अपि

¹ ये अस्मत्कुल एव जाता अस्माकमेवानिष्टमाचरन्ति ते सपत्ना इति सायणः ।

² शत्रूणामन्येषामपि शांतयितृणां वैरिणामिति सायणः ।

बघ्नामि) मैं बाँधकर रखता हूँ (वाचस्पते) हे सभापति (इमान्) इन बीच में बोलने वालों को (निषेध) रोक, ऐसा कर (यथा) जिससे (मत्) मेरे (अधरं) पीछे (वदान्) ये बोलें ।

मन्त्र का भाव यह है कि श्रोताओं को वक्ता की बात में अपना मन बाँधकर रखना चाहिए—उसकी बात ध्यान से सुननी चाहिए । सभापति का कर्तव्य है कि जब कोई सदस्य अपना भाषण दे रहा हो तब यदि दूसरे सदस्य बीच में बोलकर गड़बड़ करें तो उन्हें रोक दे । दूसरे सभासदों को भाषणकर्ता का भाषण समाप्त हो जाने पर बोलने का अवसर दे ।

यहाँ सभापति के लिए वाचस्पति शब्द व्यवहृत हुआ है । सभापति को वाचस्पति इसलिए कहा है क्योंकि वही अधिवेशन की वाणियों का पति, स्वामी होता है । किसने बोलना है और किसने नहीं, कौन-सी बात कही जायेगी और कौन-सी नहीं, इसका निर्णय सभापति ही करेगा, इसलिए वह वास्तव में वाचस्पति ही है । यों भी सभापति को वाचस्पति अर्थात् वाणी का, वाङ्मय का, विविध विद्या-विज्ञानों का पण्डित होना चाहिए ।

(4) (अहं) मैं (विश्वकर्मेण) सब कुछ कर सकने वाले (धाम्ना) तेज के साथ (अभिभूः) सबका पराभव करने वाला (आगमम्) आ गया हूँ (वः) हे सदस्यो तुम्हारी (चित्तं) बुद्धि को (वः) तुम्हारे (व्रतं) कर्म को (वः) तुम्हारी (समिति) इस समिति को (आददे) ले लूंगा—जीत लूंगा ।

भाव यह है कि मैं इस प्रकार का भाषण करूँगा कि सारी समिति मेरे अनुकूल हो जायेगी । सब सभासदों की बुद्धि को मैं अपने अनुकूल कर लूँगा और इसीलिए सबके कर्म भी मेरे अनुकूल हो जायेंगे । अर्थात् जैसा मैं चाहूँगा वैसा ही मेरी बुद्धि के प्रभाव से सब सभासदों को करना पड़ेगा ।

(5) (वः) हे सभासदों तुम्हारे (योग-क्षेमं) योग और क्षेम को (आदाय) लेकर (अहं) मैं (उत्तमः) सबसे श्रेष्ठ (भूयासम्) हो जाऊँ (वः) तुम्हारे (भूषानम्) माथे पर (आक्रमीम्) चढ़ जाऊँ (मे) मेरे (अघस्पदात्) पैरों के नीचे से (उदकात्) जल में से (मण्डूकाः) मेंढकों की (इव) तरह (उद्वदत) बोलो ।

अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त की रक्षा करने को क्षेम कहते हैं । यहाँ क्योंकि समिति में भाषण का विषय चल रहा है इसलिए योग तो वे बातें होंगी जो समिति में आकर सदस्यों ने नई सीखनी हैं और क्षेम वे बातें होंगी जिनका ज्ञान उनको पहले से है । मन्त्र में भाषणकर्ता कह रहा है कि मैं सभासदों से दोनों प्रकार के ज्ञान को लेकर उनसे श्रेष्ठ बन जाऊँ और उनके मस्तक पर जा बैठूँ । उनका शिरोमणि बन जाऊँ । और मेरा भाषण इतना जोरदार और प्रभावशाली हो कि दूसरे सभासदों की वक्तृतायें उसके सामने मेंढकों का बोलना-सा लगे ।

इस प्रकार इस सूक्त में जहाँ यह बताया गया है कि समिति के सभापति का काम क्या होना चाहिए, वहाँ यह भी बताया गया है कि समिति के प्रत्येक सभासद

को समिति में जाकर युक्ति-प्रमाणपूर्वक खूब प्रभावशाली व्याख्यान देकर दूसरे सभासदों को जीतकर अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सभा और समिति के अधिवेशनों में राजा भी उपस्थित रहेगा

वेदों के चाहे इन्द्र (सम्राट्) विषयक प्रकरणों को पढ़िये और चाहे सामान्य राजा विषयक, इनको पढ़ने से एक बात पाठक के मन में बहुत स्पष्ट रूप से ध्यान में आती है। वह यह कि वेद का राजा केवल कागज-पत्रों पर हस्ताक्षर कर देने वाला राष्ट्रपति नहीं है। वह बहुत अधिक क्रियाशील राजा है। वह राज्य की प्रत्येक बात में गहरी रुचि लेता है और उसे स्वयं अपने अवधान में होती हुई देखना चाहता है। वह प्रत्येक बात का अन्तिम उत्तरदाता स्वयं है। राज्य में प्रत्येक विभाग पर वह गहरा निरीक्षण रखता है और उसका अपने निरीक्षण में संचालन करवाता है। राज्य के प्रत्येक कार्य को करने वाला राजा को ही बताया गया है। हरेक कार्य के लिए वेद में राजा को ही सम्बोधन किया जाता है। उसकी स्थिति आजकल के विकसित प्रजातन्त्र राज्यों के प्रधानमंत्रियों जैसी उत्तरदायित्वपूर्ण है। इसीलिए राजा नियामक सभाओं के अधिवेशनों में भी उपस्थित रहेगा। राजा को समिति में उपस्थित रहना चाहिए इसके वेद में कई जगह स्पष्ट रूप में निर्देश मिलते हैं। इन मन्त्रों को देखिये—

राजा न सत्यः समितीरियानः।

ऋग्० 9.92.6.

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।

ऋग्० 10.97.6, यजु० 12.80.

इनमें से पहले मन्त्र में सोम का वर्णन है। उनके लिए कहा है कि 'वह सोम (स्नातक विद्वान्) समितियों में जाता है जैसे कि सत्यकर्मी राजा समितियों में जाता है।' दूसरे मन्त्र में ब्राह्मण वैद्य की प्रशंसा की गई है। कहा गया है कि 'वैद्य वह प्रशंसनीय है जिसके मस्तक में सारी औषधियाँ इस प्रकार आकर इकट्ठी हो जाती हैं जैसे कि राजा लोग समिति में जाते हैं।' इन दोनों स्थानों पर दी गई 'जैसे कि राजा समितियों में जाते हैं' इस उपमा से स्पष्ट है कि वेद की सम्मति में राजाओं को भी अपनी समितियों के अधिवेशनों में जाना चाहिए।

सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।

अथर्व० 19.55.5.

यह मन्त्र भी देखने योग्य है। इसमें अग्नि (सम्राट्) को सभ्य अर्थात् सभासद् कहा गया है और उससे सभा की पालना की प्रार्थना की गई है। इससे स्पष्ट है कि सम्राट् भी सभा और समिति के अधिवेशनों में स्वयं उपस्थित हुआ करेगा।

पीछे दिये गये अथर्व० 7.12 सूक्त से तो यह बात और भी स्पष्ट है। वहाँ तो प्रजापति (राजा) सीधा सभा और समिति को ही सम्बोधन कर रहा है। और उनके सभासदों से सलाह माँग रहा है। इससे यह असंदिग्ध है कि वेद की सम्मति

में सभा और समितियों के अधिवेशनों में राजाओं को भी उपस्थित रहना चाहिए और उनमें पूरा भाग लेना चाहिए।

सम्राट् की सभा और समिति के सभासद्
माण्डलिक राजा लोग भी हो सकेंगे

अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के उनतीसवें सूक्त का पहला मन्त्र इस प्रकार है—

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।

अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा ॥

अर्थात्—(यमस्य) नियम में रखने वाले सम्राट् के (सभासदः) सभासद् (अमी) ये (राजानाः) माण्डलिक राजा लोग (यत्) क्योंकि (इष्टापूर्तस्य) अपने राष्ट्र के इष्टापूर्त अर्थात् आमदनी¹ का (षोडशं) सोलहवां भाग (विभजन्ते) बाँटकर सम्राट् को दे देते हैं (तस्मात्) इसलिए (दत्तः) सम्राट् द्वारा दिया हुआ (स्वधा) राष्ट्र को अपने स्वरूप में, असली स्थिति में सुरक्षित रखने वाला, (शितिपात्) श्वेत अर्थात् निष्कलंक रीति से कल्याण पहुँचाने वाला (अविः) रक्षण (प्रमुञ्चति) राष्ट्र को सब कष्टों से छुड़ा देता है ।

इस मन्त्र से दो परिणाम निकलते हैं—

1. सम्राट् की सभा और समिति के सभासद् माण्डलिक राजा भी हो सकेंगे ।
2. माण्डलिक राज्य (Federated State) अपनी आय का सोलहवां भाग सम्राट् या राष्ट्रपति की सरकार (Federal Government) को देगे, जिससे वह अपने शासन को ठीक तौर से चला सके ।

सायण और विदेशी भाष्यकार इस सूक्त (अथ० 3.29) में आये 'यम' शब्द का अर्थ मृत्यु का अधिष्ठाता, काल्पनिक यमपुरी का राजा यम और 'शितिपात् अवि' का श्वेत पैंरों वाली भेड़ करके सूक्त को बेहूदा बातों का संग्रह बना देते हैं । यदि यम² का अर्थ सम्राट् कर लिया जाये, क्योंकि वह माण्डलिक राजाओं को नियमित रखता है, और 'शितिपात्'³ का श्वेत अर्थात् निष्कलंक रीति से कल्याण पहुँचाने वाला तथा 'अवि' का अर्थ रक्षण कर लिया जाये तो सम्पूर्ण सूक्त बड़े सुन्दर बुद्धिसंगत राजनीतिक अर्थ देने लगता है । यदि यम का अर्थ पौराणिक यम ही लेना है तो उसे अपने इष्टापूर्त का सोलहवां भाग देने वाले उसकी सभा के सभासद राजा लोग कौन

¹ इष्ट यज्ञ-यागादि को कहते हैं । यज्ञ शब्द वेद में सभी संगठित कर्मों का चोतक है । आपूर्त का अर्थ है पूर्ति करने वाले कर्म । उत्पत्ति के साधन सभी कृषि आदि वैयक्तिक कर्म आपूर्त हैं । संगठित और वैयक्तिक कर्मों से राज्य में जो उत्पत्ति-आय होती है वह इष्टापूर्त है । मध्ययुग में इष्टापूर्त का रूढ़ अर्थ धर्मार्थ किये गये यज्ञ तथा बनवाये गये वापी-कूप-सडाग आदि लिया जाता रहा है । संगत न होने से हमने यह अर्थ यहाँ नहीं लिया है । हमने इन शब्दों का बिलकुल योगार्थ लिया है ।

² यमयति स्वनियमाधीनान् करोति माण्डलिकान् राज्ञ इति यमः सम्राट् ।

³ शिति शुभ्र निष्कलंक यथा स्यात् तथा पादयति प्रापयति कल्याणमिति शितिपात् । शितिः श्वेत इति सायणः ।

होंगे ? यम का अर्थ सम्राट् लेने पर जो सुन्दर अर्थ निकलता है उसका उदाहरण ऊपर उद्धृत मन्त्र का अर्थ है ।

सभा-भवन

वेद के पढ़ने से यह भी पता लगता है कि सभा और समिति के अधिवेशनों के लिए सभा-भवन भी होने चाहिए । पाठक देख चुके हैं कि हमने ऊपर ऋग्वेद 10.19.3 मन्त्र 'समानो मन्त्रः समितिः समानी' का अर्थ करते हुए उसमें आये पहले 'मन्त्र' शब्द का अर्थ समिति का सभा-भवन किया है । ग्रिफ़िथ ने भी इस शब्द का यही अर्थ किया है । उसने लिखा है—Common is the place । ऋग्वेद के 1.9.5.8 मन्त्र में इससे भी स्पष्ट समिति के सभा-भवन का वर्णन है । वहाँ अग्नि की समिति का वर्णन है । वहाँ कहा है—

सदने.....समितिर्बभूव ।

अर्थात्—'समिति सदन अर्थात् सभाभवन में होती है', सदन का अर्थ घर होता है । समिति का घर सभा-भवन ही होगा ।

ऋग्वेद 2.41.5. में सभाभवन का और भी स्पष्ट वर्णन है—

राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे ।

सहस्रस्थूण आसाते ॥

अर्थात्—'जिनसे कोई द्रोह नहीं कर सकता ऐसे ये दोनों मित्र और वरुण राजा उत्तम, स्थिर और सहस्र खम्भों वाले सभा-भवन में बैठते हैं ।' मित्र और वरुण क्या हैं इस पर अन्यत्र विचार होगा । यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिए कि ये कर्त्तव्य भेद से राजा के ही दो नाम हैं । कहीं ये राजा को ही सामान्य रूप में बताते हैं और कहीं ये तत्कर्त्तव्यों को करने वाले विभागों के अध्यक्षों को बताते हैं । सदस् शब्द सभाओं का सामान्यवाची शब्द है । यहाँ यह सहस्रस्थूण शब्द के बल से सभा-भवन का वाचक है । राजा और राजा के विभागाध्यक्ष सभा और समिति दोनों में ही जायेंगे । इसलिए इस मन्त्र का आशय यह है कि राजा को सभा और समिति के सभा-भवन खूब विस्तृत, सुन्दर और मजबूत बनवाने चाहिए । स्थूणा शब्द से यह नहीं समझना चाहिए कि सभा-भवनों की छत को जरूर स्थूणों (खम्भों पर ही टिकाना चाहिए । स्थूणा उपलक्षण है । स्थूणाओं पर विस्तृत छतें टिकाई जाती हैं । विस्तृत छतों को टिकाने के डाट आदि जो भी साधन होंगे वे स्थूणा द्वारा उपलब्ध हैं ।

राज्य की तीन सभाएँ

हम राजा की दो सभाओं—सभा और समिति—का वर्णन कर चुके हैं । परन्तु त्रीणि राजाना विदथे पुरुणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ।

ऋग् 3.38.6.

ऋग्वेद के इस मन्त्र में राष्ट्र-यज्ञ को चलाने के निमित्त (विदधे) तीन सभाओं को (सदांसि) बनाने का उपदेश भी है। राजा की मुख्य नियामक सभायें सभा और समिति ही मिलती हैं। तीसरी सभा का स्पष्ट वर्णन कहीं नहीं प्राप्त होता। पर इस मन्त्र में तीन सभाओं के बनाने का आदेश है। इससे हम यह अनुमान करते हैं कि यहाँ दो सभायें तो सभा और समिति ही हैं जिनकी ओर वेद में स्पष्ट निर्देश है, और तीसरी सभा मन्त्रिपरिषद् या राज्य की कार्यकारिणी सभा है। यह कार्यकारिणी या मन्त्रिपरिषद् राज्य के मुख्य विभागाध्यक्षों या मंत्रियों की सभा होगी। सभा और समिति में स्वीकृत हुई बातों को क्रिया में लाने का सारा उत्तरदायित्व इस परिषद् पर होगा तथा सभा और समिति में विचारणीय सभी प्रकार के विषय इस परिषद् के द्वारा ही वहाँ उपस्थित हो सकेंगे। इस मन्त्रिपरिषद् की स्थिति आजकल की कैबिनेटों जैसी होगी।

ऋषि दयानन्द और राज्य की तीन सभाएँ

ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में ऋग्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'त्रीणि सदांसि' का अर्थ राज्य सभा, विद्या-सभा और धर्मसभा किया है। ऋषि ने यह अर्थ किस आधार पर किया है हम नहीं कह सकते। हो सकता है उनके पास किसी प्राचीन अलभ्य ग्रन्थ का प्रमाण रहा हो। यह भी हो सकता है कि यह उनकी अपनी दृष्टि (सूत्र=Vision) हो। इस प्रकार की तीन सभाओं की कल्पना भी बड़ी मार्मिक और सुन्दर है। राज्य में धर्म प्रचार का—लोगों के आचरणों और मनो को पवित्र रखने की प्रेरणा का—काम धर्मसभा करे, विद्या-विज्ञानों के आविष्कार और प्रचार का कार्य विद्या सभा करे और राजनैतिक बातों पर विचार राज सभा में हो। राज सभा के राष्ट्र की सुख-समृद्धि, शान्ति और व्यवस्था का अन्तिम और आधिकारिक उत्तरदाता (Sovereign-Body) होने के कारण शेष दोनों सभाओं पर भी उसका निरीक्षण रहेगा। इस मन्त्र की यदि ऋषि दयानन्द कृत व्याख्या लेनी हो तब हमारी ऊपर व्याख्यात सभा और समिति तथा अर्थापत्ति से प्राप्त मन्त्रि-परिषद्—ये तीनों ही राज सभा की ही व्याख्या होंगी।

दल-विहीन प्रजातन्त्र

आज के विश्व में जिन देशों में पूर्ण प्रजातन्त्र की पद्धति से राज्य प्रशासन चलता है वहाँ का प्रजातन्त्र दलानुबद्ध पद्धति का होता है। दो या अधिक राजनीतिक दल बन जाते हैं। नियामक सभाओं के चुनाव के समय ये राजनीतिक दल अपने-अपने दल के व्यक्तियों को चुनाव के लिए खड़ा करते हैं। मतदाताओं के सम्मुख अपने-अपने दल का कार्यक्रम उपस्थित करते हैं और उसके आधार पर मतदाताओं से प्रार्थना और आग्रह करते हैं कि वे उन्हीं के दल की ओर से खड़े किये गये प्रार्थियों को अपना मत दें। चुनाव जीत कर जिस दल के सदस्य बहुसंख्या में नियामिका सभा

में आ जाते हैं वही दल बहुमत के आधार पर सरकार बना लेता है। उस दल के चुने लोग अपना एक नेता चुन लेते हैं। वही नेता प्रधानमंत्री बनता है। प्रधानमंत्री अपने मंत्रिमण्डल का निर्माण करके प्रशासन चलाने लगता है। जिन राष्ट्रों में प्रजातंत्र की राष्ट्रपतीय पद्धति चलती है, वहाँ राष्ट्रपति भी इसी प्रकार चुना जाता है। वह भी किसी विशेष दल का नेता होता है। राष्ट्रपतीय पद्धति में राष्ट्रपति ही अपने मंत्रिमण्डल का निर्माण करता है। आजकल की प्रधानमंत्रीय और राष्ट्रपतीय पद्धतियों में एक दूसरे से कई प्रकार की भिन्नताएँ हैं। हमें यहाँ उन भिन्नताओं में जाने की आवश्यकता नहीं है। कई देशों में एक और प्रकार की पद्धति भी चल रही है। वह एकदलीय पद्धति है। यह पद्धति विशेष रूप से आजकल के साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) देशों में प्रचलित है इन प्रदेशों में एक ही दल का शासन चलता है। उसी दल के सदस्य चुनाव के लिए खड़े किये जाते हैं। वहाँ कोई दूसरा दल बन ही नहीं सकता। शासक दल द्वारा खड़े किये गये व्यक्ति के विरोध में कोई दूसरा व्यक्ति चुनाव के लिए वहाँ खड़ा ही नहीं हो सकता। शासक दल के विचारों से भिन्न प्रकार के विचारों का वहाँ प्रचार ही नहीं हो सकता। शासक दल के विचारों से भिन्न प्रकार के विचार रखने वाले लोगों को वहाँ मौन रहना पड़ता है। जो ऐसा नहीं करता उसे कठोर दण्ड दिया जाता है। उनका प्राणान्त तक कर दिया जाता है। यह एकदलीय शासन की पद्धति वस्तुतः प्रजातंत्र नहीं है। यद्यपि ये लोग अपनी पद्धति को प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र ही कहते हैं। जहाँ चुनाव के समय मतदाताओं के सम्मुख जन-कल्याण को लक्ष्य में रखकर सभी प्रकार के विचारों को रख सकने की स्वतन्त्रता न हो और जहाँ मतदाताओं को विभिन्न विचारों और कार्यक्रमों वाले प्रार्थियों की बातों को सुनकर उनमें से अपनी इच्छानुसार किसी एक को मत देने की पूर्ण स्वतन्त्रता न हो वहाँ का शासनतन्त्र प्रजातन्त्र है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वेद शासन की प्रजातन्त्रीय पद्धति को तो स्वीकार करता है, राष्ट्र के शासक लोग प्रजाजनों द्वारा निर्वाचित होने चाहिए इस सिद्धान्त का तो वेद पूर्ण समर्थक है। परन्तु वेद प्रजातन्त्र की दलानुबन्धी पद्धति को स्वीकार करता हुआ प्रतीत नहीं होता। वेद का पारायण करते हुए हमें कहीं कोई ऐसा संकेत दृष्टिगोचर नहीं हुआ जिससे मालूम पड़े कि वेद दलों से बँधी हुई और दलों के आधार पर चलने वाली पद्धति का उपदेश देता है। हमने पीछे देखा है कि वेद के अनुसार राजा केवल चार-पाँच वर्ष के लिए नहीं प्रत्युत गृहस्थाश्रम की पूरी अवधि के लिए, जोकि 25-30 वर्ष की भी हो सकती है, चुना जाता है। पीछे इस अध्याय के 'सभा और समिति के अधिवेशनों में राजा भी उपस्थित रहेगा' नामक उपखण्ड में हमने यह भी देखा है कि वेद का राजा राष्ट्र के प्रशासन को स्वयं चलाता है और वही राज्य का सर्वोपरि उत्तरदाता प्रशासक है। दूसरे शब्दों में वह प्रजातन्त्र की राष्ट्रपतीय पद्धति के ढंग का सर्वोच्च प्रशासक है। इस प्रकार वेद में एक प्रकार से राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों पद्धतियों का समन्वय कर दिया गया है। दीर्घकाल के लिए राजा या

राष्ट्रपति का चुनाव किये जाने की पद्धति में एक विशेषता जो यह रहती है कि थोड़े-थोड़े काल के पश्चात् नया चुनाव कराये जाने की अवस्था में घन का व्यय होता है उससे बचाव हो जाता है। दूसरी विशेषता यह रहती है कि थोड़े-थोड़े काल के पश्चात् नये चुनाव होने के समय प्रतिपक्षी लोग जो एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार करते हैं और उससे जनता में जो अनावश्यक हलचल और उत्तेजना का वातावरण उत्पन्न हो जाता है तथा प्रतिपक्षियों में वैमनस्य की जो उग्र भावनाएँ जाग उठती हैं उससे बचाव हो जाता है। दीर्घकाल के लिए चुनाव किये जाने वाली पद्धति में उत्तेजना और वैमनस्य का ऐसा वातावरण जल्दी-जल्दी उत्पन्न होते रहने का अवसर नहीं आता। एक अन्य विशेषता इस पद्धति में यह रहती है कि राजा या राष्ट्रपति दीर्घकाल के लिए चुना जाने की अवस्था में उसे चिरकाल तक सिंहासन पर देखते-देखते प्रजाजनों में उसके प्रति अनुराग और आदर की भावना उत्पन्न हो जाती है जो कि प्रजाजनों को उसकी आज्ञाओं का सम्मान के साथ पालन करने तथा अनुशासन में रहने के लिए प्रेरित करती है। ऐसे राजा या राष्ट्रपति का एक प्रकार का रोब और दबदबा-सा भी बन जाता है। जिसके कारण भी प्रजाजन राजाज्ञाओं का पालन करते और अनुशासन में रहते हैं। जैसे किसी शिक्षा-संस्था के दीर्घकाल से चले आ रहे आचार्य के प्रति छात्रों, शिक्षकों और अन्य कर्मचारियों के मन में कुछ हलके भयमिश्रित आदर और श्रद्धा के भाव रहते हैं उसके कारण वे लोग उसके आदेशों को सम्मान के साथ मानते और अनुशासन में रहते हैं उसी प्रकार की कुछ बात दीर्घकाल तक सिंहासनासीन रहने वाले राजा या राष्ट्रपति के प्रति भी प्रजाजनों के मन में रहती है। दीर्घकाल तक प्रशासन करने का अवसर मिल जाने पर चुने हुए राजा या राष्ट्रपति को अपनी समग्र योग्यता, शक्ति और निष्ठा के साथ राष्ट्र की सेवा करने का अवसर भी मिल जाता है। उसे अपने बहुत से कार्यक्रम बीच में ही नहीं छोड़ने पड़ते। उधर यदि वह कुपथगामी हो जायेगा, प्रजापालन के अपने कर्तव्य में ढील दिखायेगा और कोई दुराचरण एवं अपराध करेगा तो उसे सिंहासन से उतार भी दिया जायेगा।

राजा या राष्ट्रपति के कार्यकाल की भाँति सभा और समिति के सदस्यों का कार्यकाल भी गृहस्थ आश्रम की अवधि तक के लिए होगा जैसा कि ऊपर के पृष्ठों में अभी हमने देखा है। जब राजा या राष्ट्रपति ने भी गृहस्थ आश्रम की अवधि पूरी होने तक राज्य करना है और सभा और समिति के सदस्यों ने भी गृहस्थ आश्रम की अवधि पूरी होने तक इनका सदस्य रहना है तो यह बात स्वतः स्पष्ट है कि जब किसी व्यक्ति के गृहस्थाश्रम की अवधि पूरी हो जाने पर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश के समय जब उसका स्थान रिक्त हो जायेगा तभी उसके स्थान पर दूसरे व्यक्ति का चुनाव हो सकेगा और ये चुनाव बीच-बीच में कभी-कभी हुआ करेंगे। आजकल की भाँति सबके चुनाव एक निश्चित समय पर एक साथ नहीं हुआ करेंगे। उधर राजा या राष्ट्रपति भी चुना हुआ होने पर भी वंशानुगत राजा की भाँति दीर्घकाल तक

सिंहासनासीन रहेगा और राजकाज का वस्तुतः संचालक भी वही रहेगा। ऐसी स्थिति में प्रजातन्त्र की इस वैदिक पद्धति में दलानुबन्धी लोकतन्त्र का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। वेद में जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है दलानुबन्धी लोकतन्त्र की ओर कहीं कोई संकेत भी नहीं मिलता। इस भाँति वेद का प्रजातन्त्र तो दलविहीन पद्धति वाला प्रजातन्त्र प्रतीत होता है। इस पद्धति में राजा या राष्ट्रपति के पद के चुनाव के लिये खड़ा होने वाला व्यक्ति किसी दल की ओर से नहीं प्रत्युत निजी वैयक्तिक रूप से खड़ा होगा। सभा और समिति की सदस्यता के चुनाव के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति भी किसी दल की ओर से नहीं प्रत्युत निजी वैयक्तिक रूप से खड़े होंगे। सभा और समिति में विचारार्थ उपस्थित विषयों पर विचार भी दलानुबद्धता के आधार पर नहीं होगा। वहाँ विचारणीय विषयों पर विचार गुणावगुण के आधार पर होगा। प्रत्येक सदस्य किसी भी विषय पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करेगा और स्वतन्त्रतापूर्वक ही उसके पक्ष या विपक्ष में अपना मत देगा। सदस्यों के बहुमत से जो प्रस्ताव स्वीकार हो जायेगा उसके अनुसार राजा और मंत्रिमण्डल कार्य करेंगे। विचारार्थ प्रस्ताव राजा या मंत्रिमण्डल की ओर से भी रखे जा सकेंगे और सदस्यों की ओर से भी रखे जा सकेंगे। सब प्रस्तावों पर सभा और समिति के सदस्य इसी भाँति स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करेंगे और मत देंगे। यदि कोई प्रस्ताव बहुमत से स्वीकार न हो सकेगा तो वह रह जायेगा और उस पर कोई कार्यवाही नहीं होगी। सब सदस्य सत्य और न्यायपरायण होकर धर्म बुद्धि से विचारणीय विषयों पर विचार करेंगे और ऐसा करते हुए उनके मन में अपने राष्ट्र और उसके निवासियों का हित और कल्याण ही सर्वोपरि होगा। और वे जो भी निर्णय करेंगे निष्पक्ष होकर करेंगे। इस पद्धति में यह भी स्वतः स्पष्ट है कि यदि सरकार की ओर से उपस्थित किया गया कोई प्रस्ताव सदस्यों के बहुमत से स्वीकार न हो सका तो उसके कारण सरकार की त्यागपत्र देने को आवश्यकता नहीं रहेगी।

दलानुबन्धी पद्धति में अपनी कुछ त्रुटियाँ हैं। शायद इसी कारण वेद में इस पद्धति की ओर संकेत किया गया नहीं मिलता। इस पद्धति के कुछ दोष निम्नांकित हैं—

(1) इस पद्धति में किसी दल के सदस्य को अपने दल का आदेश और अनुशासन अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध होने पर भी मानना पड़ता है। यदि दल का कोई निश्चय और प्रस्ताव उसे ठीक नहीं भी लगता तो भी उसे दल के अनुशासन के कारण उसके पक्ष में मत देना पड़ता है।

(2) इसी भाँति इस पद्धति में किसी दल के सदस्य को यदि विपक्षी दल का कोई प्रस्ताव उचित भी प्रतीत होता हो तो भी उसे अपने दल के अनुशासन के कारण अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध उसका विरोध करना पड़ता है और इसके विरोध में ही अपना मत देना पड़ता है।

(3) इस पद्धति में एक दल द्वारा बनाई गई सरकारों का प्रायः विपक्षी दलों

द्वारा केवल विरोध के लिए विरोध किया जाता है। विपक्षी दल इसी प्रयत्न में रहते हैं कि जैसे भी हो सरकार को गिराया जाये।

(4) सरकार के कार्य ठीक और जनता के हित में भी हों तो भी विपक्षी दल उनका विरोध करते हैं और सरकार के दोष दिखाने में ही लगे रहते हैं। यदि कभी सरकार के किसी काम में कोई कमी भी रह गई हो तो विपक्षी दल यह नहीं सोचते कि सरकार को किन विषम परिस्थितियों में अमुक कार्य करना पड़ रहा है और यह कि यदि हमारे दल की भी सरकार होती तो शायद उन परिस्थितियों में वह भी इससे अच्छा काम न कर पाती। यह भी इस पद्धति का एक दोष है।

(5) इस पद्धति में यह भी एक दोष है कि यदि सरकारें कोई कार्य वस्तुतः भली-भाँति नहीं भी कर पातीं या उसे करने में असमर्थ भी रहती हैं तो भी वे अपनी कमी या असमर्थता को स्वीकार न करके उसके लिए विपक्षी दलों को ही दोष देती रहती हैं। यदि किसी सरकार से पहले किसी अन्य दल की सरकार रह चुकी होती है तो यह सरकार अपनी कमियों और विफलताओं को पिछली सरकार के ही सिर मढ़ती रहती है कि पिछली सरकार ने ऐसी बुरी अवस्था पैदा कर दी थी कि उसके कारण काम ठीक से नहीं हो पा रहा है।

(6) इस पद्धति में सरकारी दल विपक्षी दलों के और विपक्षी दल सरकारी दल के दोष दिखाने में और एक-दूसरे को लांछित करने में ही लगे रहते हैं। इस पारस्परिक दोष-दर्शन और आरोप-प्रत्यारोप के कार्य में सत्य-असत्य की बिलकुल परवाह नहीं की जाती। एक-दूसरे दल पर सर्वथा असत्य और निराधार आरोप भी लगाये जाते हैं।

(7) दलानुबन्धी पद्धति में नियामिका सभाओं के चुनाव के समय विभिन्न दल अपने-अपने दलों के प्रार्थियों को खड़ा करते हैं। उन्हें दल की ओर से टिकट दिये जाते हैं। टिकट देने और लेने में बड़ी आपा-धापी मचती है। सही किस्म के प्रार्थियों को छाँट सकना ही दुष्कर हो जाता है। प्रार्थी लोग स्वयं टिकट प्राप्त करने के लिए दूसरे प्रार्थियों पर भाँति-भाँति के लांछन लगाते हैं। अनेक बार तो रिश्तों भी दी और ली जाती हैं। जिन प्रार्थियों को टिकट नहीं मिल पाता वे टिकट देने वाले लोगों पर पक्षपात किये जाने के आरोप लगाते हैं। अनेक बार यह भी होता है कि जिन लोगों को टिकट नहीं मिल पाता वे दल के अधिकृत अभ्यर्थी के विरोध में स्वतन्त्र रूप से चुनाव के लिए खड़े हो जाते हैं। और कई बार तो जिन लोगों को टिकट नहीं मिल पाता वे अपने दल को छोड़कर टिकट लेने के लिए दूसरे किसी दल में जा मिलते हैं। अनेक बार ऐसा भी होता है, कि दल के जिन लोगों को टिकट नहीं मिल पाता है वे लोग, जिन्हें दल का टिकट मिल जाता है और जो चुनाव के लिए दल की ओर से अधिकृत अभ्यर्थी होते हैं उन लोगों को चुनाव में कोई सहयोग नहीं देते प्रत्युत भीतर ही भीतर उनका विरोध करते रहते हैं।

(8) चुनाव के समय विरोधी दलों में वेहद होड़ लग जाती है और

उनमें असीम गरमी उत्पन्न हो जाती है तथा आपस में पराकाष्ठा का वैमनस्य जाग उठता है। इस गरमी और वैमनस्य के कारण विरोधी दलों के समर्थक लोग एक-दूसरे के अभ्यर्थियों और समर्थकों के साथ मार-पीट भी कर देते हैं। कई बार भारी चोटें भी लग जाती हैं और कई बार तो विरोध का परिणाम मृत्यु तक भी हो जाता है। यह भी इस पद्धति का एक बड़ा दोष है।

(9) दलानुबन्धी पद्धति में दलों की एक-दूसरे के प्रति विरोध की भावना बहुत बार बढ़ी उग्र हो उठती है। एक-दूसरे के विरोध में जुलूस निकाले जाते और प्रदर्शन किये जाते हैं। इन प्रदर्शनों के समय एक-दूसरे के प्रति विद्वेष की भावना अनेक बार इतनी उग्र हो उठती है कि दलों के लोगों और उनसे सहानुभूति रखने वाले लोगों में मार-पीट भी हो जाती है। और कई बार लाठियाँ, छुरे और पिस्तौलें भी चल जाती हैं तथा अनेक लोगों का प्राणान्त भी हो जाता है। ऐसे अवसरों पर शांति और व्यवस्था रखने के लिए पुलिस को भी गोलियाँ चलानी पड़ जाती हैं। उससे भी अनेक लोगों की जानें चली जाती हैं। इतना ही नहीं स्वयं नियामिका सभाओं (Legislatures) में भी सरकारी और विरोधी पक्ष के सदस्यों में अनेक बार विरोध की भावना इतनी तीव्र हो उठती है कि वे आपस में लड़ पड़ते हैं, गाली-गलौच हो जाती है, मुक्का-मुक्की हो जाती है, जूते चल जाते हैं और एक-दूसरे पर कुर्सियाँ तक फेंकी जाने लगती हैं और कितने ही लोगों को सख्त चोटें भी आ जाती हैं।

(10) दलानुबन्धी पद्धति का यह भी एक दोष है कि संसद के दल एक-दूसरे के दल के सदस्यों को मंत्रि-पद या कोई अन्य महत्त्वपूर्ण पद देने अथवा किसी प्रकार का आर्थिक लाभ पहुँचाने आदि का लोभ देकर उनके अपने दल से फोड़ कर अपने दल में मिलाने का प्रयत्न भी करते रहते हैं जिससे वे अपने दल की सरकार बना सकें और दूसरे दल की सरकार को गिरा सकें। इस प्रकार सिद्धान्त-हीन दल-वदलाव का दोष भी इस पद्धति में रहता है।

(11) दलानुबन्धी पद्धति में दलों को चुनाव जीतने के लिए बहुत अधिक धन का व्यय करना पड़ता है और इस कारण उन्हें धन की बड़े परिमाण में आवश्यकता रहती है। धन की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक दल व्यापारियों और उद्योगपतियों से प्रचुर मात्रा में धन प्राप्त करता है और इसके लिए डराने-धमकाने और भ्रांति-भ्रांति के लोभ-लालच आदि देने के कुत्सित उपायों का अवलम्बन भी करता है। दलानुबन्धी पद्धति का यह भी एक भारी दोष है।

(12) ऊपर कही गई ये सब बातें असत्य का सहारा लेकर की जाती हैं। असत्य का आश्रय लेकर की जाने के कारण ये सब बातें भ्रष्टाचार बन जाती हैं। भ्रष्टाचार का मूल असत्य ही होता है। भ्रष्टाचार असत्य का ही दूसरा नाम है। जब राज नेता लोगों के जीवन में इस प्रकार असत्य और भ्रष्टाचार घर किये रहता है तो उनके उदाहरण और अनुकरण से सामान्य प्रजाजन भी असत्य और भ्रष्टाचार का अवलम्बन करने लगते हैं। और इस प्रकार समूचे राष्ट्र का चारित्रिक स्तर

निरन्तर गिरता रहता है। यह भी दलानुबन्धी पद्धति का एक बड़ा भारी दोष है।

(13) दलानुबन्धी पद्धति में जब तक सरकारी दल और विपक्षी दल दो ही दल रहते हैं तब तक तो प्रशासन में कुछ स्थिरता रहती है। जब दो से अधिक दल बन जाते हैं, और प्रायः ऐसा होता ही रहता है, तो प्रशासन की स्थिरता को भी खतरा उत्पन्न हो जाता है। दो ही दल रहने की अवस्था में भी पूर्ण स्थिरता को खतरा ही बना रहता है। विरोधी दल सरकार को गिराने के प्रयत्न में रहता है, और इस प्रयोजन के लिए उचित और अनुचित की भी परवाह नहीं करता। विरोधी दल सरकार को गिराने के प्रत्येक अवसर की उत्सुकतापूर्वक तलाश में रहता है।

(14) इस पद्धति में क्योंकि विरोधी दल हर समय सरकार को गिराने के प्रयत्न में रहते हैं इसलिए सरकारी दल के लोगों का अधिकांश समय अपनी सरकार को बचाये रखने के प्रयत्नों में और उसके लिए जोड़-तोड़ करते रहने में ही लग जाता है। इस कारण जन-कल्याण के कार्यों के लिए सरकार के लोग अधिक समय नहीं दे पाते। बहुत बार तो सरकारी दल के नेताओं और मंत्रियों का बड़ा समय अपने ही दल के लोगों को संभाल कर इकट्ठा रखने में चला जाता है। इस कारण भी जन-कल्याण के कार्यों में वे पर्याप्त समय नहीं दे पाते।

(15) इस पद्धति में एक दोष यह भी है कि दलों के पारस्परिक विरोध के कारण संसद के निश्चय शीघ्र नहीं हो पाते। निश्चय लेने में बहुत देर लगती है। इस देर से अनेक बार बड़ी हानि हो जाती है।

ब्राह्मण

अभी ऊपर हमने देखा है कि वेद की सम्मति में समिति में, जोकि राजसभा का अधिक अधिकार-सम्पन्न ऊँचा सदन है, ब्राह्मणों की प्रधानता रहनी चाहिए। इस ग्रन्थ में हमने प्रसंगानुसार अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट किया है कि ब्राह्मण किस प्रकार के लोगों को कहते हैं और उनकी विविध योग्यताओं और चरित्र का स्तर कितना ऊँचा होता है। यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में, ब्राह्मण वे लोग होते हैं जो भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों के आविष्कार और प्रसार में अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, सत्य का पता लगाना और उसका प्रचार करना जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है, जो धर्म के सत्य, अहिंसा आदि तत्त्वों में पूर्ण निष्ठा रखते हैं। ब्राह्मण वे लोग होते हैं जिनका जीवन पूर्ण संयम का होता है, जिनका अपने मन और इन्द्रियों पर पूर्ण वश होता है, जिनके जीवन में तप अर्थात् कर्तव्य-पालन में कष्ट सहिष्णुता एवं सादगी का पूर्ण निवास होता है। ब्राह्मण वे लोग होते हैं जो किसी भी प्रकार के लोभ-लालच में फँसकर धर्म अर्थात् कर्तव्य-पालन से विमुख नहीं हो सकते, जिनका जीवन परोपकार और लोगों की भलाई करने में ही लगा रहता है। ब्राह्मण वे लोग होते हैं जो अपने आस-पास किसी को दुःखी और कष्ट में पड़ा नहीं देख

सकते, जिनका संवेदनशील हृदय दूसरों के कष्ट से द्रवित हो जाता है और वे उनके कष्टों को दूर करने के काम में प्राणपण से जुट जाते हैं। ब्राह्मण वे लोग होते हैं जिनका जीवन पूर्णरूप से अपरिग्रह के सिद्धान्त पर चलता है, जो संपत्ति-संग्रह के पीछे पागल होकर नहीं दौड़ते, जो शरीर-यात्रा और अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों के पालन के लिए नितान्त आवश्यक कम-से-कम संपत्ति ही अपने पास रखते हैं, जिनके जीवन में त्याग की भावना पराकाष्ठा तक पहुँची हुई होती है। और ब्राह्मण वे लोग होते हैं जिनकी वृत्ति सदा ब्रह्म में लगी रहती है, ब्रह्म-चिन्तन से जिनका जीवन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत रहता है, इस आध्यात्मिकता के कारण जिनके मन और हृदय में सदा पवित्र भावनाओं का ही निवास रहता है और ये पवित्र भावनायें जिनको कभी किसी प्रकार का भी असत्य, अन्याय, हिंसा और अत्याचार का आचरण नहीं करने देतीं।

त्याग की वैदिक भावना के महान् व्याख्याकार महाराज मनु ने ब्राह्मणों के संपत्ति-संग्रह के सम्बन्ध में लिखा है कि 'सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वह है जो एक दिन की आवश्यकता से अधिक अनाज का संग्रह करके अपने घर में नहीं रखता, दूसरी श्रेणी का ब्राह्मण वह है जो तीन दिन की आवश्यकता से अधिक अनाज का संग्रह करके नहीं रखता, तीसरी श्रेणी का ब्राह्मण वह है जो एक घड़ेभर से अधिक अनाज का संग्रह करके नहीं रखता और चौथी श्रेणी का निकृष्ट ब्राह्मण वह है जो साल-छः महीने भर चलने लायक कुठला भर अनाज का संग्रह करके रख लेता है।'¹ 'ब्राह्मण को जीवन निर्वाह करने के लिए सामान्य लोगों की तरह आचरण नहीं करना चाहिए, उसे कुटिलता और शठता का व्यवहार नहीं करना चाहिए, उसे शुद्ध रूप से ब्राह्मण की वृत्ति का आश्रय लेकर ही आजीविका कमाना चाहिए।'² 'ब्राह्मण को संतोष का जीवन विताते हुए ही सुखी रहना चाहिए, धन अर्जित करने में संयम से काम लेना चाहिए, संतोष में ही सुख है, असन्तोष में तो दुःख ही दुःख है।'³

ऐसे त्यागी, संयमी, तपस्वी, संतोषी और लोभ-लालच की वृत्ति से रहित, सत्यनिष्ठ तथा परोपकार के व्रती ब्राह्मण लोग जब राज-सभाओं में जाकर कानूनों का निर्माण करेंगे तो वे कानून सभी अर्थों में घरती पर धर्म-राज्य, राम-राज्य, स्थापित करने वाले होंगे। ऐसे ब्राह्मण जब राज-सभाओं में जायेंगे तो उनकी दृष्टि राजा और अन्य राज-कर्मचारियों पर रहेगी और उनके रहते और देखते कोई भी

¹ कुसूलधान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा ।

व्यहृदिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ मनु० 4.7.

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनान् ।

ज्यायान् परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजिह्मः ॥ मनु० 4.8.

² न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।

अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥ मनु० 4.12.

³ संतोषं परमास्थाय सुखार्थं संयतो भवेत् ।

संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ मनु० 4.12.

राज-कर्मचारी प्रजाओं पर अन्याय और अत्याचार नहीं कर सकेगा । इन ब्राह्मणों ने अपना तो कुछ बनाना ही नहीं होगा, अपने लिए तो कुछ सम्पत्ति-संग्रह करना ही नहीं होगा, तो निःस्वार्थ होकर काम करेंगे । इसलिए इन्हें किसी का न लिहाज होगा और न किसी का भय । इस कारण ये सबको जो कुछ कहेंगे खरा और साफ-साफ कहेंगे । इनके देखते कहीं भी किसी पर अन्याय और अधर्म नहीं हो सकेगा ।

यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि वेद जन्म के कारण किसी को ब्राह्मण नहीं मानता है । किसी भी घर में जन्म लेकर साधना द्वारा कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण बन सकता है । वेद की वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर विशुद्ध रूप से योग्यता पर आधारित है, गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित है ।

ब्राह्मण का जो चित्र यहाँ अंकित किया गया है वह एक आदर्श है । जो जितना इस आदर्श के अनुरूप होगा वह उतना ही अधिक महान् और आदरणीय होगा और वह उतना ही अधिक जन-समाज का कल्याण कर सकेगा ।

इन्द्रेन्द्र और आमन्त्रण

इन्द्रेन्द्र : सार्वभौम सम्राट्

हम देख चुके हैं कि वेदों के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र—कम-से-कम बड़े राष्ट्र—का शासन 'संघीय राज्य' या 'राज मध्यस्थ राज्य' प्रणाली से होना चाहिए। प्रान्तीय या माण्डलिक राज्य अपने आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र रहें। किन्तु पारस्परिक और पर-राष्ट्रीय मामलों में केन्द्रीय सरकार के अधीन रहें। माण्डलिक राज्यों के राजाओं को वैदिक परिभाषा में 'राजा' कहते हैं और केन्द्रीय सरकार के प्रधान शासक को 'सम्राट्', 'अधिराज' या 'इन्द्र' कहते हैं। राजा और इन्द्र दोनों ही प्रजाओं द्वारा चुने जायेंगे। माण्डलिक राजाओं को उनके राज्यों की प्रजायें अलग-अलग चुनेंगी। और इन्द्र को सारे माण्डलिक राज्यों की प्रजायें मिलकर चुनेंगी। हम यह भी देख चुके हैं कि माण्डलिक राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों की अपनी-अपनी नियामक सभायें होंगी जिनके सभा और समिति ये दो विभाग या सदन होंगे।

परन्तु इस प्रकार सारी धरती के अनेक 'राज्य-संघों' में विभक्त हो जाने पर भी सम्पूर्ण मनुष्य जाति की सुखसमृद्धि की दृष्टि से राज्य संस्था में कुछ त्रुटि रह ही जाती है। ये संघराज्य धरती और मनुष्य जाति के अनेक खण्ड कर देंगे। इन खण्डों के स्वार्थों में अनेक बार कलह होने की सम्भावना रहेगी। वे कलह कई बार भयंकर युद्धों का रूप धारण कर लेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि समूची मनुष्य जाति का जितना सुख-वैभव और मंगल-मोद हो सकता था वह न हो सकेगा। समूची मनुष्य जाति के लोग यदि एक-दूसरे को एक ही राज्य का, एक ही कुटुम्ब का, अंग समझा करें और इस प्रकार जीवन के सभी पहलुओं में पारस्परिक सहयोग और आदान-प्रदान की भावना से प्रेरित होकर अपने व्यवहार किया करें तो विद्या-विज्ञानों की, धन-सम्पत्ति और सुख-शान्ति की धरती पर जितनी मात्रा बढ़ सकती है वह उस अवस्था में नहीं बढ़ सकती जबकि मनुष्य जाति खण्डों में विभक्त होकर पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता और प्रवञ्चना के भावों से प्रेरित होकर व्यवहार करे। इसीलिए वेद का धर्म और उसकी राजनीति विभिन्न राष्ट्रों के अपने-अपने पृथक् राज्य-संघों तक ही जाकर नहीं ठहर जाते। वे इससे आगे बढ़कर सारी मनुष्य जाति

का एक कुटुम्ब और एक राज्य बनाना चाहते हैं। पीछे 'मातृ-भूमि की भावना' नामक अध्याय समाप्त करते हुए हम कह चुके हैं कि वेद का परम अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने मन का इतना ऊँचा विकास करे कि वे सारी धरती को ही अपना एक राष्ट्र और मातृ-भूमि समझ सकें। अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के चतुर्थ सम्पूर्ण सूक्त तथा आठवें काण्ड के दसवें सूक्त के प्रथम पर्याय के बारहवें मन्त्र से हम इस सम्बन्ध में और अधिक आगे जाते हैं। इनसे हमें सूचना, सूचना क्यों स्पष्ट निर्देश मिलता है कि सम्राटों या इन्द्रों के ऊपर भी एक सरकार होनी चाहिए जिसका काम इन सम्राटों की सरकारों या राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों और स्वार्थों में समन्वय स्थापित करना, उनके कलहों को सुलझाना और मनुष्य जाति के व्यापक हितों और सुख-समृद्धि की चिन्ता तथा रक्षा करना होगा।

अथर्ववेद 3.4 सूक्त पर विचार

अथर्ववेद के 3.4 सूक्त पर बहुत-सा विचार हम पीछे 'राजा का चुनाव' नामक अध्याय में कर चुके हैं। इस सूक्त में राजा के चुनाव का वर्णन है। इस चुने जा रहे राजा को सूक्त के छठे मन्त्र में 'इन्द्रेन्द्र' शब्द से सम्बोधन किया गया है। 'इन्द्रेन्द्र' का अर्थ हुआ, 'इन्द्राणामिन्द्रः'—'इन्द्रों का इन्द्र'। वैदिक परिभाषा में सम्राट् को इन्द्र कहा जाता है यह हम पीछे अनेक बार देख चुके हैं। इसलिए 'इन्द्रेन्द्र' का अत्यन्त स्पष्ट अर्थ हुआ—'सम्राटों का सम्राट्'। इस प्रकार इस सूक्त में 'सम्राटों के सम्राट्' या 'सार्वभौम सम्राट्' के निर्वाचन का वर्णन है। सूक्त के मन्त्र इस प्रकार हैं—

1. आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज ।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥
2. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥
3. अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरात ।
जायाः पुत्रा सुमनसो भवन्तु बह्वं वलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥
4. अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अघा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥
5. आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्से उपेदमेहि ॥
6. इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः ॥
7. पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् ।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥

मन्त्रों का अर्थ¹ इस प्रकार है—

(1) (त्वा) तुझे (राष्ट्र) यह राष्ट्र—राज्य (आगन्) प्राप्त होवे (वर्चसा) अपने तेज के (सह) साथ (उदिहि) तू उदय हो (प्राङ्) आगे बढ़ने वाला तू (विशां) प्रजाओं का (पतिः) पालन कर्ता स्वामी (एकराट्) एकच्छत्र राजा होकर तू (विराज) खूब चमक—खूब सुन्दर राज्य कर। (राजन्) हे राजन् (सर्वाः) सब (प्रदिशः) लम्बी-लम्बी दिशाओं में फैली हुई प्रजाएँ (त्वा) तुझे (ह्वयन्तु) बुलावें—राज्य करने की अनुमति देवें। (इह) इस राष्ट्र में तू (उपसद्यः) सब प्रजाजन जिसके पास पहुँच सकें ऐसा और (नमस्यः) सब जिसको नमस्कार कर सकें ऐसा अर्थात् गुणी राजा (भव) बन।

(2) (त्वां) तुझको (विशः) प्रजायें (राज्याय) राज्य करने के लिए (वृणताम्) चुनें (त्वा) तुझको (इमाः) ये (प्रदिशः) लम्बी-लम्बी दिशाओं में फैली हुई (देवीः) तरह-तरह का व्यापार-व्यवहार करने वाली (पञ्च) पाँच प्रकार की प्रजायें, राज्य करने के लिए चुनें। तू (राष्ट्रस्य) राष्ट्र के (वर्ष्मन्) शरीर में (ककुदि) सबसे ऊँचे स्थान पर अर्थात् राजसिंहासन पर (श्रयस्व) बैठ (ततः) वहाँ बैठकर (नः) हमारे लिए (वसूनि) धनों का (विभजा) विभाग कर अर्थात् सबको यथायोग्य धनप्राप्ति का प्रबन्ध कर।

(3) (सजाताः)² तेरी तरह चुने जाने के कारण तेरे सजात अर्थात् समानजन्मा राजा लोग (हविनः)³ तेरे बुलावे अर्थात् तेरी आज्ञा को मानने वाले होकर (त्वा) तेरे पास (अच्छ) अच्छी तरह (यन्तु) आवें (अजिरः)⁴ तेरे द्वारा प्रेरित या सर्वत्र विचरने वाला (दूतः) तेरा दूत (अग्निः)⁵ अग्नि (संचराते) सर्वत्र संचार करे—सम्यक् रीति से पहुँचे। तेरे कारण (जायाः) राष्ट्र की स्त्रियाँ (पुत्रा) और पुत्र (सुमनसः) उत्तम मन वाले, प्रसन्न मन वाले (भवन्तु) हों। (उग्रः) उग्र शक्तिवाला तू (बहुं) बहुत सारे (वर्लि) प्रजाजनों से प्राप्त होने वाले कर को (प्रति पश्यासौ) अपने सामने आया हुआ देख अर्थात् तुझे प्रभूत कर प्राप्त होवे।

(4) (त्वा) तुझे (अश्विना) अश्विनी (उभा) दोनों (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण (विश्वेदेवाः) सभी देव (मरुतः) मरने-मारने वाले सैनिक (अग्ने) पहले (ह्वयन्तु) बुलावें—तेरे शासक बनने में अपनी सहमति प्रदान करें (अघा) तदनन्तर (वसु देयाय) हम प्रजाजनों को ऐश्वर्य देने के लिए (मनः) अपना मन (कृणुष्व) कर—

¹ इस सूक्त के 1, 2, 6 और 7 मन्त्रों का अर्थ 'राजा का चुनाव' प्रकरण में भी आ चुका है। इस सूक्त की इस प्रकरण में की गई व्याख्या के साथ वहाँ की गई इसकी विवेचना भी एक बार पढ़ लेनी चाहिए।

² समानजन्मानोन्ये राजान इति सायणः।

³ हवम् आह्वानम् आज्ञारूपम् एवामस्तीति हावनः। तादृशाः सर्वे राजानस्त्वदाज्ञावशवर्तिनो भवन्तु—इति सायणः।

⁴ अज गतिक्षेपणयोरित्यस्मादोणादिकः किरचू।

⁵ गौण प्रयोग में अग्नि का अर्थ क्या होता है यह आगे देखेंगे।

प्रजाओं का ऐश्वर्य बढ़ाने के उपाय सोच (ततः) अपने सिंहासन से (तः) हमारे (लिए) (वसूनि) धनों का (विभजा) विभाग कर—यथायोग्य धन देने का प्रवन्ध कर ।

(5) (परमस्याः) बहुत दूर से (परावतः) दूर देश से (आ प्र द्रव) तू राज्य करने के लिए दौड़कर आ (ते) तेरे लिए (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (शिवे) मंगलकारी (स्ताम्) होवें (तत्) उस तेरे आगमन के विषय में (राजा वरुणः) राजा वरुण भी (तथा) ऐसा ही (आह) कहता है (अयं) यह (सः) वह वरुण (त्वा) तुझे (अह्वत्) बुलाता है (सः) वह तू (इदम्) यह राज्य करने के कर्म में (उप-इहि) प्राप्त हो ।

(6) (इन्द्रेन्द्र) हे सम्राटों के सम्राट् ! (मनुष्याः) इन मनुष्य प्रजाओं में (परेहि) तू आ (वरुणैः) वरुणों के साथ (संविदानः) मिला हुआ (हि) निश्चय से (सं-अज्ञास्थाः)¹ प्रजाओं की अवस्था का सम्यक् रीति से ज्ञान प्राप्त कर (सः) उन (अयम्) इन वरुणों ने (स्वे) अपने (सधस्थे) रहने के स्थान इस राष्ट्र में (त्वा) तुझको (अह्वत्) बुलाया है (सः) वे वरुण लोग (देवान्) दिव्य भावनाओं या गुणों की (यक्षत्) राष्ट्र में वृद्धि करें (उ) और (सः) वे (विशः) प्रजाओं को (कल्पयात्) सामर्थ्यवान् बनावें ।

(7) (पथ्याः) पथ अर्थात् राजनियम के मार्ग पर समुचित प्रकार से चलने वाली (रेवतीः) धनधान्य से युक्त (बहुधा) बहुत प्रकार से (विरूपाः) विभिन्न रूपों वाली (सर्वाः) सब प्रजायें (संगत्य) मिलकर (ते) तेरा (वरीयः) यह बड़ा महत्त्व अथवा चुनाव (अक्रन्)² करें (ताः) वे (सर्वाः) सारी प्रजायें (संविदानाः) मिलकर, एकमत होकर (त्वा) तुझे (ह्वयन्तु) बुलावें—राज्य करने की अनुमति देवें (उग्रः) बल वाला और (सुमनाः) उत्तम या प्रसन्न मन वाला तू (इह) इस राष्ट्र में (दशमीं) नब्बे से बाद की सौ वर्ष तक की आयु को (वश) अपने अधीन कर अर्थात् सौ वर्ष तक का लम्बा जीवन प्राप्त कर ।

अब यदि पाठक जरा गहराई से सूक्त के मन्त्रार्थों का अवलोकन करेंगे तो उन्हें स्पष्ट प्रतीत होगा कि इसमें सार्वभौम सम्राट् के चुनाव का ही वर्णन है । 'इन्द्रेन्द्र' शब्द तो इसका असंदिग्ध प्रमाण है ही, इसके अतिरिक्त मन्त्रों में और भी कई पुष्ट और मूल्यावान् प्रमाण हैं । प्रथम मन्त्र में प्रयुक्त हुआ 'सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु' वाक्य यही व्यक्त करता है । चुने जा रहे राजा को यह कहना कि 'लम्बी-लम्बी सारी दिशाओं में रहने वाली प्रजायें तुझे बुलायें—तेरा निर्वाचन करें' यह सिद्ध करता है कि भाषणकर्ता के मन में सारी घरतीभर में रहने वाली प्रजायें हैं । 'दिशः' के साथ, जो यहाँ दिशाओं में रहने वाली प्रजाओं का बोधक है, 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग उनकी विस्तीर्णता का बोध कराता है । फिर 'प्रदिशः' के साथ 'सर्वाः' शब्द है । सारी विस्तीर्ण दिशाओं में रहने वाली प्रजायें घरतीभर की प्रजायें ही होंगी । दूसरे मन्त्र में 'त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः' इन

¹ छन्दसि लुङ् लङ् लिट् इत्यनेन जानीहि इत्यस्य स्थाने अज्ञास्थाः ।

² छन्दसि लुङ् लङ् लिट् इति कुर्वन्तु इत्यस्य स्थाने अक्रन् ।

शब्दों में फिर वही भाव व्यक्त हो रहा है। 'त्वां विशो वृणतां राज्याय'—तुझे प्रजायें राज्य के लिए चुनें—इतना कहकर, फिर यह बताने के लिए कि वे चुन रही प्रजायें कौन हैं, कहा है, 'त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।' अर्थात् लम्बी विस्तीर्ण दिशाओं में रहने वाली पाँचों प्रकार की विभिन्न प्रकार के व्यवहार करने वाली प्रजायें। प्रजायें कहकर फिर उन्हें विस्तीर्ण दिशाओं में रहने वाली कहना यह व्यक्त करता है कि यहाँ भी भाषणकर्ता के मन में सारी धरतीभर की प्रजायें हैं। सातवें मन्त्र में 'बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्' इस वाक्य से भी वही बात प्रकट होती है। इसमें कहा है कि 'बहुत प्रकार से विभिन्न रूपों वाली सारी प्रजायें मिलकर तेरा चुनाव अथवा महत्त्व करें—तुझे महत्त्वपूर्ण राजसिंहासन पर बिठायें।' 'बहुधा विरूपाः'—'बहुत प्रकार से विभिन्न रूपों वाली'—ये शब्द स्पष्ट बता रहे हैं कि इस सूक्त के राजा को चुनने वाली प्रजायें समग्र धरती की प्रजायें हैं। समग्र धरती की प्रजायें 'बहुधा विरूपाः'—'बहुत प्रकार से विभिन्न रूपों वाली'—हो सकती हैं। एक राष्ट्र की प्रजायें 'बहुत प्रकार से विभिन्न रूपों वाली' नहीं हो सकतीं, वे 'विरूपाः'—'विभिन्न रूपों वाली'—भले ही हों। यहाँ 'वरीयस्ते अक्रन्' शब्दों पर भी ध्यान देना चाहिए। इनका एक अर्थ है, 'तेरा महत्त्व करें'। 'तेरा महत्त्व करें' शब्द राजा के चुनाव प्रकरण में, केवल यहाँ 'इन्द्रेन्द्र' के चुनाव में ही प्रयुक्त हुए हैं। और इस 'महत्त्व' को करने वाली हैं धरतीभर की 'बहुत प्रकार से विभिन्न रूपों वाली' प्रजायें। इसलिए यहाँ सिंहासनासीन होने के लिए 'महत्त्व' प्राप्त करना इन शब्दों का प्रयोग यही ध्वनित करता है कि यहाँ सार्वभौम सम्राट् के चुनाव का वर्णन है। क्योंकि सार्वभौम राजसिंहासनासीन होने से बढ़कर कोई और 'महत्त्व' नहीं हो सकता इसलिए यहाँ उस सिंहासन पर आसीन होने के लिए केवल 'महत्त्व' शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। पाँचवें मन्त्र के 'आ प्र द्रव परमस्याः परावतः' इस वाक्य से भी उपर्युक्त परिणाम ही निकलता है। इस वाक्य का अर्थ है, 'तुम बहुत दूर से भी दूर देश से दौड़कर राज्य करने के लिए आओ।' सूक्त के इस मन्त्र से आगे पीछे के सारे वर्णनों के साथ इस वाक्य को पढ़ने से यही परिणाम निकल सकता है कि यहाँ सार्वभौम सम्राट् को चुना जा रहा है। सामान्य अवस्थाओं में सार्वभौम सम्राट् ही बहुत दूर से भी दूर देश से चलकर सार्वभौम राजधानी में राज्य करने के लिए आ सकता है। तीसरे मन्त्र के 'अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाताः' शब्द भी यहाँ अवलोकन करने के योग्य हैं। इनका अर्थ है कि 'दूसरे राजा लोग तेरी आज्ञाओं का पालन करें।' इससे प्रतीत होता है कि इस सूक्त में चुना जा रहा राजा कोई ऐसा राजा है जिसकी दूसरे अनेक राजा लोग आज्ञा मानेंगे। सूक्त में चुने जा रहे राजा के लिए 'इन्द्रेन्द्र' शब्द का प्रयोग तथा ऊपर विवेचित दूसरे वर्णन यह निश्चित करते हैं कि इस मन्त्र में आज्ञा मानने वाले राजा धरती के विभिन्न राष्ट्रों के सम्राट् या 'इन्द्र' लोग ही हैं और इनसे आज्ञापालन करवाने वाला इनका भी सम्राट्—सार्वभौम सम्राट्—इन्द्रेन्द्र है।

सूक्त से निकलने वाले कुछ परिणाम

इसके अतिरिक्त इस सूक्त से निम्न परिणाम और निकलते हैं—

1. उपसंहारः—इस विशेषण का भाव यह है कि सार्वभौम सम्राट् की सरकार की व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि धरती पर कहीं भी रहने वाले लोग अपनी आवश्यकताओं तथा कष्ट-कथाओं को उसके पास सुगमता से और बिना भय के पहुँचा सकें ।

2. नमस्यः—इस विशेषण का भाव यह है कि इन्द्रेन्द्र की सरकार का राज्य-प्रबन्ध इतना सुव्यवस्थित और न्याय पर आश्रित होना चाहिए कि सभी राष्ट्रों के लोग उसका प्रेम और श्रद्धा से सम्मान करें—उनके आगे झुकते रहें ।

3. ततो न उग्रो वि भजा वसूनि—इस वाक्य का यह भाव है कि इन्द्रेन्द्र की सरकार की व्यवस्था इस प्रकार की हो कि उसके कारण धरती के सब राष्ट्रों को और राष्ट्रों में रहने वाले सब लोगों को यथायोग्य धन प्राप्त होता रहे । ऐसा न हो कि कहीं किसी राष्ट्र के हित दूसरे राष्ट्रों द्वारा और मनुष्यों की किसी श्रेणी के हित दूसरी श्रेणियों द्वारा अनावश्यक तौर पर कुचले जायें । धरती माता से उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति की व्यवस्था इस प्रकार से हो कि सभी राष्ट्रों और राष्ट्रों में रहने वाले मनुष्यों की सभी श्रेणियों की आवश्यकतायें सुखपूर्वक पूरी होती रहें ।

4. ततो न उग्रो वि भजा वसूनि—इस वाक्य को चौथे मन्त्र में फिर पढ़ा गया है । इस पुनरावृत्ति की यह व्यञ्जना है कि यहाँ इस वाक्य का दूसरा अर्थ होना चाहिए । इस वाक्य का दूसरा भाव यह होगा कि इन्द्रेन्द्र की सरकार की ऐसी न्यायपूर्ण राज्य-व्यवस्था हो कि सब कहीं सबके धनों का जैसा चाहिए वैसा विभाग हो । अर्थात् यह धन, यह सम्पत्ति, यह भूमि आदि अमुक की है या अमुक की, ऐसा विवाद खड़ा होने पर जो वस्तु जिसकी है उसी को प्राप्त हो ऐसी न्यायपूर्ण राज्य-व्यवस्था होनी चाहिए ।

5. अथा मनो वसुदेवाय कृणुष्व—इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इन्द्रेन्द्र की सरकार का लक्ष्य सदा धरती के लोगों का ऐश्वर्य (वसु) और तदङ्ग सुख-शान्ति की वृद्धि होना चाहिए ।

6. जायाः पुत्रो सुमनसो भवन्तु—इस वाक्य का भाव यह है कि सार्वभौम सम्राट् की सरकार का राज्यप्रबन्ध इतना सुव्यवस्थित हो कि धरती के एक-एक कुटुम्ब के स्त्री-पुरुष और सन्तानें प्रसन्न मन वाले और सुखी होकर रह सकें ।

7. कल्पयाद्विशः—का भाव यह है कि इन्द्रेन्द्र की सरकार को सदैव यह चिन्ता रहनी चाहिए कि उसका मुख्य प्रयोजन धरती की प्रजाओं को जीवन के सब क्षेत्रों में सब प्रकार से समर्थ बनाना है ।

8. पथ्याः—इन्द्रेन्द्र की प्रजाओं के इस विशेषण की यह ध्वनि है कि सार्वभौम सरकार को यह देखते रहना होगा कि धरती के राष्ट्र और उनकी प्रजायें उसके बनाये हुए नियम—मार्ग पर चल रही हैं या नहीं ।

इन्द्रेन्द्र का चुनाव विश्व की समग्र प्रजायें करेंगी

9. 'सर्वास्त्वा राजन्प्रविशो ह्वयन्तु', 'त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रविशः पञ्च देवीः' और 'बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्, तास्त्वा सवाः संविदाना ह्वयन्तु'—इन वाक्यों का स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि सार्वभौम सम्राट्—इन्द्रेन्द्र—के चुनाव में धरती पर रहने वाली सभी प्रकार की प्रजायें मिलकर भाग लेंगी। उसके चुनाव में सारी धरती की प्रजाएँ सीधा और प्रत्यक्ष भाग लेंगी।

10. आ प्र द्रव परमस्याः परावतः—इसका यह भी एक स्पष्ट परिणाम निकलता है कि सार्वभौम सम्राट् किसी भी देश का व्यक्ति चुना जा सकता है।

विश्व के सभी राष्ट्र सार्वभौम सरकार को कर देंगे

11. बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः—इस वाक्य से यह निर्देश मिलता है कि इन्द्रेन्द्र की सार्वभौम सरकार राष्ट्रों के इन्द्रों की सरकारों से अपने राज्यप्रबन्ध को चलाने के लिए यथोचित कर लिया करेगी। बलि शब्द राजनीति शास्त्र के ग्रन्थों में कर के लिए प्रयुक्त होता है इसे प्रत्येक संस्कृतज्ञ जानता है।

इन्द्रेन्द्र की अपनी पुलिस और सेना होगी

(12) सूक्त के चौथे और छठे मन्त्र में वर्णन आता है कि वरुण इन्द्रेन्द्र को राज्य करने के लिए बुलाते हैं। इस वर्णन का तात्पर्य जरा स्पष्टता से समझ लेना चाहिए। वेद में वरुण का एक अर्थ पुलिस विभाग के अधिकारी और कर्मचारी भी होता है। इस सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे। वरुण द्वारा इन्द्रेन्द्र को राज्य करने के लिए बुलाये जाने का एक भाव तो यह है कि पुलिस विभाग के सभी कर्मचारी अपनी सहमति प्रदान करते हैं। इस कथन से यह भी व्यंजित होता है कि राज-कर्मचारियों को भी राजा आदि के चुनाव में अपना व्यक्तिगत मत देने का अधिकार होना चाहिए। इन्द्रेन्द्र को वरुणों द्वारा राज्य करने के लिए बुलाये जाने का दूसरा भाव यह है कि विश्व-राष्ट्र की पुलिस के अधिकारी और कर्मचारी नये इन्द्रेन्द्र को अपने पूर्ण सहयोग का आश्वासन और वचन दे रहे हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट व्यंजना निकलती है कि इन्द्रेन्द्र की सरकार की अपनी स्वतन्त्र पुलिस होनी चाहिए। सूक्त के छठे मन्त्र में और भी स्पष्ट शब्दों में इन्द्रेन्द्र के लिए कहा गया है कि 'सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः' अर्थात् 'हे इन्द्रेन्द्र तुम वरुणों के साथ मिलकर अपने राष्ट्र की अवस्थाओं, परिस्थितियों, कानूनों का ज्ञान प्राप्त करो।' इन्द्रेन्द्र को वरुणों से मिलकर रहने वाला कहना स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि उसका अपना वरुण विभाग है और वह उसके साथ मिलकर उसके सहयोग से अपने विश्वराष्ट्र की भिन्न-भिन्न समयों की विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करता है और स्थिति को संभालता तथा ठीक करता है। इस सबका निष्कृष्टार्थ यह है कि सार्वभौम सम्राट् की सरकार की अपनी पुलिस होनी चाहिए।

सूक्त के चौथे मन्त्र में यह भी वर्णन आता है कि मरुत् लोग भी इन्द्रेन्द्र को राज्य करने के लिए बुलाते हैं। वेद में मरुत् का एक अर्थ सेना के मरने-मारने वाले सैनिक भी होता है। मरुत् शब्द सैनिक का भी वाचक है। इन्द्रेन्द्र को मरुत् राज्य करने के लिए बुलाते हैं, मन्त्र के इस कथन का एक भाव तो यह है कि सेना के सब अधिकारी और कर्मचारी इन्द्रेन्द्र के चुनाव में अपना मत देकर उसे राज्य करने के लिए अपनी सहमति प्रदान करते हैं। मन्त्र के इस कथन से भी यह व्यंजना निकलती है कि राजा आदि के चुनाव में राजकर्मचारियों को भी अपना व्यक्तिगत मत देने का अधिकार होना चाहिए। मरुतों द्वारा इन्द्रेन्द्र को राज्य करने के लिए बुलाने का दूसरा भाव यह है कि विश्व-राष्ट्र की सेनाओं के अधिकारी और सामान्य सैनिक सभी नये इन्द्रेन्द्र को अपना पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन और वचन देते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट व्यंजित होता है कि इन्द्रेन्द्र की सार्वभौम सरकार की अपनी स्वतन्त्र सेना होनी चाहिए। वेद में इन्द्र (सम्राट्) के साथ मरुतों का वेहद वर्णन आता है। इन्द्र के साथ मरुतों के वर्णन के इस प्रचुर आधिक्य के साथ-साथ वेद में इन्द्र को अनेक स्थानों पर 'मरुत्वान्' नाम से भी अभिहित किया गया है। वेद का साधारण रूप से पाठ करने वाला व्यक्ति भी इस बात को जानता है। पौराणिक साहित्य में तो इसी कारण इन्द्र का एक पर्यायवाची ही मरुत्वान् बन गया है। 'मरुत्वान्' का शब्दार्थ होता है 'मरुतों वाला अर्थात् सैनिकों वाला अर्थात् जिसकी अपनी सेनाएँ हों'। जब इन्द्र (सम्राट्) की अपनी सेनाएँ हैं जिनके द्वारा वह अपने राष्ट्र में व्यवस्था रखता है, तब अर्थापत्ति से यह भी स्वयं ही निकल आता है कि इन्द्रेन्द्र (सार्वभौम सम्राट्) की भी अपनी सेनाएँ होनी चाहिए जिससे वह विश्व-राष्ट्र में व्यवस्था रख सके और विश्व के विभिन्न राष्ट्रों से विश्व-सरकार के निर्णयों का पालन करा सके।

विश्व राष्ट्र

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्त में यह उपदेश दिया गया है कि सारे भूमण्डल की आदर्श सुख-प्राप्ति के लिए धरती भर का एक विश्व राज्य होना चाहिए। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में प्रयुक्त राष्ट्र शब्द का अर्थ विश्व-राष्ट्र अर्थात् सार्वभौम राज्य करना चाहिए। इस विश्व-साम्राज्य के प्रधान शासक का नाम 'इन्द्रेन्द्र' अर्थात् सम्राटों का सम्राट् बताया गया है। इन्द्रेन्द्र की सरकार के कर्तव्यों और रचना पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। जैसे इन्द्रों—सम्राटों—की सरकारें माण्डलिक राज्यों में 'मध्यमेष्ठ्य' का कार्यक्रम करती हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्वस्थ रखने का कार्य करती हैं, उसी प्रकार इन्द्रेन्द्र की सरकार इन्द्रों के लिए 'मध्यमेष्ठ्य' का काम करेगी। उनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्वस्थ रखेगी जिससे धरती भर के कुटुम्ब 'सुमनसः'—प्रसन्न और सुखी मन वाले—रह सकें, यह तो स्वयं ही स्पष्ट है। क्योंकि इन्द्रेन्द्र की सार्वभौम सरकार की रचना का एकमात्र उद्देश्य ही यह हो सकता है।

चुनाव आदि के सामान्य नियम इन्द्रेन्द्र पर भी लगेंगे

शेष जो नियम राजाओं या सम्राटों के सम्बन्ध में लगते हैं वे सब 'इन्द्रेन्द्र' के सम्बन्ध में लगेंगे यह हम वेदों के भाव को ध्यान में रखते हुए निःसंकोच कह सकते हैं। अर्थात् चुनाव में ब्राह्मणों की सम्मति का विशेष स्थान रहना, बहुमत से चुना जाना, गृहस्थाश्रम की आयुभर के लिए चुना जाना, अयोग्य और उत्पथगामी होने पर राज्य से द्युत कर दिया जाना आदि पीछे सामान्य राजा के लिए कही गई बातें इन्द्रेन्द्र पर भी लागू होंगी।

आमन्त्रण : सार्वभौम राजसभा

अब यह देखना है कि 'इन्द्रेन्द्र' जिस सभा की सलाह और सहायता से अपने कार्य करेगा उसका नाम और स्वरूप क्या होगा। हम 'राज्य का विकास' प्रकरण में अथर्व० 8.10.1-13 की व्याख्या में देख चुके हैं कि 'सभा' और 'समिति' का विकास होने के पश्चात् 'आमन्त्रण' विकास की अवस्था में आता है। और यहाँ राज्य का पूर्ण विकास हो चुकता है। हम पीछे देख चुके हैं कि सभा और समिति माण्डलिक राज्यों और सम्राटों की सरकारों की नियामक सभाओं की छोटी और बड़ी सभाओं के नाम हैं। तो 'आमन्त्रण' क्या है? हमने देखा है कि सभाओं की दृष्टि से आमन्त्रण विकास की अन्तिम अवस्था है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि राजाओं की दृष्टि से 'इन्द्रेन्द्र' विकास की अन्तिम अवस्था है। चारों वेदों में हमें इन्द्रेन्द्र से ऊँचे और किसी राजा का नाम कहीं नहीं मिलता।¹ स्वयं इन्द्रेन्द्र शब्द ही केवल एक सूक्त में आया है,

¹ महारं इन्द्रो नृवदा चरणिप्रा उत्त द्विवर्हा अमिनः सहोभिः।

अस्मद्रयन्वावृधे वीर्यायोः पृथुः सुकृतः कर्तुंभिर्भूत्।

उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ यजु० 7.39.

महारं इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिर्मारं इव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे।

उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ यजु० 7.40.

महारं इन्द्रो वज्रहस्तः पोडशी शर्म यच्छतु। हन्तु पाप्मानं योऽस्मान्दृष्टि।

उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ यजु० 26.10.

इन मन्त्रों में तथा अथर्ववेद के त्रयोदश काण्ड के चतुर्थ सूक्त के प्रथम पर्याय में सात बार बोहराये गये :

रश्मिभिर्नभ आभूतं महेन्द्र एत्यावृतः

इस मन्त्र में 'महेन्द्र' शब्द आया है।

परन्तु इन मन्त्रों का यह महेन्द्र शब्द 'इन्द्र' से बड़े किसी और सम्राट् का वाचक नहीं है। यजुर्वेद के मन्त्रों में तो यह शब्द गुणाधिक्य के कारण महिमाशाली इन्द्र का ही वाचक है। इन्हीं मन्त्रों में महेन्द्र को विगृहीत करके प्रयुक्त हुए 'महान् इन्द्रः' इन शब्दों से यह बात स्पष्ट है। जो इन्द्र है उसी को यहाँ 'महान्-इन्द्र' या 'महेन्द्र' कहा गया है। यजुर्वेद 7.39-40 मन्त्रों से ऊपर के चार मन्त्रों में 'इन्द्र' का ही वर्णन चल रहा है। वर्ण्यमान उसी इन्द्र को प्रस्तुत मन्त्रों में 'महान् इन्द्र' और 'महेन्द्र' इन शब्दों से कह दिया गया है। इसी प्रकार यजु० 20.10 मन्त्र से ऊपर के यजु० 26.4-5 मन्त्रों में

जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर पर्याप्त लिख चुके हैं। इसी प्रकार आमन्त्रण शब्द भी केवल उपर्युक्त अथर्व ० 8.10 सूक्त में ही आया है। सभा और समिति का राजा और सम्राट् के साथ सम्बन्ध अनेक स्थानों पर आता है जैसा कि हम 'सभा और समिति' प्रकरण में देख चुके हैं। किन्तु कहीं भी 'इन्द्रेन्द्र' का सम्बन्ध सभा और समिति के साथ और 'आमन्त्रण' का सम्बन्ध राजा या सम्राट् (इन्द्र) के साथ नहीं आया। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'आमन्त्रण' का इन्द्रेन्द्र के साथ ही सम्बन्ध है। क्योंकि वेदों में इन्द्रेन्द्र से बड़े राजा और आमन्त्रण से बड़ी किसी राजसभा का वर्णन कहीं नहीं मिलता इसलिए इन्द्रेन्द्र और आमन्त्रण का सम्बन्ध जोड़ना अयुक्त नहीं होगा। क्योंकि बड़ी से बड़ी राजसभा का बड़े से बड़े राजा के साथ ही सम्बन्ध हो सकता है।

आमन्त्रण की रचना

'आमन्त्रण' की रचना किस प्रकार की हो, उसके सदस्य कौन लोग हों, इसका उत्तर हमें स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं मिलता। क्योंकि आमन्त्रण शब्द ही केवल अथर्ववेद के एक सूक्त में आया है। पर इस सम्बन्ध में हम अनुमान से कुछ परिणाम अवश्य निकाल सकते हैं। वेदों की सम्मति में राजकीय मामलों का निर्णय लोकमत के आधार पर ही होना चाहिए यह हम पिछले प्रकरणों में, देखते रहे हैं। आमन्त्रण में क्योंकि विश्व-साम्राज्य के प्रश्नों पर विचार होना है इसलिए उसके सदस्य विश्वभर की प्रजा के प्रतिनिधि होने चाहिए जिससे सारी धरती के लोकमत का प्रदर्शन उसमें हो सके। इन्द्रेन्द्र के चुनाव में भूमण्डल के सभी राष्ट्रों की प्रजाएँ भाग लेती हैं यह हम अभी देख आये हैं। हम यह भी देख आये हैं कि इन्द्रेन्द्र किसी भी देश का व्यक्ति चुना जा सकता है। इससे भी यह अनुमान सहज में हो सकता है कि आमन्त्रण में भी भूमण्डल के सभी देशों को प्रजाओं के प्रतिनिधि सदस्य बनकर आयेंगे। क्योंकि जिस राजा को धरती भर की प्रजाएँ चुनती हैं उसकी राजसभा को भी धरतीभर की प्रजाएँ ही चुनेंगी। 'समिति' के सम्बन्ध में विचार करते हुए 'सभा और समिति' नामक अध्याय में हमने देखा है कि उसमें ब्राह्मणों का विशेष महत्त्व होना चाहिए। वेद राज्य में जिस भावना की रक्षा करना चाहते हैं उसके लिए

तथा इससे ठीक नीचे के 26.11 मन्त्र में सामान्य 'इन्द्र' का ही वर्णन है। इसी वर्ण्यमान इन्द्र को प्रस्तुत मन्त्र में 'महान् इन्द्र' और 'महेन्द्र' इन शब्दों से कह दिया है।

अथर्ववेद के त्रयोदश काण्ड का देवता रोहित है। इसलिये इसके चतुर्थ सूक्त के प्रथम पर्याय का देवता भी रोहित ही है। रोहित का अर्थ इस प्रकरण में प्रायः 'सूर्य' किया जाता है। हमारी सम्मति में उसका मुख्य अर्थ परमात्मा किया जाना चाहिए। इस पर्याय में सात बार बोहराये गये प्रस्तुत मन्त्र का 'महेन्द्र' शब्द महान् ऐश्वर्यशाली 'रोहित' का वाचक है। रोहित का अर्थ सूर्य या परमात्मा कुछ भी हो, परन्तु उसका वाचक 'महेन्द्र' शब्द 'इन्द्र' (सम्राट्) से बड़े किसी और सम्राट् का वाचक नहीं हो सकता।

आवश्यक ही है कि समिति में ब्राह्मणों की प्रधानता रहे। उसी भावना की रक्षा के लिए, हम कह सकते हैं कि, आमन्त्रण में भी ब्राह्मणों की प्रधानता रहनी चाहिए। ऊपर लिखे गये अथर्व० 3.4 सूक्त में इन्द्रेन्द्र को लक्ष्य करके कहा गया है, 'अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाताः' अर्थात् 'सजात सम्राट् लोग बुलाने पर तेरे पास आवें।' इससे यह ध्वनि निकलती है कि इन्द्रेन्द्र की नियामक सभा आमन्त्रण के सदस्य विभिन्न राष्ट्रों के सम्राट् लोग भी हो सकेंगे जोकि समय-समय पर आमन्त्रण के आवश्यक अधिवेशनों में भाग लेने के लिए बुलाये जाने पर वहाँ उपस्थित होकर भूमण्डलोपयोगी विचार-विनिमय में सम्मिलित हो सकेंगे।

आमन्त्रण में विश्व भर की शान्ति और सुख-समृद्धि पर विचार होगा

ऊपर अथर्व० 3.4 की व्याख्या करते हुए इन्द्रेन्द्र के जो कर्तव्य बताये गये हैं वही सब आमन्त्रण के भी होंगे, क्योंकि इन्द्रेन्द्र को उसके कर्तव्यों में सहायता देने के लिए ही तो आमन्त्रण की रचना हुई है। अर्थात् विश्वभर की शान्ति और सुख-समृद्धि को आमन्त्रण में सोचा जायेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद सारे भूमण्डल पर एक महान् 'राज्यसंघ' या 'राज्यमध्यस्थ राज्य' स्थापित करना चाहते हैं। विश्व के राष्ट्रों में पारस्परिक शान्ति और समन्वय की स्थापना हेतु—नहीं, समग्र मनुष्य जाति के कुटुम्बों की सुख-समृद्धि को लक्ष्य में रखकर विश्वभर का शासन चलाने के हेतु—जिस शक्ति की आवश्यकता है वह जिस परिमाण में वैदिक 'इन्द्रेन्द्र' और 'आमन्त्रण' के आस-पास होगी उसका शतांश भी आजकल की पाश्चात्य राजनीति की उपज 'युनाइटेड नेशन्स औरगैनिजेशन' (United Nations Organisation) अर्थात् 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' में नहीं है। क्योंकि, जैसाकि हम ऊपर अथ० 3.4 की व्याख्या में देख चुके हैं, इन्द्रेन्द्र को भूमण्डल के सभी राष्ट्रों की प्रजायें सीधा चुनेंगी, उसके पास सम्राटों (इन्द्रों) की तरह ही सब प्रकार के राजकीय विभाग होंगे, सेनायें (मरुतः) और पुलिस (वरुणाः) होंगी। अर्थात् भूमण्डल के राष्ट्रों से अपनी आज्ञाओं को मनवाने की पूरी साधन-सामग्री उसके पास होगी। उसके जो कर्तव्य बताये गये हैं वे भी यह निर्देश करते हैं कि उसके पास राष्ट्रों के संचालन में आवश्यक होने पर हस्तक्षेप करने का अधिकार और शक्ति होनी चाहिए। नहीं तो वह अपने इतने भारी उत्तरदायित्व को पूरा ही नहीं कर सकता। उसके 'आमन्त्रण' के सदस्य भी, जैसाकि हमने ऊपर परिणाम निकाला है, धरती के सभी राष्ट्रों की प्रजाओं के प्रतिनिधि होंगे और इसीलिये आमन्त्रण के पास अधिकार बहुत अधिक होंगे। आजकल की 'यूनाइटेड नेशन्स' में ये बातें नहीं हैं। और इसीलिये उसके पास शक्ति और अधिकार भी कुछ नहीं हैं।

ऋषि दयानन्द और सार्वभौम राजसभा

ऋषि दयानन्द ने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के षष्ठ समुत्प्लास में

राजनीति का उपदेश देते हुए निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं—

‘इसलिये राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हों। जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है उसका सुख सदा बढ़ता है। इसलिये दो, तीन, पाँच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज्यस्थान रखे जिसमें यथायोग्य मृत्यु अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे। एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे, उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ-ग्रामों के ऊपर चौथा, और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पाँचवा पुरुष रखे, अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना, और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पाँच थानों पर एक तहसील और दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया है। यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है। इसी प्रकार प्रबन्ध करे और आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो दोष उत्पन्न हों उन-उन को गुप्तता से दस ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दस ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दस ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति जना देवे। और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधिपति को नित्य प्रति निवेदन करे, वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें और बीस-बीस ग्राम के पाँच अधिपति सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को और लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करें। और वे सब राजसभा महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें।’

ऋषि दयानन्द ने राजसभाओं अर्थात् विभिन्न राष्ट्रों के राज्यों के ऊपर एक सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज-सभा अर्थात् विश्व साम्राज्य की जो यह कल्पना की है उसका आधार यही अथर्ववेद का उपर्युक्त इन्द्रेन्द्र सूक्त (अथर्व० 3.4) और अथर्व० 8.10.12 में आया ‘आमन्त्रण’ शब्द प्रतीत होते हैं। क्योंकि मनुस्मृति के श्लोकों में, जिनके आधार पर ऋषि उपदेश देते रहे हैं, सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा का कोई वर्णन नहीं है। वेद के इन प्रकरणों में की गई सार्वभौम राज्य की कल्पना को ही ऋषि ने, मनु की शिक्षाओं को अधिक पल्लवित करते हुए, अपने शब्दों में कहा प्रतीत होता है। ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में ये पंक्तियाँ आज से 100 वर्ष पहले लिखी थीं जबकि आधुनिक राजनीतिज्ञों ने ‘लीग ऑफ नेशन्स’ अर्थात् राष्ट्र-संघ और ‘युनाइटेड नेशन्स’ अर्थात् संयुक्त राष्ट्र-संघ का स्वप्न भी लेना प्रारम्भ नहीं किया था। इसलिए ऋषि का यह सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज-सभा का विचार वर्तमान राजनीति से उधार लिया हुआ तो हो नहीं सकता। यह या तो वेद के इन प्रकरणों से लिया गया है या उनकी अपनी उद्भट प्रतिभा की स्वतंत्र उपज है। कुछ भी हो, वेद में शक्ति-सम्पन्न सार्वभौम राज्य की कल्पना अवश्य की गई है।

आमन्त्रण शब्द की एक महत्त्वपूर्ण व्यंजना

वेद में सार्वभौम राजसभा के लिए, विश्व-राष्ट्र की राज सभा के लिए, जो आमन्त्रण नाम का प्रयोग किया गया है उसकी अपनी एक विशिष्ट व्यंजना है, उसका अपना एक विशेष अभिप्राय है जब कभी विश्व-राष्ट्र और उसकी विश्व-राजसभा कभी बनेगी तो वह किस प्रकार बनेगी इस सम्बन्ध में यह आमन्त्रण शब्द बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचना देता है। आमन्त्रण शब्द का एक अति प्रसिद्ध अर्थ किसी को निमंत्रित करके बुलाना होता है। जब विश्व-राजसभा कभी सत्ता में आयेगी तो उसकी प्रक्रिया यह होगी कि पहले किसी भी राष्ट्र के कुछ विचारशील लोगों के मन में यह विचार उत्पन्न होगा कि समग्र मानव जाति के समग्र कल्याण के लिए संपूर्ण भूमण्डल का एक विश्व-राष्ट्र बनना चाहिए। दूरदर्शी विचारशील लोगों का यह विचार फैलते-फैलते कालान्तर में बहुत लोगों का विचार बन जायेगा। होते-होते यह विचार किसी एक या एकाधिक राष्ट्रों के लोगों को विशेष रूप से प्रभावित करने लगेगा। फिर इन राष्ट्रों के लोग अपनी सरकारों पर दबाव डालकर उन्हें प्रेरित करेंगे कि वे विश्व-राष्ट्रों के निर्माण के लिए प्रयत्न करें और अपनी ओर से इसके लिये पहल करें। जनमत से प्रभावित ये सरकारें धरती के विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों को आमंत्रित करेंगी कि वे अपने-अपने राष्ट्र के प्रतिनिधियों को एक निश्चित स्थान पर भेजें ताकि विश्व-राष्ट्र के निर्माण के सम्बन्ध में विचार किया जा सके और उसे सत्ता में लाने के लिए कोई कार्य-पद्धति या स्कीम बनाई जा सके। विभिन्न राष्ट्रों के आमंत्रित इन प्रतिनिधियों की यह विचार-सभा विश्व-राष्ट्र के निर्माण के लिए एक संविधान बनायेगी और विश्व-राष्ट्र की सदस्यता के लिए एक नियमावली तैयार करेगी। इस संविधान और नियमावली के आधार पर पहले कुछ प्रमुख राष्ट्र एक संगठन में संगठित हो जायेंगे जोकि अन्य राष्ट्रों को संगठन के सूत्र में बाँधने के लिए केन्द्र का काम करेगा। धरती के सभी राष्ट्रों को इस संगठन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया जायेगा। इस विश्व-संगठन की उपयोगिता को अनुभव करके विभिन्न राष्ट्र इसमें स्वेच्छा से सम्मिलित होंगे। विश्व-संगठन या विश्व-राष्ट्र की उपयोगिता को अनुभव करते हुए इसमें सम्मिलित होने वाले राष्ट्र इस विश्व-संगठन को शक्ति-शाली और कार्य करने में समर्थ बनाने के लिए अपने कुछ विशेष अधिकार इस संगठन को सौंप देंगे। यह सब कुछ परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् स्वेच्छा से किया जायेगा।

यह सारी व्यंजना वेद में विश्व-राष्ट्र की राजसभा के लिए प्रयुक्त इस 'आमन्त्रण' नाम से निकलती है। क्योंकि विश्व के राष्ट्रों को इसमें सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित करके बुलाया जायेगा इसलिए वेद में विश्व-राजसभा को 'आमन्त्रण' नाम दिया गया है।

18

देवमाला : मन्त्रिमण्डल

1. इन्द्र : सम्राट्

सम्राट् निर्वाचित शासनाध्यक्ष

वेद वंशानुक्रमिक एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजत्व को स्वीकार नहीं करता । वेद की सम्मति में राजा या सम्राट् प्रजाओं द्वारा चुना हुआ होना चाहिए । पीछे चौथे और बारहवें अध्यायों में इस सम्बन्ध में वेद की क्या स्थिति है यह हम भली-भाँति देख चुके हैं । राज्य के प्रजा द्वारा चुने हुए प्रमुख शासनाध्यक्ष के लिए जैसे आजकल राष्ट्रपति शब्द का प्रयोग होता है उसी प्रकार वेद में राज्य के प्रजा द्वारा निर्वाचित प्रमुख शासक के लिए राजा और सम्राट् शब्दों का प्रयोग होता है । विगत काल में राजा, नृपति, प्रजापति और सम्राट् आदि शब्दों का प्रयोग वंशानुक्रमिक, एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी प्रमुख शासक के लिए होता रहा है । इससे वेद में प्रयुक्त इन शब्दों के सम्बन्ध में किसी को इस प्रकार की भ्रांति नहीं होनी चाहिए । वेद में ये शब्द प्रजाओं द्वारा निर्वाचित राष्ट्र के प्रमुख शासनाध्यक्ष के वाचक हैं । पाठकों को यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए ।

सम्राट् की सहायता और उस पर नियन्त्रण रखने के लिए सभा और समिति

राजा पर प्रजा का नियन्त्रण और अंकुश रखने के लिए, शासन के विभिन्न कार्यों के सम्बन्ध में समय-समय पर राजा को प्रजा की सम्मति और विचार बताते रहने के लिए तथा प्रजा की सम्मति और विचारों के अनुसार विभिन्न विषयों पर विधि (कानून) बनाकर राज्य-प्रशासन के संचालन में राजा को सहायता देने के लिए राष्ट्रों की अपनी संसद् (पार्लियामेण्ट) भी होनी चाहिए, वेद का ऐसा भी स्पष्ट निर्देश है । इस सम्बन्ध में भी वेद की स्थिति को पीछे चतुर्दश अध्याय में भली-भाँति स्पष्ट किया जा चुका है । वहाँ हमने देखा है कि वेद के अनुसार राष्ट्र की संसद् के सभा और समिति नामक दो सदन होंगे ।

सभा और समिति द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार राजा या सम्राट् राज्य का संचालन करेगा। राष्ट्र-कल्याण के लिए प्रशासन को राज्य में विविध प्रकार के कार्य करने होंगे और इसके लिए प्रशासन में अनेक विभागों की स्थापना करनी पड़ेगी। यह बात तो स्वतः स्पष्ट और स्वयं सिद्ध ही है। राज्य के इन सब विभागों के सम्यक् संचालन का अन्तिम उत्तरदायित्व राजा या सम्राट् पर ही होगा।

सम्राट् को अपनी सहायता के लिए मंत्रियों की आवश्यकता

किसी भी राजा या सम्राट् में इतना अप्रतिम ज्ञान और इतनी असीम शक्ति नहीं हो सकती और न ही उसके पास इतना समय ही हो सकता है कि वह राज्य के सारे विभागों का भली-भाँति संचालन बिना किसी दूसरे की सहायता के अकेला ही कर सके। यह बात भी स्वतः स्पष्ट है। आसान से देखने वाले साधारण छोटे-छोटे कामों को भी कोई व्यक्ति दूसरों की सहायता के बिना अकेला नहीं कर सकता। राज्य-संचालन जैसे अत्यन्त महान् और विराट् कार्य को तो कोई व्यक्ति दूसरों की सहायता के बिना अकेला ही कर सकेगा इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। मनु ने अपने धर्मशास्त्र में ठीक ही कहा है कि 'जो सुगम काम होता है वह भी बिना सहायता के अकेले व्यक्ति द्वारा अच्छी तरह नहीं किया जा सकता, फिर राज्य संचालन जैसा महान् कार्य तो जिसके द्वारा प्रजाजनों का उदय अर्थात् भाँति-भाँति की उन्नति करनी होती है, अकेले कैसे किया जा सकता है।' ¹ इसलिए राज्य के विभिन्न विभागों के रोज-रोज के दैनिक संचालन को सुचारु रूप से करने के लिए सम्राट् को अपने साथ अनेक सहायक रखने होंगे। ये सहायक सम्राट् के निरीक्षण में और उसके अधीन रहते हुए अपने-अपने विभागों के सब प्रकार के कार्यों को ठीक प्रकार से कराने के लिए उत्तरदायी विभागाध्यक्ष होंगे। प्रचलित भाषा में सम्राट् के इन सहायकों को मंत्री, अमात्य और सचिव आदि नामों से पुकारा जाता है।

मंत्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में वेद का संकेत

राज्य-संचालन के दुष्कर कार्य में सम्राट् को सहायता देने के लिए उसके सहायक या मंत्री भी होने चाहिए। इस सम्बन्ध में भी वेद से पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। वेद की इन्द्र, अग्नि, विष्णु, वरुण, मित्र, अश्विनी, पूषा, वृहस्पति, सोम, त्वष्टा और रुद्र आदि देवताओं की देवमाला पर बारीकी से दृष्टिपात करने पर वेद स्पष्ट रूप में इस प्रकार के निर्देश देता हुआ प्रतीत होता है। इस देवमाला को ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि इसमें से इन्द्र तो सम्राट् है और अग्नि, वरुण, सोम, आदि उसके सहकारी विभागाध्यक्ष या मंत्री हैं। इस अध्याय में हम इसी सम्बन्ध में विचार करेंगे।

¹ अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।

विशेषतोऽसहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥ मनु० 7.55.

इन्द्र : सम्राट्

पछि हमने देखा है कि अधिराष्ट्र या राजनीति सम्बन्धी अर्थों में वेद के इन्द्र का अर्थ सम्राट् होता है। वेद के अनेक स्थलों में इन्द्र का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षाएँ दृष्टिगत होने लगती हैं। वेद में स्थान-स्थान पर अग्नि, सोम, वरुण, मित्र, पूषा आदि देवों¹ का इन्द्र के सहचारी के रूप में वर्णन हुआ है। इसलिए अधिराष्ट्र अर्थ में अग्नि, वरुण आदि को इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी राजपुरुष समझना होगा। यह बात केवल इन्द्र के साथ इन देवों के सहचार से अर्थापत्ति से ही नहीं निकलती, प्रत्युत वेद में इन देवों के अनेक ऐसे स्पष्ट वर्णन भी उपलब्ध होते हैं जिनसे ये देव असंदिग्ध रूप में राजपुरुष प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, कुछ स्थानों पर तो उन देवों के लिए वेद में राजा शब्द का भी प्रयोग हुआ है और राजा के वाचक कुछ अन्य शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जैसा कि इस अध्याय में हम आगे देखेंगे। यही नहीं इनमें से कुछ देवों के लिए तो 'सम्राट्' शब्द तक का प्रयोग भी वेद में हुआ है।

अग्नि आदि अन्य देवों के लिए भी वेद में सम्राट् शब्द का प्रयोग

वेद में इन्द्र को तो सम्राट् कहा ही गया है। इन्द्र के लिए वेदों में 14 (चौदह) बार सम्राट् शब्द का प्रयोग किया गया है।² परन्तु कुछ अन्य देवों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। अग्नि को 9 (नौ) बार सम्राट् कहा गया है। मित्रावरुणी को 11 (ग्यारह) बार सम्राट् कहा गया है। अकेले वरुण को 6 (छः) बार सम्राट् कहा गया है। बृहस्पति को 1 (एक) बार सम्राट् कहा गया है और विश्वेदेवाः को 4 (चार) बार सम्राट् (समाजः) कहा गया है। विश्वेदेवाः में इन्द्र, अग्नि, पूषा, वरुण, वायु आदि प्रायः सभी वेद में स्थान-स्थान पर वर्णित प्रधान देवता आ जाते हैं। इसलिए चार बार तो प्रायः सभी देवों के लिए सम्राट् शब्द का प्रयोग वेद में कर दिया गया है ऐसा समझना चाहिए।

फिर इन्द्र ही सम्राट् क्यों ?

इन ऊपर की पंक्तियों को पढ़कर पाठकों के मन में तत्काल एक प्रश्न उठेगा कि अभी तो ऊपर हमने कहा था कि वेद इन्द्र को सम्राट् कहता है और अभी इन पंक्तियों में कह दिया कि अग्नि आदि सभी देवों के लिए वेद में सम्राट् शब्द का

¹ देव या देवता शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। वेद के किसी मन्त्र या सूक्त का जो वर्णनीय विषय होता है वह उस मन्त्र या सूक्त का देवता कहा जाता है। 'या तेनोच्यते सा देवता'। ऋक्सर्वानुक्रमणी। 2.5। तेन = मन्त्रेण।

² उदाहरण के लिए देखो—इन्द्र सम्राट्, ऋग्० 8.16.1, 8.46.20, 10.116.7; अग्नि सम्राट्, ऋग्० 7.6.1, 3.10.1, 6.7.1; मित्रावरुणी सम्राजौ, ऋग्० 1.136.1, 2.41.6, 5.68.2; वरुण सम्राट्, ऋग्० 5.15.1; 6.68.9; बृहस्पति सम्राट्, अथर्व० 4.1.5; विश्वेदेवाः सम्राजः, ऋग्० 10.63.5, 8.27.2।

प्रयोग किया गया है। पाठक यह भी कहेंगे पीछे तो हम बड़े विस्तार से दिखा कर आये हैं कि अधिराष्ट्र अर्थ में अग्नि का अर्थ भी सम्राट् होता है, फिर हम यह कैसे कहते हैं कि इन्द्र तो सम्राट् है और अग्नि आदि उसके सहचारी और सहायक मंत्री लोग हैं ? जब सभी देवों के लिए सम्राट् शब्द का प्रयोग वेद में किया गया है तो इन्द्र को ही सम्राट् क्यों माना जाये ? अग्नि आदि में से किसी अन्य देव को सम्राट् क्यों न माना जाये ? या फिर सभी देवों को सम्राट् क्यों न माना जाये ? जब सभी देवों के लिए वेद में सम्राट् शब्द का प्रयोग किया गया है तो फिर इन्द्र या किसी अन्य एक देव को सम्राट् मानकर शेष देवों को उसके सहचारी और सहायक राजपुरुष या मंत्री मानना यह कल्पना ही जड़ से गिर जाती है। इस प्रश्न का क्या समाधान है ?

इन्द्र ही वस्तुतः सम्राट्

इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें यहाँ कुछ थोड़ा-सा विस्तार से लिखना होगा। पहले तो हम इस प्रश्न पर लिखेंगे कि इन्द्र ही वस्तुतः सम्राट् क्यों है ? और फिर हम इस प्रश्न को लेंगे कि अन्य देवों के लिए भी सम्राट् शब्द का प्रयोग वेद में क्यों किया गया है ? पहले लीजिए इस प्रश्न को कि इन्द्र ही वस्तुतः सम्राट् क्यों है ?

इन्द्र वेद का सबसे मुख्य और प्रधान देवता है। चारों वेदों में इन्द्र देवता के मन्त्रों की संख्या 3363 (तीन हजार तीन सौ तिरेसठ) है। इन मन्त्रों में मुख्य रूप से इन्द्र का ही वर्णन हुआ है और उसी से प्रार्थनायें की गई हैं। इन मन्त्रों में से कुछ मन्त्रों में कहीं-कहीं अन्य देवताओं का भी प्रसंग से वर्णन आ जाता है। अग्नि देवता के मन्त्रों की संख्या चारों वेदों में 2491 (दो हजार चार सौ इक्यानवे) है। इन मन्त्रों में प्रधान रूप से अग्नि का ही वर्णन हुआ है और उसी से प्रार्थनायें की गई हैं। इन मन्त्रों में से कुछ मन्त्रों में भी प्रसंग से कहीं-कहीं अन्य देवताओं का भी वर्णन आ जाता है। इसी प्रकार सोम देवता के 1261 (बारह सौ इकसठ) मन्त्र, अश्विनी देवता के 689 (छः सौ नवासी) मन्त्र, मरुत् देवता के 464 (चार सौ चौसठ) मन्त्र, रुद्र देवता के 227 (दो सौ सत्ताईस) मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में प्रधान रूप से उस-उस देवता का वर्णन हुआ है और उससे प्रार्थनायें की गई हैं। इनके मन्त्रों में से भी कुछ मन्त्रों में प्रसंग से अन्य देवताओं का भी वर्णन आ जाता है। अदिति और आदित्य देवता के 1137 (एक हजार एक सौ सैंतीस) मन्त्र तथा विश्वेदेवाः देवता के 2314 (दो हजार तीन सौ चौदह) मन्त्र हैं। आदित्य और विश्वेदेवाः नाम से वर्णित देवता में इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, पूषा, सविता, सूर्य, वायु, और अर्यमा आदि सभी देवता आ जाते हैं।

अब, मन्त्र-संख्या की दृष्टि से इन्द्र वेद का सबसे बड़ा और प्रधान देवता ठहरता है। अन्य देवताओं की तुलना में उसी की प्रमुखता है। सब देवों में प्रमुख

होने के कारण इन्द्र को ही सम्राट् मानना होगा । यदि सम्राट् शब्द को ही लें तो भी इन्द्र के लिए ही सबसे अधिक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है । इन्द्र के लिए वेद में 14 बार सम्राट् शब्द का प्रयोग हुआ है । सबसे अधिक बार सम्राट् शब्द का प्रयोग इन्द्र के लिए होने के कारण भी हमें इन्द्र को ही मुख्यतः सम्राट् स्वीकार करना होगा । परन्तु हम केवल इन दो हेतुओं के बल पर ही इन्द्र को सम्राट् अर्थात् अन्य छोटे माण्डलिक राजाओं के ऊपर विराजमान प्रधान शासनाध्यक्ष नहीं कह रहे हैं । इसके लिए हमारे पास और भी प्रबल प्रमाण हैं । वेद में 6 स्थानों पर सभी देवों के लिये 'इन्द्र-ज्येष्ठाः'¹ विशेषण का प्रयोग आया है । इस विशेषण द्वारा यह कहा गया है कि देव ऐसे हैं जिनमें इन्द्र ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा है । देवों का यह विशेषण भी स्पष्ट संकेत देता है कि देवों में सबसे बड़ा होने के कारण इन्द्र ही मुख्यतः सम्राट् है । दो बार वेद में इन्द्र को 'ज्येष्ठराज'² कहा गया है । इस शब्द का अर्थ होता है सबसे बड़ा राजा । इन्द्र के इस विशेषण से स्पष्ट ही वह सम्राट् सिद्ध हो जाता है । यह विशेषण और किसी देवता के लिए नहीं आया है । केवल ब्रह्मणस्पति³ के लिए यह विशेषण एक बार प्रयुक्त हुआ है । परन्तु वहाँ ब्रह्मणस्पति को ब्राह्मणों का ज्येष्ठराज कहा गया है । इतना ही नहीं, इन्द्र के लिए वेद में 3 स्थानों पर 'अधिराज'⁴ शब्द का प्रयोग भी किया गया है । अधिराज शब्द का अर्थ होता है अन्य राजाओं के ऊपर रहकर उन पर शासन करने वाला राजा । इन्द्र के इस विशेषण से भी यह स्पष्ट द्योतित होता है कि इन्द्र ही वस्तुतः सम्राट् है । अथर्व० 19.46.4 में तो इन्द्र को 'देवानामधिराजः' अर्थात् 'देवों का अधिराज' यह विशेषण भी दिया गया है । इन्द्र के इस विशेषण से भी यह प्रकट होता है कि इन्द्र अग्नि आदि सभी देवों से ऊपर है और उनका अधिराज है, उनके ऊपर रहकर उन पर शासन करने वाला है । इससे भी यह द्योतित होता है कि इन्द्र ही वस्तुतः सम्राट् है । अन्य किसी देवता के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । अथर्व० 6.98.1 मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र 'अधिराजो राजसु राजपाते' अर्थात् 'इन्द्र अधिराज होकर राजाओं में चमकता है', अर्थात् अन्य राजाओं का अधिराज होकर उन पर शासन करता है । यह मन्त्र भी स्पष्ट कह रहा है कि इन्द्र अन्य राजाओं पर शासन करने वाला सम्राट् है । ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र के लिए कहा गया है कि—

एकराजस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।

ऋग्० 8.37.3.

¹ उदाहरण के लिए देखो—इन्द्रज्येष्ठा अस्मां अवन्तु देवाः । ऋग्० 8.63.12; इन्द्रज्येष्ठा उग्रतो यक्षि देवान् । ऋग्० 10.70.4; इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः (देवाः) । ऋग्० 10.66.1 ।

² ज्येष्ठराजं भरे कृत्स्नम् (इन्द्रम्) । ऋग्० 8.16.3; अथर्व० 20.44.3 ।

³ ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत । ऋग्० 2.23.1 ।

⁴ उदाहरण के लिए देखो—अथर्व० 19.46.4, 6.98.1-2,

अर्थात्—वाणी, कर्म और प्रजा के स्वामी (शचीयते)¹ इन्द्र तुम इस लोक के (भुवनस्य) एकमात्र राजा (एकराट्) होकर अपनी सब प्रकार की रक्षाओं के द्वारा चमक रहे हो (राजसि) अर्थात् राजारूप में शासन कर रहे हो ।

इस मन्त्र में इन्द्र को लोक का अर्थात् राष्ट्ररूप जगत् का एकमात्र राजा (एकराट्) कहा गया है । राष्ट्र का एकमात्र राजा उसका सम्राट् ही तो होगा । इस मन्त्र से भी इन्द्र का ही मुख्यतः सम्राट् होना स्पष्ट द्योतित होता है । यह विशेषण भी किसी अन्य देवता के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

अथर्ववेद का निम्न मन्त्र भी इस प्रसंग में देखने योग्य है—

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहन्त्रुहोसि ।

यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥

अथर्व० 6.98.3.

अर्थात्—हे इन्द्र तुम पूर्व दिशा के राजा हो, हे सब विघ्न-बाधाओं को मारने वाले इन्द्र (वृत्रहन्) तुम उत्तर दिशा के शत्रुओं को मारने वाले हो, जहाँ नदियाँ आती हैं उस स्थान अर्थात् समुद्र को भी तुमने जीत रखा है, हे कल्याणों की वर्षा करने वाले (वृषभ) और संकट के समय बुलाने योग्य (हव्यः) तुम दक्षिण दिशा में भी जाते हो अर्थात् वहाँ भी तुम्हारा शासन है ।

इस मन्त्र में इन्द्र को सब दिशाओं और समुद्र का राजा कहा गया है । ऐसे विस्तृत क्षेत्र का राजा स्पष्ट ही सम्राट् होगा । इन्द्र के इस वर्णन से भी वह सम्राट् है ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है । किसी अन्य देवता का इस प्रकार का वर्णन वेद में नहीं आता । इस मन्त्र से ऊपर के दो मन्त्रों में इन्द्र को अधिराज कहा गया है । उसी अधिराज के अधिराजत्व का इस मंत्र में वर्णन है ।

अनेक स्थानों पर अग्नि आदि देवों के लिए 'इन्द्रवन्तः' इस विशेषण का प्रयोग हुआ है । उदाहरण के लिए निम्न मंत्र देखिए—

1. ते वाजो बिम्बाँ ऋभुरिन्द्रवन्तः । ऋग्० 4.33.3.
2. मध्वः पात रतनघा इन्द्रवन्तः । ऋग्० 4.34.6.
3. आ रुद्रास इन्द्रवन्तः । ऋग्० 5.57.1.
4. इन्द्रवन्तो अग्नयः । ऋग्० 10.35.1.
5. मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः । ऋग्० 10.128.2.,
अथ० 5.3.3.
6. निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता । ऋग्० 1.116.21.

इन मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र में ऋभुओं को 'इन्द्रवन्तः' कहा गया है । दूसरे मन्त्र में भी ऋभुओं को ही 'इन्द्रवन्तः' कहा गया है । तीसरे मंत्र में रुद्र और मरुतों को

¹ शची वाङ्नाम । निघं० 1.11. शची कर्मनाम । निघं० 2.1. शची प्रज्ञानाम निघं० 3.9 ।

‘इन्द्रवन्तः’ कहा गया है। चौथे मन्त्र में अग्नियों को ‘इन्द्रवन्तः’ कहा गया है। पाँचवे मन्त्र में ‘विश्वेदेवाः’ अर्थात् सभी देवों को ‘इन्द्रवन्तः’ कहा गया है तथा मरुत्, विष्णु और अग्नि का विशेष उल्लेख है। छठे मन्त्र में अश्विनो को ‘इन्द्रवन्तो’ कहा गया है।

‘इन्द्रवन्तः’ शब्द व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार इन्द्र शब्द से ‘मत्पु’ प्रत्यय होकर बनता है। यह प्रत्यय सम्बन्ध को बताता करता है। ‘इन्द्रवन्तः’ का शब्दार्थ होगा ‘इन्द्रवाले’ अर्थात् जिनके साथ इन्द्र का सम्बन्ध है। इन्द्र के साथ देवों का सम्बन्ध किस रूप में होगा ? ऊपर विवेचना में हमने देखा है कि इन्द्र को ‘देवानामधिराजः’ (अथ० 19.46.4) अर्थात् देवों का अधिराज कहा गया है। इन्द्र अधिराज है और देव उसके अधीन रहकर उसके शासन में चलने वाले हैं। अग्नि, विष्णु, मरुत्, रुद्र, ऋभु और अन्य सभी देवों को ‘इन्द्रवन्तः’, इन्द्र वाले, इन्द्र से सम्बन्ध रखने वाले कहा गया है। इसलिए इन्द्र सभी देवों का अधिराज है, सभी देव इन्द्र के अधीन रहकर उसके शासन में कार्य करते हैं। देवों के इस ‘इन्द्रवन्तः’ विशेषण से भी यह निःसंदिग्ध ध्वनि निकलती है कि इन्द्र ही वस्तुतः सम्राट् है।

ऋग्वेद में इन्द्र का एक विशेषण—‘सर्वसेनः’ (ऋग्० 1.33.3; 5.30.3.) आता है। ‘सर्वसेन’ का शब्दार्थ होता है—‘सब सेनाएँ हैं जिसकी’ अर्थात्—जो राष्ट्र की सारी सेनाओं का अधिपति है, जिसके अधीन राष्ट्र की सभी सेनाएँ रहती हैं। इन्द्र का यह विशेषण भी स्पष्ट सूचित करता है कि इन्द्र ही वस्तुतः सम्राट् है। राष्ट्र की सब सेनाएँ सम्राट् के ही अधीन रहा करती हैं, वही राष्ट्र का सर्वोच्च सेनापति भी होता है। राष्ट्र की सेनाएँ अन्ततः उसी के प्रति उत्तरदायी होती हैं। यदि ऐसा न हो तो वह राष्ट्र पर शासन ही नहीं कर सकेगा। वास्तव में शासन तो अन्ततोगत्वा सेनाओं के बल पर ही होता है। जिसके अधीन सेनाएँ हैं राज्य तो उसी का है। जो ‘सर्वसेनः’ है, सम्राट् तो वही है। इन्द्र का यह विशेषण उसे असंदिग्ध रूप में सम्राट् सिद्ध करता है।

इन्द्र का यह विशेषण वेद में अन्य किसी देवता के साथ प्रयुक्त नहीं हुआ है। केवल एक स्थान पर ऋग्वेद 6.68.2 में यह विशेषण वरुण के साथ भी प्रयुक्त हुआ है। परन्तु वहाँ भी यह विशेषण वरुण के साथ द्वन्द्व समास में समस्त होकर आया है। वहाँ यह विशेषण वरुण का नहीं है, इन्द्र और वरुण (इन्द्रावरुणो) का है। वहाँ इन्द्र की प्रधानता है और वरुण गौण है। इन्द्र के कारण ही इन्द्र की स्वीकृति और आज्ञा से ही, वरुण को सेना और उसकी सहायता प्राप्त हो सकेगी। वरुण किस राज्याधिकारी को कहा गया है इसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

इस प्रसंग में वेद का एक और मन्त्र भी देखने योग्य है। ऋग्वेद में इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवः ।

ऋग्० 5.30.5.

अर्थात्—‘इन्द्र से सभी देव डरते हैं।’ सब देव इन्द्र के अधीन राज्य के विभिन्न विभागों के प्रमुख राज्याधिकारी हैं, वे इन्द्र के प्रति उत्तरदायी हैं और उसी के निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण में रहकर कार्य करते हैं। अपना-अपना कार्य ठीक से न करने पर इन्द्र की ओर से उन्हें स्थिति के अनुसार समय-समय पर मृदु या तीव्र झाड़-फटकार और ताड़ना मिलती है। इसलिए वे इन्द्र से डरते हैं। इन्द्र से देवों का डरना यह असंदिग्ध रूप में सिद्ध करता है कि अन्य देव इन्द्र के अधीन हैं और इन्द्र उनका शासक है। सब देवों में प्रधान और उनका नियन्ता शासक होने के कारण इन्द्र ही सम्राट् ठहरता है। अभी ऊपर हम देख ही चुके हैं कि वेद में इन्द्र को ‘देवों का अधिराज’ भी कहा गया है।

इस प्रकार ऊपर उद्धृत इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि वेद के अधिराष्ट्र या राजनीतिक अर्थों में इन्द्र को ही वस्तुतः सम्राट् समझना चाहिए।

अन्य देवों के साथ सम्राट् शब्द का गौण प्रयोग

अब प्रश्न रह जाता है कि यदि इन्द्र ही वस्तुतः सम्राट् है तो फिर वेद में अग्नि, वरुण आदि देवों को जो कई स्थानों पर सम्राट् कहा गया है उसका क्या अभिप्राय है? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा यह कहना है कि अग्नि आदि अन्य देवों के साथ जो सम्राट् शब्द का प्रयोग हुआ है वह लाक्षणिक या गौण प्रयोग है। अग्नि आदि देव अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी और सहायक, विभिन्न विभागों के प्रमुख अध्यक्ष या मन्त्री होंगे। ये लोग इन्द्र के ही प्रतिनिधि और एक दृष्टि से उसका ही रूप होंगे। इस दृष्टि से इन्हें भी गौण रूप में सम्राट् कह दिया गया है। सभी विभागाध्यक्ष सम्राट् का ही रूप तो होते हैं।

देवों का एकरूपत्व

वेद में स्थान-स्थान पर देवों को एकरूप में वर्णित किया गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का प्रथम सूक्त देखा जा सकता है। इस सूक्त का देवता अग्नि है। इसमें अग्नि को ‘नृपति’ अर्थात् राजा कहकर उसे इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, त्वष्टा, रुद्र, मरुत्, पूषा, सविता और ऋभु आदि नामों से अभिहित किया गया है। ये नाम वेद के विभिन्न देवताओं के नाम हैं। अग्नि के अन्य सूक्तों में भी उसे दूसरे देवताओं के विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार इन्द्र के सूक्तों में भी उसे सूर्य, रुद्र, ऋभु, सोम, विष्णु, अग्नि, सविता, बृहस्पति, मित्र, त्वष्टा, वरुण और विश्वकर्मा आदि अन्य विभिन्न देवताओं के नामों से भी सम्बोधित किया गया है। वेद का प्रत्येक गम्भीर स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति इस तथ्य से परिचित है। इसलिए विस्तार-भय से हम यहाँ इस विषयक मंत्रों को उद्धृत करना आवश्यक नहीं समझते। ऋग्वेद के 1.164.46 और यजुर्वेद के

32.1 मन्त्रों की ओर यहाँ पाठकों का ध्यान आकृष्ट हम अवश्य कर देना चाहते हैं। दोनों मन्त्र इस प्रकार हैं—

1. इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋग्० 1.164.46.

2. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ यजु० 32.1.

इन दोनों मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ तो अति प्रसिद्ध है। प्रथम मंत्र का अर्थ है कि 'उसी एक ब्रह्म को ज्ञानी लोग (विप्राः) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा आदि नामों से कहते हैं।' दूसरे मन्त्र का अर्थ है कि 'उसी ब्रह्म का नाम अग्नि है, उसी का नाम आदित्य है, उसी का नाम वायु है, उसी का नाम चन्द्रमा है, उसी का नाम शुक्र है, उसी का नाम आपः है और उसी का नाम प्रजापति है।' मन्त्रों का यह आध्यात्मिक अर्थ तो है ही, परन्तु वेद के अधिराष्ट्र या राजनीतिक अर्थों में भी ये दोनों मन्त्र बड़ी अच्छी तरह संगत हो जायेंगे। तब इन मन्त्रों का भाव यह होगा कि इन्द्र, वरुण, अग्नि, आदित्य, वायु और प्रजापति आदि सब नाम उसी एक महान् राजत्व या सम्राट् के हैं। अग्नि और इन्द्र शब्द राजा या सम्राट् के भी वाचक हैं। प्रजापति शब्द तो राजा के अर्थ में सुप्रसिद्ध ही है। इन मन्त्रों में आये अन्य शब्दों का अर्थ राजापरक भी बड़ा सुन्दर हो सकता है। यहाँ इस विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

अन्य सब देव सम्राट् (इन्द्र) के सहायक होकर सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में, सम्राट् का ही कार्य करते हैं इसलिए एक दृष्टि से वे सभी सम्राट् ही हैं। और इस दृष्टि से सभी देव सम्राट् के रूप में एकरूप हो जाते हैं। इन सब देवों के अपने-अपने कार्यों को मिलाकर समग्र दृष्टि एकरूप में देखने पर ही सम्राट् के कार्यों का सम्पूर्ण और समग्र रूप सामने आता है। एक प्रकार से सभी देवों के मिलने से सम्राट् के समग्र रूप का निर्माण होता है। प्रत्येक देव सम्राट् के एक-एक रूप या पहलू का प्रतिनिधित्व करता है। सब मिलकर सम्राट् के सभी रूपों या पहलुओं का निर्माण करते हैं। सब देवों को एकत्र समष्टि रूप में देखने पर ही सम्राट् का सही और समग्र रूप प्रकट होता है। सम्राट् के समग्र रूप के एक-एक अंश का प्रतिनिधित्व करने के कारण सभी देव एक दृष्टि से अपने-अपने स्वरूप में सम्राट् ही हैं। इस दृष्टि से सभी देव सम्राट् रूप में एकरूप हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से वेद में सभी देवों के साथ सम्राट् शब्द का प्रयोग कर दिया गया है और सभी को एकरूप भी कह दिया गया है। विभिन्न देवों के स्वरूप से चोतित होने वाले सम्राट् के सभी विभिन्न रूप एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं, इसलिए सभी देव एक प्रकार से एकरूप ही हो जाते हैं।

देवों के सामान्य वर्णनों में राजनीति का सामान्य वर्णन

देवों की इस एकरूपता और उनके लिए वेद में प्रयुक्त सम्राट् शब्द तथा राजा और नृपति आदि राजा के वाचक अन्य शब्दों को ध्यान में रखकर यदि हम वेद का स्वाध्याय करें तो हमें इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवों के वर्णनों से भी राजनीति सम्बन्धी अनेक बहुमूल्य शिक्षायें प्राप्त होने लगती हैं। तब सभी देवों के वर्णन सामान्य रूप से राजा के कर्तव्यों का उपदेश देने लगते हैं और राजनीति शास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले बन जाते हैं। हमने इस ग्रन्थ में वेद की राजनीति के विभिन्न पहलुओं का जो वर्णन किया है उसमें इन्द्र के वर्णनों से निकलने वाले निष्कर्षों का तो उपयोग किया ही गया है, अग्नि के वर्णनों से निकलने वाले निष्कर्षों से भी बहुत उपयोग लिया गया है। स्थान-स्थान पर अन्य वरुण, रुद्र, मरुत् और सोम आदि देवों के वर्णनों से निकलने वाले निष्कर्षों से भी काफी सहायता ली गई है। यों, सभी देवों के वर्णनों से राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी पर्याप्त निष्कर्ष निकलते हैं।

देवों का अपना-अपना विशेष स्वरूप

अग्नि आदि सब देव सामान्येन सम्राट् के गुण-धर्मों का वर्णन करने के साथ-साथ अपने-अपने विशिष्ट गुण-धर्मों का वर्णन भी कर जाते हैं। इन देवों के कुछ ऐसे विशेषण भी आते हैं जो उन्हीं के साथ प्रयुक्त हुए हैं, किसी और देव के साथ प्रयुक्त नहीं हुए हैं। या अधिकांश में उन्हीं के साथ प्रयुक्त हुए हैं, दूसरे देवों के साथ बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। अग्नि आदि देवों के लिए वेद में प्रयुक्त उनके इन विशिष्ट विशेषणों से उनके अपने विशिष्ट स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है और उनका यह विशिष्ट स्वरूप उनके द्वारा राज्य में किये जाने वाले विशिष्ट कार्यों की सूचना देता है। दूसरे शब्दों में उनका यह विशिष्ट स्वरूप राज्य में उनके द्वारा संचालित विभागों की ओर संकेत करता है।

देव इन्द्र (सम्राट्) के सहकारी

अपने इस विशिष्ट स्वरूप में ये अग्नि आदि देव इन्द्र (सम्राट्) के सहायक के रूप में राज्य के उस-उस विशिष्ट विभाग का संचालन करने वाले प्रमुख राज-पुरुष बन जाते हैं। आज की प्रचलित भाषा में सम्राट् के सहायक इन प्रमुख राज-पुरुषों को मंत्री और अमात्य आदि नामों से कहा जाता है। ये अग्नि आदि देव इन्द्र (सम्राट्) के सहायक प्रमुख राज-पुरुष हैं। इसकी सूचना हमें इन्द्र और इन अग्नि आदि के वेद-गत वर्णनों से स्पष्ट रूप में मिल जाती है।

वेद में अनेक स्थानों पर अग्नि आदि कुछ प्रमुख देवों का इन्द्र के साथ द्वन्द्व समास में समस्त होकर वर्णन हुआ है। इन्द्र का अग्नि के साथ 'इन्द्राग्नि' इस रूप

में द्वन्द्व समास में समस्त वर्णन वेद में 155 स्थानों पर हुआ है। ऋग्वेद में 84 बार, यजुर्वेद में 23 बार, अथर्ववेद में 25 बार और सामवेद में 23 बार। इन्द्र का वरुण के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्रावरुणौ' इस रूप में वर्णन 48 स्थानों पर हुआ है, ऋग्वेद में 44 बार, यजुर्वेद में 2 बार और अथर्ववेद में 2 बार। इन्द्र का वायु के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्रावायु' इस रूप में वर्णन 28 बार हुआ है, ऋग्वेद में 22 बार, यजुर्वेद में 5 बार और अथर्ववेद में 1 बार। इन्द्र का विष्णु के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्राविष्णु' इस रूप में वर्णन 14 बार हुआ है, ऋग्वेद में 13 बार और यजुर्वेद में 1 बार। इन्द्र का सोम के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्रासोमौ' इस रूप में वर्णन 16 बार हुआ है, ऋग्वेद में 13 बार, यजुर्वेद में 1 बार और अथर्ववेद में 2 बार। इन्द्र का बृहस्पति के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्राबृहस्पति' इस रूप में वर्णन 8 बार हुआ है, ऋग्वेद में 6 बार और यजुर्वेद में 2 बार। इन्द्र के साथ ब्रह्मणस्पति का द्वन्द्व समास में 'इन्द्राब्रह्मणस्पति' इस रूप में वर्णन 1 बार ऋग्वेद में आया है। इन्द्र का पूषा के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्रापूषणौ' इस रूप में वर्णन 6 बार आया है, 2 बार ऋग्वेद में, 2 बार यजुर्वेद में और 2 बार अथर्ववेद में। इन्द्र का पर्वत के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्रापर्वतौ' इस रूप में वर्णन 5 बार आया है, 3 बार ऋग्वेद में, 1 बार यजुर्वेद में और 1 बार सामवेद में। इन्द्र के साथ 'मरुतः' का द्वन्द्व समास में 'इन्द्रामरुतः' इस रूप में वर्णन 1 बार ऋग्वेद में आया है। और इन्द्र का कुत्स के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्राकुत्सौ' इस रूप में वर्णन 1 बार ऋग्वेद में आया है।

अग्नि आदि का इन्द्र के साथ यह द्वन्द्व समास में वर्णन जहाँ एक ओर यह प्रदर्शित कर देता है कि ये अग्नि आदि देव इन्द्र से भिन्न अपनी पृथक् सत्ता भी रखते हैं, वहाँ इनके इस वर्णन से यह भी प्रकट हो जाता है कि ये देव इन्द्र के साथ मिलकर उसके सहकारी होकर कार्य करते हैं।

इसी प्रकार कई स्थानों पर कुछ देवताओं के नामों के साथ सम्बन्ध सूचक 'मतुप्' प्रत्यय लगाकर जो रूप बनते हैं उन्हें इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त करके इन्द्र का वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिए कई जगह इन्द्र को 'ऋभुमान्' (ऋग्० 3.52.6) कहा गया है। कई जगह उसे 'पूषण्वान्' (ऋग्० 3.52.7) कहा गया है। कई जगह उसे 'मरुत्वान्' (ऋग्० 1.90.4) कहा गया है। कई जगह उसे 'रुद्रवान्' (यजु० 6.32) कहा गया है। और एक स्थान पर उसे 'त्वष्टमान्' (ऋग्० 6.53.11) कहा गया है। इन्द्र के इन विशेषणों का क्रम से अर्थ ऋभुवाला, पूषावाला, मरुतोंवाला, रुद्रवाला और त्वष्टावाला ऐसा होता है। इन्द्र के इन विशेषणों का यह भाव है कि इन्द्र का ऋभु आदि इन देवों के साथ समीप का और घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा वह इन देवों की सहायता और सहयोग से विभिन्न प्रकार के कार्य कराता है। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये देव इन्द्र (सम्राट्) के सहयोगी और सहकारी हैं।

कहीं-कहीं इन्द्र को किसी देव का पति अर्थात् अधिपति या स्वामी कहकर

भी उसका वर्णन किया गया है। इन्द्र को कई स्थानों पर 'सोमपति' (ऋग्० 3.32.1) कहा गया है। एक स्थान पर इन्द्र को 'मित्रपति' (ऋग्० 1.170.5) कहा गया है। इन्द्र के इन विशेषणों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि इन्द्र सोम और मित्र नामक देवों का पति अर्थात् अधिपति या स्वामी है, ये देव इन्द्र के अधीन रहकर कार्य करते हैं और इस प्रकार ये देव इन्द्र के सहचारी और सहकारी हैं।

जिन देवों का इन्द्र के साथ द्वन्द्व समास में वर्णन नहीं हुआ है अथवा जिनके नामों के सम्बन्ध-सूचक 'मनुप्' प्रत्ययान्त रूप इन्द्र के विशेषण बनकर प्रयुक्त नहीं हुए हैं तथा इन्द्र को जिनका पति अर्थात् अधिपति या स्वामी नहीं कहा गया है वे देव भी इन्द्र के सहचारी, सहयोगी और सहकारी हैं। इन्द्र के वर्णनों में इन देवों का भी अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है, इनके इन्द्र के साथ वर्णनों से ये देव भी इन्द्र के सहचारी और सहकारी ही बन जाते हैं। जिन देवों का इन्द्र के साथ द्वन्द्व समास में वर्णन हुआ है, या जिनके सम्बन्ध-सूचक मनुप्-प्रत्ययान्त नाम इन्द्र के विशेषण होकर आये हैं अथवा इन्द्र को जिनका पति अर्थात् स्वामी कहा गया है, उन देवों के द्वन्द्व समास आदि के बिना भी इन्द्र के साथ स्थान-स्थान पर वर्णन पाये जाते हैं। उनके इन्द्र के वर्णनों में पाये जाने वाले ये वर्णन भी उन्हें इन्द्र के सहचारी और सहकारी ही सिद्ध करते हैं। सभी देवों का इस प्रकार इन्द्र के सहचारी के रूप वर्णन यह स्पष्ट कर देता कि ये देव इन्द्र के सहकारी और सहयोगी हैं।

इन्द्र के सहचारी, सहयोगी और सहकारी इन देवों में से कुछ प्रमुख देवों का अपना विशिष्ट स्वरूप क्या है और ये राज्य में क्या-क्या विशिष्ट कार्य करते हैं इस सम्बन्ध में हम अगले पृष्ठों में विचार करेंगे।

प्रजातन्त्र की राष्ट्रपतीय पद्धति

वेद का स्वाध्याय करते हुए राजा या सम्राट् के सम्बन्ध में हमारा एक विशेष बात की ओर ध्यान जाता है। उसकी ओर संकेत करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। हम चाहे वेद के इन्द्र (सम्राट्) विषयक प्रकरणों को देखें और चाहे वेद में पाये जाने वाले राजा-विषयक सामान्य प्रकरणों को देखें, वहाँ एक बात और स्पष्ट दीखती है। वह यह कि वेद का राजा या सम्राट् केवल कागजों पर हस्ताक्षर कर देने वाला राष्ट्राध्यक्ष नहीं है। जैसे कि आजकल के भारत आदि कई प्रजातन्त्र देशों के राष्ट्रपति और इंग्लैण्ड आदि कई प्रजातन्त्र देशों के राजा लोग केवल कागजों पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्राध्यक्ष होते हैं। वेद का सम्राट् राष्ट्र का स्वयं संचालन करने वाला राष्ट्राध्यक्ष है। वह बहुत अधिक क्रियाशील सम्राट् है। वह राज्य की प्रत्येक बात में गहरी रुचि लेता है। वह राज्य की प्रत्येक बात को अपने अवधान में होती हुई देखना चाहता है। वह राष्ट्र की हरेक बात का अन्तिम उत्तरदाता स्वयं है। वह राज्य के प्रत्येक विभाग पर अपना सीधा निरीक्षण रखता है और अपने सीधे निरीक्षण में उसका संचालन करवाता है। वेद में राजा को ही राज्य के प्रत्येक

कार्य को करने वाला बताया गया है और प्रत्येक कार्य के लिए वेद में राजा से ही प्रार्थना की जाती है और उसे ही प्रत्येक बात के लिए संबोधन किया जाता है। वेद में राजा की स्थिति आजकल के विकसित प्रजातन्त्र राज्यों के प्रधानमंत्रियों जैसी उत्तरदायित्वपूर्ण है। वेद का राजा राष्ट्र की संसद् (पार्लियामेण्ट) के सभा और समिति नामक दोनों सदनों के अधिवेशनों में भाग लेता है। उनके सदस्यों से परामर्श माँगता है, उनके विचार सुनता है, अपने विचार उन्हें बताता है, और इस प्रकार संसद् में भली-भाँति विचार-विमर्श हो जाने के पश्चात् जो निर्णय बनते हैं उनके अनुसार वह कार्य करता है। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद का 7.12 सूक्त, ऋग्वेद का 9.92.6 मन्त्र, ऋग्वेद का 10.97.6 मन्त्र, यजुर्वेद का 12.80 मन्त्र और अथर्ववेद का 19.55.5 मन्त्र देखे जा सकते हैं। हमने पीछे 'सभा और समिति का कार्य' और 'सभा और समिति के अधिवेशनों में राजा भी उपस्थित रहेगा' नामक प्रकरणों में वेद के इन स्थलों पर विस्तार से विचार किया है। पाठक उन प्रकरणों को एक बार पुनः देख लें। वेद के इन और अन्य सभी राजनीति सम्बन्धी प्रकरणों को देखने पर यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वेद का राजा या सम्राट् एक ऐसा राष्ट्राध्यक्ष है जो राज्यकार्य का स्वयं संचालन करता है। वह राष्ट्राध्यक्ष और शासनाध्यक्ष दोनों है। वेद का सम्राट् आजकल के अमेरिका आदि प्रजातन्त्र देशों के राष्ट्रपतियों की तरह का एक ऐसा शासक है जो राष्ट्राध्यक्ष भी है और शासनाध्यक्ष भी है। वेद प्रजातन्त्रीय राज्य-प्रणाली को स्वीकार करते हैं यह तो पाठक इस ग्रन्थ में देखते ही आ रहे हैं। प्रशासन में सम्राट् की स्थिति के सम्बन्ध में ऊपर की पंक्तियों में हमने जो कुछ लिखा है उसके आधार पर आजकल की प्रचलित भाषा में कहना हो तो हम कह सकते हैं कि वेद प्रजातन्त्र की राष्ट्रपतीय पद्धति (Presidential Form of Democracy) का अनुसरण करते हैं।

इन्द्र शब्द की निरुक्ति की संगति

वेद में इन्द्र का सम्राट् के रूप में जो वर्णन हुआ है उसके साथ इन्द्र शब्द के धात्वर्थ या निरुक्ति की भी बड़ी सुन्दर संगति हो जाती है। इन्द्र शब्द को संस्कृत की 'इदि' धातु से निष्पन्न किया जाता है जिसका अर्थ 'परमैश्वर्यवान् होना' होता है। 'इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इति इन्द्रः', अर्थात् 'जो परमैश्वर्यवान् हो वह इन्द्र है।' परमैश्वर्य का अर्थ होता है परम अर्थात् सबसे उत्कृष्ट, सबसे अधिक, ऐश्वर्य। इन्द्र परम ईश्वर है, उसके पास परम अर्थात् सबसे अधिक ऐश्वर्य है। इन्द्र (सम्राट्) राष्ट्र का सर्वोच्च प्रशासक होने के कारण उसका ईश्वर है। और राष्ट्र उसका ऐश्वर्य है। प्रजाजनों ने उसे राष्ट्र का अध्यक्ष चुनकर उसे राष्ट्र का ईश्वर बना दिया है। और राष्ट्र को उसका ऐश्वर्य बना दिया है। राष्ट्र की समग्र शक्ति, उसकी जनता, उसकी सेनाएँ, उसकी भौतिक सम्पत्ति, उसका सभी कुछ, अब इन्द्र का ऐश्वर्य हो गया है। इस ऐश्वर्य का ईश्वर हो जाने के कारण अब राष्ट्र में कोई भी उसकी

गरिमा और महिमा की तुलना नहीं कर सकता। इस ऐश्वर्य के कारण वह अब सबका वन्दनीय बन गया है। अब सब प्रजाजन उसके शासनादेशों को आदर के साथ मानते हैं। इस प्रकार इन्द्र के सम्राट् अर्थ में इस शब्द की निरुक्ति भी भली-भाँति चरितार्थ हो जाती है।

2. अग्नि : द्रुत विभाग का मन्त्री

अग्नि आदि देवताओं के वेद में अनेक अर्थ

हमने पीछे किये गये वर्णन में अग्नि का सामान्य अर्थ सम्राट् किया है। अपने मत की स्थापना में हमने वहाँ वेद के यथेष्ट प्रमाण उद्धृत किये हैं। अग्नि का सम्राट् अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें दृष्टिगोचर होने लगती हैं। अग्नि का सामान्य अर्थ सम्राट् लेकर अग्नि देवता के सूक्तों और मन्त्रों से राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध में क्या-क्या शिक्षायें प्राप्त होती हैं यह हम इस ग्रन्थ में निरन्तर देखते आ रहे हैं। अग्नि का अर्थ वेद में केवल सम्राट् या राजा ही नहीं होता है। परमात्मा से लेकर हमारे चूल्हों में जलने वाली आग तक क्षेत्र-भेद से अग्नि के वेद में अनेक अर्थ होते हैं। अग्नि के सम्बन्ध में ही यह बात नहीं है। वेद के इन्द्र, वरुण, सोम, मरुत् और रुद्र आदि अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। इन सभी देवताओं के क्षेत्र-भेद से परमात्मा और अन्य अनेक अर्थ होते हैं। वेद में विभिन्न स्थानों पर इन देवताओं के विभिन्न विशेषण और वर्णन आये हैं। इन विभिन्न विशेषणों और वर्णनों से इन देवताओं के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश पड़ता है। देवताओं के इन विभिन्न विशेषणों और वर्णनों के आधार पर उनके विभिन्न रूपों का निर्धारण होता है। और देवताओं के इन विभिन्न वर्णनों से निकलने वाले निष्कर्षों से वेद में वर्णित विविध विद्या-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार वेद अनेक विद्या-विज्ञानों का उपदेश देने वाले निराले ग्रन्थ बन जाते हैं। इसीलिए भारतीय आर्य विचारक, आचार्य और ऋषि-मुनि वेदों को सदा से विविध विद्या-विज्ञानों के ग्रन्थ मानते आये हैं।¹

वेद में अग्नि आदि इन देवताओं के ऐसे विशेषण और वर्णन भी स्थान-स्थान पर आते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि इनका एकरूप सम्राट् या राजा का भी है। इनका यह सम्राट् या राजा का रूप ध्यान में रखने पर वेद में आये इनके वर्णनों से अधिराष्ट्र या राजनीति सम्बन्धी बड़ी महत्त्वपूर्ण शिक्षायें उपलब्ध होने लगती हैं। इस ग्रन्थ में हमने वेद की इन्हीं राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी शिक्षाओं का दिग्दर्शन कराया है।

अग्नि का अपना विशिष्ट स्वरूप

अग्नि का सामान्य अर्थ सम्राट् या राजा होता है यह तो हम देखते ही आ

रहे हैं। परन्तु अग्नि के वर्णनों को ध्यानपूर्वक देखने पर हमें उसका एक विशिष्ट अधिराष्ट्र अर्थ भी दृष्टिगोचर होता है। अग्नि के कुछ ऐसे विशेषण और वर्णन भी आते हैं जो प्रधानतः उसी के हैं, किसी दूसरे देवता के उस प्रकार के वर्णन प्रायः नहीं हैं। अग्नि के इस प्रकार के विशिष्ट वर्णनों से उसके विशिष्ट अधिराष्ट्र रूप पर प्रकाश पड़ता है।

अग्नि दूत कार्य करता है

अग्नि देवता के सूक्तों और मन्त्रों को पढ़ते हुए अग्नि के एक विशेषण की ओर पाठक का ध्यान जाता है। वेद में स्थान-स्थान पर अग्नि को 'दूत' कहा गया है। वेद में कोई 70 स्थानों पर अग्नि को 'दूत' कहा गया है। यह विशेषण बार-बार अग्नि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। केवल एक स्थान पर ऋग्० 7.91.2 में यह विशेषण इन्द्र और वायु (इन्द्रवायु) के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र और वायु के लिए इसका प्रयोग गौण समझना चाहिए। प्रधान रूप में इसका प्रयोग अग्नि के लिए ही हुआ है। समग्र संस्कृत साहित्य में 'दूत' शब्द का अर्थ 'संदेशहर' अर्थात् संदेश ले जाने वाला होता है। अग्नि के इस विशेषण से यह सूचित होता है कि अग्नि का काम दूत का कार्य करना है, संदेशों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना है।

कई स्थानों पर अग्नि के लिए और भी अधिक स्पष्ट रूप में कहा गया है कि वह दूत का कार्य करता है। कोई 14 स्थानों पर अग्नि के लिए वेद में—

- | | |
|-------------------------|---------------|
| 1. अग्ने यासि दूत्यम् । | ऋग्० 1.12.4. |
| 2. दूत्यानि विद्वान् । | ऋग्० 4.7.8. |
| 3. दूत्यं चिकित्वाँ । | ऋग्० 4.8.4. |
| 4. चरति दूत्यम् । | ऋग्० 8.39.1. |
| 5. महि दूत्यं चरन् । | ऋग्० 10.70.3. |

इस प्रकार के वर्णन आते हैं। इन वाक्यों का क्रम से यह भाव है कि (1) हे अग्नि तुम दूत का कार्य करने जाते हो, (2) अग्नि दूत के कार्यों का विद्वान् है, (3) अग्नि दूत के कार्यों को जानने वाला है, (4) अग्नि दूत के कार्य को करता है, (5) अग्नि दूत के महान् कार्य को करने वाला है। इन और ऐसे ही अन्य वाक्यों में दूत-कर्म के लिए 'दूत्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार वेद के इन स्थानों में स्पष्ट ही अग्नि का काम 'दूत्य' अर्थात् दूत का कार्य करना बताया गया है। किसी अन्य देवता के लिए वेद में इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग नहीं हुआ है, 'दूत्य' अर्थात् दूत्य का कार्य करना किसी अन्य देवता का काम कहीं नहीं बताया गया है।

अग्नि के लिए बार-बार किया गया 'दूत' विशेषण का प्रयोग तथा उसके

लिए बार-बार यह कहना कि वह 'दूत' अर्थात् दूत का कार्य करता है, असंदिग्ध रूप में यह निर्धारित कर देते हैं कि अधिराष्ट्र अर्थ में अग्नि का विशिष्ट रूप दूत का है।

हव्य शब्द का अर्थ

अग्नि के लिए कितने ही स्थानों पर वेद में 'हव्यवाद्' (ऋग्० 1.12.3) और 'हव्य-वाहन' (ऋग्० 1.36.10) इन दो विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है। इन दोनों विशेषणों का प्रयोग मिलाकर कोई 25 बार हुआ है। ये दोनों शब्द 'हव्य' और 'वह्' धातु से मिलकर बने हैं। 'वह्' धातु का अर्थ 'प्रापण' अर्थात् 'उठाकर ले जाना, प्राप्त कराना' होता है। दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। जो 'हव्य' को कहीं ले जाये, प्राप्त करायें वह 'हव्यवाद्' या 'हव्य-वाहन' कहा जायेगा। अग्नि 'हव्य' को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है और पहुँचाता है। इसलिए वह 'हव्यवाद्' और 'हव्य-वाहन' है। प्रश्न होगा कि अग्नि जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता और पहुँचाता है वह 'हव्य' क्या है? याज्ञिक अर्थ में 'हव्य' का अर्थ यज्ञकुण्ड की अग्नि में आहुति दी जाने वाली घृत-सामग्री आदि की हवि होता है। सायण आदि भाष्यकार 'हव्यवाद्' और 'हव्य-वाहन' शब्दों में आये 'हव्य' शब्द का यही अर्थ करते हैं। उनके अनुसार क्योंकि अग्नि-देव यज्ञों में इन्द्र आदि देवों के निमित्त आहुत 'हव्य' को उन देवों तक पहुँचा देता है इसलिए वह 'हव्यवाद्' और 'हव्य-वाहन' है। सायण आदि भाष्यकारों की यह मान्यता कोरी कल्पना है। न तो अग्नि और इन्द्र आदि पौराणिक देवताओं की कोई सत्ता है, न ही उस स्वर्ग की कोई सत्ता है, जहाँ ये काल्पनिक पौराणिक देवता निवास करते हैं और न ही यहाँ यज्ञ में दी गई आहुतियाँ जोकि जलकर राख हो जाती हैं उन देवताओं तक कभी पहुँच ही सकती हैं। वेद में इस प्रकार की अनर्गल कल्पना का कोई स्थान नहीं है। पौराणिक संस्कारों से भरे हुए भाष्यकारों ने इस प्रकार की बातें वेद पर थोप दी हैं और उसका रूप बिगाड़कर रख दिया है। कुछ भी हो, अग्नि के अधिराष्ट्र अर्थ में 'हव्य' का सायण आदि का किया हुआ यह याज्ञिक अर्थ संगत नहीं हो सकता।

'हव्य' शब्द संस्कृत की दो धातुओं से निष्पन्न होता है। एक धातु है 'ह्वेज्' जिसका अर्थ स्पर्धा करना और शब्द करना होता है। 'शब्द करना' अर्थ का तात्पर्य बोलना-बुलाना होता है। 'हूयते, शब्दयते, उच्चार्यते अथवा आकार्यते इति हव्यम्' अर्थात् जो बोला जाये, उच्चारण किया जाये अथवा जिसे बुलाया जाये वह 'हव्य' कहलायेगा। हमारे मुख से निकलने वाले शब्द और वाक्य बोले जाते और उच्चारण किये जाते हैं। हम जो बोलेंगे या किसी को जो संदेश देंगे वह 'हव्य' कहलायेगा। अग्नि 'हव्यवाद्' और 'हव्य-वाहन' है, वह 'हव्य' को अर्थात् संदेश-वचन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। अपने सम्राट् के संदेश को अन्य राजाओं तक पहुँचाता है और उनके उत्तर या संदेश को अन्य सम्राट् तक पहुँचाता है। इसलिए वह 'हव्यवाद्' और 'हव्यवाहन' है।

दूसरी धातु जिससे 'हव्य' शब्द की निष्पत्ति होती है वह है 'हु'। इस धातु के 'दाग, अदन, आदान और तर्पण' ये चार अर्थ होते हैं। सायण आदि पौराणिक भाष्यकार 'दान' का अर्थ यज्ञाग्नि में आहुति देना करते हैं तथा 'अदन' का अर्थ देवताओं द्वारा आहुतियों का भक्षण करते हैं। क्योंकि आहुतियाँ यज्ञाग्नि में छोड़ी जाती हैं और देवता उनका भक्षण करते हैं इसलिए ये आहुतियाँ 'हव्य' कही जाती हैं। अभी ऊपर की पंक्तियों में हमने देखा है कि इस प्रकार के काल्पनिक देवताओं की सत्ता ही कहीं नहीं है। इसलिए सायणादि द्वारा किया गया 'हव्य' का यह अर्थ सही नहीं है। यदि धातु के 'दान' अर्थ को ध्यान में रखा जाये तो 'हव्य' का सीधा अर्थ होगा 'जो दिया जाये'। और 'आदान' अर्थात् 'लेना' इस अर्थ को ध्यान में रखा जाये तो 'हव्य' का सीधा अर्थ होगा, 'जो लिया जाये'। जो दिया जाये और लिया जाये वह 'हव्य' होगा। राजाओं के संदेश दिये भी जाते हैं और लिये भी जाते हैं। इसलिए उन्हें भी 'हव्य' कह सकते हैं। 'ह्वेज्' और 'हु' इन दोनों धातुओं के अर्थ को समुदित अर्थात् इकट्ठा ध्यान में रखकर देखने पर 'हव्य' का अर्थ होगा राजाओं द्वारा दिया और लिया जाने वाला संदेश-वचन। इस 'हव्य' को अग्नि ले जाता और लाता है। इसीलिए वह 'हव्यवाट्' और 'हव्य-वाहन' है। अग्नि के ये दोनों विशेषण और किसी देवता के साथ प्रयुक्त नहीं हुए हैं। केवल एक बार ऋग् ० 10.119.13 मन्त्र में इन्द्र के लिए 'हव्य-वाहन' विशेषण का प्रयोग हुआ है। वहाँ इन्द्र को देवों के लिए हव्य का वहन करने वाला कहा गया है। श्री सायण ने तो वहाँ इन्द्र को अग्नि का ही रूप कहकर अपने ढंग की याज्ञिक व्याख्या कर दी है। वहाँ इन्द्र का अर्थ इन्द्र ही लेने पर उसके लिए 'हव्यवाहन' विशेषण की एक तो यह व्याख्या की जा सकती है कि इन्द्र (सम्राट्) अग्नि के द्वारा अपने संदेश दूसरे राजाओं के पास पहुँचाता है। दूसरी व्याख्या यह की जा सकती है कि इन्द्र राज्य के सब देवों अर्थात् (सम्राट्) अधिकारियों और कर्मचारियों को 'हव्य' अर्थात् खाद्य-सामग्री पहुँचाने की व्यवस्था करता है। भाव यह है कि सब राज-कर्मचारियों को समुचित वेतनादि देने की व्यवस्था सम्राट् करता है जिससे कर्मचारी लोग अपने लिए खाद्य आदि उपभोग की सामग्री को उपलब्ध कर सकें। इस प्रकार अग्नि के बार-बार प्रयुक्त होने वाले इन दोनों विशेषणों से भी यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि अग्नि दूत का कार्य करता है।

इसी प्रसंग में ऋग्वेद के निम्न तीन मन्त्र-खण्ड भी देखने योग्य हैं—

1. ओ षू णो अग्ने शृणुहि त्वमीळितो देवेभ्यो ब्रवसि यज्ञियेभ्यो राजभ्यो यज्ञियेभ्यः ।

ऋग् ० 1.139.7.

2. त्वामग्न आदित्यास आस्यं१ त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे ।

ऋग् ० 2.1.13.

१ 'हु' धातु का एक अर्थ 'अदन' अर्थात् भक्षण करना भी होता है। धातु के इस अर्थ में 'हव्य' का अर्थ खाद्य-सामग्री भी हो जायेगा।

3. देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतं प्रतनमिन्धते ।

ऋग्वेद 1.36.4.

इन तीनों मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) हे अग्नि तुम हमारी बात भली-भाँति सुनो, हे प्रशंसनीय (ईळितः) तुम राष्ट्र-यज्ञ को चलाने वाले (यज्ञियेभ्यः) और राजा का प्रतिनिधि होकर राज्य का प्रशासन चलाने वाले (राजभ्यः) राज्याधिकारियों को (देवेभ्यः) हमारे समाचार बताते हो (ब्रवसि) । (2) हे गहरे ज्ञानी (कवे) अग्नि शुद्ध-पवित्र जीवन वाले (शुचयः) और अपने गुणों से आदित्य की तरह चमकने वाले इन्द्र आदि राज्याधिकारियों ने तुम्हें अपना मुख (आस्यम) और जिह्वा बनाया है । (3) हे अग्नि तुझ पुराने (प्रतन) दूत को वरुण, मित्र और अर्यमा देव दीप्तिमान् करते हैं ।

प्रथम मन्त्र में प्रजाजन अग्नि से कह रहे हैं कि हे अग्नि तुम हमारे समाचारों को राज्याधिकारियों को बताया करते हो इसलिए हमारी बातों को अच्छी तरह ध्यान से सुनो जिससे तुम हमारी बातों को ठीक-ठीक राज्याधिकारियों तक पहुँचा सको । अग्नि प्रजाओं के समाचारों को उच्च राज्याधिकारियों को बताता है, अग्नि के इस वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि वह दूत का कार्य करता है । दूत का कार्य यही होता है कि किसी के समाचारों और बातों को किसी दूसरे तक पहुँचाना । यहाँ वह प्रजाजनों की बातों को राज्याधिकारियों तक पहुँचा रहा है । अग्नि दूत के रूप में राज्य के संदेशों और आदेशों को प्रजाओं तक और प्रजाओं की प्रतिक्रियाओं और बातों को राज्य-शासन तक पहुँचाने का काम भी करता है । इस सम्बन्ध में हम अभी आगे कुछ और अधिक विस्तार से देखेंगे । दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि अग्नि, इन्द्र आदि उच्च राज्याधिकारियों का मुख और जिह्वा है, जिसका भाव यह है कि ये राज्याधिकारी अपनी बातों को दूसरे राष्ट्रों के उच्च राज्याधिकारियों तक तथा अपने राष्ट्र की प्रजाओं तक अग्नि के द्वारा पहुँचाते हैं । तीसरे मन्त्र में अग्नि को पुराना (प्रतन) दूत कहा है । और कहा है कि वरुण, मित्र और अर्यमा तथा इनसे उपलक्षित अन्य देव उसे अपना दूत बनाते हैं और उसे दीप्तिमान् करते हैं (इन्धते) । वरुण आदि किन राज्याधिकारियों का नाम है इस पर हम अभी आगे विचार करेंगे । इस मन्त्र से भी स्पष्ट है कि अग्नि राज्याधिकारियों के लिए दूत का कार्य करता है । मन्त्र में अग्नि को प्रतन दूत कहा गया है । प्रतन शब्द का प्रसिद्ध अर्थ पुराना होता है । इस अर्थ में भाव यह होगा कि राज्य में दूत विभाग पुरा काल से ही, सदा से ही, चला आ रहा होता है । राज्य को सदा ही इस विभाग की आवश्यकता रहती है । इसके बिना राज्य का काम नहीं चल सकता । प्रतन¹ शब्द का दूसरा अर्थ विस्तार करने वाला भी हो सकता है । इस अर्थ में भाव यह होगा कि दूत अपने सम्राट् के

¹ प्रतनः शब्द पुराणं वर्तमानात् प्रशब्दात् 'नश्च पुराणे प्रात्' (अ० 5.4.25) इति वार्तिकेन तत्प्रत्ययं कृत्वा प्रायेण निष्पाद्यते । प्रपूर्वकात् तनोतेः पचाद्याकृतिगणीये अचिप्रत्यये (अ० 3.1.134) कृतेपि अयं शब्दो निष्पादयितुं शक्यते । प्रतनोति विस्तारयति इति प्रतनः । प्रतन एव प्रतनः । छान्दस्स-काराकार लोपः ।

संदेशों का विस्तार करता है। उन्हें दूर-दूर तक पहुँचाता है। दूत को दीप्तिमान करने का भाव यह है कि दूत विभाग के सब कर्मचारियों को अपने काम में खूब कुशल और प्रवीण बनाकर रखा जाता है जिससे वे अपने कार्यों को दीप्ति के साथ, उज्ज्वलता के साथ, कर सकें। और इस प्रकार अपने लिए भी दीप्ति अर्थात् यश प्राप्त कर सकें।

इन तीनों मन्त्रों में अग्नि के इस वर्णन का भी यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि अग्नि दूत का काम करता है।

इस सम्बन्ध में अग्नि का एक और वर्णन भी देखने योग्य है। वेद में कोई 36 बार अग्नि के लिए इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग हुआ है कि 'अग्ने देवां इहा वह'¹, 'स देवां एह वक्षति'², 'आ देवान् वक्षि यक्षि च'³। इन और इस प्रकार के अन्य सभी वाक्यों का भाव यह है कि अग्नि देवों को बुलाकर लाता है। इस प्रकार का वर्णन अन्य किसी देवता का नहीं है। एक स्थान पर अग्नि को 'देवहूतमः'⁴ यह विशेषण दिया गया है। इस विशेषण का अर्थ होता है, 'देवों को सबसे अधिक बुलाकर लाने वाला'। एक स्थान पर अग्नि के घोड़ों को भी 'देवहूतमान्'⁵ कहकर यह विशेषण दिया गया है। यह विशेषण भी अन्य किसी देवता के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है।

वेद में अग्नि का एक और भी विशेषण है जो उसके लिए बार-बार प्रयुक्त होता है। वेद में कोई 112 बार अग्नि को 'होता' कहा गया है। यास्क ने इस शब्द का अर्थ 'ह्वाता'⁶ अर्थात् बुलाने वाला किया है। सायण ने भी इस शब्द का स्थान-स्थान पर 'आह्वाता'⁷ अर्थात् बुलाने वाला ऐसा ही अर्थ किया है। सभी भाष्यकार इस शब्द का ऐसा ही अर्थ करते हैं। अग्नि क्योंकि देवों को बुलाकर लाता है इसलिए उसे 'होता' कहा गया है। यह विशेषण अग्नि के अतिरिक्त केवल अश्विनो के लिए और प्रयुक्त हुआ है। अश्विनो के लिए यह विशेषण 10-12 बार यजुर्वेद में और 1 बार अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है। अग्नि की तुलना में अश्विनो के लिए इसका प्रयोग बहुत ही कम है। अश्विनो का जो विशिष्ट रूप हम आगे देखेंगे उसमें अश्विनो के लिए भी इस विशेषण का प्रयोग संगत हो जायेगा। अश्विनो के लिए इस विशेषण का प्रयोग गौण रूप में ही समझना चाहिए। मुख्य रूप में इस विशेषण का प्रयोग वेद में अग्नि के लिए ही हुआ है।

अग्नि को बार-बार देवों का आवहन करने वाला कहना, उसे और उसके

¹ ऋग्० 1.12.3।

² ऋग्० 4.8.2।

³ ऋग्० 5.26.3।

⁴ ऋग्० 3.13.6. देवानामाह्वातुतमः इति सायणः।

⁵ ऋग्० 8.75.1।

⁶ ह्वातारमिति यास्कः। निरु० 7.4.2।

⁷ आह्वातारमिति सायणः। ऋग्० 6.15.4।

घोड़ों को 'देवहूतम' कहना और उसे अनेक बार 'होता' कहना, विशेष अभिप्राय रखता है जिससे उसके विशिष्ट रूप दूतत्व पर प्रकाश पड़ता है। दूत को जहाँ अपने सम्राट् के संदेशों को दूसरे राष्ट्रों के राजाओं तक पहुँचाना और उनके उत्तर को अपने सम्राट् तक पहुँचाना होता है वहाँ उसे अपने राजा के आदेशानुसार दूसरे राष्ट्रों के उच्च अधिकारियों को अनेक बार अपने राष्ट्र में भी बुलाना होता है। दूसरे राष्ट्र के उच्च राज्याधिकारियों को अपने राष्ट्र में बुलाने की आवश्यकता कई बार इसलिए पड़ती है कि किन्हीं विशिष्ट विचारणीय विषयों पर दोनों पक्षों के अधिकारियों को एक-दूसरे के समक्ष बैठकर सीधा बात करना आवश्यक हो जाता है। अपने राज्य के शासन के आदेश पर दूसरे राष्ट्र के उच्च अधिकारियों को अपने यहाँ बुलाने का यह कार्य दूत का ही कार्य है। यह कार्य ऊपर निर्दिष्ट अग्नि के इन वर्णनों और विशेषणों के द्वारा वेद में अग्नि का ही बताया गया है। देव शब्द का अर्थ राजा और उसके प्रतिनिधि राज्याधिकारी भी होता है यह हम इस ग्रन्थ में देखते ही आ रहे हैं। देवों को बुलाने सम्बन्धी अग्नि का यह वर्णन भी स्पष्ट सूचना देता है कि अग्नि दूत का कार्य करता है।

अग्नि के ऊपर के पृष्ठों में अंकित इन और ऐसे ही अन्य वर्णनों द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राज्य में दूत-विभाग भी होना चाहिए। राज्य को समय-समय पर अनेक विषयों पर दूसरे राज्यों के साथ विचार-विमर्श करता होता है। दूसरे राज्यों के साथ इस विचार-विमर्श को राजा दूतों के द्वारा करेगा। अपने राजा के विचार पर-राज्यों तक पहुँचाना और उनके विचारों से अपनी सरकार को सूचित करना यह दूतों का काम होगा। दूत विभाग के सर्वोच्च अधिकारी को वेद में अग्नि नाम से कहा गया है। वह सम्राट् (इन्द्र) का सहायक होकर कार्य करेगा। उसे इस विभाग का मंत्री समझना चाहिए। वह इस विभाग के सब कार्यों को अकेला तो कर नहीं सकेगा। ऐसा कर सकना उसकी शक्ति से बाहर की बात होगी। उसे अपने नीचे के अनेक सहायक कर्मचारी रखने पड़ेंगे। दूत विभाग के उन सभी कर्मचारियों को एक दृष्टि से दूत ही कहा जा सकता है। अग्नि को दूत कहकर उसका दूत विभाग के सभी कर्मचारियों के साथ अभेदान्वय कर दिया गया है। अग्नि अपने अधीन सभी दूतों का, दूत विभाग के सभी कर्मचारियों का, प्रतिनिधित्व करता है।

दूत अपने राष्ट्र के प्रजाजनों के लिए भी दूत-कार्य करता है।

जहाँ दूत अपने राष्ट्र के संदेशों को दूसरे राष्ट्रों के उच्च अधिकारियों तक पहुँचाने और उनके उत्तरों और प्रतिक्रियाओं को अपने राष्ट्र के उच्च अधिकारियों तक पहुँचाने का कार्य करेगा वहाँ उसका एक काम यह भी होगा कि वह विभिन्न विषयों पर अपने राज्य के निर्णय और आदेशों को अपने राष्ट्र की प्रजाओं तक पहुँचायेगा और उनके सम्बन्ध में प्रजाओं की जो सम्मति और प्रतिक्रिया होगी उसे अपने सम्राट् और अन्य सम्बद्ध उच्च अधिकारियों तक पहुँचायेगा। यह निष्कर्ष वेद

के अग्नि विषयक नीचे लिखे प्रकार के वर्णनों से प्राप्त होता है—

- | | |
|-------------------------------|----------------------|
| 1. अग्ने दूतो विशामसि । | ऋग्० 1.36.5; 1.44.9. |
| 2. अतिथिर्मनुषीणाम् । | ऋग्० 5.1.9. |
| 3. भवा नो दूतो अभिशस्तिपावा । | ऋग्० 7.11.3. |

इनमें से प्रथम मंत्र में अग्नि को प्रजाओं का (विशों) दूत कहा गया है। अग्नि को प्रजाओं का दूत कहने का यह भाव है कि वह प्रजाओं की बातों, उनके समाचारों और उनकी प्रतिक्रियाओं को उनके सम्राट् और अन्य उच्च अधिकारियों तक पहुँचाता है। दूसरे मंत्र में अग्नि को मनुष्यों का अतिथि कहा गया है। अतिथि किसी के घर में अकस्मात् आ पहुँचे वाले स्वागत और सत्कार के योग्य आदरणीय व्यक्ति को कहते हैं। अग्नि को अतिथि कहने की बड़ी सुन्दर व्यंजना निकलती है। दूत को कभी भी प्रजाजनों के बीच में जा पहुँचना चाहिए और उसका व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि प्रजाजन उसका आदर-सत्कार कर सकें। उधर प्रजाओं को भी अपनी ओर से उसका अतिथि की भाँति आदर-सत्कार करना चाहिए। दोनों का परस्पर व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि न तो दूत प्रजाजनों पर किसी प्रकार का रोव गाँठ सके और आतंक जमाये और न ही प्रजाजन ही उसके साथ रूखा बरताव करें और उससे परे-परे रहें। दोनों का परस्पर प्रेम का बरताव होना चाहिए। तीसरे मंत्र में प्रजाजन अग्नि से कह रहे हैं कि हे अग्नि तुम हिंसा से, दुःख और कष्टों से हमारी रक्षा करने वाले (अभिशस्तिपावा) हमारे दूत बनो। इस मंत्र की व्यंजना यह है कि दूत का यह काम है कि वह राज्य-प्रशासन और प्रजाजनों को एक-दूसरे की बातों और प्रतिक्रियाओं की सही-सही जानकारी देकर एक-दूसरे की बातों को एक-दूसरे को भली-भाँति समझा दे जिससे राज्य की ओर से प्रजाजनों को कोई कष्ट न प्राप्त हो सके। इस प्रकार दूत का एक काम यह भी है कि वह राजा और प्रजा को परस्पर की बातों से अवगत कराता रहे और उनकी आपस की प्रतिक्रियाओं को भी एक-दूसरे को बताता रहे।

दूत के कुछ गुण और कार्य

वेद के अग्नि देवता विषयक मन्त्रों को ध्यान से पढ़ने पर उनसे दूत के व्यक्तिगत गुणों, योग्यता और कार्यों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्ध में वेद से कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

- | | |
|---|---------------|
| 1. अतन्द्रो दूतो अभवः । | ऋग्० 1.72.7. |
| 2. सं दूतो अद्यौदुषसो विरोके । | ऋग्० 3.5 2. |
| 3. उषर्बुधे अग्नये । | ऋग्० 1.127.10 |
| 4. अतिथिमुषर्बुधम् । | ऋग्० 6.15.1. |
| 5. उषर्बुधमग्निम् । | ऋग्० 4.6.8. |
| 6. ईळैत्यो वपुष्यो विभावा प्रियो विशाम् । | ऋग्० 5.1.9. |

7. तरुणः शुचिदन् । ऋग् 7.4.2
 8. ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव । ऋग् 3.21.3.
 9. यविष्ठ । ऋग् 1.147.2.
 10. दूरेदृशं गृहपतिम् । ऋग् 7.1.1.
 11. मधुजिह्वः । ऋग् 1.44.6.
 12. मधुवचा ऋतावा । ऋग् 4.6.5.
 13. श्रुत्कर्णम् । ऋग् 10.140.6.
 14. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति । ऋग् 10.187.4.
 15. दक्षाणां दक्षपतिर्बभूव । ऋग् 1.95.6.
 16. विश्वतोमुख । ऋग् 1.97.6-7
 17. चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् । अथर्व 4.14.5.
 18. अप्रयुच्छन् । ऋग् 1.143.8.
 19. अदन्धस्य स्वधावतो दूतस्य । ऋग् 8.44.20.
 20. अग्निं शुचिन्नततमः शुचिर्विप्रः । ऋग् 8.44.21.
 21. अग्ने कविर्वेधा असि होता । ऋग् 8.60.3.
 22. उभयां अन्तरग्ने दूत ईयसे । ऋग् 4.2.2.
 23. वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुमे अन्ता रोदसी संचिकित्त्वान् ।
 दूत ईयसे प्रदिव उराणो विदुष्टरो दिव आरोधनानि ॥
 ऋग् 4.7.8.
 24. स दूतो विश्वेदमि वष्टि सद्मा होता हिरण्यरथो रंसुजिह्वः ।
 रोहिदस्वो वपुष्यो विभावा सदा रण्वः पितुमतीव संसत ॥
 ऋग् 4.1.8.
 25. विभूषन्नग्न उभयां अनु व्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।
 यत् ते धीर्ति मुमतिमावृणीमहे ऽथ स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो भव ॥
 ऋग् 6.15.9.
 26. कविक्रतुः दूतः । ऋग् 6.16.23.
 27. आ वि विद्वान् द्रवद् दूतो देवयावा वनिष्ठः । ऋग् 7.10.2.
 28. शिवो दूतः । ऋग् 8.39.3.
 29. विप्रो दूतः परिष्कृतः । ऋग् 8.39.9.
 30. आ देवो दूतो अजिरश्चिकित्त्वान् । ऋग् 10.98.2.
 31. त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः । ऋग् 10.110.1.
 यजु 29.25.
 अथर्व 5.12.1

इनमें से प्रथम मंत्र में कहा गया है कि दूत को अतन्द्र होना चाहिए, उसके पास आलस्य नहीं फटकना चाहिए । उसे अपने कार्य करने में चुस्त, चौकला और फूर्तिला

होना चाहिए। दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि दूत उषा का प्रकाश होते ही (विरोके) चमक उठता है (अद्यौत्)। भाव यह है कि उषाकाल होते ही दूत को उठकर अपने कामों में लग जाना चाहिए, उसे आलस्य में भरकर देर तक नहीं सोते पड़े रहना चाहिए। तीसरे, चौथे और पाँचवे मन्त्रों में यही बात अग्नि को उषर्बुध अर्थात् उषाकाल में जागने वाला कहकर कही गई है। छठे मन्त्र में कहा गया है कि दूत को ऐसे गुणों वाला होना चाहिए कि लोग उसकी प्रशंसा करें (ईडेन्यः), उसे सुन्दर शरीरवाला (वपुष्यः) होना चाहिए जिससे उसे देखते ही लोग उसकी ओर आकृष्ट हो सकें, उसे अपने गुणों और कामों से चमकने वाला (विभावा) होना चाहिए और उसे लोगों का प्यारा (प्रियो विशाम्) होना चाहिए, उसे ऐसा होना चाहिए कि जहाँ कहीं वह जाय लोग उससे प्रेम करने लगे। सातवें मन्त्र में कहा गया है कि दूत को तरुण अर्थात् युवा होना चाहिए जिससे वह काम करने में थके नहीं। भाव यह है कि जिस आयु में वह बिना थके जवानों की भाँति देर तक काम करता रह सके उस आयु का उसे होना चाहिए। साथ ही इस मन्त्र में उसे शुचिदन् अर्थात् स्वच्छ और साफ-सुथरे दाँतों वाला होना चाहिए यह भी कहा है। यदि उसके दाँत मँले रहेंगे तो उसके मुँह से दुर्गन्ध आयेगी जिसके कारण लोग उसके साथ बात करने में संकोच करेंगे। यों भी यदि उसके दाँत भद्दे होंगे तो बोलने लगने पर उसका चेहरा भद्दा दीखेगा और उसके साथ बात करने में लोगों के मन में अरुचि होगी। आठवें मन्त्र में उसे कहा गया है कि तुम श्रेष्ठ ऋषि हो और अपने गुणों के कारण राष्ट्र में चमक रहे हो, तुम अपने गुणों के द्वारा राष्ट्र-यज्ञ की (यज्ञस्य) रक्षा करने वाले बनो। ऋषि उसे कहते हैं जो किसी भी बात, घटना और परिस्थिति को पूरी तरह समझ कर उसकी तह तक जा सके। दूत को इस प्रकार की पैनी बुद्धिवाला ऋषि होना चाहिए। नवें उद्धरण में दूत को 'यविष्ठ' कहा गया है। यविष्ठ का एक अर्थ तो होता है, 'खूब जवान'। इस अर्थ में इस शब्द का वही भाव होगा जोकि दूत के लिए प्रयुक्त ऊपर उद्धृत तरुण शब्द का है। इस शब्द का दूसरा अर्थ होता है मिलाने और पृथक् करने वाला। यह शब्द संस्कृत की 'यु' घातु से निष्पन्न होता है, जिसके दो अर्थ, मिश्रण और अमिश्रण अर्थात् मिलाना और पृथक् करना, होते हैं। दूत के इस विशेषण के इस अर्थ की व्यंजना यह है कि उसे सन्धि और विग्रह के कामों में कुशल होना चाहिए। कुशल दूत झगड़ रहे राज्यों में सन्धि कराके उन्हें मित्र बना देते हैं और मित्र राजाओं में विग्रह कराके उन्हें शत्रु बना देते हैं। आवश्यकता के अनुसार ये दोनों काम कर सकने की योग्यता दूत में होनी चाहिए। दसवें मन्त्र में कहा गया है कि दूत को दूर की बात देखने वाला (दूरेदृशम्) और गृहस्थ (गृहपतिम्) होना चाहिए। दूत को दूरदर्शी होना चाहिए, उसे राज्यों में घट रही घटनाओं, बन रही परिस्थितियों और लिये जा रहे विभिन्न निर्णयों के दूरगामी प्रभावों और परिणामों को समझ सकने की शक्तिवाला होना चाहिए। उसे गृहस्थ होना चाहिए यह इसलिए कहा गया है कि कहीं वह स्त्रियों के प्रलोभन में पड़कर अपने राष्ट्र के रहस्यों को दूसरे राष्ट्रों को न बता दे। ग्यारहवें

और वारहवें उद्धरणों में उसे मधुर जिह्वा वाला (मधुजिह्वः) मधुर वचन बोलने वाला (मधुवचाः) और सत्य व्यवहार करने वाला (ऋतावा) कहा गया है। दूत को मधुर भाषी होना चाहिए जिससे लोग उसकी ओर आकृष्ट होकर उसकी बातों को प्रेम से सुन सकें। साथ ही उसे सत्य व्यवहार करने वाला भी होना चाहिए। उसकी बातों और व्यवहार में झूठ नहीं होना चाहिए। उसे सही-सही बात ही कहनी और करनी चाहिए। उसे अपने राज्य के उच्च अधिकारियों और परराष्ट्र के अधिकारियों को एक-दूसरे के विचार स्पष्ट और सही रूप में उनके आगे रखने चाहिए। उसे अपने निजी आचरण में भी सत्यपरायण रहना चाहिए। इससे सब कहीं उसकी प्रतिष्ठा होगी और उसकी बातें ध्यान से सुनी जायेंगी और उन पर विश्वास किया जायेगा।

तेरहवें उद्धरण में उसे श्रुत्कर्ण कहा गया है। उसके कान सबकी बातों को ध्यान से सुनने वाले होने चाहिए। जहाँ कहीं भी वह हो वहाँ उसके चारों ओरके लोग क्या बातें कर रहे हैं यह उसे बड़े ध्यान से सुनना चाहिए। उनकी बातों से उसे कई बार बड़े काम की बातें मालूम हो सकती हैं। चौदहवें मंत्र में कहा है कि वह सभी लोकों को अर्थात् स्थानों को चारों ओर दृष्टि डाल कर देखता है (अभि विपश्यति) और बहुत अच्छी तरह देखता है (सं पश्यति) उसके चारों ओर क्या-कुछ हो रहा है यह उसे बड़े ध्यान से देखना चाहिए। अपने चारों ओर की परिस्थितियों पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने पर उसे अनेक बार बड़ी आवश्यक और महत्वपूर्ण बातें दृष्टि में आयेंगी। पन्द्रहवें मंत्र में कहा है कि उसे दक्षों में दक्ष (दक्षाणां दक्षपतिः) होना चाहिए। उसे अपने सभी कामों में बड़ा दक्ष, बड़ा चतुर और कुशल होना चाहिए। दक्ष का अर्थ बल भी होता है। दूत को शरीर से भी बलवान् होना चाहिए जिससे वह अपने कामों के भार को भली-भाँति सहन कर सके तथा बिना थके देर तक काम करता रह सके। और संकट के समय अपनी रक्षा भी कर सके। सोलहवें उद्धरण में उसे 'विश्वतोमुख' कहा गया है। इसका अर्थ होता है चारों ओर मुख वाला उसे सब ओर मुँह वाला होना चाहिए। वह सब ओर की बातें देखने और सुनने वाला होना चाहिए। और आवश्यकता पड़ने पर वह अपने चारों ओर खड़े लोगों से एक साथ बातें करने की शक्ति भी रखता हो। सत्रहवें मंत्र में उसे देवों का और मनुष्यों का चक्षु कहा है। देव का अभिप्राय है राज्याधिकारियों से और मनुष्यों का तात्पर्य है सामान्य प्रजाजनों से। दूत राज्याधिकारी और सामान्य प्रजाजन सभी का चक्षु होता है। राज्याधिकारी दूसरे राष्ट्र के लोगों को और अपने राष्ट्र के प्रजाजनों को दूत की आँखों से देखते हैं। दूत उनके बारे में जो कुछ राज्याधिकारियों को बताता है वे उन्हें वैसा ही समझने लगते हैं। प्रजाजन भी अपने राज्याधिकारियों को दूत की आँखों से ही देखते हैं। दूत राज्याधिकारियों को जिस रूप में प्रजाजनों के समक्ष उपस्थित करता है प्रजाजन उसी रूप में उन्हें देखने लगते हैं। चक्षु का अर्थ कहने वाला भी होता है। राज्याधिकारियों की बातों को दूसरे राष्ट्र के राज्याधिकारियों तक तथा अपने प्रजाजनों तक पहुँचाने के कारण वह राज्याधिकारियों का चक्षु

है और प्रजाजनों की बातों को राज्याधिकारियों तक पहुँचाने के कारण वह प्रजाजनों का चक्षु है। दूत को दोनों की बातें दोनों तक ठीक-ठीक रूप में पहुँचानी चाहिए और दोनों का स्वरूप सही-सही रूप में दोनों के समक्ष उपस्थित करना चाहिए। अठारहवें उद्धरण में दूत के लिए 'अप्रयुच्छन्' विशेषण दिया गया है। इसका अर्थ होता है प्रमाद न करने वाला। दूत को प्रमादी नहीं होना चाहिए। उसे आलसी, सुस्त, असावधान और लापरवाह नहीं होना चाहिए। उसे सदा सतर्क, सावधान और चौकन्ना रहना चाहिए। उन्नीसवें मंत्र में कहा गया है कि उसे 'अदब्ध' और 'स्वधावान्' होना चाहिए। अदब्ध का अर्थ होता है कि किसी से न दबने वाला और स्वधावान् का अर्थ होता है अपने को धारण करके रखने की शक्ति वाला अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में अपने आपको संभाल कर रखने वाला, कभी अपना संतुलन न खोने वाला। ये दोनों गुण दूत के लिए नितान्त आवश्यक हैं। बीसवें मंत्र में कहा है कि दूत को मन और शरीर दोनों की दृष्टि से पवित्र (शुचिः) होना चाहिए, उसके व्रत अर्थात् कर्म और निश्चय अति पवित्र होने चाहिए (शुचिव्रततमः) और उसे विप्र अर्थात् बुद्धिमान् और ज्ञानी विद्वान् होना चाहिए। विप्र विद्वान् ब्राह्मण को भी कहते हैं। इस अर्थ में इस शब्द की यह ध्वनि भी होगी कि दूत ब्राह्मण होना चाहिए अर्थात् उसे ब्राह्मण की वृत्ति वाला लोभ रहित, संयमी और तपस्वी व्यक्ति होना चाहिए। इक्कीसवें मंत्र में कहा है कि अग्नि को अर्थात् दूत को 'कवि' और 'वेधा' होना चाहिए। कवि कहते हैं क्रान्तदर्शी विद्वान् को, चीजों की गहराई में जाकर उनके वास्तविक रूप को पहचानने वाले विद्वान् को। वेधा कहते हैं रचनाशील विद्वान् को। दूत में ये दोनों गुण होने चाहिए। वह गम्भीर विद्वान् भी हो और उसका ज्ञान और बुद्धि निर्माण के काम में लगे ध्वंस और विनाश के काम में नहीं। बाईसवें मंत्र में कहा गया है कि हे अग्नि (दूत) तुम दोनों प्रकार के लोगों में विचरण करते हो। प्रजा में स्त्री और पुरुष भेद से दो प्रकार के लोग होते हैं। दूत का काम दोनों में जाकर उनके समाचार और विचार पता लगाना होता है। उभय अर्थात् दोनों प्रकार के लोगों से तात्पर्य मित्र और शत्रु से भी हो सकता है। दूत को मित्र और शत्रु दोनों के समाचारों और विचारों का पता लगाना चाहिए।

तेईसवें मन्त्र में दूत का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है। कहा है, 'हे दूत तू विद्वान् है—सब कुछ जानने वाला है। संचिकित्वान् है—सब कुछ भलीभाँति समझने वाला है। रोदसी में विचरण करता है अर्थात् आकाश और भूलोक सब कहीं के समाचारों और संदेशों को लाने-लेजाने वाला है। अध्वर अर्थात् अहिंसनीय राष्ट्र-यज्ञ (अध्वरस्य) के सभी प्रकार के दूत-कर्मों को (दूत्यानि) जानता है। व्यवहारों को (दिवः) बढ़ाने वाला (उराणः)¹ है। व्यवहार की (दिवः)² रुकावटों को (आरोधनानि) औरों से अच्छा जानने वाला (विदुष्टुरः) है।' भाव यह है कि समय-समय पर विभिन्न

¹ अल्पमपि उरु बहु कुर्वाण इति सायणः।

² दिवुघातोरनेकेष्वर्थेषु व्यवहारोप्यन्यतमः।

समस्याओं की उलझनों के कारण राज्य-व्यवहारों में किस प्रकार रुकावटें उपस्थित हो जाया करती हैं इसे वह औरों से अच्छा समझता है, और इसीलिए वह उन्हें सुलझा भी अच्छा सकता है। चौबीसवें मन्त्र में भी दूत का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। कहा गया है कि 'वह दूत सभी स्थानों को चाहता है (वष्टि)। अर्थात् सभी जगह राज्य के संदेशों को ले जाता है। वह 'होता' है अर्थात् लोगों को बुलाकर राज्य का संदेश देने वाला है। वह हिरण्यरथ है—हितरमणीय रथ वाला है। अर्थात् उसका रथ इतना रमणीय हो कि प्रजाजन उससे डरें नहीं प्रत्युत उससे आकृष्ट होकर उसके पास स्वयं ही खिच आवें। इसका यह भी भाव हो सकता है कि राज्य को चाहिए कि दूत की सवारी के लिए हितरमणीय¹ रथ दे जिससे उसे यात्रा में किसी प्रकार का कष्ट न हो। वह 'रंसुजिह्व' हो—रमणीय जिह्वावाला हो। अर्थात् उसकी वाणी में माधुर्य और आकर्षण हो जिससे सब कोई उसकी बात ध्यान से सुन सके। वह रोहिदश्व² अर्थात् रुढ़ियों में व्यापनशील हो। भाव यह है कि वह सब जगह की रुढ़ियों अर्थात् परम्पराओं को, रीति-रिवाजों को, जानने वाला हो। वह वपुष्य अर्थात् सुन्दर शरीर वाला हो। विभावा अर्थात् प्रभावशाली हो। 'सदा रण्व' अर्थात् प्रत्येक अवस्था में रमणीय, सुन्दर लगने वाला हो। वह अनाज से भरे हुए घर की तरह हो। अनाज ऐश्वर्य का, समृद्धि का, चिह्न है। जैसे समृद्धशाली घर में बहुत कुछ देने को रहता है वैसे ही उसके मस्तक में भी बहुत कुछ देने को रहे। जैसे समृद्धिशाली घर सबको अच्छा लगता है वैसे ही वह भी सबको सदा अच्छा लगने वाला हो।' पच्चीसवें मन्त्र में कहा जा रहा है कि 'हे अग्नि (दूत) तुम देवों अर्थात् राज्याधिकारियों के दूत हो, तुम कार्यों के अनुसार (व्रता अनु) राज्याधिकारी और प्रजाजन दोनों के पास (उभयान्) जाते हो, और अपने कार्यों से दोनों को विभूषित करते हो (विभूषन्) अर्थात् दोनों का मंगल करते हो, तुम अपने कार्य के निमित्त आकाश और पृथिवी दोनों जगह (रोदसी) विचरण करते हो, हम तुम्हारे उत्तम कर्मों (धीति) और उत्तम बुद्धि का (सुमतिम्) वरण अर्थात् याचना करते हैं (आवृणीमहे), तुम तीनों कालों में अर्थात् सदा वरण करने योग्य (त्रिवरुथः)³ हो अर्थात् तुम्हारी सदा आवश्यकता रहती है, तुम हमारे लिए सदा मंगलकारी (शिवः) बने रहो।' मंत्र का भाव यह है कि राज्य के दूतों को कार्यवश राज-कर्मचारी और प्रजाजन सभी के पास जाना पड़ता है, उन्हें आकाश और पृथिवी की दूर-दूर की यात्राएँ भी कार्यवश करनी पड़ती हैं, उन्हें अपने कार्यों में सदा सुमति का प्रयोग करना चाहिए, उनके कार्यों से सबका मंगल सम्पादित होना चाहिए। उसकी मनोवृत्ति सदा शिवकारिणी

¹ हिरण्यं हितरमणं भवतीति वा । निरु० 2.3.10 ।

² रोहन्तीतिरोहिषो रुढयः परम्परागतप्रथाः । तामु अश्वो व्यापनशीलः । अशूङ् व्याप्तो । परम्परागतप्रथाभिज्ञ इत्यर्थः । वहनसाधनत्वत्ताश्वशब्देन न शक्यं ग्रहीतुं तस्य रथशब्देन गतार्थत्वात् ।

³ त्रिवरुथः त्रिषु कालेषु वरणीयः । कार्यनिर्वाहार्थं सर्वदैव वरीतुं नियोजयितुं योग्य इति भावः । वरुणं वरणीयम् । ऋगु० 1.116.11. मंत्र भाष्ये दयानन्दः । तत्रैव भाष्ये वरणीयं कामयितव्यमिति सायणः ।

रहनी चाहिए, उसकी मनोवृत्ति किसी भी समस्या में कल्याण की वृद्धि करने की होनी चाहिए, रुकावट डालने और उलझनें पैदा करने की उसको मनोवृत्ति न हो। छत्रवीसवें मन्त्र में उसे 'कविक्रतु' कहा गया है। कवि कहते हैं क्रान्तदर्शी को, गहराई में जाकर बात को समझने वाले को। और क्रतु कहते हैं प्रज्ञा को। जिसकी प्रज्ञा गहराई में जाकर बातों के रहस्यों को समझने की शक्ति रखती हो उसे कविक्रतु कहेंगे। दूत को इस प्रकार की मर्मस्पर्शी तीक्ष्ण बुद्धि वाला होना चाहिए। सत्ताईसवाँ मन्त्र दूत के सम्बन्ध में कहता है कि 'सब बातों को जानने वाला (विद्वान्), देवों अर्थात् विभिन्न राज्याधिकारियों के पास पहुँचने वाला (देवयावा) और अपनी शक्तियों का खूब दान करने वाला (बनिष्ठः) दूत सब ओर दौड़ता फिरता है (आद्रवत्)।' दूत विद्वान् होना चाहिए, वह अपने और दूसरे राष्ट्रों के राज्याधिकारियों से बातें कर सकने की क्षमता वाला होना चाहिए, उसे अपनी शक्तियों का दान सम्बद्ध लोगों के कल्याण में करना चाहिए। दूत को अपने काम दौड़-दौड़ कर अर्थात् फुर्ती के साथ करने चाहिए। अट्ठाईसवें मन्त्र में उसे पुनः 'शिवः दूतः' अर्थात् मंगलकारी दूत कहा गया है। दूत को शिव अर्थात् मंगलकारी कहने का भाव ऊपर 25वें मन्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है। दूत में सबका शिव करने की भावना का रहना इतना आवश्यक है कि वेद में दूत के लिए अनेक बार 'शिव' विशेषण का प्रयोग किया गया है। उनतीसवें मन्त्र में कहा गया है कि दूत को विप्र और परिष्कृत होना चाहिए। विप्र विद्वान् और ब्राह्मण को कहते हैं। दूत को जहाँ विद्वान् होना चाहिए वहाँ उसमें ब्राह्मणत्व की सत्य, संयम और तपस्विता आदि की उदात्त वृत्तियाँ भी रहनी चाहिए। साथ ही दूत को परिष्कृत भी होना चाहिए। वह शरीर और वस्त्रों आदि की दृष्टि से भी साफ-सुथरा रहने वाला हो तथा मन और विचारों की दृष्टि से भी साफ-सुथरा हो। वह सर्वथा सभ्य और सुसंस्कृत हो। तीसवें मन्त्र में दूत को 'अजिर' और 'चिकित्वान्' कहा है। अजिर का अर्थ गमनशील होता है। इस विशेषण का भाव यह है कि दूत को शारीरिक दृष्टि से भी सब कहीं जा सकने की क्षमता वाला होना चाहिए, उसका शरीर इतना सबल हो कि कहीं भी जाने में थके नहीं; तथा उसे मानसिक दृष्टि से भी सब कहीं जा सकने के योग्य होना चाहिए, उसे किसी से भी मिलने में संकोच और हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। चिकित्वान् अर्थात् सब कुछ जानने समझने वाला तो उसे होना ही चाहिए। इकतीसवें मन्त्र में दूत को 'कवि' और 'प्रचेताः' कहा गया है। कवि कहने का भाव ऊपर के मन्त्रों की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। 'प्रचेताः' का अर्थ जानने वाला और चेताने वाला होता है। जो समय-समय पर उत्पन्न होने वाली बातों और परिस्थितियों को भली-भाँति जानने और समझने की क्षमता रखता हो और समय पर अपने राज्याधिकारियों को उनसे अवगत कराकर सावधान कर सकता हो उसे 'प्रचेताः' कहा जायेगा। दूत को ऐसा प्रचेता तो होना ही चाहिए।

इसी प्रसंग में वेद के निम्न मन्त्र भी देखने योग्य हैं। इनमें वर्णित दूत के कुछ

गुणों और कार्यों का वर्णन तो ऊपर उद्धृत मंत्रों में भी हो गया है परन्तु कुछ नई बातें भी दूत के विषय में इन मंत्रों में की गई हैं। मंत्र निम्न प्रकार हैं—

1. वर्ह्नि यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्योऽर्थम् ।
द्विजन्मानम् (अग्निम्) । ऋग्० 1.60.1
2. आशुं दूतं विश्वा यश्चर्षणीरभि (अग्निम्) । ऋग्० 4.7.4
3. तृषुं दूतं कृणुते यत्नो अग्निः । ऋग्० 4.7.11
4. दूतं वो विश्ववेदसम् (अग्निम्) । ऋग्० 4.8.1
5. त्वामग्ने समिधानं यविष्ठद्य देवा दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम् ।
उरुष्ययसं धृतयोनिमाहुतं त्वेषं चक्षुर्दधिरे चोदयन्मति ।
ऋग्० 5.8.6
6. असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम् । ऋग्० 7.2.3.
7. प्रचेतसं त्वा कवेऽग्ने दूतं वरेण्यम् । ऋग्० 8.102.18
8. दूतं न पूर्वचित्तय आ शासते मनीषिणः । ऋग्० 9.99.5.
9. प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तरे । ऋग्० 4.33.1.
10. अदब्धस्य स्वधावतो दूतस्य रेभतः सदा अग्नेः ।
ऋग्० 8.44.20.
11. वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः ।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमानाः । ऋग्० 10.47.7
12. न योरुषन्दिश्वयः शृण्वे रथस्य कच्चन ।
यदग्ने यासि दूत्यम् । ऋग्० 1.74.7
13. स होता सेदु दूत्यं चिकित्वां अन्तरीयते ।
विद्वां आरोधनं दिवः । ऋग्० 4.8.4
14. दूतः कविरसि प्रचेताः (जातवेदः) । यजु० 29.25
15. अग्निहोत्रेषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् । अथ० 3.1.2
16. अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् । अथ० 3.2.1
17. अग्निर्दूतो अजिरः सं चरात । अथ० 3.4.3
18. त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः (जातवेदः) । अथ० 5.12.1

वेद के इन मन्त्रों से भी यह सूचना मिलती है कि राजा (अग्नि) को राज्य के विभिन्न संदेश स्थान से स्थानान्तर में पहुँचाने के लिए राजदूत रखने चाहिए और मंत्रों में प्रयुक्त विशेषणों से यह भी मालूम होता है कि राजदूतों में गुण किस प्रकार के होने चाहिए । मन्त्र-खण्ड 1 में प्रयुक्त 'वर्ह्नि' विशेषण से यह प्रतीत होता है कि राजदूत का काम संदेशों को एक स्थान से स्थानान्तर में वहन करके ले जाना है । 'यशसं' विशेषण यह बताता है कि दूत के गुण ऐसे होने चाहिए जो उसे यश दिला सकें । 'विदथस्य केतुं' का भाव यह है कि उसे ज्ञानवान् होना चाहिए । 'सुप्राव्यं' का अभिप्राय यह है कि दूत का उद्देश्य सदा रक्षा करना होना चाहिए । उसकी प्रवृत्ति

झगड़े मिटाने की हो, बढ़ाने की नहीं। 'सद्योऽर्थ' का अर्थ यह है कि राजदूत को झटपट प्रयोजन पूरा करने वाला होना चाहिए। 'द्विजन्मान' का भाव यह है कि वह ब्राह्मण हो। या इसका भाव यह हो सकता है कि जो गुरुकुल में पढ़कर विद्या प्राप्ति रूप में दूसरा जन्म प्राप्त कर चुका हो। मन्त्र-खण्ड 2 के 'आशु' विशेषण का भाव यह है कि वह फुर्तीला हो—शीघ्रकारी हो। 'विश्वा यश्चर्षणीरमि' का अभिप्राय यह है कि वह सभी प्रजाओं तक राजाशाओं को पहुँचाता है। तीसरे मन्त्रखण्ड में फिर दुहराया गया है कि सम्राट् (अग्निः) शीघ्रकारी व्यक्ति को (तृषु) दूत बनाता है। इस मंत्र में दूत को अग्नि का विशेषण नहीं बनाया गया है जैसा कि अधिकांश स्थलों में हुआ है। यहाँ अग्नि कर्तृ कारक में है और दूत कर्मकारक में। इससे यह सूचित होता है कि दूत और दूतवान् में अभेदोपचार से अनेक स्थलों में सम्राट् (अग्नि) को दूत कह दिया गया है। मन्त्र-खण्ड 4 में उसे 'विश्ववेदस' कहा है जिसका भाव यह है कि दूत को सब कुछ जानने वाला होना चाहिए। पाँचवें मन्त्र के 'समिधानं' विशेषण का भाव यह है कि दूत तेजस्वी हो। 'यविष्' का भाव यह है कि वह युवा हो—कार्य करने में असमर्थ बूढ़ा न हो। 'उरुच्यसं' का भाव यह है कि वह वेगवान् हो—उसके मन और शरीर दोनों में वेग हो, कार्य करने की तीव्रता हो। 'चोदयन्मति त्वेषं चक्षुः' का भाव यह है कि वह बुद्धि को प्रेरणा देने वाली चमकती हुई एक आँख हो। जैसे तेजस्वी आँख सब कुछ सही-सही दिखा देती है वैसे ही वह भी सब कुछ सही-सही समझा देने वाला हो, और उनकी सलाह ऐसी होती हो जो प्रेरणा करती हो। मन्त्र-खण्ड 6 के 'असुर' विशेषण का अभिप्राय यह है कि दूत का शरीर बलिष्ठ हो। 'सुदक्ष' का भाव यह है कि उसका मन चतुर हो। 'सत्यवाचम्' का भाव यह है कि वह हरेक सन्देश को सत्य-सत्य पहुँचा देने वाला हो, अपनी ओर से कोई झूठ बात मिला देने वाला न हो। मन्त्र-खण्ड 7 के 'प्रचेतसं' विशेषण का भाव यह है कि वह प्रकृष्ट चित्त वाला हो। मन्त्र-खण्ड 8 में सोम को दूत से उपमा दी है और कहा है कि जैसे दूत पूर्वचित्ति करता है, अन्तिम निर्णय करने से पहले अपने राजा के विचार पर-राष्ट्रों को पहुँचा देता है। इस उपमा से भी दूत के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। मन्त्र-खण्ड 9 के 'दूतमिव वाचम्' इन उपमा शब्दों में यह बताया गया है कि दूत अपने राजा की वाणी को दूसरों तक, दूसरों की वाणी को अपने राजा तक लाता है। मन्त्र-खण्ड 10 के 'अदब्धस्य' विशेषण का भाव यह है कि वह अपनी बात कहने में शिक्षकता न हो। 'स्वधावतः' का भाव यह है कि उसमें स्वधा अर्थात् अपने आपको धारण करने की सामर्थ्य हो अर्थात् उसमें अपना व्यक्तित्व हो जिसका दूसरों पर प्रभाव पड़ता हो। मन्त्र-खण्ड 11 में 'स्तोमाः' अर्थात् प्रार्थनाओं को रूपक से दूत कहा गया है। इन दूतों का एक विशेषण है 'हृदिस्पृशः' अर्थात् जो दिल में जाकर लगें। इससे यह भाव निकलेगा कि दूत को अपनी बात इस प्रकार कहनी चाहिए जिससे वह सुनने वालों के दिल में जाकर प्रभाव कर सके। एक और विशेषण है 'मनसा वच्यमानाः', अर्थात् मन से कहे गये। इसका भाव होगा कि दूत जब अपनी बात कहे तो अपने

पूरे मन से कहे। प्रभाव डालने की अपनी सारी शक्ति लगा दे। मन्त्र-खण्ड 12 में कहा है कि 'हे अग्ने ! (दूत) जब तू दूतकर्म के लिए (दूत्यं) चलता है तो तेरे चलते हुए रथ का शब्द नहीं सुनाई देता है।' इसका भाव यह है कि जब दूत लोग दूतकर्म के लिए जाएँ तो उनकी सवारियाँ इस प्रकार की हों जो शोर न मचाती हों। मन्त्र-खण्ड 13 के 'दूत्यं चिकित्वान्' का भाव यह है कि वह दूतकर्म को भलीभाँति जानता हो। 'विद्वान् आरोधनं दिवः' का भाव यह है कि वह व्यवहार की (दिवः) रुकावटों को समझने वाला हो। वह यह जानता हो कि किस प्रकार समस्याएँ उलझनें डाल दिया करती हैं और उन्हें किस प्रकार सुलझाना होता है। मन्त्र-खण्ड 14 के 'कविः' का भाव यह है कि वह क्रान्तदर्शी विद्वान् हो—गहराई में जाकर बातों को समझने वाला हो। 'प्रचेता' का भाव प्रकृष्ट चित्त वाला है। मन्त्र-खण्ड 15 और 16 में दूत को 'विद्वान्' अर्थात् ज्ञानी कहा गया है। मन्त्र-खण्ड 17 में उसे 'अजिर' अर्थात् सर्वत्र आने-जाने वाला बताया गया है और इन्द्रेन्द्र अर्थात् सार्व-भौम सम्राट् से कहा गया है कि वह अपने दूत का सर्वत्र संचार करावे अर्थात् सर्वत्र अपने दूतों को भेजे। मन्त्र-खण्ड 18 में उसे फिर 'कवि' और 'प्रचेताः' कहा गया है।

दूत के दो प्रधान कार्य

ऊपर के उद्धरणों में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूतों में गुण किस प्रकार के होने चाहिए और उनके कर्त्तव्य क्या-क्या हैं। साथ ही ऊपर के अनेक वर्णनों से हम इस परिणाम पर भी पहुँचते हैं कि वेद में दूत-विभाग के दो काम होंगे। एक तो अपने राजा के संदेशों को दूसरे राजाओं तक ले जाना और उनके संदेश को अपने राजा तक लाना। और दूसरे अपने ही राष्ट्र में अपने राजा की आज्ञाओं को लोगों को गाँव-गाँव में जाकर सुनाना और उन आज्ञाओं के विषय में लोगों की सम्मतियों को राजा तक पहुँचाना। यह दूसरा भाव 'विशां दूतोसि', 'विश्वा चर्षणीरभि' इत्यादि वाक्यों से निकलता है। दूत-विभाग और गुप्तचर-विभाग, जिसका अभी आगे वर्णन होगा, के कामों में भेद यह होगा कि दूत-विभाग द्वारा राजनिर्णयों और राजाज्ञाओं के सम्बन्ध में लोगों की सम्मतियाँ खुले रूप में पुछवा कर जानी जायेंगी जबकि गुप्तचर-विभाग के लोग गुप्तरूप में भ्रमण कर विचारों का पता लगायेंगे।

दूत अवध्य है

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 148वें सूक्त के पाँचवें मन्त्र में निम्न वाक्य आता है—

न यं रिपवो न रिषण्यवो गर्भे सन्तं रेखणा रेखयन्ति ।

ऋग्० 1.148.5

इस मन्त्र-वाक्य का अर्थ यह है कि 'अपने मध्य में विद्यमान (गर्भे सन्तं) अग्नि की

शत्रु लोग (रिपवः) और अन्य हिंसक लोग (रिषण्यवः) अपने हिंसा कर्मों के द्वारा (रिषणा) हिंसा नहीं करते हैं (रिषयन्ति) ।'

अधिराष्ट्र अर्थ में अग्नि का विशिष्ट अर्थ दूत होता है यह हम ऊपर देख ही चुके हैं । उद्धृत मन्त्र के इस वर्णन से यह ध्वनि निकलती है कि दूत को मारा नहीं जाना चाहिए । वह अवध्य है । दूत को अपने राष्ट्र के संदेश और विचार मित्र और शत्रु सभी के पास पहुँचाने होते हैं । कई बार ये संदेश और विचार अप्रिय और कटु भी हो सकते हैं । अप्रिय और कटु बातों को सुनकर सुनने वालों को बुरा भी लग सकता है और क्रोध भी आ सकता है । और उनके मन में दूत को दण्डित करने, जेल में डालने और मारने का विचार भी आ सकता है । परन्तु दूत तो अपने राष्ट्र की सरकार के विचार ही पर-राष्ट्र के अधिकारियों तक पहुँचा रहा होता है । व्यक्तिगत रूप में वह उन विचारों के लिए उत्तरदाता नहीं होता । पर-राष्ट्र के अधिकारी जो उत्तर देंगे उसे वह अपने राष्ट्र के अधिकारियों तक पहुँचा देगा । समय पक्ष के संदेशों और विचारों के इस आदान-प्रदान में दूत का व्यक्तिगत रूप में कोई उत्तर-दायित्व नहीं होता । इसलिए उसके मुख से कही गई किसी अप्रिय और कटु बात से नाराज होकर सुनने वालों को उसे व्यक्तिगत रूप में कोई दण्ड नहीं देना चाहिए । यदि नासमझी से ऐसा कर दिया जाए तो दोनों पक्षों में सम्पर्क टूट जायेगा और उससे दोनों को ही अन्ततोगत्वा हानि होगी । इसीलिए सभी नीति-शास्त्रों में दूत को अवध्य कहा गया है । नीतिशास्त्रों का यह विचार वेद से ही प्रसृत हुआ है ।

कबूतरों का उपयोग

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले ऋग्वेद 10.165 और अथर्ववेद 6.27 सूक्तों के सम्बन्ध में भी यहाँ एक शब्द कह देना उचित होगा । इन सूक्तों का देवता 'कपोत' है । ऋग् 10.165 में पाँच मन्त्र हैं और अथर्व 6.27 में तीन । अथर्व 6.27 के तीनों मन्त्र बहुत हलके शान्दिक परिवर्तन के साथ ऋग् 10.165 में आ जाते हैं । इन सूक्तों में यदि मुख्यरूपेण कपोत का अर्थ कबूतर किया जाय, जैसा कि सायणादि भाष्यकार करते हैं, तो सूक्त बहुत ही निरर्थक और भद्दे अर्थ को देने वाले प्रतीत होते हैं । इसलिए इन सूक्तों के 'कपोत' शब्द का कोई और ही अर्थ करना होगा जिससे सूक्त किसी आध्यात्मिक, आधिदैविक या आधिभौतिक सत्यार्थ का वर्णन करेंगे । कपोत का इन सूक्तों में मुख्य अर्थ क्या करना होगा इसका विचार हमारे लिए यहाँ प्रकरण-पतित नहीं है । कपोत का मुख्य अर्थ यहाँ कुछ भी हो । इन सूक्तों में कपोत का एक विशेषण 'दूत' भी आया है । इस 'दूतःकपोतः' से एक ध्वनि यह अवश्य निकलेगी कि कपोत अर्थात् कबूतर से दूत का—संदेश भेजने का, काम भी लिया जा सकता है । सूक्त में कपोत का अग्नि से भी सम्बन्ध बताया गया है । इससे यह भी ध्वनि निकलेगी कि अग्नि अर्थात् सम्राट को अर्थात् राज्य को दूतकर्म के लिए संदेश भेजने के लिए—कबूतरों को भी पालकर शिक्षित करना चाहिए । शायद इन

सूक्तों से ध्वनि द्वारा निकलने वाली इस शिक्षा के आधार पर ही कवूतरों से संदेश भेजने का काम लेने की प्रथा संसार में प्रचलित हुई हो ।

अग्नि को दूत कहने की व्यंजना

इस प्रकार अग्नि का दूत के रूप में वर्णन करके और दूत के गुणों और कर्मों पर प्रकाश डाल कर वेद ने यह उपदेश दिया है कि सम्राट् को अपने राज्य में दूत विभाग भी रखना चाहिए और सब दृष्टियों से योग्यतम व्यक्तियों को दूत के कार्य पर नियुक्त करना चाहिए । अग्नि (सम्राट्) को दूत कहने की यही व्यंजना है ।

अग्नि शब्द की निरुक्तियों की संगति

यास्काचार्य ने निरुक्त में अग्नि शब्द के अनेक यौगिक अर्थ किये हैं । उनमें 'अग्निः कस्मात्' ? 'अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते' ये दो अर्थ भी वहाँ दिये हैं । अर्थात् अग्नि को अग्नि इसलिए कहा जाता है कि वह अग्रणी होता है, अग्रणी होने के कारण उसे अग्नि कहा जाता है । और उसे अग्नि इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि उसे यज्ञों में सबसे आगे ले जाया जाता है । ये दोनों अर्थ राज-दूत में बड़े सुन्दर संगत होते हैं । उसे अपने राज्य के संदेश दूसरे राज्यों तक पहुँचाने और उनके उत्तर और संदेश प्राप्त करने के काम में अग्रणी बनाया जाता है इसलिए वह अग्नि है । और इस प्रकार राष्ट्र-यज्ञ के संचालन में उसे आगे रखा जाता है इसलिए भी वह अग्नि है । अग्नि के इन दोनों अर्थों का तात्पर्य एक सा ही है, केवल अग्नि शब्द की निरुक्ति की प्रक्रिया में कुछ अन्तर है । अग्नि का सामान्य अर्थ राजा या सम्राट् करने पर भी, जैसा कि हमने इस ग्रन्थ में अनेक जगह किया है, यास्क द्वारा किये गये अग्नि के दोनों अर्थ बड़े सुन्दर संगत हो जायेंगे । सम्राट् राज्य-संचालन के कार्य में अग्रणी होता ही है और उसे राष्ट्र-यज्ञ के नेतृत्व में सबसे आगे रखा ही जाता है ।

इसी अभिप्राय से वेद में अग्नि के लिए 'पुरोहित' विशेषण का भी बार-बार प्रयोग हुआ है । पुरोहित का अर्थ होता है जिसे कार्यों में आगे रखा जाये । दूत राष्ट्र के विशेष प्रकार के कार्यों में आगे रखा जाता है । सम्राट् तो राष्ट्र के सब प्रकार के कार्यों में आगे रहता ही है, प्रमुख रहता ही है । दूत और सम्राट् दोनों अर्थों में अग्नि पुरोहित है ।

3. अश्विनौ : परिवहन मन्त्री

अश्विनी देवता भी इन्द्र का सहचारी देवता है । वेद में इन्द्र के साथ अश्विनी के बहुत वर्णन आते हैं । इन्द्र का अर्थ वेद में सम्राट् भी होता है यह हम इस ग्रन्थ में देखते ही आ रहे हैं । तब अश्विनौ का अधिराष्ट्र पक्ष में क्या अर्थ होगा इस पर हमें यहाँ विचार करना है ।

अश्विनौ का मानव और राजा रूप

वेद में अनेक स्थानों¹ पर अश्विनौ को 'नरो' कहा गया है। यह शब्द 'नर' अथवा 'नृ' शब्द का प्रथमा विभक्ति का द्विवचन है। 'नर' और 'नृ' शब्द मनुष्य के वाचक होते हैं। अश्विनौ के लिए इस 'नरो' शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट सूचित होता है कि वेद में अश्विनौ का एक रूप मनुष्य का भी है। अर्थात् एक अर्थ में उन्हें मनुष्य समझकर भी अश्विनौ की व्याख्या की जा सकती है। अश्विनौ को 'नरो' अर्थात् मनुष्य कहने के साथ ही उन्हें कई स्थानों पर 'राजानो'² और 'नृपती'³ इन विशेषणों से भी सम्बोधित किया गया है। इन दोनों शब्दों का सुप्रसिद्ध अर्थ 'राजा' होता है। उनके इन दोनों विशेषणों से यह स्पष्ट द्योतित होता है कि अश्विनौ का एक रूप राजा का भी होता है। दूसरे शब्दों में उन्हें राजा समझ कर भी अश्विनौ की एक व्याख्या की जा सकती है। अश्विनौ के इन 'नरो', 'राजानो' और 'नृपती' विशेषणों को समुदित रूप में देखने पर यह स्पष्ट आशय निकल आता है कि उनका एक अर्थ मनुष्य राजा भी होता है और अश्विनौ की एक व्याख्या इस रूप में भी हो सकती है। वेद के अनेक स्थलों पर अश्विनौ का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें दृष्टिगोचर होने लगती हैं। यास्क ने निरुक्त⁴ में लिखा भी है कि ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि अश्विनौ नाम के कोई दो पुण्यशाली राजा थे। यास्क स्वयं ऐतिहासिक पक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं। वे वेद में किन्हीं व्यक्ति विशेषों का इतिहास नहीं मानते हैं। इतिहास पक्ष का यास्क ने प्रबल खण्डन किया है। हम अश्विनौ को कोई राजा-विशेष नहीं मानते जोकि पहले कभी किसी काल और देश में राज्य करते थे। हम तो अश्विनौ का सामान्य राजा अर्थ करते हैं। अश्विनौ को राजा कहकर वेद ने राजा के विशेष प्रकार के कर्तव्यों का वर्णन किया है जो कि किसी भी काल और देश के राजाओं को अपने राज्य में करने चाहिए।

अश्विनौ इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी देवता हैं। वे राज्य के एक विशेष विभाग का संचालन करेंगे। उस विभाग में वे सम्राट् के प्रतिनिधि होकर काम करेंगे। सम्राट् का प्रतिनिधि होने के कारण वे एक प्रकार से सम्राट् या राजा ही होंगे। इसी दृष्टि से वेद में अश्विनौ के लिए राजा और नृपति विशेषणों का प्रयोग किया गया है। उनके लिए अश्विनौ यह द्विवचन का प्रयोग क्यों किया है, दूसरे शब्दों में उन्हें दो क्यों कहा गया है इस पर विचार हम आगे करेंगे।

इस प्रकार यह देखने के पश्चात् कि वेद में अश्विनौ का एक रूप मनुष्य राजा भी होता है, यह देखना है कि उनका अपना विशिष्ट स्वरूप क्या है। दूसरे शब्दों में अब हमें यह देखना है कि राज्य में उनका अपना विशेष कार्य-क्षेत्र क्या है।

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे० 1.3.2; 1.46.4।

² उदाहरण के लिए देखें—6.62.9; 10.39.11।

³ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे० 7.67.1; 7.71.3।

⁴ निरुक्त 12.1.1।

अश्विनौ के घोड़े

सबसे पहिले अश्विनौ शब्द को ही लीजिए। यह शब्द 'अश्व' शब्द से बना है। जिसके पास अश्व हो वह अश्विन् कहलायेगा। दो को अश्विनौ कहेंगे। अश्व शब्द 'अश्वङ् व्याप्ता' धातु से बनता है। अश्व शब्द की 'अश्वनुते अध्वानम् इति अश्वः' यह निरुक्ति की जाती है। इस निरुक्ति का भाव यह है कि क्योंकि अश्व मार्ग को व्याप्त कर लेता है इसलिए उसे अश्व कहा जाता है। मार्ग को व्याप्त कर लेने का भाव यह है कि अश्व दौड़कर जल्दी से मार्ग के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच जाता है। तात्पर्य यह है कि शीघ्रगामी होने के कारण अश्व (घोड़े) को अश्व कहा जाता है। क्योंकि अश्विनौ के पास अश्व रहते हैं इसलिए उन्हें अश्विनौ कहा जाता है। वेद के सुप्रसिद्ध कोष और व्याख्या-ग्रन्थ निरुक्त में अश्विनौ की एक निरुक्ति इसी आशय की की गई है। वहाँ कहा गया है कि 'अश्वैरश्विनावित्यौर्णवामः'¹ अर्थात् 'और्णवाम आचार्य कहते हैं कि अश्वों वाला होने के कारण अश्विनौ को अश्विनौ कहा जाता है।' वेद में अश्विनौ के अश्वों का बार-बार वर्णन आता है। इसे वेद का स्वाध्याय करने वाला प्रत्येक व्यक्ति भली-भाँति जानता है। इस सम्बन्ध में यहाँ वेद से कोई उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है।

अश्विनौ की एक निरुक्ति निरुक्त में यह भी दी गई है कि 'यदव्यश्वनुवाते सर्वम्'² अर्थात् 'क्योंकि वे सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं, सर्वत्र पहुँच जाते हैं, इसलिए उन्हें अश्विनौ कहा जाता है।' अश्वों का बार-बार वर्णन तो अश्विनौ के साथ वेद में आता ही है, रथों का वर्णन भी वहाँ बार-बार अश्विनौ के साथ आता है। अश्वों और रथों के साहचर्य से अधिराष्ट्र अर्थ में अश्विनौ के सर्वत्र व्याप्त होने का, सर्वत्र पहुँचने का, भाव भी यही होगा कि वे राष्ट्र के सभी मार्गों को व्याप्त करके उन पर चलते हैं। अधिराष्ट्र के भिन्न क्षेत्रों में अश्विनौ के जो अर्थ होंगे उनमें अश्विनौ की इस निरुक्ति का दूसरा अभिप्राय लेना होगा। अन्य सभी देवताओं की भाँति अश्विनौ के भी वेद में अनेक अर्थ हो जाते हैं।

अश्विनौ को रथों में घोड़े कैसे जोड़ने चाहिए इस पर भी उनके घोड़ों और रथों के लिए प्रयुक्त किये गये विशेषणों से प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए देखिये—

- | | |
|---|----------------|
| 1. रथः स्वश्वः । | ऋग् ० 1.117.2. |
| 2. रथं द्रवदश्वमाशुम् । | ऋग् ० 4.43.2. |
| 3. जीराश्वम् । | ऋग् ० 1.119.1. |
| 4. श्वेतमश्वम् । | ऋग् ० 1.116.6. |
| 5. आ नूनं यांतमश्विना ऽश्वेभिः प्रुषितप्सुभिः | ऋग् ० 8.87.5. |
| 6. सुयमासो अश्वाः । | ऋग् ० 1.180.1. |

¹ निरुक्त 12.1.1 ।

² निरुक्त 12.1.1 ।

इनमें से प्रथम मन्त्र-खण्ड में कहा गया है कि अश्विनौ का रथ बहुत उत्तम अश्वों वाला है। दूसरे मन्त्र-खण्ड में कहा गया है कि अश्विनौ का रथ बड़ा तेज चलता है क्योंकि उसमें तीव्र दौड़ने वाले अश्व जुड़े हैं। तीसरे मन्त्र-खण्ड में कहा है कि उनका रथ तीव्रगामी (जीराश्वम्)¹ अश्वों से युक्त है। चौथे मन्त्र-खण्ड में कहा गया है उनका अश्व श्वेत रंग का है। पांचवें मन्त्र-खण्ड में कहा गया है कि हे अश्विनौ तुम चिकने और चमकते रूप वाले (प्रुषितप्सुभिः)² अश्वों द्वारा आओ। छठे मन्त्र-खण्ड में कहा गया है कि अश्विनौ के अश्व बहुत अच्छी तरह शिक्षित और सघे हुए हैं।

अश्विनौ के इन वर्णनों द्वारा यह बताया गया है कि उन्हें अपने रथ क्षीघ्रगामी बनाने चाहिए। उनमें क्षीघ्रगामी और तेज दौड़ने वाले घोड़े जोड़ने चाहिए। घोड़े जहाँ तेज चलने और दौड़ने वाले हों वहाँ उनका रूप-रंग भी सुन्दर और आकर्षक होना चाहिए। इसके साथ ही घोड़े खूब शिक्षित और सघाकर रखने चाहिए जिससे उन्हें जैसा चाहें वैसा चलाया जा सके।

अश्विनौ के रथ

वेद में अश्विनौ के अश्वों की भाँति उनके रथों का भी बार-बार वर्णन आता है। इन्द्र को छोड़कर और सभी देवताओं की अपेक्षा अश्विनौ के साथ रथों का वर्णन बहुत अधिक संख्या में आता है। इन्द्र के साथ रथ का वर्णन ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में कोई 189 बार आता है और अश्विनौ के साथ कोई 155 बार आता है, जबकि अग्नि के साथ कोई 65 बार आता है तथा अन्य देवताओं के साथ इससे भी कम बार आता है। सामवेद में आये रथ के वर्णनों का परिगणन हमने नहीं किया है, क्योंकि सामवेद में अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं और वहाँ उनका आध्यात्मिक और उपासनापरक अर्थ होता है। अश्विनौ के साथ रथों का वेद में बहुत अधिक वर्णन आता है, इसे वेद का प्रत्येक स्वाध्यायशील पाठक जानता है। इस सम्बन्ध में यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

अश्विनौ ही वस्तुतः रथवान्

यहाँ एक बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि अश्विनौ की अपेक्षा इन्द्र के साथ रथ का अधिक वर्णन आता है तो भी असल में अश्विनौ ही रथवान् हैं ऐसा माना जाता है। ऋग्वेद 9.97.49 में वर्णन आता है कि हे पवमान सोम तुम वायु, मित्रावरुणौ, रथेष्ठा और इन्द्र के पास जाओ। सायणाचार्य ने यहाँ रथेष्ठा³ (अर्थात् रथ पर बैठने वाला) का अर्थ अश्विनौ किया है। रथेष्ठा पद को इन्द्र का विशेषण भी माना जा सकता था। पर श्री सायण

¹ जववदश्वोषेतमिति सायणः।

² प्सु इतिरूपनामप्रसस्तेहृतसेचनपूरणेषु। स्तिग्धरूपैर्दीप्त्यरूपैरित्यर्थः। इति सायणः।

³ अनेनाश्विनावभिधीयेते। एकवचनं प्रत्येक-विवक्षया समुदाय विवक्षया वा। सायणः।

ने वैसा न करके इस पद का स्पष्ट अर्थ अश्विनौ किया है। मंत्र की पद-रचना ही ऐसी है कि इस पद को इन्द्र का विशेषण नहीं माना जा सकता। उस-उस देवता के पास सोम के जाने को द्योतित करने के लिए मंत्र में 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। जहाँ वायु, मित्रावरुणी और इन्द्र के लिए पृथक्-पृथक् 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है वहाँ रथेष्ठा के लिए भी पृथक् 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। इस मंत्र में रथेष्ठा स्पष्ट ही इन्द्र से भिन्न है।¹ यद्यपि कई अन्य स्थलों पर यह पद इन्द्र के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार यजुर्वेद 21.31 मंत्र के भाष्य में उवट और महीधर ने 'रथः' शब्द का अर्थ अश्विनौ किया है। यह अर्थ करते हुए उन्होंने वहाँ किसी ग्रन्थ का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका यह अर्थ है कि 'यदि कहीं किसी देवता के शस्त्र अथवा वाहन की स्तुति की गई हो तो वहाँ उस देवता की ही स्तुति की गई है ऐसा समझना चाहिए।'² इन भाष्यकारों के मत में उक्त मन्त्र में 'रथ' की स्तुति क्योंकि की गई है, और रथ अश्विनौ का वाहन है इसलिए वहाँ वस्तुतः अश्विनौ की ही स्तुति की गई है। इस प्रकार उवट और महीधर भी सायण की भाँति ही रथ को विशेष रूप में अश्विनौ का वाहन मानते हैं। ऊपर निर्दिष्ट ऋग्० 9.97.49 मंत्र से इस विचार का समर्थन भी होता है। इसी भाँति ऋग्० 1.157.6 मंत्र से भी इस विचार का समर्थन होता है। वहाँ अश्विनौ को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि—

अथो ह स्थो रथ्या३ राथ्येभिः।

ऋग्० 1.157.6

अर्थात्—'हे अश्विनौ तुम रथों के वहन में कुशल अपने अश्वों (राथ्येभिः)³ के कारण रथ चलाने में निपुण रथवान् (रथ्या) हो।' यहाँ भी रथों का विशेष रूप से सम्बन्ध अश्विनौ के साथ ही बताया गया है।

अश्विनौ ही रथवान् क्यों ?

अब इस प्रश्न का क्या समाधान होगा कि जब इन्द्र के साथ रथ का वर्णन अश्विनौ की अपेक्षा कहीं अधिक है तो अश्विनौ को विशेष रूप से रथवान् क्यों कहा

¹ पूरा मंत्र इस प्रकार है—

अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो३ ऽभि मित्रावरुणा पूयमानः।

अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रुवाहुम् ॥ ऋग्० 9.97.49.

² रथस्य भागोश्विनोरेव। तदुक्तम्—आयुधं वाहनं वापि स्तुतो यस्येह दृश्यते, तमेव तत् स्तुतं विद्यात् तस्यात्मा बहुधा हि सः। यजु० 21.31. भाष्ये उवट-महीधरौ।

³ मंत्र में 'राथ्येभिः' पाठ है। पद-पाठ में 'रथ्येभिः' पाठ है। सभी भाष्यकार 'रथ्येभिः' पाठ मानकर ही मंत्र का अर्थ करते हैं। मंत्र के पाठ को सिद्ध करने के लिए अष्टाध्यायी के सूत्रों का आश्रय लिया जाता है। मंत्र का पाठ ही 'रथ्येभिः' क्यों न मान लिया जाये ? यह पाठ मानने पर छन्दोभंग भी नहीं होता।

गया । इसके समाधान में हमें यह कहना है कि इन्द्र और अन्य देवताओं के साथ रथ का जो वर्णन आता है उसमें रथ को प्रायः इन देवताओं की निजी सवारी के रूप में वर्णित किया गया है । उधर अश्विनो के रथ राष्ट्र में अन्न आदि भाँति-भाँति की खाद्य और दूसरी सामग्री को इधर से उधर ले जाते हैं । उनके रथ सामान्य जनता और सेना के सैनिक को भी अपने ऊपर बिठा कर इधर से उधर ले जाते हैं इस सम्बन्ध में हम विस्तार से विचार आगे के पृष्ठों में करेंगे । यहाँ तक कि इन्द्र आदि को भी अपने कार्यों के लिए अश्विनो के रथों की आवश्यकता पड़ती है । उदाहरण के लिए निम्न मंत्र देखिये—

1. यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद् वा वायुना भवथः समोकसा ।

यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद् वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥

ऋग्० 8.9.12

2. इन्द्रं कर्मस्वावतम् ।

ऋग्० 10.131.4

मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है—(1) हे अश्विनो जो तुम इन्द्र को अपने रथ पर बिठाकर चलते हो, अथवा वायु को रथ पर बिठाकर उसके साथ एक स्थान वाले होते हो, अथवा आदित्यों और ऋभुओं को रथ पर बिठाकर उनके साथ प्रीति करने वाले बनते हो अथवा विष्णु के चलने के समय उसके साथ रथ पर बैठते हो । (2) हे अश्विनो तुम इन्द्र की उसके कामों में रक्षा करते हो अर्थात् उसकी सहायता करते हो ।

इस प्रकार राष्ट्र में विभिन्न प्रकार के परिवहन के कार्य करने के कारण तथा अपने रथों के द्वारा इन्द्र आदि अन्य सभी देवों अर्थात् राज्याधिकारियों को सहयोग देने के कारण अश्विनो के रथों का विशेष महत्त्व है और इसी दृष्टि से उन्हें विशेष रूप से 'रथ्य' अथवा रथवान् कह दिया गया है । यों इन्द्र क्योंकि सम्राट् होने के कारण राष्ट्र का सर्वोपरि शासक है और राज्य के सभी विभाग अन्ततः उसी के अधीन और उसी के प्रति उत्तरदाता हैं इसलिए अश्विनो के रथ भी एक प्रकार से इन्द्र के ही समझे जा सकते हैं ।

अश्विनो द्वारा अनाजों का परिवहन

अब अश्विनो के कुछ कार्यों पर दृष्टिपात कीजिये । इस सम्बन्ध में पहले निम्न वेद मंत्रों को देखिये—

1. इषां वोळ्हा वाजिनीवान् ।

ऋग्० 7.69.1

2. त्रिस्त श्रवांसि वहतमश्विना ।

ऋग्० 1.34.5

3. पृक्षो वहतमश्विना ।

ऋग्० 1.47.6

4. अस्मे रासाथमिषम् ।

ऋग्० 1.46.6

5. ता न आ वोळ्हमश्विना रयि पिशंङ्ग-संहशम् ।

घिष्ण्या वरिवोविदम् ।

ऋग्० 2.41.9

- | | |
|---------------------------------------|--------------|
| 6. वां पृक्षो भुरजन्त पक्वाः । | ऋग्० 4.43.5 |
| 7. वयो वहन्तु पीतये । | ऋग्० 5.75.6 |
| 8. आ नो.....यातमिषमूर्जं वहन्ता । | ऋग्० 5.76.4 |
| 9. पृक्षो वहन्ना रथो वर्तते वाम् । | ऋग्० 5.77.3 |
| 10. इषं जनाय दाशुषे वहन्ता वाजसातमा । | ऋग्० 7.70.3. |
| | ऋग्० 5.5.5 |
| 11. वहतं पीवरीरिषः । | ऋग्० 8.5.20 |
| 12. इषं जनाय वहथः शुभस्पती । | ऋग्० 10.40.4 |

इन मंत्र-खण्डों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) अश्विनी का रथ अन्नो को (इषां) वहन करके ले जाने वाला है वह इसीलिए वाजिनीवान्¹ अर्थात् अन्नवान् है। (2) हे अश्विनी तुम तीन बार अन्नो का (श्रवांसि) वहन करो अर्थात् आकाश, धरती और समुद्र पर चलने वाले रथों में अन्नो का वहन करो। (3) हे अश्विनी तुम अपने रथ पर अन्नो का (पृक्षः) वहन करो। (4) हे अश्विनी तुम हमारे लिए अन्न का (इषं) प्रदान करो। (5) हे अश्विनी तुम हमारे लिए भूरे-पीले रंग के (पिशंगं) सुन्दर अन्नरूप धन को वहन करके लाओ जो कि हमें धन-सम्पत्ति दिलाने वाला हो। पिशंगं अर्थात् भूरे-पीले रंग से तात्पर्य गेहूँ मकई ज्वार बाजरा आदि इस रंग के अन्नो से है और उन अन्नो को धन-सम्पत्ति दिलाने वाला कहने का अभिप्राय यह है कि उन्हें बेच कर हमें धन-सम्पत्ति प्राप्त होगी। (6) हे अश्विनी तुम्हारे पके हुए अन्न (पृक्षः) हमें प्राप्त होते हैं (भुरजन्त)²। (7) भाव यह है कि अश्विनी खेतों में पके हुए अनाज अपने रथों पर वहन करके लाते हैं। अश्विनी के अश्व हमारे खाने-पीने के लिए अन्न (वयः) वहन करके लावें। (8) हे अश्विनी तुम हमारे लिए अन्न (इषं) और रस (उजं)³ को वहन करते हुए आओ। (9) हे अश्विनी तुम्हारा रथ अन्न को (पृक्षः) वहन करता हुआ सब ओर चल रहा है। (10) अश्विनी किराया अथवा राज्य के कर आदि ठीक प्रकार देने वाले (दाशुषे) लोगों के लिए अन्न (इषं) को वहन करने वाले हैं और इस प्रकार सबको खूब अन्न देने वाले (वाजसातमा) हैं। (11) हे अश्विनी तुम हमारे लिए बड़े परिमाण में अथवा उनका सेवन करने से हमें मोटे और स्वस्थ बनाने वाले (पीवरीः) अन्न वहन करके लाओ। (12) हे अश्विनी तुम सबका मंगल करने वाले हो हम लोगों के लिए अन्न (इषं) का वहन करके लाते हो।

अश्विनी के इन और ऐसे ही अन्य अनेक वर्णन से यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि उनका एक कार्य राष्ट्र में अन्न का परिवहन करना है। इसी प्रसंग में अश्विनी के निम्नांकित कुछ विशेषण और वर्णन भी यहाँ देख लेना उपयुक्त होगा—

¹ अन्नवान् इति सायणः ।

² प्राप्नुवन्ति इति सायणः ।

³ ऊर्ग्वे रसः । शत० 5.1.18, शत० 3.94.18, शत० 5.3.4.3 ।

1. युवं चित्रं ददथुर्भोजनम् ।	ऋग्० 7.74.2
2. पुरुभुजा ।	ऋग्० 6.63.5
3. भुजी ।	ऋग्० 8.8.2
4. पुरुभोजसा ।	ऋग्० 8.22.16
5. वाजिनीवसू ।	ऋग्० 1.120.10

इनमें से प्रथम मंत्र-खण्ड में अश्विनो के सम्बन्ध में कहा गया है वे लोगों को चित्र अर्थात् अद्भुत और नाना प्रकार का उत्तम भोजन प्रदान करते हैं (ददथुः)। अन्नो के परिवहन द्वारा अश्विनो राष्ट्र के लोगों के लिए नाना प्रकार के सुन्दर-सुन्दर भोजन प्राप्त कर सकने की व्यवस्था करते हैं। आगे के चार पद अश्विनो के विशेषण हैं। पुरुभुजा का अर्थ है बहुत लोगों को भोजन देने वाले। भुजी का अर्थ है लोगों को भोजन देने वाले। पुरु-भोजसा का अर्थ भी बहुत लोगों को भोजन देने वाले ही है। अश्विनो भ्राँति-भ्राँति के अनाजों का राष्ट्र में सर्वत्र परिवहन करके उन्हें भोजन प्राप्त करने की व्यवस्था करते हैं। पाँचवाँ विशेषण वाजिनीवसू है। वाज का अर्थ अन्न और बल होता है। इस शब्द का अर्थ बल देने वाला अन्न ऐसा भी हो जाता है। इस वाजिनी¹ का अर्थ होगा—अन्न देने की क्रिया। अन्न देने की क्रिया द्वारा जो लोगों को बसने में सहायता देवे वाजिनीवसू कहलायेंगे। वाजिनी² का अर्थ सायण ने अन्न भी किया है। तब तो वाजिनीवसू का सीधा ही यह अर्थ हो जायेगा कि जो अन्न प्रदान करके लोगों को बसाते हैं। अश्विनो अपने रथों द्वारा भ्राँति-भ्राँति के बलदायक अन्नो का राष्ट्र में सब जगह परिवहन करके लोगों के भली-भ्राँति बसने की, उनके स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रहकर जीवन-यापन करने की व्यवस्था करते हैं। अश्विनो के ये सभी विशेषण अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं।

मधु का परिवहन

अनेक स्थानों पर वेद में कहा गया है कि अश्विनो मधु का परिवहन करते हैं। उदाहरण के लिए वेद के निम्न स्थल देखिये—

1. मधुवाहनो रथः ।	ऋग्० 1.157.3
2. दृति वहेथे मधुमन्तमश्विना ।	ऋग्० 4.45.3
3. पूर्णं रथं वहेथे मध्व आचितम् ।	ऋग्० 1.182.2
4. यह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे ।	ऋग्० 8.5.19

इनमें से प्रथम उद्धरण में अश्विनो के रथ को मधुवाहन कहा गया है। उनका रथ राष्ट्र के लोगों तक मधु को वहन करके ले जाता है इसीलिए वह मधुवाहन है।

¹ वाजिनीवतोः वाजमन्त्रं बलं वा तत्क्रियावतोः (अश्विनोः) इति ऋग्० 1.120.10 भाष्ये सायणः। वाजिनीवसू यौ वाजिनी बह्व्यादिक्रियां वासयतस्तौ। ऋग्० 5.74.6 भाष्ये दयानन्दपिः।

² वाज एव वाजिनी अन्तेन वासयितारो बलवर्धको वा (अश्विनो) इति ऋग्० 2.37.5 भाष्ये सायणः। वाजिनीवतो अन्नवती। निरु० 12.1.6।

अश्विनो के रथ का यह विशेषण स्थान-स्थान पर आता है। दूसरे मंत्र-खण्ड में कहा है कि 'हे अश्विनो तुम मधु से भरे हुए कुप्पो (हृति) का वहन करते हो।' तीसरे मंत्र-खण्ड में कहा है कि 'हे अश्विनो तुम मधु के भरे हुए (आचित) पूर्ण रथ का वहन करते हो।' भाव यह है कि मधु से पूरे भरे हुए रथों का अश्विनो संचालन करते हैं। चौथे मंत्र में कहा गया है कि 'हे अश्विनो तुम्हारे रथ के मध्य में (रथ चर्चणे)¹ जो मधु के कुप्पे (हृति) रखे हैं उन्हें हम प्रजाजनों तक पहुँचाओ।' मंत्रों में आया मधु शब्द जहाँ शहद का वाचक है वहाँ शहद से उपलक्षित गुड़, शक्कर आदि अन्य मधुर खाद्य पदार्थों का भी उपलक्षक है।

घृत का परिवहन

निम्न स्थलों पर कहा गया है कि अश्विनो घृत का परिवहन करते हैं—

1. घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम् ।

ऋग्० 1.157.2.

2. घृतवर्तनिः...रथः ।

ऋग्० 7.69.1.

प्रथम मंत्र-खण्ड में कहा गया है कि 'हे अश्विनो तुम जो अपना रथ जोड़ते हो उसके द्वारा तुम घृत से और मधु से हमारे क्षत्र को सींचो (उक्षतम्)।' क्षत्र का अर्थ बल और क्षत्रिय होता है। बल अर्थ में भाव यह होगा कि प्रजाजनों को यथेष्ट मात्रा में घृत और मधु मिले जिससे उनके बल-वीर्य की वृद्धि हो। क्षत्रिय अर्थ में भाव यह होगा कि हमारे राष्ट्र के क्षत्रिय लोगों को घृत और मधु यथेष्ट परिमाण में मिल सकें जिससे वे बलवीर्य-शाली बनकर राष्ट्र की रक्षा का कार्य भली-भाँति कर सकें। मंत्र के सींचो (उक्षतम्) क्रिया-पद का भाव यह है कि लोगों को घृत और मधु तथा उनसे उपलक्षित खाद्य पदार्थ यथेष्ट मात्रा में खाने को मिलने चाहिए। उनकी कमी या अभाव नहीं रहना चाहिए। दूसरे मंत्र-खण्ड में अश्विनो के रथ को घृतवर्तनि कहा गया है। वर्तनि का सुप्रसिद्ध अर्थ मार्ग होता है। श्री सायण ने भी ऋग्० 8.22.1 मंत्र के भाष्य में वर्तनि का अर्थ मार्ग किया है। अश्विनो के रथ के मार्ग में क्योंकि घृत रहता है इसलिए उनका रथ घृतवर्तनी है। रथ के मार्ग में घृत होने का भाव यह है कि अश्विनो के रथ घृत उठाकर राष्ट्र के मार्गों पर उसका वहन करते हैं जिससे सब प्रजाजनों को वह खाने के लिए प्राप्त हो सके।

रसों का परिवहन

अश्विनो के ऐसे वर्णन भी आते हैं जिनमें कहा गया है कि वे भाँति-भाँति के रसों का भी परिवहन करते हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

1. आ न ऊर्जं वहतमश्विना ।

ऋग्० 1.92.17.

2. पितुमतीर्नूर्जमस्मा अधत्तम् ।

ऋग्० 1.116.8.

¹ रथस्य चर्चणे द्रष्टव्ये मध्यदेशे । सायणः ।

3. आ नो यातमूर्जं वहन्ता ।

ऋग्० 5.76.4.

4. ऊर्जं वहन्ता ।

ऋग्० 6.62.4.

इन मन्त्र-खण्डों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) हे अश्विनो तुम हमारे लिए रसों का वहन करो । (2) हे अश्विनो तुम इस प्रजाजन के लिए अन्नों से युक्त रसों को देते हो । (3) हे अश्विनो तुम हमारे लिए रसों का वहन करते हुए आओ । (4) अश्विनो रसों को वहन करते हुए आते हैं ।¹

इन मन्त्रों में रस के लिए 'ऊर्ज' शब्द का प्रयोग हुआ है । ब्राह्मण ग्रन्थों में ऊर्ज का एक अर्थ रस भी किया गया है । ऋषि दयानन्द और सायण आदि भाष्यकारों ने भी ऊर्ज शब्द का अनेक स्थानों पर रस अर्थ भी किया है । रस शब्द गन्ने का रस, दूध, दही आदि सभी प्रकार के रसीले पदार्थों का सूचक है । प्रजाजनों के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अश्विनो भ्राति-भ्राति के रसों का राष्ट्र में इधर से उधर परिवहन करते हैं ।

सोने और चांदी का परिवहन

अनेक स्थानों पर अश्विनो को 'हिरण्यवर्तनी'¹ कहा गया है । हिरण्य का एक अति प्रसिद्ध अर्थ सुवर्ण (सोना) होता है । और वर्तनी का अतिप्रसिद्ध अर्थ, जैसा कि अभी ऊपर हमने देखा है, मार्ग होता है । अश्विनो हिरण्यवर्तनी हैं । उनके मार्गों पर हिरण्य (सुवर्ण) चलता है इसलिए वे हिरण्यवर्तनी हैं । भाव यह है कि अश्विनो के रथ सुवर्ण को लाद कर राष्ट्र के मार्गों पर इधर से उधर ले जाते हैं । खानों से निकाले गये तथा व्यावहारिक उपयोग के लिए शोध कर तैयार किये गये सुवर्ण को अश्विनो के रथ राष्ट्र के मार्गों पर इधर से उधर ले जाते हैं । इसी भ्राति अश्विनो के द्वारा चांदी के परिवहन का वर्णन भी आता है । इस सम्बन्ध में निम्न मंत्र देखिए—

आ...रथेन...पुरुश्चन्द्रेण यातम् ।

ऋग्० 7.72.1

अर्थात्—'अश्विनो तुम अपने पुरुश्चन्द्र रथ के साथ आओ ।' इस मंत्र में अश्विनो के रथ का विशेषण पुरुश्चन्द्र दिया गया है । इस शब्द का शब्दार्थ होता है जिसमें या जिसके पास बहुत 'चन्द्र' हो । चन्द्र का निघण्टु 1.2 में सुवर्ण अर्थ किया गया है । चन्द्र शब्द संस्कृत की 'चदि आह्लादे दीप्तौ च' घातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ आह्लादित होना, आह्लादित करना और प्रकाशित होना, चमकना और प्रकाशित करना होता है । सुवर्ण क्योंकि लोगों को आह्लादित करता है, आनन्दित करता है और प्रकाशित होता अर्थात् चमकता भी है इसीलिए सुवर्ण को 'चन्द्र' कहा जाता है । चन्द्र के इस घात्वर्थ के आधार पर संस्कृत में चन्द्रमा, कपूर और मोरपंख के चन्द्रक आदि अनेक चीजों को चन्द्र कहा जाता है क्योंकि वे सभी आह्लादक और चमकदार

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.92.18, 5.75.2, 5.75.3, 8.5.11, 8.8.1 ।

होती हैं। वेद में निघण्टु के आधार पर चन्द्र का अर्थ सभी भाष्यकार प्रायः सुवर्ण ही करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रायः यही अर्थ किया गया है। परन्तु भाष्यकार सुवर्ण को अन्य धातुओं और धनों का उपलक्षक मानकर कहीं-कहीं चन्द्र का अर्थ सामान्य धन भी कर देते हैं। उदाहरण के लिए सायणाचार्य ने ऋग्० 5.8.1; ऋग्० 7.72.1 और ऋग्० 5.61.16 में 'पुरुश्चन्द्र' शब्द का अर्थ 'बहुत धनयुक्त' ऐसा किया है। इसी भाँति ऋषि दयानन्द ने ऋग्० 2.2.12, ऋग्० 5.61.16 और ऋग्० 1.53.5 में 'पुरुश्चन्द्र' शब्द का अर्थ 'बहुत सुवर्णादियुक्त' और 'बहुत सुवर्ण और रजत (चाँदी) आदि युक्त' ऐसा किया है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द ने 'चन्द्र' शब्द का अर्थ 'सुवर्ण आदि धातुयें' ऐसा भी किया है। उन्होंने ऋग्० 1.141.12 में 'चन्द्ररथः' शब्द का अर्थ 'चन्द्र अर्थात् रजत (चाँदी) अथवा सुवर्ण जिसके रथ में हो' ऐसा किया है। हिन्दी का चाँदी शब्द वैदिक 'चन्द्र' शब्द से निकला प्रतीत होता है। किसी प्राचीन काल में वैदिक चन्द्र शब्द लौकिक संस्कृत में चाँदी के लिए प्रयुक्त होने लग गया होगा और उसी का अपभ्रंश हिन्दी में चाँदी के रूप में आ गया। कुछ भी हो, चन्द्र का 'आह्लादक और चमकीला' यह शब्दार्थ सुवर्ण, चन्द्रमा और कपूर आदि की भाँति चाँदी पर भी पूर्ण रूप से संगत होता है। अतः चन्द्र का अर्थ चाँदी भी किया जा सकता है। ऋषि दयानन्द ने तो ऋग्० 1.141.12 में चन्द्र का अर्थ रजत (चाँदी) किया भी है। ऊपर उद्धृत ऋग्० 7.72.1 मंत्र के 'पुरुश्चन्द्र' शब्द में भी चन्द्र का अर्थ चाँदी करना ही अधिक उपयुक्त होगा। अश्विनी अपने रथों में सुवर्ण का परिवहन करते हैं यह बात तो उनके रथ को 'हिरण्यवर्तनि' कहकर बार-बार स्पष्ट कर ही दी गई है। इस मंत्र में उनके रथ को 'पुरुश्चन्द्र' कहकर यह सूचित किया गया है कि वे अपने रथों द्वारा चाँदी का भी परिवहन करते हैं। खानों से निकलने वाली चाँदी को और व्यावहारिक उपयोग के लिए शोध कर तैयार की गई चाँदी को अश्विनी अपने रथों के द्वारा स्थान-स्थान पर वहन करके ले जाते हैं।

यदि किसी का यही आग्रह हो कि पुरुश्चन्द्र में चन्द्र का अर्थ चाँदी न करके सुवर्ण ही किया जाना चाहिए तो इस अवस्था में सुवर्ण उपलक्षण से चाँदी आदि अन्य धातुओं का भी बोधक समझना चाहिए।

¹ पुरुश्चन्द्रं बहुधनं अतिशयेनाह्लादकं वा। ऋग्० 5.8.1. भाष्ये सायणः। पुरुश्चन्द्राः प्रभूताह्लादकधनाः। ऋग्० 5.61.16 भाष्ये सायणः। पुरुश्चन्द्रेण बहुधनेन। ऋग्० 7.72.1. भाष्ये सायणः।

² पुरुश्चन्द्रस्य पुष्कलसुवर्णादियुक्तस्य। ऋग्० 2.2.12 भाष्ये दयानन्दविः। पुरुश्चन्द्रा बहुसुवर्णादीनि। ऋग्० 5.61.16. भाष्ये दयानन्दविः। पुरुश्चन्द्रेः पुरवो बहुवश्चन्द्रा आह्लादकारकाः सुवर्णरजतादयो धातवो वा येभ्यस्तः। ऋग्० 1.53.5. भाष्ये दयानन्दविः।

³ चन्द्राणि कांचनादीन् धातून्। यजु० 4.26. भाष्ये दयानन्दविः।

⁴ चन्द्ररथः चन्द्रं रजतं सुवर्णं वा रथे यस्य सः। ऋग्० 1.141.12. भाष्ये दयानन्दविः।

अन्य अनेक विविध धन-सम्पत्तियों का परिवहन

ऊपर वर्णित सामग्री के अतिरिक्त अश्विनौ अन्य अनेक प्रकार की धन-सम्पत्ति का भी परिवहन करते हैं। अनेक स्थानों पर उनके रथ को 'वसुवाहन' अर्थात् धन-सम्पत्ति का परिवहन करने वाला कहा गया है। और अनेक स्थानों पर उनके रथ को 'वसुमान्' कहा गया है जिसका अर्थ होता है वसु अर्थात् धन-सम्पत्ति से युक्त। रथ को धन-सम्पत्ति से युक्त कहने का तात्पर्य यह है कि अश्विनौ का रथ नाना प्रकार की धन-सम्पत्ति को उठाकर ले चलता है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

- | | |
|---------------------------|----------------|
| 1. वसुवाहनं रथम् । | ऋग्० 5.75.1. |
| 2. वोढा वसुमां । | ऋग्० 7.71.4. |
| 3. स्वविदा वसुमता रथेन् । | ऋग्० 7.67.3. |
| 4. वसुमता रथेन । | ऋग्० 1.118.10. |
| 5. वसुमन्तं वहेथाम् । | ऋग्० 7.71.3. |

इन मंत्र-खण्डों में से प्रथम में अश्विनौ के रथ को वसुवाहन कहा गया है। दूसरे मंत्र-खण्ड में उनके रथ को वोढा अर्थात् विविध प्रकार की सामग्री का वहन करने वाला तथा वसुमान् कहा गया है। तीसरे में उनके रथ को स्वविद् अर्थात् जनता को सुख पहुँचाने वाला तथा वसुमान् कहा गया है। इस कथन का भाव यह है कि अश्विनौ का रथ नाना प्रकार की धन-सम्पत्ति का परिवहन करके लोगों को सुख पहुँचाता है। चौथे मंत्र-खण्ड में भी उनके रथ को वसुमान् कहा गया है। पाँचवें मंत्र-खण्ड में कहा गया है कि हे अश्विनौ तुम अपने वसुमान् रथ का वहन करो अर्थात् उसे चलाओ।

अश्विनौ के द्वारा विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति का परिवहन किये जाने का उनके अन्य वर्णनों में इससे भी अधिक स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए वेद के निम्न स्थल देखिए—

- | | |
|---|---------------|
| 1. अर्वाञ्चं रथि वहतं सुवीरम् । | ऋग्० 1.34.12. |
| 2. येन शश्वदूहथुः दाशुषे वसु । | ऋग्० 1.47.9. |
| 3. त्रिर्नो रथि वहतमश्विना । | ऋग्० 1.34.5. |
| 4. वरिवोषां शतद्वसुं । | ऋग्० 1.119.1. |
| 5. वसु विभ्रता रथे रथि समुद्राद्भुत वा दिवस्पयस्मेधत्तं पुरुस्पृहम् । | ऋग्० 1.40.6. |
| 6. आ नो रथि वहतम् । | ऋग्० 5.76.5. |
| 7. रथेन वाममश्विना वहन्ता । | ऋग्० 7.71.2. |
| 8. अस्मे आ वहतं रथि शतवन्तं सहस्रिणम् । पुरुक्षुं विश्वघायसम् । | ऋग्० 8.5.15. |
| 9. पुरुणि रत्ना दधतौ न्यशस्मे । | ऋग्० 7.70.4. |

10. धत्तं रत्नानि दाशुष ।

ऋग्० 8.35.22-24

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—(1) हे अश्विनौ धन-सम्पत्ति (रथि) को हमारी ओर वहन करके लाओ । (2) हे अश्विनौ अपने जिस रथ से तुम किराया अथवा राज्य को देय कर आदि देने वालों के लिए (दाशुषे) सदा धन-सम्पत्ति को (वसु) वहन करते हो । (3) हे अश्विनौ तुम हमारे लिए तीन बार अर्थात् पृथिवी, समुद्र और आकाश से धन-सम्पत्ति वहन करो । (4) हे अश्विनौ हम तुम्हारे धन देने वाले (वरिवोषा)¹, सैंकड़ों प्रकार का धन देने वाले रथ को बुलाते हैं । (5) अपने रथ पर धन को धारण करने वाले अर्थात् उठाकर ले चलने वाले हे अश्विनौ तुम समुद्र से अथवा आकाश से बहुतों द्वारा चाहने योग्य धन लाकर दो । (6) हे अश्विनौ तुम हमारे लिए धन वहन करो । (7) अश्विनौ अपने रथ के द्वारा सेवन करने योग्य सुन्दर धन को (वामं)² वहन करने वाले हैं । (8) हे अश्विनौ हमारे लिए सैंकड़ों प्रकार के (शतवन्त) और हजारों प्रकार के (सहस्रिण) धन को वहन करके लाओ जोकि बहुत निवास देने वाला अथवा बहुतों द्वारा प्रशंसनीय हो (पुष्टु)³ और हम सबका धारण-पोषण करने वाला हो (विश्वघायस) । (9) अश्विनौ हमारे लिए बहुत प्रकार के रत्नों को धारण करने वाले हैं अर्थात् अपने रथों पर वहन करके लाने वाले हैं । (10) हे अश्विनौ तुम किराया अथवा राज्य को देय कर आदि देने वाले लोगों के लिए (दाशुषे) नाना प्रकार के रत्नों को प्रदान करो अर्थात् अपने रथों पर लाद कर लाओ ।

इन और इस प्रकार के अश्विनौ के अन्य वर्णनों में स्पष्ट रूप से उनका एक कार्य विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति का परिवहन करना बताया गया है ।

गौ आदि पशुओं का परिवहन

ऋग्वेद के निम्न मन्त्र भी देखिए—

1. आ गोमता....अश्वावता रथेन....यातम् । ऋग्० 7.72.1.

2. आ नो अश्वावदश्विना वर्तिर्यासिष्टं....गोमद् दत्ता हिरण्यवत् ।

ऋग्० 8.22.17.

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—(1) हे अश्विनौ तुम गौ-युक्त और अश्वयुक्त रथ से आओ । (2) हे अश्विनौ तुम अपने मार्गों से (वर्ति) इस प्रकार हमारे पास आओ कि तुम्हारा आना गौयुक्त, अश्वयुक्त और हिरण्ययुक्त हो जाये ।

प्रथम मन्त्र में अश्विनौ के रथ को गोमान् और अश्ववान् कहा गया है । रथ को गोमान् और अश्ववान् कहने के दो अभिप्राय हो सकते हैं । एक तो यह कि रथ में गौ अर्थात् बैल और अश्व जुड़े हुए हैं, बैल और घोड़े रथ को खींचते हैं । तात्पर्य

1 वरिवसो धनस्य दातारम् । सायणः ।

2 वामं वतनीयं धनम् । सायणः ।

3 बहु निवासं पुष्टिर्बहुभिः स्तुत्यं वा । सायणः ।

यह कि बैलों और घोड़ों दोनों से चलने वाले रथ या गाड़ियाँ अश्विनो के पास हैं । रथ के इन विशेषणों का दूसरा भाव यह होगा कि रथों में बैठाकर गौओं और घोड़ों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा रहा है । जैसे कि अश्विनो के रथ को वसुमान् कहने का अभिप्राय यह है कि रथ वसु- अर्थात् धन-सम्पत्ति को अपने में रखकर स्थान से स्थानान्तर में ले जाता है । श्री सायण ने इस मंत्र के भाष्य में गोमान् का जहाँ एक अर्थ यह किया है कि रथ में बैल जुड़े हुए हैं वहाँ दूसरा अर्थ यह भी किया है कि रथ गीयुक्त अर्थात् गौ प्रदान करने वाला है ।¹ अब, रथ गौ तो एक ही प्रकार से दे सकता है कि वह गौओं को अपने ऊपर रखकर स्थान से स्थानान्तर के लोगों तक पहुँचा दे । अश्विनो के रथ के इस गोमान् विशेषण से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वे अपने रथों के द्वारा गौओं के परिवहन का काम भी करते हैं । इसी प्रकार रथ के अश्ववान् विशेषण से यह भी स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि अश्विनो अपने रथों के द्वारा अश्वों के परिवहन का काम भी करते हैं ।

दूसरे मंत्र में भी वही बात कही गई है । अश्विनो से कहा गया है कि वे अश्ववत्, गोमत् तथा हिरण्यवत् होकर अर्थात् अश्वयुक्त, गीयुक्त तथा हिरण्ययुक्त होकर हमारे पास आवें । इस मंत्र में रथ का उल्लेख नहीं है । परन्तु क्योंकि अन्य मंत्रों में रथ का बहुत अधिक उल्लेख है और रथ के गीयुक्त, अश्वयुक्त और हिरण्ययुक्त होने का भी वर्णन आता है इसलिए इस मंत्र में भी रथ का अध्याहार कर लेना चाहिए । अश्विनो, गौओं और घोड़ों को हाँक कर पैदल तो घर-घर में ले नहीं जायेंगे और न ही वे हिरण्य को अपने सिर पर ढोकर घर-घर ले जायेंगे । किसी सवारी या गाड़ी पर रखकर ही वे इन पशुओं और वस्तुओं को वांछित स्थान पर ले जायेंगे । इसलिए इस मंत्र में रथ का अध्याहार करना सर्वथा उपयुक्त है । श्री सायण ने वर्ति का अर्थ घर और मार्ग किया है । घर अर्थ में उन्होंने मंत्र का यह अर्थ किया है कि हे अश्विनो हमारे घर को गौ, अश्व और हिरण्य से युक्त करके हमारे पास आओ । यह अर्थ समीचीन प्रतीत नहीं होता । अश्विनो पहले हमारे घर को गौ आदि से युक्त कर देंगे और फिर आयेंगे यह बात नहीं बनती । वे गौ आदि को अपने साथ लाकर ही घर को इनसे युक्त कर सकते हैं । मार्ग अर्थ में सायण ने मंत्र का यह अर्थ किया है कि हे अश्विनो हमारे यज्ञ-मार्ग को गौ आदि से युक्त करके हमारे पास यज्ञ में आओ । इस अर्थ में भी वही आपत्ति है । यज्ञ-मार्ग को पहले गौ आदि से युक्त करें और तब अश्विनो उस पर चलें यह बात बनती नहीं । अश्विनो पहले मार्ग में गौ और घोड़े खड़े कर दें और वहाँ हिरण्य को बखेर दें और फिर उस मार्ग से आवें इस अर्थ में कोई स्वारस्य नहीं है । यों भी इस मंत्र में और सूक्त के अन्य मंत्रों में तथाकथित पौराणिक यज्ञों का कोई वर्णन नहीं है । ऐसे यज्ञों को तो सायणादि भाष्यकारों ने वेद-मन्त्रों के ऊपर थोप दिया है ।

हमने मंत्र के वर्ति शब्द का अर्थ राष्ट्र में इधर-उधर जाने वाले सामान्य मार्ग

¹ यद्वा गोमता गोप्रवेन । सायणः ।

किया है। और वर्ति: पद को तृतीय विभक्ति (करण) का रूप मानकर इसका अर्थ मार्ग से ऐसा कर दिया है। सायण इस पद को द्वितीया विभक्ति (कर्म) का रूप मानते हैं। और उन्होंने 'कृत्वा' क्रिया का अध्याहार कर लिया है। वर्ति पद को चाहे द्वितीया विभक्ति का रूप समझें और चाहे तृतीया का, दोनों अवस्थाओं में वैदिक व्याकरण की दृष्टि से विभक्ति के स्थान में 'सु' आदेश मानना पड़ेगा। सायण ने गोमत्, अश्ववत् और हिरण्यवत् पदों को वर्ति का विशेषण मानकर उपर्युक्त दो अर्थ किये हैं। हमने इन तीनों पदों को क्रिया-विशेषण मानकर 'आ यासिष्टम्'—आओ—क्रिया का विशेषण माना है। मंत्र का भाव यह होगा कि हे अश्विनो तुम अपने मार्गों से इस प्रकार आओ कि तुम्हारा आना गोमत्, अश्ववत् और हिरण्यवत् हो जाये।¹ तात्पर्य यह है कि अश्विनो गौओं, घोड़ों और सुवर्ण को अपने रथों के द्वारा हमारे पास पहुँचाएँ। मंत्र के गौ और अश्व शब्द सभी पशुओं के तथा हिरण्य शब्द सभी प्रकार की धन-सम्पत्ति के उपलक्षक हैं। इस मंत्र के वर्णन से भी यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि अश्विनो का गौआदि पशुओं का राष्ट्र के मार्गों पर अपने रथों द्वारा इधर से उधर परिवहन करके ले जाना भी एक काम है।

जनता का परिवहन

अश्विनो अपने रथों द्वारा सामान्य जनता का परिवहन भी करते हैं, सामान्य जनता के यातायात के लिए भी अपने रथ चलाते हैं ऐसा वेद के अनेक स्थलों को देखने से स्पष्ट सूचित होता है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

- | | |
|---------------------------|---------------|
| 1. नृवाहनं रथम् । | ऋग्० 2.37.5. |
| 2. आ यातं नृवता रथेन । | ऋग्० 6.62.10. |
| 3. नृवत्...मनोयुजा रथेन । | ऋग्० 8.5.2. |
| 4. आ नो वीरान् वहतम् । | ऋग्० 5.76.5. |

इनमें से प्रथम मन्त्र-खण्ड में अश्विनो के रथ को नृवाहन अर्थात् नरों (मनुष्यों) का वहन करने वाला कहा गया है। दूसरे मन्त्र-खण्ड में उनसे कहा गया है कि हे अश्विनो तुम अपने नृवान् अर्थात् मनुष्यों से युक्त रथ से आओ। रथ को मनुष्यों से युक्त कहने का भाव यह है कि उस पर मनुष्य बैठकर चलते हैं, उसके द्वारा मनुष्यों का परिवहन होता है। तीसरे मन्त्र-खण्ड में उनके रथ को नृवान् अर्थात् मनुष्यों से युक्त कहा गया है। चौथे मन्त्र-खण्ड में उनसे कहा गया है कि हे अश्विनो तुम हमारे वीरों का वहन करो। अश्विनो के इन वर्णनों से यह स्पष्ट सूचित होता है कि उनके रथ मनुष्यों अर्थात् जनता के परिवहन का काम भी करते हैं। इसी प्रसंग में निम्न स्थल भी देखिए—

¹ हे अश्विनो युवयोरागमनं यथा गोमदश्ववद्विरण्यवच्च स्यात् तथा आ यासिष्टमायच्छतम् ।

1. वां योषणा रथमतिष्ठत् ।

ऋग्० 8.8.10.

2. पुरंधीरीरयत् ।

ऋग्० 10.39.2.

3. वां रथो वध्वा३ यादमानः ।

ऋग्० 7.69.3.

4. जायां सेनाजुवा न्यूहत् रयेन ।

ऋग्० 1.116.1.

इनमें से प्रथम मन्त्र-खण्ड में कहा गया है कि हे अश्विनो तुम्हारी रथ पर स्त्रियाँ (योषणा) बैठती हैं। दूसरे मन्त्र-खण्ड में कहा गया है कि हे अश्विनो तुम स्त्रियों को (पुरंधीः) चलाओ। भाव यह है कि उन्हें अपने रथों पर बिठाकर गन्तव्य स्थान पर ले जाओ। तीसरे मन्त्र-खण्ड में कहा है कि हे अश्विनो तुम्हारा रथ वधुओं के साथ (वध्वा) चलता है (यादमानः)।¹ भाव यह है कि उनके रथ पर बैठकर वधुयें गन्तव्य स्थान पर जाती हैं। चौथे में कहा गया है कि अश्विनो अपने सेनाओं को ले जाने वाले (सेनाजुवा)² रथ से पत्नियों को वहन करते हैं। भाव यह है कि लोगों की पत्नियाँ अश्विनो के रथों पर बैठकर गन्तव्य स्थानों पर जाती हैं और आवश्यकता होने पर उनकी रक्षा के लिए सेनायें भी उन रथों के साथ जाती हैं। इन मन्त्रों से यह ध्वनि भी निकलती है कि स्त्रियों के बैठने के लिए अलग रथ या गाड़ियाँ रहनी चाहियें। जिससे वे निश्चिन्त होकर यात्रा कर सकें और उनकी रक्षा की व्यवस्था भी उन रथों में रहनी चाहिए। इन मन्त्रों से भी अश्विनो के सर्वसाधारण जनता का परिवहन करने के काम की स्पष्ट सूचना मिलती है।

उद्धृत तीसरे और चौथे मन्त्र से यह ध्वनि भी निकलती है कि अश्विनो अर्थात् राज्य की ओर से यह व्यवस्था भी होनी चाहिए कि विवाह के समय वर-वधू और बारात को लाने-लेजाने के लिए जो लोग चाहें उन्हें रथ अर्थात् वाहन निःशुल्क प्राप्त हो सकें तथा रक्षा के लिए उन्हें राज्य की ओर से सेना या पुलिस भी साथ में मिल सके। मन्त्रों में प्रयुक्त वधू और जाया शब्दों के प्रयोग से यह ध्वनि निकलती है।³

सेना का परिवहन

अश्विनो के वेद में इस प्रकार के विशेषण और वर्णन भी अनेक आते हैं जिन से यह पता चलता है कि वे सेनाओं का परिवहन भी करते हैं। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

1. रुद्रवर्तनी ।

ऋग्० 8.22.1.

¹ यादमानः गच्छन्ति सायणः ।

² सेनाजुवाजु इति सोमो घातुर्गन्तव्यः । अस्मादन्तर्भावितव्ययात् किं च दीर्घश्च (अष्टा० 3.2.177) सेनां जावयति गमयति इति सेनाजूः तेन सेनाजुवा । अथवा सेनया सह जवति इति सेनाजूः । इत्ययमपि विग्रहः कर्तुं शक्यः ।

³ इस ग्रंथ के द्वितीय भाग के विवाह विषयक प्रकरण के अन्त में भी इस सम्बन्ध में कुछ विचार किया गया है ।

2. जायां सेनाजुवा न्यूहत् रथेन ।

ऋग्० 1.116.1.

3. आ नो वीरान् वहतम् ।

ऋग्० 5.76.5.

इनमें से प्रथम उद्धरण में अश्विनौ को रुद्रवर्तनी कहा गया है। वेद में रुद्र का अर्थ सेनापति और उसके सैनिक भी होता है। इस सम्बन्ध में हमने इस ग्रन्थ के तृतीय भाग के 'मरुतः सैनिक' और 'रुद्रः सेनापति' शीर्षक अध्यायों में बड़े विस्तार से विचार किया है। वर्तनि का सुप्रसिद्ध अर्थ मार्ग होता है। रुद्रवर्तनी¹ का शब्दार्थ होगा जो रुद्रों को मार्ग प्रदान करें। तात्पर्य यह है कि अश्विनौ राष्ट्र के सैनिकों को अपने रथों पर बिठा कर विभिन्न मार्गों से उन्हें गन्तव्य स्थानों पर ले जाते हैं। अश्विनौ का यह विशेषण वेद में कितने ही स्थानों पर आता है। दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि अश्विनौ अपने सेना को ले जाने वाले (सेनाजुवा) रथ से पत्नियों का वहन करते हैं। मन्त्र का पत्नीवाचक जाया शब्द स्त्रीमात्र का उपलक्षक है। इस मन्त्र में स्पष्ट ही अश्विनौ के रथ को सेना का वहन करने वाला कहा गया है। तीसरे उद्धरण में कहा गया है कि अश्विनौ तुम हमारे लिए वीरों का सब ओर वहन करो (आ वहतम्)। वेद में वीर शब्द पुत्र अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और वीर पुरुषों के लिए, क्षत्रियों के लिए भी प्रयुक्त होता है। पुत्रों को वीर कहने की भी यह व्यंजना है कि उन्हें बलशाली, पराक्रमी वीरपुरुष होना चाहिए। अश्विनौ के इस रुद्रवर्तनी विशेषण तथा उनके रथ को सेना का वहन करने वाला कहे जाने और उनके द्वारा वीरों का वहन करने के इस वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि उनका एक काम आवश्यकता पड़ने पर सेनाओं का विभिन्न मार्गों से समुचित स्थानों पर परिवहन करना भी है।

अश्विनौ के रथ राष्ट्र में सर्वत्र चलते हैं

अश्विनौ के रथ राष्ट्र में सर्वत्र सभी मार्गों पर चलते हैं ऐसा वेद में अनेक स्थानों पर वर्णन उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

1. उरुगाया नासत्यौ ।

ऋग्० 4.14.1.

2. परिज्मा रथः ।

ऋग्० 10.39.1.

3. पुरुभूतमा ।

ऋग्० 5.73.2.

प्रथम उद्धरण में अश्विनौ (नासत्यौ) को उरुगाय कहा गया है। जिनका गाय अर्थात् गमन उरु अर्थात् बहुत हो, बहुत स्थानों पर हो वे उरुगाय¹ कहलायेंगे। अश्विनौ अपने

¹ रुद्रेभ्यो रुद्राणां कृते वर्तनिमार्गो ययोस्तौ । रुद्राणां कृते मार्गप्रदातारवित्यर्थः । विभिन्नमार्गेषु रुद्राणां सैनिकानां बोधाराविति यावत् । अत्रास्य पदस्य सायणकृतोर्थापि विभावनीयः—रुद्राणां शत्रुरोदनकारिणां शूरभटानां वर्तनिमार्गो घाटीरूपो ययोस्तौ रुद्रवर्तनी, यथा शूराघाटी मुखेन शत्रून् रोदयन्ति तद्वेतावित्यर्थः । ऋग्० 1.3.3, संत्रामे रोदनशीलमार्गो यद्वा स्तूयमानमार्गो । ऋग्० 8.22.1, युद्धे रोदनशीलमार्गो स्तूयमानमार्गो वा । ऋग्० 8.22.14.

² उरुगायो प्रभूतगमनाविति सायणः ।

रथों के द्वारा बहुत स्थानों पर जाते हैं इसलिए उन्हें उरुगाय कहा गया है। दूसरे उद्धरण में अश्विनौ के रथ को परिज्मा¹ अर्थात् सब ओर, सब दिशाओं में जाने वाला कहा गया है। तीसरे उद्धरण में अश्विनौ को पुरुभूतमा कहा गया है। पुरुभूतमा² का शब्दार्थ होता है जो बहुत स्थानों पर खूब विद्यमान रहे। अश्विनौ अपने रथों के द्वारा जगह-जगह विद्यमान रहते हैं और अधिकता से विद्यमान रहते हैं इसलिए उन्हें परिभूतमा कहा गया है। अश्विनौ के इस प्रकार के विशेषण वेद में अनेक स्थानों पर आते हैं। इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र देखिए—

नहि वामस्ति दूरके यत्रा रथेन गच्छथः ।

ऋग्० 1.22.4

अर्थात्—‘हे अश्विनौ जहाँ तुम अपने रथ से जाते हो वह स्थान तुम्हारे लिए दूर नहीं होता।’ अश्विनौ क्योंकि अपने शीघ्रगामी रथों से वहाँ झट पहुँच जाते हैं इसलिए उनके लिए कोई भी स्थान दूर नहीं रहता। इन सब वर्णनों का समुदित भाव यह है कि अश्विनौ के रथ राष्ट्र में सर्वत्र विचरण करते हैं, अपने रथों द्वारा वे सभी जगह विद्यमान रहते हैं और उनके रथों के लिए कोई भी स्थान दूर नहीं रहता। इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात् ।

आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

ऋग्० 7.72.5

अर्थात्—‘हे अश्विनौ तुम पाँचों प्रकार के जनों³ के लिए हितकारी ऐश्वर्य के साथ (राया) पश्चिम से, पूर्व से, दक्षिण से, उत्तर से, सभी ओर से हमारे पास आओ और इस प्रकार सब प्रकार के मंगलों द्वारा हमारी रक्षा करो।

इस मंत्र से तो यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि अश्विनौ के रथ सब दिशाओं में चलते हैं और वे सब लोगों के कल्याण के लिए उनके द्वारा भाँति-भाँति की धन-सम्पत्ति का परिवहन करते हैं।

अश्विनौ के रथ यात्रा के लिए सबको सुलभ होते हैं

वेद में स्थान-स्थान पर अश्विनौ और उनके रथों का प्रजाओं के पास जाने का वर्णन आता है उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

1. यो वामश्विना रथः स्वश्वो विश आजिगाति । ऋग्० 1.117.2.

2. विशो येन गच्छथः । ऋग्० 10.41.2.

3. शचीवसू विशविशं हि गच्छथः । ऋग्० 7.74.1.

¹ परिज्मा परितो गन्ता इति सायणः ।

² परितो भवति इति परिभूः, अतिशयेन परिभूः परिभूतमः, ती परिभूतमी ।

³ पाँच प्रकार के जन कौन हैं इसका विवेचन हम ‘उदार राजनीति’ नामक अध्याय में कर चुके हैं ।

इनका क्रम से अर्थ इस प्रकार है: (1) हे अश्विनो उत्तम अश्वों वाला तुम्हारा जो रथ प्रजाओं के (विशः) पास आता है। (2) हे अश्विनो जिस अपने रथ के द्वारा तुम प्रजाओं के पास जाते हो। (3) कर्म या बुद्धि रूप धन वाले (शचीवसू) हे अश्विनो तुम सब प्रजाओं के पास जाते हो।

अश्विनो प्रजाओं के पास किस प्रयोजन के लिए जाते हैं यह हम ऊपर के पृष्ठों में देखते आ रहे हैं। जैसा हमने ऊपर देखा है उनके रथों का एक प्रयोजन जनता का परिवहन करना भी है। जनता के लोग उनके रथों पर बैठकर यात्रा करते हैं। अनेक स्थानों पर ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिए जिससे लोगों को यात्रा के लिए उनके रथ ठीक समय पर और शीघ्र मिल सकें। निम्न स्थल देखिये—

1. हवनश्रुता ।

ऋग्० 5.75.5.

2. सत्यमिद् वा उ अश्विना युवामाहुर्मयोभुवा ।

ता यामन् यामहूतमा यामन्ना मृळयत्तमा ॥

ऋग्० 5.73.9.

प्रथम उद्धरण में अश्विनो को हवनश्रुता कहा गया है। इसका शब्दार्थ है हवन अर्थात् पुकार को सुनने वाले। अश्विनो का यह विशेषण कई स्थानों पर आता है। उनके इस विशेषण की ध्वनि यह है कि यात्रा के लिए जब लोग उन्हें कहें तभी वे उनके लिए रथों की व्यवस्था करते हैं और शीघ्र करते हैं। दूसरे मंत्र का शब्दार्थ इस प्रकार है: हे अश्विनो तुम्हें ठीक ही लोगों को सुख देने वाले (मयोभुवा) कहते हैं, तुम यात्रा के समय (यामन्) सबसे अधिक पुकारे जाने वाले (यामहूतमा)¹ हो और यात्रा में (यामन्) खूब सुख देने वाले (मृळयत्तमा) हो। मंत्र का भाव अति स्पष्ट है। जब लोगों को यात्रा करनी होती है तो वे अश्विनो की पुकार लगाते हैं, उनके पास पहुँचते हैं और अश्विनो उन्हें अपने रथों पर बिठा कर गन्तव्य स्थान पर ले जाते हैं। तथा यात्रा में उनकी सब प्रकार की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं। यात्रा के समय ठीक समय यात्रियों को रथ (गाड़ी) मिल जाये और वे उनमें झट और आसानी से चढ़ सकें यह यात्रा की सुख-सुविधा का एक अंग है। अश्विनो इसका भी ध्यान रखते हैं।

परिवहन में किसी के साथ दुर्व्यवहार नहीं होता

अनेक स्थानों पर अश्विनो के लिए 'शुभस्पती'² और 'धर्मवन्तो'³ विशेषण आते हैं। शुभस्पती का अर्थ होता है शुभ बातों की, सबका भला करने वाली बातों की, रक्षा करने वाले। चाहे रथों द्वारा किसी प्रकार से सामान का परिवहन हो रहा हो

¹ गमनार्थ भृशमाह्वयव्यावृत्ति सायणः ।

² उदाहरण के लिए देखें, ऋग्० 1.3.1.

³ उदाहरण के लिए देखें, ऋग्० 8.35.13.

और चाहे लोग उनमें यात्रा कर रहे हों, अश्विनो अर्थात् उनके कर्मचारी अपना व्यवहार शुभ रखते हैं। सबके साथ भला व्यवहार रखते हैं उनके व्यवहार से किसी को कष्ट नहीं मिलता। किसी के साथ दुर्व्यवहार नहीं होता। धर्मवन्तो का अर्थ होता है धर्म का पालन करने वाले, धर्म का व्यवहार करने वाले। अश्विनो अर्थात् उनके कर्मचारी सबके साथ धर्म का, सच्चाई और न्याय का वर्ताव ही करते हैं। किसी के साथ झूठ और अन्याय का वर्ताव नहीं करते। वे किसी से अधिक किराया नहीं लेते, किसी को लूटते नहीं, ठगते नहीं। किसी को धोखा नहीं देते। किसी के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार और अधर्माचरण नहीं करते। सबके साथ भला और धर्म का ही बरताव करते हैं। उनके व्यवहार से सब प्रसन्न और सुखी रहते हैं।

अश्विनो का परिवहन का कार्य प्रातः ही आरम्भ हो जाता है

अश्विनो के इस प्रकार के वर्णन भी वेद में आते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि उनका परिवहन का कार्य प्रातःकाल ही आरम्भ हो जाता है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

1. प्रातर्यावाणा ।

ऋग्० 2.39.2.

2. प्रातर्युजं नासत्याधि तिष्ठथः प्रातर्यावाणं मधुवाहनं रथम् ।

ऋग्० 10.41.2.

3. ईरते रथा अश्वास उषसो व्युष्टिषु ।

ऋग्० 4.45.2.

इनमें से प्रथम उद्धरण में अश्विनो को 'प्रातर्यावा' अर्थात् 'प्रातःकाल ही यात्रा आरम्भ कर देने वाले' कहा गया है। अश्विनो का यह विशेषण वेद में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। दूसरे उद्धरण में अश्विनो के रथ को 'प्रातर्युज' और 'प्रातर्यावा' कहा गया है और कहा गया है कि वे अपने इस रथ पर बैठकर चलते हैं। 'प्रातर्युज' शब्द का अर्थ होता है प्रातः जुत जाने वाला अर्थात् तैयार होकर यात्रा के लिए प्रातः ही चल पड़ने वाला तथा 'प्रातर्यावा' का अर्थ होता है प्रातःकाल ही चल पड़ने वाला। अश्विनो के रथ के ये दोनों विशेषण वेद में कितने ही स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। तीसरे उद्धरण में कहा गया है कि अश्विनो के रथ और अश्व उषा के खिलते ही चलने लग पड़ते हैं। प्रथम और दूसरे उद्धरण में प्रयुक्त अश्विनो और उनके रथ के इन विशेषणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका परिवहन का काम प्रातः ही आरम्भ हो जाता है। तीसरे उद्धरण में तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप में कह दी गई है।

रात्रि में भी परिवहन का कार्य होता रहता है

अश्विनो के ऐसे वर्णन भी वेद में कितने ही स्थानों पर आते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि अश्विनो का परिवहन कार्य रात्रि में भी चलता रहता है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

1. पूर्वीरिष इष्यन्तावति क्षपः ।

ऋग्० 8.26.3.

2. तिस्रः क्षपस्त्रिरहाति व्रजङ्गिः ।

ऋग्० 1.116.4.

इनमें से प्रथम उद्धरण में अश्विनो के लिए कहा गया है कि 'वे रात्रियों का अतिक्रमण करके (अति क्षपः) अर्थात् रात्रियों को पार करके भी लोगों तक बहुत प्रकार के (पूर्वी)¹ अन्नो को (इषः) पहुँचाने की इच्छा रखते हैं (इषयन्ती)।' दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि अश्विनो के रथ तीन रात और तीन दिनों का अतिक्रमण करके चलने वाले (अतिवृजद्भिः)² हैं अर्थात् इतने समय तक लगातार चलने वाले हैं। अश्विनो और उनके रथों के इन वर्णनों से प्रकट होता कि अश्विनो रात्रि के समय भी परिवहन का काम करते हैं।

अश्विनो पर्वतों को काटकर मार्ग बनाते हैं

वेद में कई स्थानों पर अश्विनो के इस प्रकार के वर्णन आते हैं जिनमें कहा गया है कि अश्विनो पर्वतों पर भी आते-जाते हैं और पर्वतों को फोड़ कर उनमें से मार्ग बना लेते हैं। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

1. आ नो....पर्वतात् यातमिषमूर्ज वहन्ता । ऋग्० 5.76.4.
2. वि जयुषा ययथुः सान्वद्रेः । ऋग्० 1.117.16.
3. विभिन्दुना नासत्या रथेन वि पर्वतां अजरयू अयातम् । ऋग्० 1.116.20.

इनमें से प्रथम मंत्र में कहा गया है कि हे अश्विनो तुम अन्न (इषं) और रसों का (ऊर्ज) वहन करते हुए पर्वतों से हमारे पास आओ। दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि हे अश्विनो तुम विजयशील अपने रथ के द्वारा पर्वत की (अद्रेः) चोटी पर (सानु) भी पहुँच जाते हो। तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि हे जरारहित अर्थात् पुष्ट शरीर वाले अश्विना (नासत्या) तुम अपने रुकावट को तोड़ डालने वाले रथ से पर्वतों पर भी चले जाते हो।

इन मंत्रों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अश्विनो अपने रथ से पर्वतों पर भी आते-जाते हैं। तीसरे मंत्र में इनके रथ को विभिन्दु कहा गया है। विभिन्दु का अर्थ होता है विशेष रूप से अर्थात् खूब अच्छी तरह फोड़ने वाला। रथ के इस विशेषण की व्यंजना यह है कि अश्विनो के रथ में ऐसे यंत्र और औजार रखे रहते हैं जिनके द्वारा वे पर्वतों को काट और फोड़कर उनमें से मार्ग बना लेते हैं और उन मार्गों के द्वारा उनके रथ पर्वतों में आराम से इधर-उधर आते-जाते रहते हैं जिससे पर्वतों में भी उनका परिवहन कार्य चलता रहता है।

भूमि पर चलने वाले रथ

वेद में स्थान-स्थान पर अश्विनो के इस प्रकार के वर्णन आते हैं जिनमें कहा

¹ पूर्वी: बह्वनि इति सायणः ।

² अतिवृजद्भिरतिक्रम्यगच्छद्भिरेतावन्तं कालमतिव्याप्य वर्तमानैरिति सायणः ।

गया है कि इनके रथ भूमि, समुद्र और आकाश तीनों जगह चलते हैं। पहले भूमि पर चलने वाले रथों के सम्बन्ध में निम्न स्थल देखिये—

- | | |
|-------------------------------------|--------------|
| 1. अपो घन्वान्यति याथो अज्जान् । | ऋग्० 6.62.2. |
| 2. परि द्यावापृथिवी याति सद्यः । | ऋग्० 3.58.8. |
| 3. आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्याः । | ऋग्० 4.44.5. |
| 4. यद् वेमे रोदसी अनु पतथः । | ऋग्० 8.10.6. |

इन उद्धरणों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है (1) हे अश्विनो तुम जलों और मरु प्रदेशों में अपने अश्वों को (अज्जान्) ले जाते हो। (2) हे अश्विनो तुम्हारा रथ द्यौ (आकाश) और पृथिवी दोनों जगह शीघ्र ही पहुँच जाता है। (3) हे अश्विनो तुम द्यौ (आकाश) और पृथिवी से हमारे पास आओ। (4) हे अश्विनो तुम इन द्यौ (आकाश) और पृथिवी दोनों जगह दौड़कर और उड़कर आते हो (अनु पतथः)।

इन उद्धरणों में अश्विनो के अश्वों और रथों के मरु प्रदेश और पृथिवी के अन्य भागों पर चलने का स्पष्ट उल्लेख है।

समुद्र पर चलने वाले रथ

अब अश्विनो के रथों के समुद्र में चलने का वर्णन देखिये—

- | | |
|--|---------------|
| 1. वां रथः समुद्रे अश्विनेयते । | ऋग्० 1.30.18. |
| 2. रथि समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे धत्तं । | ऋग्० 1.47.6. |
| 3. युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्तं । | ऋग्० 1.182.5. |
| 4. यत् समुद्रादमिवर्तते वाम् रथः । | ऋग्० 4.43.5. |
| 5. आ नो अभ्यो यातम् । | ऋग्० 5.76.4. |
| 6. सिन्धुवाहसा । | ऋग्० 5.75.2. |

इन उद्धरणों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) हे अश्विनो तुम्हारा रथ समुद्र में चलता है। (2) हे अश्विनो तुम समुद्र से और द्यौ (आकाश) से हमारे लिए ऐश्वर्य (रथि) लाकर दो। (3) हे अश्विनो तुम अपनी स्वयं की गति से चलने वाले (आत्मन्वन्तं) अपने जलयान को (प्लव) समुद्रों में (सिन्धुषु) चलाते हो। (4) हे अश्विनो तुम्हारा जो रथ समुद्र से लौटकर आता है। (5) हे अश्विनो तुम जलों में से (अभ्यः) हमारे पास आओ। (6) हे अश्विनो तुम समुद्र में पदार्थों का वहन करने वाले (सिन्धुवाहसा)¹ हो।

इन उद्धरणों में अश्विनो के रथों का समुद्र में चलने का स्पष्ट उल्लेख है। इन उद्धरणों में समुद्र के लिए समुद्र शब्द का भी प्रयोग हुआ है और सिन्धु शब्द का भी प्रयोग हुआ है। सिन्धु का अर्थ नदी भी होता है। इस शब्द से समुद्र और नदियों

¹ यो सिन्धुं वहतः प्रापयतस्तौ। ऋग्० 5.75.2, भाष्ये दयानन्दविः मनुष्यादि-प्राणिनः अन्याश्च सामग्रीः सिन्धुं प्रापयतः इतिभावः।

में दोनों जगह अश्विनौ के रथ चलते हैं ऐसा भाव भी निकलेगा। पाँचवें उद्धरण में जलों के सामान्य वाचक 'अप्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द से यह भाव निकलेगा कि अश्विनौ के रथ समुद्र, नदी और झील सब जगह के जलों में चलते हैं।

आकाश में चलने वाले रथ

अब लीजिए अश्विनौ के आकाश में चलने वाले रथों का वर्णन—

1. यदन्तरिक्षे पतथः पुरुभुजा यद् वेमे रोदसी अनु । ऋग्० 8.10.6
2. यदन्तरिक्षे यद् दिवि...नम्णं तद् धत्तमश्विना । ऋग्० 8.9.2
3. परि द्यावापृथिवी याति सद्यः । ऋग्० 3.58.8
4. रथं...आ हि स्थाथो दिविस्पृशम् । ऋग्० 8.5.28
5. परि द्यामियानं । ऋग्० 1.180.10
6. त्रिवृतो रथस्य । ऋग्० 1.34.9

इन उद्धरणों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—(1) हे बहुतों को भोजन देने वाले और बहुतों की पालना करने वाले (पुरुभुजा) अश्विनौ तुम जोकि अन्तरिक्ष में उड़ते हो (पतथः) अथवा इन द्यौ और पृथिवी (रोदसी) में उड़ते और दौड़ते हो। (2) हे अश्विनौ जो अन्तरिक्ष में और जो द्यौ में धन (नृम्णं) है उसे हमें दो। (3) हे अश्विनौ तुम्हारा रथ द्यौ (आकाश) में और पृथिवी (द्यावापृथिवी) पर शीघ्र ही चला जाता है। (4) हे अश्विनौ तुम द्यौ (आकाश) का स्पर्श करने वाले अर्थात् आकाश में उड़ने वाले रथ पर बैठते हो। (5) हे अश्विनौ तुम्हारे आकाश में (द्यां) चलने वाले रथ का हम आह्वान करते हैं। (6) अश्विनौ का रथ त्रिवृत्¹ है अर्थात् भूमि, समुद्र और आकाश तीनों स्थानों में रहकर चलने वाला है।

इन उद्धरणों में अश्विनौ के रथों के आकाश में चलने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अन्तरिक्ष और द्यौ ये दोनों शब्द अपने सामान्य अर्थ में आकाश के वाचक हैं। जब दोनों का किसी मन्त्र में एक साथ प्रयोग हो, जैसा कि ऊपर उद्धृत प्रथम और द्वितीय मन्त्रों में हुआ है, तो वहाँ अन्तरिक्ष का अर्थ पृथिवी के समीप का आकाश और द्यौ का अर्थ पृथिवी से दूर का आकाश कर लेना चाहिए क्योंकि द्यौ का अर्थ वेद में सूर्य और नक्षत्र आदि दूर के लोक और स्थान भी होता है। उद्धृत दोनों मन्त्रों और ऐसे ही अन्य मन्त्रों में लक्षणा से द्यौ का अर्थ पृथिवी से दूर का आकाश कर लेना चाहिए।

अश्विनौ के विमान

अश्विनौ के रथों के आकाश में चलने और उड़ने के इन वर्णनों से यह स्पष्ट सूचित होता है कि उनके रथ विमान हैं। कुछ अन्य स्थलों में अश्विनौ के रथों के ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि उनके रथ

¹ त्रिषु स्थानेषु भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु वर्तते इति त्रिवृत् ।

वस्तुतः विमान ही हैं। वेद में विमानों का वर्णन अश्विनो के सूक्तों के अतिरिक्त कई अन्य स्थलों में भी आता है। उदाहरण के लिए इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का 1.163 सूक्त देखा जा सकता है। वेद में ही नहीं भारतीय साहित्य में अन्यत्र भी विमानों का बहुत वर्णन मिलता है। भोज के समरांगण सूत्रधार और भरद्वाज के बृहत् विमान-शास्त्र में तो विमानों का बहुत ही स्पष्ट वर्णन है और इन ग्रन्थों में विमान बनाने की विधियों का भी उल्लेख किया गया है।

बिना अश्वों के रथ

अश्विनो के पास विमान भी हैं उनके रथों के आकाश में उड़ने के ऊपर दशयि गये वर्णन से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है। अश्विनो के रथों का एक और प्रकार का वर्णन भी वेद में मिलता है। उनके रथ को अनश्व भी कहा गया है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

1. अनश्वं याभी रथमावतं जिषे ।

ऋग्० 1.112.12

2. अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः ।

तेनाहं भूरि चाकन ॥

ऋग्० 1.120.10

इन उद्धरणों का क्रम से शब्दार्थ इस प्रकार है—(1) हे अश्विनो अपनी जिन रक्षाओं के निमित्त (याभिः ऊतिभिः)¹ तुम विजय प्राप्त करने के लिए (जिषे) अपने अनश्व रथ को चलाते हो (आवतं)² । (2) बलदायक अन्न देने वाले अश्विनो के अनश्व रथ को मैंने प्राप्त किया है (असनं) उससे मैं बहुत प्रकार के कल्याण-मंगलों की (भूरि) कामना करता हूँ (चाकन) ।

प्रथम उद्धरण का भाव यह है कि अश्विनो हमें अपनी भाँति-भाँति की रक्षाएँ देना चाहते हैं, उन रक्षाओं में कहीं से यदि कोई बाधा पहुँचती है तो वे उस पर विजय प्राप्त करते हैं और इसके लिए अपने अनश्व रथों का प्रयोग करते हैं। दूसरे उद्धरण का भाव यह है कि अश्विनो के रथ प्रजाओं के अन्नादि का परिवहन करते हैं और वे अपने रथों से प्रजाओं के लिए और भी अनेक प्रकार के मंगल के कार्य करते हैं, उनके ये रथ अनश्व हैं ।

अनश्व का अर्थ है जिनमें अश्व अर्थात् घोड़े न जुड़ते हों । जिन रथों में अश्व जुड़ते हैं वे तो उनके बल पर चलते रहेंगे परन्तु जिनमें अश्व नहीं जुड़ते वे कैसे चलेंगे ? इस प्रश्न का समाधान भी अश्विनो के सूक्तों में मिल जाता है। ऋग्० 1.118.1 में अश्विनो के रथ को 'स्ववान्' कहा गया है। इसका भाव यह है कि वह रथ 'स्व' अर्थात् अपनी शक्ति वाला है। वह अपनी अन्दर की शक्ति से चलता है। उसे चलने के लिए अश्वों की अपने से बाहर की शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती। वह अपनी शक्ति से चलता है। भाव यह है कि उसके भीतर विद्युत् आदि

¹ ऊतिभिः पद का ऊपर के मंत्रों से अध्याहार होता है ।

² आवतम् अगमयतमिति सायणः ।

से चलने वाले यन्त्र लगे होते हैं, वह अपने अन्दर लगे इन यन्त्रों की अपनी ही शक्ति से चलता है। इस प्रकार अश्विनो का वह रथ 'स्ववान्' है। उनके रथ अपने भीतर की शक्ति से चलते हैं इसका उल्लेख एक और प्रकार से भी अश्विनो के सूक्तों में किया गया मिलता है। ऋग्वेद 1.182.5 मन्त्र में उनके प्लव अर्थात् जलयान को 'आत्मवान्' अर्थात् आत्मा वाला कहा गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद 1.116.4 मन्त्र में उनकी नौकाओं को 'आत्मन्वती' अर्थात् आत्मावाली कहा गया है। जलयानों के इस विशेषण का भाव यह है कि जिस प्रकार आत्मावाला कोई मनुष्यादि प्राणी अपने भीतर की शक्ति से चलता है, उसे चलने के लिए अपने से बाहर की शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती वैसे ही अश्विनो के इन यानों को भी अपने से बाहर की छोड़े आदि की शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती, वे अपने भीतर रखी हुई अपनी ही शक्ति से चलते हैं। स्पष्ट है कि उनके भीतर की अपनी यह शक्ति उनके अन्दर लगे हुए विद्युत् आदि से चालित यन्त्रों के द्वारा उत्पन्न होती है। ऋग्वेद 1.116.4 मन्त्र में अश्विनो की जिन आत्मन्वती नौकाओं का वर्णन है वे जल में चलने वाली सामान्य नौकायें नहीं हैं। वे आकाश में उड़ने वाले विमान हैं। अश्विनो के अतिरिक्त इन्द्र और मरुतों के रथ को भी कुछ स्थानों पर 'अश्व' कहा गया है। वहाँ भी यही भाव लेना होगा कि उनके रथ अपने अन्दर रखे यन्त्रों की शक्ति से चलते हैं।

रथ शब्द का अर्थ

यहाँ एक बात और भी ध्यान में रख लेनी चाहिए। रथ का अर्थ केवल घोड़ों और बैलों आदि से चलने वाले रथ अर्थात् गाड़ियाँ ही नहीं हैं। यन्त्रों से चलने वाली गाड़ियाँ भी रथ ही हैं चाहे वे धरती पर चलें, समुद्र में चलें और चाहे आकाश में उड़ें। रथ शब्द संस्कृत की 'रमु' धातु से जिसका अर्थ क्रीड़ा करना और रमण करना होता है तथा 'रंह' धातु से जिसका अर्थ गति करना, चलना होता है, व्युत्पन्न किया जाता है।¹ इन व्युत्पत्तियों के अनुसार रथ का शब्दार्थ होता है 'जो चलता है और जिसमें व्यक्ति रमण करता हुआ, आनन्द और प्रसन्नता अनुभव करता हुआ, बैठकर चलता है।' रथ का यह अर्थ किसी प्रकार की भी अच्छी गाड़ी पर संगत और चरितार्थ हो सकता है। रथ के इस शब्दार्थ के आधार पर ही उपनिषदों आदि में मनुष्य के शरीर को भी रथ कहा गया है क्योंकि उसमें बैठकर जीवात्मा चलता है, भाँति-भाँति के कर्म करता है और आनन्दों को अनुभव करता है। इस अर्थ में सभी अच्छी गाड़ियाँ रथ होंगी। वेद में रथ-शब्द का ऐसा ही विस्तृत भाव लेना चाहिए।

अश्व का अर्थ इंजन भी

अश्विनो के अश्व और रथ आकाश में भी उड़ते हैं यह पाठकों ने अभी ऊपर

¹ रमते यस्मिन् येन वा स रथः। उणादि० 2.2, रंहतेर्गतिर्कर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य। रममाणोस्मिन् तिष्ठतीति। रपतेर्वा रसतेर्वा। निरु० 9.2.11.

देखा है। ऊपर उद्धृत किये गये स्थलों के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी वेद में इस प्रकार के वर्णन अश्विनो के सम्बन्ध में बहुत आते हैं। ऐसे स्थलों में हमें रथ का अर्थ विमान और अश्व का अर्थ इंजिन करना होगा। सामान्य अश्व प्राणी तो आकाश में उड़ नहीं सकता। अगत्या हमें ऐसे स्थलों में लक्षणा से अश्व शब्द का अर्थ कुछ और ही करना होगा। अश्व का घात्वर्थ इसमें हमारी सहायता करेगा। अश्व का घात्वर्थ होता है—‘अश्वनुते अश्वानमिति अश्वः’ जो मार्ग को व्याप्त कर ले अर्थात् जो चलकर मार्ग के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जल्दी से पहुँच जाये वह अश्व कहाँता है। अश्व पशु इसीलिए अश्व कहा जाता है क्योंकि वह जल्दी से दौड़कर मार्ग तय कर लेता है। इस घात्वर्थ के आधार पर आकाश में उड़ने वाले रथों अर्थात् विमानों का वह भाग या अंग भी अश्व कहा जायेगा जिसके बल पर विमान आकाश में चलते और उड़ते हैं तथा आकाश का मार्ग तय करते हैं। विमानों का वह अंग उनमें लगे हुए विद्युत् आदि से चलने वाले वे यन्त्र होते हैं जिन्हें आजकल की भाषा में इंजन कहते हैं। अश्विनो के रथों या विमानों में ये इंजन भी लगे होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि ये इंजन केवल विमानों में ही लगे हों। अन्य यानों में भी ये लग सकते हैं। तथा ऊपर ‘विना अश्वों के रथ’ शीर्षक उपखण्ड में अश्विनो के रथ के ‘स्ववान्’ और ‘आत्मन्वान्’ विशेषणों की व्याख्या करते हुए हमने देखा है कि विमानों के अतिरिक्त अन्य स्थल और जल पर चलने वाले यानों में भी यन्त्र या इंजन लगे होते हैं। इस प्रकार वेद में कई स्थानों पर प्रकरण और विशेषणों के आधार पर अश्व का अर्थ यानों को चलाने वाले यन्त्र या इंजिन भी होगा। और जहाँ अश्व का वर्णन आकाश में उड़ने वाले रूप में किया गया हो वहाँ अश्व का अर्थ सीधा ही विमान करना होगा क्योंकि वह अश्व अर्थात् इंजन के बल से उड़ता है। उदाहरण के लिए ऋग्० 1.163 सूक्त इस सम्बन्ध में देखा जा सकता है।

अश्विनो की पनडुब्बियाँ

अश्विनो के रथ जल, स्थल और आकाश में चलते हैं यह पाठकों ने ऊपर के प्रकरणों में देखा है। उनका ऐसा भी वर्णन आया है जिससे यह झलकता है कि वे जल में डुबकी मारकर पानी के नीचे ही नीचे भी चलते हैं। निम्न मन्त्र देखिये—

त्रीणि पदान्यश्विनोराविः सान्ति¹ गुहा परः ।

ऋग्० 8.8.23.

मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—अश्विनो के तीन पद तो प्रकट (आविः) हैं परन्तु उनका एक पद गुहा में है अर्थात् अदृश्य है। पद शब्द ‘पद गती’ धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ गति करना अर्थात् चलना होता है। पद का अर्थ चलने का साधन होता

¹ मंत्र में सान्ति पाठ है। परन्तु पद-पाठ में सन्ति पाठ है। सभी भाष्यकार अर्थ करते समय सन्ति पाठ ही मानते हैं। सन्ति पाठ को सिद्ध करने के लिए व्याकरण का आश्रय लिया जाता है। मंत्र में सन्ति पाठ ही क्यों न मान लिया जाये ? वैसा करने पर छन्दोभंग भी नहीं होता।

है। इसीलिए प्राणी के पैरों को भी पद कहा जाता है। श्री सायण ने अपने भाष्य में पद का अर्थ कितने ही स्थानों पर रथ के पहिये आदि भी किया है। अश्विनौ के पद अर्थात् चलने के साधन उनके रथ अर्थात् यान हैं। उनके तीन प्रकार के पद अर्थात् यान तो प्रकट हैं, दिखाई देते हैं। जल पर चलने वाले यान भी दिखाई दे जाते हैं, स्थल पर चलने वाले यान भी दीख जाते हैं और आकाश में उड़ने वाले यान भी दिखाई दे जाते हैं। परन्तु उनका एक पद अर्थात् यान ऐसा भी है जो चलते हुए दिखाई नहीं देता। वह यान कौन-सा होगा? वह यान जल के नीचे चलने वाला ही हो सकता है। अश्विनौ के इस वर्णन से यह ध्वनित होता है कि उनके पास जल के नीचे-नीचे चलने वाले यान भी हैं जिन्हें आजकल की भाषा में पनडुब्बी कहा जाता है। वेद में अन्यत्र भी पनडुब्बी का वर्णन आया है। वहाँ पनडुब्बी के लिए 'मद्गु' नाम आया है।

अतिशय तीव्र गति वाले रथ

अश्विनौ के रथ बड़ी तीव्र गति से चलते हैं। उनकी तीव्र गति का बार-बार वर्णन आता है। उनकी गति की तीव्रता को बताने के लिए अनेक प्रकार की उपमायें दी गई हैं। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

- | | |
|------------------------------|-------------|
| 1. निमिषश्चिज्जवीयसा रथेना । | ऋग् 8.73.2 |
| 2. श्येनपत्वा (रथः) । | ऋग् 1.118.1 |
| 3. वातरंहाः (रथः) । | ऋग् 1.118.1 |
| 4. मनोजवः (रथः) । | ऋग् 7.68.3 |
| 5. मनसो जवीयान् (रथः) । | ऋग् 1.117.2 |

इनमें से प्रथम उद्धरण में अश्विनौ के रथ को आँख के झपकने से (निमिषः) भी तेज चलने वाला कहा गया है। दूसरे उद्धरण में उनके रथ को वाज (श्येन) की तरह तेज चलने वाला कहा गया है। तीसरे उद्धरण में उसे वायु (वात) के वेग (रंहः) वाला कहा गया है। चौथे और पाँचवें उद्धरणों में उसे मन से भी अधिक तीव्र वेग वाला कहा गया है। इन सब उपमाओं का भाव यह है कि अश्विनौ के रथ अतिशय तीव्र गति वाले हैं। वेद ने अश्विनौ को राजा का रूप बताकर, जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में हमने देखा है, उनके रथ की गति की तीव्रता को द्योतित करने वाली इन उपमाओं के द्वारा यह सूचित किया है कि राज्य के परिवहन विभाग के सभी प्रकार के यान यथासम्भव तीव्र से तीव्र गति वाले होने चाहिए। यदि यान घोड़े आदि पशुओं से चलने वाले हों तो उन पशुओं को अधिक से अधिक पुष्ट रखा जाये और उन्हें सघाकर उनकी गति तीव्र से तीव्र बनाई जाये। और यदि यान यन्त्रों से चलने वाले हों तो यन्त्रों को भी ऐसा बनाया जाये जो यानों में लगकर उन्हें तीव्र से तीव्र गति से चला सकें। परिवहन विभाग के यान तो उपलक्षण मात्र हैं। वस्तुतः राष्ट्र

के राजकीय और व्यक्तिगत सभी प्रकार के यानों की गति अधिक से अधिक तीव्र होनी चाहिए ।

माया निर्मित रथ

अश्विनौ के रथ मनोगति और उससे भी अधिक तीव्र गति से इसलिए चलते हैं क्योंकि उनकी रचना में माया का प्रयोग किया जाता है । माया का अर्थ निघण्टु में प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि किया गया है । माया का अर्थ वह कौशलयुक्त बुद्धि भी होता है जिसके द्वारा अचम्भे में डाल देने वाले जादू आदि के खेल दिखाये जाते हैं । इस प्रकार माया का अर्थ कौशलयुक्त बुद्धि हो जाता है । अश्विनौ के रथ का एक विशेषण 'पुरुमायम्'¹ भी वेद में आता है । 'पुरुमायम्' का अर्थ होगा जिसमें पुरु अर्थात् बहुत माया अर्थात् कौशलयुक्त बुद्धि लगी हो, जिसके निर्माण में बड़ी कौशलयुक्त बुद्धि का प्रयोग किया गया हो । इस माया के प्रयोग से अश्विनौ के रथ तीव्र से तीव्र गति से चलने वाले भी बनते हैं, देखने में बहुत सुन्दर भी बनते हैं जिनकी सुन्दरता का वेद में स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है और वे यात्रियों को सुख और आराम देने वाले भी बनते हैं ।

वेद में इस प्रकार के कौशलमयी बुद्धि से युक्त कारीगरों का भी वर्णन हुआ है । वेद में इन चतुर कारीगरों का नाम 'ऋभु' कहा गया है । ऋभुओं का वेद में बहुत वर्णन हुआ है । अश्विनौ के रथों को ये ऋभु नामक कारीगर बनाते हैं । इस सम्बन्ध में वेद का निम्न मन्त्र देखने योग्य है—

आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना ।

ऋग्वे० 10.39.12

अर्थात् हे अश्विनौ मन से भी तीव्र गति से चलने वाले अपने उस रथ से आओ जिसको ऋभुओं ने बनाया है ।

इस प्रकार ये ऋभु ऐसे कौशलयुक्त बुद्धि वाले कारीगर हैं जिनके बनाये रथ मन से भी अधिक तीव्र गति से चलते हैं । भाव यह है कि बहुत अधिक तीव्र गति से चलते हैं ।

अश्विनौ का अपना विशिष्ट स्वरूप

अश्विनौ राजा या सम्राट् का ही एक रूप है और उसके प्रतिनिधि के रूप में ही राष्ट्र में अपना कार्य करते हैं । इसकी ओर वेद ने उन्हें 'राजानो' और 'मृपती' कहकर स्पष्ट संकेत कर दिया है । इस ओर हम इस अध्याय के आरम्भ में ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं । अश्विनौ इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी और सहायक हैं यह भी हमने वहाँ कहा था । वहाँ प्रश्न उठा था कि सम्राट् के सहचारी और सहायक के रूप में अश्विनौ का अपना विशिष्ट स्वरूप क्या है ? ऊपर के पृष्ठों में

¹ देखो ऋग्वे० 1.119.1 ।

हमने उनके अपने विशिष्ट स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया है। अपने विशिष्ट राजनैतिक रूप में अश्विनौ राष्ट्र के परिवहन विभाग के मुख्य अधिकारी प्रतीत होते हैं। आजकल की प्रचलित भाषा में हम उन्हें परिवहन विभाग के मंत्री कह सकते हैं। वेद में बार-बार अश्विनौ के रथों और अश्वों का वर्णन होना और उनके रथों द्वारा बार-बार अनाजों और अन्य सामग्री तथा मनुष्यों एवं अन्य पशुओं के वहन किये जाने का वर्णन होना यह स्पष्ट चोतित करता है कि उनका अपना विशिष्ट स्वरूप परिवहन का कार्य करना है। ऊपर के पृष्ठों में अश्विनौ के जो वर्णन दिखाये गये हैं वैसे वर्णन वेद में अन्य देवताओं के या तो हैं ही नहीं या अश्विनौ की तुलना में बहुत कम हैं। अश्विनौ के 'रुद्रवर्नी' और 'सिन्धुवाहसा' आदि अनेक विशेषण और उनके रथ के 'सेनाजूः' आदि अनेक विशेषण किसी अन्य देवता और उसके रथ के लिए प्रयुक्त नहीं हुए हैं। उनके ये सब कार्य-वर्णन और विशेषण अश्विनौ के अपने विशिष्ट स्वरूप का स्पष्ट निर्धारण कर देते हैं और उनका वह स्वरूप परिवहन का कार्य कराना है। वे परिवहन विभाग के मुख्य अधिकारी या मंत्री होने के नाते इस विभाग का निरीक्षण और नियन्त्रण करेंगे तथा राष्ट्र में भाँति-भाँति के परिवहनों के चलने की व्यवस्था भी करावेंगे।

अश्विनौ के इस काव्यमय वर्णन द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि किसी भी राष्ट्र के राज्य-प्रशासन को अपने राष्ट्र में परिवहन की यथेष्ट व्यवस्था करनी चाहिए और उसके लिए विविध प्रकार के यानों का निर्माण कराना चाहिए।

अश्विनौ के साथ द्विवचन का प्रयोग क्यों ?

ऊपर हमने देखा है कि अश्विनौ का स्वरूप अधिराष्ट्र अर्थ में परिवहन मंत्री का है। मंत्री तो एक ही होगा फिर परिवहन मंत्री के लिए 'अश्वी' इस प्रकार एक वचन का प्रयोग न करके उसके लिए 'अश्विनौ' यह द्विवचन का प्रयोग क्यों किया गया है ? जबकि इन्द्र, अग्नि आदि प्रमुख देवताओं के लिए एकवचन का प्रयोग आता है तो फिर अश्विनौ के लिए द्विवचन का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया है ? अश्विनौ के साथ द्विवचन के प्रयोग का अपना एक विशेष अभिप्राय है। परिवहन की दो प्रकार की गति होती है—एक परिवहन की यह गति होती है कि वह किसी भी केन्द्र या नगर से बाहर की ओर जाता है; और उसकी दूसरी वह गति होती है कि वह बाहर से उस केन्द्र या नगर की ओर आता है। इन दोनों प्रकार की जाने और आने की गतियों में हो रहे परिवहन की दृष्टि से 'अश्वी' के एक होते हुए भी उसे 'अश्विनौ' इस प्रकार दो कह दिया है।

ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद 1.3.1 मंत्र की व्याख्या करते हुए अश्विनौ शब्द के अर्थों का दिग्दर्शन कराते हुए यह भी लिखा है कि गमन और प्राप्ति के निमित्त अश्विनौ का ग्रहण होता है¹। ऋषि के इस कथन से भी हमारे ऊपर की पंक्तियों में

¹ अनेक गमनप्राप्तिनिमित्त अश्विनौ गृह्येते। भाष्ये दयानन्दविः। ऋग्वे० 1.3.1.

उल्लिखित इस विचार की पुष्टि होती है कि परिवहन की दो प्रकार की गतियों के कारण अश्विनौ में द्विवचन का प्रयोग किया गया है। ऋषि ने अपने इस वाक्य में अश्विनौ की दो प्रकार की गतियों की ओर निर्देश किया है—एक गमन और दूसरी प्राप्ति। गमन में अश्विनौ के परिवहन किसी केन्द्र या नगर से बाहर की ओर जाते हैं; और प्राप्ति में परिवहन बाहर से उस केन्द्र या नगर की ओर आते हैं।

वेद में कुछ स्थल ऐसे भी उपलब्ध होते हैं जहाँ उन्हें दो कहते हुए उनका ऐसा वर्णन भी कर दिया गया है जिससे प्रतीत होता है कि वे एक भी हैं। इस सम्बन्ध में निम्न मंत्र देखिये—

1. यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव भिषज्यथः। ऋग्० 8.9.6

2. पुरं न धृष्णवा रुज कृष्णया बाधितो विशा।

अन्ति षद्भूतु वामवः॥

ऋग्० 8.73.18

3. उत त्वं वीरं धनसामृजीषिणं दूरे चित् सन्तमवसे हवामहे।

यस्य स्वादिष्ठा सुमतिः पितुर्यथा मानो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्।

ऋग्० 8.86.4

4. यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते।

एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम्॥

अथर्व० 6.102.1

इन मंत्रों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—(1) हे अश्विनौ (नासत्या) जो तुम सबका पोषण करते हो (भुरण्यथः) अथवा हे देव (देव) जो तुम सबकी चिकित्सा करते हो (भिषज्यथः)। इस मंत्र में अश्विनौ के लिए उसके पर्याय नासत्या का प्रयोग किया गया है जोकि द्विवचन में है। 'भुरण्यथः' और 'भिषज्यथः' ये दोनों क्रियापद भी द्विवचन में हैं। परन्तु अश्विनौ का देव यह विशेषण एक वचन में है। उनके इस एकवचनान्त विशेषण से यह ध्वनित होता है कि अश्विनौ दो होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं। मंत्र में देव ऐसा एकवचनान्त पाठ ही है। पदपाठ में इसे देवा ऐसा द्विवचनान्त पद कर दिया गया है। श्री सायण आदि भाष्यकारों ने भी इस पद को द्विवचनान्त मानकर ही इसका अर्थ किया है। हमारी सम्मति में इस पद को एकवचनान्त ही मानना चाहिए जैसाकि मंत्र में पाठ है। यहाँ इस पद के एक वचनान्त प्रयोग की एक विशेष व्यंजना है जिसकी ओर हमने अभी संकेत किया है। दूसरे मंत्र का अर्थ है, हे धर्षणशील (धृष्णो) अश्विनौ कृष्ण वर्ण की प्रजा द्वारा (विशा) बाधित होने पर (बाधितः) तुम उसे भंग कर दो (आरुज) जैसे कि शत्रु की नगरी को भंग कर दिया जाता है, तुम्हारी (वां) रक्षा सदा हमारे समीप रहने वाली होवे। इस मंत्र में कृष्ण प्रजा का तात्पर्य अज्ञानी लोगों से है। कृष्ण शब्द अन्वकार और अज्ञान का द्योतक होता ही है। भाव यह है कि यदि कभी कोई अज्ञानी लोग अश्विनौ के परिवहन कार्य में बाधा डालें तो उनसे मिलने वाली बाधा को भंग कर दिया जाना चाहिए जिससे अश्विनौ के परिवहन कार्य से जनता को जो रक्षा और सुख-सुविधा मिलती है वह

निरन्तर मिलती रहे । राष्ट्रोपयोगी परिवहन कार्य में बाधा डालने वाले लोगों को राष्ट्र का शत्रु ही समझा जाना चाहिए और जैसे शत्रुओं के नगरों और तदुपलक्षित उनके अन्य ठिकानों को नष्ट कर दिया जाता है वैसे परिवहन में बाधा डालने वाले इन लोगों के उन ठिकानों को भी नष्ट कर दिया जाना चाहिए जहाँ से वे बाधा डालते हैं । यह मंत्र जिस सूक्त का है उसका देवता अश्विनौ है । इस मंत्र से ठीक ऊपर के मंत्र में भी अश्विनौ शब्द का प्रयोग हुआ है । इस मंत्र में भी ऊपर के मंत्र में निर्दिष्ट अश्विनौ का ही वर्णन है । मंत्र का वाम् शब्द जिसका अर्थ 'तुम दोनों का' ऐसा होता है द्विवचनान्त है और अश्विनौ को कह रहा है । मंत्र का घृष्णो शब्द संबोधन में एकवचनान्त है और अश्विनौ का विशेषण है । मंत्र का 'बाधितः' पद भी एकवचनान्त है और अश्विनौ का ही एक प्रकार का विशेषण है । मंत्र का 'आरुज' यह क्रियापद भी मध्यम पुरुष का एकवचन है और अश्विनौ के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार 'वाम्' इस द्विवचनान्त सर्वनाम पद द्वारा मंत्र में जिन अश्विनौ का परामर्श किया गया है उन्हीं अश्विनौ के लिए 'बाधितः' और 'घृष्णो' इन एकवचनान्त विशेषणों और 'आरुज' इस एकवचनान्त क्रिया का प्रयोग किया गया है । दो के लिए प्रयुक्त ये एकवचनान्त प्रयोग भी यह ध्वनित करते हैं कि अश्विनौ दो होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं । तीसरे मंत्र का अर्थ है, 'हे अश्विनौ दूर रहने वाले (सन्तं) भी उन तुम को (त्यम्) हम बुलाते हैं जो कि तुम वीर हो (वीरं) धन देने वाले हो (धनसां) सरल नीति वाले हो (ऋजीषिणं)¹ जिन तुम्हारी (यस्य) सुमति हमारे लिए स्वादिष्ट फल देने वाली है जिस प्रकार कि पिता की सुमति पुत्र के लिए स्वादिष्ट फल देने वाली होती है । तुम हमको अपने से पृथक् मत करो (मा वि यौष्टम्) और अपने साथ हमारी मित्रताओं को मत छोड़ो (मुमोचतम्) । इस मंत्र में वियौष्टम् और मुमोचतम् ये दोनों क्रियापद द्विवचनान्त हैं और अश्विनौ के लिए प्रयुक्त हुए हैं । मंत्र के शेष त्यम् वीरम् धनसाम् ऋजीषिणम् और सन्तम् ये सब पद एकवचनान्त हैं और अश्विनौ के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं । दो के लिए प्रयुक्त होने वाले इस मंत्र के ये सब एकवचनान्त पद भी यह ध्वनित करते हैं कि अश्विनौ दो होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं । चौथे मंत्र का अर्थ है, 'हे अश्विनौ जैसे यह अश्व स्वामी के पास आता है और स्वामी के पास ही रहता है वैसे ही तुम्हारा (ते) मन मेरे पास आवे और मेरे पास ही रहे । अश्विनौ के मन का मेरे अर्थात् प्रजाजनों के पास आने का भाव यह है कि अश्विनौ अपने परिवहन साधनों द्वारा सदा प्रजा के कल्याण और सुख-सुविधा का ध्यान रखें और उनकी सुख-सुविधा में कभी भी कमी न आने दें । इस मंत्र में ते सर्वनाम पद एकवचनान्त है और अश्विनौ के लिए प्रयुक्त हुआ है । दो के लिए प्रयुक्त किया गया यह एकवचनान्त सर्वनाम पद भी यह ध्वनित करता है कि अश्विनौ दो होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं ।

¹ ऋजीषिणम् ऋजुनीतियुक्तम् । ऋजीषी ऋजुनीतिः । भाष्ये दयानन्दविः । ऋजुं सरलां नीतिमिच्छतीति ऋजीषी । ऋ० 4.16.1.

इन मंत्रों को ध्यान में रखते हुए जब अश्विनौ का अधिराष्ट्र अर्थ परिवहन मंत्री किया जायेगा तब उनमें द्विवचन प्रयोग होते हुए भी उन्हें एक ही समझना चाहिए। अश्विनौ के छावापृथिवी अहोरात्र प्राणापान आदि और भी अनेक अर्थ उनके विशेषणों के आधार पर होते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में राजा-प्रजाजन, स्त्री-पुरुष, अध्यापक-अध्येता और अध्यापक-उपदेशक, आदि अश्विनौ के और भी कितने ही अर्थ किये हैं। ये छावापृथिवी आदि सब दो-दो के जोड़े हैं। दो-दो के जोड़े वाले अर्थों में अश्विनौ का द्विवचनान्त प्रयोग संगत हो ही जायेगा। अभी ऊपर उद्धृत चारों मंत्रों में अश्विनौ के सम्बन्ध में जो एकवचनान्त प्रयोग हुए हैं और उनसे जो उनके एकत्व की ध्वनि निकलती है उसे दृष्टि में रखने पर इन छावापृथिवी आदि के दो-दो के जोड़ों में भी एक प्रकार का एकत्व देखा जा सकता है। द्यौ और पृथिवी मिलकर एक विश्व-ब्रह्माण्ड बनाते हैं। इस प्रकार उनमें एक प्रकार का एकत्व भी है। प्राण-अपान भी वायुरूप में एक ही हैं। स्त्री-पुरुष भी मनुष्य रूप में एक ही हैं। इसी प्रकार अन्य जोड़ों में भी अपने प्रकार का एकत्व देखा जा सकता है। इस प्रकार अश्विनौ एक दृष्टि से दो भी हैं और एक दूसरी दृष्टि से एक भी।

अश्विनौ शब्द की निरुक्ति की संगति

जैसा कि हमने इस प्रकरण के आरम्भ में देखा है अश्विनौ शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की जाती है कि अश्वैश्विनौ अर्थात् अश्वों वाले होने के कारण वे अश्विनौ कहे जाते हैं। अथवा यद्व्यश्वनुवाते सर्वम् अर्थात् सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सर्वत्र पहुँचने के कारण वे अश्विनौ कहे जाते हैं। इस प्रकरण में अश्विनौ का जो स्वरूप हमने देखा है उसके साथ इस शब्द की यह निरुक्ति भी भली-भाँति संगत हो जाती है।

अश्विनौ का चिकित्सक रूप

अश्विनौ का वेद में एक रूप चिकित्सक का भी है। उन्हें अनेक स्थानों पर 'भिषजा'¹ कहा गया है। भिषक् का अर्थ वैद्य या चिकित्सक होता है। ऋग् 1.34.6 मंत्र में उनसे आकाश, पृथिवी और जलों से प्राप्त होने वाले भेषज अर्थात् औषध माँगे गये हैं। ऋग् 1.157.6 मंत्र में उन्हें भेषज अर्थात् औषधों से चिकित्सा करने वाले भिषक् अर्थात् चिकित्सक कहा गया है। ऋग् 8.22.10 में उनके द्वारा आतुर अर्थात् रोगी की चिकित्सा करने का वर्णन है। ऋग् 8.35.16 में उनके द्वारा अमीवा अर्थात् रोगों के निराकरण किये जाने का वर्णन है। ऋग् 1.116.16 में उनके द्वारा अन्वे को चक्षु दिए जाने का वर्णन है। ऋग् 1.116.15 में अश्विनौ के द्वारा कटी हुई जंघा के स्थान पर लोहे की जंघा लगाये जाने का वर्णन है। ऋग् 1.117.13 में उनके द्वारा वृद्ध को जवान किये जाने का वर्णन है। ऋग्

¹ उदाहरण के लिए देखें—

ऋग् 1.116.16, 1.157.6, ऋग् 8.86.1।

1.112.21 में उनके द्वारा युद्ध में घायल हुए अश्व की रक्षा अर्थात् चिकित्सा किये जाने का वर्णन है। ऋग्० 1.112.3 में बच्चा उत्पन्न करने में असमर्थ गौ को अश्विनी द्वारा चिकित्सा किया जाकर बच्चा उत्पन्न करने और इस प्रकार दूध देने वाली बना देने का वर्णन है। ऋग्० 1.117.20 मंत्र में दुर्बल और अधेनु अर्थात् दूध देने में असमर्थ गौ को उनके द्वारा दूध देने में समर्थ बना दिया जाने का वर्णन है। ऋग्० 1.116.14 मंत्र में भेड़िये के मुख से वार्तिका अर्थात् वत्तख को अश्विनी द्वारा छुड़ाये जाने का वर्णन है। यहाँ भेड़िया (वृक), कुत्ता, बिल्ली आदि सभी इस प्रकार के प्राणियों का उपलक्षक है जो कि पक्षियों को मार डाल देते और खा जाते हैं। कुत्ते को तो संस्कृत में शालावृक अर्थात् घर का भेड़िया कहते भी हैं। वार्तिका भी कबूतर आदि अन्य पक्षियों का उपलक्षक है। श्री सायण ने वार्तिका का अर्थ चटका अर्थात् चिड़िया किया है। ऋषि दयानन्द ने वार्तिका का अर्थ वत्तख भी किया है। वत्तख भी एक प्रकार की चिड़िया ही होती है। अश्विनी के इस वर्णन की यह व्यंजना है कि भेड़िये आदि द्वारा चबाकर घायल किये गये पक्षियों की भी चिकित्सा करके वे उन्हें अच्छा कर देते हैं। यहाँ अश्विनी के जिन चिकित्सा-कर्मों का उल्लेख किया गया है उनके इस प्रकार के कार्यों की ओर वेद में अनेक स्थानों पर निर्देश किया गया है। अश्विनी के चिकित्सा और आयुर्वेद विषयक वर्णनों की व्याख्या करना हमारे लिए यहाँ प्रसंग-पतित नहीं है। इसलिए हम यहाँ उनकी विस्तृत व्याख्या में नहीं जा रहे हैं।

अश्विनी के लिए द्विवचन का प्रयोग और उनके 'भिषजा' आदि विशेषणों में भी द्विवचन का प्रयोग यह ध्वनित करता है कि चिकित्सक दो प्रकार के होते हैं— एक औषधोपचार द्वारा चिकित्सा करने वाले चिकित्सक और दूसरे शल्यक्रिया द्वारा चिकित्सा करने वाले चिकित्सक। अश्विनी के दोनों प्रकार के ही वर्णन वेद में मिलते हैं। 'युवं ह स्थो भिषजा भेषजेभिः' (ऋग्० 1.157.6) अर्थात् 'हे अश्विनी तुम औषधों द्वारा चिकित्सा करने वाले भिषक् अर्थात् चिकित्सक हो', इस प्रकार के वर्णनों से उनका औषधोपचार द्वारा चिकित्सा करने वाला रूप प्रकट होता है तथा कटी हुई जंघा के स्थान पर लोहे की जंघा लगा देने जैसे उनके वर्णनों से उनके शल्यक्रिया द्वारा चिकित्सा करने वाले रूप पर प्रकाश पड़ता है।

अश्विनी के इस चिकित्सक रूप का वर्णन करके वेद ने यह उपदेश दिया है कि राज्य-प्रशासन को राष्ट्र में चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिए और शल्य चिकित्सा तथा औषधि चिकित्सा दोनों का प्रवन्ध करना चाहिए।

4. वरुण : पुलिस विभाग का मंत्री

वरुण भी इन्द्र का एक प्रमुख सहचारी देवता है। वरुण के इन्द्र के साथ द्वन्द्व समास में समस्त होकर भी बहुत वर्णन वेद में आते हैं और असमस्त रूप में भी इन्द्र के सहचारी के रूप में उसके अनेक वर्णन आते हैं। ऋग्वेद 7.34.24 मंत्र में

तो वरुण को 'इन्द्रसखा' अर्थात् इन्द्र का मित्र तक कह दिया गया है। हम इस ग्रन्थ में निरन्तर देखते आ रहे हैं कि वेद में इन्द्र का एक अर्थ सम्राट् भी होता है। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी वरुण का अधिराष्ट्र अर्थ में क्या रूप होगा इस सम्बन्ध में हमें यहाँ विचार करना है।

वरुण का मानव और राजा रूप

वरुण के स्वरूप पर विचार करते समय सबसे प्रथम हमारा ध्यान उसके लिए वेद में प्रयुक्त 'नर' इस विशेषण पर जाता है। वरुण के लिए यह विशेषण कितने ही स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। वरुण का जहाँ इन्द्र के साथ द्वन्द्व समास में समस्त होकर अनेक स्थलों पर वर्णन आता है वहाँ उसका मित्र देवता के साथ भी अनेक स्थानों पर द्वन्द्व समास में समस्त होकर वर्णन आता है। इन्द्रावरुणौ और मित्रावरुणौ इस प्रकार समस्त रूप में वरुण के इन्द्र और मित्र इन दोनों देवताओं के साथ वर्णन अनेक स्थानों पर आते हैं। अनेक स्थानों पर इन्द्रावरुणौ और मित्रावरुणौ के लिए 'नरौ'¹ इस द्विवचनान्त विशेषण का प्रयोग हुआ है। जब इन्द्रावरुणौ और मित्रावरुणौ नर हैं तो वरुण भी स्वतः 'नर' हो गया। इस प्रकार वेद में वरुण को स्पष्ट रूप में नर कहा गया है। अब नर का अर्थ मनुष्य होता है। वरुण के इस विशेषण से यह सूचित होता है कि वेद में उसका एक अर्थ मनुष्य भी होता है। अर्थात् वरुण को मनुष्य समझकर भी उसकी एक व्याख्या हो सकती है। ऋग्वेद 1.152.1 मंत्र में मित्र और वरुण के सम्बन्ध में यह भी उल्लेख आता है कि वे वस्त्र² भी पहनते हैं। उनके द्वारा वस्त्र पहनने के इस उल्लेख से यह सूचित होता है कि वे अन्य मनुष्यों की भाँति ही वस्त्रधारी मनुष्य हैं। उसके इस वर्णन से भी यह ध्वनित होता है कि वरुण का एक रूप मनुष्य का भी है। अनेक स्थानों पर वरुण को वेद में राजा³ और सम्राट्⁴ भी कहा गया है। अनेक स्थानों पर सीधा वरुण को ही राजा और सम्राट् कहा गया है और कितने ही स्थानों पर उसे इन्द्र और मित्र के साथ समस्त प्रयोगों में राजा और सम्राट् कहा गया है। ऐसे स्थलों में इन्द्र और वरुण तथा मित्र और वरुण दोनों को ही राजा अथवा सम्राट् कहा गया है। वरुण को राजा या सम्राट् कहने का यह स्पष्ट भाव निकलता है कि वरुण का एक अर्थ राजा भी किया जा सकता है और उसे राजा समझकर उसकी राजनैतिक या अधिराष्ट्र व्याख्या भी की जा सकती है। वरुण के 'नर', 'राजा' और 'सम्राट्' इन विशेषणों को समुदित रूप में मिलाकर देखने पर स्पष्ट रूप से यह भाव प्रकट होता है कि वेद में वरुण का एक अर्थ मनुष्य राजा भी होता है। वेद के अनेक स्थलों पर वरुण का यह

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 7.82.8।

² युवं वस्त्राणि पीवसा वसाधे। ऋग्० 1.152.1.

³ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 7.64.1, अथर्व० 1.33.2.

⁴ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 6.68.9.

अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें दृष्टि में आने लगती हैं।

राष्ट्र में सर्वोपरि शासक और सम्राट् तो वेद की भाषा में वस्तुतः इन्द्र को कहा गया है यह हम देखते ही आ रहे हैं। वरुण इन्द्र का सहचारी और सहायक देवता है। वह इन्द्र के निरीक्षण और नियंत्रण में रहकर ही उसे दे दिये गये अपने विभाग का कार्य करेगा। वह इन्द्र (सम्राट्) का प्रतिनिधि होगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में ही अपने विभाग का कार्य करेगा। और इस दृष्टि से एक प्रकार से वह राजा या सम्राट् ही होगा। इसीलिए उसे गौण रूप में राजा या सम्राट् कह दिया गया है।

वरुण के पाश

अब हमें यह देखना है कि वरुण का अपना वह विशिष्ट रूप कौनसा है जिस रूप में वह इन्द्र की सहायता करेगा। दूसरे शब्दों में वरुण का अपना विशेष विभाग कौन-सा है इस पर हमें यहाँ विचार करना है। इसका निश्चय करने के लिए भी हमें वरुण के वर्णनों में पर्याप्त और स्पष्ट निर्देश मिलते हैं। वरुण के साथ उसके पाशों का बहुत वर्णन आता है। भिन्न-भिन्न रूपों और भिन्न-भिन्न प्रसंगों में वरुण के साथ कोई 21 स्थानों पर पाशों का वर्णन वेद में मिलता है। अन्य देवताओं के साथ पाशों का वर्णन नहीं के बराबर आता है। अग्नि और सविता के साथ तीन-तीन बार पाशों का वर्णन आता है। अन्य कुछ प्रमुख देवताओं के साथ तो एक-एक दो-दो बार ही पाशों का वर्णन आता है। पाश बन्धन को कहते हैं। बन्धन के साधन रस्सियों और लोहे की वेड़ियों को भी पाश कहते हैं। स्वयं वेद में लोहे¹ के (अयस्मय) पाशों का वर्णन आता है। वेद में वरुण के साथ पाशों का इतना अधिक वर्णन आने के कारण ही ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि पाश वरुण² के हैं। पौराणिक साहित्य में तो वरुण का एक नाम ही पाशो³ पड़ गया है।

वरुण के ये पाश अपराधियों को पकड़कर उन्हें बाँधने के काम में प्रयुक्त किये जाते हैं। अथर्ववेद के निम्न मंत्र इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं—

1. ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः ।

सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥

अथर्व० 4.16.6

2. शतेन पाशैरभि वेहि वरुणं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।

आस्तां जाल्म उदरं शंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥

अथर्व० 4.16.7

¹ अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्कितो ये चरन्ति । —अथर्व० 19.66.1.

² वरुणो वै पाशः । तै० 3.3.10.1, 21.6.7.3.8.

³ प्रचेता वरुणः पाशो यादसां पतिरप्पतिः । अमरकोशः ।

मंत्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—(1) (वरुण) हे वरुण (ये) जो (ते) तेरे (सप्तसप्त) अपराधियों से समवेत होने वाले अर्थात् उनसे मिलकर उन्हें बाँधने वाले अथवा सर्पणशील अर्थात् अपराधियों को बाँधने के लिए चलकर उन तक पहुँचने वाले (त्रेधा) तीन प्रकार के अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार के (रुशन्तः) अपराधियों की हिंसा करने वाले अर्थात् उन्हें पीड़ा देने वाले (विषिताः) अच्छी तरह से बाँधे हुए अर्थात् बनाये गये (पाशाः) पाश (तिष्ठन्ति) पड़े हैं। (सर्वे) वे सब (अनृतं) असत्य (वदन्तं) बोलने वाले को (सिनन्तु) बाँध लें (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी हैं (तं) उसको (अतिसृजन्तु) छोड़ दें।

वरुण के पाश अनृतवादी को पकड़कर बाँध लेते हैं और सत्यवादी को छोड़ देते हैं। अनृतवादी अर्थात् असत्यभाषी होना सभी प्रकार के पापों का, सभी प्रकार के अपराधों का उपलक्षण है। क्योंकि सभी प्रकार के अपराधों की जड़ में असत्य है तो असत्य ही होता है। और सत्यवादी होना सभी प्रकार के अधर्माचरणों और अपराधों से बचे रहकर उनके स्थान पर धर्माचरण का, सभी प्रकार की सही मर्यादा और व्यवस्थाओं के पालन करने का, उपलक्षण है। क्योंकि सभी प्रकार के धर्माचरणों, सभी प्रकार के नियमों और व्यवस्थाओं के पालन की जड़ में सत्य का पालन करने की वृत्ति ही होती है।

क्रियापद सिनन्तु या छिनन्तु ?

प्रसंगवश यहाँ मंत्र के बंधनार्थक 'सिनन्तु' क्रियापद पर थोड़ा-सा विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। श्री पं० सातवलेकर जी द्वारा संपादित और मुद्रित अथर्ववेद के संस्करणों में इस मंत्र में 'सिनन्तु' के स्थान पर 'छिनन्तु' पाठ है। वैदिक मंत्रालय अजमेर के संस्करणों में भी 'छिनन्तु' पाठ ही है। पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री द्वारा संपादित और विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर से प्रकाशित अथर्ववेद के सायण भाष्य में मंत्र में 'छिनन्तु' पाठ ही है। सायण ने इस पद को 'छिदिर्' धातु का रूप मानकर इसका अर्थ 'छिन्दन्तु' 'अर्थात् काट डालें' ऐसा किया है। श्री सायण का यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। पाश काटने का काम नहीं किया करते। वे तो बाँधने का काम किया करते हैं। काटने का काम तो शस्त्र करते हैं। सूक्त के इस मंत्र से अगले ही सातवें मंत्र में वरुण से कहा गया है कि अपने सैंकड़ों प्रकार के पाशों से अनृतवादी को बाँध लो। सातवें मन्त्र में बाँधने के लिए 'अभिधेहि' क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस क्रियापद का अर्थ स्वयं सायण ने भी 'बद्ध्वा निगृहाण' अर्थात् बाँधकर निग्रह 'कर' ऐसा किया है। पाशों का काम तो बाँधना ही है, काटना नहीं। इस कारण अर्थ के औचित्य की दृष्टि से हमने 'छिनन्तु' के स्थान पर 'सिनन्तु' पाठ स्वीकार किया है। श्री पं० विश्वबन्धु जी ने अपने द्वारा सम्पादित अथर्ववेद के भाष्य में नीचे टिप्पणी में इस मंत्र के पाठ भेद दिखाते हुए 'छिनन्तु' के स्थान पर 'सिनन्तु' पाठ दिखाया है और कहा है कि यह पाठ राथ (Roth) और ह्विटनी

(Whitney) द्वारा संपादित अथर्ववेद के संस्करणों में पाया जाता है। हमें भी राथ और व्हिटनी का पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। इस पाठ में अर्थ का औचित्य अधिक है। 'सिनन्तु' क्रियापद 'षिञ्' धातु का रूप है जिसका अर्थ बाँधना होता है।

सप्त पद का अर्थ

मन्त्र के 'सप्तसप्त' पद का अर्थ श्री सायण ने लोक प्रसिद्ध संख्या वाचक सात किया है। यहाँ यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। वरुण के पाश सात या उसका तिगुना (त्रेधा) इक्कीस ही नहीं होते। उसके तो, जैसा कि अगले सातवें मन्त्र में कहा गया है, सैंकड़ों पाश हैं। उसने एक ही अनृतवादी को नहीं बाँधना है। उसने तो सैंकड़ों और हजारों अनृतवादियों को, अधर्माचारियों और अपराधियों को बाँधना है। इसीलिए इस सातवें मन्त्र में उसके सैंकड़ों पाश कहे गये हैं। इस कारण हमने इस पद का प्रसिद्ध संख्यावाचक सात अर्थ न करके धात्वर्थ के आधार पर इसका यौगिक अर्थ किया है। सप्त शब्द एक तो 'षप्' धातु से निष्पन्न किया जाता है जिसका अर्थ 'समवाय' अर्थात् मिलना, जुड़ना, इकट्ठा होना होता है। दूसरे यह शब्द 'सृप्' धातु से निष्पन्न किया जाता है जिसका अर्थ गति करना होता है। उणादि कोष¹ में इसकी व्युत्पत्ति 'षप्' धातु से की गई है और निरुक्त² में 'सृप्' धातु से। इस यौगिक अर्थ में सप्त का क्या भाव होगा इसे हमने मन्त्र के शब्दार्थ में ही स्पष्ट कर दिया है। सप्त के 'सप्तसप्त' इस द्विरुक्त या दुहरे प्रयोग का भी अपना एक भाव है। और वह भाव है आधिक्य का। 'सप्तसप्त' अर्थात् बहुत समवायशील और सर्पणशील। अर्थात् अपराधियों तक जल्दी से पहुँचकर उन्हें खूब अच्छी तरह बाँधने वाले। विशेषणों का द्विरुक्त प्रयोग उनके आधिक्य का द्योतक हुआ करता है। 'नील-नील' का अर्थ होता है बहुत नीला, 'पीतपीत' और 'रक्तर्क्त' का अर्थ होता है बहुत पीला और बहुत लाल। इसी भाँति अन्य विशेषणों के साथ भी यही बात रहती है।

तीन प्रकार के पाश

पाशों को 'त्रेधा' अर्थात् तीन प्रकार का कहने का भाव भी समझ लेना चाहिए। वेद में अनेक स्थानों पर³ वरुण के पाशों को उत्तम, मध्यम और अधम इस भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। उत्तम पाश वे हैं जो बहुत भयंकर प्रथम श्रेणी के अपराधियों को बाँधते हैं। मध्यम पाश वे हैं जो मध्यम श्रेणी के, दूसरे दर्जे के, अपराधियों को बाँधते हैं। और अधम पाश वे हैं जो तृतीय श्रेणी के, तीसरे दर्जे के, अपराधियों को बाँधते हैं। अपराध के स्वरूप के अनुसार, उसकी अधिकता और न्यूनता के अनुसार, अपराधी के दण्ड का स्वरूप भी बदलता रहेगा, वह अपराध के

¹ सपति समवैति इति सप्तन् संख्याभेदो वा। उणादि० 1.157.

² सप्त सृप्ता संख्या। निरु० 4.4.26.

³ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे० 1.24.15

अनुसार कम अधिक होता रहेगा। पाशों को तीन प्रकार का कहने का यही अभिप्राय है।

अब अगले मन्त्र का अर्थ लीजिए—‘वरुण हे वरुण (एनं) इस असत्यवादी को अर्थात् अपराधी को अपने (शतेन) सैंकड़ों (पाशैः) पाशों से (अभिघेहि) बाँध लो (नृचक्षः) हे मनुष्यों को पहचानने वाले (अनृतवाक्) असत्यवादी अर्थात् पापी और अपराधी (ते) तुम से (मा) मत (मोचि) छुट जाये (जाल्मः) दुष्ट व्यवहारी नीच पुरुष (उदरं) पाप के अपने ऊँचे झण्डे को (श्रंसयित्वा) गिराकर (परिकृत्यमानः) कटे हुए (अवन्धः) आश्रयहीन (कोशः) फूल के डोडे की (इव) तरह (आस्ताम्) पड़ा रहे।’

मन्त्र का भाव स्वयं स्पष्ट है। इसकी विस्तृत व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। ये दोनों मन्त्र स्पष्ट कह रहे हैं कि वरुण अपने पाशों द्वारा असत्यभाषी अर्थात् पापात्मा अपराधियों को बाँधते हैं। उन्हें पकड़ कर वेड़ियाँ पहनाते हैं और जेलखानों में डाल देते हैं। इसी प्रसंग में वेद के निम्न मन्त्र भी देखने योग्य हैं—

1. वज्रणेण्यः शवसा हन्ति वृत्रं सिषक्त्यन्यो वृजनेषु विप्रः।

ऋग्० 6.68.3.

2. उतापवक्ता हृदयाविधश्चित् नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः।

यजु० 8.23.

अर्थात्—(1) इन इन्द्र और वरुण में से (अन्यः) एक इन्द्र (शवसा) अपने बल से (वज्रणेण) वज्र के द्वारा (वृत्रं) राष्ट्र के लोगों के कामों में रुकावट और बाधा डालने वाले अपराधी अथवा शत्रु को (हन्ति) मार डालता है और (अन्यः) दूसरा वरुण (विप्रः) जो कि मेधावी विद्वान् है (वृजनेषु)¹ प्रजाओं के प्रति-उपद्रव किये जाने पर अपराधी व्यक्तियों को (सिषक्ति)² बाँध लेता है।

मन्त्र में इन्द्र और वरुण के कार्य अलग-अलग प्रकार के बताये हैं। इन्द्र तो राष्ट्र के अपराधियों और शत्रुओं के प्रति वज्र और वज्र से उपलक्षित अन्य भाँति-भाँति के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करता है। वरुण उपद्रव करने वालों को बाँधता है। और बाँध कर उन्हें दण्ड विधान करने वाली राज्य व्यवस्था को सौंप देता है। इस मन्त्र से भी स्पष्ट प्रकट होता है कि वरुण का कार्य अपराधियों को पकड़ कर बाँधना है।

अगले मन्त्र का अर्थ है—‘वरुण (हृदयाविधश्चित्) जो व्यक्ति किसी का हृदय बाँध देता है उसका भी अर्थात् जो व्यक्ति कटुत्वचनादि के द्वारा किसी के हृदय को दुःखी कर देता और उसे अपमान की पीड़ा पहुँचा देता है ऐसे व्यक्ति का भी (अपवक्ता) अपवदिता है, निन्दा और तिरस्कार करने वाला है अर्थात् दण्ड देने वाला है, (वरुणाय) उस वरुण के लिए (नमः) नमस्कार है (वरुणस्य) वरुण का (पाशः)

¹ वृजनेषु उपद्रवेषु इतिः सायणः।

² सिषक्ति वध्नाति। सिषक्तु संवध्नातु। भाष्ये दयानन्दपिः। ऋग्० 5.41.15.

सीक्षन्त संवध्नन्ति। भाष्ये दयानन्दपिः। ऋग्० 7.60.11.

पाश (अभिष्टितः) चारों ओर खड़ा है, सब ओर सुनिश्चित और जागरूक होकर खड़ा है ।'

मन्त्र का भाव यह है कि यदि कोई व्यक्ति किसी को गाली आदि के कटु वचन बोलकर अपमानित और दुःखित कर दे तो वरुण उसे भी दण्डित करता है अन्य प्रकार के भारी अपराध करने वालों का तो कहना ही क्या है । वरुण के पाश हर समय तैयार खड़े रहते हैं । अपराधी को झट पकड़ लिया जाता और दण्डित कर दिया जाता है । ऐसे वरुण को सभी को नमस्कार करना चाहिए, उसका आदर करना चाहिए, और उसके कामों में सहयोग देना चाहिए ।

इन मन्त्रों से भी इस बात पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है कि वरुण अपने पाशों से अपराधियों को पकड़ कर बाँधता है ।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में वरुण का यह काम बताया गया है कि वह—

राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।

अथ० 1.33.2.

अर्थात्—राजा वरुण प्रजाओं के मध्य में लोगों के सत्य और असत्य को (सत्यानृते) भली-भाँति देखता हुआ (अवपश्यन्) चलता है (याति) ।'

वरुण का काम लोगों के सत्य और असत्य को देखना है, उनके सत्य और असत्य का पता लगाना है । जैसा कि ऊपर की पक्तियों में हमने स्पष्ट किया है सत्य सब प्रकार के धर्माचरणों, सब प्रकार के कर्तव्य पालन, का प्रतिनिधि है, और असत्य सब प्रकार के अधर्माचरणों, पापों और अपराधों का प्रतिनिधि है । कौन लोग सत्याचरण और कर्तव्य पालन करने वाले हैं और कौन लोग असत्याचरण करते, पाप और अपराध करते हैं, इसका पता लगाते रहना वरुण का काम है । वरुण के कर्मचारी यह कार्य करते हैं । ऐसे अपराधियों को पकड़कर, उन्हें पाशों से बाँधकर वरुण के कर्मचारी उन्हें दण्ड निर्धारित करने और दण्ड देने वाले राज्याधिकारियों के सम्मुख उपस्थित करते हैं ।

वरुण के स्पशः (गुप्तचर)

वरुण के पाशों की भाँति वरुण के स्पशों (गुप्तचरों) का वर्णन भी वेद में उपलब्ध होता है । वरुण के साथ स्पशः का वर्णन सबसे अधिक बार हुआ है । तीन बार तो स्पशः का वरुण के साथ सीधा वर्णन हुआ है । और दो बार 'मित्रावरुणो' इस समस्त रूप में वरुण के साथ स्पशः का वर्णन हुआ है । एक बार आदित्यों (आदित्याः) और एक ही बार देवों (देवाः) के साथ स्पशः का वर्णन हुआ है । आदित्यों और देवों में वरुण भी परिगणित होता है । इस प्रकार वरुण के साथ स्पशः का वर्णन दो-दो बार और हो गया । कुल मिलाकर वरुण के साथ स्पशः का वर्णन सात बार हुआ है । इसकी तुलना में अन्य प्रमुख देवों के साथ एक-एक दो-दो बार ही स्पशः का वर्णन हुआ है । केवल अग्नि के साथ स्पशः का वर्णन तीन बार हुआ है । यह भी वरुण की

तुलना में बहुत कम है। इस प्रकार वरुण के साथ स्पशः (गुप्तचरों) का विशेष सम्बन्ध है। केवल संख्या की दृष्टि से ही नहीं, वरुण के स्पर्शों और उनके कार्यों का जितना विशद वर्णन वेद में हुआ है उस दृष्टि से भी वरुण के साथ ही स्पर्शों का विशेष सम्बन्ध है।

वरुण के स्पर्शः कैसे हैं और क्या कार्य करते हैं इसका बड़ा रोचक वर्णन अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के 16वें सूक्त में हुआ है। सूक्त के प्रथम 5 मन्त्रों में उसके स्पर्शों का वर्णन है तथा छठे, सातवें और नौवें मन्त्र में उसके पाशों का वर्णन है। छठे और सातवें मन्त्र पर ऊपर की पंक्तियों में विचार हो चुका है। यहाँ हमें सूक्त के प्रथम 5 मन्त्रों को देखना है। यद्यपि इनमें स्पशः शब्द का प्रयोग केवल चौथे मन्त्र में ही हुआ है तो भी वस्तुतः सभी पाँचों मन्त्रों में स्पशः का ही वर्णन है। इन मन्त्रों में वरुण के जो कार्य कहे गये हैं उन्हें वह अपने इन स्पर्शः (गुप्तचरों) के द्वारा ही करता है। अब इन पाँचों मन्त्रों को देखिए—

1. बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
य स्तायन्मन्यते चरन्सर्वं देवा इदं विदुः ॥
2. यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्गम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥
3. उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञउतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी, उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥
4. उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥
5. सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥

अथर्व० 4.16.1-5.

इन मन्त्रों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—(1) (एषां) इन लोगों का (अधिष्ठाता) अधिष्ठाता अर्थात् इनके ऊपर रहकर इन्हें देखते रहने वाला वरुण (बृहन्) महान् है, वह (अन्तिकात्-इव) समीप खड़ा हुआ-सा, प्रत्येक वस्तु को (पश्यति) देख रहा है (यः) जो व्यक्ति (तायन्)¹ स्थिर खड़ा हुआ है, तथा (चरन्) चलता-फिरता हुआ (मन्यते) सोचता-विचारता है (इदं) इस (सर्वं) सबको (देवाः) दिव्य गुणों वाला वरुण और उसके कर्मचारी (विदुः) जान लेते हैं। (2) (यः) जो (तिष्ठति) ठहरा हुआ है (यः) जो (चरति) चलता है (यः) जो (वञ्चति) किसी को धोखा देता और ठगता है (यः) जो (निलायं) छिपकर (चरति) चलता है (यः) जो (प्रतङ्गं चरति) किसी को कष्ट देता है, (द्वौ) दो जने (सन्निषद्य) एकान्त में बैठकर (यत्) जो कुछ

¹ सातत्येन वर्तमानं स्थिरवस्तु इति सायणः ।

(मन्त्रयेते) गुप्त विचार करते हैं (तत्) उसको (तृतीयः) तीसरा (राजा) राजा (वरुणः) वरुण (वेद) जान लेता है। (3) (इयं) यह (भूमिः) भूमि (उत) भी (वरुणस्य) वरुण (राज्ञः) राजा की है अर्थात् भूमि पर जो कुछ हो रहा होता है उसे वरुण जान लेता है, (दूरे-अन्ता) दूर और समीप दिखाई देने वाली (असौ) वह (वृहती) बड़ा (द्यौः) ब्रुलोक (उत) भी, वरुण राजा का है अर्थात् ब्रुलोक की बातों का भी वरुण को पता रहता है (उ) और (समुद्रौ) दोनों समुद्र अर्थात् भूमि पर का जल-समुद्र और अन्तरिक्ष का बादलों का समुद्र (उत) भी (वरुणस्य) वरुण की (कुक्षी) कोख में है, भाव यह है कि समुद्र और अन्तरिक्ष के बादलों में भी जो कुछ होता है वरुण उसे भी जान लेता है (अस्मिन्) इस (अल्पे) अल्प (उदके) जल में (उत) भी, वरुण (निलीनः) छिपा बैठा है अर्थात् समुद्र की अपेक्षा अल्प जलवाली झीलों और सरोवरों में भी जो कुछ हो रहा होता है उसे भी वरुण जान लेता है। (4) (यः) जो कोई (द्यां) ब्रुलोक को (उत) भी (परस्तात्) परे (अतिसर्पात्) लाँघ कर चला जाये, (सः) वह भी (वरुणस्य) वरुण (राज्ञः) राजा से (न) नहीं (मुच्यतै) छुट सकेगा (अस्य) इस वरुण के (स्पशः) गुप्तचर (दिवः) ब्रुलोक से (इदं) इस भूलोक तक (प्रचरन्ति) फिर रहे हैं (सहस्राक्षाः) सहस्रों नेत्रों वाले वे (भूमिं) भूमि को (अतिपश्यन्ति) पार करके भी देख लेते हैं। (5) (यत्) जो कुछ (रोदसी) ब्रुलोक और पृथिवी लोक के (अन्तरा) बीच में हो रहा है और (यत्) जो कुछ (परस्तात्) इनसे परे है (तत्) उस (सर्वं) सबको (राजा) राजा (वरुणः) वरुण (विचष्टे) अच्छी तरह देखता है (जनानां) लोगों की (निमिषः) पलकों की झपकनें भी (अस्य) इसकी (संख्याताः) गिनी हुई हैं (इव) जैसे (श्वघ्नी) जुआ खेलने वाला (अक्षान्) पासों को (निमिनोति) वश में करके फेंकता है, वैसे ही यह राजा वरुण भी (तानि) उन सबको (निमिनोति) अपने ज्ञान के भीतर फेंक लेता है। इस मन्त्र का भाव यह है कि आकाश और भूमि के बीच में जो कुछ हो रहा है उस सबको अच्छी तरह देखकर अपने ज्ञान में कर लेता है। उसकी दृष्टि इतनी पैनी है कि वह लोगों की पलकों का झपकना तक गिन लेता है। उसकी नजर से कुछ नहीं बच सकता। मन्त्र में दी गई श्वघ्नी की उपमा के भाव को स्पष्ट करने के लिए हमने मन्त्र का शब्दार्थ करते हुए 'निमिनोति' इस क्रियापद की आवृत्ति करली है। यहाँ श्वघ्नी के दृष्टान्त का इतना तात्पर्य है कि जैसे पासे उसकी मुट्ठी में होते हैं, पूर्णतया उसके वश में होते हैं, उसी प्रकार संसार का प्रत्येक समाचार वरुण के ज्ञान में पड़ा रहता है। कोई भी वृत्तान्त उसकी पकड़ से बाहर नहीं होता।

इन पाँचों मन्त्रों का तात्पर्य अपने आप में अति स्पष्ट है। वरुण के स्पशः (गुप्तचर) सर्वत्र फिरते हैं। उनकी नजर बड़ी पैनी है। उनसे कोई भी बात छिपी नहीं रह सकती। उनकी दृष्टि के पैनपन को बताने के लिए चौथे मन्त्र में काव्यमयी भाषा में कह दिया गया है कि वरुण के गुप्तचर हजारों आँखों वाले हैं। इन हजारों आँखों वाले अपने गुप्तचरों की सहायता से वरुण सब जगह के गुप्त से गुप्त वृत्तान्तों

और समाचारों को जानता रहता है। और अपराधियों को अपने पाशों में बाँधता रहता है।

इन मन्त्रों में वरुण के स्पशः (गुप्तचरों) के कार्य का जितना स्पष्ट, विस्तृत और रोचक वर्णन हुआ है उस प्रकार का वर्णन अन्य देवताओं के साथ उल्लिखित स्पशः का नहीं हुआ है। उसके साथ उल्लिखित स्पशः की संख्या की दृष्टि से तथा उसके स्पशः के कार्य के विस्तृत वर्णन की दृष्टि से स्पशः (गुप्तचरों) का विशेष सम्बन्ध वरुण के साथ ही ठहरता है।

वरुण का अपना विशिष्ट स्वरूप

इस प्रकार वेद में वरुण के पाशों और गुप्तचरों का जो वर्णन हुआ है वह वरुण के अपने विशिष्ट राजनीतिक अथवा अधिराष्ट्र स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। इन प्रसंगों में वरुण के जिन कार्यों का उल्लेख हुआ है वे उस प्रकार के कार्य हैं जिस प्रकार के कार्य किसी राज्य में उसकी पुलिस के द्वारा किये जाते हैं। वरुण इन्द्र (सम्राट्) का सहकारी और सहचारी देव है। अतः हम उसे अपराधों के अन्वेषण और अपराधियों को पकड़ने के कार्य में इन्द्र को सहायता देने वाला पुलिस विभाग का सर्वप्रमुख अधिकारी या मंत्री कह सकते हैं।

अन्य देवताओं के साथ जो कहीं-कहीं पाशों और स्पशः का उल्लेख हुआ है उसका तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए कि उससे यह ध्वनित होता है कि राज्य में इन कार्यों को करने वाले विभागों की भी अपने गुप्तचरों की व्यवस्था होनी चाहिए। यों यह विभाग मुख्यतः वरुण का ही है। इन्द्र के तो सब विभाग अन्ततोगत्वा हैं ही।

निर्ऋति के पाश

वरुण के अनन्तर पाशों का वर्णन सबसे अधिक निर्ऋति के साथ आता है। वहाँ वरुण के साथ 21 बार पाशों का उल्लेख हुआ है वहाँ निर्ऋति के साथ पाशों का उल्लेख 5 बार हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वरुण की भाँति ही पाशों को निर्ऋति¹ के साथ भी बताया गया है।

यहाँ निर्ऋति के स्वरूप पर भी थोड़ा-सा विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। वेद में कोई 75 स्थलों पर निर्ऋति का उल्लेख हुआ है, 22 बार ऋग्वेद में, 1 बार यजुर्वेद में और 52 बार अथर्ववेद में। इनमें से 16 बार तो यह उल्लेख चिकित्सा सम्बन्धी प्रकरणों में हुआ है जहाँ चिकित्सक रुग्ण व्यक्ति से कह रहा है कि हे रुग्ण व्यक्ति मैं तुम्हें निर्ऋति की पकड़ से छुटकारा दिला दूँगा, तुम निश्चिन्त रहो। और 33 बार सामान्य मनुष्य प्रार्थियों के प्रसंग में यह उल्लेख हुआ है जहाँ कोई व्यक्ति यह उद्गार प्रकट कर रहा है कि निर्ऋति मुझसे दूर रहे, मेरे पास न आकर निर्ऋति उस दुष्ट पुरुष के पास चली जाये जो मुझ से द्वेष करता है और मुझे

¹ नैऋतो वै पाशः। शत० 7.2.1.15.

हानि पहुँचाता है। शेष 26 स्थानों पर विभिन्न देवताओं के साथ निऋति का उल्लेख हुआ है। देवताओं में 2 बार मरुतः के साथ, 7 बार विश्वेदेवाः के साथ, 3 बार इन्द्र के साथ, 1 बार वरुण के साथ, 1 बार अद्रि (श्रावा) के साथ, 2 बार सोमाख्द्री के साथ, 2 बार सोम के साथ, 1 बार अश्विनो के साथ, 1 बार मित्रावरुणों के साथ, 2 बार अग्नि के साथ, 1 बार घाता के साथ, 1 बार भूमि के साथ और 1 बार आपः के साथ निऋति का उल्लेख हुआ है। सोमाख्द्री और सोम के साथ निऋति के उल्लेखों को ध्यान में रखने पर सोम के साथ उसका उल्लेख 4 बार बन जाता है और इसी प्रकार मित्रावरुणों तथा वरुण के साथ निऋति के उल्लेखों को ध्यान में रखने पर वरुण के साथ उसका उल्लेख 2 बार हो जाता है। विश्वेदेवाः में सभी देव आ जाते हैं इसलिए उनके साथ 7 बार आया निऋति का उल्लेख इन्द्र आदि सभी के साथ सात-सात बार और भी समझा जा सकता है। इस प्रकार सोम के साथ 11 बार और वरुण के साथ 9 बार निऋति का उल्लेख समझा जा सकता है। इन देवों के साथ निऋति के उल्लेख में उनसे यह याचना की गई है कि वे निऋति से हमें बचावें, निऋति को हमसे बहुत दूर रखें।

न

निऋति का अर्थ कारागार

सायण आदि भाष्यकार निऋति का अर्थ राक्षसों की देवता दुःख, कष्ट, पाप, भूमि, मृत्यु और मृत्यु का देवता यम करते हैं। ऋषि दयानन्द ने कुछ भिन्न अर्थ भी निऋति के किये हैं। हमारी सम्मति में कुछ स्थलों पर निऋति का अर्थ कारागार भी हो सकता है। और उन स्थलों पर यह अर्थ बड़ा सुन्दर संगत होता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद 7.104 और अथर्ववेद 8.4 ये दो सूक्त देखे जा सकते हैं। इन सूक्तों में इन्द्र और सोम से भिन्न-भिन्न प्रकार के अपराधियों को दण्डित करने को कहा गया है। वहाँ इन्द्र का अर्थ सम्राट् और सोम का अर्थ न्यायाधीश है। इन सूक्तों में एक मन्त्र इस प्रकार है—

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्यो वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।

अह्ये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निऋतेरुपस्थे ॥

अथर्व० 8.4.9, ऋग्० 7.104.9

अर्थात्—(ये) जो दुष्ट लोग (पाकशंसं) शुद्ध, पुण्य की बातें ही निरन्तर सोचने वाले मुक्त पर (एवैः) अपने आक्रमणों से (विहरन्ते) बार-बार आते हैं (वा) अथवा (ये) जो दुष्ट लोग (स्वधाभिः) अपने कमाये अन्नादि के साथ रहने वाले (भद्रं) सद् आचरण वाले मुक्तको (दूषयन्ति) दूषित करते हैं अर्थात् मुक्त पर झूठा दोषारोपण करते हैं (सोमः) न्यायाधीश (तान्) उन दुष्ट पुरुषों को (अह्ये)¹ मारने वाले अर्थात् फांसी देने वाले पुरुषों को (प्रददातु) सौंप दे (वा) अथवा (निऋतेः) कारागार की (उपस्थे)

¹ आहन्तीति अहिः तस्मै अह्ये वधकारिणे पुरुषाय । उणादि 4.138.

गोद में (आ दधातु) डाल दे ।

हमने यहाँ मन्त्र में निऋंते का अर्थ कारागार (जेल) किया है । सारे सूक्त में जिस प्रकार अपराधियों को दण्डित किये जाने का प्रसंग चल रहा है उसे देखते हुए प्रस्तुत मन्त्र में इस शब्द का कारागार अर्थ ही उचित और संगत प्रतीत होता है । कुछ स्थलों में निऋंति का अर्थ कारागार ही अधिक संगत है इस विचार की पुष्टि निऋंति का वर्णन करने वाले निम्न मन्त्रों से भी होती है—

1. यत्ते देवी निऋंतिरावबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्षं यत् ।

अथर्व० 6.63.1.

2. नमोऽस्तुते निऋंते तिग्मतेजोऽयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान् ।

अथर्व० 6.63.2.

3. एवो ष्व१स्मन्निऋंतेऽनेहा त्वमयस्मयान्विचृता बन्धपाशान् ।

अथर्व० 6.84.3.

इन उद्धरणों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—(1) देवी निऋंति ने न छूटने वाली (अमोक्ष्यं) जो रस्सी या वेड़ी (दाम) तेरी गर्दन में (ग्रीवासु) बांधी है । (2) हे तीक्ष्ण तेज वाली निऋंति तुझे नमस्कार हो, तू अपने लोहे के (अयस्मयान्) बाँधने वाले पाशों को (बन्धपाशान्) खोल दे । (3) हे निऋंति तू हमें बाधा न देने वाली होकर (अनेहा)¹ अपने लोहे के (अयस्मयान्) बाँधने वाले पाशों को (बन्धपाशान्) खोल दे ।

इन मंत्रों में निऋंति को ग्रीवा में न छूटने वाली दाम (रस्सी या वेड़ी) बाँधने वाली तथा लोहे के बने हुए पाशों से बाँधने वाली कहा गया है । स्पष्ट ही निऋंति द्वारा यह बन्धन अपराधियों का बन्धन है । निऋंति का यह वर्णन इस शब्द के अन्य अर्थों में संगत नहीं हो सकता । उन अर्थों वाली निऋंतियों के पास इस प्रकार की दाम और इस प्रकार के पाश नहीं हो सकते । इस प्रकार की दाम और ऐसे पाश तो कारागार और उससे उपलक्षित दण्डाधिकारियों के पास ही हो सकते हैं । ऐसे प्रकरणों में निऋंति का अर्थ कारागार ही अधिक संगत लगता है । मंत्रों में निऋंति को जो संबोधन किया गया है उसे उपलक्षण से कारागार में डालने वाले दण्डाधिकारियों को किया गया संबोधन समझना चाहिए । जिन सूक्तों के ये मंत्र हैं उन दोनों सूक्तों की कारागारपरक व्याख्या बड़ी सुन्दर और संगत हो सकती है । इनमें से अथर्व० 6.63 सूक्त में यम और अग्नि से और अथर्व० 6.84 सूक्त में यम से प्रार्थना की गई है कि वे हमें निऋंति के पाश-बन्धन से छुड़ायें । यम का अर्थ अपराधियों का नियमन करने वाला सम्राट् और उससे उपलक्षित राज्य प्रशासन हो जायेगा । अग्नि का अर्थ सम्राट् भी होता है यह हम इस ग्रन्थ में देखते ही आ रहे हैं । सम्राट् और तदुपलक्षित राज्यप्रशासन से निऋंति के पाशों से छुड़ाने की प्रार्थना का भाव यह है कि राज्य ऐसी व्यवस्था करे जिसके परिणामस्वरूप हम पाप और अपराध ही न करें और इस

¹ अनाहन्त्री, अस्मान् अबाधमाना इति सायणः ।

प्रकार हमें कारागार के बन्धन में न पड़ना पड़े। साथ ही इस प्रार्थना का एक यह भी भाव होगा कि जो लोग अपराधों के कारण कारागार में बन्द भी कर दिये गये हैं उनके लिए वहाँ ऐसी व्यवस्था रहे कि वे यथासंभव शीघ्र ही अपराध की वृत्ति को त्याग कर सुधर कर कारागार से बाहर आ सकें। अथर्व० 6.84.2 मंत्र में निऋति से प्रार्थना की गई है कि वह हमें 'एनसः' अर्थात् पाप से मुक्त करे। प्रथम मंत्र निऋति के लिए जो देवी विशेषण दिया गया है उसे निऋति के उपलक्षण से वस्तुतः राज्य के दण्डाधिकारियों के लिए प्रयुक्त किया गया समझना चाहिए। दिवु धातु के जिससे कि देवी शब्द निष्पन्न होता है व्यवहार अर्थ के आधार पर इस विशेषण का यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि जहाँ अपराधियों को दण्ड देने और सुधारने का व्यवहार अर्थात् कार्य होता है। शतपथ ब्राह्मण में निऋति के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह घोर¹ है और वह कृष्णा² है। कारागार अपराधियों के लिए घोर अर्थात् भयंकर हुआ ही करता है। और अपराधियों के लिए कृष्ण अर्थात् काला भी होता है। एक तो कारागार इस दृष्टि से काला होता है कि उसमें बन्द हो जाने के पश्चात् अपराधियों के लिए बाहर के जगत् का सब प्रकाश रुक जाता है। बाहर के जगत् से उनका सब प्रकार का सम्पर्क कट जाता है। उन्हें बाहर का कुछ नहीं दीखता। कारागार इस दृष्टि से भी काला होता है कि अनेक बार घोर अपराधियों को उसमें अन्वेषी काल-कोठरियों में भी बन्द करना पड़ता है जोकि कि उनके लिए बहुत ही भयावह होता है।

कारागार अर्थ में निऋति शब्द की व्याकरण की दृष्टि से निरुक्ति इस प्रकार होगी—'निर्गता ऋतिर्यस्याः सा निऋतिः'³ अर्थात् जिसमें प्रविष्ट करके अपराधियों की उससे बाहर जाने की गति को रोक दिया जाये। कारागार में बन्द हो जाने के पश्चात् अपराधी उससे बाहर नहीं निकल सकते।

निऋति का वरुण से सम्बन्ध

ऊपर हमने कहा है कि इन्द्र, अग्नि, सोम और वरुण आदि कई देवताओं के साथ वेद में निऋति का उल्लेख हुआ है। ये सभी देव अधिराष्ट्र अर्थ में सम्राट् का ही रूप हैं। इन सभी देवों के साथ निऋति के उल्लेख की यह व्यंजना है कि राष्ट्र में अपराधियों को दण्डित करने और सुधारने के लिए निऋति अर्थात् कारागारों की व्यवस्था भी रहनी चाहिए। सोम का अपना विशिष्ट स्वरूप न्यायाधीश और न्याय विभाग के मंत्री का है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है ऋग्वेद 8.4 सूक्त में इन्द्र और सोम के द्वारा अपराधियों को दण्डित करने का प्रकरण चल रहा है। इस सूक्त के नवम्

¹ घोरा वै निऋतिः। शत० 7.2.1.11.

² कृष्णा वै निऋतिः। शत० 7.2.1.7.

³ निऋ+ऋतिः। निऋ निर्गमने। ऋतिः गमनम्, ऋ गतो। निर्गता ऋतिः यस्याः सा निऋतिः अर्थात् कारा। यत् प्रवेश्यापराधिनो गति-निरोधः क्रियते।

मंत्र में सोम से कहा गया है कि वह अपराधियों को निःश्रुति अर्थात् कारागार की गोद में डाल दे। इस मंत्र से निःश्रुति का सोम के साथ विशेष सम्बन्ध सूचित होता है। सोम अर्थात् न्यायाधीश द्वारा निर्धारित दण्ड के अनुसार अपराधी कारागार में जायेंगे। इस दृष्टि से सोम के साथ निःश्रुति का विशेष सम्बन्ध है। साथ ही वरुण के साथ भी निःश्रुति का सम्बन्ध है। वरुण का अपना विशेष स्वरूप पुलिस विभाग का मुख्य अधिकारी और मंत्री है। हमने देखा है कि वरुण के साथ पाशों अर्थात् हथकड़ी और वेड़ी आदि का बहुत अधिक सम्बन्ध है। वह अपने पाशों से अपराधियों को बाँधता है, उधर निःश्रुति के भी पाश हैं। वह भी अपने पाशों से अपराधियों को बाँधती है। निःश्रुति अर्थात् कारागार तो एक प्रकार का आगार अर्थात् भवन है। वह अपने आप में जड़ है। वह स्वयं किसी को पाश में नहीं बाँध सकती। उसके द्वारा पाश-बन्धन तो एक आलंकारिक काव्यमय वर्णन है। वस्तुतः अपराधियों को बाँधेगा तो वह राज्याधिकारी जिसके पास पाश हैं। विशेषरूप से पाश रखने वाला तो वरुण है। इस प्रकार निःश्रुति का वरुण के साथ विशेष सम्बन्ध बन जाता है। सोम अपराधियों को निःश्रुति में बन्द करने का दण्ड देगा और वरुण उन्हें पाशों में बाँध कर निःश्रुति में ले जायेगा। सम्राट् अर्थात् राष्ट्र का सर्वोपरि प्रशासक होने के कारण इन्द्र के साथ तो निःश्रुति का सम्बन्ध रहेगा ही। वरुण के साथ निःश्रुति का विशेष और सीधा सम्बन्ध होगा।

सदा जागरूक रहने वाला वरुण

वरुण के अनेक विशेषण ऐसे आते हैं जिनमें यह कहा गया है कि उसे अपने कामों में जागरूक, चौकन्ना रहना चाहिए और अपने चारों ओर के लोगों और उनके व्यवहार को बहुत वारीकी के देखते रहना चाहिए। उसके कुछ विशेषण देखिये—

- | | |
|------------------|---------------|
| 1. जागृवांसा । | ऋग् ० 1.136.3 |
| 2. विचर्षणी । | ऋग् ० 5.63.3 |
| 3. सहस्रचक्षाः । | ऋग् ० 7.34.10 |

इनमें से प्रथम विशेषण मित्र और वरुण दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है जागते रहने वाला। वरुण को सदा जागते रहना चाहिए। उसमें सुस्ती, प्रमाद और आलस्य नहीं होना चाहिए। उसे सदैव जागरूक रहना चाहिए, चौकन्ना रहना चाहिए और अपने चारों ओर की परिस्थिति को ध्यान से देखते रहना चाहिए। दूसरे विशेषण का अर्थ है सबको देखने वाला। यह विशेषण भी मित्र और वरुण दोनों का है। तीसरा विशेषण वरुण का है। इसका अर्थ है हजार आँखों वाला। इन दोनों विशेषणों का तात्पर्य यह है कि वरुण को चाहिए कि वह अपने चारों ओर के लोगों और परिस्थितियों को बड़ी सूक्ष्मता से देखता रहे। इतनी सूक्ष्मता से देखे कि मानों हजार आँखों से देख रहा हो। कोई भी चीज और बात उसकी पैनी दृष्टि से बच न सके। कोई अपराधी उसकी नजर और पकड़ से निकल न सके। इन और ऐसे ही

अन्य विशेषणों और वर्णनों के द्वारा वेद में वरुण और उसके कर्मचारियों के सदैव सतर्क रहने के गुण पर प्रकाश डाला गया है ।

वेद में प्रयुक्त वरुण के नृचक्षाः (अथर्व० 4.16.7) अर्थात् लोगों को देखने और पहचानने वाला विशेषण से भी इस सम्बन्ध में प्रकाश पड़ता है और यह ध्वनित होता है कि वरुण और उसके आदमियों की लोगों को देखने, पहचानने और परखने की शक्ति भी बड़ी तीव्र होनी चाहिए ।

चेतावनी देने वाला वरुण

ऋग्वेद 5.71.2 मन्त्र में मित्र और वरुण को 'विश्वस्य प्रचेतसा' कहा गया है । इसका अर्थ है सबको चेतावनी देकर सावधान करने वाला । इसी भाँति ऋग्वेद 10.164.4. मन्त्र में वरुण को 'प्रचेताः' कहा गया है । इसका अर्थ भी चेताने वाला ही है । इस मन्त्र में वरुण शब्द का प्रयोग नहीं है, उसके स्थान पर केवल 'प्रचेताः' पद का ही प्रयोग किया गया है । श्री सायण ने यहाँ प्रचेताः का अर्थ वरुण किया है । चेताने का, किसी परिस्थिति से अवगत कराके सावधान कर देने का, काम करने के कारण वरुण प्रचेताः कहा जाता है । पौराणिक साहित्य में तो वरुण का एक नाम ही प्रचेताः¹ पड़ गया है । वरुण के इस प्रचेताः विशेषण द्वारा वेद ने यह संकेत दिया है कि जिन व्यक्तियों में वरुण और उसके कर्मचारी अपराध करने की प्रवृत्ति देखें उन्हें वे आरम्भ में सावधान कर दें कि यह मार्ग ठीक नहीं है, इस पर आगे मत बढ़ो, इस मार्ग को छोड़ दो, यदि इस मार्ग को तुमने नहीं त्यागा तो तुम्हें पकड़ लिया जायेगा और दण्डित किया जायेगा । अपराधी को शुरू में ही कड़ा दण्ड देने के स्थान में यदि वह चेतावनी देने से ही ठीक हो जाये तो इस पद्धति का अनुसरण करना अधिक श्रेयस्करो है । वेद के द्वारा वरुण के लिए प्रयुक्त किये गये इस विशेषण से यह ध्वनि निकलती है ।

सत्य का रक्षक और वर्धक वरुण

वरुण सत्य की रक्षा और वृद्धि करने वाला है उसके इस प्रकार के वर्णन वेद में अनेक स्थानों पर आते हैं । उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

- | | |
|------------------------------|----------------|
| 1. ऋतावान् । | ऋग्वेद 4.1.2. |
| 2. ऋतस्य गोपा । | ऋग्वेद 5.63.1. |
| 3. ता भूरिपाशावनृतस्य सेतु । | ऋग्वेद 7.65.3. |
| 4. ऋतावृध ऋतावाना जनेजने । | ऋग्वेद 5.65.2. |

इनमें से प्रथम उद्धरण में वरुण को ऋत वाला अर्थात् सत्य से युक्त कहा गया है । दूसरे उद्धरण में मित्र और वरुण को ऋत का गोप अर्थात् सत्य की रक्षा करने वाला कहा गया है । वरुण सत्य से युक्त और सत्य की रक्षा करने वाला है । जो सत्य से युक्त और सत्य का रक्षक है, वह अपने निजी जीवन में भी सत्य का पालन करेगा

¹ प्रचेता वरुणः पाश्वी यादसापैतिरप्पतिः । अमरकोषः ।

और जिनसे उसका वास्ता पड़ेगा उनसे भी वह सत्य का पालन कराने का यत्न करेगा। वरुण ऐसा सत्य का व्यवहार करता है और कराता है। तीसरे उद्धरण में कहा गया है कि मित्र और वरुण बहुत पाशों वाले हैं और अनृत अर्थात् झूठ को बाँधने वाले हैं, झूठ को रोकने वाले हैं। रोकने वाले के अर्थ में 'सेतु' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द बंधनार्थक 'षिन्' धातु से निष्पन्न होता है। सेतु तालाब, झील और नदियों आदि के पानी को बाँधकर, रोककर, रखने वाले, उसे फैलने न देने वाले, बाँधों को भी कहा जाता है। वरुण असत्य को रोकने का काम करता है। वह असत्य को फैलने नहीं देता। अपराधियों के असत्य व्यवहार को आरम्भ में ही कुचल देता है। चौथे उद्धरण में मित्र और वरुण को जन-जन में ऋत की, सत्य की, वृद्धि करने वाला कहा गया है और साथ ही उन्हें ऋतावान् अर्थात् ऋत से, सत्य से, युक्त भी कहा है। वरुण ऋतावृध और ऋतावान् है। वह स्वयं ऋत पर दृढ़ रहता है और जिनसे उसका वास्ता पड़ता है उन्हें सत्य पर चलने की प्रेरणा करता है। इस प्रकार सत्य की वृद्धि करता है। वरुण दो प्रकार से सत्य की वृद्धि करेगा : एक तो वह अपराधियों को पकड़ कर उन्हें दण्ड दिलवायेगा। उन्हें मिले दण्ड के उदाहरण से दूसरे लोग अपराध से दूर रहेंगे। दूसरे, जो लोग किन्हीं परिस्थितियों में सत्य व्यवहार और ईमानदारी का विशेष परिचय देंगे उन्हें वरुण पुरस्कार आदि देकर सम्मानित करेगा। इससे दूसरे लोगों को भी सत्य पर आरुढ़ रहने और कोई प्रलोभन आने पर भी सत्य व्यवहार ही करने की प्रेरणा मिलेगी। वरुण के इन विशेषणों से यह भी व्यंजित होता है कि वरुण और उसके विभाग के कर्मचारियों को असत्य का सहारा लेकर किसी को यों ही झूठमूठ पकड़ना और दण्ड दिलवाना नहीं चाहिए।

शुभ कामों का रक्षक वरुण

ऊपर के खण्ड में वरुण के सम्बन्ध में कही गई इस सत्य पालन करने और कराने की बात को प्रकारान्तर से दूसरे शब्दों में और भी स्पष्ट करके कहा गया है। उदाहरण के लिए निम्न उद्धरण देखिए—

- | | |
|----------------------------------|---------------|
| 1. सत्पती । | ऋग्० 5.65.2. |
| 2. शुभस्पती । | ऋग्० 8.59.35. |
| 3. शुचित्रता । | ऋग्० 3.62.17. |
| 4. धर्मणा व्रता रक्षेये । | ऋग्० 5.63.7. |
| 5. व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा । | ऋग्० 7.83.9. |

इन उद्धरणों में प्रथम मित्र और वरुण को सत्पति अर्थात् सज्जनों और सत्कर्मों का रक्षक कहा गया है। दूसरे उद्धरण में इन्द्र और वरुण को शुभस्पति अर्थात् शुभ कर्मों का रक्षक कहा गया है। तीसरे उद्धरण में मित्र और वरुण को शुचित्रत अर्थात् पवित्र कर्म करने और कराने वाला कहा गया है। चौथे उद्धरण में कहा गया है कि मित्र और वरुण धर्म के द्वारा व्रतों अर्थात् कर्मों की रक्षा करते हैं। पाँचवें उद्धरण में कहा

गया है कि वरुण सदा लोगों के व्रतों अर्थात् कर्मों की रक्षा करता है। इन दोनों उद्धरणों में व्रत का तात्पर्य अच्छे कर्मों से है। इन उद्धरणों का भाव यह है कि वरुण स्वयं तो शुभ कर्म करता ही है और धर्म पर चलता ही है, वह अन्य लोगों से भी वैसा करवाता है। लोगों से धर्माचरण और शुभ कर्म कराने के उसके साधन, जैसा कि हमने ऊपर के खण्ड में कहा है, अपराधियों को पकड़ना और दण्डित कराना तथा धर्माचरण करने वालों और शुभकर्मियों को प्रोत्साहित करना है।

हिंसा को रोकने वाला वरुण

वरुण के विभाग का उद्देश्य और प्रयोजन जनता में से हिंसा को रोकना है, हिंसा की प्रवृत्ति को नष्ट करना है। इस सम्बन्ध में निम्न उद्धरण देखिए—

1. घोरा मर्तायि रिपवे ।

ऋग्वे० 6.67.4.

2. वरुणं च रिशादसम् ।

ऋग्वे० 1.2.7; 5.64.1.

प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि मित्र और वरुण जनता के शत्रु के लिए घोर रूप धारण कर लेते हैं, उसके लिए वे भयंकर हो जाते हैं। जो व्यक्ति लोगों का रिपु अर्थात् शत्रु बन जाता है और शत्रु बनकर उन्हें मारता है अथवा उन पर अन्याय और अत्याचार करके उन्हें किसी अन्य प्रकार से पीड़ित करके क्लेशित करता है तो वरुण उसके लिए घोर रूप धारण कर लेता है, उसके लिए बहुत भयंकर हो जाता है, उसे इतना भारी दण्ड देता है कि वह उस मार्ग पर भूलकर भी नहीं चलेगा। दूसरे उद्धरण में वरुण के लिए कहा गया है कि वह 'रिशादस्' है। जो रिश अर्थात् हिंसा और हिंसक लोगों को नष्ट कर दे वह 'रिशादस्' कहलायेगा। वरुण ऐसा 'रिशादस्' है। वह हिंसा को पनपने नहीं देता, उसे सिर नहीं उठाने देता। उसे कुचल कर धर देता है। उसके रहते और देखते कोई किसी के साथ हिंसा का वरताव नहीं कर सकता, कोई किसी के प्राण नहीं ले सकता, कोई किसी को डरा-धमका नहीं सकता, कोई किसी को किसी भी प्रकार पीड़ित नहीं कर सकता। वह राष्ट्र में से सब प्रकार की हिंसा को निर्मूल कर देगा। उसकी शक्ति के बल पर राष्ट्र के सब लोग सब प्रकार के भयों से निर्भय होकर विचरण करेंगे और अपने कार्यों का अनुष्ठान करेंगे।

वरुण लोगों की बातों को तत्काल और ध्यान से सुनता है

जब कोई व्यक्ति वरुण और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों के पास किसी प्रकार की शिकायत या प्रार्थना लेकर आये तो उन्हें वह शिकायत और प्रार्थना तत्काल और ध्यान से सुननी चाहिए। इस प्रकार के निर्देश भी वेद में दिये गये हैं। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

1. हवन्श्रुता ।

ऋग्वे० 7.83.3.

2. दीर्घश्रुत्मा ।

ऋग्वे० 5.65.2.

प्रथम उद्धरण में इन्द्र और वरुण को 'हवनश्रुत्' कहा गया है। जो किसी के हवन अर्थात् पुकार को, प्रार्थना को, सुने वह 'हवनश्रुत्' कहलायेगा। वरुण इस प्रकार का 'हवनश्रुत्' है। जो उसके पास पहुँचता है वह उसकी शिकायत और प्रार्थना को सुनता है। दूसरे उद्धरण में मित्र और वरुण को बहुत अधिक 'दीर्घश्रुत्' कहा गया है। 'दीर्घश्रुत्' का अर्थ है जो देर तक किसी की बात को सुने। वरुण ऐसा दीर्घश्रुत् है। वह जो कोई उसके पास जाता है उसकी बात को देर तक सुनता है अर्थात् ध्यान से सुनता है और उसकी शिकायत और प्रार्थना के सम्बन्ध में जो कुछ करना आवश्यक होता है उसे यथासम्भव शीघ्र से शीघ्र करता है।

वरुण जनता का भाई और मित्र

वरुण और उसके कर्मचारियों को जनता के साथ भाइयों और मित्रों जैसा प्रेम और हितकारिता का सम्बन्ध रखना चाहिए इस आशय के अनेक प्रसंग वेद में आते हैं। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

1. भ्रातरं वरुणम् ।

ऋग्० 4.1.2.

2. सुबन्धुः ।

ऋग्० 10.61.26.

3. वृणीमहे सख्याय प्रियाय शूरा मंहिष्ठा पितरेव शंसू ।

ऋग्० 4.41.7.

4. सिनं भरथः सखिम्यः ।

ऋग्० 3.62.1.

इनमें से प्रथम उद्धरण में प्रजाजन वरुण को अपना भ्राता बता रहे हैं। दूसरे उद्धरण में वरुण को जनता का उत्तम बन्धु कहा गया है। तीसरे उद्धरण में जनता कह रही है कि हम इन्द्र और वरुण का जोकि शूरवीर हैं, पूजनीय अर्थात् आदर के योग्य हैं (मंहिष्ठा) और माता-पिता की भाँति (पितरा-इव) कल्याण कारक (शंसू) हैं उनसे प्यारभरी (प्रियाय) मित्रता के लिए (सख्याय) वरुण करते हैं। चौथे उद्धरण में प्रजाजन इन्द्र और वरुण से कह रहे हैं कि वे दोनों हम मित्रों के लिए अन्न (सिनं) और अन्न से उपलब्ध भाँति-भाँति के कल्याण देते हैं। इन और ऐसे ही अन्य अनेक प्रसंगों से यह स्पष्ट रूप में सूचित होता है कि वरुण और उसके कर्मचारियों को प्रजाजनों के साथ मधुर और प्रेममय सम्बन्ध रखने चाहिए। इतने मधुर और प्रेममय जितने कि भाइयों के भाइयों के साथ, मित्रों के मित्रों के साथ और माता-पिता के सन्तानों के साथ होते हैं। वरुण और उसके कर्मचारियों का काम प्रजाजनों की रक्षा और हित करना है। उन पर रोब गाँठना, उन्हें डाँटना-झपटना, अपने को उनसे ऊपर समझकर उन पर रखी हुकूमत चलाना वरुण और उसके कर्मचारियों का काम नहीं है। उन्हें तो अपने आपको प्रजा का ही अंग समझते हुए प्रजाजनों की रक्षा और हितसाधन करना है। यह तभी हो सकता है जब प्रजाजन भी उन्हें अपना हितैषी समझें और उनके साथ सहयोग करने को उद्यत रहें। प्रजाजनों से वरुण और उसके आदमियों को सहायता और सहयोग तभी मिलेगा जब वे उनके साथ वैसे प्रेममय

मधुर सम्बन्ध रखें जिनकी ओर यहाँ उद्धृत मन्त्र-खण्डों में संकेत किया गया है।

वरुण द्वारा जनता के साथ दुर्व्यवहार होने पर इन्द्र उसे रोकेंगा

वरुण और उसके कर्मचारियों का प्रजाजनों से बहुत अधिक सम्पर्क पड़ेगा। उन्हें अपना सारा कार्य सामान्य प्रजा के बीच में रहकर ही करना होगा। उन्हें प्रजा में से अपराधियों को खोजना होगा, पकड़ना होगा और दण्डित कराना होगा। इस कष्टसाध्य कार्य में उन्हें बड़ा शारीरिक और मानसिक परिश्रम करना पड़ेगा। कई बार उन्हें लोगों से वांछित सहयोग भी नहीं मिलेगा। इन सबसे उनमें चिड़चिड़ापन और क्रोध भी उत्पन्न हो सकता है। क्रोध के वशीभूत होकर वे लोगों के साथ कभी-कभी अनुचित कठोरता और सस्ती भी कर सकते हैं। इससे प्रजा पीड़ित और दुःखी हो सकती है। यदि कहीं और कभी राष्ट्र में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाये तो उसे रोकने और सुधारने के लिए इन्द्र (सम्राट्) को हस्तक्षेप करना होगा। ऐसी परिस्थितियों में सम्राट् को हस्तक्षेप करना चाहिए ऐसे संकेत भी वेद में मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. परि नो हेळो वरुणस्य वृज्याः ।

ऋग्० 7.84.2.

2. त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः ।

ऋग्० 4.1.4.

इनमें ने प्रथम मन्त्र का अर्थ है कि 'हे इन्द्र (सम्राट्) तुम वरुण के क्रोध को (हेडः) हमसे दूर करो (परिवृज्याः)। दूसरे मन्त्र का अर्थ है—हे विद्वान् अग्नि (सम्राट्) तुम वरुण देव के क्रोध को (हेडः) हमसे दूर करो (अवयासिसीष्ठाः)।

अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र सम्राट् का वाचक होता है यह तो हम देखते ही आ रहे हैं। अपने सामान्य प्रयोग में अग्नि भी अधिराष्ट्र अर्थ में सम्राट् का वाचक होता है यह भी हम देखते आ रहे हैं। इन मन्त्रों में सम्राट् से प्रजाजन प्रार्थना कर रहे हैं कि आप हमसे वरुण के क्रोध को दूर कीजिए। इस प्रार्थना की स्पष्ट ध्वनि यह है कि जब कभी वरुण और उसके कर्मचारी क्रोध के आवेश में आकर प्रजाजनों के साथ अन्याय और अत्याचार करके आतंकित और पीड़ित करने लगे तो सम्राट् को हस्तक्षेप करके उस स्थिति को रोकना और सुधारना चाहिए।

वरुण शब्द की निरुक्ति की संगति

वरुण शब्द संस्कृत की वारणार्थक और वरणार्थक 'वृञ्'¹ धातु से निष्पन्न होता है। जो वारण करे, कष्टों का निवारण करके उनसे बचाये वह वरुण कहा जायेगा। पुलिस विभाग का वरुण भी अपराधियों को पकड़ कर उनका निवारण करके उनसे मिलने वाले कष्टों से जनता को बचाता है। इस प्रकार वरुण शब्द का

¹ वारयति प्रियते वेति वरुणः । उणादि० 3.53 । वृञ् आवरणे चुरादि० । वृञ् वरणे स्वादि० ।

यह यौगिक अर्थ भी वरुण के कर्त्तव्य की ओर संकेत कर देता है। वरुण का दूसरा अर्थ होता है जिसका वरण किया जाये, जिसे स्वीकार किया जाये, जिसे अपनी सहायता के लिए बुलाया जाये। पुलिस विभाग का भी वरण किया जाता है, जवता की रक्षा और सहायता के लिए उसकी स्थापना की जाती है और जनता के लोग आवश्यकता पड़ने पर उसे रक्षा और सहायता के लिए बुलाते हैं। वरुण का यह अर्थ भी उसके कार्य और प्रयोजन की ओर संकेत कर देता है। इस भाँति वरुण शब्द की निरुक्ति भी संगत हो जाती है।

वेद में वरुण का यह जो पुलिस विभाग के अधिकारी का-सा वर्णन किया गया है उसकी व्यंजना यह है कि राष्ट्रों में अपराधों को रोकने और अपराधियों से जनता की रक्षा के लिए एक ऐसा विभाग भी होना चाहिए।

स्पशः (गुप्तचरों) के कुछ कार्य और योग्यतायें

ऊपर हमने कहा है कि स्पशः (गुप्तचरों) का वरुण के साथ विशेष सम्बन्ध है। वहाँ हमने यह भी देखा है कि इन्द्र, अग्नि और सोम आदि कुछ अन्य देवों के साथ भी कहीं-कहीं स्पशः का वर्णन हुआ है। ये सभी अपने सामान्य रूप में राजा के भी वाचक होते हैं, यद्यपि इनके अपने विशिष्ट रूप भी होते हैं। इन देवों के साथ स्पशः के वर्णन का एक सामान्य भाव यह होगा कि राज्य को अपने पास गुप्तचरों की व्यवस्था भी रखनी चाहिए। और इस वर्णन का यह भाव भी निकलेगा कि अपने विभागों की विशिष्ट आवश्यकता के अनुरूप ये देव अपने गुप्तचर भी रख सकते हैं। जहाँ-जहाँ स्पशः (गुप्तचरों) का वर्णन हुआ है वहाँ उनके कुछ कार्यों और योग्यताओं का भी उल्लेख किया गया है। नीचे हम इस प्रकार के कुछ मन्त्रों को उद्धृत करते हैं—

1. प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः ।

यो नो दूरे अधशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥

ऋग्० 4.4.3; यजु० 13.11.

2. चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः ।

न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण ॥

ऋग्० 1.33.8.

3. विभ्रद् द्रापि हिरण्यं वरुणो वस्त निर्णिजम् । परि स्पशो नि षेदिरे ॥

ऋग्० 1.25.13.

4. विश्वे यद् वां मंहना मन्दमानाः क्षत्रं देवासो अदधुः सजोषाः ।

परि यद् भूथो रोदसी चिदुर्वी सन्ति स्पशो अदब्धासो अमूराः ॥

ऋग्० 6.67.5.

5. प्रोरोमित्रावरुणा पृथिव्याः प्र दिव ऋष्वाद् बृहतः सुदानू ।

स्पशो दधाथे ओषधीषु विस्वृधयतो अनिमिषं रक्षमाणा ॥

ऋग्० 7.61.3.

6. परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके ।
ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः प्रचेतसो य इष्यन्त मन्म ॥
ऋग्० 7.87.3.
7. सहस्रघारेऽव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवः ॥
ऋग्० 9.73.4.
8. सहस्रघारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुहृशो नृचक्षसः ॥
ऋग्० 9.73.7.
9. न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
ऋग्० 10.10.8; अथ० 18.1.9.
10. नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुर एतारमग्नेः ।
यजु० 33.60.
11. उत यो द्यामतिसर्पात्परस्ताम्र स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥
अथ० 4.16.4.
12. सहस्रघार एव ते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥
अथ० 5.6.3.

मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे सम्राट् (अग्ने) तू अपने गुप्तचरों को (स्पशः)¹ भेज, किसी से न दबने और अति शीघ्र कार्य करने वाला तू इस प्रजा का (विशः) रक्षक बन, हमारे लिए पाप बुद्धि रखने वाला दूर और समीप का कोई भी शत्रु तेरे लिए व्यथा पहुँचाने वाला बनकर तेरा घर्षण न कर सके ।

इस मन्त्र में गुप्तचर रखने और उनको इधर-उधर स्वराष्ट्र और पर-राष्ट्र के समाचार जानने के लिए भेजने का स्पष्ट आदेश सम्राट् को दिया गया है । मन्त्र का भाव यह है कि जो कोई भी दूर (पर-राष्ट्र) और समीप (स्वराष्ट्र) का शत्रु प्रजा पर अत्याचार करना चाहे अथवा राज्य पर हमला बोलकर उसे ही व्यथा पहुँचाना चाहे, राजा को चाहिए कि अपने गुप्तचर भेजकर उसके समाचार पहले ही जान ले और अपनी शक्ति इतनी प्रबल रखे कि शत्रु उसका घर्षण न कर सकें । इस प्रकार राजा सदा अपनी प्रजाओं की रक्षा करता रहे ।

(2) पृथिवी को घेरा डाल कर ढक लेने वाले सुवर्ण और मणियों से सुशोभित बड़े-चढ़े दस्यु लोग, इन्द्र (सम्राट्) का पराभव नहीं कर सकते, वह इन्द्र अपनी

¹ चारान् सत्यानृतविवेकार्थं विसृज्य शत्रून् प्रति विशेषेण प्रेरयेति सायणः इति प्रिफियः ।

Send the spies forward.

प्रेरणणा से (सूर्येण) उनके चारों ओर गुप्तचर (स्पशः) लगा देता है।

मन्त्र का भाव यह है कि दस्यु अर्थात् राष्ट्र का उपक्षय करने वाले लोग चाहे कितने ही बढ़ जायें, कितना ही ऐश्वर्य कमा लें, वे सम्राट् का पराभव नहीं कर सकते। क्योंकि सम्राट् अपने गुप्तचर लगाकर उनकी सारी चेष्टाओं को पहले ही जान लेता है और उनके अनुकूल तैयारी कर लेता है। तत्त्व यह है कि सम्राट् को गुप्तचरों की सहायता से इस प्रकार का दस्युओं का पराभव-कर्ता होना चाहिए।

(3) वरुण हित-रमणीय (हिरण्यं) कवच को पहने हुए है और अपने सुन्दर रूप वाले शरीर को सुन्दर वस्त्रों से ढके हुए है, उसके चारों ओर गुप्तचर (स्पशः) बैठे हैं।

यहाँ वरुण के विशेष रूप को हम देख ही रहे हैं।

(4) हे मित्र और वरुण ! सब देवों (व्यवहारशील और विद्वान् पुरुषों) ने मिल कर तुम्हारे गुणों की महिमा से हर्षित होते हुए तुम्हें राष्ट्र (क्षत्रं) सौंपा है और जो तुम विस्तृत आकाश और भूलोक को (रोदसी) व्याप्त किये रहते हो, तुम्हारे न दबने वाले और चतुर (अमूरः) गुप्तचर हैं।

मित्र के विशेष रूप की विवेचना आगे की जायेगी। यहाँ उसे राजा का ही एक रूप समझ लें। मन्त्र का भाव यह है कि देवों द्वारा दिये गये राष्ट्र की जो वे रक्षा कर सकते हैं और आकाश और भूलोक के समाचार जानते हैं इसका कारण यह है कि उनके अपने गुप्तचर हैं जोकि इस कार्य में उनकी सहायता करते हैं। स्पशों के, 'अदब्ध' और 'अमूर' विशेषणों से यह भी बता दिया गया है कि गुप्तचर किस योग्यता के हों। वे अदब्ध हों अर्थात् उनकी मानसिक शक्ति ऐसी हो कि वे किसी से न दब सकें। तथा वे अमूर अर्थात् चतुर और सब कुछ समझने वाले हों। यहाँ भी गुप्तचर रखने का स्पष्ट विधान है।

(5) विस्तीर्ण पृथिवी और महान् आकाश में प्रजाओं के लिए भाँति-भाँति का रक्षण और कल्याण देने वाले (सुदान्) हे मित्र और वरुण ! तुम औपधि अर्थात् खेतों और जंगलों में तथा प्रजाओं में अपने गुप्तचरों को रखते हो और इस प्रकार सत्य पर चलने वालों की निरन्तर रक्षा करते रहते हो।

यहाँ भी गुप्तचर रखने का स्पष्ट विधान है। कहा गया है कि राजा के गुप्तचर खेतों, जंगलों और मनुष्यों के समूहों में सब कहीं फिरते रहें और सत्य का पता लगाकर सत्याचरण करने वालों की रक्षा में राजा को सदा सहायता देते रहें। यहाँ गुप्तचर रखने के प्रयोजन पर भी बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। गुप्तचरों का काम सत्य का पता लगाना है। किसी को व्यर्थ में तंग करना और षड्यन्त्रों में घसीटना उनका उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

(6) वरुण के गुप्तचर (स्पशः) शोभन आचरण वाले (स्मदिष्टाः) हैं, वे सुन्दर आकाश और पृथिवी को अच्छी तरह देखते रहते हैं। वे सत्य की रक्षा करने वाले हैं, यज्ञ अर्थात् राष्ट्र के सब व्यवहारों में बुद्धिमान् हैं (यज्ञधीराः), प्रकृष्ट चित्त वाले हैं, जो मनन-पूर्वक प्राप्त किया हुआ ज्ञान (मन्य) पहुँचाते रहते हैं।

गुप्तचरों का काम है कि वे आकाश और पृथिवी के समाचार राजा को पहुँचाते रहें। गुप्तचरों का आचरण शोभन होना चाहिए, उनकी भावना सत्य की रक्षा करने की हो, वे हरेक व्यवहार को अच्छी तरह समझते हों, उनका चित्त प्रकृष्ट अर्थात् उन्नत हो—नीचता उनके चित्त में न हो। उनका काम राजा को सत्य सूचना देना है पर वह सूचना मननपूर्वक प्राप्त की हुई हो। यह नहीं कि यों ही कोई बात सुनी और उसकी असलियत जाने बिना ही उसे ऊपर राज्य कर्मचारियों तक पहुँचा दिया।

(7) इस सोम के शीघ्र गमन करने वाले, दुष्टों को बाँधने वाले गुप्तचर (स्पशः) स्थान-स्थान पर हैं, उनकी पलकें कभी नहीं झपकतीं, मधुर जिह्वा वाले, किसी से न मिल जाने वाले (असश्चतः)¹ वे गुप्तचर, राष्ट्र के सहस्रों पुरुषों का धारण करने वाले विविध व्यवहार के केन्द्रों में (दिवो² नाके³) दुष्टों को उपतप्त करते हैं (समस्वरन्)।⁴

राज्य प्रकरणों में सोम का विशिष्ट अर्थ क्या लेना चाहिए इस पर आगे विचार किया जायेगा। यहाँ सोम को राजा का ही एक स्वरूप समझ लेना चाहिए। मन्त्र में उपदेश दिया गया है कि गुप्तचर शीघ्र गमन कर सकने की शक्ति वाले हों, जहाँ उनकी आवश्यकता हो वहाँ झट पहुँच सकें। स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें राष्ट्र के स्थान-स्थान में नियुक्त करना चाहिए। राष्ट्र के विविध व्यवहार के केन्द्रों में उनकी विशेष रूप से नियुक्ति हो जिससे दुष्टों का उपताप होता रहे, किसी भी प्रकार के दुष्ट पुरुष राष्ट्र के व्यवहारों में कोई गड़बड़ उत्पन्न न कर सकें। गुप्तचरों द्वारा राज्य को दुष्टों की चेष्टाओं का ज्ञान पहले ही हो जाये और वह गड़बड़ पैदा होने से पहले ही उनका प्रतिकार कर सकें।

(8) इन सोमों के गुप्तचर (स्पशः) दुष्टों को खलाने वाले हैं (रुद्रासः) गमनशील हैं, किसी से द्रोह नहीं करते, उत्तम चाल चलन वाले (स्वञ्चः) हैं, देखने में सुन्दर हैं, मनुष्यों को पहचानने वाले हैं, गहराई में जाकर तत्त्व को देखने वाले (कवयः) हैं, मननशील बुद्धि वाले हैं, फैले हुए, पवित्र और सहस्रों पुरुषों का धारण करने वाले राष्ट्र में वे गुप्तचर अपनी वाणी को पवित्र करते हैं।¹

गुप्तचरों का प्रयोजन राष्ट्र के दुष्ट पुरुषों को पता लगाकर उन्हें खलाना, दण्डित करना है। इसके लिए उन्हें गमनशील होना चाहिए। आलसी और प्रमादी होकर एक स्थान में बैठे रहने वाला नहीं होना चाहिए, प्रत्युत चलते फिरते रहकर सब जगह के सब प्रकार के समाचार पता लगाते रहना चाहिए, जिससे कोई भी दुष्ट

¹ संगवर्जिता इति सायणः। राष्ट्रस्य केनापि पुरुषेण चाराणां तथाविधः संगो मा भूत् येन ते मोहपक्षपातादिभिराविष्टाः स्वकं कर्म परिजह्युः।

² दिवुष्वातोरर्थेषु व्यवहारोप्यन्यतमः। दिवः नानाविधव्यवहाराः।

³ नाके समुच्छ्रिते देशे इति सायणः। व्यवहाराणां समुच्छ्रिता देशाः तेषां केन्द्रस्थानानि यत् भूयांसो व्यवहारा भवन्ति।

⁴ स्वं शब्दोपतापयोः।

पुरुष दण्डित हुए बिना न रहे। दुष्टों के पता लगाने में गुप्तचरों को द्रोह बुद्धि से काम नहीं लेना चाहिए—किसी से द्वेष-वश बिना कारण ही उसकी निन्दा राज्य के उच्च अधिकारियों से नहीं करते रहना चाहिए। उनका अपना चाल-चलन निष्कलङ्क होना चाहिए। गुप्तचर सुन्दर रूप वाले होने चाहिए जिससे लोग उनकी ओर अनायास खिंच सकें और उन्हें अपना काम करने में सुविधा हो। उनमें मनुष्यों को पहचानने की शक्ति होनी चाहिए। वे गहराई में जाकर तत्त्व को समझने वाले हों—यों ही ऊपर-ऊपर से सुनी बात में विश्वास न कर लें। उनकी बुद्धि मननशील—ऊहापोह कर सकने वाली होनी चाहिए। उन्हें अपनी वाणी का प्रयोग पवित्रता-पूर्वक करना चाहिए। किसी के विषय में कोई असत्य बात राज्याधिकारियों से न कहें और इस प्रकार अपनी वाणी को अपवित्र न होने दें।

(9) यहाँ ये जो देवों के गुप्तचर (स्पशः) फिर रहे हैं वे न तो ठहरते हैं और न ही उनकी आँख कभी झपकती है।

यह मन्त्र-खण्ड यम-यमी सूक्त में प्रसंग से आया है। इसमें भी ध्वनि से यह उपदेश है कि राजा को गुप्तचर रखने चाहिए। गुप्तचर किस प्रकार के होने चाहिए यह भी संक्षेप में बता दिया गया है। कहा है कि उन्हें ठहरना नहीं चाहिए। वे चलते-फिरते रहकर सब कहीं के समाचार पता लगाते रहें तथा उनकी आँख कभी नहीं झपकनी चाहिए। वे सदा जागरूक रहें। उनकी आँख से कोई भी बात बच न निकले।

(10) देवों को सबके हितकारी (वैश्वानरात्) इस अग्नि से बढ़कर आगे चलने वाला कोई दूसरा गुप्तचर नहीं प्राप्त हो सका।

यहाँ भी यह स्पष्ट व्यंजित होता है कि जैसे देवों ने अग्नि को गुप्तचर बनाया है वैसे ही राजा को भी कार्य सिद्धि के लिए गुप्तचर रखने चाहिए। पीछे हम अग्नि का अर्थ सम्राट् सिद्ध करके आये हैं। इस मन्त्र में हमने देवों और अग्नि का सर्व-साधारण में प्रसिद्ध अर्थ लेकर राज्य के गुप्तचर रखने की बात व्यंजना से प्रकट की है। यदि हम अपने मत के अनुसार यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् ही लें तो स्पश का गुप्तचर अर्थ उसके साथ सीधा संगत नहीं हो सकेगा। क्योंकि राजा के लिए स्वयं गुप्तचर का काम कर सकना सम्भव नहीं हो सकता। उस अवस्था में स्पश का अर्थ धातु की सहायता से केवल द्रष्टा ऐसा करना होगा और यह अर्थ राजा में संगत हो जायेगा और स्पश शब्द ध्वनि से यह भाव भी देगा कि राज्य में गुप्तचर रहने चाहिए। स्पश गुप्तचरों को भी इसलिए कहा जाता है कि वे द्रष्टा होते हैं—हरेक बात को देखने वाले होते हैं। अथवा स्पश और स्पश वाले सम्राट् (अग्नि) में अभेदोपचार से सम्राट् को मन्त्र में स्पश कह दिया है ऐसा मानना होगा। यही अधिक उपयुक्त होगा।

(11) जो परे द्युलोक में भी चला जाये वह भी राजा वरुण की पकड़ से बच नहीं सकता, द्युलोक से लेकर इस लोक तक उसके गुप्तचर (स्पशः) फिर रहे हैं। वे सहस्रों

आँखों वाले गुप्तचर भूमि के पार भी देख लेते हैं ।

यह मन्त्र जिस सूक्त का है उसका देवता वरुण है । वरुण परमात्मा और राजा दोनों का वाचक है । उस सूक्त के मन्त्रों का वर्णन दोनों ओर बहुत सुन्दर रीति से घटता है । परमात्मा परक अर्थ में गुप्तचर क्या होंगे इसका विवेचन करना यहाँ हमारा विषय नहीं है । राजा परक अर्थ में मन्त्र का भाव और उपदेश सुस्पष्ट है कि राजा को सब कहीं के समाचार पता लगाने वाले गुप्तचर रखने चाहिए । वरुण राजा के किस विशिष्ट स्वरूप को कहते हैं इसकी विवेचना ऊपर हो गई है ।

उद्धृत बारहवाँ और सातवाँ मन्त्र बहुत हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ एक ही हैं । इसलिए सातवें मन्त्र की व्याख्या में बारहवें मन्त्र की व्याख्या भी हो गई है । भेद इतना है कि अथर्ववेद में आकर इस मन्त्र का देवता बदल गया है । यहाँ इसका देवता ब्रह्मा हो गया है और इसलिए यहाँ गुप्तचर सम्बन्धी अर्थ गौणी वृत्ति से निकलेगा ।

5. मित्र : जन-मंत्री विभाग का मंत्री

मित्र का मानव और राजा रूप

मित्र का भी वेद में इन्द्र के सहचारी देवता के रूप में अनेक स्थानों पर वर्णन हुआ है । अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र का अर्थ सम्राट् होता है । यह हम देखते ही आ रहे हैं । इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी मित्र का अधिराष्ट्र अर्थ में क्या अभिप्राय होगा इस पर हमने यहाँ विचार करना है । मित्र के स्वरूप पर विचार करने के समय हमारा सबसे पहले ध्यान जिस बात की ओर जाता है वह यह है कि उसे वेद में अनेक स्थानों पर नर अर्थात् मनुष्य कहा गया है । जैसा हमने ऊपर वरुण के प्रकरण में देखा है अनेक स्थानों पर वेद में मित्र और वरुण का मित्रावरुणौ इस प्रकार द्वन्द्व समास में इकट्ठा वर्णन हुआ है । उनके इकट्ठे वर्णनों में मित्र और वरुण को अनेक स्थानों पर नरौ¹ अर्थात् मनुष्य कहा गया है । इस प्रकार वरुण की भाँति ही मित्र भी मनुष्य हो जाता है । वेद में मित्र को मनुष्य कहने का एक सीधा परिणाम यह निकलता है कि मित्र की एक व्याख्या उसे मनुष्य समझ कर उस रूप में भी की जा सकती है । इसी प्रकार अनेक स्थानों पर वेद में मित्र को राजा और सम्राट् भी कहा गया है । मित्र को स्वतन्त्र रूप से भी राजा² कहा गया है और वरुण के साथ द्वन्द्व समास में समस्त मित्रावरुणौ इस रूप में भी उसे वरुण की भाँति ही राजा³ और सम्राट्⁴ कहा गया है । उसे एक स्थान पर विश्वपति⁵ भी कहा गया है । जोकि राजा

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.15.9, 5.64.7 ।

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 2.28.5 ।

³ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.136.4 ।

⁴ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.136.1 ।

⁵ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 8.25.16 ।

का ही वाचक है । मित्र को राजा या सम्राट् कहने का भी यह सीधा परिणाम निकलता है कि मित्र की एक व्याख्या उसे राजा समझ कर भी की जा सकती है । इस प्रकार मित्र का एक रूप मानव और राजा का भी हो जाता है । वह अपने एक रूप में मानव राजा भी बन जाता है । मित्र का अधिराष्ट्र अर्थ में यही अभिप्राय है । वेद के अनेक स्थलों पर मित्र का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें दीखने लगती हैं । मित्र इन्द्र (सम्राट्) का सहायक है । वह सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में ही अपने विभाग के कार्य करेगा । इसलिए वह एक प्रकार से सम्राट् ही होगा । इसी भाव से उसे राजा सम्राट् और विष्पति कह दिया गया है । उसके लिए ये राजा वाचक शब्द गौण रूप में प्रयुक्त हुए समझने चाहिए ।

मित्र का अपना विशिष्ट स्वरूप

अब हमें यह देखना है कि इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी मित्र का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा । मित्र का अधिराष्ट्र अर्थ निर्धारण करने में अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के छठे सूक्त के चौथे मंत्र से बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है । इस सारे सूक्त में सम्राट् (अग्नि) के चुनाव का वर्णन चल रहा है । उसी प्रसंग में वहाँ सम्राट् से कहा गया है कि—

मित्रेणान्ने मित्रधा यतस्व ।

अथ० 2.6.4.

अर्थात् हे सम्राट् (अग्ने) तुम मित्र की सहायता से (मित्रेण) अपने मित्रों को बढ़ाने में (मित्रधा) यत्न करो (यतस्व) ।

इस मंत्र में मित्र का काम सम्राट् के अर्थात् सम्राट् से उपलक्षित राष्ट्र के मित्रों को बढ़ाना बताया गया है । मित्र के इस वर्णन की ध्वनि यह है कि सम्राट् को अपने राष्ट्र में एक ऐसा विभाग भी रखना चाहिए जिसका काम अपने राष्ट्र के प्रति दूसरे राष्ट्रों की मित्रता बढ़ाना होगा । उस विभाग का संचालन करने वाला प्रमुख अधिकारी या मंत्री मित्र नाम से कहा जायेगा ।

‘मित्रधा’ शब्द का सायणाचार्यकृत अर्थ असंगत

हमने इस मंत्र के ‘मित्रधा’ पद का अर्थ ‘मित्र धारण करने अर्थात् बढ़ाने के काम में’ ऐसा किया है । यह शब्द मित्र पद पूर्वक संस्कृत की धा (डुधाञ्) धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ धारण करना और पोषण करना होता है । वैदिक व्याकरण की रीति से धातु से भाव में प्रत्यय लगाकर ‘मित्रधि’ शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है मित्र धारण करने अर्थात् बढ़ाने का काम फिर वैदिक व्याकरण

¹ मित्रपूर्वाद् दधातेः उपसर्गे धोः किः (अष्टा० 3.3.92) इति सूत्रेण उपसर्गाभावेऽपि छान्दसः किः प्रत्ययः । मित्राणां धानं धारणं मित्रधिः । ततः ङिभिभक्तेः छान्दसः डा भस्य ङिलोपश्च । मित्रधा=मित्रधी । मित्र धारण कर्मणि ।

की रीति से ही सप्तमी विभक्ति के एकवचन में इसका रूप हो जायेगा 'मित्रघा' जिसका अर्थ होगा मित्र धारण करने अर्थात् बढ़ाने के काम में। श्री सायण ने अपने भाष्य में इस शब्द का अर्थ हमारे अर्थ से भिन्न किया है। उन्होंने इस शब्द को प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'मित्रघाः' ऐसा पद माना है। और इसे अग्नि का विशेषण मानकर मंत्र का ऐसा अर्थ कर दिया है कि 'हे अग्नि तुम 'मित्रघा' अर्थात् मित्रों का पोषक बनकर मित्रेण अर्थात् मित्रभाव से 'यतस्व' अर्थात् उनके उपकार में स्थित रहो उदासीन मत होओ।'¹ पदपाठ में 'मित्रघा' ऐसा विसर्गान्त पाठ नहीं है। वहाँ 'मित्रघा'² ऐसा विसर्ग रहित पाठ ही है। ऐसी स्थिति में श्री सायण की इस पद को प्रथमा विभक्ति का विसर्गान्त मानकर अर्थ नहीं करना चाहिए था। श्री सायण ने मंत्र के मित्र शब्द का भी जो मित्रभाव अर्थ किया है वह भी उचित नहीं है। मित्र का मित्रभाव अर्थात् मित्रता अर्थ नहीं होता। उसका अर्थ मित्रभाव रखने वाला मित्रता रखने वाला व्यक्ति होता है। जब मित्र का यह प्रसिद्ध अर्थ मंत्र के अर्थ में संगत हो सकता है तब उसका सायण द्वारा यह सर्वथा अप्रसिद्ध अर्थ किया जाना नितान्त असंगत है।

'मित्रघा' शब्द के हमारे अर्थ की पुष्टि

'मित्रघा' शब्द को सप्तमी विभक्ति का रूप मानकर हमने जो अर्थ किया है वही सही है इसकी पुष्टि यजुर्वेद के 27वें अध्याय के 5वें मंत्र से होती है। अथर्ववेद के अभी ऊपर निर्दिष्ट 2.6 सूक्त में जो सम्राट् के चुनाव का विषय चल रहा है वही विषय यजुर्वेद के 27वें अध्याय के प्रथम 7 मंत्रों में भी है। अथर्ववेद के इस सूक्त के सारे के सारे पाँचों मंत्र कहीं-कहीं बहुत हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ ज्यों के त्यों यजुर्वेद के इन सात मंत्रों में आये हुए हैं। ऊपर उद्धृत अथर्व० 2.6.4 मंत्र यजुर्वेद का 27.5 मंत्र है। दोनों मंत्रों में बहुत थोड़ा शाब्दिक भेद है। यजुर्वेद के इस मंत्र का संबद्ध वाक्य इस प्रकार है—

मित्रेणान्ने मित्रघेये यतस्व।

यजु० 27.5.

इस वाक्य का शब्दार्थ है (अग्ने) हे सम्राट् (मित्रेण) मित्र के द्वारा तुम (मित्रघेये) अपने मित्र धारण करने में अर्थात् बढ़ाने में (यतस्व) यत्न करो। उबट ने अपने यजुर्वेद भाष्य में 'मित्रघेये यतस्व' पदों का यही अर्थ किया है। उसके शब्द हैं जिस प्रकार मित्र धारण किये जायें वैसा यत्न करो।³

¹ हे अग्नेमित्रघाः मित्राणां पोषकः। मित्रशब्दोपपदाद्घातो विचि रूपम्। मित्रेण मित्रभावेन यतस्व उपकरोमीत्येव वर्तस्व मा उदासिष्ठाः। इति सायणः।

² देखें—विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थान, होशियारपुर से प्रकाशित सायणकृत अथर्ववेद भाष्य में दिया पद-पाठ। सन् 1960 का प्रकाशन।

³ यथा मित्राणि धारयन्ते तथा यत्नं कुर। उवदः।

जब अथर्ववेद और यजुर्वेद के ये दोनों मंत्र एक जैसे ही हैं तो यजुर्वेद के मंत्र के 'मित्रधेये' पद से जो भाव निकलता है वही भाव अथर्ववेद के मंत्र के 'मित्रघा' पद से भी निकलना चाहिए। वह भाव इस शब्द को सप्तमी विभक्ति के एकवचन का रूप मानकर ही निकल सकता है जैसा कि हमने इसे माना है। हमारा 'मित्रघा' पद पद-पाठ के भी अनुकूल है जबकि सायण का विसर्गान्त 'मित्रघाः' पाठ उसके अनुकूल नहीं है।

इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है। होशियारपुर के विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की ओर से पं० विश्वबन्धु जी के संपादकत्व में जो सायण का अथर्ववेद भाष्य प्रकाशित हुआ है उसमें इस अथर्व० 2.6.4 मंत्र के पाठ-भेद नीचे टिप्पणी में दिये गये हैं। वहाँ दिखाया गया है कि पम्पलाद संहिता 3.33.5, मंत्रायणी संहिता 2.12.5 और काठक संहिता 18.16 में आये इस मंत्र में 'मित्रघा' पाठ के स्थान पर क्रम से 'मित्रधेयम्', 'मित्रधेये' और 'मित्रधेये' पाठ है। इन पाठ-भेदों से भी यह संकेत मिलता है कि अथर्ववेद के इस मंत्र में या तो यजुर्वेद 27.5. में आये इस मंत्र के पाठ की भाँति मित्रधेये पाठ ही होना चाहिए या फिर इस मंत्र के 'मित्रघा' पद का अर्थ यजुर्वेद के 'मित्रधेये' पाठ के अर्थ से मिलता-जुलता होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि इस पद को सप्तमी विभक्ति का एकवचन का रूप माना जाये जैसा कि हमने माना है।

सूक्त के मंत्रों का श्री सायणाचार्यकृत अर्थ असंगत

सायण ने इस अथ० 2.6.4 मंत्र का और जिस सूक्त का यह मंत्र है उस सारे ही सूक्त का अर्थ अग्नि को कल्पित स्वर्ग-विशेष में रहने वाला एक कल्पित पौराणिक देवता-विशेष मानकर किया है। उवट और महीधर ने भी अग्नि को एक ऐसा ही देवता मानकर यजुर्वेद भाष्य में इन मंत्रों का अर्थ किया है। अग्नि को इस प्रकार का देवता मानने के कारण इन लोगों द्वारा किया गया अर्थ न तो मंत्रों में प्रयुक्त अग्नि के विशेषणों और वर्णनों से ही मेल खाता है और न ही उनके अर्थों से कोई जीवन में व्यवहारोपयोगी शिक्षा ही मिलती है। उनका किया अर्थ एक असंबद्ध प्रलाप-सा बन जाता है। सूक्त के इन मंत्रों में अग्नि के जो विशेषण और वर्णन हैं उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् किया जाना चाहिए। अग्नि का अर्थ सम्राट् करने पर मंत्रों के अर्थ में कोई खींचतानी नहीं करनी पड़ती। जबकि सायण आदि को मंत्रों का अर्थ कल्पित पौराणिक देवता-विशेष अग्नि पर संगत करने के लिए मंत्रों के शब्द के अर्थ में खींचतानी करनी पड़ती है। इन मंत्रों में अग्नि का अर्थ सामान्य अग्नि या एक कल्पित देवता-विशेष न होकर सम्राट् ही है।

मित्र राज्य के मित्र बढ़ाने का काम करता है

अथर्ववेद और यजुर्वेद के इन दोनों मंत्रों में मित्र का काम सम्राट् के मित्रों

का धारण करना अर्थात् बढ़ाना बताया गया है। मित्र का यह वर्णन कि वह सम्राट् के मित्रों को बढ़ाने का 'मित्रधि' का काम करता है वेद में किसी अन्य देवता के सम्बन्ध में नहीं आया है। यह वेद के मित्र देवता का ही विशेष कार्य है। इन मंत्रों में वर्णित मित्र का यह कार्य उससे अपने विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण अति स्पष्ट शब्दों में कर देता है।

इस प्रसंग में मित्र का एक अन्य विशेषण भी देखने योग्य है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के 62वें सूक्त में कहा गया है कि वह—

प्रियतमस्य नृणाम्।

ऋग्० 7.62.4.

अर्थात् मित्र मनुष्यों का सबसे अधिक प्रिय है। प्रिय का अर्थ होता है जो अपने प्रति दूसरों के मन में प्रीति या प्रेम उत्पन्न करे। मित्र ऐसा प्रिय है। उसके व्यवहार से लोगों के मन में उसके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। लोग उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। वह लोगों से प्रेममय व्यवहार करता है और उसके प्रेममय व्यवहार से लोग उसकी ओर आकृष्ट होने लगते हैं उससे प्रेम करने लगते हैं। वह साधारण रूप से प्रिय नहीं है, वह प्रियतम है। वह अतिशय प्रिय है सबसे अधिक प्रिय है। वह लोगों से अतिशय प्रेम का व्यवहार करता है। उसके इस अतिशय प्रेम के व्यवहार से लोग उसकी ओर अत्यधिक आकृष्ट होते हैं, उससे अत्यधिक प्रीति करने लगते हैं। मित्र के इस विशेषण की भी यही व्यंजना है कि वह लोगों से प्रेममय मधुर व्यवहार करके उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है। दूसरे शब्दों में वह लोगों को अपने मित्र बनाता रहता है। ऊपर 'मित्रेण मित्रधा यतस्व' अर्थात् हे सम्राट् मित्र के द्वारा अपने मित्रों को बढ़ाने का यत्न करो इन शब्दों द्वारा जो बात स्पष्ट रूप में कही गई थी वही मित्र के इस मनुष्यों का प्रियतम विशेषण द्वारा प्रकारान्तर से दूसरे शब्दों में कह दी गई है। मित्र का यह 'नृणां प्रियतमः' विशेषण भी वेद में और किसी देवता के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। मित्र का अपना विशिष्ट स्वरूप निर्धारण करने में यह बहुत सहायक है।

मित्र दो क्षेत्रों के मित्र बढ़ायेगा

मित्र का यह मित्रों की संख्या बढ़ाने का काम दो प्रकार का होगा। इन्द्र और अग्नि के जोकि सम्राट् के नाम हैं सहचारी के रूप में मित्र के वर्णन से तो यह ध्वनि निकलेगी कि वह अपने सम्राट् और उससे उपलक्षित अपने राष्ट्र के लिए दूसरे राजाओं और सम्राटों को तथा उनसे उपलक्षित दूसरे राष्ट्रों को मित्र बनाते रहने का काम करेगा। वरुण के साथ 'जोकि पुलिस विभाग का द्योतक' है मित्र के वर्णन से यह ध्वनि भी निकलेगी कि पुलिस विभाग राष्ट्र में अपराधों को रोकने और अपराधियों को पकड़ने तथा दण्डित करने के लिए जिन उपायों का अवलम्बन करेगा मित्र और उसका विभाग उनको लोकप्रिय बनाने और उनके लिए लोगों की सहानुभूति एवं समर्थन प्राप्त करने का काम करेगा। वह वरुण के कार्यों की उपयोगिता को जनता को

समझायेगा। ऐसा करके वह जनता की भावनाओं को वरुण-विभाग के अनुकूल बनायेगा और उसके लिए जनता का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार वह अपने राष्ट्र में वरुण के मित्रों को बढ़ाने का भी काम करेगा। इस प्रकार मित्र के पर-राष्ट्र और स्वराष्ट्र की जनता ये दो कार्य-क्षेत्र होंगे।

मित्र शब्द की निरुक्ति की संगति

‘मित्र’ शब्द के धात्वर्थ से भी मित्र के कार्य के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पड़ जाता है। यह शब्द संस्कृत की मिद् (त्रिमिदा) धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ स्नेह करना होता है। जो स्नेह करे या जिससे स्नेह किया जाये वह मित्र कहलायेगा।¹ मित्र देव भी क्योंकि जनता से स्नेह करते हैं प्रीति करते हैं और इसीलिए जनता भी उनसे स्नेह करती है प्रीति करती है इसीलिए उनका यह नाम अन्वर्थक हो जाता है। इस भाँति मित्र का शब्दार्थ भी उसके कार्य के साथ संगत हो जाता है।

मित्र और वरुण

मित्र का वेद में अनेक स्थानों पर ‘मित्रावरुणौ’ इस प्रकार द्वन्द्व समास में समस्त होकर वरुण के साथ इकट्ठा वर्णन भी आता है जैसाकि ऊपर वरुण विषयक चौथे प्रकरण में हमने देखा है। वरुण के साथ मित्र के इकट्ठे वर्णनों से जैसाकि हमने अभी ऊपर कहा है यह ध्वनि तो निकलती ही है कि मित्र वरुण के कार्यों और रीति-नीति को लोकप्रिय बनाकर उसके मित्रों की वृद्धि करता है। मित्र के वरुण के साथ द्वन्द्व समास में इकट्ठे वर्णन से एक और बात भी ध्यान में आती है। वह यह कि ‘मित्रावरुणौ’ के जो विशेषण और कार्य-वर्णन इकट्ठे आते हैं वे मित्र और वरुण दोनों के ही हैं। वे मित्र के भी हैं और वरुण के भी। ऊपर वरुण विषयक चौथे प्रकरण में हमने वरुण सम्बन्धी अनेक निष्कर्ष ‘मित्रावरुणौ’ के इकट्ठे वर्णनों से ही निकाले हैं। वरुण की वे बातें मित्र पर भी संगत हो जायेंगी। यद्यपि उन बातों के निष्पन्न करने में दोनों की कार्य-पद्धति भिन्न-भिन्न हो सकती है। मित्र की कार्य-पद्धति में स्नेह और समझाने-बुझाने की प्रधानता होगी। जबकि वरुण की कार्य-पद्धति में अपराधियों को पकड़ने और दण्ड देने-दिलवाने की व्यवस्था का भी स्थान होगा। ‘मित्रावरुणौ’ के वर्णनों में से मित्र के कुछ वर्णन नीचे दिये जाते हैं—

मित्र के कुछ गुण और योग्यतायें

मित्र को वरुण की भाँति ही ‘जागृवान्’ (ऋग्० 1.136.3) होना चाहिए। उसे सदा जागरूक सावधान और चौकन्ना रहना चाहिए। उसे ‘विचर्यणी’ (ऋग्० 5.63.3) अर्थात् सबको देखने वाला सबको समझने और पहचानने की शक्ति

¹ त्रिमिदा स्नेहने। भेद्यति स्निह्यति मिद्यते स्निह्यते वा यः स मित्रः। लोके सुहृदर्थे मित्रम्।

औणादिकः वतः।

वाला होना चाहिए। उसे 'विश्वस्य प्रचेताः' (ऋग्० 5.71.2) अर्थात् सबको चेतावनी देने वाला, सावधान कर देने वाला होना चाहिए। अपराधियों को स्नेहपूर्वक समझा-बुझाकर गलत रास्ते से रोकने का प्रयत्न करने के साथ-साथ उसे उन्हें सावधान भी करते रहना चाहिए कि यदि उन्होंने अपने गलत मार्ग का परित्याग न किया तो उसके परिणाम भुगतने के लिए भी उन्हें तैयार रहना चाहिए। उसे 'ऋतावान्' (ऋग्० 4.1.2) होना चाहिए, सत्य से युक्त होना चाहिए, 'ऋतस्य गोपा' (ऋग्० 5.63.1) होना चाहिए, सत्य की रक्षा करने वाला होना चाहिए और 'ऋतावृध' (ऋग्० 5.65.2) होना चाहिए, लोगों में सत्य की भावना की वृद्धि करने वाला होना चाहिए। उसे अपने जीवन में भी सत्य का पूर्ण रूप से पालन करने वाला होना चाहिए और अपने साथ संपर्क में आने वाले लोगों में भी सत्य के पालन की प्रवृत्ति की वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब वह सत्य का पूर्ण रूप से पालन करने वाला होगा तभी लोगों का उसमें विश्वास जागेगा और वह उनसे अपनी बात मनवा सकेगा। उसे 'शुचित्रत' (ऋग्० 3.62.17) होना चाहिए पवित्र कर्मों को करने वाला होना चाहिए, 'शुभस्पती' (ऋग्० 8.59.3) शुभ कर्मों और शुभ कर्म करने वालों की रक्षा करने वाला होना चाहिए। और 'धर्मणा व्रता रक्षेय' (ऋग्० 5.63.7) होना चाहिए, धर्म पर चलकर ही उसे अपने काम करने चाहिए तथा धर्म पर चलने वाले लोगों को अपने काम करने में रक्षा और सहायता देनी चाहिए। ऐसे धर्माचारी जनों पर वरुण और अन्य विभागों के राजकर्मचारियों की ओर से यदि कोई अन्याय और अत्याचार हो रहा हो तो उससे उनकी रक्षा करने का उसे यत्न करना चाहिए। उसे 'रिशादसा' (ऋग्० 5.66.1) होना चाहिए, हिंसा का नाश करने वाला होना चाहिए। उसके सब प्रयत्नों का यह परिणाम होना चाहिए कि राष्ट्र में हिंसा होनी बन्द हो जाये, राष्ट्र में कोई भी बल का प्रयोग करके किसी के अधिकारों को हड़प न सके, किसी के साथ अन्याय और अत्याचार न कर सके। किसी को पीड़ित न कर सके और किसी के प्राण न ले सके। उसे 'हवनश्रुता' (ऋग्० 7.83.3) होना चाहिए, लोगों की पुकार सुनने वाला होना चाहिए, जब लोग उसके पास अपनी बात कहते पहुँचें तभी उसे उनकी बात सुननी चाहिए और उसे 'दीर्घ-श्रुत्तमा' (ऋग्० 5.65.2) भी होना चाहिए, लोगों की बात देर तक सुनने वाला अर्थात् बहुत अधिक ध्यान से सुनने वाला भी होना चाहिए। जब लोग उससे अपनी बात कहें तो उनकी बात उसे बड़े मनोयोगपूर्वक सुननी चाहिए और उनका दृष्टिकोण पूर्णरूप से समझने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी वह उन्हें अपना और राज्य का मित्र बनाने के काम में सफल हो सकेगा। ऋग्० 4.41.7 मंत्र में मित्र और वरुण के लिए कहा गया है कि वे 'सख्याय प्रियाय' अर्थात् जनता से प्यारी मित्रता रखने वाले हैं, शूरा, अर्थात् पराक्रमी शूरवीर हैं, 'मंहिष्ठ' अर्थात् आदर करने के योग्य हैं, 'पितरा इव शंभू' अर्थात् माता-पिता की भाँति जनता का कल्याण करने वाले हैं। वरुण और मित्र दोनों में ही ये गुण हैं। मित्र को प्रजाजनों के साथ प्रेम-भरी मित्रता रखनी चाहिए। माता-पिता जैसे संतान का कल्याण करते हैं वैसे मित्र में भी प्रजा का कल्याण करने

की इच्छा और प्रयत्न रहने चाहिए। उसे अपने आपको ऐसा बनाना चाहिए कि लोग उसका आदर कर सकें। इन गुणों के होने से लोग उसका आदर भी करेंगे और उससे प्रेम भी करेंगे। फलतः उसकी बात को भी ध्यान से सुनेंगे जिससे उसे उन्हें अपना और राज्य का मित्र बनाने के काम में सफलता मिलेगी। उसे शूरवीर अर्थात् पराक्रमी और निर्भय भी होना चाहिए। उसे अपनी बातों निडर होकर निर्भयता के साथ लोगों के सम्मुख रखनी चाहिए। निर्भय और तेजस्वी पुरुष की बातों को लोग अधिक ध्यान से सुनते हैं और उसकी बातों का उन पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

मित्र के इन और ऐसे ही अन्य विशेषणों और वर्णनों में उसके जिन गुणों और योग्यताओं का उल्लेख हुआ है वे यदि उसमें रहेंगे तो उसे अपने कार्य में भारी और निश्चित सफलता प्राप्त होगी।

मित्र के इन वर्णनों के द्वारा वेद ने यह व्यक्त किया है कि राष्ट्र में मित्र का विभाग भी होना चाहिए जो राज्यतन्त्र की स्व-राष्ट्र की जनता और पर-राष्ट्रों में लोकप्रियता एवं मित्रता को बढ़ाने का काम करता रहे।

6. सोम : न्याय विभाग का मन्त्री और न्यायाधीश

सोम का मानव और राजा रूप

सोम भी इन्द्र का सहचारी और सहकारी देवता है। इन्द्र के साथ सोम के वेद में 'इन्द्रासोम' इस प्रकार द्वन्द्व समास में समस्त रूप में भी वर्णन आते हैं और असमस्त रूप में भी। इन्द्र के सहचारी के रूप में सोम का अपना विशिष्ट स्वरूप क्या होगा इस सम्बन्ध में हमने यहाँ विचार करना है। सोम के स्वरूप पर विचार करते हुए हमारा ध्यान सबसे प्रथम इस बात की ओर जाता है कि उसे अनेक स्थानों पर मनुष्य कहा गया है। वेद में मनुष्य का वाचक एक शब्द आयु¹ भी है। सोम को अनेक स्थानों पर आयु² कहा गया है। उसे आयु अर्थात् मनुष्य कहने के साथ ही उसके और भी इस प्रकार के वर्णन किये गये हैं जो उसे मनुष्य मानकर ही संगत हो सकते हैं। कई स्थानों पर उसके लिए कहा गया है कि वह 'भद्रा वस्त्रा वसानः' (ऋग्० 9. 97.2.) अर्थात् 'सुन्दर वस्त्र धारण करने वाला है।' कई स्थानों पर उसे 'वधूयुः'³ अर्थात् 'वधू की कामना करने वाला, विवाह की इच्छा करने वाला' कहा गया है। वेद में उसे 'पत्नीवान्'⁴ अर्थात् पत्नी से युक्त भी कहा गया है। सोम को कई जगह 'राजा मर्त्यानाम्'⁵ अर्थात् मनुष्यों का राजा भी कहा गया है। जो मनुष्यों का राजा

¹ निघण्टु : 2.3।

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 9.67.8।

³ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 9.69.3।

⁴ उदाहरण के लिए देखें—यजु० 8.9।

⁵ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 9.97.24।

है वह स्वयं भी तो मनुष्य ही होगा। सोम के इस प्रकार के वर्णन स्पष्ट रूप से यह कह देते हैं कि वेद में सोम का सर्वत्र सोम नामक ओषधि अर्थ नहीं किया जा सकता। उसका वेद में एक अर्थ मनुष्य भी होता है यह उसके इन और ऐसे ही अन्य वर्णनों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। सोम मनुष्य का भी वाचक होता है। इस सम्बन्ध में हमने पर्णमणि शीर्षक अध्याय के 'सोम का अर्थ स्नातक' नामक उपखण्ड में कुछ अधिक विस्तार से विचार किया है। सोम को मनुष्य कहने का यह सीधा परिणाम निकलता है कि उसकी एक व्याख्या उसे मनुष्य मानकर भी की जा सकती है। सोम के स्वरूप पर विचार करते हुए दूसरी जिस बात की ओर हमारा ध्यान सबसे पहले जाता है वह यह है कि उसे अनेक स्थानों पर वेद में राजा¹ भी कहा गया है। सोम को राजा कहने का भी यह सीधा और स्पष्ट परिणाम निकलता है कि सोम की एक व्याख्या उसे राजा समझकर भी की जा सकती है। इस भाँति सोम का एक रूप मानव राजा का हो जाता है और वेद में उसके जो वर्णन आते हैं उन्हें एक दृष्टि से मानव राजा के वर्णन भी समझा जा सकता है और इस रूप में भी उनकी व्याख्या की जा सकती है। वेद में अनेक स्थलों पर सोम का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षाएँ निकलने लगती हैं।

इन्द्र की भाँति अग्नि के साथ भी वेद में सोम के 'अग्नीषोमा'² इस प्रकार द्वन्द्व समास में समस्त होकर अनेक स्थानों पर वर्णन आते हैं और असमस्त रूप में भी। अग्नि का एक सामान्य अर्थ वेद में प्रकरणानुसार सम्राट् भी होता है यह भी हम इस ग्रन्थ में देखते आ रहे हैं। सम्राट् के वाचक इन्द्र और अग्नि के सहचारी के रूप में सोम का अपना मुख्य अर्थ राजा या सम्राट् नहीं हो सकता यह तो स्वतः ही स्पष्ट है। सोम को राजा कहने का फिर क्या भाव होगा? सोम अपने विभाग के जो कार्य करता है उन्हें वह सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में ही करता है। सम्राट् का प्रतिनिधि होने के कारण सोम एक प्रकार से सम्राट् ही है। सोम को जो वेद में अनेक स्थलों पर राजा कहा गया है उसे सम्राट् का प्रतिनिधि होने के कारण गौण रूप में कहा गया समझना चाहिए।

सोम का अपना विशिष्ट स्वरूप

तब अधिराष्ट्र अर्थ में सोम का अपना विशिष्ट स्वरूप क्या है? इस पर हम विस्तृत और गहरे विचार के पश्चात् जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसके अनुसार अधिराष्ट्र अर्थ में सोम का अपना विशिष्ट स्वरूप न्यायाधीश या न्याय विभाग के मन्त्री का है। आजकल की प्रचलित भाषा में जिसे न्यायाधीश और न्याय विभाग का मन्त्री कहते हैं उन दोनों को वेद में सोम इस नाम से कहा गया है। जब विवादों का न्याय करने वाले के रूप में उसे देखा जाता है तब सोम न्यायाधीश है और जब उसे राष्ट्र में न्याय

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे० 9.10.3, 10.163.3।

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे० 1.93.1, 10.19.1।

का प्रवन्ध करने वाले सम्राट् के सहकारी के रूप में देखा जाता है तो सोम न्याय विभाग का मन्त्री है। ये दोनों भेद वस्तुतः भेद नहीं हैं। जो न्याय विभाग का मन्त्री है यदि उसके पास शक्ति और समय होता तो वह राष्ट्र के सारे विवादों का न्याय स्वयं ही कर दिया करता। परन्तु राष्ट्र की जनसंख्या की अधिकता आदि के कारण उसके लिए ऐसा करना सम्भव नहीं है। इसलिए उसे अपने नीचे अनेक सोम रखने पड़ते हैं जो असल में उसी का काम कर रहे होते हैं। व्यवहार में इन नगर-नगर में नियुक्त किये गये सोमों के पास विवादों का न्याय करने का काम रह जाता है और सम्राट् के पास रहने वाले सोम (न्याय विभाग का मन्त्री) के पास सोमों, के निरीक्षण का काम रह जाता है और सम्राट् पुनः इस सर्वोपरि सोम के कार्य का निरीक्षण करता है। क्योंकि अन्ततः सोम-विभाग का भी सारा उत्तरदायित्व सम्राट् पर ही है।

सोम के जिन वर्णनों के आधार पर हमने उसका अर्थ न्यायाधीश किया है वैसे वर्णन वेद में अन्य किसी देवता के नहीं आते।

सोम को विद्वान् और बुद्धिमान् होना चाहिए

वेद में सोम के अनेक ऐसे विशेषण और वर्णन आते हैं जिनके द्वारा यह बताया गया है कि उसे बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान् होना चाहिए। उदाहरण के लिए उसके ऐसे कुछ विशेषण नीचे दिये जाते हैं:—

- | | |
|-------------------|---------------|
| 1. कविः । | ऋग्० 9.7.4. |
| 2. विपश्चित् । | ऋग्० 9.12.3. |
| 3. विश्ववित् । | ऋग्० 9.28.1. |
| 4. विचक्षणः । | ऋग्० 9.97.2. |
| 5. गातुवित् । | ऋग्० 9.46.5. |
| 6. मनीषी । | ऋग्० 9.65.29. |
| 7. प्रथमो मनीषी । | ऋग्० 9.91.1. |
| 8. सुमेधाः । | ऋग्० 9.93.3. |
| 9. ऋषिमनाः । | ऋग्० 9.96.18. |
| 10. वचोवित् । | ऋग्० 9.91.3. |

इनमें से प्रथम उद्धरण में सोम को (कवि) कहा गया है। कवि का अर्थ होता है क्रान्तदर्शी विद्वान्, किसी भी विषय का आर-पार का ज्ञान रखने वाला गहरा विद्वान्। दूसरे उद्धरण में उसे सामान्यरूप में 'विपश्चित्' अर्थात् विद्वान् कहा गया है। तीसरे उद्धरण में उसे 'विश्ववित्' कहा गया है। विश्ववित् का अर्थ होता है सब कुछ जानने वाला। सोम जो काम करता है उससे सम्बन्ध रखने वाले सब विषयों और सब बातों का उसे पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। चौथे उद्धरण में उसे 'विचक्षण' अर्थात् अपने विषय को भली-भाँति जानने वाला चतुर विद्वान् कहा गया है। पाँचवें उद्धरण में उसे 'गातुवित्' कहा गया है। गातुवित् का अर्थ होता है मार्गों को जानने

वाला। सोम जो कार्य करता है वह उसके सभी मार्गों को, उसकी सभी विधियों को, भली-भाँति जानता है। उसके सम्पर्क में आने वाले लोगों की गतिविधियों को भी वह भली प्रकार समझता है। छठे उद्धरण में उसे 'मनीषी' और सातवें उद्धरण में 'प्रथम श्रेणी का मनीषी' कहा गया है। मनीषी मननशील, चिन्तनशील बुद्धि वाले विद्वान् को कहते हैं। सोम प्रथम श्रेणी का मनीषी विद्वान् है। आठवें उद्धरण में उसे 'सुमेधाः' अर्थात् उत्कृष्ट मेधावाला कहा गया है। मेधा कहते हैं धारणावती बुद्धि को, ऐसी बुद्धि को जो किसी बात को भूलती नहीं है, सब कुछ स्मरण रखती है। सोम ऐसी धारणावती बुद्धि का स्वामी है। नवें उद्धरण में उसे 'ऋषिमनाः' अर्थात् ऋषियों के से मनवाला कहा गया है। ऋषि का अर्थ होता है कि किसी बात को भली-भाँति समझने वाला दूरदर्शी विद्वान्। सोम का मन ऐसे तत्त्वदर्शी और दूर भविष्य की बात को भी भाँप लेने वाले विद्वानों के मन जैसा तीक्ष्ण मन है। दसवें उद्धरण में उसे 'वचोवित्' अर्थात् लोगों के वचनों को, उनकी भाषा को, उनकी बातों को, अच्छी तरह समझने वाला विद्वान् कहा गया है।

सोम यदि इस प्रकार का गम्भीर विद्वान् और बुद्धिमान् व्यक्ति होगा तभी वह प्रजाजनों को यथोचित न्याय दे सकेगा।

सोम में लोगों को परखने की शक्ति होनी चाहिए

सोम के इस प्रकार के विशेषण भी आते हैं जिनसे सूचित होता कि उसमें मनुष्यों को पहचानने और परखने की शक्ति होनी चाहिए। उदाहरण के लिए देखिये—

- | | |
|------------------|--------------|
| 1. विचर्षणिः। | ऋग्० 9.40.1. |
| 2. विश्वचर्षणिः। | ऋग्० 9.66.1. |
| 3. सहस्रचक्षाः। | ऋग्० 9.65.7. |
| 4. नृचक्षाः। | ऋग्० 9.8.9. |

इनमें से प्रथम उद्धरण में सोम को 'विचर्षणि' और दूसरे में 'विश्वचर्षणि' कहा गया है। विचर्षणि का अर्थ होता है अच्छी तरह देखने वाला और विश्वचर्षणि का अर्थ होता है सबको अच्छी तरह देखने वाला। सोम के सामने जो बातें और जो व्यक्ति आते हैं उन्हें वह अच्छी तरह देखता है। पूरे ध्यान से देखता है, उनके स्वरूप को, उनकी असलियत को वह पूर्ण रूप से समझ लेता है। तीसरे उद्धरण में उसे 'सहस्रचक्षाः' कहा गया है। सहस्रचक्षाः का अर्थ होता है हजार आँखों वाला, हजार आँखों से देखने वाला। सोम किसी भी बात को, किसी भी परिस्थिति को और किसी भी व्यक्ति को इतनी अच्छी तरह देखता है, उसे इतने ध्यान से देखता है और उसके वास्तविक स्वरूप को इतने पूर्ण रूप से समझ लेता है कि मानो वह उसे हजार आँखों से देख रहा हो। सोम इस प्रकार का लोगों को पूर्ण रूप से पहचान लेने की शक्तिवाला, हजार आँखों वाला-सा व्यक्ति है। चौथे उद्धरण में उस 'नृचक्षाः' कहा गया है। नृचक्षाः

का अर्थ होता है जो मनुष्यों को देख ले, उन्हें पहचान ले। सोम इस प्रकार का नृचक्षा: व्यक्ति है। उसकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता। जो भी उसके सम्मुख आता है, जिससे भी उसका सम्पर्क पड़ता है, उसी की असलियत को वह जान लेता है, उसी के वास्तविक रूप को वह समझ और परख लेता है।

सोम में इस प्रकार की लोगों को परख लेने की प्रबल शक्ति होनी चाहिए। तभी वह अपने न्याय करने का काम भली-भाँति कर सकेगा। क्योंकि कोई गवाह अथवा कोई अन्य व्यक्ति उसे धोखा या भुलावे में नहीं डाल सकेगा।

सोम को सदा जागरूक रहना चाहिए,

सोम को वेद में कितने ही स्थानों पर 'जागृविः'¹ कहा गया है। जागृवि का अर्थ होता है जागते रहने वाला अर्थात् सतर्क, सावधान और चौकन्ना रहने वाला। ऐसा व्यक्ति जिसके पास आलस्य, प्रमाद, सुस्ती, असावधानता, ढीलापन, लापरवाही और उपेक्षाशीलता कभी न फटके। सोम इस प्रकार का जागृणिव व्यक्ति है। न्यायाधीश में इस प्रकार की जागरूक मनोवृत्ति का रहना नितान्त आवश्यक है।

सोम को सबकी बातें ध्यान से सुननी चाहिए

वेद में सोम को कितने ही स्थानों पर 'सुश्रवाः'² और 'सुश्रवस्तमः'³ कहा गया है। सुश्रवाः का अर्थ होता है भली-भाँति सुनने वाला और सुश्रवस्तमः का अर्थ होता है अतिशय रूप से सुनने वाला अर्थात् बहुत अधिक ध्यान से सुनने वाला। सोम इस प्रकार का व्यक्ति है। न्यायाधीश के लिए इस गुण का रहना परम आवश्यक है। इसके अभाव में वह यथोचित न्याय नहीं दे सकता।

सोम का उद्देश्य हिंसा का नाश करना है

सोम के अनेक ऐसे विशेषण और वर्णन वेद में आते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि सोम का और उससे उपलक्षित न्याय विभाग का उद्देश्य राष्ट्र में से हिंसा का नाश करना है, हिंसा की वृत्ति पर अंकुश लगाना और रोकना है। उदाहरण के लिए उसके कुछ विशेषण और वर्णन देखिये—

- | | |
|----------------------------|-----------------|
| 1. रिशादाः । | ऋग्वे० 9.69.10. |
| 2. हन्ता अहिनाम्नाम् । | ऋग्वे० 9.88.4. |
| 3. हन्ता विश्वस्य दस्योः । | ऋग्वे० 9.88.4. |
| 4. अमित्रहा । | ऋग्वे० 9.11.7. |

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे० 9.97.2 ।

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे० 1.91.21 ।

³ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे० 1.91.17 ।

5. हन्ता वृत्राणाम् ।

ऋग्वे० 9.88.4.

6. द्रुहो रक्षसः पाति ।

ऋग्वे० 9.71.1.

प्रथम उद्धरण में सोम को रिशादा: कहा गया है। रिशादा: का अर्थ होता है रिश अर्थात् हिंसा को नष्ट करने वाला। सोम राष्ट्र में से हिंसा को नष्ट करने का काम करता है। दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि वह 'अहिनाम¹ वाले' लोगों का हनन करता है। अहि उसे कहते हैं जो किसी के पास जाकर उसकी हत्या कर दे। जिनका नाम अहि पड़ गया है, जो हत्यारे प्रसिद्ध हो गये हैं 'ऐसे नृशंस लोगों को फाँसी आदि का दण्ड देकर सोम उनका हनन करता है और उनके क्रूर कर्मों से जनता की रक्षा करता है।' तीसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'वह सब प्रकार के दस्युओं का हनन करने वाला है।' दस्यु का अर्थ वे लोग होता है जो चोरी, लूट-पाट और डाके आदि के द्वारा लोगों को कष्ट पहुँचाते और पीड़ित करते हैं। सोम इस प्रकार के लोगों को भी दण्डित करता है और उन्हें दण्डित करके उनके कदाचार से जनता की रक्षा करता है। चौथे उद्धरण में कहा गया है कि 'सोम अमित्र अर्थात् प्रजा के शत्रुओं का हनन करने वाला है, जो लोग प्रजाजनों के शत्रु बन जाते हैं और उन्हें पीड़ित करते हैं सोम उन्हें दण्डित करता है और उनसे मिलने वाली पीड़ा तथा कष्ट से प्रजा की रक्षा करता है। पाँचवें उद्धरण में कहा गया है कि सोम वृत्रों को मारता है। वृत्र का अर्थ होता है जो बाधा डाले, रुकावट डाले। जो लोग प्रजाजनों के कामों में भाँति-भाँति की बाधाएँ, रुकावटें और विघ्न डालकर उनके कामों को पूरा नहीं होने देते और इस प्रकार उन्हें क्लेशित करते हैं वे सब वृत्र हैं। ऐसे वृत्र लोगों को दण्डित करके सोम प्रजाजनों के कष्टों का निवारण करता है। छठे उद्धरण में कहा गया है कि 'सोम राक्षस लोगों के द्रोह से, क्रोध और द्वेष से लोगों की रक्षा करता है।' राक्षस वे लोग होते हैं जो छिप कर लोगों को हानि पहुँचाते हैं। छिपे अपराधी बड़े खतरनाक होते हैं। सोम ऐसे राक्षस वृत्ति के लोगों को दण्डित करके उनसे मिलने वाले दुःखों और कष्टों से जनता की रक्षा करता है।

एक स्थान पर सोम से प्रार्थना की गई है कि—

यदन्ति यच्च दूरके भयं विन्दति मामिह ।

पवमान वि० तज्जहि ॥

ऋग्वे० 9.67.21.

अर्थात्—हे सोम (पवमान) समीप से और दूर से जो भय मुझे यहाँ प्राप्त होता है उसको तू नष्ट कर दे ।

ऊपर दिये गये उद्धरणों में सोम का राष्ट्र में से हिंसा को समाप्त करने का जो कार्य बताया गया है सोम उसके द्वारा प्रजाजनों के भय को दूर करता है। किसी के प्राण ले लेना ही केवल हिंसा नहीं है। हिंसा का बड़ा व्यापक अर्थ होता है।

¹ आगत्य हन्तीति अहिः । तन्नाम्नामित्यर्थः । इति सायणः ।

शक्ति का प्रयोग करके किसी भी प्रकार से किसी को कष्ट पहुँचाना हिंसा के अन्तर्गत हो जाता है। अपराधियों को दण्डित करके सोम न्यायाधीश प्रजाजनों की सभी प्रकार की हिंसा से रक्षा करता है।

सोम धर्म की रक्षा करता है

वेद में कितने ही स्थानों पर सोम के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वह पाप का विनाश करता है। और धर्म की रक्षा करता है। उदाहरणार्थ निम्न स्थल देखिये —

1. अपसेघन् दुरिता ।

ऋग्वे० 9.82.2.

2. वृषा धर्माणि दधिषे ।

ऋग्वे० 9.64.1

इनमें से प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि सोम सब प्रकार के पापों (दुरिता) का निवारण करता है। और दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि हे शक्तिशाली अथवा कल्याण की वर्षा करने वाले (वृषा) सोम तुम धर्मों को धारण करते हो। प्रथम उद्धरण में पाप के लिए दुरित शब्द का प्रयोग हुआ है। दुरित का शब्दार्थ होता है बुरा (दुर) चाल-चलन (इत)। हमारे बुरे चाल-चलन ही दूसरों के साथ हमारे बुरे व्यवहार और बरताव ही पाप कहलाते हैं। जब हम अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए औरों के साथ बुरा बरताव करके उन्हें किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाते हैं तो हमारा वही आचरण पाप हो जाता है। और पाप का आचरण करने के कारण हम पापी और अपराधी बन जाते हैं। सोम इस प्रकार के अपराधियों को दण्डित करता है। इस दण्ड के कारण अपराधी भविष्य में अपराध नहीं करेंगे। इस प्रकार वे आगामी पाप से बच जायेंगे। उनके दण्ड को देखकर दूसरे लोग उन अपराधों को नहीं करेंगे इस प्रकार वे भी पाप से बचे रहेंगे। इस भाँति सोम पापकारी अपराधियों को दण्डित करके राष्ट्र में से पाप का नाश और निवारण करता है।

दूसरे उद्धरण में सोम को धर्म को धारण करने वाला बताया गया है। सोम द्वारा दिये गये दण्ड के भय से लोग पाप नहीं करेंगे। वे पाप से दूर रहकर धर्म का आचरण करेंगे। उनसे किसी को किसी प्रकार का दुःख और कष्ट नहीं पहुँचेगा। इस प्रकार धर्माचरण में सहायक होकर सोम राष्ट्र में धर्म की रक्षा करेगा। एक और प्रकार से भी सोम धर्म की रक्षा करेगा। राज्य के विधि-विधानों¹ को नियमों और कानूनों को भी धर्म कहा जाता है। सोम और उससे उपलक्षित न्याय विभाग सबसे

¹ Law, usage, practice, custom, ordinance, statute.

आप्टे कोष। त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः। अमरकोषः। संस्कृत में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि स्मृति ग्रंथों को धर्मशास्त्र कहा जाता है जिनमें राज्य नियमों का प्रतिपादन होता है। संस्कृत में राज-नियमों के लिए धर्म शब्द का ही व्यवहार होता है। धर्म शब्द की निश्चित इस प्रकार की जाती है—अप्यते लोकनेन, धरति लोकं वा, यदा अप्यते सुखप्राप्तये सेव्यते सः धर्मः। पक्षपातरहितो न्यायः सत्याचारो वा। उणादि० 1.40.

राज्य के नियमों का पालन करायेगा किसी के भी द्वारा उनका भंग नहीं होने देगा । इस दृष्टि से भी सोम धर्म की रक्षा करेगा ।

सोम सत्य का रक्षक है

वेद में सोम को सत्य का बड़ा भारी रक्षक कहा गया है । स्थान-स्थान पर उसे सत्यवादी, सत्यकर्मा और सत्य का रक्षक आदि विशेषणों से विशेषित किया गया है । इस सम्बन्ध में कुछ उद्धरण नीचे दिये जा रहे हैं —

1. सत्यः ।	ऋग्० 9.92.6.
2. सत्यं वदन्	ऋग्० 9.113.4.
3. सत्यमन्मा ।	ऋग्० 9.97.48.
4. सत्यशुष्मः ।	ऋग्० 9.97.46.
5. सत्यकर्मा ।	ऋग्० 9.113.4.
6. सत्यानि कृण्वन् ।	ऋग्० 9.78.5.
7. गोपामृतस्य ।	ऋग्० 9.48.4.
8. सौदन् ऋतस्य योनिमा ।	ऋग्० 9.64.11,
9. सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ।	ऋग्० 9.73.1.

इनमें से प्रथम उद्धरण में सोम को 'सत्यः' अर्थात् सत्य का रूप ही कह दिया गया है । वह इतना अधिक सत्य का पालन करता है कि वह सत्य का रूप या सत्यमय ही हो गया है । दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'वह सत्य ही बोलता है ।' तीसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'वह सत्य ज्ञान (मन्म) वाला है ।' वह किसी भी वस्तु, परिस्थिति और व्यक्ति के सम्बन्ध में सही-सही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और उसी के अनुसार आचरण करता है । चौथे उद्धरण में कहा गया है कि 'उसका बल (शुष्मः) सत्य है ।' सत्य का आचरण और व्यवहार करने के कारण ही उसमें वह शक्ति आती है जिसके बल पर वह ठीक-ठीक निर्णय करता है और उनका पालन करा पाता है । पाँचवें और छठे उद्धरणों में उसे 'सत्य कर्म करने वाला' कहा गया है । वह जो भी काम करता है सत्य पर आरुढ़ होकर करता है । वह गलत काम कभी नहीं करता । तभी उसका लोगों पर प्रभाव पड़ता है और वे उसके निर्णयों को मान लेते हैं । छठे उद्धरण से यह भी ब्वनि निकलती है कि वह न्याय के आसन पर बैठकर सत्य निर्णय ही करता है । इस उद्धरण में सत्य शब्द का 'सत्यानि' इस प्रकार बहुवचन में प्रयोग हुआ है । वाक्य का अर्थ यह है कि 'सोम सत्यों को (सत्यानि) करने वाला है ।' सत्य शब्द के इस बहुवचन के प्रयोग से यह व्यंजित होता है कि वह सत्य-सत्य निर्णय करता है । निर्णय करने में वह कभी असत्य का आश्रय नहीं लेता । सातवें उद्धरण में कहा गया है कि 'वह सत्य का रक्षक (गोपाः) है ।' आठवें उद्धरण में कहा गया है कि 'वह सत्य की योनि पर बैठता है ।' योनि का अर्थ घर और कारण होता है ।

सोम सत्य के घर में बैठता है। वह सत्य में ही निवास करता है। सत्य का परित्याग कभी नहीं करता। सत्य के कारण में बैठता है इस अर्थ में एक और भाव निकलेगा। वह यह कि वह सत्य के कारण अर्थात् सत्य को उत्पन्न करने वाले, सत्य को प्रवाहित करने वाले, न्याय के आसन पर बैठता है। न्यायाधीशों के न्यायासन से ही राष्ट्र में सत्य प्रवाहित होता है, राष्ट्र में सत्य की उत्पत्ति और रक्षा होती है। इसलिए न्यायासन सत्य का योनि है। सोम सत्य के योनि इस न्यायासन पर बैठता है। नवें उद्धरण में कहा गया है कि 'अच्छे काम करने वाले (सुकृत) सोम को सत्य की नौकाएँ (नावः) पार पहुँचाती हैं (अपीपरन्)।' सोम सत्य का आश्रय लेकर अपने सारे कार्य करता है। सत्य के आश्रय के कारण उसकी न्याय-व्यवस्था का संचालन करने के सारे कार्य भली-भाँति पूर्ण और सफल हो जाते हैं। वह मानो सत्य की नौका पर बैठकर अपने कार्यों के समुद्र को पार कर जाता है।

सोम के इन सब विशेषणों का निष्कृष्टार्थ यह है कि सोम की सत्य पर परम आस्था होनी चाहिए। उसे सदा सत्य पर आरुढ़ रहना चाहिए। उसे अपने विचार और कर्म में सत्य का मूर्त रूप होना चाहिए। तभी वह राष्ट्र में न्याय-व्यवस्था का सही रूप में संचालन कर सकेगा।

सोम सज्जनों की रक्षा करता है

कई स्थानों पर वेद में सोम को 'सत्पति'¹ विशेषण से विशेषित किया गया है। इस विशेषण का अर्थ होता है 'सज्जनों की रक्षा करने वाला।' जो सज्जन हैं, भले हैं, किसी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते, सोम उन लोगों की रक्षा करता है। अनेक बार ऐसा हो जाता है कि सज्जन और निरपराध व्यक्तियों पर भी शत्रुता आदि के कारण किसी अपराध का झूठा आरोप कर दिया जाता है। सोम इस प्रकार के निरपराध सज्जन व्यक्तियों की रक्षा करता है। सोम घटना की पूरी गहराई में जाता है, मामले की पूरी छानबीन करता है, और सच्चाई तक पहुँचता है। वह अपनी सूक्ष्म गवेषणा और तार्किक बुद्धि से पता लगा लेता है कि असल में कौन अपराधी है और कौन निरपराध है। वह अपराधी को दण्डित करता है और निरपराध को बचा लेता है। इस प्रकार वह निरपराध सज्जन पुरुषों का रक्षक बन जाता है। उसका सदा यह प्रयत्न रहता है कि किसी निरपराध व्यक्ति को दण्ड न मिले, भले ही पूर्ण साक्ष्य के अभाव में कोई अपराधी दण्ड से वंचित रह जाये। सोम यथाशक्ति किसी निरपराध व्यक्ति को दण्डित नहीं होने देता।

सोम लोगों के प्रति मैत्रीभाव रखता है

अनेक स्थानों पर सोम के वेद में ऐसे वर्णन आते हैं जिनमें उसे लोगों का मित्र कहा गया है और जहाँ लोग सोम से अपने प्रति मित्रता की प्रार्थना कर रहे हैं।

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्वे. 1.91.5।

उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

- | | |
|----------------------------------|---------------|
| 1. सुषखा । | ऋग्० 8.48.9. |
| 2. इन्दो सखित्वमुश्मसि । | ऋग्० 9.31.6. |
| 3. सखित्वमा वृणीमहे । | ऋग्० 9.61.4. |
| 4. इन्द्रस्य त्वं तव वयं सखायः । | ऋग्० 9.97.43. |

इनमें से प्रथम उद्धरण में सोम को 'लोगों का उत्कृष्ट मित्र (सखा)' कहा गया है। दूसरे उद्धरण में प्रजाजन कह रहे हैं कि 'हे सोम (इन्दो) हम तेरी मित्रता (सखित्व) चाहते हैं (उश्मसि)।' तीसरे उद्धरण में प्रजाजन कह रहे हैं कि 'हे सोम हम तेरी मित्रता (सखित्व) का वरण करते हैं (वृणीमहे)।' चौथे उद्धरण में प्रजाजन कह रहे हैं कि 'हे सोम तुम इन्द्र के और हम तुम्हारे मित्र (सखायः) हैं।'

इन वाक्यों की व्यंजना यह है कि सोम को प्रजाजनों के प्रति सदा मित्रता का भाव रखना चाहिए। उसके न्यायासन पर बैठकर किये गये निर्णय किसी के भी प्रति द्वेष-बुद्धि से प्रेरित नहीं होने चाहिए। उसे वादी और प्रतिवादी दोनों का अपने आपको मित्र समझना चाहिए और दोनों को ही अपना मित्र समझना चाहिए। मित्र की भाँति दोनों का ही हित अपने हृदय में रखकर उसे अपने निर्णय देने चाहिए। जिसे अपराधी पाकर वह दण्डित करता है उसके प्रति भी उसके मन में द्वेष नहीं होना चाहिए। उसके प्रति भी उसके मन में सहानुभूति और सुधार की भावना ही होनी चाहिए। उसे द्वेष में भरकर किसी को भी बिना अपराध के दण्डित नहीं करना चाहिए और अपराध सिद्ध हो जाने पर भी दण्ड-प्रक्रिया में निर्धारित दण्ड से अधिक दण्ड नहीं देना चाहिए। प्रत्युत् जहाँ तक हो सके अपराधी को भी किसी अपराध के लिए दण्ड प्रक्रिया में कम से कम निर्धारित दण्ड ही देना चाहिए।

सोम और उसके वाचक शब्दों की निश्चिति की संगति

वेद में सोम के लिए इन्दु और पवमान इन दो शब्दों का प्रयोग भी बहुत हुआ है। इन शब्दों के धात्वर्थ की ओर ध्यान दिया जाये तो उससे भी सोम के कार्य की ओर कुछ संकेत मिल जाता है। पहले इनमें से पवमान शब्द को लीजिये। पवमान¹ शब्द संस्कृत की 'पूङ्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ पवित्र करना, शुद्ध करना होता है। सोम पवमान है, पवित्र करने वाला, शुद्ध करने वाला है। वह न्याय-व्यवस्था के अनुसार अपराधियों को दण्डित करके पाप और अपराध के मार्ग से हटाकर उन्हें पवित्र कर देता है। उनको दिये गये दण्ड के उदाहरण से अन्य लोग भी पाप और अपराध से बचे रहते हैं। इस प्रकार वे भी पवित्र बने रहते हैं। अब लीजिए इन्दु² शब्द को। यह शब्द संस्कृत की 'उन्दी' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ क्लेदन अर्थात् गीला करना, भिगोना, तृप्त करना, आनन्दित

¹ पवते इति पवमानः । अष्टा० 3.2.128.

² उन्नति क्लेदयति आर्द्रं करोति इति इन्दुः । उणादि० 1.12.

करना होता है। इन्हीं गुणों के कारण चन्द्रमा को भी इन्दु कहा जाता है और सोम नामक ओषधि को भी इन्दु कहा जाता है। न्यायाधीश अर्थ में सोम के इस नाम का यह भाव होगा कि वह प्रजा के पीड़क लोगों को दण्डित करके प्रजाओं का कष्ट मिटाकर उनके ऊपर सुख-शान्ति की धारा बरसा कर आनन्द से क्लिप्त कर देता है, आनन्द से भिगो देता है। अब देखिये सोम¹ शब्द को। यह शब्द संस्कृत की 'षुम्' धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ 'अभिषव' होता है। अभिषव के कई अर्थ होते हैं। उसका एक अर्थ 'स्नपन' अर्थात् स्नान कराना भी होता है। स्नपन अर्थ को लेकर सोम का अर्थ होगा स्नान कराने वाला। सोम न्यायाधीश के रूप में पापी और अपराधी को दण्डित करके प्रजाजनों को निरापद् और निर्भय बनाकर उन्हें सुख-शान्ति की धाराओं में स्नान करा देता है। इस प्रकार सोम और उसके पर्याय इन्दु और पवमान शब्दों की निरुक्ति भी उसके न्यायाधीश अर्थ में संगत हो जाती है।

इस प्रकरण में और प्रथम भाग के 20वें अध्याय में सोम के वेद-गत जिन कुछ वर्णनों का उल्लेख किया गया है उन और उन जैसे अन्य वर्णनों के द्वारा वेद में यह व्यक्त किया गया है कि राष्ट्र में इस प्रकार का सोम का, न्याय का, विभाग भी होना चाहिए।

7. रुद्र : प्रतिरक्षा मंत्री और सेनापति

रुद्र का मानव और राजा रूप

रुद्र भी इन्द्र का सहचारी देवता है। इन्द्र के साथ उसके अनेक स्थानों पर वेद में वर्णन आते हैं। अधिराष्ट्र अर्थ में जब इन्द्र सम्राट् का वाचक है तब उसके सहचारी रुद्र का क्या अर्थ होगा यह हमें देखना है। वेद वर्णित देवताओं के लिए सामूहिक रूप से 'देवाः' और 'विश्वेदेवाः' शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये दोनों शब्द सभी देवताओं की ओर संकेत कर देते हैं। वेद में 'देवाः' और 'विश्वेदेवाः' को कई जगह 'नरः'² अर्थात् मनुष्य कहा गया है। रुद्र भी वेद का एक प्रसिद्ध देवता है। देवों में वह भी आ जाता है। इसलिए वह भी नर अर्थात् मनुष्य हो जाता है। और इस प्रकार रुद्र को मनुष्य समझकर भी उसकी एक व्याख्या की जा सकती है। इसी भाँति वेद में 'देवाः' और 'विश्वेदेवाः' को कितने ही स्थानों पर 'राजानः'³ और 'सम्राजः'⁴ अर्थात् 'राजा' और 'सम्राट्' कहा गया है। देवों में रुद्र भी सम्मिलित है। इस प्रकार वह भी राजा और सम्राट् बन जाता है। रुद्र को राजा और सम्राट् कहने का यह स्पष्ट तात्पर्य निकलता है कि उसकी एक व्याख्या राजापरक भी हो

¹ सुतोति अभिषुणोति स्नपयति इति सोमः । उणादि० 1.40.

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 6.51.9 ; नरः नृशब्दस्य प्रथमा-बहुवचनम् ।

³ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.122.11 ।

⁴ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 10.63.5 ।

सकती है। इस भाँति रुद्र का एक रूप मानव राजा का भी हो जाता है। वेद के अनेक स्थलों पर रुद्र का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षाएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। जैसा कि हम इस ग्रन्थ में निरन्तर देखते आ रहे हैं वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र ही है। इस स्थिति में रुद्र के लिए, वरुण, मित्र और सोम आदि अन्य देवताओं की भाँति ही, इन राजा आदि शब्दों का प्रयोग गौण अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिए। रुद्र अपने विभाग के कार्यों को सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में ही करेगा इसलिए वह एक प्रकार से मानो सम्राट् ही होगा। यों उसका अपना विशिष्ट विभाग और स्वरूप भिन्न होगा।

रुद्र का अपना विशिष्ट स्वरूप

वेद में रुद्र का जिस रूप में वर्णन हुआ है उससे वह सेनापति ठहरता है। इसी रूप में वह इन्द्र (सम्राट्) का सहचारी और सहकारी है। वह शान्ति काल में भी राष्ट्र के सैन्य संगठन का संचालन करेगा और युद्ध काल में भी। राष्ट्र के अन्य विभागों की भाँति इन्द्र को रुद्र के विभाग का भी निरीक्षण और नियन्त्रण करना होगा। क्योंकि वह राष्ट्र के सभी विभागों का अन्तिम रूप से सर्वोच्च अधिकारी और उत्तरदाता है। उसे रुद्र के विभाग का, राष्ट्र के प्रतिरक्षा या युद्ध विभाग का प्रतिदिन का निरीक्षण करने के लिए भी एक सहायक की आवश्यकता पड़ेगी। क्योंकि वह राष्ट्र के सभी विभागों के दैनिक कार्य-संचालन का निरीक्षण नहीं कर सकता। उसके पास इतना समय और शक्ति नहीं हो सकती। प्रतिरक्षा विभाग के दैनिक कार्य-संचालन का सम्राट् की ओर से निरीक्षण करने वाले सम्राट् के इस सहायक को भी वेद में रुद्र ही कहा गया है। सेनापति के रूप में प्रतिरक्षा विभाग या युद्ध विभाग का सीधा और साक्षात् संचालन करने वाला भी रुद्र कहा गया है। सम्राट् की ओर से उस विभाग के कार्य-संचालन का दैनिक निरीक्षण करने वाला और सम्राट् की ओर से परामर्श देने वाला भी रुद्र ही कहा गया है जिसे आजकल की प्रचलित भाषा में प्रतिरक्षा मंत्री कहा जाता है। वेद में इन्द्र के सहचारी और सहकारी के रूप में वर्णित रुद्र के इन दोनों रूपों को उसका अपना विशिष्ट स्वरूप समझना चाहिए।

वेद में रुद्र के इस प्रकार के वर्णनों द्वारा यह निर्देश दिया गया है कि राष्ट्र में उसकी रक्षा के लिए एक प्रतिरक्षा विभाग या युद्ध विभाग भी होना चाहिए।

रुद्र शब्द की निरुक्ति की संगति

रुद्र शब्द संस्कृत की 'रुद्' (रुदिर) धातु से निष्पन्न किया जाता है।¹ रुद्र का

¹ रोदयति पापिनः इति रुद्रः। उणादि० 2,22 ; शत्रुरोदकस्य सेनापतेः। यजु० 11.15 भाष्ये दयानन्दपिः।

शब्दार्थ होता है रूलाने वाला । जो पापियों को, दुष्टों को, अत्याचारियों को, शत्रुओं को दण्ड देकर रूला डाले वह रुद्र कहा जायेगा । रुद्र शब्द की इस निरुक्ति के आधार पर उसके वेद में विशेषणों और प्रकरण के अनुसार परमात्मा आदि अनेक अर्थ हो जाते हैं । सेनापति अर्थ भी वेद में रुद्र होता है । सेनापति अर्थ में भी रुद्र शब्द की यह निरुक्ति बड़े सुन्दर रूप में संगत हो जाती है ।

मरुत् : सैनिक

मरुत : आप करो। की विद्युत् उत्पन्न रखियोगे।
५।५।१४ में बात-
लिखः

मरुत् भी वेद का इन्द्र का सहचारी एक प्रधान देवता है । वेद में मरुत् का वर्णन एकवचन में न होकर 'मरुतः' इस प्रकार बहुवचन में हुआ है । वेद में 'मरुतः' का एक अर्थ सैनिक भी होता है । सैनिक लोग स्कन्धावरों (छावणियों) में गणों या श्रेणियों में रहा करते हैं अतः उनके लिए प्रयुक्त 'मरुतः' यह बहुवचन का प्रयोग भी उनमें संगत हो जाता है । मरुत् शब्द संस्कृत की 'मृ' (मृङ्) धातु से निष्पन्न किया जाता है जिसका अर्थ प्राण त्याग अर्थात् मरना होता है । मरुत् शब्द का अर्थ होता है मरने-मारने वाला ¹ इस शब्द का यह अर्थ सैनिकों पर भी बड़ा सुन्दर संगत होता है ।

8. त्वष्टा : शिल्प-कला और उद्योग-धन्धों का मन्त्री

त्वष्टा का मानव और राजा रूप

त्वष्टा भी इन्द्र का सहचारी देवता है । वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र के साथ उसके वर्णन आते हैं । वेद में इन्द्र को 'त्वष्टमान्' ² अर्थात् 'त्वष्टा वाला' भी कहा गया है जिससे उसका इन्द्र के साथ साहचर्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है । इन्द्र का अधिराष्ट्र अर्थ सम्राट् है यह हम देखते ही आ रहे हैं । उसके सहचारी त्वष्टा का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा यह हमने देखना है । इस सम्बन्ध में विचार करते हुए हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि त्वष्टा भी कल्पित स्वर्ग विशेष में रहने वाला कोई कल्पित देव-विशेष नहीं है । वेद में, जैसा कि हमने अभी ऊपर रुद्र देवता पर विचार करते हुए देखा है, सभी देवों को 'नरः' अर्थात् मनुष्य तथा 'राजानः' और 'सम्राजः' अर्थात् राजा और सम्राट् कहा गया है । इसलिए त्वष्टा भी स्वतः मनुष्य और राजा या सम्राट् बन जाता है । और इस प्रकार उसकी भी एक व्याख्या उसे मनुष्य और राजा समझकर की जा सकती है । इस भाँति उसका भी अधिराष्ट्र रूप एक मानव राजा का हो जाता है । वेद के अनेक स्थलों में त्वष्टा का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षाएँ प्राप्त होने लगती हैं । जैसा कि हम इस ग्रन्थ में निरन्तर देखते आ रहे हैं । वस्तुतः राजा या सम्राट् तो

¹ म्रियते मारयति वा स मरुत् । उणादि० 1.94.

² देखें—ऋग्वे० 6.52.11 ।

इन्द्र है इसलिए त्वष्टा को भी अन्य अश्विनौ, वरुण, सोम और मित्र देवताओं की भाँति गौण रूप में ही राजा या सम्राट् कहा गया समझना चाहिए। त्वष्टा अपने विभाग का कार्य इन्द्र (सम्राट्) के प्रतिनिधि के रूप में ही करेगा। अतः वह भी एक प्रकार से सम्राट् ही है। परन्तु क्योंकि वह इन्द्र का एक सहजारी देव है इसलिए उसका अपना विशिष्ट रूप भी कोई होना चाहिए।

त्वष्टा का अपना विशिष्ट स्वरूप

अधिराष्ट्र अर्थ में त्वष्टा राष्ट्र के विशिष्ट विभाग का अधिकारी है। हमने त्वष्टा के वेद में उल्लिखित वर्णनों के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि त्वष्टा राष्ट्र के शिल्प, कला-कौशल और उद्योग-धन्धों के विभाग का निरीक्षण और नियंत्रण करने वाला मुख्य अधिकारी है। आजकल की प्रचलित भाषा में जिसे हस्तकला और शिल्प (Handicrafts and Arts) तथा उद्योगों (Industries) का मंत्री कहा जाता है वह रूप त्वष्टा का है। जिन वर्णनों के आधार पर हमने त्वष्टा का यह रूप निर्धारित किया है वैसे वर्णन वेद में अन्य देवताओं के नहीं आते।

त्वष्टा शब्द की निरुक्ति की संगति

त्वष्टा शब्द की निरुक्ति दो प्रकार से की जाती है। एक तो इस शब्द को 'त्वष्' धातु से निष्पन्न माना जाता है जिसका अर्थ दीप्त होता है, चमकना होता है। जो दीप्त हो, चमके वह त्वष्टा¹ कहा जायेगा। इस यौगिक अर्थ के आधार पर त्वष्टा के वेद में सूर्य और परमात्मा आदि अनेक अर्थ हो जाते हैं। ये सभी अपने गुणों के कारण चमकते हैं। त्वष्टा के ऊपर निर्दिष्ट अधिराष्ट्र अर्थ में भी इस शब्द का यह यौगिक अर्थ संगत हो जाता है। त्वष्टा और उससे उपलक्षित राष्ट्र के विभिन्न प्रकार के शिल्पी और कारीगर लोग भी अपने कला-कौशल के गुणों के कारण चमकते हैं। इस शब्द की दूसरी निष्पत्ति 'त्वक्ष्' (त्वक्ष्) धातु से की जाती है। जिसका अर्थ 'तनूकरण' अर्थात् छीलना, घड़ना, बनाना होता है। इसी अर्थ वाली दूसरी धातु 'तक्ष्' (तक्ष्) से संस्कृत का 'तक्षा' शब्द बनता है जिसका लोक-प्रसिद्ध अर्थ बढ़ई अर्थात् लकड़ी का सामान निर्माण करने वाला शिल्पी होता है। जो भाँति-भाँति के पदार्थों का 'त्वक्षण' अर्थात् निर्माण करे वह त्वष्टा² कहलायेगा। इस यौगिक अर्थ के आधार पर वेद में त्वष्टा का अर्थ परमात्मा भी हो जाता है। उसका यह यौगिक अर्थ उसके अधिराष्ट्र अर्थ में भी मली-भाँति संगत हो जाता है। राष्ट्र के त्वष्टा लोग, विभिन्न प्रकार के शिल्पी लोग, जनता के उपयोग की विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करते हैं और शिल्प और उद्योग विभाग का मुख्य अधिकारी या मंत्री उनसे

¹ त्विष्यतेसो त्वष्टा । उणादि० 2.95.

² त्वष्टा तूर्णमभ्युते इति नैरुक्ताः । त्विपतेर्वास्याद्दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वास्यात्करोति कर्मणः । निरु० 8.2.14 ; त्वक्षति तनूकरोति निमिमीते विविधान् पदार्थात् इति त्वष्टा ।

इन वस्तुओं का निर्माण कराता है। त्वष्टा शब्द की यह निरुक्ति त्वष्टा के अधिराष्ट्र अर्थ में संगत भी हो जाती है और उसके कार्य की ओर भी संकेत कर देती है।

ऋभु : शिल्पी लोग

ऋभु भी वेद का एक प्रसिद्ध और इन्द्र का सहचारी देवता है। वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र के साथ ऋभुओं का वर्णन आता है। कई जगह तो इन्द्र का 'ऋभुमान्'¹ अर्थात् 'ऋभुओं वाला' यह विशेषण ही आता है। इन्द्र के इस विशेषण से ऋभुओं का इन्द्र के साथ साहचर्य बिलकुल ही स्पष्ट हो जाता है। ऋभु भी किसी कल्पित स्वर्ग विशेष में रहने वाले कोई देवता-विशेष नहीं है। हमने वेद के उनके वर्णनों के आधार पर ऋभुओं को मानव प्रतिपादित करते हुए दिखाया है कि अधिराष्ट्र अर्थ में ऋभु विभिन्न प्रकार के शिल्पी लोगों का नाम है।

निरुक्त में ऋभु शब्द का अर्थ करते हुए यास्क ने लिखा है कि 'बहुत दीप्तिमान् होने के कारण, अथवा ऋत अर्थात् सत्यज्ञान के कारण, अथवा ऋत अर्थात् सत्यज्ञान के साथ विद्यमान रहने के कारण ऋभुओं को ऋभु कहा जाता है।'² ऋभु शब्द का यह यौगिक अर्थ भी उसके अधिराष्ट्र अर्थ में भी संगत हो जाता है। शिल्पी लोग अपने कला-कौशल के कारण बहुत दीप्तिमान् या चमकने वाले होते ही हैं। उनमें अपने क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का सत्यज्ञान होता ही है तथा वे अपने उस ज्ञान के कारण भी दीप्तिमान्, चमकने वाले प्रसिद्धि-प्राप्त यशस्वी लोग होते ही हैं।

ऋभु शब्द का प्रयोग वेद में प्रायः 'ऋभव.' इस प्रकार बहुवचन में आता है। यह बहुवचन का प्रयोग भी उसके अधिराष्ट्र अर्थ में चरितार्थ हो जाता है। राष्ट्र में शिल्पी लोग बड़ी संख्या में हुआ ही करते हैं।

वेद ने त्वष्टा और ऋभुओं के इस प्रकार के वर्णनों द्वारा यह व्यक्त किया है कि राष्ट्र में शिल्पकला और उद्योग-धन्वों का भी विकास किया जाना चाहिए और इन्हें प्रोत्साहन देने के लिए राज्य में एक पृथक् विभाग ही रहना चाहिए।

9. बृहस्पति : मन्त्रि-पुरोहित

बृहस्पति : ब्राह्मण

बृहस्पति भी इन्द्र का सहचारी देवता है। इन्द्र के साथ उसके समस्त और असमस्त रूप में वेद में अनेक स्थानों पर वर्णन आते हैं। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी और सहायक बृहस्पति का अधिराष्ट्र रूप क्या होगा इस सम्बन्ध में हमें इस प्रकरण में विचार करना है। इस सम्बन्ध में आगे चलने से पहले हमें बृहस्पति के विषय में एक बात देख लेनी चाहिए। वेद में और उसके व्याख्या-ग्रन्थ

¹ देखें—ऋग्वे० 3.52.6, 3.60.6।

² ऋभव उर मान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा, निरु० 11.2.13.

ब्राह्मण ग्रन्थों में बृहस्पति को ब्राह्मण बताया गया है। पहले ब्राह्मण ग्रन्थों को देखिये। वहाँ कहा गया है—

1. ब्रह्म वै बृहस्पतिः ।

ऐ० 1.13, 1.19, 2.38, 4.11;

कौ० 7.10, 12.8, 18.2;

शत० 3.1.4.15, 3.9.1.11;

जै० 301.37.6.

2. ब्रह्म बृहस्पतिः ।

गो० 3 6.7.

इन उद्धरणों में बृहस्पति को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म शब्द का वेद और वैदिक साहित्य में एक अति प्रसिद्ध अर्थ ब्राह्मण भी होता है। इस सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों के निम्न स्थल देखिये :—

1. अयं वाग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च ।

श० 6.6.3.15.

2. ब्रह्म वै पूर्वं क्षत्रात् ।

तां० 11.1.2.

इनमें से प्रथम उद्धरण में प्रसंगानुसार अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है वह ब्रह्म भी है और क्षत्र भी है। दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि ब्रह्म क्षत्र से पूर्व रहता है। जहाँ क्षत्र और ब्रह्म शब्द एक साथ प्रयुक्त होते हैं वहाँ क्षत्र शब्द क्षत्रिय का और ब्रह्म शब्द ब्राह्मण का वाचक हुआ करता है। क्षत्र शब्द समग्र वैदिक साहित्य में क्षत्रिय, क्षत्रियों से शासित राष्ट्र और बल अर्थ में जिसकी क्षत्रियों में प्रधानता होती है प्रयुक्त होता है। क्षत्रिय के वाचक क्षत्र शब्द के साहचर्य से ब्रह्म शब्द ब्राह्मण का वाचक हो जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ही नहीं वेद में भी 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चै चरतः सह' (यजु० 20.25) आदि स्थलों में जहाँ ब्रह्म और क्षत्र शब्द इकट्ठे आते हैं वहाँ इनका अर्थ ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होता है ऐसे स्थलों में सभी भाष्यकार ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मण और क्षत्र का अर्थ क्षत्रिय ही करते हैं। इस प्रकार बृहस्पति को ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म कहने का अर्थ हो जाता है कि बृहस्पति ब्राह्मण है। यही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप में भी ब्राह्मण किया गया है। वहाँ कहा गया है कि—

1. ब्रह्म वै ब्राह्मणः ।

तै० 3.9.14.2;

श० 13.1.5.3.

2. ब्रह्म हि ब्राह्मणः ।

श० 5.1.5.2.

अर्थात्—'ब्रह्म' शब्द ब्राह्मण का वाचक भी है। इस प्रकार बृहस्पति ब्राह्मण का वाचक हो जाता है। लौकिक संस्कृत में भी ब्रह्म शब्द इसके और-और अर्थों के साथ ब्राह्मण¹ अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। लौकिक संस्कृत में ब्रह्म शब्द ब्राह्मण के लिए प्रायः पुल्लिङ्ग में ब्रह्मा इस रूप में प्रयुक्त होता है जबकि वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में यह शब्द प्रायः ब्रह्म इस नपुंसक लिङ्ग के रूप में प्रयुक्त होता है। ब्रह्म और ब्रह्मा

¹ वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः । अमरकोषः ।

ये दोनों शब्द मूल में ब्रह्मन् शब्द के रूप हैं । क्षत्र शब्द वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में तो क्षत्रिय के लिए प्रयुक्त होता ही है । लौकिक संस्कृत में भी यह शब्द कहीं-कहीं क्षत्रिय के लिए प्रयुक्त हुआ मिलता है । उदाहरण के लिए कालिदास ने रघुवंश के द्वितीय सर्ग के 53वें श्लोक¹ में क्षत्र शब्द को क्षत्रिय के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है । रघुवंश के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने भी इस श्लोक के क्षत्र शब्द को क्षत्रवर्ण अर्थात् क्षत्रिय वर्ण का वाचक ही माना है ।

स्वयं वेद में भी बृहस्पति को ब्राह्मण कहा गया है । ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 96वें सूक्त में ओषधियों का वर्णन है । इस सूक्त में 23 मंत्र हैं । इसी भाँति यजुर्वेद के वारहवें अध्याय के 75 से 101 तक 26 मंत्रों में भी ओषधियों का ही वर्णन है । यजुर्वेद के इन मंत्रों में ऋग्वेद 10.96 सूक्त से 3 मंत्र अधिक हैं तथा शेष मंत्रों में कहीं-कहीं हलकी शाब्दिक भिन्नता भी है । वर्ण्य वस्तु दोनों की एक ही है । ऋग्वेद 10.96.15 और 19वें मंत्रों में ओषधियों को 'बृहस्पति-प्रसूताः' कहकर कहा गया है कि वे रोगी को रोग से मुक्त करें और रोग से दुर्बल रोगी को वीर्य अर्थात् शक्ति प्रदान करें । यजुर्वेद 12.89 और 93 मंत्रों में यही बात कही गई है । इसी भाँति अथ० 6.96.1 मंत्र में भी ओषधियों को 'बृहस्पतिप्रसूताः' कहकर उनसे कहा गया है कि वे रोग से मुक्ति दिलावें । सायण ने ऋग्वेद के इन दोनों मंत्रों में बृहस्पति-प्रसूताः का अर्थ 'बृहस्पति द्वारा अनुज्ञा दी गई' ऐसा किया है । उवट ने भी यजुर्वेद के इन मंत्रों में प्रयुक्त इस शब्द का यही अर्थ किया है । महीधर ने यजुर्वेद के इन मंत्रों के इस शब्द का अर्थ 'बृहस्पति द्वारा प्रेरित' ऐसा किया है । 'प्रसूत' शब्द के अनुज्ञात अर्थ में 'बृहस्पति प्रसूत' शब्द का भाव यह होगा कि जिन ओषधियों के प्रयोग की अनुमति या स्वीकृति बृहस्पति ने दे दी है । 'प्रसूत' के प्रेरित अर्थ में भाव यह होगा कि जिन ओषधियों को बृहस्पति ने रोगी के लिए प्रेरित किया है अर्थात् रोगी को दिया है । अथर्ववेद के इस मंत्र के भाष्य में सायण ने इस भाव को और अधिक स्पष्ट कर दिया है । वहाँ उन्होंने 'बृहस्पति प्रसूताः' शब्द का अर्थ लिखा है—'बृहस्पतिना तत्तद्भोगमैषज्येषु प्रसूताः प्रेरिताः विनियुक्ता इत्यर्थः ।' अर्थात् 'बृहस्पति के द्वारा विभिन्न रोगों की ओषधियों के रूप में प्रेरित की गई अर्थात् विनियुक्त की गई ।' विनियुक्त की गई का अर्थ रोगी को दी गई ऐसा है ।

सायण आदि ने इन मंत्रों में प्रयुक्त 'बृहस्पति प्रसूताः' शब्द के 'प्रसूत' पद को संस्कृत की 'षु' धातु से जिसका एक अर्थ 'प्रसव' अर्थात् 'अभ्यनुज्ञान' अर्थात् अनुमति देना भी होता है तथा 'षु' धातु से जिसका अर्थ प्रेरणा करना होता है निष्पन्न माना है । इस पद को 'षूङ्' धातु से निष्पन्न भी माना जा सकता है जिसका अर्थ उत्पन्न करना होता है । तब 'बृहस्पति-प्रसूताः' का अर्थ होगा बृहस्पति के द्वारा बनाई गई ओषधियाँ । प्रसूत पद को इनमें से किसी भी धातु से निष्पन्न मान लें ओषधियों के 'बृहस्पति-प्रसूताः' विशेषण का तात्पर्यार्थ यही होगा कि बृहस्पति के द्वारा रोगियों को दी गई ओषधियाँ ।

¹ क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः ।

इस प्रकार वेद के इन प्रकरणों में रोगी को ओषधि देकर उसके रोग का निवारण और दुर्बलता दूर करने वाले चिकित्सक व्यक्ति के लिए बृहस्पति शब्द का प्रयोग किया गया है ।

इससे पूर्व ऋग्वेद और यजुर्वेद के निम्नांकित मंत्र में कहा गया है कि—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।

विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः ॥

ऋग्० 10.97.6; यजु० 12.80.

अर्थात्—जिसमें ओषधियाँ इस प्रकार आकर एकत्र हो जाती हैं जिस प्रकार राजा लोग समितियों में एकत्र हो जाते हैं, रोग-कीटाणुओं को मारने वाला (रक्षोहा) और रोगों का नाश करने वाला वह ब्राह्मण (विप्रः) चिकित्सक (भिषक्) कहा जाता है । इस मंत्र में चिकित्सक को 'विप्र' अर्थात् ब्राह्मण कहा गया है । साथ ही उस चिकित्सक को कुशल चिकित्सक बताया गया है जिसके मस्तिष्क में सभी प्रकार की ओषधियों का ज्ञान रहता है और जो इस ज्ञान के आधार पर जिस समय जिस ओषधि के प्रयोग की आवश्यकता हो उस समय उसी का प्रयोग करके रोगी को लाभ पहुँचा सकता है ।

फिर आगे ऋग्वेद और यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में चिकित्सक के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥

ऋग्० 10.97.22; यजु० 12.96.

अर्थात्—ओषधियाँ राजा सोम के साथ संवाद करती हैं और कहती हैं कि हे राजन् ब्राह्मण चिकित्सक जिस रोगी के लिए हमें देता है हम उसको रोग से पार कर देती हैं । इस मंत्र में भी चिकित्सक के लिए ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया गया है । सोम एक बहुत अधिक गुणकारी ओषधि है । वेद में और चरक आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसका बड़ा गुण गाया गया है । इसमें शरीर का कायाकल्प तक कर देने की शक्ति बताई जाती है । इस कारण सोम को ओषधियों का राजा कह दिया गया है और कवितामय आलंकारिक रूप में उसके साथ ओषधियों के संवाद का वर्णन कर दिया गया है । इस संवाद की ध्वनि यह है कि कुशल चिकित्सक को सोम और तदुपलक्षित अन्य ओषधियों की सहायता से विभिन्न रोगों का इलाज करना चाहिए ।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि वेद के इन प्रकरणों में चिकित्सक को बृहस्पति भी कहा गया है, ब्राह्मण भी कहा गया है और उसके लिए ब्राह्मण का ही वाचक दूसरा शब्द विप्र भी प्रयुक्त किया गया है । फलतः जो बृहस्पति है वही ब्राह्मण भी है । इस भाँति वेद से ही सिद्ध हो जाता है कि बृहस्पति ब्राह्मण का वाचक भी है ।

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद 2.12 में बृहस्पति के लिए कहा गया है कि 'बृहस्पतये ब्रह्मणे' । यहाँ बृहस्पति को ब्रह्म कहा गया है । ब्रह्म का अर्थ ब्राह्मण भी

यु.सं.
१५२

होता है यह हमने अभी ऊपर की पंक्तियों में ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर देखा ही है।
यहाँ अथर्ववेद के 15.10 सूक्त के 3-5 मंत्र भी देखने योग्य हैं। तीनों मंत्र इस प्रकार हैं—

1. अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ।

अथ० 15.10.3.

2. अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ।

अथ० 15.10.4.

3. अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ।

अथ० 15.10.5.

मंत्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है (1) ब्रह्म और क्षत्र उठे और बोले कि हम किस में प्रविष्ट होकर रहें ? (2) बृहस्पति में ब्रह्म प्रविष्ट होकर रहे और इन्द्र में क्षत्र । (3) बृहस्पति में ब्रह्म प्रविष्ट हो गया और इन्द्र में क्षत्र । ब्रह्म और क्षत्र शब्द जहाँ एक साथ प्रयुक्त हों वहाँ वे क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रिय के वाचक होते हैं यह हमने ऊपर देखा ही है। इन मंत्रों में ब्रह्म और क्षत्र के बृहस्पति और इन्द्र में प्रवेश करने की बात कही जा रही है। ब्राह्मण और क्षत्रिय का व्यक्ति रूप में तो प्रवेश संभव नहीं है। इसलिए यहाँ लक्षणा से ब्रह्म और क्षत्र का अर्थ ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय के गुण समझ लेना चाहिए। ब्राह्मणत्व के गुण बृहस्पति में प्रविष्ट हो गये और क्षत्रियत्व के गुण इन्द्र में प्रविष्ट हो गये। मंत्रों के इस काव्यमय वर्णन का ध्वनितार्थ यह है कि बृहस्पति ब्राह्मणत्व के गुणवाला अर्थात् ब्राह्मण है और इन्द्र क्षत्रियत्व के गुण वाला अर्थात् क्षत्रिय है। इस प्रकार बृहस्पति का अर्थ ब्राह्मण सुस्पष्ट है।

चिकित्सक ब्राह्मण होना चाहिए

ऊपर ऋग्० 10.94 सूक्त के और यजुर्वेद के बारहवें अध्याय के कुछ मंत्रों की विवेचना करते हुए हमने देखा है कि चिकित्सक को वेद में ब्राह्मण कहा गया है। चिकित्सक के लिए इस ब्राह्मण शब्द के प्रयोग से यह इंगित होता है कि वेद की सम्मति में चिकित्सा का कार्य ब्राह्मण को ही करना चाहिए। जो ब्राह्मण वृत्ति का नहीं है उस व्यक्ति को चिकित्सा का कार्य नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण पैसे के लोभ से चिकित्सा नहीं करता है। वह तो व्याधि पीड़ित जनता की पीड़ा को शान्त करने की उदात्त भावना से प्रेरित होकर निःस्वार्थ भाव से यह कार्य करता है। उसके आगे पैसे का प्रश्न ही नहीं होता। वह गरीब और अमीर सबकी एक समान सेवा करता है। वह किसी से अपनी सेवा के बदले में कुछ नहीं माँगता। वह किसी से कुछ नहीं ठहराता। अपनी श्रद्धा और शक्ति के अनुसार लोग उसे बिना माँगे जो कुछ दे देते हैं वह उसी से अपनी जीविका चलाता है। वह दक्षिणा पर जीता है, फीस और वेतन पर नहीं। ऐसी निर्लोभ और निःस्वार्थ वृत्ति के ब्राह्मण लोगों के हाथ में जब चिकित्सा

का कार्य रहेगा तभी जन-सामान्य का सही अर्थों में व्याधियों की विभीषिका से त्राण हो सकेगा ।

बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति भी

इन्द्र के साथ ब्रह्मणस्पति का भी समस्त और असमस्त दोनों रूपों में अनेक स्थानों पर वेद में वर्णन आता है । सायण आदि भाष्यकारों ने बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति को दो पृथक्-पृथक् देवता माना है । इन भाष्यकारों ने इन दोनों के स्वरूप पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला है । जहाँ-जहाँ ये शब्द आये हैं वहाँ इनका अर्थ करते हुए उन्होंने प्रायः यही लिख दिया है कि 'एतन्नामकः देवः' अर्थात् 'इस नाम वाला एक देव विशेष' । हमारी सम्मति में ये दोनों पृथक्-पृथक् दो देवता नहीं हैं । एक ही देवता के ये दो नाम हैं ।

इस सम्बन्ध में पहले ब्राह्मण ग्रन्थों की साक्षी लीजिए । तैत्तरीय ब्राह्मण में बृहस्पति को ब्रह्मणस्पति भी कहा गया है । वहाँ बृहस्पति को संबोधन करते हुए कहा गया है कि—

बृहस्पते ब्रह्मणस्ते ।

तै० 3.11.4.2.

इस उद्धरण में बृहस्पति को ब्रह्मणस्पति कहकर संबोधन किया गया है । फिर बृहस्पति की भाँति ही ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्मणस्पति को भी 'ब्रह्म' कहा गया है । उदाहरण के लिए देखिये—

ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः ।

कौ० 8.5, 9.5; तां० 16.5.8.

अब, ब्रह्म का अर्थ ब्राह्मण भी होता है यह हम ऊपर के पृष्ठों में विस्तार से दिखा चुके हैं । जिस प्रकार बृहस्पति ब्राह्मण है उसी प्रकार ब्रह्मणस्पति भी ब्राह्मण है । दूसरे शब्दों में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति ब्राह्मण के नाम हैं ।

वेद में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति के वर्णन भी प्रायः एक जैसे ही आते हैं । ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति के लिए कहा गया है कि—

यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ।

ऋग्० 7.97.3.

अर्थात्—'जो ब्रह्मणस्पति देवकृत अर्थात् परमात्मदेव द्वारा बनाये गये ब्रह्म अर्थात् वेद का राजा है ।' ब्रह्मणस्पति को वेद का राजा कहने का अभिप्राय यह है कि उसे वेद और उससे उपलक्षित विद्या-विज्ञानों पर पूरा आधिपत्य प्राप्त है । इसी भाँति बृहस्पति के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कहा गया है कि—

बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चतु ।

ऋग्० 10.36.5.

अर्थात्—‘ऋचाओं वाला अर्थात् ऋग्वेद का ज्ञाता (ऋक्वः)¹ बृहस्पति सामवेद के मन्त्रों से (सामभिः) अर्चना करे।’ उसके इस वर्णन के अनुसार बृहस्पति भी ऋग्वेद और सामवेद और तदुपलक्षित अन्य वेदों का ज्ञाता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में बृहस्पति के लिए कहा गया है कि—

बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् ।

अथ० 5.26.12.

अर्थात्—‘हे बृहस्पति तुम ब्रह्म अर्थात् वेद के साथ हमारे पास आओ।’ बृहस्पति ब्रह्म अर्थात् वेद का ज्ञाता है। उससे वेद ज्ञान की चर्चा सुनने के लिए उसे बुलाया जा रहा है। इस प्रकार वेद के ज्ञाता रूप में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति का वर्णन एक समान है।

ऋग्वेद 2.24.9 मन्त्र में ब्रह्मणस्पति को पुरोहित कहा गया है। इसी भाँति बृहस्पति को भी यजुर्वेद 20.11 मन्त्र में पुरोहित कहा गया है।

वेद के कितने ही सूक्तों में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति के इकट्ठे वर्णन आते हैं। वहाँ इन दोनों के वर्णनों को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये दोनों एक ही हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद 7.9 सूक्त देखिए। इसके दूसरे मन्त्र में बृहस्पति का वर्णन है। बृहस्पति के लिए मन्त्र में एक वाक्य आता है कि ‘यो नो दाता परावतः पितेव’ अर्थात् ‘जो बृहस्पति दूर से आकर भी हमें पिता की भाँति सत्परामर्श देने वाला है।’ तीसरे मन्त्र में ब्रह्मणस्पति का वर्णन है और उसके लिए कहा गया है कि ‘तमु ज्येष्ठं नमसा’—‘ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे’ अर्थात् ‘उसी ज्येष्ठ अर्थात् अतिशय प्रशंसनीय ब्रह्मणस्पति की मैं नमस्कारपूर्वक स्तुति करता हूँ।’ इस मन्त्र का ‘तमु’—‘उसी को’ यह सर्वनाम पद ऊपर के दूसरे मन्त्र के ‘यः’—‘जो’—इस सर्वनाम पद का परामर्श (Reference) करता है। दोनों मन्त्र मिलकर कह रहे हैं कि जो पिता की तरह सत्परामर्श देता है उसी की मैं नमस्कारपूर्वक स्तुति करता हूँ। इन दोनों मन्त्रों में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति पृथक्-पृथक् दो व्यक्ति न रहकर एक हो जाते हैं। एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। तीसरे मन्त्र में ब्रह्मणस्पति का वर्णन होने के पश्चात् पुनः चौथे मन्त्र में बृहस्पति का वर्णन है और उसके लिए कहा गया है कि ‘स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठो बृहस्पतिर्विश्ववारो यो अस्ति।’ अर्थात् ‘अतिशय प्यारा वह बृहस्पति जो कि सबके लिए वरण करने योग्य है हमारे स्थान में आकर बैठे।’ ‘सः’—‘वह’—यह सर्वनाम पद जिसका पहले वर्णन हो चुका है उसकी ओर परामर्श (Reference) करता है। ऊपर के तीसरे मन्त्र में ब्रह्मणस्पति का वर्णन हुआ है और उसी की ओर यह सर्वनाम पद संकेत कर रहा है। इस प्रकार तीसरे और चौथे मन्त्रों का यह वर्णन भी बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति को एक ही सिद्ध कर रहा है, उन्हें पर्यायवाची ही बता रहा है। आगे आठवें मन्त्र तक सूक्त में बृहस्पति का ही

¹ ऋग्भिस्तद्वान् ऋक्वः । ऋच् प्रातिपदिकात् भत्वर्थे छन्दसीवनिपी इति वार्तिकेन वनिम् ।

वर्णन है। फिर नवें मन्त्र में उसी को ब्रह्मणस्पति कह दिया गया है। और अन्तिम दसवें मन्त्र में फिर उसी को बृहस्पति कह दिया गया है।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के 23वें और 24वें सूक्तों में भी बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति का इकट्ठा वर्णन हुआ है। इन सूक्तों को देखने से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति वस्तुतः एक ही हैं। ऋग्० 2.23 सूक्त में 19 मन्त्र हैं। इनमें से 1, 5, 9, 11, 17, 19 इन 6 मन्त्रों का देवता ब्रह्मणस्पति है। इन मन्त्रों में या तो ब्रह्मणस्पति से कोई याचना की गई है या उसके किन्हीं गुणों और महिमा का वर्णन किया गया है। सूक्त के शेष 13 मन्त्रों का देवता बृहस्पति है। इन मन्त्रों में या तो बृहस्पति से कोई याचना की गई है या उसके किन्हीं गुणों और महिमा का वर्णन किया गया है। सूक्त के मन्त्रों को थोड़ा सा भी ध्यान से पढ़ने पर किसी भी पाठक को यह स्पष्ट दीखेगा कि सूक्त में जिसे बृहस्पति कहा गया है उसी को ब्रह्मणस्पति भी कहा गया है। सूक्त में वर्णनीय व्यक्ति का सुसंगत और क्रमबद्ध वर्णन चल रहा है। किसी मन्त्र में उसे ब्रह्मणस्पति कह दिया जाता है और किसी में बृहस्पति। उदाहरण के लिए सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों को ही लीजिये—

1. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्वस्तमम्।

ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥

ऋग्० 2.23.1.

2. देवाश्चित् ते असुर्यं प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः।

उस्मा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि ॥

ऋग्० 2.23.2.

दोनों मन्त्रों का सीधा शब्दार्थ इस प्रकार है—(1) गणों के गणपति, कवियों के कवि, अतिशय उपमेय यश वाले, ब्राह्मणों या वेद-मन्त्रों के (ब्रह्मणां) ज्येष्ठराज, हे ब्रह्मणस्पति हम तुम्हें (त्वा) बुलाते हैं, तुम हमारी प्रार्थना को सुनते हुए अपनी रक्षा के साथ हमारे स्थान में आकर बैठो। (2) प्राणों के लिए, जीवन के लिए हितकारी (असुर्य) हे बृहस्पति ज्ञानवान् देव भी तेरे (ते) यज्ञिय भाग को अर्थात् तुझसे मिलने वाले उपदेश आदि के भाग को प्राप्त करते हैं, महान् सूर्य जैसे अपनी ज्योति से किरणों को उत्पन्न करता है उसी प्रकार तुम सब ब्राह्मणों या वेद मन्त्रों के (ब्रह्मणां) अर्थात् वेद-मन्त्रों में निहित ज्ञान को उत्पन्न करने वाले (जनिता) हो।

इन मन्त्रों के प्रत्येक शब्द के भाव को यहाँ विशद करने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम मन्त्र में ब्रह्मणस्पति को जो ब्राह्मणों या वेद-मन्त्रों का ज्येष्ठराज कहा है उसका तात्पर्य यह है कि वह अपनी अतिशय ऊँची योग्यता के कारण ब्राह्मणों का राजा है अर्थात् महान् गुणी ब्राह्मण है, तथा वेद-मन्त्रों का भी राजा है अर्थात् वेद और उससे उपलक्षित विद्या-विज्ञानों पर उसका आधिपत्य है, उनका महान् ज्ञाता है। दूसरे मन्त्र में यह जो कहा गया है कि बृहस्पति ब्राह्मणों और वेद-मन्त्रों का जनिता है उसका तात्पर्य यह है कि वह अपनी योग्यता और शिक्षा के द्वारा राष्ट्र में

नये-नये ब्राह्मणों का, ब्राह्मणवृत्ति के लोगों का, निर्माण करता रहता है, तथा वेद-मन्त्रों में निहित ज्ञान-रहस्यों का पता लगाकर वह उनका प्रचार जनता में करता रहता है। ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति ब्राह्मण के वाचक हैं इसे ध्यान में रखकर विश्व पाठक इन दोनों मन्त्रों के शेष कथनों का विशद अभिप्राय स्वयं उद्घाटित कर सकते हैं तथा इस आधार पर सूक्त के शेष मन्त्रों की व्याख्या भी स्वयं कर सकते हैं।

यहाँ हमने इन दोनों मन्त्रों को जिस अभिप्राय से उद्धृत किया है उसकी ओर ध्यान दीजिये। पाठक दोनों मन्त्रों पर ध्यान से दृष्टिपात करेंगे तो वे देखेंगे कि प्रथम मन्त्र में जिस ब्रह्मणस्पति को 'त्वा'—तुझको—इस सर्वनाम पद द्वारा बुलाया गया है उसी को दूसरे मन्त्र में बृहस्पति कहकर 'ते'—तेरा—इस सर्वनाम पद द्वारा सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति एक ही हो जाते हैं। फिर एक बात की ओर और भी ध्यान दीजिये। प्रथम मन्त्र में ब्रह्मणस्पति को 'ब्रह्मणां ज्येष्ठराजः' कहा गया है तो दूसरे मन्त्र में बृहस्पति को 'ब्रह्मणां जनिता' कह दिया गया है। दोनों के इन दोनों विशेषणों का तात्पर्यार्थ एक ही है जैसा कि अभी ऊपर की पंक्तियों में हमने देखा है। उनके इन विशेषणों से भी ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति एक ही हैं यह स्पष्ट प्रकट होता है। सारे ही सूक्त में ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति वस्तुतः एक ही हैं इसे सूक्त का आपाततः अध्ययन करने वाला भी कोई व्यक्ति भली-भाँति देख सकता है।

ऋग्० 2.24 सूक्त की भी यही स्थिति है। उसमें भी ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति एक ही हैं। सूक्त के कुछ मन्त्रों में उसे ब्रह्मणस्पति कह दिया गया है और कुछ में बृहस्पति। सूक्त पर आपाततः दृष्टिपात करने पर भी यह स्थिति पाठक पर भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। इस सम्बन्ध में यहाँ और अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

वेद में बृहस्पति नाम का अधिक प्रयोग

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में कुल मिलाकर कोई 235 बार बृहस्पति शब्द का प्रयोग हुआ है। इसकी तुलना में ब्रह्मणस्पति शब्द का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। इन्द्र के साथ द्वन्द्व समास में 'इन्द्राबृहस्पती' इस रूप में बृहस्पति शब्द का प्रयोग वेद में 8 बार हुआ है। जबकि ब्रह्मणस्पति का इन्द्र के साथ 'इन्द्राब्रह्मणस्पती' इस रूप में द्वन्द्व समास में प्रयोग एक ही बार हुआ है। वेद के पद-पाठकारों ने बृहस्पति शब्द को तो एक पद माना है परन्तु उन्होंने ब्रह्मणस्पति शब्द को एक पद नहीं माना है। वे पद-पाठ में ब्रह्मणस्पति शब्द में 'ब्रह्मणः-पतिः' इस प्रकार दो पद मानते हैं। केवल एक स्थान में ऋग्० 2.24.12 में जहाँ यह शब्द 'इन्द्राब्रह्मणस्पति' इस रूप में समस्त होकर आया है, पद-पाठकारों ने इसे ब्रह्मणस्पति ऐसा एक पद माना है। बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति दोनों शब्द समस्त हैं, दो पदों से मिलकर बने हैं। समस्त शब्द होने पर भी जब उन्होंने बृहस्पति को एक पद माना है तो उन्होंने

ब्रह्मणस्पति को अन्यत्र एक पद क्यों नहीं माना यह कुछ समझ में नहीं आता । निरुक्तकार यास्क ने तो बृहस्पति की भाँति ही ब्रह्मणस्पति को भी निघण्टु¹ में एक पद माना है और निरुक्त में उसकी व्याख्या की है ।² निघण्टु और निरुक्त के आधार पर ऋषि दयानन्द ने भी ब्रह्मणस्पति को एक पद माना है । कुछ भी हो चाहे ब्रह्मणस्पति को एक पद माना जाये और चाहे दो पद माना जाये यह शब्द वेद में अधिकांशतः बृहस्पति का ही वाचक और पर्याय है । और ये दोनों शब्द ब्राह्मण के वाचक हैं । वेद में बृहस्पति शब्द के प्रयोग की बहुलता के कारण हमने इस प्रकरण का शीर्षक उसी के नाम पर रखा है ।

बृहस्पति का अपना विशिष्ट स्वरूप

अधिराष्ट्र अर्थ में बृहस्पति का अपना विशिष्ट स्वरूप क्या है यह अब हमने देखना है । इसके निर्धारण के लिए बृहस्पति के कार्यों का वेद में जो वर्णन आता है उस पर हमें दृष्टिपात करना होगा । इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखने योग्य हैं—

1. स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण ।

बृहस्पति यः सुभृतं बिभर्ति बलूयति बन्दते पूर्वभाजम् ॥

ऋग्० 4.50.7.

2. स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम् ।

तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्वं ऐति ॥

ऋग्० 4.50.8.

3. अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यानुयुत या सजन्या ।

अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥

ऋग्० 4.50.9.

जिस सूक्त के ये मन्त्र हैं उसमें बृहस्पति और इन्द्र का वर्णन है । सूक्त के 10वें और 11वें मन्त्र में इन्द्र का स्पष्ट उल्लेख है और उद्धृत इन 7-9 मन्त्रों में इन्द्र का राजा नाम से उल्लेख किया गया है । प्रधान रूप से सूक्त में बृहस्पति का वर्णन है । जो इन्द्र अर्थात् राजा बृहस्पति अर्थात् ब्राह्मणों की रक्षा करता है, उनकी पालना करता है और उन्हें पास रखकर उनके परामर्श से काम करता है, उसे क्या लाभ होता है इसकी ओर उन उद्धृत मन्त्रों में संकेत किया है । मन्त्रों का क्रम से शब्दार्थ इस प्रकार है—(1) वही राजा प्रतिद्वन्द्वी शत्रुओं द्वारा किये गये सब युद्धों पर (प्रतिजन्यानि) अपने बल और पराक्रम से विजय प्राप्त करता है जो बृहस्पति को उसका भली-भाँति भरण-पोषण करके रखता है, उसकी अर्चना

¹ निघ० 5.4 ।

² बृहस्पतिर्वृहतः पाता वा पालयिता वा । निरु० 10.1.12.

ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा । निरु० 10.1.13.

करता है (वल्लूयति)¹, उसका अभिवादन करता है और उसको पूर्वभाक् (पूर्वभाजम्) अर्थात् सब कामों में आगे रहने वाला बनाकर रखता है अर्थात् सब कामों में उसका परामर्श लेता है। (2) वही राजा अपने घर में (ओकसि) अर्थात् घर से उपलक्षित अपने राष्ट्र में भली-भाँति धारित और तृप्त होकर (सुधितः) निवास करता है, उसके लिए भूमि (इळा) नाना प्रकार की सम्पत्तियों से समृद्ध होती है, उसके लिए सारी प्रजाएँ स्वयं ही प्रणत होती हैं अर्थात् दण्ड के भय के बिना स्वयं ही कर आदि देती रहती हैं, जिस राजा में अर्थात् जिस राजा के कामों में ब्रह्मा अर्थात् ब्राह्मण (बृहस्पति) पहले चलता है अर्थात् जिससे पहले परामर्श कर लिया जाता है। (3) वह राजा किसी से आक्रान्त न होकर (अप्रतीतः) प्रतिद्वन्द्वी शत्रुओं के (प्रति-जन्यानि) और अपनी जनता के (सजन्या) धनों को जीत लेता है जो राजा रक्षण चाहने वाले ब्राह्मण के लिए, बृहस्पति के लिए (ब्रह्मणे) धन (वरिवः) देता है, देव उस राजा की रक्षा करते हैं।

शत्रुओं के धन को तो बृहस्पति के परामर्श पर चलने वाला युद्धादि के द्वारा जीतेगा और प्रजाजनों के धन को अर्थात् कर आदि को वह अपने प्रति प्रजाओं के स्नेह के कारण जीतेगा अर्थात् प्राप्त करेगा जैसा कि ऊपर दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि ऐसे राजा के लिए प्रजायें स्वयं ही प्रणत हो जाती हैं। देव उसकी रक्षा करते हैं मन्त्र के इस वाक्य का भाव कई प्रकार का हो सकता है। देव परमात्मा का भी वाचक होता है। परमात्मा अर्थ में 'देवाः' इस बहुवचन के प्रयोग को आदरार्थ समझना चाहिए। इस अर्थ में भाव यह होगा कि ऐसे राजा और उसके राज्य की परमात्मा रक्षा करते हैं। देव का अर्थात् विविध प्रकार के व्यवहार अर्थात् कार्य करने वाले राज्याधिकारी भी होता है। इस अर्थ में भाव यह होगा कि ऐसे राजा के सब राजकर्मचारी उसके साथ पूरा सहयोग करते हैं और इस प्रकार उसकी रक्षा करते हैं। देव का अर्थ विविध प्रकार के व्यवहार अर्थात् कार्य करने वाले प्रजाजन भी होता है। इस अर्थ में भाव यह होगा कि ऐसे राजा के प्रजाजन भाँति-भाँति के कामों में लगे रहकर राष्ट्र की नाना प्रकार की सम्पदा और समृद्धि को बढ़ाते हैं तथा राज्य को देय कर आदि को प्रसन्नतापूर्वक प्रदान करते हैं और इस प्रकार राजा और उसके राज्य की रक्षा करते हैं। देव शब्द 'दिवु' धातु से निष्पन्न होता है जिसका एक अर्थ व्यवहार करना भी होता है। देव का एक अर्थ विद्वान् भी होता है। इस अर्थ में भाव यह होगा कि ऐसे राजा के राज्य में विद्वान् लोग बड़ी संख्या में रहेंगे जिनके द्वारा राजा और उसके राज्य को बड़ा लाभ पहुँचेगा और इस प्रकार राजा और उसके राष्ट्र की रक्षा होगी।

इन तीनों मन्त्रों का तात्पर्यार्थ यह है कि बृहस्पति राजा को उत्तम परामर्श अर्थात् सलाह-मशवरा देता है जिस पर चलने के कारण राजा और उसके राष्ट्र की समृद्धि होती है, वह शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है, उसकी प्रजायें उससे स्नेह

¹ स्तोति इति सायणः । सरकरोति इति दयानन्दः । अर्चतिकर्मा । निधं० 3.14.

रखती हैं और राज्य को देय कर आदि प्रसन्नतापूर्वक देती रहती हैं। एक शब्द में बृहस्पति का काम राजा को, इन्द्र को, परामर्श देना है।

इसी प्रसंग में वेद का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।

यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥

ऋग्० 1.40.5.; यजु० 34.57.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—‘निश्चय ही ब्रह्मणस्पति प्रशंसनीय (उक्थ्यम्) मन्त्र बोलता है जिस मन्त्र में इन्द्र, वरुण, मित्र और अर्यमा देव निवास (ओकांसि) करते हैं।’

ब्रह्मणस्पति बृहस्पति का ही दूसरा नाम है यह हम ऊपर के पृष्ठों में देख चुके हैं। मन्त्र कहता है कि ब्रह्मणस्पति अर्थात् बृहस्पति प्रशंसा के योग्य सुन्दर मन्त्र बोलता है, जिस मन्त्र में इन्द्र आदि देव निवास करते हैं। मन्त्र का अर्थ विचार होता है। वेद के मन्त्रों को इसीलिए मन्त्र कहा जाता है क्योंकि उनमें उत्तम विचार दिये होते हैं। राज्य के मन्त्रियों को भी इसीलिए मन्त्री कहा जाता है क्योंकि वे राजा या राष्ट्रपति को राज्यकार्य में उत्तम विचार या सलाह देते हैं। ब्रह्मणस्पति के इन्द्र आदि देवों को मन्त्र कहने का भी यही भाव है कि वह उनको उत्तम मन्त्र अर्थात् विचार देता है, उन्हें हितकारी परामर्श देता है। इन्द्र आदि के द्वारा ब्रह्मणस्पति के मन्त्र में निवास करने का तात्पर्य यह है कि वे उसके मन्त्र को, उसके विचार को, उसके परामर्श को, ध्यान से सुनते हैं और उसके अनुसार कार्य करते हैं। जैसे किसी का घर उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार ब्रह्मणस्पति (बृहस्पति) का मन्त्र, उसका विचार और परामर्श, इन्द्र आदि की रक्षा करता है। इन्द्र आदि के अधिराष्ट्र स्वरूप पर हम इस अध्याय में विचार करते ही आ रहे हैं। ये विभिन्न राज्याधिकारियों के नाम हैं। ये सब राज्याधिकारी ब्रह्मणस्पति (बृहस्पति) के मन्त्र को, विचार को, सलाह और परामर्श को ध्यान से सुनते हैं और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करते हैं। इस मन्त्र में भी बृहस्पति का काम राज्याधिकारियों को परामर्श देना बताया गया है।

अब, बृहस्पति इन्द्र (सम्राट्) और अन्य राज्याधिकारियों को परामर्श किस स्थिति में रहकर देगा? इस सम्बन्ध में बृहस्पति के पुरोहित विशेषण से प्रकाश पड़ता है। यजु० 20.11 में बृहस्पति को पुरोहित कहा गया है। वहाँ इन्द्रादि देवों के विषय में कहा गया है कि बृहस्पति उनका पुरोहित है।¹ ऋग्० 2.24.9 मन्त्र में ब्रह्मणस्पति को पुरोहित कहा गया है। ब्रह्मणस्पति जैसा कि हमने ऊपर देखा है बृहस्पति का ही नाम है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं वेद में बृहस्पति को ब्राह्मण भी कहा गया है। बृहस्पति ब्राह्मण और पुरोहित है। उसका ब्राह्मण और पुरोहित होना यह ध्वनित करता है कि वह इन्द्रादि को एक ब्राह्मण के रूप में उनका पुरोहित

¹ बृहस्पतिपुरोहित देवा। यजु० 20.11.

होकर उन्हें अपने मंत्र से, अपने विचार और परामर्श के द्वारा सहायता पहुँचाता है।

राजा को पुरोहित भी अपने यहाँ रखना चाहिए इस सम्बन्ध में अथ० 3.19 सूक्त से बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। यह 8 मन्त्रों का सूक्त है। इसमें एक पुरोहित बोल रहा है। वह कह रहा है कि 'मेरा ब्रह्म अर्थात् वेद और उससे उपलक्षित अन्य विद्या-विज्ञानों का ज्ञान बड़ा तीक्ष्ण है, बड़ा सूक्ष्म और गहरा है, मेरा बल और पराक्रम भी बड़ा तीक्ष्ण है, विजयशील अर्थात् विजय दिलाने वाला मैं जिन लोगों का पुरोहित हूँ उनके क्षत्रिय लोग तीक्ष्ण अर्थात् शत्रुओं द्वारा असह्य हो जाते हैं, अजर हो जाते हैं अर्थात् उन्हें शीघ्र जरा अर्थात् बुढ़ापा नहीं आता और उन्हें कोई जीर्ण नहीं कर सकता, तोड़ नहीं सकता, पराजित नहीं कर सकता'¹ (अथ० 3.19.1)। 'मैं जिनका पुरोहित हूँ उनके राष्ट्र को तीक्ष्ण बना देता हूँ अर्थात् उसके तेज और शक्ति को शत्रु सहन नहीं कर सकते, मैं उनके ओज अर्थात् मानसिक तथा आत्मिक शक्ति को, उनके बल अर्थात् शारीरिक शक्ति और सैन्य बल को और उनके वीर्य अर्थात् पराक्रम और शौर्य को तीक्ष्ण अर्थात् दुर्घर्ष बना देता हूँ'² (अथ० 3.19.2)। इसी प्रकार के उद्गारों को पुरोहित सूक्त के सारे मन्त्रों में प्रकट कर रहा है और अपने राष्ट्र के लोगों को मिल रही विजयों पर विजयों का वखान कर रहा है। पुरोहित ने सूक्त के तीसरे मन्त्र में अपने राष्ट्र के राजा का मधवा (इन्द्र) नाम से उल्लेख किया है। छठे मन्त्र में अपने राजा को पुरोहित मधवा और इन्द्र दोनों नामों से कह रहा है। इसी मन्त्र में राष्ट्र के सैनिकों को 'मरुतः' नाम से कहा गया है। फिर सातवें मन्त्र में इन्हीं सैनिकों को 'नरः' अर्थात् वीर पुरुषों के नाम से कहा गया है। सारा ही सूक्त पुरोहित के वीर रस से भरे उद्गारों से ओतप्रोत है। काव्य की दृष्टि से वीर रस का बड़ा सुन्दर परिपाक इस सूक्त में हुआ है। वेद ने स्वयं अपने आपको परमात्मा का अमर काव्य कहा भी तो है।³ यह सारा सूक्त पढ़ने योग्य है। पुरोहित अपने उपदेशों, विचारों और परामर्शों के द्वारा अपने राष्ट्र और उसके लोगों को इस प्रकार के तेजस्वी, वीर, पराक्रमी, दुर्घर्ष और अपराजेय बना देता है। इस प्रकार अथर्ववेद के इस सूक्त में वेद ने अपने कहने के काव्यमय ढंग में स्पष्ट कह दिया है कि सम्राट् को अपने यहाँ पुरोहित की नियुक्ति भी करनी चाहिए।

बृहस्पति का मानव और राजा रूप

पीछे हमने कई जगह कहा है कि वेद में देवों को 'नरः' अर्थात् मनुष्य कहा गया है। बृहस्पति भी वेद के देवों में एक देव है। इसलिए वह भी मनुष्य ही है। वह किसी कल्पित पौराणिक स्वर्ग विशेष में रहने वाला कोई देव विशेष नहीं है,

¹ शशितं म इदं ब्रह्म शशितं वीर्यवलम्।

शशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वैधामस्मि पुरोहितः ॥ अथ० 3.19.1.

² समहमेपां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यवलम्। अथ० 3.19.2.

³ देवस्य पथ्य काव्यं न ममार जीर्यति। अथ० 10,8,32.

और न वह कल्पित स्वर्ग में रहने वाले पौराणिक देवों का गुरु ही है जैसा कि पौराणिक साहित्य में उसे बताया गया है।¹ वह तो नर (मनुष्य), ब्राह्मण और पुरोहित होने के नाते मनुष्यों का ही गुरु है। हमने ऊपर कई जगह यह भी देखा है कि वेद में देवों के लिए राजा और सम्राट् शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। बृहस्पति भी देवों में ही एक देव है। इसलिए उसे भी राजा और सम्राट् कहा गया समझना चाहिए। अथ० 4.1.5 मन्त्र में स्वयं बृहस्पति के लिए भी सम्राट् शब्द का प्रयोग किया गया है। बृहस्पति की एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में बृहस्पति का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें मिलने लगती हैं। जैसा कि हम इस ग्रन्थ में निरन्तर देखते आ रहे हैं वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र है। बृहस्पति तो इन्द्र का सहचारी और सहयोगी है। बृहस्पति को राजा या सम्राट् कहने का तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए कि वह इन्द्र का सहयोगी एक उच्च राज्याधिकारी है जिसे आजकल की प्रचलित भाषा में मन्त्री कहा जाता है। अपने विभाग के कार्यों के संचालन के लिए उसे शक्ति इन्द्र (सम्राट्) से ही प्राप्त होती है, और वह उस रूप में इन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में ही कार्य करता है, इसलिए वह एक दृष्टि से सम्राट् ही है। बृहस्पति के लिए सम्राट् शब्द का प्रयोग गौणी वृत्ति से किया गया समझना चाहिए। उसके साथ राजा या सम्राट् शब्द प्रयोग केवल उसकी अधिकार-सम्पन्नता को सूचित करता है। बृहस्पति को पुरोहित कहना और उसे इन्द्र का सहकारी तथा उच्च अधिकार-सम्पन्न बताना यह सूचित करता है कि वह पुरोहित विभाग का सर्वोच्च अधिकारी या मन्त्री है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के शब्द का प्रयोग करें तो वह मन्त्रि-पुरोहित है।

वेद की राजाओं के अपने यहाँ पुरोहित नियुक्त करके रखने सम्बन्धी इस शिक्षा के आधार पर ही प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय आर्य राजा अपने मन्त्रि-मण्डलों में एक पुरोहित भी रखा करते थे। कौटिल्य और मनु आदि सभी नीतिकारों और धर्मशास्त्रकारों ने राजा के लिए मन्त्रिमण्डल में पुरोहित नियुक्त करने का विधान किया है। कौटिल्य ने तो इस पुरोहित को मन्त्रि-पुरोहित² ही कहा है। मनु ने उसे पुरोहित³ कहा है।

पुरोहितों की शृंखला

भारत की वैदिक आर्य परम्परा में पुरोहितों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस परम्परा में प्रत्येक गृहस्थ परिवार का अपना पुरोहित होता है। आर्यों में परिवारों के पुरोहितों की यह प्रथा अभी तक विद्यमान है। आज भी आर्यों (हिन्दुओं) के परिवारों के अपने-अपने पुरोहित होते हैं। अब इन पुरोहितों का काम केवल अपने

¹ बृहस्पति: सुराचार्यो गोपतिधिवणो गुरुः । अमरकोषः ।

² कौटिलीय अर्थशास्त्र, 1.5 ।

³ मनु० 7.78 ।

यजमानों के घरों में समय-समय पर विवाह आदि संस्कार करा देना ही रह गया है। प्राचीन काल में ये पुरोहित लोग वस्तुतः परिवारों के गुरु होते थे। ये लोग परिवारों के सदस्यों के चरित्र का निर्माण करते थे। उन्हें अपने उपदेशों और सत्परामर्शों के द्वारा असन्मार्ग पर चलने से रोकते थे। अपने जीवन को सदाचरण का नमूना बना कर यजमान-परिवारों के व्यक्तियों के आगे उदाहरण के रूप में रखते थे। यजमान-परिवार भी इन पुरोहितों को गुरु के रूप में ही धारण करते थे और आदर तथा श्रद्धा के साथ उनके आदेशों का पालन करते थे। पुरोहित लोग यजमान-परिवारों के परम हितैषी तथा परिवारों का अंग सा ही होते थे। ये लोग संकट के समय भारी से भारी कष्ट उठाकर भी अपने यजमान-परिवारों की सहायता करते थे। कभी-कभी तो ये लोग अपने यजमानों के भले के लिए अपने प्राणों की आहुति तक दे डालते थे। जब महाराणा प्रतापसिंह और उनका भाई शक्ति सिंह किसी बात पर क्रुद्ध होकर एक दूसरे को मारने के लिए शस्त्र हाथ में लेकर लड़ने लगे तो उनका पुरोहित उन्हें इस युद्ध से रोकने के लिए उन दोनों के बीच में आकर खड़ा हो गया था और उसने उनके शस्त्रों से आहत होकर अपने प्राणों की आहुति दे दी थी जिसके परिणामस्वरूप दोनों भाई युद्ध से उपरत हो गये थे और उनका जीवन बच गया था। पुरोहित लोग अपने यजमान परिवारों के सदस्यों की चारित्रिक उन्नति तथा सर्वविध मंगल की कितनी चिन्ता रखते थे यह रामायण में वर्णित श्रीरामचन्द्र जी आदि रघुवंशी राजाओं के पुरोहित महर्षि वसिष्ठ आदि के चरित्र से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। ये पुरोहित लोग अपने यजमानों की अन्तरात्मा की पवित्रता के संवर्द्धक और रक्षक (Conscience keeper) होते थे। उन्हें अधर्म, अन्याय और पाप के मार्ग पर नहीं चलने देते थे; सदा धर्म, न्याय और सत्य के मार्ग पर चलने की ही प्रेरणा उन्हें देते थे।

प्राचीन भारतीय आर्यों की चारित्रिक श्रेष्ठता

इस प्रकार घर-घर में पुरोहित धारण करने की आर्यों की इस निराली प्रथा के कारण राष्ट्र की सर्वसाधारण जनता का चारित्रिक स्तर बहुत ऊँचा रहता था। जनता धर्म, न्याय और सत्य के मार्ग पर चलती थी और उसमें अपराध करने वाले व्यक्तियों की संख्या नहीं के बराबर होती थी। मैक्समूलर आदि अनेक पाश्चात्य लेखकों तक ने प्राचीन भारतीय आर्य जनता में पाये जाने वाले, हर हालत में सत्य का पालन करने और सब प्रकार के अपराधों से दूर रहने की प्रवृत्ति आदि महान् गुणों की अपने ग्रन्थों में भूरि-भूरि प्रशंसा की है। राष्ट्रव्यापी पुरोहितों की इस शृंखला के परिणामस्वरूप ही प्राचीन आर्यों में चरित्र की इतनी अधिक उच्चता सम्भव हो सकी थी।

पारिवारिक पुरोहितों की प्रथा का वैदिक आधार

प्राचीन भारतीय आर्यों में यह जो घर-घर में पारिवारिक पुरोहित रखने की

प्रथा थी जिसके अवशेष आज भी हमें उपलब्ध होते हैं, उसकी ओर वेद में स्पष्ट संकेत मिलते हैं। उदाहरण के लिए वेद के निम्न मंत्र देखिए—

1. विशो अदेवीरम्याश्चरन्तीर्वृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे । ऋग्० 8.96.15.
2. वृहस्पते प्र चिकित्सा गविष्टी । ऋग्० 6.47.20.
3. वृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः । अथ० 7.51.1.
4. सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं । ऋग्० 2.23.4.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) 'इन्द्र (सम्राट्) देव गुणों से रहित अर्थात् पाप का आचरण करने वाले (अदेवीः)¹ लोगों को (विशः) जब वे पाप का आचरण करते हैं (आचरन्तीः) तो अपने मित्र वृहस्पति के सहायता से पराजित कर देता है। राष्ट्र के लोग पाप कर्मों की ओर प्रवृत्त होकर अदेव आचरण न करने लगे, दिव्य अर्थात् पवित्र और सुन्दर गुणों से हीन आचरण न करने लगे, इसके लिए सम्राट् वृहस्पति की सहायता लेता है। उसकी सहायता से प्रजा के पापाचारी लोगों को जीत लेता है। भाव यह है कि वृहस्पति अर्थात् ब्राह्मण पुरोहित के उपदेशों और सन्मार्ग प्रदर्शन का सहारा लेकर सम्राट् राष्ट्र में पापाचारियों का अभाव कर देता है। मंत्र में प्रयुक्त 'विशः' शब्द सामान्य प्रजा का वाचक है। प्रजामात्र में जो अदेव पुरुष हैं वृहस्पति उन सब तक पहुँचता है और उनके पापाचरण का निराकरण करता है। ऐसा तभी हो सकता है जबकि वृहस्पतियों की संख्या अनेक हो और वे सब लोगों तक पहुँच सकते हों। वृहस्पति के इस वर्णन की व्यंजना यह है कि घर-घर में पुरोहित होने चाहिए जिससे वे हरेक व्यक्ति तक पहुँच कर उसे सत्परामर्श दे सकें। मंत्र का 'वृहस्पतिना' यह एकवचन का प्रयोग व्याकरण की रीति से जाति या बहुत्व में एक वचन समझना चाहिए।

(2) इस मन्त्र में प्रजाजन वृहस्पति से यह कर रहे हैं कि 'हे वृहस्पति जब हमें गौ अर्थात् वाणी और उससे उपलब्धित ज्ञान की इच्छा हो (गविष्टी) तो तुम हमें भली-भाँति शिक्षित करो (प्र चिकित्स)।'² जब हमें वाणी बोलने का ज्ञान न हो और वाणी द्वारा प्राप्त होने वाले भाँति-भाँति का ज्ञान का भी हम में अभाव हो तो वृहस्पति हमें वाणी का सदुपयोग करना भी सिखाता है और वाणी के द्वारा प्राप्त होने वाला विविध प्रकार का ज्ञान भी सिखाता है जिससे हमें व्यक्तियों के साथ समयानुसार बात करना आ सके और हम अपना व्यवहार भी उत्कृष्ट बना सकें। सायणाचार्य ने मन्त्र के 'प्र चिकित्स' क्रिया पद का अर्थ 'प्रवेदय' अर्थात् 'भली भाँति ज्ञान करा' ऐसा किया है। इस क्रिया का अर्थ चिकित्सा करना, रोग का निवारण करना, भी होता है। इस अर्थ में भाव यह होगा कि हे वृहस्पति तुम हमारे वाणी के प्रयोग विषयक और वाणी के द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान के अभाव विषयक रोग की चिकित्सा करो। उस रोग का निवारण करके हमें वाणी के सही प्रयोग और वाणी के

¹ अदेवीः अद्योतमानाः । कृष्णरूपा इत्यर्थः । यद्वा पापयुक्तत्वादस्तुत्याः । इति सायणः ।

² प्रवेदय इति सायणः ।

द्वारा प्राप्त होने वाले विविध प्रकार के ज्ञान के सही उपयोग का उपदेश करो। प्रजाजन वृहस्पति से ऐसी प्रार्थना कर रहे हैं। वह उनकी इस प्रार्थना को तभी पूरा कर सकता है जब वह सब प्रजाजनों तक पहुँच सकता हो। ऐसा तभी हो सकता है जब वृहस्पतियों की संख्या अनेक हो और वे घर-घर जा सकते हों। वृहस्पति के इस वर्णन से भी यह ध्वनित होता है कि परिवारों के अपने पुरोहित होने चाहिए। यहाँ भी 'वृहस्पते' इस एकवचन को जाति या बहुत्व में एकवचन समझना चाहिए।

(3) इस मन्त्र का अर्थ है कि 'वृहस्पति पश्चिम की ओर से, उत्तर की ओर से, दक्षिण की ओर से और तदुपलक्षित पूर्व की ओर से, हमारे प्रति पाप करना चाहने वाले लोगों से (अघायोः) हमारी रक्षा करे।' हमारी सभी दिशाओं में अर्थात् हमारे चारों ओर अनेक लोगों का निवास रहता है। समय-समय पर उनमें कुछ ऐसे लोग भी हो सकते हैं जो हमारे प्रति पाप-बुद्धि रखकर हमें क्लेशित करना चाहें तथा अवसर पाकर हमें क्लेशित कर ही दें। वृहस्पति हमारे प्रति पाप बुद्धि रखने वाले इन लोगों से हमारी रक्षा करता है। वह इन लोगों से हमारी रक्षा तभी कर सकता है जबकि वह इन लोगों के पास जाकर अपने उपदेशों और सन्मार्ग प्रदर्शन के द्वारा इनके बुरे विचारों को बदल दे। यह तभी सम्भव है जब घर-घर में उसकी पहुँच हो। वृहस्पति के इस वर्णन से भी यह ध्वनित होता है कि परिवारों के अपने वृहस्पति अर्थात् ब्राह्मण पुरोहित होना चाहिए। कई बार ऐसा भी होता है कि हम स्वयं भी दूसरों के प्रति अघायु होकर, पाप-बुद्धि होकर, उन्हें कष्ट देने वाले बन जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप हमें स्वयं भी अनेक बार कष्ट भोगना पड़ जाता है। हमारे अघायुपन से भी वृहस्पति हमारी रक्षा करता है। यह भी तभी सम्भव होगा जबकि वृहस्पति हमारे पुरोहित के रूप में हर समय हमारे पास पहुँच कर अपने उपदेशों और सन्मार्ग-प्रदर्शन द्वारा हमारे कुत्सित विचारों का निवारण करता रहे। मन्त्र में दिशावाचक पूर्व शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। हमने मन्त्र का अर्थ करते हुए उसमें शेष तीन दिशाओं के वाचक शब्द रहने के कारण पूर्व दिशा का अध्याहार भी कर लिया है।

(4) इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'हे वृहस्पति! तुम अपनी उत्कृष्ट नीतियों के द्वारा (सुनीतिभिः) लोगों के सन्मार्ग पर ले चलते हो (नयसि) और इस प्रकार लोगों की (जनं) रक्षा करते हो (त्रायसे)।' मन्त्र में कहा गया है कि वृहस्पति अपनी उत्कृष्ट नीतियों के द्वारा लोगों को सन्मार्ग पर चलाकर उनकी रक्षा करता है। मन्त्र में प्रयुक्त 'जनं' शब्द को जाति या बहुत्व अर्थ में एकवचनान्त पद समझना चाहिए। यहाँ यह शब्द समग्र जनता के सभी लोगों की ओर निर्देश करता है। वृहस्पति अपनी सुनीतियों द्वारा, अपने उपदेशों और सन्मार्ग प्रदर्शन द्वारा, लोगों को सही रास्ते पर चलाकर उनकी रक्षा तभी कर सकता है जबकि उसकी पहुँच घर-घर में प्रत्येक प्रजाजन तक हो। ऐसा तभी हो सकता है जबकि पुरोहित के रूप में उसका प्रत्येक परिवार में आना-जाना रहता हो। वृहस्पति के इस वर्णन से भी यह व्यंजित होता

है कि परिवारों के अपने पुरोहित होने चाहिए।

इन उद्धृत चारों मन्त्रों और ऐसे ही अन्य अनेक मन्त्रों में बृहस्पति का जन-मात्र से सम्पर्क बताकर उसके सदुपदेशों द्वारा उनका कल्याण किये जाने का वर्णन किया गया है। उधर बृहस्पति को वेद में, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, ब्राह्मण और पुरोहित भी कहा गया है। इन सारे वर्णनों को इकट्ठा ध्यान रखने पर इनसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि वेद की सम्मति में प्रत्येक परिवार का अपना पुरोहित होना चाहिए। वेद के इसी निर्देश के आधार पर भारत के प्राचीन ऋषियों ने घर-घर के अपने पारिवारिक पुरोहित रखने की व्यवस्था और परिपाटी चलाई थी।

राजा और प्रजाजन दोनों के ही पुरोहित

जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं बृहस्पति का वेद में इन्द्र (सम्राट्) के सह-चारी के रूप में वर्णन तो आता ही है। इसके साथ ही वेद में बृहस्पति के लिए यह भी कहा गया है कि वह सब देवों का पुरोहित है—‘बृहस्पतिपुरोहिताः (देवाः)’ (यजु० 20.11.)। उसके लिए यह भी कहा गया है कि ‘बृहस्पति ते विश्वदेववन्तम्’ (अथ० 19.18.10.) अर्थात् ‘बृहस्पति विश्वदेव अर्थात् सभी देवों वाला है।’ तात्पर्य यह है कि उसका सभी देवों से सम्बन्ध है अर्थात् वह सभी देवों का पुरोहित है। देव शब्द वेद में राज्याधिकारियों का भी वाचक है यह हमने इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर देखा है। देवों के लिए ‘राजानः’ और ‘सम्राजः’ राजा के वाचक ये विशेषण तक वेद में प्रयुक्त हुए हैं। ब्रह्मणस्पति को, जो कि बृहस्पति का ही दूसरा नाम है, ‘देवानां पितरम्’ (ऋग्० 2.24.9) अर्थात् देवों का पिता भी कहा गया है। पुरोहित अर्थात् गुरु होने के नाते वह एक प्रकार से देवों का पिता होता ही है। पुरोहित को पिता कहने की यह ध्वनि भी है कि यजमानों को अपने पुरोहितों के प्रति पिता जैसी आदर बुद्धि रखनी चाहिए। वेद के इन और अन्य ऐसे ही वर्णनों से यह स्पष्ट द्योतित होता है कि बृहस्पति इन्द्र आदि राज्याधिकारियों का पुरोहित है। अभी ऊपर की पंक्तियों में हमने यह भी देखा कि बृहस्पति जनता मात्र के परिवारों का पुरोहित भी है। देव शब्द अपने यौगिक अर्थ में भाँति-भाँति के व्यवहार अर्थात् कार्य करने वाले प्रजाजनों का वाचक भी वेद में अनेक स्थानों पर हो जाता है। तब बृहस्पति को ‘देवों का पुरोहित’ कहने से भी यह व्यंजना निकल आयेगी कि वह सामान्य प्रजाजनों का भी पुरोहित है। इस प्रकार बृहस्पति इन्द्र आदि राज्याधिकारियों का भी पुरोहित है और सामान्य प्रजाजनों का भी पुरोहित है। सम्राट् से लेकर राष्ट्र-निवासी साधारण लोगों तक पुरोहितों की परम्परा या शृंखला चलती है।

पुरोहितों का कार्य

ये बृहस्पति या ब्राह्मण पुरोहित लोग अपने यजमानों के यहाँ समय-समय पर होने वाले नामकरण, उपनयन और विवाह आदि विभिन्न संस्कारों तथा अन्य यज्ञों को

करायेंगे। इसके साथ ही ये लोग अपने यजमान-परिवारों के सदस्यों के चरित्र-निर्माण का कार्य भी करेंगे। उन्हें वेदादि सच्चास्त्रों की कथाएँ सुनायेंगे। चरित्र-निर्माण में सहायक महापुरुषों के जीवनवृत्तान्त और इतिहास सुनायेंगे। भाँति-भाँति के उपदेश और सत्परामर्श देंगे। सत्य, न्याय, अहिंसा, दया, परोपकार आदि के धर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित करेंगे और इसके विपरीत अधर्म के मार्ग पर चलने से रोकेंगे। इस प्रकार ये लोग निरन्तर राष्ट्र के लोगों की चारित्रिक श्रेष्ठता की वृद्धि और रक्षा करने के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी काम में निरत रहेंगे।

वैदिक संस्कार और यज्ञ किसी प्रकार के साम्प्रदायिक या मतवादी कर्मकाण्ड या क्रिया-कलाप नहीं होते। इन संस्कारों और यज्ञों की विधियाँ एक प्रकार के नाटक से होते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति और समाज के जीवन को ऊँचा और श्रेष्ठ बनाने वाले उपदेश दिये जाते हैं। इनमें बोले जाने वाले वेद मन्त्रों के द्वारा भी इसी प्रकार के व्यक्ति और समाज के जीवनोपयोगी उपदेश दिये जाते हैं। ये उपदेश किसी संप्रदाय-विशेष के लोगों के लिए ही नहीं प्रत्युत मानवमात्र के लिए उपयोगी होते हैं। यज्ञों में पशु-बध का विधान तो है ही नहीं जैसाकि हमने इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है।

मन्त्रि-पुरोहित का विभाग

इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी मन्त्रि-पुरोहित के रूप में बृहस्पति राष्ट्र के इन सभी पुरोहितों के ऊपर अपना निरीक्षण और नियंत्रण रखेगा और देखेगा कि राष्ट्र के ये सब पुरोहित अपने जन-कल्याण के पवित्र कार्य को भली-भाँति करते रहें और उसमें किसी प्रकार की शिथिलता तथा भ्रष्टता न आने दें। मन्त्रि-पुरोहित के अधीन इस प्रकार राष्ट्र के पुरोहितों का एक विभाग ही होगा। यह विभाग भी अन्य विभागों की भाँति राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण विभाग होगा। ऊपर 'बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति भी' शीर्षक के नीचे ऋग्० 2.23.1. मन्त्र की व्याख्या करते हुए हमने उक्त मन्त्र में आये ब्रह्मणस्पति के विशेषण 'ज्येष्ठराजं ब्रह्मणाम्' का अर्थ 'ब्रह्म अर्थात् वेदमन्त्रों का ज्येष्ठराज' ऐसा किया है और इसका भाव यह दर्शाया है कि ब्रह्मणस्पति को वेद के ज्ञान पर आधिपत्य प्राप्त है, वह वेद का बहुत ऊँचा और गहरा ज्ञाता है। ब्रह्म शब्द का जहाँ एक अर्थ वेद होता है वहाँ उसका एक अर्थ ब्राह्मण भी होता है। ब्रह्म के इस अर्थ में 'ज्येष्ठराजं ब्रह्मण' का अर्थ यह होगा कि ब्रह्मणस्पति 'ब्राह्मणों का ज्येष्ठ राजा है।' ब्रह्मणस्पति जैसा हमने ऊपर देखा है बृहस्पति का ही दूसरा नाम है। तब भाव यह हुआ है कि बृहस्पति ब्राह्मणों का ज्येष्ठ राजा है। बृहस्पति को अथ० 4.1.5. मंत्र में सम्राट् कहा भी गया है। इस प्रकार बृहस्पति को ज्येष्ठराज या सम्राट् करने का भी यही भाव है कि वह मन्त्रि-पुरोहित के रूप में इन्द्र (सम्राट्) का सहचारी और सहायक होकर एक उच्च राज्याधिकारी के रूप में राष्ट्र के ब्राह्मण पुरोहितों पर निरीक्षण और नियंत्रण रखता है। इस दृष्टि से वह अन्य ब्राह्मणों की

तुलना में ज्येष्ठराज और सम्राट् बन जाता है। वह पुरोहित विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के रूप में इस विभाग का संचालन करता है।

पुरोहित की योग्यता और गुण

बृहस्पति को ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति दोनों नामों से वर्णित करके उसे वेद में ब्राह्मण और पुरोहित भी कहा गया है यह हमने ऊपर के पृष्ठों में देखा है। वैदिक धर्म में ब्राह्मणादि वर्ण जन्म के आधार पर नहीं होते। वे योग्यता और गुणों के आधार पर होते हैं। वहाँ ब्राह्मण की जो योग्यतायें और गुण दिखाये गये हैं वे सब पुरोहित के भी समझने चाहिए। क्योंकि पुरोहित भी ब्राह्मण ही होता है। पुरोहित बनना चाहने वाले व्यक्ति को वेद में वर्णित ब्राह्मण का एक यह ऊँचा आदर्श सदा अपने सामने रखना चाहिए। तभी वह अपने यजमान-परिवारों के सदस्यों के चरित्र-निर्माण का कार्य भली-भाँति कर सकेगा।

बृहस्पति के इस प्रकार के वर्णनों द्वारा वेद ने यह संकेत दिया है कि राष्ट्रों में जनता के चरित्र-निर्माण के लिए इस प्रकार के पुरोहितों की व्यवस्था होनी चाहिए।

बृहस्पति पद की निरुक्ति की संगति

बृहस्पति पद की निरुक्ति बृहत् अथवा बृहती पद का पति पद के साथ समास करके की जाती है। जो बृहत् अथवा बृहती का पति हो वह बृहस्पति है। बृहती पद बृहत् पद का ही स्त्रीलिंग का रूप है। बृहत् का अर्थ महान् या बड़ा होता है। बृहत् पद के नपुंसक लिंग को ध्यान में रखकर इसका अर्थ महान् वेदज्ञान किया जाता है, बृहती के स्त्रीलिंग को ध्यान में रखकर इसका अर्थ महान् वेदवाणी किया जाता है। जो महान् वेदज्ञान अथवा महान् वेदवाणी का पति हो वह बृहस्पति है। दोनों अर्थों का तात्पर्य एक ही है। शतपथ ब्राह्मण में इस पद की निरुक्ति बृहती पद से की गई है—‘वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः तस्माद् बृहस्पतिः’ (शत० 14.4.1.22) निरुक्त में इसकी निरुक्ति बृहत् पद से की गई है—‘बृहस्पतिः बृहतः पाता वा पालयिता वा’ (निरु० 10.12.12)। बृहस्पति के दूसरे नाम ब्रह्मणस्पति की निरुक्ति ब्रह्मन् पद का पति पद के साथ समास करके की जाती है। जो ब्रह्म का पति हो वह ब्रह्मणस्पति है। ब्रह्म शब्द वेद का भी वाचक होता है जो वेद का पति हो वह ब्रह्मणस्पति है। शतपथ ब्राह्मण में इस पद की निरुक्ति इस प्रकार की गई है—‘वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिः तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः’ (शत० 14.4.1.23)। अर्थात् ‘वाक् ब्रह्म को अर्थात् वेद की वाणी को कहते हैं, यह उसका पति है, इसलिए ब्रह्मस्पति है।’ इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण ने बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति दोनों पदों की निरुक्ति एक ही प्रकार की है और दोनों का अर्थ एक ही कर दिया है। निरुक्त में ब्रह्मणस्पति की निरुक्ति इस प्रकार की है—‘ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा’ (निरु० 10.12.13)। इन सब निरुक्तियों का निष्कृष्टार्थ यह है कि जो वेद का पति हो वह बृहस्पति या

ब्रह्मणस्पति है। पति का अर्थ रक्षा करने वाला और स्वामी होता है। जो वेद के अध्ययन-अध्यापन द्वारा वेद की रक्षा करे तथा वेद-ज्ञान पर जिसका पूरा आधिपत्य हो वह बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति है। ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में इसलिए अनेक स्थानों पर इन दोनों पदों का अर्थ वेद का ज्ञाता विद्वान् किया है। पुरोहित या ब्राह्मण को ऐसा महान् वेद-ज्ञाता तथा वेद से उपलक्षित अन्य विद्या-विज्ञानों का भी महान् ज्ञाता होना चाहिए। तभी वह लोगों के चरित्र-निर्माण का अपना महान् उत्तरदायित्व भली-भाँति पूरा कर सकेगा। इस प्रकार बृहस्पति पद की निरुक्ति भी उसके पुरोहित के कार्य के साथ संगत हो जाती है और उसके कार्य की ओर संकेत कर जाती है।

10. पूषा : अर्थ-मंत्री

पूषा का मानव और राजा रूप

पूषा भी एक इन्द्र का सहचारी देवता है। पूषा के इन्द्र के साथ 'इन्द्रापूषणा' इस प्रकार द्वन्द्व समास में समस्त होकर तथा असमस्त रूप में भी वेद में अनेक स्थानों पर वर्णन आते हैं। ऋग्० 6.55.5 मंत्र में पूषा को 'भ्रातेन्द्रस्य' कहकर इन्द्र का भ्राता भी कहा गया है। ऋग्० 1.82.6 मंत्र में इन्द्र को 'पूषणवान्' अर्थात् पूषावाला कहकर भी पूषा और इन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध द्योतित किया गया है। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी पूषा का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा इस सम्बन्ध में हमें यहाँ विचार करना है। वेद में इन्द्र, वरुण, मित्र और पूषा आदि देवताओं को 'आदित्याः' इस सम्मिलित नाम से भी वर्णित किया गया है और 'विश्वे देवाः' या 'देवा' इन सम्मिलित नामों से भी। आदित्यों, विश्वेदेवों और देवों के लिए वेद में अनेक स्थानों पर 'नरः' और 'मनुष्यः' आदि मनुष्यवाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसी भाँति उनके लिए 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का प्रयोग भी वहाँ किया गया है। इस बात की ओर हम ऊपर कई बार पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं। पूषा भी इन देवों में एक देव है। इसलिए वह भी स्वतः ही मनुष्य हो जाता है और राजा का वाचक बन जाता है। इस प्रकार वेद में पूषा का एक सामान्य रूप मानव राजा का भी हो जाता है। और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में पूषा का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षाएँ दीखने लगती हैं। वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र है यह हम इस ग्रन्थ में निरन्तर देखते आ रहे हैं। अतः पूषा के लिए राजा या सम्राट् शब्द के प्रयोग को गौण रूप में किया गया समझना चाहिए। पूषा अपने विभाग के कार्यों को इन्द्र के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर करेगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा इसलिए वह भी एक प्रकार से इन्द्र या सम्राट् ही होगा।

पूषा का अपना विशिष्ट स्वरूप

अब हमने यह देखना है कि इन्द्र के सहचारी और सहयोगी के रूप में पूषा का अपना विशिष्ट स्वरूप और विभाग क्या होगा। पूषा के मंत्रों और सूक्तों पर बारीकी से ध्यान देने पर हमें वहाँ उसके कितने ही इस प्रकार के वर्णन और विशेषण मिल जाते हैं जिनसे उसके अपने विशिष्ट अधिराष्ट्र रूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। इस सम्बन्ध में पहले वेद का निम्न वाक्य देखिये—

देवासः पूषरातयः ।

ऋग्० 1.23.8; 2.41.15.

इस वाक्य में कहा गया है कि सब देव 'पूषराति'¹ हैं। 'राति' का अर्थ देने वाला अथवा दान होता है। 'पूषराति' का अर्थ हुआ 'पूषा जिनका दाता है अथवा पूषा से जिनको दान मिलता है।' देवों को 'पूषराति' कहने का भाव हुआ कि पूषा देवों का दाता है अथवा देवों को पूषा से दान मिलता है। कहने के प्रकार में भेद है, दोनों कथनों का तात्पर्य एक ही है। देवों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धन पूषा द्वारा प्राप्त होता है। देव राज्याधिकारियों को कहते हैं यह हम जानते ही हैं। राज्य के जितने भी विभाग हैं उनके सभी अधिकारियों और कर्मचारियों को उनके वेतन तथा विभागों के कार्यों के निष्पादन के लिए आवश्यक धन पूषा प्रदान करता है। देवों का यह 'पूषरातयः' विशेषण पूषा के कार्य और स्वरूप पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है। राज्याधिकारियों और उनके विभागों को अपने कार्य सम्पादन के लिए यथावश्यक धन देना पूषा का कार्य है। देवों के इस 'पूषरातयः' विशेषण में जो बात पूषा के लिए कही गई है वह वेद में किसी अन्य देवता के लिए नहीं कही गई है।

इसी प्रसंग में पूषा के निम्न विशेषण भी देखिये—

1. सहस्रदक्षिणः.....पूषा ।

अथ० 20.127.12

2. ऐतु पूषा रयिर्भंगः स्वस्ति सर्वधातमः ।

उरुध्वा स्वस्तये ।

ऋग्० 8.31.11

इनमें से प्रथम उद्धरण में पूषा को 'सहस्रदक्षिणः' कहा गया है। इस शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि पूषा सहस्रों लोगों को दक्षिणा देने वाला है और दूसरा यह कि पूषा सहस्रों की संख्या में दक्षिणा देने वाला है। दोनों अर्थों का इकट्ठा भाव यह है कि पूषा हजारों लोगों को हजारों की राशि में दक्षिणा देता है। राष्ट्र में हजारों और लाखों की संख्या में राज्याधिकारी और राजकर्मचारी होते हैं। इन सबको वेतन के रूप में और इन सबके विभागों के विभिन्न कार्यों के संचालन के लिए आवश्यक राशि के रूप में पूषा हजारों और लाखों की दक्षिणा इन्हें देता है। राष्ट्र के अन्य अनेक जन-कल्याण कार्यों में भी पूषा हजारों और लाखों की राशि खर्च करता है।

¹ पूषाव्यो देवो रातिर्दाता येषां ते पूषरातयः । इति सायणः । भावे क्तिनि तु पूषो रातिर्दानं येष्यस्ते पूषरातयः ।

इस प्रकार पूषा वस्तुतः 'सहस्रदक्षिणः' है। पूषा का यह विशेषण भी वेद में किसी अन्य देवता के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है।

अब दूसरे मंत्र को देखिये इसमें कहा गया है कि 'जो पूषा रयि है, भग है, स्वस्तिकारक है, सबका सबसे अधिक पोषण करने वाला है (सर्वधातमः) वह हमारे कल्याण के लिए विस्तीर्ण (उरुः) मार्ग (अध्वा) बनकर आये।' इस मंत्र में पूषा को रूपक से रयि अर्थात् धन-सम्पत्ति रूप ही कह दिया गया है। उसके पास अपार धन-सम्पत्ति है इसलिए मानो वह रयि रूप, धन-सम्पत्ति रूप ही है। इसी भाँति वह भग रूप भी है। भग का अर्थ भी ऐश्वर्य होता है। उसके पास अपार ऐश्वर्य होने के कारण वह भगरूप ऐश्वर्य रूप ही है। भग का अर्थ सेवन करने के योग्य भी होता है। अपने अपार ऐश्वर्य के कारण पूषा सेवनीय है अर्थात् जिससे ऐश्वर्य प्राप्त किया जा सके ऐसा है। अपने इसी अपार धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य के कारण वह स्वस्तिकारक भी है, कल्याण-मंगल करने वाला भी है। उसे कहा गया है कि वह 'सर्वधातमः' है अर्थात् सबका सबसे अधिक पोषण करने वाला है। सब देव अर्थात् सब राज्याधिकारी और राजकर्मचारी को वेतन के रूप में और अपने विभागों के विभिन्न कार्यों के संचालन के लिए आवश्यक राशि के रूप में तथा सर्वसाधारण जनता को भी जन-कल्याणकारी विविध कार्यों के लिए प्राप्त होने वाली राशि के रूप में, पूषा सबका पोषण करता है और सबसे अधिक पोषण करता है। मंत्र में पूषा को अपार धन-सम्पत्ति रूप ऐश्वर्य उसके पास होने के कारण, अलंकार से ऐश्वर्यरूप कहकर उसे सबका सबसे अधिक पोषण करने वाला 'सर्वधातमः' बताया गया है। अन्त में उससे प्रार्थना की गई है कि वह अपनी धन-सम्पत्ति से हमारा कल्याण-मंगल करने के लिए (स्वस्तये) हमारे पास आता रहे और हमारी उन्नति के विस्तीर्ण मार्गों को खोलता रहे। मंत्र में प्रयुक्त किया गया पूषा का यह 'सर्वधातमः' विशेषण भी वेद में अन्य किसी देवता के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है।

पूषा के अतिरिक्त किसी अन्य देवता के लिए प्रयुक्त न होने वाले 'पूषरातयः', 'सहस्रदक्षिणः' और 'सर्वधातमः' ये तीनों उसके विशेषण पूषा के अपने विशिष्ट स्वरूप की ओर अति स्पष्ट निर्देश कर देते हैं।

पूषा सबका सबसे अधिक पोषण करने वाला, 'सर्वधातमः', इस कारण है कि उसके पास अपार धन-सम्पत्ति रहती है जैसाकि अभी ऊपर उद्धृत ऋग्० 8.31.11 में उसे अलंकार से रयि और भगरूप कहकर बताया गया है। इस सम्बन्ध में पूषा के कुछ और स्पष्ट विशेषण भी देखने योग्य हैं—

- | | |
|----------------------------------|--------------|
| 1. विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम । | ऋग्० 1.42.6. |
| 2. न कोशोऽव पद्यते । | ऋग्० 6.54.3. |
| 3. अनष्टवेदसम् । | ऋग्० 6.54.8. |
| 4. ईशानं रायः । | ऋग्० 6.54.8. |
| 5. ईशानं राघसो महः रायः सखायम् । | ऋग्० 6.54.2. |

6. रायो धारास्याधृणे वसो राशिरजाश्व ।

ऋग्० 6.55.3.

7. पुष्टीनां सखा ।

ऋग्० 10.26.7.

8. विश्ववेदाः ।

ऋग्० 1.89.6; यजु० 10.9.

इनमें से प्रथम उद्धरण में पूषा को 'विश्वसौभग'¹ अर्थात् सब धनों से युक्त कहा गया है। आचार्य सायण ने इस विशेषण का दूसरा अर्थ सब प्रकार के सौभाग्य वाला ऐसा भी किया है। सौभाग्य में भी भग शब्द का धन अर्थ अन्तर्निहित रहता है। धन-ऐश्वर्य वाले व्यक्ति को ही सामान्यतः सौभाग्यशाली कहा जाता है। पूषा का यह विशेषण भी वेद में अन्य किसी देवता के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसी उद्धरण में उसे 'हिरण्यवाशीमत्तम' भी कहा गया है इस पद का शब्दार्थ होता है 'अतिशय रूप में हिरण्य की वाशियों वाला' हिरण्य का सामान्य अर्थ सुवर्ण होता है और वाशी का अर्थ वाणी और वाशी नामक एक औजार (वसूला) भी होता है जो कि लकड़ी आदि छीलने के काम आता है। वाणी अर्थ में इस विशेषण का भाव यह होगा कि पूषा सुवर्ण की अर्थात् सुवर्ण विषयक वाणी वाला है अर्थात् पूषा के पास सुवर्ण बहुत है ऐसी चर्चा होती रहती है। इस कथन की यह भी व्यंजना है कि राज्य के कोप को कभी खाली नहीं होने देना चाहिए, राज्यकोष में बहुत सुवर्ण है ऐसा विश्वास जनता में सदा रहना चाहिए, और ऐसी चर्चा जनता में सदा रहनी चाहिए। वाशी के हथियार अर्थ में उसका यहाँ अर्थ लक्षणा से छड़ या सिल्ली का वाचक हो जायेगा क्योंकि हथियार अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकता। तब भाव यह होगा कि पूषा के पास सोने की छड़ें या सिल्लियाँ अतिशय परिमाण में रहती हैं। दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि पूषा का कोश या खजाना कभी क्षीण नहीं होता। तीसरे उद्धरण में कहा गया है कि पूषा का धन (वेदस्) कभी नष्ट नहीं होता। चौथे उद्धरण में पूषा को धन का (रायः) स्वामी कहा गया है। पाँचवें उद्धरण में उसे महान् धन का (राघसः) तथा धन का (रायः) मित्र कहा गया है। जैसे मित्र मित्र का साथ नहीं छोड़ता वैसे ही धन पूषा का साथ कभी नहीं छोड़ता। धन उसके पास सदा प्रचुर मात्रा में रहता है। छठे उद्धरण में कहा गया है कि हे पूषा तुम धन की धारा हो, तुम धन (वसोः) की राशि हो। पूषा को धन की धारा और राशि कहना यह ध्वनित करता है कि उसके पास अतिशय परिमाण में धन रहता है। धारा शब्द से यह भी ध्वनित होता है कि उसके पास राष्ट्र के सब कोनों से कर के रूप में धन की धारायें बहकर आती हैं। सातवें उद्धरण में कहा गया है कि पूषा, पुष्टियों का मित्र है क्योंकि उसके द्वारा राष्ट्र के सब देवों अर्थात् राज्याधिकारियों और राजकर्मचारियों को तथा विविध व्यवहारों में, कामों में, लगे हुए प्रजाजनों को वांछित पोषण प्राप्त होता है। इसलिए वह एक प्रकार से पुष्टियों का मित्र अर्थात् सबको पुष्टि देने वाला सबका मित्र तो है ही। आठवें उद्धरण में उसे 'विश्ववेदाः' कहकर पुनः सब धनों का स्वामी बताया गया है। प्रथम और आठवें उद्धरण के 'विश्वसौभग' और 'विश्ववेदाः' शब्दों के 'विश्व' पद की यह

¹ कृत्स्नधनयुक्त तद्वा कृत्स्नसौभाग्ययुक्त इति सायणः ।

ध्वनि भी है कि राष्ट्र में जितने प्रकार के कृषि, पशुपालन और उद्योग-धन्धों आदि के कार्य हो रहे हैं उन सबसे कर आदि के रूप में पूषा के कोश में धन प्राप्त होता है। इसी अभिप्राय से उसे इन विशेषणों द्वारा कहा गया है कि वह विश्व अर्थात् सब प्रकार के धनों वाला है।

ऊपर उल्लिखित पूषा के 'पूषारातयः', 'सहस्रदक्षिणः' और 'सर्वघातमः' विशेषणों के साथ उसके इन विशेषणों और वर्णनों को मिलाकर देखने पर उसका अपना विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट होकर सामने आ जाता है। वह सब प्रकार के धन का स्वामी है, उसके पास से धन कभी नष्ट नहीं होता, उसका कोष कभी खाली नहीं होता, उसका कोष सुवर्ण से भरा रहता है, उसके पास धन की राशियों की राशियाँ जमा रहती हैं, उसके पास सब ओर से धन की धाराएँ बहकर आती हैं, पूषा के इन वर्णनों को ध्यान में रखिए और उसके इन वर्णनों को भी ध्यान में रखिए कि वह सब प्रकार की पुष्टियों का कारण है, देवों को उसी से धन मिलता है, वह हजारों लोगों को हजारों की राशि में दक्षिणा देने वाला है, वह सब लोगों का सबसे अधिक पोषण करने वाला है। पूषा के इन सब वर्णनों और इसी प्रकार के अन्य वर्णनों से उसका जो स्वरूप मन में उजागर होता है उसका वह स्वरूप वह है जिसे आजकल की भाषा में अर्थ-मंत्री या वित्त-मंत्री कहा जाता है। वह राज्य-कोष के लिए विभिन्न करों के रूप में धन का संग्रह करता है, राज्यकोष में प्राप्त धन-राशि पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, और राज्य के विविध विभागों को व्यय के लिए राज्य नियमानुसार यथोचित मात्रा में धन भी उसी से प्राप्त होता है।

पूषा के धन-प्राप्ति के कुछ साधन

पूषा के कोश में वह धन कहाँ से आता है जिसके कारण वह 'पुष्टीनां सखा' (ऋग्० 10.26.7); 'सहस्रदक्षिणः' (अथ० 20.127.12), 'पूषरातिः' (ऋग्० 1.23.8) और 'सर्वघातमः' (ऋग्० 8.31.11) बन जाता है? पूषा के मन्त्रों को वारीकी से पढ़ने पर हमें इस प्रश्न का समाधान भी मिल जाता है। वहाँ इस सम्बन्ध में अनेक संकेत दिये गये मिलते हैं जिससे पूषा की आय के कुछ स्रोतों का पता चलता है। नीचे इस प्रकार के संकेत देने वाले कुछ प्रसंगों को उद्धृत किया जाता है।

खानों से आय

ऋग्० 8.29.6 मन्त्र में पूषा के लिए कहा गया है कि 'एष वेद निधीताम्।' अर्थात्—'यह पूषा खानों को जानता है।' मन्त्र में खान के लिए निधि शब्द का प्रयोग किया गया है। निधि¹ पद का शब्दार्थ होता है वह स्थान जहाँ कोई वस्तु रखी जाये। संस्कृत में समुद्र के लिए पयोनिधि, तोयनिधि और जलनिधि आदि नाम व्यवहृत होते हैं। समुद्र के ये नाम इस आधार पर हैं क्योंकि वह जलों का निधि

¹ निधीयतेति निधिः। आधारे कि। अष्टा० 3.3.91.

होता है, ऐसा स्थान होता है जहाँ जल रहते हैं। घरती की खानों को भी इसी कारण निधि कहा जाता है कि उनमें सोना, चाँदी आदि नाना प्रकार की संपदा पड़ी होती है। अथर्ववेद 12.1.44 मन्त्र में पृथिवी को 'निधि विभ्रती' अर्थात् 'खानों को धारण करने वाली कहकर उसकी 'गुहा' अर्थात् गुफाओं में, खानों में, पाये जाने वाले नाना प्रकार के मणि, सुवर्ण आदि मूल्यवान् पदार्थों की याचना की गई है। लोक में प्रसिद्ध निधि या कोषों (खजानों) को भी इसीलिए निधि कहा जाता है क्योंकि उनमें धन-सम्पत्ति संग्रह करके रखी जाती है। आचार्य सायण ने इस प्रस्तुत मन्त्र में निधि का घरती के भीतर रखे धन¹ ऐसा अर्थ किया है। घरती के भीतर रखे धन खानों में ही रखे होते हैं। उद्धृत मन्त्र में पूषा के लिए कहा गया है कि वह निधियों को जानता है, उनके सम्बन्ध में सब प्रकार की पूरी जानकारी रखता है। किस निधि से, किस खान से, कौन सी वस्तु किस मात्रा में निकाली जाती है इत्यादि बातों का उसे पूरा ज्ञान रहता है। निधियों के सम्बन्ध में पूषा को पूरा ज्ञान रहता है इस कथन से यह ध्वनित होता है कि वह खानों से निकाले जाने वाले पदार्थों पर नियमानुसार निर्धारित एक निश्चित मात्रा में कर लेता है जिससे उसके कोष में आय होती है। यदि ऐसा न हो तो उसे खानों की जानकारी रखने की आवश्यकता ही क्या है? यदि उसे आय के इन स्रोतों से आमदनी न हो तो वह ऊपर वर्णित राज्याधिकारियों के भरण-पोषण आदि के धन-साध्य कार्यों को कैसे सम्पन्न कर सकेगा? इसलिए वेद के इस उद्धृत वाक्य का ध्वनितार्थ यही है कि पूषा राष्ट्र की खानों से कर प्राप्त करता है।

पशुओं से आय

पूषा के निम्न विशेषणों और वर्णनों से यह संकेत मिलता है कि वह लोगों के पास रहने वाले पशुओं की आय पर भी कर लगाकर उनसे अपने कोष के लिए धन प्राप्त करता है। उसके लिए कहा गया है कि वह—

- | | |
|---|-------------------------------|
| 1. क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाऽधिपतिरासीत् । | यजु० 14.30. |
| 2. अनष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः । | ऋग्० 10.17.3;
अथ० 10.2.54. |
| 3. पशुपाः । | ऋग्० 6.58.2. |
| 4. भूमा पशूनां । | अथ० 5.28.3. |
| 5. हतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम् । | |
| अब्धिच्छस्य दधन्वतः सुपूर्णस्य दधन्वतः । | ऋग्० 6.48.18. |
| 6. या ते अष्ट्रा गोओपशाऽऽधृणे पशुसाधनी । | |
| तस्यास्ते सुम्नमीमहे । | ऋग्० 6.53.9. |

¹ एष वेद निधीनाम्—एष पृथिव्यां निहितानि धनानि वेत्ति इति सायणः ।

इनमें से प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि 'क्षुद्र अर्थात् मनुष्य की तुलना में छोटे, मनुष्य से भिन्न जो पशु हैं पूषा उन पशुओं का अधिपति है।' मन्त्र का अधिपति शब्द यह द्योतित करता है कि पशुओं पर पूषा का आधिपत्य, उसका स्वामित्व, है। उसके पशुओं पर आधिपत्य होने की यह ध्वनि निकलती है कि पशुओं से होने वाली आय पर उसका भी अधिकार है और उसका निर्धारित भाग राज्यकोष के लिए प्राप्त करता है। दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'पूषा पशुओं को नष्ट नहीं होने देता और इस प्रकार वह प्राणियों की (भुवनस्य)¹ रक्षा करने वाला है।' पूषा पशुओं को नष्ट नहीं होने देता इस कथन का भाव यह है कि वह पशु-पालन के लिए राज्यकोष से पशुपालकों को आवश्यकता पड़ने पर यथोचित सहायता देता है जिससे पशुओं की रक्षा और वृद्धि होती रहे। पशुओं को नष्ट न होने देकर पूषा प्राणियों की रक्षा करता है इस कथन का भाव यह है कि कर द्वारा पशुओं से राज्यकोष में प्राप्त होने वाली आमदनी से वह राष्ट्र निवासी मनुष्यों और अन्य प्राणियों के कल्याण के विविध कार्य करता रहता है। तीसरे उद्धरण में पूषा को 'पशुपाः' अर्थात् पशुओं की रक्षा करने वाला कहा है। इस कथन का भी व्यंग्यार्थ वही है जो 'पशूनाम् अधिपतिः' और 'अनष्टपशुः' पदों का है। चौथे उद्धरण में पूषा से प्रार्थना की गई है कि 'हमारे घरों में पशुओं का बाहुल्य (भूमा) रहे।' पूषा की सहायता से प्रजाजनों के घरों में पशुओं का बाहुल्य रहेगा तो पूषा को भी उससे राज्यकोष के लिए अधिक आय प्राप्त होगी।

पाँचवें उद्धरण में कहा गया है कि 'हे पूषा जो कि तुम छिद्र रहित, दही से (दधन्वतः) पूरे भरे हुए कुप्पे जैसे (दृतेरिव) हो, ऐसे तुम्हारी (ते) मित्रता (सख्यम्) हमारे साथ सदा वाधारहित (अवृकम्)² बनी रहे।' मन्त्र से कई भाव व्यंजित होते हैं। पूषा का राज्यकोष सदा धन से इस प्रकार भरा रहता है जैसे कोई कुप्पा दही से पूरा भरा हो। राज्यकोष सदा अच्छिद्र रहना चाहिए, उसकी रक्षा और उसके व्यय में कोई छिद्र न हो, कोई त्रुटि और कमी न हो, उसे कभी गलत तरीके से खर्च न किया जाये और वह कभी धन से रिक्त न होने पाये। दही से परिपूर्ण कहने की यह ध्वनि भी है कि पशुओं से उत्पन्न होने वाले दूध-दही से पशुपालकों को जो आय होती है पूषा उस पर नियमानुसार निर्धारित कर लगाकर राज्यकोष की आमदनी बढ़ाता है। पूषा से मित्रता में बाधा न पड़े इस कथन की व्यंजना यह है कि प्रजाजनों को सदा उसके कोष से आवश्यकतानुसार सहायता मिलती रहे। पूषा से मित्रता बनी रहे इस कथन का भाव यह है कि पूषा को प्रजाजनों की पशु आदि की सम्पदा पर कर लगाते समय उनके प्रति मित्रता की वृत्ति रखनी चाहिए, कर लगाने में कठोरता नहीं बरतनी चाहिए। इस मन्त्र से भी पशुओं और पशुजन्य पदार्थों पर कर लगाये जाने की ध्वनि निकलती है।

¹ भूतजातस्य इति सायणः ।

² वाधारहितमिति सायणः ।

छठे उद्धरण में पूषा से प्रार्थना है कि 'हे तेजस्वी और मंगल की वर्षा करने वाले (आघृणे)¹ पूषा गौर्वें जिसके पास रहती हैं (गोओपशा)² और जो पशुओं को सिद्ध करने वाली (पशु साधनी) है, ऐसी तेरी जो अष्ट्रा अर्थात् आर या चावुक है उससे हम सुख चाहते हैं।' पूषा की अष्ट्रा यहाँ राज्य द्वारा बनाये गये कर लेने सम्बन्धी नियमों की द्योतक है। जिस प्रकार अष्ट्रा अर्थात् आर या चावुक चुभने वाली और दुःखदायक होती है उसी प्रकार कर सम्बन्धी नियम भी करदाताओं के लिए चुभने वाले और कष्टदायक होते हैं। अष्ट्रा को गौर्वें जिसके पास रहती हैं ऐसा कहना यह ध्वनित करता है कि गौओं से होने वाली आय पर कर लगाया जाता है। कर लेने के द्वारा ही अष्ट्रा, राज्यनियम, गोपालकों की गौओं तक पहुँचते हैं। अष्ट्रा को पूषा के लिए पशुओं को सिद्ध करने वाली कहने का भी यह भाव है कि पूषा राज-नियमों द्वारा कर लगा कर पशुओं को अपने लिए सिद्ध करता है अर्थात् उन्हें आमदनी का साधन बनाता है। पूषा के इस वर्णन से भी यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि पूषा पशुओं से प्राप्त होने वाली आय पर कर लगाकर राज्यकोष की आमदनी बढ़ाता है। अष्ट्रा को गोओपशा और पशुसाधनी कहने का यह भी ध्वनितार्थ है कि पशुपालकों को राज्य द्वारा निर्धारित कर बाधित रूप से देने होंगे जैसे कि आर या चावुक की मार से पशु को बाधित होकर चलना पड़ता है। प्रजाजन पूषा की अष्ट्रा से सुख माँग रहे हैं। इस याचना की भी यह व्यंजना है कि कर-विषयक राजनियम अत्यन्त सख्त नहीं होने चाहिए। कर इतना लगाना चाहिए जिसे करदाता सुख से दे सकें। कर उगाहने के समय भी राजकर्मचारियों का व्यवहार करदाताओं के प्रति कठोर और पीड़ादायक नहीं होना चाहिए, उनके व्यवहार में मृदुता रहनी चाहिए।

इस प्रकार पूषा के इन और ऐसे ही अन्य अनेक वर्णनों से यह स्पष्ट सूचित होता है कि पशु भी उसकी आय का एक साधन है।

कृषि की उपज से आय

पूषा के अनेक ऐसे वर्णन भी आते हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि उसकी आय का एक साधन कृषि की उपज भी है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

1. वाजपस्त्यः । ऋग्० 6.58.2.
2. अभि सुयवसं नय न नवज्वारो अघ्वने ।
पूषन्निह क्रतुं विदः ॥ ऋग्० 1.42.8.
3. यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे ।
तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु ॥ ऋग्० 6.53.8.
4. इनो वाजानां पतिः । ऋग्० 10.26.7.

¹ धृ क्षरणदीप्योः । आघृणिः दीप्तिमान् मंगलानां वर्षणकर्ता वा ।

² उपशेरते इति ओपशाः । गाव ओपशा यस्यास्तादृशी । इति सायणः ।

इनमें से प्रथम उद्धरण में पूषा के लिए कहा गया है कि वह 'वाजपस्त्य' है। वाज का अर्थ होता है अन्न और पस्त्य का अर्थ होता है घर। वाजपस्त्य में बहुव्रीहि समास है। वाज में जिसका पस्त्य हो वह वाजपस्त्य होगा। पूषा का पस्त्य अर्थात् घर वाज अर्थात् अन्न में है। पूषा अन्न में घर रखता है। अन्न में उसका निवास है। कृषक लोग जो अनाज पैदा करते हैं पूषा का मानो उसमें निवास रहता है। वह उस अनाज के सहारे जीता है। उस अनाज से पूषा को पोषण मिलता है। अनाज की उपज से नियमानुसार निर्धारित जो कर प्राप्त होता है उससे उसके राज्यकोष में जो आमदनी होती है उससे पूषा अपने सब कार्य करता है। क्योंकि अनाज की उपज द्वारा जो कर रूप में आय प्राप्त होती है उस पर पूषा का सारा कार्य-संचालन निर्भर करता है इसलिए मानो उसका घर, उसका निवास, उसका पूषा रूप में जीवन, ही अनाज में है ऐसा काव्यमयी आलंकारिक भाषा में कह दिया गया है। इस काव्यमय आलंकारिक वर्णन का ध्वनितार्थ यह है कि पूषा कृषकों की अनाज की उपज से कर रूप में आय प्राप्त करता है।

पूषा द्वारा खेतों में खड़ी फसलों का निरीक्षण

दूसरे उद्धरण का शब्दार्थ इस प्रकार है—'हे पूषा तुम जिनमें बढ़िया तृण अर्थात् खेती के पौधे उत्पन्न होते हैं (सूयवसम्)¹ ऐसे हमारे खेतों की ओर अपने कर्मचारियों को ले चलो, भेजो (अभिनय), हमारे मार्ग के लिए अर्थात् खेती के कार्य के लिए अर्थात् खेती के काम में (अध्वने) कोई नया संताप या कष्ट (नव-ज्वारः) प्राप्त न हो, हे पूषा तुम इस हमारे खेती के काम में (इह) हमारे कार्य को (ऋतुम्) जानो, देखो (विदः)।' मन्त्र के इस पूषा विषयक वर्णन का तात्पर्यार्थ यह है कि पूषा को राष्ट्र के विभिन्न प्रदेशों में बोई गई खेतियों को देखने के लिए अपने कर्मचारी भेजने चाहिए और खेती की उपज का अन्दाजा लेना चाहिए। किसानों ने अपने खेतों में क्या-क्या काम किया है, कितनी बार खेतों को जोता है, खेतों में कितना खाद डाला है और कितनी बार पानी दिया है, इस सब में उनका कितना व्यय हुआ है यह सब भी पूषा को देखना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही खेती की आय पर कर लगाया जाना चाहिए। खेती के काम में कोई नया कष्ट किसानों को प्राप्त न हो। पूषा से यह कहने का भाव यह है कि खेती के काम में अनावृष्टि, और अतिवृष्टि, बाढ़ें, ओले और आंधी आदि मौसम की खराबी से होने वाली अनेक प्रकार की विपत्तियाँ आती रहती हैं जिनसे किसानों को बड़ी हानि हो जाती है। पूषा को इस सबका भी ध्यान रखना चाहिए और इन विपत्तियों से कृषि की रक्षा के उपाय भी उसे करने चाहिए। तथा कृषि की उपज पर कर प्राप्त करने के समय इस प्रकार घटित होने वाली आकस्मिक विपत्तियों का भी ध्यान रखना चाहिए। और यदि इन विपत्तियों से कृषकों को हानि हुई हो तो कर की वसूली सर्वथा ही त्याग देनी चाहिए। मन्त्र के

¹ शोभनतृणोपलभितं सर्वोपधियुक्तं देशमिति सायणः ।

पूषा विषयक इस वर्णन से ये सब बातें ध्वनित होती हैं ।

अब तीसरे उद्धरण को लीजिए । उसका शब्दार्थ इस प्रकार है—‘हे दीप्तिमान् और मंगल की वर्षा करने वाले (आधृणे) पूषा तुम जो अन्न को प्रेरणा देने वाली (ब्रह्मचोदनीम्)¹ आर (आरां) को धारण कर रहे हो उस आर से इसके (अस्य) अर्थात् अन्न का संग्रह रखने वाले लोभी कर वंचक व्यक्ति के हृदय को निलिखित कर दो, पीड़ित कर दो (आरिख)² तथा उनके हृदयों को शिथिल (किकिरा)³ कर दो ।’ ऊपर के खण्ड में ऋग् ० 6.53.9 मन्त्र की व्याख्या करते हुए हमने कहा था कि आर शब्द राज्य के कर लगाने विषयक नियमों का द्योतक है । इस मन्त्र में भी आर शब्द का वही भाव है । करदाताओं के लिए कष्टदायक होने के कारण वे नियम एक प्रकार से आर ही होते हैं । मन्त्र में अन्न के लिए ‘ब्रह्म’ शब्द का प्रयोग किया गया है । ब्रह्म शब्द वेद में अन्न का वाचक भी होता है । इस प्रकरण में इसका अन्न अर्थ ही अधिक संगत होता है । पूषा की आर ब्रह्मचोदनी है, अन्न को प्रेरित करने वाली है, अन्न को उसे संग्रह करके रखने वालों के घर से निकालने वाली है । संग्रही लोग आरोपलक्षित राजनियम के भय से अन्न को अपने भण्डारों से बाहर कर देते हैं । राजनियम के भय से इस प्रकार के लोभी कर-वंचक लोगों के हृदय पीड़ित होकर शिथिल हो जाते हैं और वे कर-वंचना के दुराग्रह को छोड़कर कर देने लग पड़ते हैं । मन्त्र में आर को अन्न को प्रेरित करने वाली कहा गया है । यदि किन्हीं परिस्थितियों में अन्न ही कर रूप में लेने का निश्चय किया गया हो तब तो यह शाब्दिक अर्थ ही संगत हो जायेगा । नहीं तो अन्न को अनाजों की उपज पर लगाने वाले कर का उपलक्षण समझना होगा । पूषा के इस वर्णन से भी अनाजों की उपज पर कर लगाये जाने की ध्वनि निकलती है ।

चौथे उद्धरण में कहा गया है कि ‘हमारा स्वामी (इनः) पूषा सब प्रकार के अन्नों का (वाजानाम्) पति है ।’ पूषा को सब प्रकार के अन्नों का पति कहने का यह भाव है कि सब अन्नों पर उसका आधिपत्य है, जिसका ध्वनितार्थ यह है कि वह अन्नों की उपज से प्राप्त होने वाली आय पर कर लगाकर अपने कार्यों के संपादन के लिए राज्यकोष की आमदनी बढ़ाता है ।

पूषा के इन और ऐसे ही अन्य वर्णनों से यह स्पष्ट व्यंजित होता है कि उसके कोष में कृषि की उपज पर लगाये जाने वाले करों से भी आय प्राप्त होती है ।

वस्त्र-व्यवसाय से आय

वेद के निम्न मन्त्र से यह सूचित होता है कि पूषा राष्ट्र के वस्त्र-व्यवसाय से भी अपने कोष के लिए आय प्राप्त करता है । मन्त्र इस प्रकार है—

¹ ब्रह्मणोन्नस्य प्रेरयित्रीमिति सायणः । ब्रह्म अन्ननाम । निघ० 2.7.

² आरिख । इति सायणः ।

³ किकिराणि कीर्णानि प्रशिथिलानि इति सायणः ।

आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च ।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत् ॥

ऋग्वे० 10.26.6.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—‘(आधीषमाणायाः)¹ धारण की हुई अर्थात् पाली हुई (शुचायाः)² उन से चमकती हुई बकरी का (च) और (शुचस्य)³ उन से चमकते हुए बकरे का (पतिः) पति पूषा (अवीनाम्) भेड़ों की उन से (वासोवायः)⁴ वस्त्रों का बुनवाने वाला है, यह (वासांसि) उन वस्त्रों को (आमर्मृजत्)⁵ शुद्ध करता है ।’ मन्त्र में पूषा को ‘अवीनां वासोवायः’ कहा गया है । वाक्यार्थ पूरा और संगत करने के लिए ‘अवीनाम्’ इस षष्ठी विभक्ति के बल पर मन्त्र का शब्दार्थ करते हुए मन्त्र में ‘रोमभिः’ इस पद का अध्याहार कर लिया गया है जिसका अर्थ ‘रोमों से अर्थात् उन से’ ऐसा होता है । आचार्य सायण ने भी ऐसा ही किया है । इस पद के अध्याहार से ‘अवीनां वासोवायः’ का जो अर्थ बनता है उसे मन्त्र के शब्दार्थ में स्पष्ट कर दिया गया है । मन्त्र में ‘अवीनां वासोवायः’ इस वाक्य द्वारा भेड़ों की उन के वस्त्रों के बुने जाने का जो वर्णन किया गया है उसके आधार पर मन्त्र के ‘शुचायाः’ और ‘शुचस्य’ इन पदों का अर्थ क्रम से ‘बकरी’ और ‘बकरा’ कर लिया गया है । ‘शुच’ शब्द का मूल अर्थ चमकने वाला होता है । इस शब्द के इस मूल अर्थ को ध्यान में रखते हुए ‘शुचायाः’ और ‘शुचस्य’ पदों का अर्थ उन से चमकने वाली बकरी और बकरा ऐसा कर दिया गया है । क्योंकि बकरे-बकरी में चमक उनकी उन के कारण ही होती है । सायणाचार्य ने चमकने वाले बकरी-बकरा ऐसा अर्थ तो इन पदों का कर दिया है पर उनके अर्थ में उन की चमक का उल्लेख नहीं है । मन्त्र में पूषा को ‘अवीनां वासोवायः’ कहा गया है । इसका अर्थ ‘भेड़ों की उन से वस्त्र बुनने वाला और बुनवाने वाला’ दोनों ही हो सकते हैं । पूषा, जैसा हमने ऊपर देखा है, सम्राट् का ही एक रूप और प्रतिनिधि है । उसके लिए स्वयं तो वस्त्र बुनने के काम में लग जाना संभव नहीं हो सकता । इसलिए इस वाक्य का अर्थ भेड़ों की उन से वस्त्र बुनवाने वाला ऐसा ही समझना चाहिए । ‘अवीनाम्’ पद के साहचर्य से मन्त्र के ‘शुचा’ और ‘शुच’ शब्दों का अर्थ बकरी-बकरा किया गया है । इसे ध्यान में रखते हुए ‘वासोवायः’ के साथ ‘अवीनाम्’ की भाँति ही ‘शुचायाः’ और ‘शुचस्य’ ये पद भी जुड़ जाते हैं । तब यह वाक्य बन जाता है कि ‘अवीनां शुचायाः शुचस्य च रोमभिः वासोवायः’ अर्थात् भेड़ों तथा बकरियों और बकरों की उन से वस्त्र बुनवाने वाला ।’ इस प्रकार मन्त्र के इस वर्णन से एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि पूषा भेड़-बकरियों की उन से वस्त्र बनवाता है । फिर मन्त्र में कहा गया है कि पूषा उन के इन वस्त्रों

¹ आधीषमानायाः इति सायणः ।

² दीप्ताया अजायाः इति सायणः ।

³ दीप्तस्य पुंपशोः इति सायणः । पुंपशोः अजस्य इति यावत् ।

⁴ दशापवित्रादीनि वस्त्राणि प्रेरयन् इति सायणः । वासांसि वयति वाययति वेति वासोवायः ।

⁵ रजक-शोष्यानि तानि वस्त्राणि समन्तात् प्रकाशोष्णाभ्यां शोधयन् भवति इति सायणः ।

को शुद्ध करता है। शुद्ध करता है का तात्पर्य भी यहाँ यही लेना चाहिए कि वह वस्त्रों को शुद्ध करवाता है। स्वयं यह कार्य करना भी उसके लिए सम्भव नहीं होगा। नये निर्मित ऊन के वस्त्रों में धुलने से पहले एक प्रकार की अग्रिय गंध हुआ करती है इसलिए उन्हें धुलवा कर शुद्ध करना भी आवश्यक होता है। धुलवा कर शुद्ध करने में रुचि के अनुसार वस्त्रों को रंग देना भी अन्तर्निहित समझना चाहिए।

मन्त्र में पूषा को बकरियों और बकरोँ का पति कहा गया है। इसी भाँति उसे 'अवीनाम्' अर्थात् भेड़ों का भी पति समझना चाहिए। जो जिस वस्तु या सम्पत्ति का पति होता है वह उसका स्वामी होता है, उस पर उसका आधिपत्य रहता है, स्वामित्व रहता है। वह अपनी उस वस्तु या सम्पत्ति से जैसा चाहे उपयोग ले ले। यों तो 'आधीयमान' अर्थात् 'पाली गई' भेड़ और बकरियों पर उन्हें पालने वाले पशुपालक का ही स्वामित्व होगा। पूषा के लिए स्वयं तो इन पशुओं का पालन कर सकना सम्भव ही नहीं होगा। इनका पालन तो पशुपालक लोग ही करेंगे। वे ही इन पशुओं के वस्तुतः स्वामी या पति भी होंगे। ये पशु उन पशुपालकों के अपने होंगे। उनकी अपनी सम्पत्ति होंगे। फिर पूषा को इनका पति, इनका स्वामी, कहने का क्या तात्पर्य होगा? पूषा राजा या राज्य संगठन का प्रतिनिधि है। राजा या राज्य संगठन के रूप में पूषा का पशुपालकों द्वारा पाली गई इन भेड़-बकरियों पर आधिपत्य या स्वामित्व होगा। वह पशुपालकों की इस सम्पदा की आमदनी में से राज्य-कार्य के लिए कुछ अंश प्राप्त करेगा। दूसरे शब्दों में राजनियमों द्वारा निर्धारित मात्रा में पूषा पशुपालकों की इस सम्पदा से कर रूप में धन प्राप्त करेगा। जो लोग इन पशुओं की ऊन बेचेंगे उनकी आय पर पूषा कर लगायेगा। तथा जो लोग इस ऊन से वस्त्र बनाकर बेचेंगे उनकी आय पर भी वह कर लेगा। यह सब व्यंजना पूषा को भेड़-बकरियों का पति और वासोवाय कहने की है। इस प्रकार मन्त्र की रचना बड़ी आलंकारिक और काव्यमय है।

प्रस्तुत मन्त्र में ऊनी वस्त्रों की आमदनी से पूषा के कर वसूल करने का उल्लेख है। इसे उपलक्षणमात्र समझना चाहिए। सूती वस्त्रों के व्यवसाय पर भी इसी प्रकार कर लगाया जायेगा।

समुद्र और आकाश में चलने वाली नौकाओं पर कर

ऋग्वेद के एक मन्त्र में पूषा के लिए कहा गया है कि—

यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति ।

ऋग्वे० 6.58.3.

अर्थात्—'पूषन्न है पूषा सुवर्ण से भरी हुई (हिरण्ययीः) तेरी जो नौकायें समुद्र में और अन्तरिक्ष में चलती हैं।' इस मन्त्र में पूषा की नौकाओं के समुद्र और आकाश में चलने का वर्णन है। पूषा सम्राट् का ही एक रूप और प्रतिनिधि है। क्योंकि ये नौकाएँ पूषा के नियन्त्रण और अनुशासन में रहकर चलती हैं इसलिए इन्हें उपचार

से पूषा की नौकाएँ कह दिया गया है। इन नौकाओं को पूषा की कहकर उन पर पूषा के एक प्रकार के स्वामित्व की ओर भी इंगित कर दिया गया है। इन नौकाओं पर पूषा के स्वामित्व की यह व्यंजना है कि पूषा इन्हें अपना 'स्व' समझ कर, अपनी संपत्ति समझ कर, इनका अपने कार्यों के सम्पादन में उपयोग करता है। अर्थात् पूषा इनसे होने वाले लाभ का कुछ अंश अपने कार्यों के निष्पादनार्थ राज्यकोष के लिए प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि इनसे होने वाले लाभ पर नियमानुसार निर्धारित कर प्राप्त करता है।

नौकाओं को मन्त्र में 'हिरण्ययी' अर्थात् सुवर्ण की बनी हुई कहा गया है। समुद्र और आकाश में चलने वाली सब नौकाएँ, सब जहाज और विमान, सुवर्ण के नहीं बन सकते। धरती की खानों में सुवर्ण इतनी भारी मात्रा में उपलब्ध नहीं होता और अपने शुद्ध रूप में सुवर्ण नरम भी बहुत होता है। ये विमान और जहाज बनाने के लिए धातु तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिए और कठोर होनी चाहिए। इसलिए हमने 'हिरण्ययी' का अर्थ सुवर्ण से बनी हुई न करके लक्षणा से इसका अर्थ सुवर्ण से भरी हुई ऐसा कर दिया है। सुवर्ण से भरी हुई का भाव भी लक्षणा से सुवर्ण जैसे उपयोगी और मूल्यवान् पदार्थों से भरी हुई ऐसा समझना चाहिए। सचमुच में सुवर्ण से भरी हुई कोई नौका तो कभी-कभार ही चल सकती है जबकि सुवर्ण की किसी बड़ी राशि को कहीं दूर ले जाना हो।

मन्त्र के पूषा विषयक इस वर्णन से स्पष्ट ध्वनित होता है कि पूषा समुद्र और आकाश के जहाजों द्वारा इधर-उधर ले जाई जाने वाली व्यापारिक सामग्री पर भी कराधान करके उससे अपने राज्यकोष के लिए आय प्राप्त करता है।

विभिन्न प्रकार के व्यापारियों से कर-प्राप्ति

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में पूषा के लिए कहा गया है कि—

परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे ।

अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥

ऋ० 6.53.5.

अर्थात्—हे महा ज्ञानी (कवे) पूषा तुम अपनी आर से (आरया) व्यापारियों के (पणीनाम्)¹ हृदयों को छेद दो और इनको हमारे वश में कर दो (रन्धय)² ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आर का तात्पर्य कर-विषयक राजनियमों से है। ये नियम करदाताओं को आर की भाँति चुभते हैं इसलिए उन्हें आलंकारिक भाषा में आर ही कह दिया गया है। व्यापारियों के हृदयों को छेदने का भाव यह है कि जो व्यापारी स्वयं प्रसन्नतापूर्वक कर नहीं देते उन्हें कानून के भय से कर देने के लिए तैयार कर दिया जाये। 'हमारे वश में कर दो' इस कथन का भाव यह है कि प्रजाजन कह

¹ पणिजाम् इति सायणः । पणघातोर्व्यवहारोप्यर्थः ।

² वशीकृत् इति सायणः । रन्धयतिर्वशगमनेपि । निर० 6.6.32.

रहे हैं कि इन व्यापारियों से कर रूप में जो धन प्राप्त हो उसे जनता के कल्याण के कार्यों में लगा दिया जाये। जब तक व्यापारियों से कर नहीं प्राप्त हो रहा था तब तक उनका वह धन जन-कल्याण के कामों में नहीं लग सकता था और इस प्रकार वह धन जनता के वश में नहीं था। उनसे कर प्राप्त होने पर अब वह जनता के कल्याण के लिए व्यय हो सकता है, अब वह धन मानो जनता के वश में आ गया। पूषा को कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी गहरा ज्ञानी कहने का भाव है कि वह व्यक्तियों और परिस्थितियों को भली-भाँति पहचानता और समझता है इसलिए किसी भी परिस्थिति के अनुकूल कार्य करता है।

पूषा के विषय में मंत्र के इस वर्णन से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वह विभिन्न प्रकार के व्यापारियों पर कर लगाकर अपने राज्यकोष के लिए धन प्राप्त करता है।

घरों पर कर

ऋग्वेद के एक मंत्र में पूषा के विषय में कहा गया है कि—

समु पूषणा गमेमहि यो गृह्णां अभिशासति ।

इम एवेति च ब्रवत् ॥

ऋग्० 6.54.2.

मंत्र का अर्थ यह है कि—हम पूषा से मिलकर रहें जोकि हमारे घरों पर (गृहान्) शासन करता है (अभिशासति) और हमारे ये ही घर हैं ऐसा निश्चित कह देता है (ब्रवत्)।

‘पूषा का हमारे घरों पर शासन है’ मंत्र के इस कथन का भाव यह है कि पूषा की कर-व्यवस्था के अधीन लोगों के घर भी आते हैं। वह घरों पर भी नियमानुसार निर्धारित कर लगाता है। ‘हमारे ये ही घर हैं ऐसा निश्चित कह देता है’ मंत्र के इस कथन का भाव यह है कि वह भली-भाँति जाँच-पड़ताल करके निश्चित कर लेता है कि कौन सा घर किसका है और किसका नहीं। घरों के मालिक लोग कर से बचने के लिए घरों को छिपा भी सकते हैं। उन्हें झूठमूठ किसी और के नाम भी कर सकते हैं और कह सकते हैं कि अमुक घर हमारे नहीं है। पूषा के कर्मचारी जाँच-पड़ताल करके पता लगा लेते हैं कि कौनसा घर वस्तुतः किसका है और सही व्यक्ति से ही उसके घर पर निर्धारित कर लिया जाता है। ‘हम पूषा से मिलकर रहें’ मंत्र के इस कथन का यह तात्पर्य है कि लोगों को कर वसूल करने के काम में पूषा और पूषा के कर्मचारियों के साथ पूरा सहयोग करना चाहिए जिससे बिना किसी विवाद, झगड़े और अशान्ति के कर वसूलने का कार्य सम्पन्न हो सके।

मंत्र के पूषा विषयक इस वर्णन से यह स्पष्ट व्यंजना निकलती है कि पूषा लोगों के घरों पर कर लगाकर भी राज्यकोष के लिए धन प्राप्त करता है।

कर देने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया जाये

ऋग्वेद के एक मंत्र में पूषा से कहा गया है कि—

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय ।

पणेशिच् वि भ्रदा मनः ॥

ऋग्० 6.53.3.

अर्थात्—हे तेजस्वी और मंगलों के वर्षक पूषा जो व्यक्ति तुझे देय कर नहीं देना चाहता उसको भी (अदित्सन्तं चित्) कर देने के लिए (दानाय) प्रेरित कर (चोदय) और कर न देने वाले व्यापारी के भी (पणः चित्) मन को मृदु बना दे (भ्रदा)¹ अर्थात् उसके मन को ऐसा कोमल कर दे कि वह निर्धारित कर प्रसन्नतापूर्वक देने के लिए उद्यत हो जाये ।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो राज्य को देय कर देना नहीं चाहते और अपनी आय को छिपा कर रखते हैं । ऐसे लोग व्यापारी भी हो सकते हैं और दूसरे लोग भी हो सकते हैं । पूषा और उसके कर्मचारी इस प्रकार के लोगों का पता करके उनके पास पहुँचते हैं और उन्हें अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर उनके विचारों में परिवर्तन कर देते हैं और उनके मन को कर की देय राशि देने के लिए तैयार कर देते हैं । इस प्रकार अपनी कुशलता से पूषा के आदमी इस प्रकार के लोगों को भी कर देने के लिए उद्यत करके उनसे भी कर प्राप्त कर लेते हैं । इस मंत्र में कर न देने वालों को समझा-बुझा कर कर देने के लिए तैयार करने की ओर संकेत है । राजनियमों में निहित दण्ड के भय से कर प्राप्त करने की बात की ओर तो ऊपर निर्दिष्ट कुछ मंत्रों में प्रयुक्त किये गये 'अष्ट्रा' और 'आरा' शब्दों द्वारा संकेत कर दिया गया है । अधिक अच्छा यही है कि पहले तो लोगों को समझा-बुझा कर ही अपना देय कर देने के लिए उद्यत कर दिया जाए । यदि वे इस अच्छे उपाय से सही मार्ग पर न आयें तो फिर दण्ड का प्रयोग भी किया जा सकता है । पूषा और उसके कर्मचारी पहले इसी अच्छे उपाय का अवलम्बन करते हैं ।

कराधान और कर संग्रह में चौकला पूषा

पूषा के सम्बन्ध में वेद में निम्न प्रकार के वर्णन भी आते हैं—

1. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।

स नः पूषाविता भुवत् ।

ऋग्० 3.62.9.

2. पूषणश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते ।

नो अस्य व्यथते पविः ॥

ऋग्० 6.54.3.

इन मंत्रों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—(1) जो पूषा सब लोको को (भुवना) अर्थात् स्थानों और लोगों को सब ओर से विविध प्रकार से देखता है (अभि विपश्यति)

¹ दानार्थं मृदु कृ इति सायणः ।

और बहुत अच्छी तरह देखता है (संपश्यति) वह पूषा हमारी रक्षा करने वाला होवे ।
(2) पूषा के रथ का पहिया (चक्रं) कभी टूटता नहीं है, उसका कोश कभी खाली नहीं होता है, इसके पहिये की धार (पविः)¹ कभी खराब नहीं होती (न व्यथते) ।²

प्रथम मंत्र में कहा गया है कि पूषा सभी स्थानों और लोगों को सब ओर से देखता है और बहुत अच्छी तरह देखता है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ से और जिन लोगों से कर प्राप्त हो सकता है उनका पता पूषा भली-भाँति लगाता रहता है । आमदनी का कोई स्थान और साधन उसकी आँखों से बचा नहीं रहता । पूषा हमारी रक्षा करे मंत्र के इस कथन का भाव यह है कि वह जनता पर कठोर होकर आवश्यकता से अधिक कर न लगाये तथा जनता से प्राप्त कर की राशि को जनता के कल्याण में ही लगाता रहे । दूसरे मंत्र में कहा है कि पूषा के रथ का चक्र सर्वत्र अबाध गति से चलता रहता है, उसकी गति कभी रुकती नहीं है । इस कथन का अभिप्राय यह है कि पूषा के आदमी अपने वाहनों पर बैठकर कर वसूल करने के लिए कहीं भी पहुँच जाते हैं । वे अपने काम में आलस्य नहीं करते । इस प्रकार पूषा अपने कोश के लिए धन-संग्रह करता रहता है जिससे उसका कोश कभी खाली नहीं रहता । इस प्रकार पूषा कर-आधान और कर-संग्रह के काम में प्रमाद रहित होकर सदा चौकन्ना रहता है ।

वेद में अनेक स्थानों पर पूषा के लिए 'पथस्पति'³ और 'पथस्पथः परिपतिः'⁴ विशेषणों का प्रयोग किया गया है । इन विशेषणों में उसे पथ अर्थात् मार्गों का पति कहा गया है । उसे मार्गों का पति अर्थात् स्वामी कहने की यह व्यंजना है कि वह प्राप्ति के जितने भी मार्ग अर्थात् साधन हो सकते हैं उन सबका ज्ञान उसे रहता है । इसकी यह भी व्यंजना है कि कर-वंचना के जितने मार्ग अर्थात् तरीके हो सकते हैं उनका भी उसे पूरा ज्ञान रहता है और इस ज्ञान के कारण वह कर-वंचना नहीं होने देता । पूषा का यह विशेषण भी यहाँ उद्धृत दोनों मंत्रों के भाव का ही पोषण करता है ।

कर संग्रह में लोगों को सताने वाले कर्मचारियों को दण्ड दिया जाये

निम्न मंत्र में पूषा के लिए कहा गया है कि—

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति ।

अप स्म तं पथो जहि ॥

—ऋग्० 1.42.2.

अर्थात्—'हे पूषा जो पापी स्वभाव का (अघः) और भेड़िये की भाँति कष्ट देने वाला (वृकः) तथा दुःखदायी (दुःशेवः) व्यक्ति अर्थात् राजकर्मचारी हमें कर आदि के रूप में

¹ धारा इति सायणः ।

² न कुण्ठी भवति इति सायणः ।

³ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 6.53.1.

⁴ उदाहरण के लिए देखें—यजु० 34.42.

घन देने के लिए आदेश देता है (आदिदेशति) उस दुष्ट व्यक्ति को रास्ते से हटा दो और दण्डित करो (अपजहि) ।

मंत्र में प्रयुक्त 'अघः', 'वृकः' और 'दुःशेवः' शब्द कर-संग्रह करने वाले व्यक्ति की दुष्टता की ओर संकेत करते हैं । 'हमें आदेश करता है' इस कथन से यह सूचित होता है कि जिस व्यक्ति का वर्णन हो रहा है वह राजकर्मचारी है । मंत्र में प्रयुक्त 'जहि' क्रिया का अर्थ हिंसा अर्थात् दण्डित करना और मारना होता है । इस क्रिया के साथ लगे 'अप' उपसर्ग का अर्थ दूर करना होता है । उपसर्ग और क्रिया का समुदित भाव यह है कि ऐसे दुष्ट व्यक्ति को मार्ग से हटा दो और उसे दण्डित करो तथा आवश्यक होने पर उसे प्राणदण्ड भी दो । मार्ग से हटा दो कहने का भाव यह है कि उसे कर-संग्रह के काम से पृथक् कर दो ।

चोरी करने वाले कर-संग्रही को दण्डित किया जाये

ऋग्वेद के एक मंत्र में पूषा से कहा गया है कि—

अप त्वं परिपन्थिनं मुपीवाणं हुरश्चितम् ।
दूरमधि स्रुतेरज ॥

ऋग्वे० 1.42.3.

अर्थात्—'हे पूषा जो व्यक्ति राष्ट्र का शत्रु होकर (परिपन्थिनं) लोगों से प्राप्त किये गये कर की चोरी कर लेता है (मुपीवाणं) और जिसमें कुटिलतायें भरी हुई हैं (हुरश्चितम्)¹ ऐसे उस दुष्ट पुरुष को मार्ग से (स्रुतेः)² दूरकर भगा दे (अप अज) ।'

मंत्र का भाव यह है कि कुटिलता युक्त व्यवहार वाला जो कर्मचारी जनता से प्राप्त कर की चोरी कर लेता है और इस प्रकार उसका शत्रु बन जाता है उसे कर-संग्रह के काम से पूषा हटा दे और दण्डित करे ।

करदाताओं को कर-विषयक नियमों की जानकारी दें

निम्न मंत्र में पूषा से कहा गया है कि—

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति ।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥

ऋग्वे० 6.54.1.

अर्थात्—'हे पूषा हमें उस विद्वान् व्यक्ति से मिला जो सरलता से (अञ्जसा)³ शिक्षित कर (अनुशासति)⁴ अर्थात् कर-विषयक नियमों के सम्बन्ध में सब आवश्यक जानकारी

¹ कौटिल्यानां संचेतारम् इति सायणः ।

² स्रुतेः मार्गात् इति सायणः ।

³ ऋजु मार्गेण इति सायणः ।

⁴ अनुशास्ति उपदिशति इति सायणः ।

भली-भाँति दे दे, और जो यह बतावे कि यह बात इस प्रकार है और यह बात इस प्रकार है ।’

मंत्र में पूषा का यह कर्तव्य बताया गया है कि उसे करदाताओं के पास कर-विषयक नियमों के ज्ञाता इस प्रकार के सुलझे हुए व्यक्ति भेजते रहना चाहिए जो उन्हें कर सम्बन्धी सब बातों को ठीक-ठीक और भली-भाँति समझाते रहें। ऐसा करने से करदाताओं को कर-विषयक नियमों को समझने और तदनुसार करों का भुगतान करने में सुगमता होगी।

पूषा करदाताओं की शिकायतों को सुनता है

ऋग्० 6.54.8 मंत्र में पूषा के लिए ‘शण्वन्तम्’ यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का अर्थ है—‘सुनने वाला’। पूषा सुनने वाला है, वह सबकी बातें सुनता है। जो लोग उसके सम्पर्क में आते हैं वह उन सबकी बातें सुनता है। उसके सम्पर्क में सबसे अधिक करदाता लोग आते हैं। करदाता लोग उसके आगे अपनी जो भी कठिनाइयाँ और शिकायतें रखते हैं पूषा और उसके कर्मचारी उन्हें ध्यान से सुनते हैं और उनका निराकरण करते हैं।

करदाताओं के साथ मित्रता का व्यवहार किया जाना चाहिए

ऋग्० 6.55.5 में प्रजाजन पूषा से कह रहे हैं कि हे पूषा तुम ‘सखा मम’ अर्थात् मेरे मित्र हो। प्रजाजनों द्वारा पूषा को अपना मित्र कहे जाने का यह स्पष्ट निष्कर्ष है कि पूषा उनके साथ मित्रता का बरताव करता है तभी तो वे उसे अपना मित्र कहते हैं। इस कथन की यह व्यंजना है कि पूषा विभाग के, अर्थ विभाग के, कर्मचारियों को कर-संग्रह के कार्य में जनता के साथ मित्रता का मधुर और प्रेममय व्यवहार करना चाहिए।

कराधान असह्य नहीं होना चाहिए

ऋग्वेद के एक मंत्र में प्रजाजन पूषा से कह रहे हैं कि—

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन।

स्तोतारस्त इह स्मसि ॥

ऋग्० 6.54.9.

अर्थात्—‘हे पूषा हम तेरे कर्म में (व्रते) अर्थात् कर लगाने के कर्म में कभी भी नष्ट न हों (न रिष्येम), हम तो तेरे इस कर्म में तेरी स्तुति और प्रशंसा करने वाले बने रहें।’ पूषा को कभी करदाताओं पर इतना भारी कर नहीं लगा देना चाहिए कि वह उनके लिए असह्य हो जाये और वे उसके भार से दबकर मर जाएँ तथा उनका कारोबार ही चौपट हो जाए, कारोबार को बढ़ाने के लिए उनके पास कुछ बचे ही नहीं। पूषा को करदाताओं पर कराधान इतना करना चाहिए जिसे वे सहन कर सकें और खुशी-

खुशी दे सकें। कर इस प्रकार लगाना चाहिए कि वे उसकी प्रशंसा करें। उनके पास अपने परिवार की भरण-पोषण आदि विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी यथेष्ट राशि बची रहे तथा कारोबार को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक पूँजी भी उनके पास बची रहे। इस बात को ध्यान में रखकर ही करदाताओं पर कर की राशि निर्धारित की जानी चाहिए। इसका ध्यान रखा जायेगा तो करदाता लोग सदा पूषा और उसके विभाग की प्रशंसा करेंगे और अपना देय कर प्रसन्नतापूर्वक देंगे।

पूषा से की गई प्रार्थनाएँ

जब हम वेद के पूषा-विषयक मंत्रों को पढ़ते हैं तो वहाँ हम देखते हैं कि पूषा से भाँति-भाँति के पशु, धन-धान्य, वस्त्र आदि विविध प्रकार की सम्पदा देने की प्रार्थनाएँ की गई हैं। वेद का स्वाध्याय करने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भली-भाँति जानता है। इसलिए यहाँ इस सम्बन्ध में वेद से कोई उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है। हम पूषा-विषयक इस प्रकरण में यह देख रहे हैं कि पूषा का अपना विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप अर्थ विभाग के मंत्री का है। हम यह भी यहाँ देख रहे हैं कि पूषा कृषि, पशु, वस्त्र, व्यापार और खानों आदि से प्राप्त होने वाली आय पर कर लगा कर राज्यकोश के लिए धन प्राप्त करता है। तब पूषा से ये सब चीजें, जिन पर कि वह कर लगाता है, प्राप्त करने के लिए की गई प्रार्थनाओं का क्या अभिप्राय होगा? पूषा से की गई इन प्रार्थनाओं की ध्वनि या व्यंजना यह है कि पूषा प्रजाजनों की पशुओं, कृषि तथा व्यापार आदि से होने वाली आय से जो कर वसूल करता है उससे प्राप्त होने वाले धन को वह पुनः जनता के कल्याण में लगाकर जनता को अपने काम-धन्धे चलाने और बढ़ाने में सहायता दे। जनता से प्राप्त धन को वह जनता के ही भले के लिए लगा दे। जैसे कि रघुवंश में महाकवि कालिदास ने महाराजा दिलीप के विषय में कहा है कि 'वह प्रजाओं से जो कर लेता था उसे प्रजाओं की वृद्धि के लिए ही लेता था जैसाकि सूर्य धरती से जो पानी खींचता है उसे वह हजार गुणा बनाकर पुनः धरती पर छोड़ने के लिए ही खींचता है।'¹

माँ का पति और बहिन का जार पूषा (निष्पक्ष कर-आधान)

ऋग्वेद के एक मंत्र में पूषा के लिए कहा गया है कि—

मातुर्दिधिषुमन्नवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः ।

आतेन्द्रस्य सखा मम ॥

ऋग्० 6.55.5.

इस मंत्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—माता के पति (दिधिषु) पूषा से मैं कहता हूँ कि वह बहन का (स्वसुः) जार (जारः) हमारी बात सुने, जोकि इन्द्र का भ्राता

¹ प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।

सहस्रगुणमुत्सष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ रघु० 1.18.

और मेरा मित्र (सखा) है ।

मंत्र का यह अर्थ ऊपर-ऊपर से देखने पर बड़ा अटपटा और घृणित सा लगता है । वेद के प्रति जैसी आदर और श्रद्धा की भावना भारतीय आयों में परम्परा से चली आ रही है वैसे भावना वेद के प्रति न रखने वाले अनेक पाश्चात्य लेखक और उनके अनुयायी कुछ आधुनिक भारतीय लेखक भी वेद के इस प्रकार के स्थानों का मजाक उड़ाते हैं । और कहते हैं कि इस प्रकार की भद्दी और अश्लील बातें जिस ग्रन्थ में पाई जाती हैं वह ईश्वरीय कैसे हो सकता है । इस प्रकार के स्थलों के आधार पर ये लोग यह भी कहते हैं कि प्राचीन भारतीय आयों में यौन सम्बन्धों की पवित्रता नहीं थी । इन लेखकों के अनुसार उस जमाने में माता और पुत्र तथा बहन और भाई भी आपस में यौन सम्बन्ध कर लिया करते थे और भाई-बहन की शादियाँ भी हो जाया करती थीं । वेद की अस्तनिहित वास्तविक भावना को न समझ पाने के कारण इस प्रकार के लोग ऐसी अनर्गल बातें लिखते हैं । जिन वेदों में अस्यवामीय सूक्त (ऋग्० 1.164), विश्वकर्मा सूक्त (ऋग्० 10.81-82), हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋग्० 10.121), नासदीय सूक्त (ऋग्० 10.129), तदेवानिः अध्याय (यजु० 32), ईशावास्यम् अध्याय (यजु० 40), वेन सूक्त (अथ० 2.1), स्कम्भ सूक्त (अथ० 10.7-8) और ब्रह्मचर्य सूक्त (अथ० 11.5) जैसे ऊँचे आध्यात्मिक विचारों से भरे हुए प्रकरण मिलते हैं । जिनके आधार पर उपनिषदों जैसे महान् आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना हुई है, जिन वेदों में सामवेद नामक स्वयं एक वेद हो जिसका सारा विषय ही भक्ति और अध्यात्म हो, उन वेदों में इस प्रकार गहि़त बातों का प्रतिपादन किया गया हो ऐसा सम्भव ही नहीं है । ऋग्० 10.10.12 और अथ० 18.1.14 में भाई-बहन के विवाह के सम्बन्ध में घोषणा की गई है कि 'पापमादुर्यः स्वसारं निगच्छात्' अर्थात् 'वह पापी होता है जो बहन से विवाह कर ले ।' जो वेद बहन से विवाह करने को ही पाप कर्म मानता है वह भाई के द्वारा बहन के साथ जारकर्म करने की बात कैसे कह सकता है ? इसी प्रकार जो वेद भाई के बहन से विवाह को ही पापकर्म मानता है वह पुत्र के माता से विवाह की बात कैसे कर सकता है ? क्योंकि भाई और बहन का सम्बन्ध जितना निकट का है माता और पुत्र का सम्बन्ध तो उससे भी कहीं अधिक निकट का है ।

इसलिए इस उद्धृत मंत्र का ऊपर-ऊपर से जो अर्थ प्रतीत होता है वह इसका सही अर्थ नहीं हो सकता । एक और दृष्टि से भी वह अर्थ सही अर्थ नहीं हो सकता । पूषा के पोषण करने वाला इस घात्वर्थ के आधार पर वेद में उसके विशेषणों और प्रकरण के अनुसार अनेक अर्थ हो जाते हैं । उसका एक अर्थ परमात्मा भी होता है । भला परमात्मा की कौन माता और कौन बहन है जिसका कि वह पति और जार बनता है ? उसका एक अर्थ सूर्य भी होता है । भला सूर्य की कौन माता और कौन बहन है जिसका कि वह पति और जार बनता है ? उसका एक अर्थ वायु भी होता है । भला वायु की कौन माता और कौन बहन है जिसका कि वह पति और जार

वनता है ? उसका एक अर्थ पृथिवी भी होता है । भला पृथिवी की कौन माता और कौन बहिन है जिसकी कि वह पति और जार वनती है ? पूषा के और भी कई अर्थ कहीं-कहीं हो जाते हैं । उन अर्थों में भी यही प्रश्न उत्पन्न होगा । इसलिए इस मंत्र में आये माता, दिधिषु और जार शब्दों का वह अर्थ नहीं हो सकता जो लोक में इनका अर्थ प्रसिद्ध है ।¹

हम इस प्रकरण में पूषा का ~~अर्थ~~ अर्थ-मंत्री या लोगों से कर-संग्रह करने वाला राज्य का सर्वोच्च अधिकारी कर रहे हैं । पूषा के इस अर्थ में भी मंत्र का यह ऊपर-ऊपर से देखने वाला अटपटा अर्थ संगत नहीं हो सकता । मंत्र में पूषा को इन्द्र का भ्राता कहा गया है । पूषा, इन्द्र (सम्राट्) का एक सहकारी राज्याधिकारी होने के कारण इन्द्र का भ्राता है ही । वह कर-संग्रह द्वारा धन एकत्र करके इन्द्र (सम्राट्) और तदुपलक्षित सभी राज्याधिकारियों का भरण-पोषण करता है । इस यौगिक अर्थ में भी वह इन्द्र का भ्राता है । पूषा को इस मंत्र में बोल रहे प्रजाजन का, 'मम सखा', कहकर मित्र भी कहा गया है । पूषा अपने कर-आधान और कर-संग्रह के काम में प्रेम और मधुरता का मित्र का सा हितैषिता का व्यवहार प्रजाजनों के साथ करता है इसलिए वह उनका मित्र बन ही जाता है । अब, पूषा के इस प्रसंग में उसे माता का पति और बहिन का जार कहने की भला क्या तुक हुई ?

वेद में परमात्मा को कवि और उसकी रचना वेद को काव्य कहा गया है । वेद की अधिकांश रचना छन्दोबद्ध कविता में है । काव्य की एक शैली प्रहेलिका या पहेली भी होती है । प्रहेलिका का वह अर्थ नहीं हुआ करता जो ऊपर-ऊपर से पढ़ने या सुनने से प्रतीत होता है । उसका वास्तविक और सही अर्थ कुछ और ही हुआ करता है । काव्य में रोचकता उत्पन्न करने तथा पाठक की विचार-शक्ति को उत्तेजित करने के लिए कवि लोग प्रहेलिका की शैली में भी काव्य की रचना किया करते हैं । वेद में भी अनेक स्थानों पर इस प्रहेलिका शैली को अपनाया गया है । प्रस्तुत मंत्र भी इसी प्रकार का एक प्रहेलिका शैली का मंत्र है । इस मंत्र का भी ऊपर-ऊपर से प्रतीत होने वाला अटपटा, असंगत और वेद की उदात्त भावना के विरुद्ध अर्थ इसका सही और वास्तविक अर्थ नहीं है ।

हम यहाँ पूषा का अर्थ-मंत्री विषयक अधिराष्ट्र अर्थ दिखा रहे हैं । पूषा के इस अधिराष्ट्र अर्थ में इस प्रहेलिकात्मक मंत्र का क्या अर्थ होगा अब उसे देखिये । मंत्र में पहले तो पूषा को माता का 'दिधिषु' कहा है । लौकिक संस्कृत में दूसरी बार विवाह करने वाली स्त्री के पति को दिधिषु कहा जाता है । इस शब्द का सामान्य पति के अर्थ में भी प्रयोग हो जाता है । सायणाचार्य ने इस मंत्र में इसका अर्थ पति ही किया है । यह शब्द संस्कृत की 'धा' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ धारण

¹ विभक्ति इति भ्राता । इ भूम् धारणपोषणयोः । तृच्प्रत्ययः । उणादि० 2.95 सूत्रेण रूपमिद्धिः ।

और पोषण करना होता है। इसलिए दिधिषु¹ शब्द का यौगिक अर्थ होता है धारण और पोषण करने वाला। सायणाचार्य ने अन्यत्र ऋग्० 10.78.5 में इस शब्द का अर्थ धारक अर्थात् धारण करने वाला ही किया है। ऋषि दयानन्द ने भी इस शब्द का अर्थ धारक ही किया है। अतः मंत्र की पहली को खोलने के लिए इस शब्द का लोक प्रसिद्ध रूढ़ अर्थ पति न करके यौगिक अर्थ धारण-पोषण करने वाला करना होगा। यों पति शब्द का यौगिक अर्थ भी रक्षा और पालना करने वाला ही होता है। अब लीजिए माता शब्द को। पहली को खोलने के लिए इस शब्द का अर्थ भी हमें यौगिक ही लेना होगा। माता शब्द का यौगिक अर्थ निर्माण करने वाली होता है। इस यौगिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए माता शब्द के वेद में कई अर्थ हो जाते हैं। वेद में इसका एक अति प्रसिद्ध अर्थ पृथिवी भी होता है। सायणाचार्य ने कई स्थानों पर माता का अर्थ पृथिवी भी किया है। ऋषि दयानन्द ने भी कई स्थानों पर माता का अर्थ पृथिवी² किया है। स्वयं वेद में भी पृथिवी को कई जगह माता कहा गया है। अथ० 2.28.4 में रोगी के लिए प्रार्थना की गई है कि हे रोगी पिता द्यौ और माता पृथिवी तुझे दीर्घायु करें।³ अथ० 12.1.12 में भूमि को माता⁴ और उसके निवासियों को उसके पुत्र कहा गया है। अथर्ववेद के जिस प्रकरण का यह मंत्र है वहाँ भूमि को किसी राष्ट्र की मातृभूमि के रूप में उपस्थित किया गया है। इस प्रकार वेद में माता का अर्थ पृथिवी भी होता है और कई प्रसंगों में उसका अर्थ मातृभूमि भी होता है। मंत्र की पहली को सुलझाने के लिए हमें यहाँ माता का अर्थ पृथिवी अर्थात् मातृभूमि करना चाहिए। हम पूषा का अधिराष्ट्र अर्थ वित्त-मंत्री कर रहे हैं। पूषा के इस अर्थ में माता का मातृभूमि अर्थ बड़ा सुन्दर संगत हो जायेगा। पूषा माता का दिधिषु है अर्थात् वह मातृभूमि का धारण और पोषण करने वाला है। इस कथन का यह ध्वनितार्थ है कि पूषा प्रजाजनों से कर के रूप में जो भी धन-संग्रह करे उसे उसको मातृभूमि के धारण-पोषण में ही, अपने राष्ट्र के कल्याण-मंगल के कार्यों में ही, व्यय करते रहना चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति में उसका व्यय नहीं होना चाहिए।

मंत्र में पूषा के लिए फिर कहा गया है कि वह स्वसा अर्थात् बहिन का जार है। इस पहली को खोलने के लिए हमें जार शब्द का भी यौगिक अर्थ लेना होगा। लोक में परस्त्री से अनुचित सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति को जार कहते हैं। जार शब्द संस्कृत की 'जू' (जूष) धातु से व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ 'वयोहानि' करना होता है। वयोहानि का तात्पर्य होता है जीर्ण हो जाना, जीर्ण कर देना, क्षीण हो जाना, क्षीण कर देना, नष्ट हो जाना, नष्ट कर देना, किसी वस्तु के विशुद्ध रूप को बिगाड़

¹ उणादि० 1.93.

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.164.8.

³ शीष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने। अथ० 2.28.4.

⁴ माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। अथ० 12.1.12.

देना और विनष्ट कर देना आदि । वृद्धावस्था का वाचक संस्कृत का 'जरा' शब्द भी इसी धातु से बनता है । जरा जीवन और स्वास्थ्य को नष्ट कर देती है, समाप्त कर देती है । जार का यौगिक शब्दार्थ भी इस प्रकार की वयोहानि करने वाला व्यक्ति होता है । जो किसी वस्तु के विबुद्ध रूप को नष्ट कर दे, बिगाड़ दे, उसे अपने रूप में न रहने दे, वह जार¹ कहा जायेगा । लोकप्रसिद्ध जार को भी जार इसीलिए कहा जाता है क्योंकि वह परस्त्री की पवित्रता को विनष्ट कर देता है । मंत्र के 'स्वसुर्जानः' प्रयोग में भी जार शब्द का यही यौगिक धात्वर्थ लेना होगा । पूषा का अधिराष्ट्र अर्थ कर-आधान और कर संग्रह करने वाले विभाग का मंत्री या राज्याधिकारी है यह हम इस प्रकरण में देख ही रहे हैं । इस अधिकारी को बहिन का 'जार' अर्थात् बहिन के स्वरूप को नष्ट करने वाला, उसके स्वरूप को न रहने देने वाला, कहने का भाव क्या हुआ ? इसका भाव यह है कि जब कर-आधान करने और कर-संग्रह की बात हो तो कर अधिकारी को अपनी बहिन को भी बहिन नहीं समझना चाहिए, उस समय उसे बहिन को भी बहिन रूप में नहीं देखना चाहिए, उस समय उसे अपने लिए बहिन के रूप को नष्ट कर देना चाहिए, समाप्त कर देना चाहिए । उस समय उसे बहिन को भी एक सामान्य करदाता के रूप में ही देखना चाहिए और उस पर भी नियमानुसार निर्धारित कर लगाना चाहिए और उससे उसे वसूल करना चाहिए । बहिन का सम्बन्ध बड़ा स्निग्ध और मधुर सम्बन्ध होता है । हो सकता है कि कर अधिकारी के मन में बहिन के प्रति स्नेह के कारण बहिन के प्रति पक्षपात करने की भावना जाग जाये और वह बहिन पर कम कर-निर्धारण कर दे । मंत्र का पूषा विषयक यह वर्णन यह व्यंजित करता है कि कर-निर्धारण के समय कर-अधिकारी को बहिन को भी नहीं छोड़ना चाहिए । उसे बहिन पर भी नियमानुसार निर्धारित सही कर लगा कर राज्य के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए । उसे अपने और पराये सब पर पक्षपात रहित होकर कर लगाना चाहिए । राज-कर्मचारियों द्वारा अपने कर्तव्य के पालन के सम्बन्ध में वेद का इतना ऊँचा आदर्श है ।

मन्त्र में 'पूषा हमारी बात को सुने' इस वाक्य का भाव तो स्पष्ट ही है कि पूषा को करदाताओं की बातें ध्यान से सुननी चाहिए और उनकी शिकायतों को दूर करना चाहिए । मन्त्र में जो पूषा को इन्द्र का भ्राता और अपना मित्र कहा गया है उसका तात्पर्य ऊपर स्पष्ट किया ही जा चुका है । इस प्रकार मन्त्र का यह अर्थ बन गया कि 'मातृभूमि का भरण-पोषण करने वाला, कर निर्धारण में बहिन का भी पक्षपात न करने वाला, सम्राट् के लिए भ्राता रूप और हम प्रजाजनों का मित्र पूषा हमारी बात ध्यान से सुने ।' और ऐसा कहकर मन्त्र में पूषा के कुछ कर्तव्यों की ओर भी संकेत कर दिया गया है ।

पूषा के सूर्य आदि अन्य अर्थ करने की अवस्था में प्रस्तुत मन्त्र की इस पहेली

¹ जारः जरयिता । निब० 3.3.16, निब० 10.2.21.

यद्वा जीर्यते अनेन इति जारः ।

के समाधान भिन्न प्रकार के होंगे ।

करों के आधान और संग्रह में सत्य का परिपालन

ऋग्वेद के एक मन्त्र में पूषा से प्रार्थना की गई है कि—

रथीऋतस्य नो भव ।

ऋग० 6.55.1.

अर्थात्—‘हे पूषा तुम हमारे लिए सत्य के (ऋतस्य) रथी अर्थात् सत्य के रथ पर चढ़ कर चलने वाले बनो ।’ मन्त्र में पूषा से की गई इस प्रार्थना का ध्वनितार्थ यह है कि उसको अपने कामों और व्यवहार में सत्य का ही सदा आचरण करना चाहिए । किसी अवस्था में भी उसे असत्य का आश्रय नहीं लेना चाहिए । पूषा और उसके कर्मचारियों का काम विविध प्रकार के व्यवसाय करने वाले प्रजाजनों की आमदनी पर करों का आधान और संग्रह करना होता है । अपने इस काम में उन्हें असत्य का अवलम्बन कभी नहीं करना चाहिए । किसी प्रकार के लोभ-लालच और ईर्ष्या-द्वेष आदि में पड़ कर उन्हें असत्य का सहारा लेकर न तो किसी की आय का अधिक आकलन करना चाहिए और न ही पक्षपात में पड़कर किसी की आय का आकलन कम करना चाहिए । उन्हें लोभ-लालच और राग-द्वेष से परे रहकर अपने-पराये सब की आय का ठीक-ठीक आकलन करना चाहिए । किसी परिस्थिति में भी उन्हें अपने सत्य के रथ से नीचे नहीं उतरना चाहिए ।

पूषा के अजाश्व

पूषा का वेद में कई स्थानों पर एक विशेषण ‘अजाश्व’¹ आता है । सायणाचार्य आदि भाष्यकार इस विशेषण का अर्थ ‘अज अर्थात् बकरे हैं अश्व जिसके’² ऐसा करते हैं । पूषा के इस विशेषण और इसी प्रकार के उसके कुछ अन्य वर्णनों के आधार पर यह समझा जाता है कि उसके घोड़े बकरे हैं और उसे जब कहीं जाना होता है तो वह अपने बकरों पर चढ़कर ही जाता है । निरुक्तकार आचार्य यास्क ने भी पूषा के घोड़े अज हैं ऐसा ही लिखा है । यह कल्पना हमें ठीक प्रतीत नहीं होती । अग्नि के घोड़े मेघ अर्थात् मेंढ़े, अश्विनो के घोड़े रासभ अर्थात् गधे और पूषा के अज अर्थात् बकरे और अन्य देवों के इसी प्रकार अन्य प्रकार के घोड़े हैं यह पौराणिक कल्पना है । इस कल्पना का प्रभाव सायण आदि भाष्यकारों पर भी पड़ गया । पूषा को सायण आदि भाष्यकार सूर्य का ही एक रूप मानते हैं । सूर्य के घोड़े बकरे कैसे होंगे ? पूषा का एक अर्थ पृथिवी भी किया जाता है । पृथिवी में घोड़े भी बकरे कैसे होंगे ? ये सब कल्पनाएँ अतर्काल हैं और बुद्धि-विरुद्ध हैं । ऋषि दयानन्द ने ‘अजाश्व’ का अर्थ ‘अज

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग० 6.58.2.

² अजा अश्वा यस्य इति सायणः ।

हैं अश्व जिसके' ऐसा न करके 'अज और अश्व हैं जिसके'¹ ऐसा किया है। ऋषि के इस अर्थ का तात्पर्य यह है कि पूषा अजों और अश्वों वाला है, इन पशुओं पर पूषा का अधिपत्य है। पूषा को अन्यत्र 'पशुपाः', 'पशूनामधिपतिः' आदि विशेषण वेद में दिये ही गये हैं जिनके सम्बन्ध में ऊपर के पृष्ठों में विचार किया गया है। उसी अभिप्राय से वेद में पूषा 'अजाश्व' भी कहा गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि वह अज अर्थात् बकरे-बकरी पालने वालों से तथा अश्व पालने वालों से उनकी आय पर कर लेता है तथा इन पशुओं के पालन में उनकी सहायता करता है। ऋग्० 10.26.5 में पूषा को 'अश्वहयः'² कहा गया है। सायणाचार्य ने इसका अर्थ 'अश्वों के द्वारा चलने वाला' ऐसा किया है। पूषा के इस विशेषण में स्पष्ट कहा गया है कि वह अश्वों की सवारी पर चलता है। इस प्रकार बकरों को पूषा के छोड़े मानना संगत नहीं है। ऋग्० 6.55.6 आदि स्थलों में जहाँ ऐसा स्पष्ट वर्णन है कि 'अज पूषा को रथ में वहन करते हैं वहाँ भी 'अज' धातु के, जिससे कि अज शब्द निष्पन्न होता है, गति अर्थ को ध्यान में रखकर अज का अर्थ गतिशील अर्थात् शीघ्रगामी अश्व कर लेना चाहिए। पूषा के अधिराष्ट्र अर्थ में अजाश्व विशेषण का उपयुक्त अर्थ ही संगत होता है।

अधिष्ठात्री देवतावाद की कल्पना बुद्धि-संगत नहीं

पौराणिक मान्यता रखने वाले सज्जन यह कह सकते हैं कि अग्नि, वायु, सूर्य और पृथिवी आदि के दिखाई देने वाले बाह्य शरीरों के पीछे इनके अधिष्ठात्री देवता भी होते हैं जोकि 'पुरुषविष' होते हैं अर्थात् जिनके शरीरों की बनावट मनुष्यों के शरीरों की भाँति होती है और जो मनुष्यों की तरह ही सब कार्य करते हैं। इसलिए पूषा का अर्थ सूर्य और पृथिवी होने पर भी वह अधिष्ठात्री देवता के रूप में अज अर्थात् बकरे की सवारी कर सकता है। इसलिए उसे अजाश्व कहना ठीक ही है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि वेद में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि अग्नि, वायु और सूर्य आदि के अधिष्ठात्री देवता भी होते हैं। यह कल्पना पौराणिक विचारधारा के भाष्यकारों ने वेद पर थोप दी है। फिर यदि ऐसी बात है तो जब सूर्य रूपी पूषा की सवारी बकरे हैं तो वह बकरों पर चढ़कर चलता हुआ दिखाई क्यों नहीं देता ? कहा जा सकता है कि सूर्य आकाश में बहुत दूर है इसलिए उसकी सवारी के बकरे दिखाई नहीं देते। पूषा का अर्थ पृथिवी भी तो किया जाता है। पृथिवी तो हमारे अति समीप है। उसकी अधिष्ठात्री देवता कभी बकरों के रथ पर चढ़कर चलती हुई क्यों दिखाई नहीं देती ? फिर एक और विचित्र बात है। सूर्य एक ही है। जब उसे सूर्य या आदित्य नाम से कहा जाता है तब उसकी सवारी 'हरित' नामक

¹ अजाश्व अश्वश्व यस्य इति दयानन्दविः ।

² अश्वहयं इति अश्वहयः । हयतिर्गतिर्मा । रथानां संवन्धिभिरश्वैर्गमनशीलो भवति । इति सायणः ।

सात घोड़ों की हो जाती है। जब उसे पूषा कहा जाता है तो उसकी सवारी बकरे हो जाते हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार तो वृक्षों, जंगलों, नदियों, समुद्रों, पर्वतों, घरों और नगरों आदि की भी अधिष्ठात्री देवताएँ होती हैं। ये अधिष्ठात्री देवताएँ कभी किसी ने नहीं देखीं। अधिष्ठात्री देवतावाद की यह कल्पना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। यह कल्पना सर्वथा मिथ्या है और बुद्धि-संगत नहीं है। ऐसी कल्पनाएँ वेद पर थोप कर उसे हास्यास्पद बना दिया गया है।

पूषा के सम्बन्ध में इस प्रकरण में जो कुछ लिखा गया है उसके इन और ऐसे ही अन्य काव्यमय वर्णनों द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्रों में इस प्रकार का एक पूषा विभाग या अर्थविभाग भी होना चाहिए।

पूषा पद की निरुक्ति की संगति

पूषा शब्द पुष्टि करने अर्थ वाली 'पूष' या 'पुष' धातुओं से निष्पन्न होता है। 'पूषति पुष्णाति इति पूषा'¹ अर्थात् जो पुष्टि करे, पोषण करे, वह पूषा। अर्थविभाग का मन्त्री भी सारे राज्यतन्त्र का पोषण करता है। इस प्रकार पूषा शब्द की निरुक्ति भी अर्थ-मन्त्री अर्थ में संगत हो जाती है।

11. सविता : विधिमन्त्री

सविता का मानव और राजा रूप

सविता भी एक इन्द्र का सहचारी देवता है। अग्नि, वरुण आदि अन्य देवताओं की भाँति सविता का भी वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र के सहचारी के रूप में वर्णन आता है। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी सविता का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा इस पर हमें यहाँ विचार करना है। जैसा कि हमने ऊपर अनेक बार निर्देश किया है वेद में इन्द्र, वरुण, अग्नि और सविता आदि देवों को सामूहिक रूप में 'आदित्याः', 'विश्वेदेवाः' और 'देवाः' नामों से भी वर्णित किया गया है। और सामूहिक रूप में इनके लिए 'नरः' और 'मनुष्यः' आदि मनुष्यवाचक नामों का भी प्रयोग किया गया है। देवों के लिए इन मनुष्यवाचक नामों के प्रयोग से अन्य देवों की भाँति सविता भी मनुष्य बन जाता है। इसी प्रकार सामूहिक रूप में देवों के लिए 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का प्रयोग भी वेद में किया गया है। देवों के लिए इन राजा के वाचक शब्दों के प्रयोग से सविता भी राजा बन जाता है। इस प्रकार सविता का एक रूप वेद में मनुष्य और राजा का भी हो जाता है। और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में सविता का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षाएँ उपलब्ध होने लगती हैं। वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र है यह हम निरन्तर देखते

¹ ऋणादि० 1.159 सूत्रेण रूपसिद्धिः ।

हो आ रहे हैं। इसलिए सविता के लिए राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया समझना चाहिए। सविता अपने विभाग के कार्यों को इन्द्र के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर करेगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा इसलिए वह भी एक प्रकार से इन्द्र या सम्राट् ही होगा।

सविता के 'प्रसव'

अब हमने यह देखना है कि इन्द्र के सहचारी और सहयोगी के रूप में सविता का अपना विशिष्ट स्वरूप और विभाग क्या होगा। सविता के मन्त्रों और सूक्तों को बारीकी से देखने पर हमें वहाँ कुछ ऐसे निर्देश मिल जाते हैं जिनके आधार पर हम उसका अधिराष्ट्र स्वरूप भली-भाँति निर्धारित कर सकते हैं। वेद में सविता का एक प्रमुख कार्य 'सव' या 'प्रसव' बताया गया है। स्थान-स्थान पर सविता के 'सव' या 'प्रसव' का उल्लेख वेद में आता है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

- | | |
|------------------------------------|-------------------------------|
| 1. आ सवं सवितुर्यथा । | ऋग्० 8.102.6. |
| 2. देव सवितः.....सवेन च । | ऋग्० 9.67.25;
यजु० 19.43. |
| 3. सवितुर्वः प्रसव उत्पुनामि । | यजु० 1.12. |
| 4. देवस्य सवितुः सवे । | अथ० 6.23.3. |
| 5. श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नः । | ऋग्० 1.164.26;
अथ० 7.73.7. |
| 6. सवितुः सवार्यं । | ऋग्० 11.113.1. |
| 7. सवितुः सत्यसवस्य । | ऋग्० 10.36.13. |
| 8. सवितुः सवे सत्यसवसः । | यजु० 9.10. |
| 9. सवितुः सवे सत्यप्रसवसः । | यजु० 9.10. |
| 10. सविता सत्यप्रसवः । | यजु० 10.28. |
| 11. सविता प्रसवानामधिपतिः । | अथ० 5.24.1. |
| 12. सवितुः.....प्रसवे । | ऋग्० 1.159.5. |
| 13. देवस्य सवितुः सवे । | ऋग्० 5.82.6. |
| 14. सत्यसवं सवितारम् । | ऋग्० 5.82.7. |
| 15. देवस्य.....सवितुः.....प्रसवे । | ऋग्० 6.71.2. |
| 16. सविता प्रसवित्रा । | यजु० 10.30. |

इन सब उद्धरणों में सविता के साथ 'सव' या 'प्रसव' का सम्बन्ध बताया गया है। व्याकरण की रीति से इन दोनों शब्दों की निष्पत्ति 'षू' और 'षु' धातुओं से भाव-वाचक 'अप्' प्रत्यय¹ होकर होती है। और इस प्रकार इन दोनों शब्दों का तात्पर्यार्थ 'सव' या 'प्रसव' का कार्य हो जाता है। सविता के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध यह

¹ अष्टा० 3.3.57 ।

द्योतित करता है कि वह 'सव' या 'प्रसव' का कार्य करता है। जिन स्थलों के ये उद्धरण हैं वहाँ सविता के 'सव' या 'प्रसव' द्वारा किसी वस्तु की प्राप्ति या कुछ किये जाने का ही उल्लेख है। 'सव' और 'प्रसव' एक ही अर्थ को कहते हैं। 'प्रसव' का 'प्र' उपसर्ग उत्कृष्टता का द्योतक है। 'प्रसव' का अर्थ होता है उत्कृष्ट 'सव', उत्तम रीति से किया जाने वाला 'सव'। सायणाचार्य आदि भाष्यकारों ने अनेक स्थानों पर सव का अर्थ प्रसव किया है। संख्या 7-10 के उद्धरणों में यह भी कहा गया है कि सविता 'सत्य-सव' और 'सत्य-प्रसव' है, जिसका भाव यह है कि उसका 'सव' या 'प्रसव' कभी मिथ्या नहीं होता।

इसी भाँति ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सविता का 'सव' के साथ सम्बन्ध बताकर उसका कार्य 'सव' बताया गया है। उदाहरण के लिए देखिए—

1. सविता वै देवानां प्रसविता । शत० 1.1.2.17;

जै० 3.3.18.3.

2. सविता वै प्रसवानामीशे । ऐत० 1.30.7.16.

इनमें से प्रथम उद्धरण में सविता को देवों का 'प्रसविता' अर्थात् 'प्रसव करने वाला' कहा गया है। दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि सविता 'प्रसवों का स्वामी' है।

सव या प्रसव का वाचक एक शब्द वेद में 'सवीमन्' भी आता है। सविता के साथ इस शब्द का प्रयोग भी वेद में कई स्थानों पर आया है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

1. देवस्य सवितुः सवीमनि । ऋग्० 10.64.7.

2. सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे । ऋग्० 6.71.2.

3. श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि । यजु० 33.17.

4. अस्माक् सविता सवीमनि । ऋग्० 4.53.3.

'प्रसव' शब्द का अर्थ

सव, प्रसव और सवीमन् ये तीनों शब्द संस्कृत की प्रेरणार्थक 'षू' और प्रसव तथा ऐरव्यार्थक 'षु' धातुओं से निष्पन्न होते हैं। सव और प्रसव शब्द धातु से भाव में 'अप्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होते हैं तथा सवीमन् शब्द धातु से औणादिक 'ईमन्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। व्याकरणकारों ने धातु के 'प्रसव' का अर्थ 'अभ्यनुज्ञान' अर्थात् अनुमति या आज्ञा किया है। इस प्रकार धात्वर्थ के आधार पर इन तीनों शब्दों का अर्थ प्रेरणा और आज्ञा हो जाता है। ये तीनों शब्द आपस में पर्याय हैं। सायणाचार्य ने कितनी ही जगह सव का अर्थ प्रसव¹ किया है। प्रसव का अर्थ कितने ही स्थानों पर सायणाचार्य ने अनुज्ञा या आज्ञा² किया है। ऋषि दयानन्द ने प्रसव

¹ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 8.102.6.

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 4.53.3, 6.71.2, 1.159.5.

का अर्थ प्रेरणा¹ भी किया है। उवट और महीधर ने कई स्थानों पर सव का अर्थ अभ्यनुज्ञा या आज्ञा² किया है। यास्क ने निरुक्त में स्वीमन् का अर्थ प्रसव³ किया है। ऋषि दयानन्द ने इस शब्द का अर्थ आज्ञा⁴ किया है। उवट और महीधर ने भी इसका अर्थ प्रसव और अभ्यनुज्ञा या आज्ञा⁵ भी किया है। महीधर ने सवीमान् का अर्थ आज्ञा करते हुए अपने अर्थ के समर्थन में किसी कोष का एक प्रमाण⁶ भी दिया है जिसमें स्वीमन्, प्रसव और अनुज्ञा अर्थात् आज्ञा को पर्यायवाची बताया गया है। इस प्रकार सव, प्रसव और सवीमन् इन तीनों शब्दों का एक प्रमुख अर्थ वेद में प्रेरणा और अभ्यनुज्ञा अर्थात् अनुमति या आज्ञा भी हो जाता है। प्रेरणा और आज्ञा लगभग एक ही भाव को कहने वाले शब्द हैं। आज्ञा में प्रेरणा की अपेक्षा अवश्यकर्तव्यता का भाव कुछ अधिक रहता है।

धात्वर्थ के आधार पर भाष्यकारों ने प्रसव और उसके पर्याय सव तथा सवीमन् शब्दों का जो प्रेरणा और आज्ञा अर्थ किया है उसकी पुष्टि स्वयं वेद की अपनी अन्तः साक्षी से भी होती है। निम्न मन्त्र इस सम्बन्ध में देखिये—

1. इन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः। ऋग् 8.100.12.

2. इन्द्रो अस्मां अरदद् वज्रबाहुः।

सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। ऋग् 3.33.6.

3. देवस्य सविताः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। अथ 6.23.3.

इनमें से प्रथम मन्त्र-खण्ड में कहा गया है कि 'छोड़े हुए सिन्धु अर्थात् जल या नदियाँ इन्द्र के प्रसव में चलीं।' यहाँ प्रसव का अर्थ स्पष्ट ही प्रेरणा या आज्ञा ही है। दूसरे मन्त्र-खण्ड में नदियाँ कह रही हैं कि 'वज्रबाहु और सुपाणि इन्द्र ने हमें खोदा है, हम बड़ी-बड़ी नदियाँ उसके प्रसव में चलती हैं।' यहाँ भी प्रसव का अर्थ स्पष्ट ही प्रेरणा या आज्ञा ही है। तीसरे मन्त्र-खण्ड में कहा गया है कि 'सब मनुष्य देव सविता के सव में अपने कार्य करें।' यहाँ भी सव का, जोकि प्रसव का ही पर्याय है, अर्थ स्पष्ट ही प्रेरणा या आज्ञा है। इन स्थलों में सायण आदि भाष्यकारों ने भी प्रसव और सव का अर्थ प्रेरणा या आज्ञा ही किया है। दूसरा अर्थ यहाँ सम्भव नहीं था।

‘प्रसव’ राजनियमों का बोधक

अब यह देखना है कि सविता का यह सव या प्रसव किस प्रकार का है। उसकी यह प्रेरणा या आज्ञा किस प्रकार की है। वेद के निम्न उद्धरण इस पर प्रकाश

1 उदाहरण के लिए देखें—यजु 10.21.

2 उदाहरण के लिए देखें—यजु 19.43.

3 उदाहरण के लिए देखें—निघ 6.2.7.

4 उदाहरण के लिए देखें—यजु 33.17.

5 उदाहरण के लिए देखें—यजु 33.17.

6 सवीमा प्रसवोनुज्ञा। इति कोशः। यजु 33.17 भाष्ये महीधरः।

डालते हैं—

1. देवः सविता धर्मः साविषत् ।

यजु० 9.5. ; 18.30.

2. सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात् ।

ऋग्वे० 10.149.1.

इनमें से प्रथम मन्त्र-खण्ड का अर्थ है कि 'देव सविता धर्म को उत्पन्न करे।' धर्म शब्द का संस्कृत में अति प्रसिद्ध अर्थ विधि अर्थात् नियम या कानून होता है। धर्म का शब्दार्थ होता है कि जिसके द्वारा धारण किया जाये अथवा जो धारण करे¹। विधि या नियमों के द्वारा राष्ट्र धारण किया जाता है इसलिए उन्हें धर्म कहा जाता है। बिना नियमों के कोई भी राष्ट्र न तो स्थिर हो रह सकता है और न ही उन्नति ही कर सकता है। संस्कृत में मनुस्मृति आदि ग्रन्थों को धर्मशास्त्र कहा जाता है, इन ग्रन्थों में धर्म अर्थात् व्यक्तिगत जीवन के नियमों और राज्य के नियमों का वर्णन होता है इसलिए इन्हें धर्मशास्त्र अर्थात् धर्म का उपदेश देने वाले ग्रन्थ कहा जाता है। कोषों में धर्म का विधि या कानून एक मुख्य अर्थ किया गया है।² मन्त्र में उत्पन्न करने अर्थ में 'साविषत्' क्रियापद का प्रयोग किया गया है। यह क्रियापद प्रेरणार्थक 'षू' धातु से भी बन सकता है, प्रसव अर्थात् अभ्यनुज्ञानार्थक 'षु' धातु से भी बन सकता है और उत्पत्यर्थक 'षू' धातु से भी बन सकता है। इन सब अर्थों को ध्यान में रखकर 'साविषत्' क्रियापद का यह भाव हो जायेगा कि सविता धर्म को उत्पन्न और प्रेरित करे अर्थात् कानून बनाकर उन्हें राष्ट्र में चलाये तथा प्रजाजनों को उन पर चलने के लिए आज्ञप्त करे। मन्त्र में धर्म शब्द की द्वितीया विभक्ति का वैदिक व्याकरण³ की रीति से 'लुक्' अर्थात् लोप हो गया है। इसका अर्थ कर्म वाचक द्वितीया विभक्ति का ही है। सभी भाष्यकारों ने इसे द्वितीया का रूप मानकर ही अर्थ किया है। यहाँ इसे किसी अन्य विभक्ति का रूप मान सकना सम्भव नहीं है।

दूसरे मन्त्र-खण्ड का अर्थ है कि 'सविता यन्त्रों से पृथिवी को रमणीय बनाता है।' यहाँ यन्त्र शब्द नियमों का वाचक है। इस मन्त्र के भाष्य में आचार्य सायण ने 'यन्त्रैः' का अर्थ 'यमनसाधनैः' अर्थात् 'नियम में रखने के साधन' ऐसा किया है। यद्यपि उन्होंने 'यमनसाधनो' को स्पष्ट करते हुए उसकी व्याख्या 'वृष्टिप्रदानादि' अथवा 'वायु के पाश' ऐसी कर दी है। सायणाचार्य को यंत्र शब्द की यह व्याख्या सविता का अर्थ एक कल्पित स्वर्ग विशेष में रहने वाला एक कल्पित देवता विशेष मानने के कारण करनी पड़ गई है। सायणाचार्य के अर्थ में कोई विशिष्ट चमत्कार नहीं है और न ही उससे मनुष्य जीवन के लिए उपयोगी कोई विशेष शिक्षा ही मिलती है। 'यन्त्रैः' शब्द का सायणाचार्य का 'यमन के साधन' यह धात्वर्थ सही है। मनुष्यों को यमन में रखने का साधन किसी राष्ट्र की नियम व्यवस्था ही हुआ करती है। इसलिए यहाँ 'यन्त्रैः' का अर्थ राष्ट्र के नियम या कानून करना चाहिए। यन्त्र और

¹ ध्रियते लोकोत्तेन, धरसिलोकं वा ।

² तथैव धर्मस्तु तद्विधिः । अमरकोषः । Law, Ordinance, Statute. आदौ कोषः ।

³ अष्टा० 7.1.39 ।

नियम दोनों शब्द एक ही उपरमार्थक 'यम' धातु से निष्पन्न होते हैं जिसका अर्थ रोकना, बाँधना, वश में रखना, सन्मार्ग पर चलाना, होता है। राज्य के नियम राष्ट्र-वासियों को वश में रखते हैं, मर्यादा में रखते हैं, कुमार्ग पर चलने से रोककर उन्हें सन्मार्ग पर चलाते हैं। सविता ऐसे नियम बनाकर उनके द्वारा राष्ट्रवासियों को सन्मार्ग पर चलाता है। राष्ट्रवासियों के इन नियमों पर चलने के कारण पृथिवी अर्थात् राष्ट्रभूमि रमणीय बन जाती है, सुन्दर बन जाती है, रहने लायक बन जाती है, उसके सब निवासी सुख-समृद्धि और हर्षोल्लास का जीवन व्यतीत करने लगते हैं।

इन दोनों मन्त्रों में सविता का जो धर्म और यन्त्र अर्थात् नियमों के निर्माण का कार्य बताया गया है वह किसी अन्य देवता के सम्बन्ध में नहीं कहा गया है। सविता का जो अभी ऊपर के पृष्ठों में सब और प्रसव का कार्य बताया गया है वह भी सविता की ही अपनी विशेषता है। सविता का प्रसव अर्थात् उसकी प्रेरणा और आज्ञा उसके द्वारा बनाये जाने वाले धर्म और यन्त्र अर्थात् नियम विधान हैं। वह नियमों का निर्माण करके प्रजाजनों को उन पर चलने की प्रेरणा और आदेश देता है।

नियम निर्माण करने के सविता के कार्य पर निम्न मन्त्रों से भी प्रकाश पड़ता है—

1. प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा । ऋग्० 10.175.1.

2. मित्रो भवसि देव धर्मभिः । ऋग्० 5.81.4.

इनमें से प्रथम उद्धरण का अर्थ है कि 'हे ग्रावाओ देव सविता तुम्हें धर्म अर्थात् नियमों द्वारा (धर्मणा) प्रेरित करे।' सायणाचार्य आदि भाष्यकार ग्रावा शब्द का अर्थ 'प्रायः सोम कूटने के सिल-बट्टे करते हैं। लौकिक संस्कृत में ग्रावा का एक सामान्य अर्थ पत्थर होता है। परन्तु यहाँ ग्रावा का अर्थ सिल-बट्टा या सामान्य पत्थर संगत नहीं हो सकता। पत्थर जड़ पदार्थ होता है उसे सम्बोधन करके उससे कोई बात नहीं कही जा सकती और न ही वह किसी की बात सुन सकता है। सविता धर्म या नियम बनाकर जड़ पत्थर को उन पर चलने की प्रेरणा करे यह भी कुछ बात नहीं बनती। ग्रावा शब्द 'गृ' धातु से¹ जिसका अर्थ 'विज्ञान' अर्थात् ज्ञान कराना होता है तथा 'गृ' धातु से² जिसका अर्थ 'शब्द' अर्थात् शब्द करना, बोलना, उपदेश करना, शिक्षा देना होता है, निष्पन्न होता है। इसलिए जो ज्ञान करा सके, बोल कर शिक्षा दे सके वह ग्रावा कहलायेगा। शिक्षक का वाचक 'गुरु' शब्द इन्हीं धातुओं से बनता है। ग्रावा के इस धात्वर्थ को ध्यान में रखकर तथा उसके अर्थ की संगति और औचित्य को देखते हुए ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अनेक स्थानों पर उसका अर्थ विद्वान् किया है। सायण आदि ने 'गृ' धातु के 'शब्द' अर्थ का स्थूल तात्पर्य लेकर ग्रावा का अर्थ टकराने से शब्द करने वाला पत्थर कर दिया है। यह अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकता। यहाँ ग्रावा का अर्थ विद्वान् ही करना होगा। राष्ट्र के विभिन्न कार्य

¹ गृ विज्ञाने । गारयते विविधप्रकारकं ज्ञानं शिक्षयति इति ग्रावा ।

² गृ शब्दे । गृणाति विविधप्रकारकं ज्ञानमुपदिशति इति ग्रावा ।

क्षेत्रों में सूझ-बूझ और बुद्धि से काम करने वाले और अपने कार्यक्षेत्र-विषयक सब प्रकार की जानकारी रखने वाले सभी लोगों को विद्वान् कहा जायेगा, 'ग्रावाणः' कहा जायेगा । सविता राष्ट्र के सभी विभिन्न कार्य-क्षेत्रों के सम्बन्ध में उनके सुचारु रूप से संचालन के लिए विविध प्रकार के नियम बनायेगा और उनमें काम करने वाले लोगों को प्रेरणा करेगा कि वे इन नियमों का भली-भाँति पालन करें । इस मंत्र का यह वास्तविक तात्पर्य है ।

दूसरे उद्धरण का अर्थ है कि 'हे सविता देव तुम धर्मों अर्थात् नियमों के द्वारा (धर्मभिः) लोगों के मित्र बनते हों ।' सविता विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों के लिए विभिन्न प्रकार के नियमों का निर्माण करेगा । इन नियमों पर चलने से कार्य सुन्दर रीति से सम्पन्न होगा । उससे काम करने वालों को लाभ होगा और उनका हित होगा । इस प्रकार सविता उनका हित करने वाला मित्र हो जायेगा । मंत्र के मित्र शब्द की यह व्यंजना है कि राज्य जो भी नियम बनाये वे जनता के हित को ध्यान में रखकर उसके प्रति मित्रता की भावना रखते हुए बनाये जायें । जनता के प्रति द्वेष बुद्धि या उसे कष्ट देने की भावना से कोई नियम न बनाया जाये ।

सत्य पर आधारित राज-नियम

सविता को वेद में अनेक स्थानों पर 'सत्यधर्मा' कहा गया है । उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

- | | |
|-----------------------------|----------------|
| 1. सविता सत्यधर्मा । | अथ० 7.24.1. |
| 2. देव इव सविता सत्यधर्मा । | ऋग्० 10.34.8. |
| 3. देव इव सविता सत्यधर्मा । | ऋग्० 10.139.3. |

सविता के इस सत्यधर्मा विशेषण का शब्दार्थ होता है सत्य धर्मों वाला अर्थात् सत्य नियमों वाला । उसके इस विशेषण से भी यह सूचित होता है कि सविता का कार्य धर्म अर्थात् नियमों का निर्माण करना है । सत्यधर्मा विशेषण में सत्य शब्द की दो व्यंजनार्यें हैं । एक तो यह कि सविता द्वारा बनाये गये नियम सत्य का अर्थात् न्याय का आश्रय लेकर बनाये जाते हैं । उनके निर्माण में असत्य और अन्याय का कभी अवलम्बन नहीं किया जाता । दूसरे यह कि उसके नियम सदा सत्य रहते हैं, कभी मिथ्या नहीं होते । ऐसा नहीं होता कि नियम तो बन गये पर उनका पालन नहीं किया जाता । सविता के बनाये नियमों का पूर्ण रूप से पालन कराया जाता है । कोई उसके नियमों को मिथ्या नहीं कर सकता, उनका उल्लंघन नहीं कर सकता, उनके पालन में धोखाधड़ी नहीं कर सकता ।

भाव यह है कि राज्य को सत्य और न्याय पर आरुढ़ रहकर नियमों का निर्माण करना चाहिए और उनका दृढ़ता से पालन कराना चाहिए ।

सविता का अपना विशिष्ट स्वरूप

ऊपर के पृष्ठों में सविता के वेद में पाये जाने वाले कुछ विशेषणों और वर्णनों के आधार पर उसका जो रूप उभर कर सामने आता है उसका वह स्वरूप उस प्रकार का है जिस प्रकार का स्वरूप आजकल के विधि मंत्री या कानून मंत्री का होता है। सविता के वेदगत इस प्रकार के वर्णनों के आधार पर ही ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में कई स्थानों पर सविता का अर्थ 'धर्मकृत्यों में प्रेरक'¹ और 'राज-नियमों के द्वारा प्रेरक'² ऐसा किया है। यह बात ऋषि दयानन्द के अद्वितीय पाण्डित्य और प्रतिभा की द्योतक है। राज्य की ओर से जो नियम बनाये जाने होंगे सविता और उसका विभाग उन्हें विधि का रूप देगा और फिर उन्हें सभा और समिति नामक अध्याय में वर्णित राज्यसभाओं में उपस्थित करके स्वीकार कराया जायेगा।

नियम-निर्माण के समय ध्यान में रखने की कुछ बातें

वेद में सविता का एक विशेषण 'सत्यमन्मा' भी आया है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

सविता सत्यमन्मा ।

ऋग्० 1.73.2.

सत्यमन्मा का अर्थ होता है सत्य मन्म अर्थात् ज्ञान वाला। सविता के इस विशेषण का भाव यह है कि जो नियम बनाये जायें वे सत्य ज्ञान पर अर्थात् ठीक-ठीक और सही ज्ञान पर आधारित होने चाहिए। जिन कारणों से नियम बनाये जायें उनका सही ज्ञान होना चाहिए। जिन परिस्थितियों में बनाये जायें उनका ठीक-ठीक आकलन होना चाहिए। जिन लोगों पर वे नियम लागू होंगे उनकी आवश्यकताओं और स्वभाव का पूर्ण परिचय होना चाहिए। उन लोगों पर उन नियमों की अनुकूल या प्रतिकूल क्या प्रतिक्रियायें हो सकती हैं इसका भी सही अनुमान होना चाहिए। उन नियमों का निकट और दूरगामी क्या परिणाम और प्रभाव होगा इसका भी आकलन किया जाना चाहिए। जिस भाषा में नियम बनाये जायें उस भाषा का भी परिपूर्ण आधिकारिक ज्ञान नियम बनाने वालों को होना चाहिए जिससे नियमों की भाषा नियम-निर्माताओं के अभिप्राय को ठीक-ठीक अभिव्यक्त कर सके और नियमों का नियम-निर्माताओं के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ न निकाला जा सके। नियम-निर्माण के समय इस प्रकार की सभी बातों का सही ज्ञान नियम-निर्माण करने वालों को रहना चाहिए। यह सब व्यंजना सविता के इस 'सत्यमन्मा' विशेषण की है।

¹ सविता धर्मकृत्येण प्रेरकः । ऋग्० 1.107.3 भाष्ये दयानन्दविधिः ।

² सविता राजनियमैः प्रेरकः । यजु० 33.20 भाष्ये दयानन्दविधिः ।

प्रजाजन और राज्याधिकारी सभी नियमों का ठीक-ठीक पालन करें

सविता के सम्बन्ध में वेद में आये निम्न कुछ मंत्रों पर भी यहाँ दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा—

1. अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि ।
तस्य व्रतान्युश्मसि ॥ ऋग्० 1.22.6.
2. नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुमिनन्ति । ऋग्० 2.38.7.
3. न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ।
नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः ॥
ऋग्० 2.38.9.
4. तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् । ऋग्० 10.139.1.
5. यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ॥
ऋग्० 5.81.3.

इनमें से प्रथम मंत्र का अर्थ है कि 'प्रजाओं को न गिरने देने वाले (अपांनपातं) सविता की अपनी रक्षा के लिए स्तुति करो अर्थात् उसके गुणों का गान और प्रशंसा करो, हम उसके नियमों को (व्रतानि) चाहते हैं (उश्मसि) ।' 'अप्' शब्द का लोक में प्रसिद्ध अर्थ पानी होता है । यह शब्द व्याप्ति अर्थवाली 'आप्लू' धातु से बना है । जो व्यापक हो उसे 'अप्' कहा जायेगा । इस धात्वर्थ के आधार पर वेद में विशेषणों और प्रकरण के आधार पर 'अप्' शब्द के परमात्मा, प्रकृति, जल और मनुष्य आदि कई अर्थ हो जाते हैं क्योंकि यह सभी व्यापक होते हैं । जल को भी इसीलिए 'अप्' कहा जाता है क्योंकि वह धरती में सर्वत्र व्यापक होता है, सर्वत्र पाया जाता है । इसी व्यापकता के आधार पर मनुष्य प्रजाओं को भी 'अप्' कहा जाता है क्योंकि मनुष्य राष्ट्र में सर्वत्र व्यापक होते हैं, राष्ट्र में सर्वत्र फैले हुए होते हैं । भाँति-भाँति के कर्मों में व्याप्त होने के कारण, भाँति-भाँति के कामों को करने के कारण, भी मनुष्यों को 'अप्' कहा जाता है । 'अप्' शब्द का प्रयोग सदा बहुवचन में होता है और प्रथमा विभक्ति में, कर्ता कारक में, इसका रूप 'आपः' होता है । ईश्वर, प्रकृति, पानी और मनुष्यों आदि सभी को प्रथमा विभक्ति में, कर्ता कारक में, 'आपः' कहा जायेगा । ऋषि दयानन्द ने अनेक स्थानों पर 'आपः' का अर्थ मनुष्य या मनुष्य प्रजा भी किया है ।¹ शतपथ ब्राह्मण में भी एक स्थल पर 'आपः' का अर्थ मनुष्य किया गया है ।² प्रस्तुत मन्त्र में हमने 'आपः' का यह मनुष्य या मनुष्य प्रजा अर्थ ही किया है । यह अर्थ ही यहाँ अधिक संगत होता है । मन्त्र का भाव यह है कि मनुष्यों को राष्ट्र के लिए उपयोगी अच्छे नियम बनाने के कारण सदा सविता की प्रशंसा करनी चाहिए और उसके द्वारा निर्माण किये गये नियमों का प्रसन्नता से पालन करना चाहिए । क्योंकि

¹ आपः आप्ताः प्रजा । यजु० 6.27 भाष्ये दयानन्दपिः ।

² मनुष्या वा आपश्चन्द्राः । शत० 7.3.1,2.

उसके द्वारा बनाये गये नियमों पर चलने से प्रजाओं का पतन नहीं होता। उनकी निरन्तर उत्तरोत्तर उन्नति होती रहती है। इस मंत्र के इस कथन से यह भी ध्वनि निकलती है कि प्रजाजन तभी सविता की प्रशंसा करेंगे और नियमों का पालन करेंगे जबकि उसके नियम प्रजाओं की उन्नति में सहायक होंगे। भाव यह है कि यदि कोई राज्य प्रजा से प्रशंसा पाना चाहता है तो उसे प्रजाओं का हित ध्यान में रखकर ही नियम बनाने चाहिए।

अगले मन्त्रों का अर्थ है कि (2) देव सविता के नियमों को (व्रता) कोई भी नहीं तोड़ते हैं। (3) जिसके नियम को (व्रत) न इन्द्र, न वरुण, न मित्र, न अर्यमा और न रुद्र ही तोड़ सकता है और न ही कोई अन्य शत्रु लोग तोड़ सकते हैं, मैं प्रजाजन अपने कल्याण के लिए (स्वस्ति) उस सविता को नमस्कार पूर्वक अर्थात् आदरपूर्वक पुकारता हूँ अर्थात् उससे प्रार्थना करता हूँ कि वह हमारे कल्याण के लिए नियमों का निर्माण करे। (4) विद्वान् पूषा भी उस सविता के प्रसव में अर्थात् उसके बनाये नियमों की प्रेरणा और आज्ञा में चलता है। (5) जिस सविता की गति अर्थात् कार्य-व्यवहार के अनुसार (प्रयाणम् अनु) अर्थात् उसके द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार चलकर अन्य देव महिमा को प्राप्त होते हैं और बल से (ओजसा) युक्त बनते हैं।

इनमें से प्रथम दो मन्त्रों में यह कहा गया है कि प्रजाजन सविता के नियमों का उल्लंघन नहीं करते। प्रसन्नता के साथ उनका पालन करते हैं। अगले दो मन्त्रों में कुछ प्रमुख देवों के अर्थात् राज्याधिकारियों के नाम गिनाकर कहा गया है कि शक्तिशाली अधिकारी भी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं करते। पाँचवें मंत्र में कहा गया है कि अन्य देव भी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं करते। सभी देव उसके नियमों के अनुसार चलते हैं। और इन देवों को जो महिमा, जो गौरव, और जो बल, जो शक्ति प्राप्त होती है वह सब सविता के नियमों के अनुसार चलने से ही होती है। सामान्य प्रजाओं पर जो नियम लगते हैं वे ऊँचे से ऊँचे राज्याधिकारी पर भी लगते हैं। राज्याधिकारियों के अपने कार्य संचालन के लिए भी कुछ विशिष्ट नियम बनाने आवश्यक होते हैं। इन्द्र (सम्राट्) और उसके मन्त्रि-मण्डल के परामर्श पर सविता और उसका विभाग इन सभी प्रकार के नियमों का निर्माण करता है और फिर सभा और समिति (संसद) में स्वीकार होकर ये नियम लागू हो जाते हैं। प्रजाजन और राज्याधिकारी सभी इन नियमों का पालन करते हैं। राज्याधिकारियों को जो गौरव और शक्ति प्राप्त होती है वह नियमों के अनुसार कार्य करने से ही प्राप्त होती है। जब वे नियम-विरुद्ध कार्य करेंगे तो वे दण्डनीय होंगे और उनका गौरव एवं शक्ति उनके हाथ से निकल जायेगी। पाँचों मन्त्रों का समुदित निष्कर्ष यह है कि सामान्य प्रजाजन और राज्याधिकारी सभी को राजनियमों का भली-भाँति पालन करना चाहिए।

सविता के इस प्रकार के वर्णनों के द्वारा वेद ने यह उपदेश दिया है कि राष्ट्र में इस प्रकार का विधि अर्थात् नियमों का निर्माण करने वाला विभाग भी होना चाहिए।

सविता पद की निरुक्ति की संगति

सविता पद जैसा कि ऊपर दिखाया गया है प्रेरणार्थक 'बू' धातु से और प्रसवार्थक 'बु' धातु से निष्पन्न होता है।¹ जो प्रेरणा करे वह सविता । और जो प्रसव अर्थात् अभ्यनुज्ञा या आज्ञा प्रदान करे वह सविता । सविता राजनियमों के रूप में प्रजाजनों को प्रेरणा और आज्ञा प्रदान करता है । इस प्रकार सविता पद की निरुक्ति भी उसके कार्य में संगत हो जाती है ।

12. सूर्य : शिक्षा मंत्री

सूर्य का मानव और राजा रूप

सूर्य भी इन्द्र का एक सहचारी देवता है । अग्नि, वरुण और मित्र आदि अन्य देवताओं की भाँति सूर्य का भी इन्द्र के सहचारी के रूप में अनेक स्थानों पर वेद में वर्णन आता है । जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी के रूप में सूर्य का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा इस पर हमें यहाँ विचार करना है । जैसाकि पीछे अनेक बार दिखाया जा चुका है वेद में इन्द्र, वरुण, मित्र और सूर्य आदि देवों को सामूहिक रूप में 'आदित्याः', 'विश्वेदेवाः' और 'देवाः' नामों से भी वर्णित किया गया है । और सामूहिक रूप में इनके लिए 'नरः' और 'मनुष्यः' आदि मनुष्यवाचक नामों का भी प्रयोग किया गया है । देवों के लिए इन मनुष्यवाचक नामों के प्रयोग से अन्य देवों की भाँति सूर्य भी मनुष्य बन जाता है । इसी प्रकार सामूहिक रूप में देवों के लिए 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का प्रयोग भी वेद में किया गया है । देवों के लिए इन राजा के वाचक शब्दों के प्रयोग से सूर्य राजा भी बन जाता है । इस प्रकार वेद में सूर्य का एक रूप मनुष्य और राजा का भी हो जाता है । सम्राट् तो वस्तुतः इन्द्र हैं हम यह निरन्तर देखते ही आ रहे हैं । इसलिए सूर्य के लिए राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया समझना चाहिए । सूर्य अपने विभाग के कार्यों को इन्द्र के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर करेगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा इसलिए वह भी एक प्रकार से इन्द्र या सम्राट् ही होगा । और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है । वेद के अनेक स्थलों में सूर्य का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजा राजनीति विषयक अनेक शिक्षाएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं ।

सूर्य की ज्योति

अब हमने यह देखना है कि इन्द्र के सहचारी और सहयोगी के रूप में सूर्य का अपना विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप और विभाग क्या होगा । सूर्य के मन्त्रों और सूक्तों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर कुछ ऐसे निर्देश वहाँ हमें मिल जाते हैं जिनके

¹ सुवति प्रेरयति इति सविता । सवति अभ्यनुजानाति आज्ञापयति इति सविता ।

आधार पर हम उसका अधिराष्ट्र स्वरूप भली-भाँति निर्धारित कर सकते हैं। सूर्य के मन्त्रों और सूक्तों को देखने पर हमारा सबसे पहले इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट होता है कि उसके साथ 'ज्योति' का बहुत अधिक सम्बन्ध पाया जाता है। अनेक स्थानों पर उसे ज्योति से युक्त, ज्योति रूप और ज्योति देने वाला कहा गया है। उदाहरण के लिए वेद के निम्न स्थल देखिए—

- | | |
|--|----------------|
| 1. उत् सूर्यो ज्योतिषा देव एति । | ऋग्० 4.13.1. |
| 2. सूर्यस्येव ज्योतिरेषाम् । | ऋग्० 7.33.8. |
| 3. उत् सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह । | ऋग्० 6.72.2. |
| 4. सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म । | अथ० 16.9.3. |
| 5. सूर्यो ज्योतिश्चरति । | ऋग्० 5.63.4. |
| 6. ये सूर्यस्य ज्योतिषो भागमानशुः । | ऋग्० 10.66.2. |
| 7. सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः । | यजु० 3.9. |
| 8. सूर्यं इव ज्योतिषा । | ऋग्० 4.38.10. |
| 9. ज्योतिषा यासि सूर्यं । | ऋग्० 10.37.3. |
| 10. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं । | ऋग्० 10.170.3. |
| 11. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्यं । | |

विश्वमा भासि रोचन ॥

अथ० 13.2.19

इन सभी उद्धरणों में सूर्य को 'ज्योति' से युक्त कहा गया है। पाँचवें, सातवें और दसवें उद्धरणों में उसे ज्योति रूप ही कह दिया गया है। दसवें उद्धरण में उसे सब ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति भी कहा गया है। ग्यारहवें उद्धरण में उसे ज्योति करने वाला, ज्योति देने वाला, कहा गया है। इस उद्धरण में उसे 'तरणि' अर्थात् अपनी ज्योति से सबको तराने वाला अर्थात् पार लगाने वाला, 'विश्वदर्शन' अर्थात् अपनी ज्योति से सबको मार्ग दिखाने वाला भी कहा गया है। और उसके लिए यह भी कहा गया है कि 'रोचन' अर्थात् अपनी ज्योति से चमकने वाले सूर्य तुम अपनी ज्योति के द्वारा विश्व को प्रकाशित करते हो। इन और इस प्रकार के वेद के अन्य स्थलों का समुचित भाव यह है कि सूर्य ज्योति से युक्त है, उसमें इतनी अधिक ज्योति है कि वह ज्योति रूप ही है, और अपनी ज्योति से दूसरों के लिए ज्योति करता है और उन्हें मार्ग दिखाता है। वेद में अन्य देवों की तुलना में सूर्य के साथ ही ज्योति का सबसे अधिक सम्बन्ध दिखाया गया है।

ज्योति का सामान्य अर्थ आँखों से दिखाई देने वाला प्रकाश होता है। ज्योति या प्रकाश का एक अर्थ मानसिक या आत्मिक प्रकाश अर्थात् ज्ञान भी होता है। संसार की प्रायः सभी भाषाओं में प्रकाश वाचक शब्दों का अर्थ ज्ञान भी हुआ करता है। काव्य-प्रकाश, भाव-प्रकाश, तर्क-प्रकाश और सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रन्थों के नामों में आने वाला प्रकाश शब्द ज्ञान का ही वाचक है। काव्य, भाव, तर्क और सत्य का प्रकाश अर्थात् ज्ञान कराने वाले होने के कारण ये ग्रन्थ काव्यप्रकाश आदि कहे जाते

हैं। आप्टे के प्रसिद्ध संस्कृत-इंग्लिश कोश में प्रकाश और ज्योति के ज्ञानपरक¹ अर्थ भी दिये गये हैं। संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में प्रकाश और ज्योति शब्दों के विभिन्न अर्थों में किये गये प्रयोगों के आधार पर कोश में यह अर्थ दिए गये हैं। ज्योति का यह ज्ञान अर्थ ध्यान में रखकर सूर्य के साथ प्रयुक्त ज्योति शब्द को देखा जाये तो ऊपर उद्धृत तथा इसी प्रकार के वेद के अन्य प्रसंगों का यह स्पष्ट तात्पर्य निकलेगा कि सूर्य ज्ञान से युक्त है, उसमें इतना अधिक ज्ञान है कि वह ज्ञान रूप ही है, और वह अपने ज्ञान से औरों को ज्ञानवान् बनाता है। सूर्य के साथ ज्योति अर्थात् ज्ञान का यह घनिष्ठ सम्बन्ध सूर्य के अधिराष्ट्र अर्थ की ओर स्पष्ट इंगित करता है।

सूर्य का चक्षु

इसी प्रकार सूर्य के साथ चक्षु का सम्बन्ध भी वेद में अनेक स्थानों पर वर्णित हुआ है। अनेक स्थानों पर उसके चक्षु का उल्लेख हुआ है और उसे कितने ही स्थानों पर चक्षु रूप ही कह दिया गया है। उदाहरण के लिए निम्न स्थलों को देखिये—

- | | |
|--|----------------|
| 1. सूर्ये न चक्षुः । | ऋग्० 6.11.5. |
| 2. सूर्यो न चक्षुः । | ऋग्० 5.59.3. |
| 3. सूर्यस्य चक्षुर्मुहुर्निमीयात् । | ऋग्० 10.10.9. |
| 4. सूर्यस्य चक्षू रजसंत्पावृतम् । | ऋग्० 1.164.14. |
| 5. सूर्यं चक्षुषा मा पाहि । | अथ० 2.16.3. |
| 6. सूर्यान्चक्षुः.....ह्वयामहे । | अथ० 5.10.8. |
| 7. सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु । | अथ० 5.24.9. |
| 8. चक्षुमित्रस्य वरुणस्याग्नेः । | अथ० 13.2.35. |
| | ऋग्० 1.115.1. |
| 9. तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् । | ऋग्० 7.66.16. |
| 10. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । | यजु० 36.24. |

वेद के इन उद्धरणों में सूर्य के चक्षु का उल्लेख किया गया है। इनमें से दूसरे, आठवें, नवें और दसवें उद्धरणों में सूर्य को चक्षु रूप ही कह दिया गया है। सातवें उद्धरण में सूर्य को चक्षुओं का अधिपति अर्थात् स्वामी कहा गया है। सूर्य का चक्षु के साथ इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उसे इस मन्त्र में चक्षुओं का स्वामी तक कह दिया गया है। चक्षु शब्द संस्कृत की 'चक्षिङ्' धातु से निष्पन्न होता है। इस धातु के दो अर्थ होते हैं। एक व्यक्त वाक् अर्थात् मनुष्यों जैसी स्पष्ट वाणी बोलना और दूसरा दर्शन अर्थात् देखना। लौकिक संस्कृत में चक्षु शब्द का प्रयोग आँख के अर्थ में होता

¹ प्रकाश=Elucidation, Explanation.

ज्योति=Light or divine principle, intelligence. —आप्टे कोश; ।

है। धातु के दूसरे अर्थ दर्शन के आधार पर यह शब्द आँख अर्थ में प्रयुक्त होता है क्योंकि आँख देखने का काम करती है। परन्तु वेद में चक्षु शब्द आँख से भिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। दर्शन का अभिप्राय मन से, विचार से, देखना अर्थात् समझना-समझाना भी होता है, किसी वस्तु को विचार के द्वारा प्रकाशित करना, स्पष्ट करना भी होता है। दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त दर्शन शब्द का इसी विचार के द्वारा मन से किसी वस्तु को स्पष्ट रूप में समझना-समझाना भी होता है। इस मानसिक दर्शन के अर्थ में भी वेद में चक्षु शब्द का प्रयोग होता है। आँख भौतिक रूप में पदार्थों को दिखाती है और मन विचार के रूप में, ज्ञान के रूप में, पदार्थों को दिखाता है। आँख और ज्ञान दोनों ही अपने-अपने प्रकार से पदार्थों के दर्शक या प्रकाशक हैं। सूर्य का अर्थ वेद में ईश्वर या ब्रह्म भी होता है। ऋषि दयानन्द तो मन्त्र-गत वर्णन के आधार पर अनेक स्थलों पर सूर्य का अर्थ परमेश्वर या ब्रह्म करते ही हैं। सायणादि भाष्यकार भी कई प्रसंगों में सूर्य का अर्थ ब्रह्म ही करते हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का 'अस्यवामीय' (ऋग्० 1.164) सूक्त एक अध्यात्म विद्या विषयक सूक्त है। इस सूक्त का अन्तिम प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है। सायणाचार्य ने इस सूक्त के छियालिसवें 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' आदि मंत्र का देवता सूर्य ही माना है और इन्द्रादि को सूर्य का रूप और वाचक मानकर मन्त्र की व्याख्या की है। सूक्त के कई अन्य मन्त्रों का देवता भी सायण ने सूर्य को ही माना है। कुछ मन्त्रों का देवता सायण ने आदित्य भी माना है। इस सूक्त में सायण के अभिमत सूर्य और आदित्य वस्तुतः एक ही हैं। इस प्रकार इस सूक्त में सूर्य परमात्मा का वाचक हो जाता है। सूर्य के परमात्मा अर्थ में उसके चक्षु का अर्थ उससे प्राप्त होने वाला ज्ञान ही होगा जिसके द्वारा पदार्थों का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित होता है। इस प्रकार 'चक्षु' का एक अर्थ 'ज्ञान' भी हो जाता है। और यह अर्थ लेकर भी सूर्य के चक्षु से युक्त होने के वर्णन की व्याख्या हो सकती है। उस अर्थ में वेद के इस प्रकार के वर्णनों का यह भाव होगा कि सूर्य ज्ञान से युक्त है, वह अनेक प्रकार की विद्याओं का ज्ञाता है। जिन मन्त्रों में सूर्य को चक्षु रूप ही कह दिया गया है वहाँ भाव यह होगा कि सूर्य में इतना अधिक ज्ञान है कि उसे ज्ञानरूप ही कहा जा सकता है। सूर्य के साथ ज्ञान का सम्बन्ध रहने के वेद के इन उल्लेखों से अधिराष्ट्र अर्थ में भी सूर्य के स्वरूप की ओर इशारा हो जाता है।

चक्षु शब्द जिस 'चक्ष' धातु से बनता है उसका एक अर्थ बोलना भी होता है। धातु के इस अर्थ के आधार पर चक्षु का अर्थ बोलने वाला, उपदेश करने वाला, ऐसा भी हो सकता है। जिन स्थलों पर सूर्य को चक्षु रूप ही कह दिया गया है वहाँ तो यह अर्थ बड़ा सुन्दर संगत हो जायेगा। सूर्य चक्षु है, वह बोलने वाला है, उपदेश करने वाला है, शिक्षा देने वाला है। ऋग्० 1.164.11 मन्त्र में तो सायणाचार्य ने भी चक्षु का एक अर्थ 'ख्यान-स्वभावम्' अर्थात् प्रकथन स्वभाव वाला, अर्थात् बोलने के स्वभाव वाला, उपदेश करने के स्वभाव वाला, ऐसा ही किया है। चक्षु के आँख

अर्थ में भी यह अर्थ एक दृष्टि से संगत हो सकता है। अनेक बार ऐसा होता है कि शब्दों के द्वारा मन के जो भाव व्यक्त नहीं किये जा सकते उनको आँखें कह देती हैं। कई परिस्थितियों में तो आँखें वाणी की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह मन के भावों को कह देती हैं। उन परिस्थितियों में आँखें भी मानो बोलती हैं। तब वे चक्षु हो जाती हैं, बोलने वाली हो जाती हैं। ऋषि दयानन्द ने एक स्थान पर चक्षु¹ का अर्थ अपने ज्ञान से पदार्थों का प्रकाश करने वाला विद्वज्जन किया है। इस प्रकार सूर्य भी ज्ञान का उपदेश करने वाला बन जाता है। सूर्य को इस दृष्टि से देखने पर भी उसके अधिराष्ट्र स्वरूप की ओर संकेत हो जाता है। चक्षु का जितना अधिक सम्बन्ध वेद में सूर्य के साथ हुआ है उतना अन्य किसी देवता के साथ नहीं हुआ है।

सत्य ज्ञान से युक्त सूर्य

ज्योति और चक्षु शब्दों के द्वारा ही नहीं, ज्ञान के वाचक अन्य शब्दों तथा सूर्य के विभिन्न प्रकार के अन्य वर्णनों द्वारा भी वेद में बताया गया है कि सूर्य ज्ञान से युक्त है। उदाहरण के लिए कुछ निम्न स्थल देखिए—

- | | |
|---|---------------|
| 1. नृषद्....ऋतसद् ऋतजा । | ऋग् 4.40.5. |
| 2. अयं सूर्य इवोपहक् । | ऋग् 9.54.2. |
| 3. सूर्य ऋतजातया गिरा । | ऋग् 10.138.2. |
| 4. सत्यं तातान सूर्यः । | ऋग् 1.105.12. |
| 5. मनसा सूर्यः कविः । | ऋग् 5.44.7. |
| 6. उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । | |
| दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ | अथ 13.2.16. |
| 7. सूर्य वयं....गातुविदं हवामहे । | अथ 13.2.43. |
| 8. यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम् । | |
| | ऋग् 7.60.1. |
| 9. विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते । | |
| | यजु 37.18. |

इनमें से प्रथम उद्धरण में सूर्य को एक तो 'नृषद्' अर्थात् मनुष्यों में बैठने वाला, मनुष्यों में रहने वाला कहा गया है। उसके इस विशेषण से सूर्य के मानव रूप पर भी प्रकाश पड़ता है। मनुष्यों में बैठने वाला मनुष्य ही तो होगा। फिर सूर्य को इस उद्धरण में 'ऋतसद्' कहा गया है। ऋत का अर्थ सत्य ज्ञान होता है। सूर्य ऋत में बैठने वाला है। वह सत्य ज्ञान में बैठने वाला है। वह सदा सत्य ज्ञान को पता लगाने, उसके प्रचार करने और उसके अनुसार आचरण करने में लगा रहता है।

¹ चक्षुः प्रकाशकः (विद्वज्जनः) । ऋग् 5.59.3. भाष्ये दयानन्दविः ।

फिर कहा गया है कि सूर्य 'ऋतजाः' है अर्थात् वह सत्यज्ञान से उत्पन्न होने वाला है। गुरु लोगों की सेवा में रहकर उनसे वह सत्य ज्ञान को सीखता है और इस प्रकार सत्य ज्ञान से उसका जन्म होता है, सत्य ज्ञान से उसका व्यक्तित्व बनता है। 'ऋतजाः' का यह अर्थ भी हो सकता है कि वह सत्य ज्ञान को जन्म देता है। इसका भाव यह होगा कि वह स्वयं भी नये-नये ज्ञानों का आविष्कार करता है और फिर जनता में उनका प्रचार करके औरों को भी ज्ञानवान् बनाता है।

दूसरे उद्धरण में कहा है कि सूर्य सोम की भाँति 'उपहृक्' है। 'उपहृक्' का अर्थ होता है वस्तुओं को समीप से देखने वाला, वस्तुओं की गहराई में जाकर उनके तत्त्व को, उनके यथार्थ को, जानने वाला। सूर्य इस प्रकार का पदार्थों की गहराई में जाकर उनके रहस्य को समझने वाला तत्त्वज्ञानी 'उपहृक्' विद्वान् है।

तीसरे उद्धरण में सूर्य से प्रार्थना है कि 'हे सूर्य तुम हमें अपनी 'ऋतजाता' वाणी से उपदेश करो।' 'ऋतजाता' का अर्थ है ऋत अर्थात् सत्यज्ञान से उत्पन्न अर्थात् सत्यज्ञान से भरी हुई। सूर्य सत्यज्ञान से युक्त है इसलिए उसकी वाणी भी सत्यज्ञान से युक्त है, सत्यज्ञान से भरी हुई है। और अपनी सत्यज्ञान से भरी हुई वाणी के द्वारा वह लोगों को सत्यज्ञान का उपदेश, सत्यज्ञान की शिक्षा देता है।

चौथे उद्धरण में सूर्य के लिए कहा गया है कि 'वह सत्य का विस्तार करता है।' भाव यह है कि सूर्य में सत्य अर्थात् सत्यज्ञान रहता है और वह उसका विस्तार करता रहता है, लोगों में उसका प्रचार करता रहता है।

पाँचवें उद्धरण में कहा गया है कि सूर्य मन से कवि है। कवि का अर्थ होता है क्रान्तदर्शी अर्थात् पदार्थों की गहराई में पहुँचकर उनका ज्ञान प्राप्त करने वाला तत्त्वज्ञानी विद्वान्। सूर्य ऐसा कवि है। उसने मन लगाकर पदार्थों का ऐसा गहरा ज्ञान प्राप्त किया है। इसलिए वह मन से कवि है, गम्भीर तत्त्वज्ञानी विद्वान् है।

छठे उद्धरण का अर्थ है कि 'ज्ञान को उत्पन्न करने वाले (जातवेदस) उस सूर्य को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले विविध प्रकार के ज्ञान (केतवः)¹ ऊँचा उठाते हैं (उद्धहन्ति) जिससे कि विश्व के नाना प्रकार के पदार्थों का दर्शन अर्थात् परिज्ञान हो सके।' मन्त्र का भाव यह है कि सूर्य में विविध प्रकार का ज्ञान है, उस ज्ञान के कारण वह साधारण लोगों से ऊँचा उठा रहता है, अधिक प्रसिद्ध रहता है अर्थात् लोग उसे अधिक आदर की दृष्टि से देखते हैं। सूर्य अपने ज्ञान में और अधिक वृद्धि करता रहता है तथा अन्य लोगों में भी ज्ञान का प्रचार और वृद्धि करता रहता है। इस प्रकार वह 'जातवेदाः' बन जाता है। उसके द्वारा यह सब कुछ करने का प्रयोजन यह होता है कि सब लोगों को विश्व के नाना प्रकार के पदार्थों का परिज्ञान होता रहे और वे उससे लाभ उठाते रहें।

सातवें उद्धरण में कहा गया है कि 'हम गातु अर्थात् मार्गों को जानने वाले

¹ केतवः ज्ञानानि। केतुः प्रज्ञानामसु पठितम्। निष० 3.9.

केतुम् प्रज्ञानम्। निष० 12.1.7.

सूर्य का आह्वान करते हैं।' जीवन में किन परिस्थितियों में किन मार्गों का अवलम्बन करना चाहिए सूर्य इसे भली-भाँति जानता है और लोगों को इन मार्गों का ज्ञान कराता रहता है।

आठवें उद्धरण में सूर्य से कहा गया है कि 'हे सूर्य तुम निष्पाप (अनागाः) हो और तुम उदय होकर मित्र और वरुण के लिए सत्यज्ञान को (सत्यं) कहते रहते हो।' सूर्य सत्यज्ञान से युक्त है। वह अपने इस ज्ञान को मित्र और वरुण को देता रहता है। मित्र और वरुण विशिष्ट राज्याधिकारी हैं यह हम पीछे देख चुके हैं। मित्र और वरुण सभी राज्याधिकारियों के उपलक्षण हैं। सूर्य इन सभी राज्याधिकारियों को उनके कार्य-क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली बातों की शिक्षा देने की व्यवस्था करता है। सूर्य को निष्पाप कहने की यह व्यंजना है कि शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को, विशेषकर शिक्षकों को, सर्वथा निष्पाप जीवन व्यतीत करना चाहिए।

नवें उद्धरण में सूर्य को सब प्रकार के मन का पति और सब प्रकार के वचनों का पति कहा गया है। सूर्य के मन में भाँति-भाँति के पदार्थों का ज्ञान रहता है और वह ज्ञान को प्रचार द्वारा सब लोगों के मनों तक पहुँचाता है, इस कारण उसे सब प्रकार के मन का पति या स्वामी कह दिया गया है। और वह क्योंकि सब प्रकार के विचारों और भावों को प्रकट करने में समर्थ वाणी बोलने में कुशल है इसलिए उसे सब प्रकार के वचनों का पति कह दिया गया है।

इसी प्रसंग में निम्न मंत्र भी देखने योग्य है—

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।

अहं सूर्य इवाजनि ॥

ऋग्वे० 8.6.10.

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'मैंने पिता से ऋत की मेधा को ग्रहण किया है और मैं सूर्य जैसा हो गया हूँ।' ऋत सत्यज्ञान को कहते हैं। मेधा धारणावती बुद्धि को, ऐसी बुद्धि को कहते हैं जिसे सीखी हुई बात सदा स्मरण रहे। मन्त्र का उपासक कहता है कि मैंने ऋत की अर्थात् सत्यज्ञान से भरी हुई मेधा पिता से प्राप्त की है। ऐसी सत्यज्ञान से युक्त मेधा प्राप्त करके मैं सूर्य जैसा बन गया हूँ। इस उपमा से यह स्पष्ट द्योतित होता है कि सूर्य भी सत्यज्ञान से भरी हुई मेधा से युक्त है। मन्त्र में प्रयुक्त पिता शब्द का अर्थ पिता, गुरु और परमात्मा किया जा सकता है। ऐसी बुद्धि इन तीनों की कृपा से ही प्राप्त होती है।

इन उद्धरणों में सूर्य को जो सत्यज्ञान से युक्त कहा गया है और उसके सम्बन्ध में जो यह भी कहा गया है कि वह सत्यज्ञान का प्रचार भी करता है, उससे उसके अधिराष्ट्र स्वरूप की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है।

गुरुओं द्वारा शिक्षित सूर्य

सूर्य के कुछ वर्णन इस प्रकार के आते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि उसका

ऊपर वर्णित जो विविध प्रकार के ज्ञान से युक्त और ज्ञान का प्रचार करने वाला रूप है उसका निर्माण गुरुओं के द्वारा होता है। उदाहरण के लिये निम्न मन्त्र देखिए—

1. सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् । ऋग्० 10.154.5.

2. ऋत्वा कृतः सुकृतः कर्तृभिर्मृत । ऋग्० 6.62.1.

प्रथम उद्धरण का अर्थ है कि 'सहस्रों लोगों को सन्मार्ग पर चलाने वाले (सहस्रणीथाः)¹ क्रान्तदर्शी गहरे तत्त्व ज्ञानी विद्वान् लोग (कवयः) सूर्य की रक्षा करते हैं।' विद्वान् लोगों द्वारा सूर्य की रक्षा का तात्पर्य यह है कि इन लोगों से शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर ही सूर्य को अपना ज्ञान से युक्त और ज्ञान का प्रचार करने वाला रूप उपलब्ध होता है। इस प्रकार मानों ये विद्वान् लोग उसके रूप की रक्षा करते हैं।

दूसरे उद्धरण का अर्थ है कि 'बनाने वालों के द्वारा (कर्तृभिः) अपने ज्ञान और कर्म के द्वारा (ऋत्वा)² सूर्य को बहुत उत्तम बना हुआ (सुकृतः) बनाया जाता (कृतः) है।' मन्त्र का भाव यह है कि मनुष्यों को बनाने वाले अर्थात् मनुष्यों को सही रूप में मनुष्य बनाने वाले गुरु लोग अपने ज्ञान और कर्म के द्वारा सूर्य का निर्माण करते हैं। गुरुओं के चरणों में बैठकर उनसे भाँति-भाँति का ज्ञान सीखकर तथा उनसे सदाचार के तथा क्रियाकौशल के व्यावसायिक उत्तमोत्तम कर्मों की शिक्षा प्राप्त करके सूर्य असल में सूर्य बनता है।

सूर्य का यह वर्णन भी उसके अधिराष्ट्र स्वरूप की ओर निर्देश करता है।

सूर्य का अपनी जिह्वा द्वारा प्रवचन

ऋग्वेद 1.46.10. मन्त्र में वर्णन आता है कि सूर्य अपनी जिह्वा द्वारा उपदेश करता है। मन्त्र इस प्रकार है—

अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः ।

व्यख्यज्जिह्वासितः ॥

ऋग्० 1.46.10.

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—(सूर्यः) सूर्य (हिरण्यं प्रति) अपनी ज्ञान की दीप्ति के कारण सुवर्ण के समान प्रकाशमान है, उसके द्वारा (अंशवे)³ प्रजाओं में ज्ञान की किरणों का प्रकाश फैलाने के लिए (उ-उ) निश्चय ही (भाः) ज्ञान का प्रकाश (अभूत्) हो जाता है (असितः) बन्धनों से रहित वह सूर्य (जिह्वाया) अपनी जिह्वा के द्वारा (व्यख्यत्) ज्ञान का प्रवचन करता है।

¹ सहस्रनयनाः इति सायणः । सहस्राणां नयनकर्तार इति यावत् ।

² ऋत्वरिति कर्मनाम । निघ० 2.1 ; ऋत्वरिति प्रज्ञानाम । निघ० 3.9.

³ अंशुम् विज्ञानादिकं पदार्थम् । ऋग्० 4.26.6 भाष्ये दयानन्दविः । अंशुशब्दः प्रकाशकिरण-वाचकोपि भवति । इह तु शब्दोऽयं ज्ञानप्रकाश-किरण बोधकः ।

सूर्य अपने ज्ञान की दीप्ति के कारण सुवर्ण की भाँति चमकता है। वह प्रजाओं में ज्ञान के प्रकाश की किरणों को फैलाने के उद्देश्य से अपनी जिह्वा से प्रवचन करता है। इससे प्रजाजनों में ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है।

मन्त्र में प्रवचन करने के अर्थ में 'व्यख्यत्' क्रियापद का प्रयोग हुआ है। यह क्रियापद 'चक्षिङ्' धातु से बनता है जिसका अर्थ व्यक्त वाणी बोलना अर्थात् मनुष्यों की भाँति स्पष्ट भाषा में बोलना होता है। लुङ् लकार में 'चक्ष्' धातु को 'ख्या' आदेश होकर 'अख्यत्' रूप बन जाता है। इसके साथ 'वि' उपसर्ग लगकर 'व्यख्यत्' रूप हो जाता है। 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'विशेष रूप से' और 'विविध प्रकार का' ऐसा होता है। इसलिए 'व्यख्यत्' पद का अर्थ हुआ कि सूर्य विविध प्रकार के ज्ञान का प्रवचन करता है और विशेष रूप से अर्थात् बहुत अच्छी तरह प्रवचन करता है। मन्त्र में प्रयुक्त 'जिह्वया' और 'व्यख्यत्' पदों के आधार पर हमने मन्त्र के 'भाः' और 'अंशु' इन प्रकाश के वाचक पदों का अर्थ ज्ञान या ज्ञान का प्रकाश किया है। प्रकाश के वाचक शब्द ज्ञान के भी वाचक हुआ ही करते हैं। मन्त्र में सूर्य के लिए प्रयुक्त 'असितः' अर्थात् बन्धन रहित इस विशेषण का भाव यह है कि वह ज्ञान के प्रचार में किसी प्रकार के बन्धन और बाधा को स्वीकार नहीं करता है। वह जनता के कल्याण के लिए निर्बाध होकर ज्ञान का प्रवचन और प्रचार करता है। सूर्य अपनी जिह्वा से प्रवचन करता है। मन्त्र के इस कथन से सूर्य के मानव रूप पर भी प्रकाश पड़ता है।

यह मन्त्र भी सूर्य के अधिराष्ट्र स्वरूप की ओर अति स्पष्ट संकेत करता है। किसी अन्य देवता के सम्बन्ध में इस प्रकार का उल्लेख वेद में नहीं आया है।

सूर्य से विद्या-ग्रहण

श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी ने अपनी दैवत-संहिता के तृतीय भाग के परिशिष्ट में कुछ खिल सूक्त उद्धृत किये हैं। वहाँ एक खिल सूक्त का एक मन्त्र इस प्रकार है—

शनैश्चिदद्य सूर्येणादित्येन सहीयसा ।

अहं यशस्विनां यशो विद्यारूपमुपा ददे ॥

यह खिल सूक्त और उसका यह मन्त्र किस शाखा का है इसका निर्देश पं० सातवलेकर जी ने नहीं किया है। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

‘(सहीयसा) बाधाओं का पराभव करने वाले बल से युक्त (आदित्येन) आदित्य रूप अथवा किसी से खण्डित न होने वाले, किसी से न दबने और पराभूत होने वाले (सूर्येण) सूर्य के द्वारा (अद्य) आज (अहं) मैं (यशस्विनां) के (विद्या-रूपं) विद्यारूप (यशः) यश को (शनैश्चित्) धीरे-धीरे (उपाददे) ग्रहण करता हूँ।’

विद्या से यश प्राप्त होता है। विद्यावान् लोग यशस्वी हो जाते हैं। इसलिए मन्त्र में विद्या को ही आलंकारिक रूप में यश कह दिया गया है। यह विद्या-रूप यश

अर्थात् यश देने वाली विद्या सूर्य से ग्रहण की जाती है। मंत्र का पाठक सूर्य से इस यश देने वाली विद्या को सीखने की बात कह रहा है। मंत्र का पाठक विद्या को धीरे-धीरे सीखने की बात भी कह रहा है। विद्या धीरे-धीरे ही सीखी जाती है। कोई भी विद्या किसी को एक क्षण में नहीं आ जाती। विद्या को धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक निरन्तर शनैः शनैः अभ्यास करके ही सीखा जा सकता है। विद्या का, ज्ञान का, शिक्षण देने वालों में शारीरिक और आत्मिक इतना बल होना चाहिए कि वे ज्ञान के प्रचार में आने वाली सब प्रकार की बाधाओं का पराभव कर सकें। उनमें इतनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति होनी चाहिए कि उन्हें अपने ज्ञान के प्रचार के कार्य में कोई खण्डित न कर सके; कोई दबा न सके, कोई पराभूत न कर सके। यह भाव मन्त्र में सूर्य के लिए प्रयुक्त 'सहीयसा'¹ और 'आदित्येन'² इन दोनों विशेषणों से निकलता है।

मन्त्र में सूर्य का कार्य विद्या सिखाना बताया गया है। विद्या सिखाने का कार्य मुख के द्वारा बोलकर ही किया जा सकता है। सूर्य विद्या सिखाता है मन्त्र के इस कथन से सूर्य के मानव रूप पर भी प्रकाश पड़ता है। किसी शाखा का यह मन्त्र भी सूर्य के अधिराष्ट्र स्वरूप पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालता है। यह वर्णन भी किसी अन्य देवता के सम्बन्ध में नहीं आया है।

सूर्य का अपना विशिष्ट स्वरूप

ऊपर के उपखण्डों में वेद के आधार पर सूर्य के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उससे सूर्य का अधिराष्ट्र स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। सूर्य ज्ञान से युक्त है। वह औरों को ज्ञान सिखाता है। वह जनता में ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए जिह्वा से प्रवचन और व्याख्यान करता है। वह विद्या की शिक्षा देता है। वह विद्या के प्रचार में किसी प्रकार के विघ्नों और बाधाओं को सहन नहीं करता। सूर्य का यह रूप उसका सर्वोच्च शिक्षाधिकारी का रूप है जिसे आजकल की प्रचलित भाषा में शिक्षा-मंत्री कहा जाता है। जैसा हमने इस प्रकरण के आरम्भ में देखा है सूर्य सम्राट् का ही एक रूप है, उसका ही एक प्रतिनिधि है। वह सम्राट् का शिक्षा-मंत्री है। व्यक्तिगत रूप में तो सूर्य प्रजाजनों को शिक्षा दे नहीं सकेगा। ऐसा कर सकना उसके लिए सम्भव ही नहीं होगा। वह तो राष्ट्र में शिक्षा के प्रचार और प्रसार की व्यवस्था करेगा। इसलिए ऊपर उद्धृत मन्त्रों में जहाँ उसके द्वारा ज्ञान के प्रचार और प्रवचन का तथा विद्या सिखाने का वर्णन हुआ है उसे उपलक्षण मात्र समझना चाहिए। यह समझना चाहिए कि क्योंकि वह अपने शिक्षा विभाग के शिक्षकों और कर्मचारियों के द्वारा यह कार्य करायेगा इसलिए आलंकारिक रूप में कह दिया गया है कि मानो वह

¹ सहीयसा सहीयशब्दस्य तृतीयैकवचनम्। अयं शब्दः अभिभवार्थकात् सहधातोः निष्पद्यते। सही यान् अभिभवकर्ता।

² आदित्य शब्दो दो-अवखण्डने धातोर्भ्युत्पद्यते। आदित्यः अखण्डनीयः अपराभवनीयः।

स्वयं ही यह कार्य कर रहा है। इसकी व्यंजना यह है कि राज्य में शिक्षा-सम्बन्धी इस प्रकार के कार्य किये जाने चाहिए।

शिक्षा का आदर्श

वेद में सूर्य के अनेक ऐसे वर्णन आते हैं जिनसे शिक्षा के उद्देश्यों और आदर्शों पर भी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. धर्मणा सूर्यः शुचिः । ऋग० 1.160.1.

2. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

यजु० 36.24.

3. तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् । ऋग० 7.66.16.

प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि सूर्य धर्म से युक्त है और शुचि अर्थात् पवित्र है। सूर्य धर्म का आचरण करता है। इस कारण वह पवित्र है। धर्म का बड़ा विस्तृत अर्थ होता है। सत्य, न्याय, दया, अहिंसा, परोपकार, सहानुभूति, इन्द्रियदमन, संयम, ब्रह्मचर्य और कर्तव्य पालन के लिए कष्ट, सहिष्णुता आदि गुणों से युक्त होकर तदनुसार आचरण करना तथा काम, क्रोध, लोभ और ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्गुणों से दूर रहना, धर्म कहा जाता है। ईश्वर में विश्वास रखना, उसकी उपासना और भक्ति करना तथा उपासना में बैठकर उसके सत्य, दया, न्याय आदि पवित्र गुणों का चिन्तन करके इन गुणों का अपने जीवन में धारण करना भी धर्म कहा जाता है। आर्य शास्त्रों में वर्णित पाँच नियम और पाँच यम¹ धर्म के स्वरूप पर ही प्रकाश डालते हैं। जनता के कल्याण के लिए बनाये गये राजनियमों को भी धर्म कहा जाता है और इन नियमों का पालन करना भी धर्म कहा जाता है। इस व्यापक अर्थ में धर्म का पालन करने से व्यक्ति पवित्र बन जाता है। सूर्य इसी व्यापक अर्थ में धर्म का पालन करता है और इसीलिए वह शुचि है, पवित्र है। राज्य के सर्वोच्च शिक्षाधिकारी या शिक्षा-मंत्री के रूप में सूर्य के जीवन का यह आदर्श है। सूर्य तो उपलक्षण है। शिक्षा के सम्बन्ध में रखने वाले सभी शिक्षकों और कर्मचारियों को अपने जीवन का यही आदर्श रखना चाहिए। उनके जीवन में विस्तृत अर्थ में धर्म का पालन और उससे उत्पन्न होने वाली पवित्रता रहनी चाहिए।

छात्रगण अपने गुरुओं के उदाहरण से अपना जीवन बनाया करते हैं। जब शिक्षक लोग इस प्रकार का धर्मपरायण और पवित्र जीवन बितायेंगे तो उनके अनुकरण से छात्रों का जीवन भी वैसा ही धर्मपरायण और पवित्र बन जायेगा। इसलिए

¹ पाँच नियम : शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ।

पाँच यम : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ।

शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले शिक्षकों और कर्मचारियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने छात्रों को धर्म के इस ऊँचे आदर्श को वचन द्वारा भी शिक्षा देते रहें और अपने आचरण द्वारा भी धर्म के इस ऊँचे आदर्श के पालन का उदाहरण उपस्थित करते रहें। शिक्षा के चारित्रिक उद्देश्य और आदर्श के सम्बन्ध में यह सब ध्वनि वेद के इस और ऐसे अन्य मन्त्रों से निकलती है।

अब लीजिए दूसरे उद्धरण को। इसका अर्थ इस प्रकार है—‘(तत्) वह (देवहितं) देवों अर्थात् राष्ट्र में विविध प्रकार के व्यवहार या कार्य करने वाले लोगों का हितकारी (शुक्रं) शुद्ध आचरण वाला (चक्षुः) चक्षुरूप अर्थात् चक्षु की भाँति ज्ञान का प्रकाश करने वाला सूर्य (पुरस्तात्) हमारे सम्मुख (उच्चरत्)¹ उत्कृष्ट रूप में पदार्थों को जानता है और उनके ज्ञान से युक्त होकर उदित अर्थात् उपस्थित है, वह हमें इस प्रकार का ज्ञान दे जिसे प्राप्त करके हम (शतं) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक अर्थात् सौ वर्ष तक (पश्येम) पदार्थों को देख सकें, (शतं) सौ (शरदः) वर्ष तक (जीवेम) जीवित रह सकें, (शतं) सौ (शरदः) वर्ष तक (शृणुयाम) सुन सकें, (शतं) सौ (शरदः) वर्ष तक (प्रब्रवाम) उत्तम रीति से बोल सकें, (शतं) सौ (शरदः) वर्ष तक (अदीनाः) अदीन (स्याम) रहें, (शतात्) सौ (शरदः) वर्ष से (भूयः) अधिक (च) भी, हम ऐसा कर सकें।’

चक्षु का अर्थ बोलने वाला, उपदेश देने वाला, भी होता है यह हमने ऊपर देखा है। इस अर्थ में चक्षु का अर्थ हो जायेगा उपदेश देने वाला सूर्य। ‘उच्चरत्’ क्रियापद ‘उत्’ उपसर्ग पूर्वक ‘चर’ धातु का रूप है। ‘चर’ धातु का एक अर्थ गति भी होता है। और गति का एक अर्थ ज्ञान भी होता है। ‘उत्’ उपसर्ग उत्कृष्टता और ऊँचाई का बोधक होता है। इस प्रकार ‘उच्चरत्’ क्रिया पद का अर्थ उत्कृष्ट रीति से जानता है ऐसा हो जायेगा। ‘चर’ धातु के गति अर्थ में इस क्रियापद का अर्थ ऊँचा खड़ा है ऐसा हो जायेगा। हमने इन दोनों अर्थों को ध्यान में रखकर इस क्रियापद का अर्थ ‘उत्कृष्ट रूप में पदार्थों के ज्ञान से युक्त होकर उपस्थित है’ ऐसा कर दिया है। यदि इन दोनों अर्थों को पृथक्-पृथक् ही रखना हो तो इस क्रियापद का यह अर्थ हो जायेगा कि सूर्य पदार्थों को उत्कृष्ट रीति से जानता है अर्थात् विविध प्रकार के पदार्थों के ज्ञान से युक्त है और वह इस ज्ञान को देने के लिए सम्मुख खड़ा है। ‘उत्’ पूर्वक ‘चर’ धातु का अर्थ ‘उच्चारण’ करना भी होता है। इस अर्थ में व्याकरण की रीति से ‘चर’ धातु का प्रयोग प्रायः स्वार्थिक ‘णिजन्त’ होता है। बहुत बार ‘णिच्’ प्रत्यय के बिना भी क्रियापद ‘णिच्’ प्रत्यय वाला अर्थ दे दिया करते हैं। ऐसे अवसरों पर क्रियापदों को ‘अन्तर्भावित णिजन्त’ प्रयोग कहा जाता है। यदि मन्त्र के ‘उच्चरत्’ क्रियापद को ‘अन्तर्भावित णिजन्त’ प्रयोग मान लिया जाये तो इसका अर्थ उच्चारण करता है, उपदेश करता है, ऐसा भी हो जायेगा। चक्षु का

1 उत्कृष्टतया चरति सर्वं जानाति। इति यजु० 36.24 भाष्ये दयानन्दर्षिः। उदितम् इति तत्तैव भाष्ये उवटः। उदेति इति महीधरः। उद्गच्छति इति ऋग्० 7.66.16 भाष्ये सायणाचार्यः।

अर्थ बोलने वाला सूर्य कर लिया जाये और इस क्रियापद का अर्थ उच्चारण करता है ऐसा कर लिया जाये तो 'चक्षुः उच्चरत्' पदों का अर्थ हो जायेगा कि 'उपदेश देने वाला सूर्य उपदेश करता है।' प्रश्न होगा कि किस चीज का उपदेश करता है, तो उत्तर बन जायेगा कि 'देवहितं शुक्रमुच्चरत्' अर्थात् विविध प्रकार के व्यवहार करने वाले प्रजाजनों के लिए हितकारी 'शुक्र' अर्थात् शुद्ध और उज्ज्वल ज्ञान का उपदेश करता है। मन्त्र के इस पूर्वार्द्ध को उसके उत्तरार्द्ध के साथ मिलाकर मन्त्र का भाव यह हो जायेगा कि सूर्य जो उपदेश करता है उसके द्वारा हम सौ वर्ष तक जीने वाले तथा सब इन्द्रियों की कार्यक्षमता से युक्त बने रहें। मन्त्र के पूर्वार्द्ध की पद-योजना किसी भी प्रकार की जाये, मन्त्र का तात्पर्यार्थ एक ही रहेगा।

सूर्य के राष्ट्र के सर्वोच्च शिक्षाधिकारी या शिक्षा-मंत्री रूप को ध्यान में रखते हुए मंत्र से यह भाव स्पष्ट रूप से ध्वनित होगा कि शिक्षाधिकारियों द्वारा राष्ट्र के बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए जिसके परिणामस्वरूप उनका रहन-सहन ऐसा उत्तम बन जाये कि वे सुगमता से सौ वर्ष और सौ वर्ष से अधिक भी जीते रह सकें। तथा इस लम्बे जीवन में उनकी सभी इन्द्रियों की कार्यक्षमता अन्त तक सबल बनी रहे। जीवन के अन्त तक वे अपने सब काम स्वयं ही कर सकें, उनके लिए किसी की अधीनता उन्हें न करनी पड़े। इसके लिए उन्हें दीन न होना पड़े। राष्ट्रीय आदर्श की दृष्टि से भी वे दीन न हों, किसी के अधीन न हों। वे अपने राष्ट्र को सदा स्वतन्त्र और स्वाधीन रख सकें। अपने राष्ट्र को कभी पराधीन न होने दें। ऐसे आदर्श मानवों का निर्माण करना शिक्षा का सही उद्देश्य और आदर्श है। वेद के इस प्रस्तुत मन्त्र से शिक्षा का यह उच्च आदर्श द्योतित होता है।

तीसरे उद्धरण की व्याख्या दूसरे उद्धरण की व्याख्या में ही आ गई है।

राष्ट्र के प्रत्येक बालक को शिक्षित किया जाये

ऋग्वेद के एक मन्त्र में सूर्य के लिए कहा गया है कि—

शीर्ष्णः शीर्ष्णोऽपतिम् ।

ऋग्वे० 7.66.15.

अर्थात् 'सूर्य प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के सिर का पति अर्थात् रक्षक है।' ऊपर के पृष्ठों में हमने देखा है कि सूर्य ज्योति अर्थात् विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों के प्रकाश से युक्त है, वह अपनी जिह्वा अर्थात् मुख से विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों का प्रकथन करता है, उपदेश करता है, तथा प्रजाजन उससे विद्या ग्रहण करते हैं। इस प्रस्तुत उद्धरण में सूर्य को प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के सिर का रक्षक कहा गया है। सिर या मस्तिष्क व्यक्ति में ज्ञान का केन्द्र होता है। व्यक्ति के मस्तिष्क में जितना अधिक ज्ञान भरा होगा वह उतना ही अधिक कार्य-सक्षम होगा और उन्नति कर सकेगा तथा

अपने जीवन को सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से युक्त बना सकेगा और अन्य लोगों का भला कर सकेगा। यदि व्यक्ति का सिर यथोचित ज्ञान से सम्पन्न हो और वह ये सब कार्य भली-भाँति सम्पन्न कर सके तो वह अपने सही स्वरूप में विद्यमान रहेगा, वह अपने सही स्वरूप में सुरक्षित रहेगा। सूर्य राष्ट्र की प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करके उसको सब प्रकार से कार्यक्षम बनाता है तथा उसे इस प्रकार से अपने सही रूप में रखता है और उसकी रक्षा करता है। इस उद्धरण का ध्वनितार्थ यह है कि सूर्य राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करने की व्यवस्था करता है। दूसरे शब्दों में राज्य को ऐसे उपाय करने चाहिए जिनसे राष्ट्र का प्रत्येक बालक ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सके, राष्ट्र का कोई भी बालक शिक्षा से वंचित न रहे। किसी अन्य देवता को वेद में इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के सिर का पति या रक्षक नहीं कहा गया है।

सूर्य के इस प्रकार के काव्यमय वर्णनों द्वारा वेद ने यह निर्देश दिया है कि राष्ट्रों में एक इस प्रकार का शिक्षा-मन्त्री और उसका विभाग भी रहना चाहिए।

सूर्य पद की निरुक्ति की संगति

सूर्य शब्द संस्कृत की 'सृ' धातु से निष्पन्न होता है। यह धातु गत्यर्थक है। गति का एक अर्थ ज्ञान भी होता है। जो पदार्थों को जानता हो, विद्वान् हो, वह सूर्य¹ कहा जायेगा। यह शब्द 'षू' धातु से भी व्युत्पन्न किया जाता है। इस धातु का अर्थ प्रेरणा करना होता है। जो प्रेरणा करे वह सूर्य² कहा जावेगा। शिक्षा-मन्त्री ज्ञान के प्रचार द्वारा राष्ट्र के लोगों को विभिन्न सत्कर्मों में प्रेरित करता है। सूर्य का वाचक एक शब्द 'सूर' भी होता है। यह शब्द भी इन्हीं धातुओं से बनता है। संस्कृत में विद्वान् का वाचक एक शब्द 'सूरि' भी होता है। यह शब्द भी इन्हीं धातुओं से बनता है। सूरि और सूर्य दोनों शब्दों का मूल धात्वर्थ एक ही है। सूरि शब्द के सादृश्य से भी सूर्य का अर्थ विद्वान् किया जा सकता है। ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में प्रकरणानुसार धात्वर्थ के आधार पर कई स्थानों पर सूर्य का अर्थ विद्वान् भी किया है। इस भाँति इस पद की निरुक्ति भी शिक्षा-मन्त्री अर्थ में संगत हो जाती है।

13. विष्णु : प्रधान मंत्री

विष्णु का मानव और राजा रूप

विष्णु भी इन्द्र का एक सहचारी देवता है। विष्णु के इन्द्र के साथ वेद के 'इन्द्राविष्णु' इस प्रकार द्वन्द्व समास में समस्त रूप में भी वर्णन आते हैं और असमस्त

¹ सरति जानाति इति सूर्यः । अष्टा० 3.1.115.

² सुवति प्रेरयति इति सूर्यः । अष्टा० 3.1.115.

रूप में भी। इस भाँति अग्नि, वरुण और पूषा आदि अन्य देवताओं की तरह विष्णु के भी इन्द्र के सहचारी देवता के रूप में अनेक स्थानों पर वेद में वर्णन आते हैं। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी के रूप में विष्णु का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा इस पर हमें यहाँ विचार करना है। जैसा कि हम देखते आ रहे हैं वेद में इन्द्र, वरुण और विष्णु आदि सभी देवों को सामूहिक रूप में 'आदित्याः', 'विश्वेदेवाः' और 'देवाः' नामों से भी वर्णित किया गया है; और सामूहिक रूप में इनके लिए 'नरः'¹ और 'मनुष्यः' आदि मनुष्य-वाचक नामों का भी प्रयोग किया गया है। देवों के लिए इन मनुष्यवाचक नामों के प्रयोग से अन्य देवों की भाँति विष्णु भी मनुष्य बन जाता है। इसी भाँति सामूहिक रूप में देवों के लिए 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का भी वेद में प्रयोग किया गया है। देवों के लिए इन राजा के वाचक शब्दों के प्रयोग से विष्णु राजा भी बन जाता है। इस प्रकार विष्णु का एक रूप वेद में मनुष्य और राजा का भी हो जाता है। और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में विष्णु का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें दीखने लगती हैं। हम निरन्तर यह देखते ही आ रहे हैं कि वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र ही है। इसलिए विष्णु के लिए राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया समझना चाहिए। विष्णु अपने विभाग के कार्यों को इन्द्र के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर करेगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा। इसलिए वह भी एक प्रकार से इन्द्र या सम्राट् ही होगा।

विष्णु की पौराणिक कल्पना

पौराणिक साहित्य में ब्रह्मा, विष्णु और महेश यह जो देवत्रयी की कल्पना है उसमें विष्णु का काम जगत् का धारण, पोषण और रक्षा माना जाता है। एक दूसरी पौराणिक मान्यता के अनुसार विष्णु को स्वर्ग के अधिपति इन्द्र का सहायक और छोटा भाई माना जाता है। कोषों में दिये गये विष्णु के नामों में उपेन्द्र और इन्द्रावरज¹ ये नाम भी आते हैं। उपेन्द्र का अर्थ है—इन्द्र के समीप रहने वाला, इन्द्र के समीप रहकर उसकी सहायता करने वाला। और इन्द्रावरज का अर्थ है—इन्द्र का अवरज अर्थात् छोटा भाई। सायणाचार्य ने भी अपने वेदभाष्य में कई स्थानों पर विष्णु को इन्द्र का अनुज² अर्थात् छोटा भाई कहा है। वेद में न तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश की देवत्रयी की कल्पना ही उस रूप में पाई जाती है जिस रूप में वह पौराणिक साहित्य में पाई जाती है, और न ही वेद में कहीं विष्णु को उपेन्द्र और इन्द्र का अनुज अर्थात् छोटा भाई ही कहा गया है। हाँ, वेद का विष्णु भी जगत् का धारण, पोषण और रक्षण अवश्य करता है। वेद में विष्णु को इन्द्र का अनुज और उपेन्द्र तो नहीं कहा गया है परन्तु इन शब्दों से विष्णु की इन्द्र के साथ जो घनिष्ठता प्रकट होती है उसे

¹ उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः। अमरकोषः।

² उदाहरण के लिए देखें—ऋ० 8.52.3.

प्रकट करने वाले विष्णु के वर्णन वेद में अवश्य मिलते हैं। वेद में अनेक स्थानों पर विष्णु को इन्द्र का सखा अर्थात् मित्र कहा गया है। तथा विष्णु के ऐसे वर्णन भी वेद में अनेक आते हैं जिनमें उसे इन्द्र के विविध कार्यों में उसकी भारी सहायता करने वाले के रूप में चित्रित किया गया है। प्रतीत होता है कि विष्णु के वेदगत इस प्रकार के कुछ वर्णनों के आधार पर ही विष्णु के सम्बन्ध में कल्पना का वह विशाल भवन खड़ा कर लिया गया है जिससे पौराणिक साहित्य भरा पड़ा है। यद्यपि वेद में उस प्रकार की बातें कहीं भी नहीं कही गई हैं।

विष्णु और इन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध

वेद में विष्णु का अपना अधिराष्ट्र स्वरूप क्या है इसे निर्धारित करने के लिए वेद के विष्णु विषयक मंत्रों और सूक्तों को बारीकी से देखने पर हमें वहाँ अनेक संकेत मिल जाते हैं। वेद के विष्णु विषयक प्रसंगों का अध्ययन करने पर सबसे पहले हमारा ध्यान जिस बात की ओर जाता है वह यह है कि उसे घनिष्ठ मित्र बताया गया है। वेद कहता है कि—

इन्द्रस्य युज्यः सखा ।

ऋग्० 1.22.19.

अर्थात्, 'विष्णु इन्द्र से युक्त रहने वाला (युज्यः), सदा उसके पास रहने वाला, उसका मित्र है।' इस प्रकार इस उद्धरण में विष्णु को इन्द्र का घनिष्ठ सखा अर्थात् मित्र कहा गया है। यह मंत्र दो बार यजुर्वेद में और एक बार अथर्ववेद में भी आता है। वेद में सोम को छोड़कर विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी देवता को इस प्रकार 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' नहीं कहा गया है।

सोम और इन्द्र

दो-तीन स्थलों पर सोम को भी 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' कहा गया है हमने पीछे देखा है कि अधिराष्ट्र अर्थ में सोम न्याय विभाग में मंत्री या न्यायाधीश के लिए प्रयुक्त हुआ है। न्याय विभाग राज्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विभाग होता है। जनता की सब सुख-सुविधा अन्ततः राज्य के न्याय विभाग पर अवलम्बित होती है। जनता तभी सुखी और समृद्ध रह सकती है जब उसके किसी भी व्यक्ति के साथ कोई दूसरा व्यक्ति, चाहे वह कोई प्रजाजन हो अथवा कोई राजकर्मचारी हो, किसी प्रकार का अन्याय और अत्याचार न कर सके। कोई किसी के अधिकारों को कुचल न सके, कोई किसी की स्वतंत्रता को दबा न सके, कोई किसी को अपमानित और निराहत न कर सके। राष्ट्र में इस प्रकार का अन्याय और अत्याचार से विहीन वातावरण तभी उत्पन्न हो सकता है जबकि उसकी न्याय-व्यवस्था अपना काम निर्बाध होकर ठीक से कर रही हो। इन्द्र (सम्राट्) का सम्राट् रूप में एकमात्र लक्ष्य यही होता है कि

1 उद्धरण के लिए देखें—यजु० 6.4, 13.33 ; अथ० 7.27.6.

उसके राष्ट्र की सर्वसामान्य प्रजा पूर्णरूप से शान्ति और सुख-समृद्धि का जीवन व्यतीत करे। यह तभी संभव है जबकि उसके राष्ट्र की न्याय-व्यवस्था अपने काम में स्वतंत्र निर्भय और निर्बाध रहकर अपना कार्य कर सके। इन्द्र सोम की, न्याय विभाग की, इस प्रकार की स्वतंत्र और निर्भय स्थिति रखता है। वह सोम को अपना 'युज्यः सखा' बनाकर रखता है, अपना घनिष्ठ मित्र बनाकर रखता है, उसे अपने और राष्ट्र के लिए परमोपयोगी समझ कर उससे गहरा स्नेह रखता है, उसे अपना ही रूप समझते हुए उसे कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता देता है और उसके निर्णयों को स्वीकार करता है। इस प्रकार सोम को वेद ने जो 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' कहा है उसका अधिराष्ट्र अर्थ में तात्पर्य सुस्पष्ट हो जाता है।

सोम की भाँति ही विष्णु भी इन्द्र का 'युज्यः सखा' है। विष्णु को वेद में जो 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' कहा गया है उसका तात्पर्य, इस प्रकरण में हम जो विचार कर रहे हैं उसे समग्र रूप में देखने के उपरान्त पाठकों को भली-भाँति स्पष्ट हो जायेगा।

इन्द्र विष्णु की सहायता से अपने कार्य करता है

जहाँ विष्णु के लिए कहा गया है कि वह इन्द्र का 'युज्यः सखा' अर्थात् घनिष्ठ मित्र है वहाँ वेद में बार-बार यह भी कहा गया है इन्द्र विष्णु की सहायता से अपने कार्य करता है। उदाहरण के लिए निम्न मंत्र देखिए—

1. यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे ।
आदित् ते हर्यता हरी ववक्षतुः ॥ ऋग्० 8.12.27.
2. अथान्नवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् त्सखे विष्णो
वितरं वि क्रमस्व । ऋग्० 4.18.11.
3. अहिं यद् वृत्रमपो वृत्रिवासं हन्तुजीषिन् विष्णुना सचानः ।
ऋग्० 6.20.2.
4. उभा जिग्यथूर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चर्ननोः ।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं विदैरयेथाम् ॥
ऋग्० 6.69.8.
5. सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व द्यौर्देहि लोकं वज्राय विष्कभे ।
हनाव वृत्रं रिणचाव सिन्धूनिन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः ॥
ऋग्० 8.100.12.

इन मंत्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) हे इन्द्र जब तेरा विष्णु अपने बल से तीन पग (पदा) चलता है (विचक्रमे) तभी तेरे कान्तियुक्त (हर्यता) घोड़े (हरी) तेरा वहन करते हैं।' विष्णु द्वारा तीन पग चलने के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा। इन्द्र का उसके घोड़ों द्वारा वहन किया जाना इन्द्र द्वारा किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के कार्यों का उपलक्षण है। इन्द्र अपने घोड़ों और उनसे उपलक्षित यातायात के अन्य साधनों पर बैठकर अपने भाँति-भाँति के कार्यों को करने जाता

है। इसलिए उसका अपने घोड़ों पर बैठना उसके द्वारा किये जाने वाले विविध प्रकार के कार्यों का उपलक्षण समझना चाहिए। विष्णु जब अपने बल से, अपनी शारीरिक सामर्थ्य और ज्ञान की शक्ति से, इन्द्र की सहायता करता है तब वह अपने कार्य करने में समर्थ होता है।

(2) 'वृत्र को मारने की इच्छा वाला इन्द्र विष्णु से कहता है कि हे मित्र (सखे) तू वृत्र-वध के कार्य में खूब विक्रम कर।' वृत्र का अर्थ होता है आवरण करने वाला, ढकने वाला, रूकावट और बाधा डालने वाला। रूकावट और बाधा चाहे जड़ पदार्थों के द्वारा हो और चाहे चेतन व्यक्तियों के द्वारा, बाधा डालने के कारण वे सभी वृत्र कहे जायेंगे। इस धात्वर्थ के आधार पर प्रकरणानुसार वेद में वृत्र के अनेक अर्थ हो जाते हैं। इन्द्र (सम्राट्) के राज्य-संचालन के कार्य में जो लोग बाधा डालेंगे वे भी वृत्र कहे जायेंगे। इन्द्र को अपने राष्ट्र के शत्रु इन वृत्रों को मारना होगा, मार्ग से दूर करना होगा। इस वृत्र-वध के कार्य में, राष्ट्र के शत्रुओं के इस निराकरण के कार्य में, इन्द्र विष्णु की सहायता लेता है और उसे भरपूर सहायता देने के लिए कहता है।

(3) 'हे ऋजु अर्थात् कुटिलता रहित सरल नीति वाले (ऋजीषिन्)¹ इन्द्र विष्णु के साथ मिलकर जोकि तुमने जलों को (अपः) रोक रखने वाले (वृत्रिवांसं) जलों की गति को मारने वाले (अहिं) वृत्र का वध कर डाला है (हन्)।' इस मंत्र में सम्राट् द्वारा राष्ट्र में नहरों खुदवाने के कार्य की ओर संकेत किया गया है। पानी की गति को रोकने वाले मिट्टी, पत्थर और पहाड़ आदि वृत्र हैं। इन्द्र उनका वध करके, उन्हें रास्ते से हटाकर, नदी, झील आदि के पानी को नहरों के रूप में बहने के लिए मार्ग खोल देता है। इस कार्य में विष्णु इन्द्र की सहायता करता है।

(4) 'हे इन्द्र और विष्णु तुम दोनों में से कोई सा भी पराजित नहीं होता है, हे विष्णु तुम और इन्द्र जब वृत्रों के साथ स्पर्द्धा करते हो, अर्थात् उनसे युद्ध करते हो तब तुम तीन प्रकार से और सहस्रों प्रकार से विक्रम करते हो (विदैरयेयाम्)।' मंत्र कहता है कि सभी प्रकार के वृत्रों का पराभव करने के लिए इन्द्र और विष्णु मिलकर कार्य करते हैं। उनकी इतनी शक्ति है कि उन्हें कोई पराजित नहीं कर सकता। राष्ट्र की भूमि, समुद्र और आकाश में रहने वाले वृत्रों का वध करने की दृष्टि से मंत्र में कहा गया है कि वे तीन प्रकार से वृत्रों पर विक्रम करते हैं। तीनों स्थानों में रहने वाले ये वृत्र सहस्रों प्रकार के हो सकते हैं। इस दृष्टि से मंत्र में कहा गया है कि वे सहस्रों प्रकार से वृत्रों पर विक्रम करते हैं।

(5) इस उद्धरण में इन्द्र विष्णु से कहता है कि 'हे मित्र (सखे) विष्णु तू खूब विक्रम कर, अपनी शक्ति और गुणों से प्रकाशमान (द्यौः) तू मेरे वज्र को स्थिर होकर काम करने के लिए (विष्कम्भे) अवकाश (लोकं)² प्रदान कर, हम दोनों मिलकर भाँति-भाँति के वृत्रों का वध करें (हनाव) तथा नदियों अर्थात् नहरों को (सिन्धून्) प्रवाहित

¹ ऋजीषी ऋजुनीतिः। ऋग्वे० 4.16.1 भाष्ये दयानन्दविः।

² अवकाशम् इति सायणः।

करें (रिणचाव)¹ हमारे प्रयत्नों से विसर्जित अर्थात् प्रवाहित (विसृष्टाः) ये सिन्धु अर्थात् नहरें मुझ इन्द्र की आज्ञा में (प्रसवे) चलें ।' मंत्र में इन्द्र (सम्राट्) विष्णु को अपना मित्र कहता है और अपनी सहायता के लिए विक्रम से कार्य करने के लिए कहता है । विक्रम से कार्य करने का तात्पर्य पूरे प्रयत्न और शक्ति से कार्य करना है । मंत्र का वज्र शब्द कार्य-सिद्धि में उपस्थित होने वाले विघ्नों को दूर करने के साधनों का उपलक्षण है । विष्णु से इन्द्र कह रहा है कि विष्णु तू इस प्रकार मेरी सहायता कर कि कार्य-सिद्धि में प्रयोग में लाए गए मेरे साधन स्थिर होकर कार्य कर सकें । हम दोनों मिलकर वृत्र का वध करें मंत्र के इस वाक्य में वृत्र का अभिप्राय राष्ट्र की उन्नति के मार्ग में आने वाली सभी प्रकार की विघ्न-वाधाओं से है । मंत्र के 'रिणचाव सिन्धून्' वाक्य में राज्य द्वारा राष्ट्र में नहरें बनवाने के कर्तव्य की ओर संकेत किया गया है । मंत्र के अन्तिम चरण में यह जो कहा गया है कि सिन्धू अर्थात् नहरें इन्द्र की आज्ञा में चलें इसका ध्वनितार्थ यह है कि राष्ट्र में जहाँ-जहाँ पानी की आवश्यकता हो वहाँ-वहाँ नहरें ले जाकर जल पहुँचाया जाये ।

इन पाँचों मंत्रों और वेद के इसी प्रकार के अन्य अनेक मंत्रों में यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि इन्द्र (सम्राट्) अपने कर्तव्यों और कार्यों की सम्यक् पूर्ति के लिए विष्णु की सहायता की अत्यधिक अपेक्षा रखता है । उद्धृत पाँचवें मंत्र के सम्बन्ध में शौनक ने बृहद्देवता में लिखा है कि—'वृत्र अपने तेज से इन तीनों लोकों को आदृत करके स्थित हो गया । इन्द्र उसको न मार सका । विष्णु के पास जाकर इन्द्र ने उससे कहा कि मैं वृत्र को मारूँगा, तू आज विक्रम करके मेरे पास खड़ा हो उठे हुए मेरे वज्र के लिए द्यौ अवकाश प्रदान कर । बहुत अच्छा कहकर विष्णु ने वैसा ही किया । और द्यौ ने इन्द्र के वज्र के लिए विवर, छिद्र, अर्थात् अवकाश दे दिया । यह सब वृत्तान्त 'सखे-विष्णो'² इस ऋचा द्वारा कहा गया है ।' शौनक की यह कहानी तो कल्पित और निराधार है । वेद मंत्र में तो काव्यमयी शैली में केवल इतना ही कहा गया है कि इन्द्र विष्णु की सहायता की याचना करता है जिसका अभिप्राय अधिराष्ट्र अर्थ में यह है कि इन्द्र (सम्राट्) की सहायता के लिए राज्य में विष्णु नामक एक अधिकारी भी होना चाहिए । शौनक के इस लेख से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन्द्र और विष्णु का घनिष्ठ सम्बन्ध है और इन्द्र विष्णु की सहायता की बहुत अधिक अपेक्षा रखता है ।

पुराण और विष्णु का वामनावतार

विष्णु के सम्बन्ध में पुराणों में बलिबन्धन की कथा बहुत प्रसिद्ध है । दैत्य

¹ नयावः इति सायणः ।

² श्रील्लोकानभिवृत्तयान् वृत्रस्तस्यो स्वया त्विषा । तं नाशकं दन्तुमिन्द्रो विष्णुमेत्य सोब्रवीत् ॥ वृत्रं हनिष्ये तिष्ठस्व विक्रम्याद्य ममाग्निके उद्यतस्य तु वज्रस्य द्यौर्वादातु ममान्तरम् । तथेति विष्णुस्तच्चक्रे द्यौश्चास्य विवरं ददौ । तदेतदखिलं प्रोक्तं सखे विष्णो इति ऋचा ॥ बृह० 6.121-24.

परम्परा में प्रह्लाद के पुत्र विरोचन का पुत्र बलि नामक दैत्य बड़ा बली और पराक्रमी था। उसके पराक्रम के आगे मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवताओं की भी एक नहीं चलती थी। उसने तीनों लोकों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। स्वर्ग में उसने देवराज इन्द्र के सिंहासन पर भी अधिकार कर लिया। देवताओं को उसकी आज्ञा माननी पड़ती थी। तंग होकर देवता लोग बलि से छुटकारा पाने का उपाय पूछने के लिए कश्यप प्रजापति के पास गये। कश्यप ने कहा कि चलो ब्रह्मा के पास चलते हैं वे ही बलि से छुटकारा पाने का उपाय बता सकेंगे। कश्यप, उनकी पत्नी अदिति और देवता लोग ब्रह्मा के पास गये और उनके आगे अपनी दुःख गाथा रखी। ब्रह्मा ने कहा कि बलि से देवताओं का उद्धार विष्णु ही कर सकते हैं तुम लोग क्षीर सागर में उन्हीं के पास जाओ। इस पर वे सब लोग क्षीर सागर में विष्णु के पास पहुँचे। उनकी सारी कहानी सुनकर विष्णु बोले कि बलि को संसार में और कोई भी वश में नहीं कर सकता, मैं ही उसे वश में कर सकता हूँ। मैं कश्यप की पत्नी अदिति के गर्भ से वामन रूप में उत्पन्न हूँगा। और फिर वामन रूप में बलि के पास जाकर बलि को छल कर उसे अपने वश में करूँगा और तुम लोगों का उद्धार करूँगा। यथासमय विष्णु अदिति के गर्भ से वामन रूप में उत्पन्न हुए। बलि दैत्य होते हुए भी यज्ञ-यागादि करने वाला था, बड़ा दानी और वचन का पक्का था। एक बार जब बलि एक बड़ा यज्ञ कर रहा था जिसमें बड़ी दान-दक्षिणा दी जाने वाली थी, वामन विष्णु ब्राह्मण के रूप में उसके पास पहुँचे। और उससे कहा कि बलि ! मुझे यज्ञ करने के लिए अग्निकुण्ड बनाना है तुम उसके लिए मेरे इन छोटे-छोटे पैरों के नाप की तीन पग भूमि मुझे दे दो। दैत्यों के गुरु शुक्र ने बलि को समझाया कि यह तो विष्णु है इसे कुछ भी देने की प्रतिज्ञा मत करना, यह तुम को छलने आया है। बलि ने अपने गुरु शुक्र को उत्तर दिया कि मैं तो किसी भी याचक को दान देने से इनकार नहीं कर सकता, फिर यदि स्वयं विष्णु मेरे घर याचना करने आये हैं तो मैं उन्हें तो कैसे इनकार कर सकता हूँ। जो ये माँगेंगे मैं इन्हें अवश्य दूँगा। वामन से बलि ने कहा कि विप्रवर ! यह तो आपने बहुत थोड़ा माँगा, कोई बड़ी चीज़ माँगिये, आप जो माँगेंगे मैं वही आपको दूँगा। वामन ने बलि से उत्तर में कहा कि ब्राह्मण को लोभ नहीं करना चाहिए, मुझे तो इतनी सी भूमि ही चाहिए। बलि ने कहा कि अच्छा अपने तीन पग भूमि नाप लीजिए। ज्यों ही बलि ने दान का संकल्प करने के लिए वामन के हाथ में जल छोड़ा त्यों ही वामन ने विराट् रूप धारण कर लिया। और उसने एक पग में सारी धरती नाप ली तथा दूसरे पग में शेष सारा ब्रह्माण्ड नाप लिया। तीसरे पग के लिए कोई जगह ही न बची। विष्णु ने बलि से कहा कि अपना वचन पूरा करो। पर तीसरे पग के लिए तो कोई स्थान ही नहीं बचा था। विष्णु ने अपना तीसरा पग बलि पर ही रख दिया और उसे बाँध लिया और उसे पाताल में भेज दिया। यज्ञ में उपस्थित दैत्यों ने विष्णु से युद्ध भी किया पर विष्णु ने उन्हें बात ही बात में मार डाला। इस प्रकार बलि को वश में करके विष्णु ने देवताओं को उसके आधिपत्य से मुक्त किया

तथा इन्द्र को त्रिलोकी का साम्राज्य वापिस दिला कर उसे पुनः स्वर्ग के सिंहासन पर अधिष्ठित किया ।

वेद और विष्णु के तीन पग

वेद में भी अनेक स्थानों पर विष्णु के तीन पगों का वर्णन आता है । उदाहरण के लिए निम्न मंत्र देखिए—

1. यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे । ऋग्० 8.12.27.
2. यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रम ।¹ ऋग्० 8.52.3.
3. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाम्यः । ऋग्० 1.22.18.
4. यस्य त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विद्वा । ऋग्० 1.154.2.
5. इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । ऋग्० 1.22.17.

इन उद्धरणों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—(1) हे इन्द्र जब तुम्हारा विष्णु अपने बल से तीन पग (पदा) चलता है । (2) जिस इन्द्र के लिए विष्णु तीन पग चलता है । (3) सबका रक्षक (गोपाः) और किसी से न दबने वाला (अदाम्यः) विष्णु तीन पग चला । (4) जिस विष्णु के तीन पगों में (विक्रमणेषु) सब भुवन निवास करते हैं (अधिक्षियन्ति) । (5) इस जगत को (इदं) लक्ष्य करके विष्णु ने विक्रमण किया अर्थात् वह चला और उसने तीन प्रकार से (त्रेधा) पग रखा ।

इन और इसी प्रकार के अन्य अनेक मंत्रों में विष्णु के तीन पगों का, उसके द्वारा तीन पग चलने का, उसके तीनों पगों में सब लोकों के रहने और बसने का वर्णन उपलब्ध होता है । सायणाचार्य आदि पौराणिक संस्कारों वाले भाष्यकार इस प्रकार के वेद के स्थलों की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं कि यहाँ विष्णु के वामनावतार की कथा का उल्लेख किया गया है ।

वेद में वामनावतार की कथा नहीं

इन भाष्यकारों ने पुराणों में वर्णित वामनावतार की यह विचित्र कहानी वेद पर यों ही थोप दी है । वेद में इस कहानी का कहीं उल्लेख नहीं है । वेद में बलि नामक दैत्य और उसके वंश का कहीं भी उल्लेख नहीं है । बलि द्वारा त्रिलोकी के विजय तथा देवताओं को जीत कर उसके द्वारा स्वर्ग में इन्द्र के सिंहासन पर अधिकार कर लेने का भी वेद में कहीं वर्णन नहीं है । देवताओं का बलि से रक्षा के उपाय पूछने के लिए कश्यप और अदिति के पास जाना, फिर उन सबका ब्रह्मा के पास जाना और फिर सबका वहाँ से क्षीर सागर में विष्णु के पास जाना आदि किसी भी बात का वेद में उल्लेख नहीं है । और न ही विष्णु का अदिति के गर्भ से वामन रूप में उत्पन्न होना, वामन का ब्राह्मण रूप धर कर बलि के यज्ञ में जाकर बलि से यज्ञ कुण्ड के

¹ वामनपुराणे बलिवन्धनम् ।

लिए अपने तीन पगों के नाप की भूमि दान में माँगना आदि कहानी के किसी अन्य अंश का ही उल्लेख वेद में कहीं आता है। यह कहानी निराधार वेद पर थोप कर वेद को व्यर्थ में हास्यास्पद बनाया जाता है और उसके गौरव को कम किया जाता है। और तो और वेद में तो वामन शब्द ही कहीं विष्णु के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में तो वामन शब्द ही नहीं आता। केवल यजुर्वेद में वामन शब्द आता है। वहाँ पाँच स्थलों पर वामन शब्द आया है। उनमें से तीन स्थलों¹ पर यह शब्द छोटे शरीर वाले पशु का वाचक है और उवट और महीधर ने भी वहाँ इस शब्द का यही अर्थ किया है। एक स्थान² पर यह शब्द 'अनड्वाहीं' अर्थात् बँल का विशेषण होकर आया है। वहाँ इसका अर्थ छोटे शरीर वाले बँल होता है। उवट और महीधर ने भी इसका यही अर्थ किया है।

पाँचवे स्थल³ पर यह शब्द 'रुद्र' का विशेषण होकर आया है। वहाँ उवट और महीधर ने इसका अर्थ संकुचित अवयव अर्थात् छोटे शरीर वाला रुद्र किया है। अधिराष्ट्र अर्थ में हमने रुद्र का अर्थ, जैसाकि पाठकों ने देखा है, सेनापति किया है। रुद्र के सेनापति अर्थ में उसके वामन विशेषण की बड़ी सुन्दर संगति लग जाती है। शत्रुओं से युद्ध के समय सेनापति को विजय प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर वामन रूप भी धारण करने की आवश्यकता पड़ती है। शत्रुओं को भ्रम में डालने के लिए उसे ऐसा बनना पड़ता है। युद्ध के किसी मोर्चे पर वह अपनी सेनाओं का जमाव अपेक्षाकृत बहुत कम रखता है अथवा सेनाओं का सन्निवेश इस प्रकार करता है कि शत्रुओं को उसकी सेनायें बहुत कम प्रतीत होती हैं। शत्रु उस ओर से कुछ निर्भय और असावधान हो जाते हैं। शत्रुओं को असावधान देखकर यह सेनापति उन पर अकस्मात् आक्रमण करके उन्हें पराजित कर देता है। अथवा उस मोर्चे पर उसकी स्थिति को कमजोर समझकर शत्रु लोग पहले उस मोर्चे को जीतने के विचार से अपनी सेनाओं का प्रवाह उस ओर मोड़ देते हैं जिसके कारण किसी दूसरे मोर्चे पर उनकी स्थिति दुर्बल पड़ जाती है। यह सेनापति शत्रु के उस दुर्बल मोर्चे पर आक्रमण करके उसे पराजित कर देता है। इस प्रकार शत्रु को पराजित करने के उद्देश्य से रुद्र (सेनापति) उसे भ्रम में डालने के लिए वामन रूप भी धारण करता रहता है।

कुछ भी हो विष्णु के लिए वामन शब्द का प्रयोग वेद में कहीं भी नहीं किया गया है। अवतारवाद की कल्पना भी वेद में कहीं नहीं पाई जाती। चारों वेदों में अवतार शब्द ही कहीं नहीं पाया जाता। और न कहीं वेद में वैसे विचार ही कहीं पाये जाते हैं जिनके आधार पर अवतारवाद का विशाल भवन खड़ा किया गया है। इस प्रकार वेद में विष्णु के वामनावतार की कथा की गन्ध भी नहीं पाई जाती।

¹ यजु० 24.1, 24.7, 30.10 ।

² यजु० 24.8 ।

³ यजु० 16.30 ।

विष्णु के तीन पगों का तात्पर्य

यदि वेद में वामनावतार की कथा की गन्ध भी नहीं पाई जाती तो फिर वेद में वर्णित विष्णु के तीन पगों का क्या अभिप्राय होगा ? इस प्रश्न का समाधान हमें यहाँ करना है । अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र सम्राट् है यह हम देखते ही आ रहे हैं । अग्नि, वरुण, सोम और सविता आदि देव उसे विभिन्न विभागों के संचालन में सहायता देने वाले विभिन्न विभागों के सर्वोच्च राज्याधिकारी मंत्रिगण हैं यह भी हम पिछले पृष्ठों में देखते आ रहे हैं । उसी प्रसंग में विष्णु को भी हमें देखना होगा । अधिराष्ट्र अर्थ में विष्णु भी इन्द्र (सम्राट्) का सहायक एक उच्च राज्याधिकारी है । किसी देश के सम्राट् और तदुपलक्षित राज्य प्रशासन के अधिकार क्षेत्र में तीन क्षेत्र हुआ करते हैं । एक तो उस देश की भूमि, दूसरे उस देश का समुद्र और तीसरे उस देश का आकाश । इन्द्र (सम्राट्) को इन तीनों ही क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न प्रकार के प्रशासन के कार्यों का संचालन करना होता है । विष्णु इन्द्र (सम्राट्) को सहायता देने के लिए इन तीनों ही क्षेत्रों के विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक कार्यों में पग रखता है । इन तीनों ही क्षेत्रों के विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक कार्यों की संचालन व्यवस्था की देखभाल करता है और उनके सुचारु रूप से संचालन के लिए उन पर नियंत्रण रखता है । और इस प्रकार उन सबके संचालन में इन्द्र (सम्राट्) का हाथ बँटा कर उसकी सहायता करता है । उन सब कार्यों के भली-भाँति संचालन में आने वाली रुकावटों, विघ्नों और बाधाओं रूप वृत्रों को मारकर, मार्ग से दूर करके, इन्द्र की सहायता करता है । इस प्रकार राष्ट्र के इन तीनों क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करना ही विष्णु का तीन पग रखना है ।

एक और दृष्टि से भी विष्णु के तीन पगों की व्याख्या हो सकती है । राज्य प्रशासन या सरकार के वेद के अनुसार तीन अंग होते हैं । दो तो संसद् (पालियामेण्ट) के सभा और समिति नामक सदन और एक मंत्रिमण्डल । ये तीनों ही मिलकर राज्य प्रशासन या सरकार कहलाते हैं । इन तीनों की सहायता से ही इन्द्र (सम्राट्) शासन करता है । विष्णु इस में इन्द्र की सहायता करता है । व इन्द्र के निरीक्षण में उसके प्रतिनिधि के रूप में सभी मंत्रियों के पृथक्-पृथक्, और सामूहिक रूप में पूरे मंत्रिमण्डल के कार्यों की देखभाल करता है और उन पर निगाह रखता है । इसी भाँति वह सभा और समिति के कार्यों की भी देख-भाल करता है और उन पर निगाह रखता है । और ऐसा करके इन्द्र को आवश्यक परामर्श देता रहता है । इस प्रकार सरकार के इन तीनों अंगों के कार्यों की देख-भाल और उन पर निगाह रखने वाला होने के कारण मानो विष्णु के पग इन तीनों स्थान पर हैं । इन तीनों अंगों के भली-भाँति संचालन में समय-समय पर आ पड़ने वाली विघ्न-बाधाओं रूप वृत्रों को मारने में रास्ते से परे करने में, इन्द्र की सहायता विष्णु अपने तीनों पगों से करता है ।

विष्णु के तीन पगों का यह काव्यमय वर्णन और उनके द्वारा इन्द्र की सहायता

किये जाने का यह उल्लेख विष्णु की उच्च अधिराष्ट्र स्थिति की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं ।

उरुगाय और उरुक्रम विष्णु

विष्णु के तीन पद-क्रमों, तीन पद-निक्षेपों, अर्थात् तीन पग रखने के कार्य का जो वर्णन वेद में किया गया है उसका सामान्य निष्कृष्टार्थ यह है कि वह राष्ट्र के सभी प्रशासनिक कार्यों से सम्बन्ध रखता है, प्रशासन के सभी क्षेत्रों में उसकी पहुँच रहती है और प्रशासन के सभी क्षेत्रों पर वह अपना निरीक्षण रखता है । इसी अभिप्राय से विष्णु को वेद में अनेक स्थानों पर 'उरुगाय' भी कहा गया है । उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिये—

1. उरुगाय विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि । यजु० 6.3.
2. उरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे । ऋगु० 1.155.4.
3. यः विष्णव उरुगायाय दाशत् । ऋगु० 7.100.1.

इन मन्त्र खण्डों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) उरुगाय विष्णु का अति उत्कृष्ट (परम) पद खूब चमक रहा है । (2) हे उरुगाय विष्णु लोगों को जीवन देने के लिए (जीवसे) तुम बहुत क्रमण अर्थात् गति करते हो अर्थात् बहुत कार्यक्षेत्रों में पहुँचकर कार्य करते हो । (3) जो प्रजाजन उरुगाय विष्णु को उसका देय भाग प्रदान करता है ।¹

इन उद्धरणों में और अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर विष्णु को उरुगाय कहा गया है । यह विशेषण प्रमुख रूप से विष्णु का ही है । जहाँ अकेला उरुगाय शब्द भी आता है, वहाँ सायणाचार्य आदि भाष्यकार इसका अर्थ विष्णु ही करते हैं । उरुगाय शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक तो वह जिसके गुणों और कार्यों का गान किया जाये, जिसकी प्रशंसा की जाये ऐसा प्रशंसनीय गुणों वाला । और दूसरा वह जिसका बहुत स्थानों पर गमन हो, पहुँच हो । यास्काचार्य, सायण, उवट और महीधर ने यह दूसरा अर्थ भी¹ उरुगाय का अनेक स्थानों पर किया है । उरुगाय के ये दोनों ही अर्थ विष्णु में संगत हो जाते हैं । यहाँ हमारा प्रयोजन पाठकों का ध्यान उरुगाय के दूसरे अर्थ की ओर आकृष्ट करना है । विष्णु उरुगाय है । उसकी गति, उसकी पहुँच उरु है, बहुत बड़ी है । वह राष्ट्र के सभी कार्यक्षेत्रों की देखभाल करता है, सभी कार्यक्षेत्रों पर उसका निरीक्षण रहता है और इस प्रकार राष्ट्र के सभी विभागों की देखभाल और निरीक्षण के कार्य के द्वारा वह इन्द्र की सहायता करता है ।

विष्णु का एक विशेषण वेद में 'उरुक्रम' भी आता है । उदाहरण के लिए

¹ उदाहरण के लिए देखें—उरुगायस्य महागतेः । निरु० 2.2.7, गायः बहुभिर्गतिभ्यः, बहुषु देशेषु गन्ता वा, बहुकीर्तिर्वा । ऋगु० 8.29.7 भाष्ये सायणः । उरुगाय उरुगमन, यजु० 8.1 भाष्ये उवटः । उरुगायस्य महागतेः विष्णोः । गाङ्गुती गानं गायः उरुगायो गमनं यस्य, महागते रित्यर्थः । यद्वा उरुभिर्महात्मभिः गीयते स्तूयतेसावुरुगायस्सत्य । यजु० 6.3 भाष्ये महीधरः ।

निम्न मन्त्र देखिये—

उरुक्रमस्य विष्णोः ।

ऋग्० 1.154.5.

इस उद्धरण में विष्णु को 'उरुक्रम' कहा गया है। इस विशेषण का भी वही भाव है जोकि 'उरुगाय' के गति वाले दूसरे अर्थ का भाव है। यह शब्द 'उरु' पद पूर्वक 'क्रम' धातु से निष्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ पद विक्षेप अर्थात् पैरों से चलना, गति करना, होता है। जिसका 'क्रम' अर्थात् गति उरु अर्थात् बहुत स्थानों पर हो उसे 'उरुक्रम' कहेंगे। विष्णु उरुक्रम है। उसकी गति राष्ट्र के बहुत कार्यक्षेत्रों में है। वह राष्ट्र के बहुत अधिक विभागों के कार्यों पर दृष्टि रखता और उनकी देखभाल करता है। और इस प्रकार इन्द्र (सम्राट्) की सहायता करता है। अनेक स्थानों पर विष्णु के वर्णनों में वेद मन्त्रों में 'उरु क्रमिष्ट' (ऋग्० 1.155.4) और 'उरु विष्णो वि क्रमस्व' (यजु० 5.38) इस प्रकार के वाक्य भी आते हैं जिनमें 'क्रम' धातु का क्रिया-रूप में प्रयोग किया गया है और विष्णु से कहा गया है कि वह उरु अर्थात् बहुत स्थानों में गति करे और विक्रम के, साहस और पौरुष के, कार्य करे। इस प्रकार के क्रिया प्रयोगों से भी यह निष्कृष्टार्थ निकलता है कि विष्णु उरुक्रम है।

इस प्रकार विष्णु का तीन पग रखने सम्बन्धी वर्णन और उसके उरुगाय तथा उरुक्रम नाम, ये सब मिलकर एक सामान्य बात यही कहते हैं कि उसकी राष्ट्र के सभी विभागों में पहुँच रही है, वह सभी विभागों के कार्यों की देखभाल करता है और उन पर निरीक्षण रखता है और इस प्रकार इन्द्र (सम्राट्) को सहयोग देता है। विष्णु का यह वर्णन उसके विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप की ओर स्पष्ट संकेत करता है। ऊपर उद्धृत यजु० 6.3 मन्त्र के 'परमं पदं' ये शब्द यों भी विष्णु की उच्च अधिराष्ट्र स्थिति की ओर असंदिग्ध संकेत करते हैं।

विष्णु के लोक-कल्याणकारी तीन पग

वेद का विष्णु बलि या अन्य¹ दैत्य को बाँधने का कार्य अपने पगों के द्वारा नहीं करता है। विष्णु के पगों द्वारा तीनों लोकों का नाप लिये जाने का वेद का वर्णन तो एक काव्यमय आलंकारिक वर्णन है। जिसका अभिप्राय जैसा कि हमने अभी ऊपर देखा है, केवल इतना ही है कि विष्णु की पहुँच राष्ट्र के तीनों अधिकार क्षेत्रों तक रहती है, वह उन क्षेत्रों सम्बन्धी विविध प्रकार के प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करता है और उसके द्वारा राष्ट्र के लोगों का कल्याण करता है। उसके इन पगों द्वारा लोक-कल्याण के कार्य होते हैं यह बात अनेक वेद-मन्त्रों में कही गई है।

¹ पुराणों में कश्यप और अदिति के पुत्र धुन्धु नामक दैत्य के विष्णु के वामनावतार द्वारा मारे जाने की कथा भी आती है। बलि की कथा में वामन विष्णु ने उसे पाताल में भेज दिया है। धुन्धु की कथा में वामन विष्णु ने उसे मार दिया है। शेष दोनों कथायें लगभग समान हैं। धुन्धु की कथा किसी पूर्व कल्प की कही जाती है।

उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिचिद् विष्णुर्मनवे वाधिताय ।
तस्य ते शर्मन्नुपदद्यमाने राया मदेम तन्वा तना च ॥ ऋग्० 6.49.13.
2. यस्य त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा । ऋग्० 1.154.2.
3. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
ऋग्० 1.154.4.
4. वि चक्रमे पृथिवीमेष एषां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ॥
ऋग्० 7.100.4.
5. दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥

अथ० 7.26.8.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) हे विष्णु जोकि तुम कष्टों के बन्धन में पड़े हुए (वाधिताय) मनुष्यों के लिये (मनवे) पृथिवी और उससे उपलक्षित लोकों को (रजांसि) अपने पदों से तीन बार माप लेते हो (विममे) उस तुम्हारे द्वारा रहने के लिये घर और सुख-कल्याण (शर्मन्) दिये जाने पर हम प्रजाजन धन-सम्पत्ति (राया) स्वस्थ शरीर (तन्वा) और उत्तम सन्तानों की प्राप्ति (तना) करके हर्ष-आनन्द में रहें । मन्त्र का भाव यह है कि विष्णु जो अपने पदों द्वारा तीनों लोकों को मापता है अर्थात् तीनों लोकों में अपनी पहुँच रखता है उसका प्रयोजन यह है कि कष्ट के बन्धन में पड़े हुए लोगों के वे बन्धन दूर हो जायें, लोगों को रहने के लिए घर प्राप्त हो जायें उन्हें भौति-भौति की धन-सम्पत्ति प्राप्त हो जाये, उनके शरीर स्वस्थ रहें और उनके यहाँ उत्तम सन्तानें हों ।

(2) जिस विष्णु के तीन पगों (विक्रमणों) में सब भुवन और उनमें रहने वाले प्राणी निवास करते हैं (अधिक्षियन्ति) । विष्णु जो तीन पग रखता है अर्थात् उसकी जो तीनों लोकों में पहुँच है और वहाँ उसका जो अधिकार है उसका प्रयोजन इन लोकों में, इन स्थानों में, रहने वाले प्राणियों को सुख-मंगल से भरा उत्तम निवास देना है ।

(3) जिस विष्णु के मधु से पूर्ण, कभी क्षीण न होने वाले तीन पद अन्न देकर (स्वधया) हर्ष-आनन्द से युक्त करते हैं (मदन्ति) । विष्णु के तीन पदों का प्रयोजन लोगों को खाने के लिए अन्न देना है, लोगों की भूख मिटाना है, जिससे कि वे हर्ष और आनन्द से भरपूर जीवन व्यतीत कर सकें । मन्त्र का मधु शब्द मधु जैसे रसीले आनन्ददायक पदार्थों का उपलक्षण है । विष्णु कभी क्षीण न होने वाले आनन्ददायक पदार्थों के जीवन को भर देता है ।

(4) यह विष्णु इस पृथिवी पर अपने पग रखता है (विचक्रमे) इसलिए कि वह मनुष्यों को (मनुषे) रहने के लिए क्षेत्र, स्थान (क्षेत्राय) देना चाहता है (दशस्यन्), इसके कार्यों का कीर्तन करने वाले, प्रशंसा करने वाले (कीरयः) लोग सदा निश्चित

रूप से स्थिर रहते हैं, लोगों के जन्म को उत्तम बनाने वाला (सुजनिमा) यह विष्णु प्रजाजनों को विस्तीर्ण निवास या भूमि वाला (उरुक्षिति) कर देता है। विष्णु जो पृथिवी और उससे उपलक्षित अन्य स्थानों में अपने पग रखता है, वहाँ अपनी पहुँच और अधिकार रखता है, उसका प्रयोजन यह है कि वह लोगों को क्षेत्र देना चाहता है, रहने और कृषि आदि करने के लिए भूमि देना चाहता है। वह लोगों के जीवन को उत्तम बनाना चाहता है। वह उनके रहने के लिए विस्तृत भूमि देना चाहता है। उसके कार्य इतने प्रशंसनीय हैं कि लोग सदा उनका कीर्तन करते रहते हैं।

(5) हे विष्णु तुम द्युलोक से, पृथिवी लोक से, और महान् विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक से प्राप्त होने वाली बहुत सी धन-सम्पत्ति के समूहों से (वसव्यैः) अपने दोनों हाथों को भर लो और फिर सम्पत्ति के उन समूहों को दाहिने और बायें दोनों हाथों से हमें दे दो। मन्त्र का तात्पर्य उसके शब्दार्थ में ही स्पष्ट हो जाता है। विष्णु के तीनों लोकों में पग रखने का, जाने का, प्रयोजन वहाँ से सम्पत्ति प्राप्त करना और उस सम्पत्ति को जनता को दे देना है। दे देने का अभिप्राय ऐसी व्यवस्था कर देना है जिससे जनता उस सम्पत्ति को प्राप्त कर सके।

पाठक देखेंगे कि इन मन्त्रों से अति स्पष्ट हो रहा है कि वेद का विष्णु बलि नामक किसी दैत्य को वश में करने के लिए तीनों लोकों में अपने पग नहीं रखता है। प्रत्युत वह तो मनुष्यों के जीवन को भाँति-भाँति के धन-ऐश्वर्य तथा सब प्रकार की सुख-समृद्धि से भरपूर करने के लिए वैसा करता है। इस प्रकार के वेद में और भी अनेक मन्त्र हैं। तीन लोकों और उनमें विष्णु द्वारा पग रखे जाने के काव्यमय आलंकारिक वर्णन का जो ध्वनितार्थ है उसे हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं।

धर्मों और व्रतों का पालन कराने वाला विष्णु

विष्णु के कई स्थानों पर वेद में ऐसे वर्णन भी आते हैं जिनमें कहा गया है कि वह राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में पहुँच कर अर्थात् वहाँ अपना प्रभाव रखकर और वहाँ हो रहे विविध प्रशासनिक कार्यों की देखभाल तथा उन पर निरीक्षण एवं नियंत्रण रखकर वहाँ काम कर रहे लोगों को धर्म धारण कराता है अर्थात् उनसे कर्तव्य कर्मों और उन नियमों का पालन कराता है। उसके ऐसे भी वर्णन आते हैं जिनमें कहा गया है कि वह ऐसे कार्य करता है जिनसे प्रेरित होकर लोग अपने-अपने व्रतों का पालन करने लगते हैं। व्रत भी कर्तव्य कर्मों को ही कहते हैं। विष्णु अपने कार्यों द्वारा लोगों से उनके कर्तव्य कर्मों का पालन कराता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

अतो धर्माणि धारयन् ॥

ऋग्० 1.22.18.

2. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥

ऋग्० 1.22.19.

इनमें से प्रथम मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—‘सबकी रक्षा करने वाला और किसी से न दबने वाला विष्णु तीन पग चलता है, वह अपने इन पगों से (अतः) धर्मों का धारण करने वाला है।

मन्त्र में विष्णु के तीन पगों का प्रयोजन यह बताया गया है कि वह इनके द्वारा धर्मों का धारण करता है। विष्णु की राष्ट्र के स्थल, जल और नभ में सर्वत्र पहुँच है, सर्वत्र उसका अधिकार है, वह इन तीनों क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले विविध प्रकार के प्रशासनिक कार्यों की देख-भाल करता और उन पर निरीक्षण रखता है। उसकी इस देखभाल और निरीक्षण के कारण उन क्षेत्रों में काम करने वाले सब लोग अपने-अपने धर्मों का, अपने-अपने कर्तव्य-कर्मों और नियमों का भली-भाँति पालन करते हैं। कोई अपने धर्म से, अपने कर्तव्यों और नियमों के पालन से च्युत नहीं होता, उनके पालन में ढील नहीं करता। राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों से उनके धर्मों का, उनके कर्तव्यों का, पालन कराना विष्णु का कार्य है। ऐसा करके वह राष्ट्र की सब प्रकार की श्रीवृद्धि करता है।

दूसरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—विष्णु के कर्मों को देखो जिन कर्मों के कारण लोगों द्वारा अपने व्रतों का, अपने कर्तव्य कर्मों का स्पर्श किया जाता है अर्थात् उनका पालन किया जाता है, यह विष्णु इन्द्र का सदा उसके साथ रहने वाला मित्र है।

व्रत शब्द का अर्थ भी कर्तव्य कर्म अथवा धर्म ही होता है। विष्णु राष्ट्र के तीनों क्षेत्रों में पहुँच कर जो विभिन्न प्रकार के निरीक्षण और नियन्त्रण आदि के कार्य करता है उनके कारण राष्ट्र के लोग अपने-अपने व्रतों का, कर्तव्य कर्मों का, भली-भाँति पालन करते हैं। इसके कारण राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि बढ़ती है। राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाकर राष्ट्रवासियों के जीवन को सुख-शान्ति से युक्त बनाना इन्द्र (सम्राट्) का उत्तरदायित्व है। विष्णु अपने कार्यों के द्वारा इन्द्र का निकट का सहायक बनकर उसका घनिष्ठ मित्र बन जाता है। मन्त्र में यह जो कहा गया है कि ‘विष्णु के कार्यों को देखो’ इसकी व्यंजना यह है कि विष्णु के कार्य इतने उत्तम होने चाहिए कि लोग उन्हें देखकर उनकी प्रशंसा करें।

ये दोनों मन्त्र राष्ट्र में विष्णु की स्थिति, उसके कार्यों और इन्द्र (सम्राट्) के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्धों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालते हैं। और इनसे उसके अधिराष्ट्र स्वरूप की ओर भी संकेत मिलता है।

शिपिविष्ट विष्णु

वेद में विष्णु का एक नाम ‘शिपिविष्ट’ भी आता है। एक स्थान को छोड़कर शेष सभी स्थानों पर यह शब्द विष्णु के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। केवल यजु० 16.29 में यह शब्द रुद्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। वहाँ भी उबट और महीधर ने

इसका अर्थ 'विष्णुरूप रुद्र' ऐसा किया है। यास्काचार्य ने भी निरुक्त में कहा है कि 'शिपिविष्ट' और विष्णु ये दो नाम विष्णु के हैं।¹ वेद में और किसी देवता के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। विष्णु का यह नाम भी उसके कुछ लोकोपयोगी कार्यों की ओर निर्देश करता है। इस शब्द का अर्थ शिपियों में प्रविष्ट रहने वाला ऐसा होता है। 'शिपि' शब्द के भाष्यकारों, निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थों ने किरण, पदार्थ, यज्ञ, प्राणि और पशु आदि अर्थ किये हैं। प्रकरणानुसार शिपि के ये सभी अर्थ शिपिविष्ट नाम वाले विष्णु में संगत हो जायेंगे। यहाँ हम विष्णु को एक अधिराष्ट्र अधिकारी के रूप में देख रहे हैं। विष्णु के इस अर्थ में शिपि का प्राणि और पशु अर्थ बड़ा सुन्दर संगत हो जायेगा। वेद में पशु का अर्थ मनुष्य भी होता है। वेद में 'पंच पशवः' का वर्णन आता है। वहाँ पाँच पशुओं में मनुष्य को भी गिना गया है।² इसे वेद का स्वाध्यायी प्रत्येक व्यक्ति भली-भाँति जानता है। अथर्व-वेद 14.2.25 मन्त्र में माँ की गोद में खेलने वाले छोटे बच्चों को पशु कहा गया है।³ इस प्रकार पशु शब्द मनुष्यों और पशुओं दोनों का ही वाचक हो जाता है। दूसरे शब्दों में वेद में यह शब्द प्राणिमात्र का वाचक हो जाता है। विष्णु शिपिविष्ट है। वह मनुष्यों और पशुओं में प्रविष्ट रहता है। उसे हर समय राष्ट्र के मनुष्यों और पशुओं की चिन्ता रहती है। वह हर क्षण उन्हीं की सुख-सुविधा की बातें सोचता रहता है और ऐसे प्रयत्न करता रहता है जिनसे उसके राष्ट्र के सब मनुष्य समृद्धि और सुख-शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकें। मनुष्यों की सुख-समृद्धि बहुत अंशों में राष्ट्र के पशुओं की सुख-समृद्धि पर अवलम्बित रहती है। इसलिए विष्णु जहाँ राष्ट्र के मनुष्यों की सुख-समृद्धि की चिन्ता रखता है वहाँ वह उसके पशुओं की सुख-समृद्धि की चिन्ता भी रखता है। इस प्रकार विष्णु का यह शिपिविष्ट नाम भी उसके एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य की ओर निर्देश देता है।

विष्णु राज्य के अधिकारियों को परामर्श देता है

विष्णु के वेद में ऐसे वर्णन भी आते हैं जिनमें कहा गया है कि वह राज्य के वरुण आदि अधिकारियों की सहायता करता रहता है। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र को देखिये—

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचरत मास्तस्य वेधसः ।

दाधार दक्षमुत्तममर्हविदं व्रजं च विष्णुः सखिवां अपोर्णुते ॥

ऋग्० 1.156.4.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—'(अस्य) इस (मास्तस्य) मस्तों के हितकारी

¹ शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः । निरु० 5.2.8.

² तवेमे पंच पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुशपा अजावयः । अथ० 11.2.9.

³ वि तिष्ठन्तां मातुर्स्या उपस्थानानारूपाः पशवो जायमानाः । अथ० 14.2.25.

(वेधसः) विद्वान् विष्णु के (तन्तं) उस प्रसिद्ध (ऋतु)¹ कर्म और प्रज्ञा का (राजा) राजा (वरुणः) वरुण और (अश्विना) अश्विनो (सचन्त) सेवन करते हैं (विष्णुः) विष्णु (अर्हविद्) लोगों को उत्तम दिन प्राप्त कराने वाले (उत्तमं) उत्तम (दक्षं) बल को (दाधार) धारण करता है (च) और (सखिवान्) मित्रों से युक्त वह विष्णु (व्रजं) लोगों के रहने के स्थानों को (अपोणुते)² संकट और बाधाओं के आवरण से रहित करता है ।¹

इस मन्त्र में विष्णु के सम्बन्ध में कई बातें कही गई हैं। वह वेधा है; भारी विद्वान् है। उसमें दक्ष है, उसका शरीर और मन दोनों बलवान् हैं। उसका बल उत्तम है, उसके द्वारा सदा लोगों का कल्याण ही होता है, अकल्याण कभी नहीं। उसका बल अर्हविद् है, लोगों को अच्छे दिन दिखाने वाला है। उसका सब सामर्थ्य और सारी शक्ति लोगों के दिनों को सुदिन बनाने में लगती है, उसके जीवन को सुख-चैन से भरा हुआ बनाने में लगती है। वह सखिवान् है। वह अपने मित्रों की संख्या बढ़ाता रहता है। प्रजाजनों के साथ भी स्नेह-सौहार्द का सम्बन्ध रखता है और अन्य विभागों के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के साथ भी प्रेम और मित्रता का व्यवहार रखता है। दूसरे राष्ट्रों के साथ भी वह मित्रता बढ़ाने का यत्न करता रहता है। इस प्रकार सर्वत्र मित्र बढ़ाते रहने के कारण उसे अपने कार्यों के संपादन में बड़ी सहायता मिलती है। लोगों के रहने के स्थानों पर समय-समय पर जो संकट और बाधाएँ आ जाती हैं उनका वह निवारण करता रहता है। उसमें ऋतु है अर्थात् ऊँची श्रेणी की विवेकशील प्रज्ञा है, बुद्धि है। उसमें ऋतु है, कर्म है, भाँति-भाँति के कर्म करने का कौशल और शक्ति है। वरुण और अश्विनो उसके ऋतु का सेवन करते हैं। वरुण और अश्विनो के अधिराष्ट्र स्वरूप पर इसी अध्याय में पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। वरुण और अश्विनी तो उपलक्षण हैं। ये राज्य के सभी उच्च अधिकारियों या मंत्रियों की ओर निर्देश करते हैं। वरुण आदि सभी मंत्रिगण विष्णु के ऋतु का सेवन करते हैं। विष्णु अपनी विवेकशील प्रज्ञा के द्वारा उन सबको सत्परामर्श देता रहता है और वे उसके परामर्श के अनुसार कार्य करके लाभ उठाते रहते हैं। विष्णु अपने ऋतु अर्थात् कार्यों के द्वारा भी उनकी सहायता करता रहता है। मन्त्र में विष्णु को 'मरुत्' अर्थात् मरुतों का हितकारी कहा गया है। मरुत् का अधिराष्ट्र अर्थ सैनिक होता है। इस प्रकार वह राष्ट्र की सेनाओं के सब प्रकार के हित का ध्यान रखता है। विष्णु के इस विशेषण से यह सूचित होता है कि राष्ट्र का सेना विभाग भी उसके अधिकार, देखभाल और निरीक्षण में रहता है। इस प्रकार वरुण और अश्विनी से उपलक्षित राष्ट्र के सभी मंत्रालयों और सेना विभाग पर विष्णु की देखभाल और निरीक्षण रहता है। विष्णु के इस वर्णन से भी विष्णु के विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप की ओर संकेत मिलता है।

¹ ऋतुः कर्म नाम । निष० 2.1; ऋतुः प्रज्ञानाम । निष० 3.9.

² अपगतावरणं करोति इति सायणः ।

अदिति का पति विष्णु

वेद में एक-दो स्थानों पर अदिति को विष्णु की पत्नी कहा गया है। अदिति विष्णु की पत्नी है तो विष्णु उसका पति हुआ यह स्पष्ट ही है। निम्न मन्त्र देखिये—

1. विष्णोः पत्नि ।

अथ० 7.46.3.

2. अदित्यै विष्णुपत्न्यै ।

यजु० 29.60.

इन उद्धरणों में से प्रथम में अदिति को विष्णु की पत्नी कहकर सम्बोधित किया गया है। दूसरे उद्धरण में अदिति के लिए विष्णु पत्नी यह विशेषण दिया गया है। इस विशेषण का व्याकरण की रीति से शब्दार्थ होता है कि 'विष्णु है पति जिसका ऐसी।' अधिराष्ट्र अर्थ में विष्णु को अदिति का पति कहने का क्या तात्पर्य होगा? वेद में अदिति के अनेक अर्थ होते हैं। उसका एक अर्थ पृथिवी भी होता है। सभी भाष्यकारों ने अदिति का अर्थ प्रकरणानुसार पृथिवी भी किया है। यास्क ने निघंटु में अदिति का अर्थ पृथिवी भी किया है।¹ ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अदिति का एक अर्थ पृथिवी भी किया गया है।² स्वयं वेद में भी पृथिवी को अदिति कहा गया है।³ वेद में कई जगह पृथिवी को किसी राष्ट्र की मातृभूमि के रूप में भी वर्णित किया गया है। इस सम्बन्ध में उदाहरण के लिए अथर्ववेद के वारह्वे काण्ड का प्रथम सूक्त देखा जा सकता है जिसे पृथिवी सूक्त या भूमि सूक्त भी कहा जाता है। इस प्रकार अदिति का अर्थ पृथिवी और उसका तात्पर्य मातृभूमि लेकर अदिति को विष्णु की पत्नी और विष्णु को उसका पति कहने का अधिराष्ट्र भाव बड़ा सुन्दर संगत हो जाता है। अदिति किसी राष्ट्र की मातृभूमि हुई। विष्णु अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र (सम्राट्) का सहकारी एक उच्च राज्याधिकारी है। पति शब्द का अर्थ रक्षा करने वाला, पालन-पोषण करने वाला, होता ही है। विष्णु को अदिति का पति कहने का तात्पर्य हुआ कि वह अपने राष्ट्र की, अपनी मातृ-भूमि की, रक्षा और पालन-पोषण करने वाला है। अपनी मातृ-भूमि की रक्षा और पालन-पोषण करना विष्णु का एक विशेष कार्य है।

विष्णु को अदिति का पति कहने का एक और विशेष निष्कर्ष भी निकलता है। जैसा कि हम इस ग्रन्थ में निरन्तर देखते आ रहे हैं वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र है। अग्नि, वरुण, सोम, सविता और विष्णु आदि देव तो इन्द्र के सहायक और सहकारी हैं। वस्तुतः राष्ट्र और उसकी भूमि का पति तो इन्द्र है और उसी पर वस्तुतः राष्ट्र और उसकी भूमि की रक्षा और पालन-पोषण का उत्तरदायित्व और भार है। फिर भी अदिति को इन्द्र की पत्नी न कहकर जो विष्णु की पत्नी कहा गया है और विष्णु

¹ अदितिः पृथिवी नाम । निघ० 1.1.

² इयं वै पृथिव्यादितिः । शत० 1.1.4.5 ;

इयं (पृथिवी) ह्यदितिः । ऐत० 1.8.

³ यक्षाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः । अथ० 13.1.38.

को उसका पति बना दिया गया है उसकी विशेष व्यंजना है। विष्णु एक ऐसा उच्च अधिकारी है जो लगभग इन्द्र के से अधिकार रखता है और सम्पूर्ण राज्यतंत्र पर उसका शासन चलता है। वह राज्य प्रशासन में इन्द्र के पश्चात् दूसरी संख्या का सर्वोच्च राज्याधिकारी है। और इस रूप में वह अदिति का पति है। अपने राष्ट्र और मातृ-भूमि की रक्षा और पालन-पोषण करने वाला है। यह सब व्यंजना अदिति को विष्णु की पत्नी और विष्णु को अदिति का पति कहने की है।

विष्णु के इस काव्यमय वर्णन से भी उसके अपने विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है।

विष्णु का अपना विशिष्ट स्वरूप

ऊपर के पृष्ठों में विष्णु के सम्बन्ध में वेद से जो उद्धरण दिये गये हैं यदि पाठक उन्हें ध्यान से देखेंगे तो उन्हें विष्णु के विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप की कल्पना करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। विष्णु इन्द्र (सम्राट्) का 'युज्यः सखा' है, सदा इन्द्र के साथ रहने वाला उसका घनिष्ठ मित्र है। वह इन्द्र को उसके कार्य भली-भाँति पूरा करने में भरपूर सहायता करता है जिसके कारण इन्द्र को सब प्रकार की विघ्न-बाधाएँ दूर करके पूर्ण विजय प्राप्त होती है, पूर्ण सफलता मिलती है। इन्द्र (सम्राट्) द्वारा प्रशासित राष्ट्र के स्थल, जल और नभ इन तीनों क्षेत्रों से सम्बन्धित सभी प्रकार के प्रशासनिक कार्यों में विष्णु के पग रहते हैं, उसकी पहुँच रहती है, उसकी देखभाल रहती है, उसका निरीक्षण रहता है। राष्ट्र के सभी क्षेत्रों और कार्यों में उसकी गति, उसकी पहुँच, उसका निरीक्षण और नियन्त्रण रहता है। और ऐसा करके विष्णु राष्ट्र के लोगों को भाँति-भाँति के कल्याण-मंगलों को प्रदान करता है, उनके जीवनो को सुख-शान्ति से भरपूर करता है। वह राष्ट्र के विविध कार्य-क्षेत्रों में काम करने वाले सभी लोगों से उनके धर्मों और व्रतों का, उनके कर्तव्य कर्मों का पालन कराता है तथा इसमें उनकी सहायता करता है। उसे राष्ट्र के सभी पशुओं की, सभी मनुष्यों और अन्य प्राणियों की, सुख-सुविधा की सदा चिन्ता रहती है। विष्णु राज्य के वरुण आदि मन्त्रियों और उच्च अधिकारियों को परामर्श देता है और राष्ट्र की सेनाओं पर भी उसका निरीक्षण रहता है तथा वह उनके सब प्रकार के हितों का ध्यान रखता है। विष्णु अदिति का पति है। वह राष्ट्र की भूमि की रक्षा और पालन-पोषण करने वाला है। इन्द्र (सम्राट्) तो राष्ट्र की और उसकी भूमि की रक्षा और पालन-पोषण करता ही है और वही वस्तुतः उसका अधिपति है। फिर भी विष्णु को उसका पति कहा है। विष्णु को अदिति का, राष्ट्र भूमि का, पति कहने का यह ध्वनितार्थ है कि विष्णु का इन्द्र के पश्चात् दूसरी संख्या पर राष्ट्र के सभी कार्य क्षेत्रों पर अधिकार, निरीक्षण और नियन्त्रण रहता है। इन्द्र के अनन्तर वह इन्द्र के सहकारी के रूप में राष्ट्र के सभी विभागों की देख-भाल करता है। विष्णु का यह सारा वर्णन उसका जो रूप उपस्थित करता है उसे आजकल की प्रचलित

भाषा में प्रधानमन्त्री कहा जाता है। विष्णु के ये जो वर्णन हैं उस प्रकार के वर्णन अन्य देवताओं के नहीं हैं।

विष्णु का यह काव्यमय वर्णन करके वेद ने यह निर्देश दिया है कि सम्राट् को राज्य प्रशासन का काम सुचारु रूप से चलाने के लिए अपने पास एक प्रधानमंत्री भी नियुक्त करके रखना चाहिए।

विष्णु पद की निरुक्ति की संगति

प्रधानमन्त्री अर्थ में विष्णु पद की निरुक्ति भी संगत हो जाती है। यह शब्द संस्कृत की 'विष्णु' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ व्याप्ति अर्थात् व्याप्त होना होता है। जो विभिन्न क्षेत्रों और कार्यों में व्याप्त हो, विभिन्न क्षेत्रों और कार्यों में जिसकी पहुँच हो वह विष्णु कहलायेगा।¹ प्रधानमन्त्री के रूप में विष्णु की राष्ट्र के सभी कार्य-क्षेत्रों में पहुँच रहती है। इस प्रकार विष्णु पद की निरुक्ति भी उसके प्रधानमन्त्री अर्थ में संगत हो जाती है।

14. अर्यमा : न्याय विभाग का मन्त्री और न्यायाधीश (दीवानी)

अर्यमा का मानव और राजा रूप

अर्यमा भी इन्द्र का एक सहचारी देव है। अर्यमा के वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र के साथ उसके सहचारी के रूप में वर्णन आते हैं। इस प्रकार अग्नि, वरुण, सविता, सोम और विष्णु आदि देवों की भाँति अर्यमा को भी वेद ने इन्द्र के सहचारी देवता के रूप में चित्रित किया है। हमें यहाँ यह देखना है कि जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी के रूप में अर्यमा का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा। जैसा कि हमने ऊपर देखा है वेद में इन्द्र, विष्णु, वरुण, अग्नि और अर्यमा आदि सभी देवों को सामूहिक रूप में 'आदित्याः', 'विश्वेदेवाः' और 'देवाः' नामों से वर्णित किया गया है। और सामूहिक रूप में इनके लिए 'नरः' और 'मनुष्यः' आदि मनुष्य-वाचक नामों का भी प्रयोग किया गया है। देवों के लिए इन मनुष्य-वाचक नामों के प्रयोग से अन्य देवों की भाँति अर्यमा भी मनुष्य बन जाता है। इसी भाँति सामूहिक रूप में देवों के लिए 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का भी प्रयोग वेद में किया गया है। देवों के लिए इन राजा के वाचक शब्दों के प्रयोग से अर्यमा राजा भी बन जाता है। इस भाँति अर्यमा का एक रूप में वेद मनुष्य और राजा का भी होता है। और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में अर्यमा का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षाएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। हम निरन्तर देखते आ रहे हैं कि वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र ही है। इसलिए अर्यमा के लिए राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग गौण रूप

¹ वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं राष्ट्रसंवन्धि-प्रशासनिक कार्यजातमिति विष्णुः।

में किया गया समझना चाहिए । अर्यमा अपने विभाग के कार्यों को इन्द्र के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर करेगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा । इस प्रकार वह भी एक प्रकार से इन्द्र या सम्राट् ही होगा ।

अर्यमा का अपना विशिष्ट स्वरूप

अप्रतिम प्रतिभाशाली और वेदों एवं वैदिक साहित्य के तलस्पर्शी उद्भट विद्वान् महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अनेक स्थानों पर अर्यमा का अर्थ न्यायाधीश किया है । ऋषि ने कहीं तो अर्यमा शब्द का अनुवाद सीधा न्यायाधीश और न्यायेश इन शब्दों में ही किया है और कहीं कुछ भिन्न शब्दों में भी किया है जिनका तात्पर्य न्याय करने वाला या न्यायाधीश ही बनता है । ऋषि ने इस शब्द के अपेक्षया अन्य अर्थ बहुत कम किये हैं । न्यायाधीश अर्थ ही मुख्य रूप से उन्होंने इस शब्द का किया है । नीचे टिप्पणी में कुछ उन स्थलों का उल्लेख किया गया है जहाँ ऋषि ने अर्यमा शब्द का अर्थ न्यायाधीश या इससे मिलता-जुलता किया है ।¹ अपने भाष्य में ऋषि ने अर्यमा शब्द को कहीं तो राजपुरुष और राजा का वाचक माना है, कहीं विद्वान् पुरुष का और कहीं ईश्वर का वाचक माना है । पर इन सभी को न्यायकारी भी कहा गया है । दूसरे शब्दों में ऋषि ने अर्यमा का अर्थ कहीं तो न्यायकारी राज-पुरुष या राजा किया है, कहीं न्यायकारी विद्वान् पुरुष किया है और कहीं न्यायकारी ईश्वर किया है । इस प्रकार ऋषि की दृष्टि में अर्यमा शब्द का मूल योगिक अर्थ न्याय करने वाला ऐसा है ।

वेद में अर्यमा के कार्यों का वर्णन बहुत कम किया गया है । उसके ऐसे विशेषण और वर्णन बहुत कम हैं जिनसे उसके विशिष्ट स्वरूप पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ता हो । अधिकांश स्थलों पर इन्द्रादि देवों के साथ उसके नाम का उल्लेख हो गया है और उससे भी अन्य देवों के साथ कल्याण-मंगल करने की प्रार्थना कर दी गई है । उसके ऐसे वर्णन हमें नहीं मिल सके जिनसे उसके न्यायाधीश रूप पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता प्रतीत हो । इसलिए हमने केवल महर्षि दयानन्द द्वारा किये गये अर्यमा शब्द के न्यायाधीश अर्थ के आधार पर ही अर्यमा का अधिराष्ट्र अर्थ न्यायाधीश मानकर इस प्रकरण का शीर्षक उपयुक्त रखा है । महर्षि अलौकिक प्रतिभा के धनी थे । उनकी प्रतिभा बड़ी तीक्ष्ण और अन्तर्भेदिनी थी । उन्हें अद्भुत बातें सूझती थीं । उनका पाण्डित्य अगाध था । वेदों और वैदिक साहित्य का तथा दूसरे समग्र संस्कृत साहित्य

¹ अर्यमणम् न्यायाधीशम् (भित्तं=सहायम्), ऋग् ० 4.2.4; पक्षपातराहित्येन न्यायकर्तारम् (राजपुरुषम्), यजु ० 9.27; न्यायेशम् (इन्द्रं=समेशाम्), ऋग् ० 1.174.6; न्यायकारिणम् (पुरुषम्), ऋग् ० 6.50.1; अर्यमणः न्यायेशः (नरः=नायक जनाः), ऋग् ० 5.54.8; अर्यमा योर्यान् मन्त्ये स न्यायाधीशः, यजु ० 36.9; न्यायाधीश इव नियन्ता (इन्द्रः=राजा), यजु ० 25.24; नियन्ता वायुर्न्याय-कर्ता वा, ऋग् ० 1.107.3; न्यायव्यवस्थाकारी (ईश्वरो विद्वज्जनो वा), ऋग् ० 1.90.9; विद्वत्प्रियः (न्यायाधीशः), ऋग् ० 2.27.7; न्यायव्यवस्थापकः (राजा), ऋग् ० 5.29.1.

का उनका अध्ययन बड़ा व्यापक और गम्भीर था। हो सकता है कि इतने व्यापक अध्ययन में उन्हें कहीं अर्यमा शब्द का प्रयोग न्यायाधीश के अर्थ में भी उपलब्ध हुआ हो। यह भी सम्भव है कि अर्यमा शब्द का यह अर्थ उनकी अपनी अलौकिक प्रतिभा का ही उन्मेष हो, उनकी अन्तर्भेदिनी दिव्य आर्ष प्रतिभा ने ही अर्यमा शब्द के अन्तर्हृदय में पहुँचकर उसके इस मार्मिक अर्थ का दर्शन किया हो। या उनकी दृष्टि में अर्यमा के ही वेद में कुछ ऐसे विशेषण और वर्णन हों जिनसे उन द्वारा किये गये अर्यमा शब्द के इस न्यायाधीश अर्थ की पुष्टि होती हो, और जिन्हें हम अभी तक समझ नहीं पाये हैं।

अर्यमा शब्द की रचना व्याकरण की दृष्टि से ऐसी है कि यह शब्द ऋषि द्वारा किये गये उसके न्यायाधीश अर्थ को भली-भाँति प्रकट कर सकता है। अर्यमा शब्द 'अर्य' पदपूर्वक 'माङ्माने' धातु से निष्पन्न होता है। अर्य के प्रसिद्ध दो अर्थ होते हैं—एक स्वामी और दूसरा वैश्य¹। 'माङ्' धातु का अर्थ होता है 'मान' करना अर्थात् नापना, मापना, तोलना, परिमाण लेना, जानना, प्रमाणित करना। अर्यपूर्वक माङ् धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होकर 'अर्यमन्' शब्द व्युत्पन्न होता है।² अर्य के स्वामी अर्थ में अर्यमा उसे कहा जायेगा जो यह प्रमाणित करे कि किसी वस्तु का स्वामी कौन है।³ किसी वस्तु को लेकर जब किन्हीं दो व्यक्तियों में उसके स्वामित्व के विषय में विवाद उठ खड़ा होता है और आपस में वे उसे सुलझा नहीं सकते तो वे उसे सुलझाने के लिए किसी मध्यस्थ के आगे रखते हैं। वह मध्यस्थ व्यक्ति दोनों पक्षों की बात सुनकर सारी वस्तुस्थिति को भली-भाँति समझ-बूझ कर निर्णय कर देता है कि विवादास्पद वस्तु का स्वामी वस्तुतः कौन है। मध्यस्थ व्यक्ति इस प्रकार स्वामित्व का निर्णय करके न्याय कर देता है। उस समय वह अर्यमा का कार्य करता है। अर्यमा शब्द का अर्थ ही यह है कि जो विवादास्पद वस्तु के अर्थत्व का, स्वामित्व का, निर्णय करके न्याय कर दे। अर्यमा शब्द के इसी व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ को ध्यान में रखते हुए महर्षि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में स्थान-स्थान पर उसका अर्थ न्यायाधीश किया है।

अर्यमा और सोम

अर्यमा शब्द की इस व्युत्पत्ति पर ध्यान देने पर अर्यमा के विशिष्ट स्वरूप के सम्बन्ध में एक और बात पर भी प्रकाश पड़ता है। वह न्यायाधीश तो है पर किस

¹ अर्यः स्वामिवैश्ययोः । अष्टा० 3.1.103.

² श्वन्नुक्षन् पूर्वस्त्रितिसूत्रेणार्यमरूपसिद्धिः । उणादि० 1.159.

³ अर्यान् मिमीते इति अर्यमा—ऋग्० 1.36.4 भाष्ये सायणः । अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानामीति अर्यमा । उणादि० 1.159 सूत्रव्याख्यायाम् दयानन्दर्षिः । अर्यं मिमीते मानयति प्रमाणयति स्वामित्वविषये विवदमानयोर्मध्येयमस्य वस्तुतः स्वाम्ययं च नेति निर्णाय एकतरमर्यत्वेन स्वामित्वेन प्रमाणितं करोतीत्यर्थमा न्यायाधीशः ।

प्रकार का न्यायाधीश है ? वह अर्यमा है, अर्यत्व का, स्वामित्व का, निर्णय करने वाला न्यायाधीश है। वह विविध प्रकार की सम्पत्ति को लेकर उसके स्वामित्व के सम्बन्ध में उठ खड़े होने वाले विवादों का निर्णय करने वाला न्यायाधीश है। सम्पत्ति के अधिकारानधिकार और उससे उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के प्रश्नों का निर्णय करने का कार्य अर्यमा का है। आजकल की प्रचलित परिभाषा में जिस प्रकार के न्यायाधीशों को सिविल (Civil) या दीवानी न्यायाधीश कहा जाता है। अर्यमा उस प्रकार का न्यायाधीश है। यह सब व्यंजना अर्यमा के स्वामी वाचक अर्थ पद से निकलती है। हमने अधिराष्ट्र अर्थ में सोम भी न्यायाधीश है ऐसा प्रतिपादित किया है। वहाँ हमने सोम के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए वेद के जो उद्धरण दिये हैं उनमें मुख्यतः मारपीट करने वाले, हिंसा और हत्या करने वाले तथा मिथ्या लांछित करने वाले अपराधियों को सोम द्वारा दण्डित किये जाने का वर्णन है। सोम के उन वर्णनों के आधार पर उसे उस प्रकार का न्यायाधीश समझना चाहिए जिस प्रकार के न्यायाधीशों को आजकल की परिभाषा में क्रिमिनल (Criminal) या फौजदारी न्यायाधीश कहा जाता है। यद्यपि सोम विषयक उस अध्याय में हमने सामान्य न्याय प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी वेद के मन्त्रव्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। इस प्रकार अर्यमा दीवानी न्यायाधीश और सोम फौजदारी न्यायाधीश प्रतीत होता है।

अर्यमा सत्य की रक्षा करता है

वेद में अर्यमा की सत्य-परायणता के सम्बन्ध में बड़ा मार्मिक उल्लेख किया गया है। निम्न मन्त्र देखिये—

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेमित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति ।

इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥

ऋग्वे० 7.60.5.

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—सब को सुख पहुँचाने वाले, किसी से न दबने वाले, अदिति अर्थात् मातृ-भूमि के पुत्र ये मित्र, अर्यमा और वरुण बहुत फैले हुए असत्य का (अनृतस्य) पता लगा लेने वाले या उसको मार डालने वाले (चेतारः)¹ हैं, ये सत्य के (ऋतस्य) घर में (दुरोणे)² बढ़ते हैं।

मन्त्र में मित्र, अर्यमा और वरुण की सत्यप्रियता का वर्णन करते हुए उनके विषय में कहा गया है कि वे अपने-अपने कार्यक्षेत्र में जहाँ कहीं भी असत्य हो उसका झट पता लगा लेते हैं और उस असत्य का विनाश कर देते हैं। वे अपने कार्यक्षेत्र में किसी प्रकार के भी असत्य को पनपने और रहने नहीं देते। असत्य विनाश के इस

¹ चेतारः सम्यक् प्रकारेण जातारः। चिती संज्ञाने घातोस्तृच् प्रत्ययः। छान्दसो घातोस्त-कारलोपः। चेतारः हन्तार इति सायणः। चेतारः सम्यक् ज्ञानयुक्ता विज्ञापका इति दयानन्दविः।

² दुरोणं गृहनाम। निघ० 3.4.

कार्य में वे किसी से दबते नहीं। और इस प्रकार असत्य का विनाश करके वे प्रजाजनों के जीवन को पूर्ण सुख-शान्ति से युक्त कर देते हैं।

सत्य के घर में पला-पोसा अर्यमा

इन देवों में इतनी अधिक सत्य के प्रति निष्ठा किस कारण है इसे बताने के लिए मन्त्र में काव्यमयी आलंकारिक भाषा में कहा गया है कि वे तो बढ़ते ही सत्य के घर में हैं। वे तो सत्य के ही घर में उत्पन्न हुए हैं, वहीं पाले-पोसे गये और वहीं बड़े हुए हैं। इस प्रकार सत्य के घर में पैदा होने, पाले-पोसे जाने और बड़े होने के कारण वे तो सत्य का रूप बन गये हैं। इसलिए वे अपने कार्यक्षेत्र में कहीं भी असत्य को सहन नहीं कर सकते। इस कवित्वमय वर्णन का व्यंग्यार्थ यह है कि मित्र, वरुण और अर्यमा आदि राज्याधिकारियों को पूर्ण सत्यपरायण होना चाहिए और अपने क्रियाक्षेत्र में कहीं भी किसी प्रकार के असत्य को पाँव नहीं रखने देना चाहिए, उसे समूल नष्ट कर देना चाहिए। वेद में अन्य स्थलों पर इन्द्र, अग्नि, सविता और सोम आदि अन्य देवों के भी इसी प्रकार पूर्ण रूप से सत्यनिष्ठ होने का वर्णन किया गया है। वेद में सभी राज्याधिकारियों के लिए कहा गया है कि उन्हें पराकाष्ठा का सत्यपरायण होना चाहिए और असत्य का विनाश करके सत्य की रक्षा करनी चाहिए। अन्य देवों की भाँति अर्यमा भी पूर्ण सत्यनिष्ठ, असत्य का संहार और सत्य की रक्षा करने वाला है।

इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

अर्यमाभि रक्षत्यृज्यन्तमनु व्रतम् ।

ऋग्० 1.136.5.

अर्थात्—जो व्यक्ति कुटिलता रहित सरल आचरण करता है (ऋज्यन्तं) और नियमों के अनुसार काम करता है (अनुव्रतं) अर्यमा उसकी रक्षा करता है।

जब कोई व्यक्ति सत्य का परित्याग करके असत्य का अनुसरण करने लगता है तब उसका आचरण और कार्य सरल और सीधे न रहकर कुटिलतायुक्त हो जाते हैं। सब प्रकार की कुटिलता का मूल कारण असत्य ही होता है। जब व्यक्ति जीवन में सत्य पर आरुढ़ हो जाता है तब उसके व्यवहार में कुटिलता न रहकर सरलता आ जाती है। जिस व्यक्ति के जीवन में अपने समाज और राष्ट्र के नियमों का भली-भाँति पालन करने की वृत्ति रहती है उसके व्यवहार और कार्यों में भी कुटिलता नहीं रहती। सत्य का पालन न करने वाले और समाज तथा राज्य के नियमों को भंग करने वाले लोगों के जीवन में ही कुटिलता निवास करती है। इस कुटिलता के कारण वे लोग दूसरे लोगों के साथ व्यवहार में प्रवंचना, छलछन्द और धोखा-धड़ी करते हैं। जिसके कारण भाँति-भाँति के विवाद खड़े हो जाते हैं। जब इस प्रकार के विवाद अर्यमा के सम्मुख निर्णय के लिए आते हैं तो वह वादी और प्रतिवादी में से जो ऋजु होता है, कुटिलता रहित और सरल होता है, सच्चा होता है, तथा जो नियमानुसार

काम करने वाला होता है, उसकी रक्षा करता है। उसके पक्ष में निर्णय देकर प्रतिपक्षी के द्वारा उसके साथ किये जा रहे अन्याय से उसकी रक्षा करता है।

यह मन्त्र भी अर्यमा के सत्य की रक्षा करने वाले रूप को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है।

अर्यमा अतिशीघ्रता में निर्णय नहीं करता

ऋग्वेद के निम्न मंत्र में अर्यमा के लिए कहा गया है कि—

अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा ।

ऋग्वे० 10.64.5.

अर्थात्—‘अर्यमा अतूर्तपन्थाः और पुरुरथ है।’ अतूर्तपन्थाः का अर्थ होता है जिसका पथ अर्थात् मार्ग अतूर्त अर्थात् अति शीघ्रता वाला न हो।¹ अर्यमा का पथ अर्थात् कार्य करने का मार्ग या पद्धति ऐसी है कि वह उसमें अतिशीघ्रता नहीं करता। वह विवाद के निर्णय के लिए आये हुए वादी और प्रतिवादी के पक्षों को ध्यान से सुनता है। उनकी युक्तियों और प्रतियुक्तियों की गहराई में जाकर उनकी वैधता को परखता है। दोनों पक्ष अपने-अपने पक्ष में जो प्रमाण उपस्थित करते हैं उनकी प्रामाणिकता की वह भली-भाँति जाँच और पड़ताल करता है। दोनों पक्षों की सब बातों को पूरे मनोयोग से सुनकर, उनकी सत्यता, असत्यता और वैधता को भली-भाँति तोल लेने के अनन्तर ही वह किसी एक पक्ष के पक्ष में अपना निर्णय देता है। इस काम के लिए जितना आवश्यक हो उतना समय वह लेता है। वह अतिशीघ्रता में, योंही आपाततः किसी एक पक्ष को ठीक समझकर हवड़-धबड़ में, कोई निर्णय नहीं करता। अतिशीघ्रता में बिना भली-भाँति सोचे-विचारे किये गये निर्णय गलत भी हो सकते हैं। वह निर्णय देने में न तो अनावश्यक विलम्ब करता है और न अवांछनीय शीघ्रता। वस्तुस्थिति को ठीक से समझने के लिए आवश्यक समय लेकर वह सही और संतुलित निर्णय देता है। और इस प्रकार ठीक और संतुलित निर्णय देते रहकर वह ‘पुरुरथ’ बन जाता है। पुरु अर्थात् बहुत लोगों के लिए, जनता के लिए, रथ² अर्थात् रमण देने वाला, आनन्द देने वाला, बन जाता है।

अर्यमा द्वारा विवाहों का पंजीकरण

वेद में कुछ मंत्र इस प्रकार के आते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि अर्यमा विवाहों के पंजीकरण का काम भी करता है, निम्न मंत्र देखिये—

¹ अतूर्तपन्थाः अतूर्तस्त्वरारहितः पन्था यस्य सः इति सायणः ।

² रथः रमणसाधनः । यजु० 23.14 भाष्ये दयानन्दविः । रममाणोस्मिन् तिष्ठति इति वा । निरु० 9.2.11; रमु क्रीडायां धातोः हनिकषीति उणादि० (2.2) सूत्रेण कथन् प्रत्ययः । रमते यस्मिन् येन वा स रथः ।

1. अर्यमणं यजामहे सुवन्धुं पतिवेदनम् ।

उर्वाकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥ अथ० 14.1.17.

2. आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्वदीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।

अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन्प्रतीक्षन्ते इवशूरो देवरश्च ॥

अथ० 14.1.39.

3. अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद्विषितस्तुपः ।

अस्या इच्छन्नग्नौ पतिमुत जायामजानये ॥ अथ० 6.60.1.

इन मंत्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) हम अर्यमा का यजन करते हैं जोकि उत्तम बन्धु है और हमारी कन्या को पति प्राप्त कराने वाला है, खरबूजा जैसे पक कर बेल के बन्धन से मुक्त हो जाता है वैसे ही मैं अपनी इस कन्या को यहाँ अपने घर से मुक्त करता हूँ परन्तु उस पति के घर से मुक्त नहीं करता हूँ ।

यह मंत्र विवाह प्रकरण का है । इसमें कन्या के विवाह के समय उसका पिता बोल रहा है । मंत्र के उत्तरार्द्ध में कन्या का पिता कह रहा है कि मैं इसका विवाह वर के साथ करके इसको अपने घर से विदा करके इसका स्थिर सम्बन्ध इसके पति के घर के साथ जोड़ रहा हूँ । जैसे खरबूजा बेल से छूटकर फिर उस पर नहीं लग सकता, फिर बेल का नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह कन्या विवाह के पश्चात् हमारे घर की न रहकर पति के घर की हो जायेगी । मंत्र में अर्यमा को जो सुवन्धु और पतिवेदन अर्थात् पति प्राप्त कराने वाला कहा गया है वह उसके परमात्मा अर्थ में तो संगत हो ही जायेगा । अर्यमा का अधिराष्ट्र अर्थ न्यायाधीश करने की अवस्था में उसके इन दोनों विशेषणों से विवाह के सम्बन्ध में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण निर्देश निकलेगा । वह हमारी कन्या के लिए पति प्राप्त कराता है । वह सुवन्धु है, हमारा उत्तम बन्धु है, सदा हमारा हित करने वाला है । अब न्यायाधीश हमारी कन्या को पति कैसे प्राप्त करायेगा ? न्यायाधीश एक ही प्रकार से कन्या को पति प्राप्त करा सकता है कि वह उसको निर्धारित पति से विवाह करने की स्वीकृति प्रदान कर दे । दूसरे शब्दों में उसके विवाह को प्रमाणित कर दे । इस प्रकार अर्यमा के 'पतिवेदनम्' इस विशेषण से यह ध्वनि निकलती है कि वर-वधू को न्यायालय में ले जाकर उनके विवाह को पंजीकृत (रजिस्टर्ड) कराके न्यायाधीश से प्रमाणित करा लेना चाहिए । इसका लाभ यह होगा कि कभी विवाह की वैधता अथवा सम्पत्ति के उत्तराधिकार आदि का विवाद खड़ा हो जाने पर उसका निर्णय कराने में सुविधा होगी । सुवन्धु शब्द का अर्थ अच्छी तरह बाँधने वाला भी हो सकता है । अर्यमा विवाह को पंजीकृत करके पति-पत्नी को परस्पर अच्छी तरह बाँध देता है, उनके विवाह को पक्का कर देता है । यजन का अर्थ संगतीकरण अर्थात् मिलाना भी होता है । अर्यमा का यजन करने का भाव होगा कि उससे मिलना अर्थात् विवाह को पंजीकृत कराने के लिए उसके पास जाना ।

दूसरे मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—ब्राह्मण लोग इस वधू के लिए स्नान करने

के योग्य (स्तपः) जलों को (आपः) लायें (आहरन्तु) और उठाकर इसे स्नान के लिए दें (उदजन्तु) जो जल पुत्रों का नाश करने वाले न हों (अवीरघ्नीः) अर्थात् ऐसे हों जिनसे स्नान करने पर वधू का स्वास्थ्य उत्तम रहे और वह वीर सन्तानों को जन्म दे सके, अपनी वधू का पालन-पोषण करने में समर्थ हे वर (पूषन्) यह वधू अर्यमा की (अर्यम्णः) अग्नि की परिक्रमा करे (पर्यंतु) इसके श्वशुर और देवर इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं (प्रतीक्षन्ते) ।

यह मंत्र भी विवाह प्रकरण का है । मंत्र के पूर्वार्द्ध में विवाह के समय वधू के ब्राह्मणों द्वारा लाये गये जलों से स्नान करने की बात कही गई है । वेद में ऐसा विधान है कि चिकित्सा का कार्य ब्राह्मण को ही करना चाहिए । इस मंत्र का ब्राह्मण शब्द चिकित्सक वैद्यों की ओर संकेत करता है । क्योंकि मंत्र में जलों के लिए कहा गया है कि वे ऐसे हों जिनसे वधू का स्वास्थ्य उत्तम बने और वह स्वस्थ वीर संतानों को जन्म दे सके । मंत्र के इस कथन का भाव यह है कि विवाह के समय वधू को कुशल वैद्यों की स्वास्थ्यप्रद औषधियों द्वारा संस्कृत और उपचारित जलों से स्नान करना चाहिए । विवाह के समय ऐसे औषधोपचारित जलों से स्नान करना तो उपलक्षणमात्र है । उसे विवाह के उपरान्त भी प्रतिदिन इस प्रकार के औषध-संस्कृत जलों से स्नान करते रहना चाहिए । ऐसा करने से उसका स्वास्थ्य ठीक रहेगा और वह स्वस्थ, नीरोग और वीर सन्तानों को जन्म दे सकेगी । मंत्र के ब्राह्मण शब्द का भाव विवाह कराने के लिए आये हुए ब्राह्मण पुरोहित भी हो सकता है । इस अर्थ में भाव यह होगा कि ब्राह्मण वैद्यों द्वारा स्वास्थ्यप्रद और नीरोगनाजनक बताये गये जलों से पुरोहित लोग वधू को स्नान करायें ।

मंत्र के उत्तरार्द्ध में यह जो कहा गया है कि हे वर यह वधू अग्नि की परिक्रमा करे उसका भाव यह है कि हे वर तुम संस्कार के लिए तैयार होओ जिससे वधू तुम्हारे साथ मिलकर अग्नि की प्रदक्षिणा करके विवाह को सम्पन्न कर सके । यहाँ मंत्र में विवाह संस्कार के लिए प्रज्ज्वलित की गई यज्ञकुण्ड की अग्नि को 'अर्यमा की अग्नि' कहा गया है । विवाह के लिए प्रदीप्त की गई यज्ञाग्नि को अर्यमा की अग्नि कहने की यह व्यंजना है कि अर्यमा अर्थात् न्यायाधीश जब वर-वधू को विवाह करने की स्वीकृति दे देगा और उनके परस्पर विवाह करने की बात को अपने यहाँ पंजीकृत कर लेगा उसके अनन्तर ही उनका यज्ञवेदी पर विवाह-संस्कार सम्पन्न हो सकेगा । इस दृष्टि से विवाह-संस्कार की यज्ञाग्नि अर्यमा की अग्नि है ।

मंत्र में वर से यह जो कहा गया है कि श्वशुर और देवर प्रतीक्षा कर रहे हैं, उसमें प्रतीक्षा कर रहे हैं इस वाक्य में 'प्रतीक्षन्ते' इस बहुवचन की क्रिया का प्रयोग किया गया है । क्रियापद में बहुवचन के प्रयोग की यह ध्वनि है कि श्वशुर और देवर के साथ ही सास और ननद आदि घर के और अनेक व्यक्ति भी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

अब तीसरे मंत्र को लीजिए । इसका अर्थ है—यह अर्यमा सम्मुख आ रहा है

जिसके भीतर ज्ञान का समूह भरा हुआ है (विषितस्तुपः)¹ यह इस कन्या के लिए (अग्रुबै)² पति देने की इच्छा कर रहा है और पत्नीरहित पुरुष के लिए (अजानये) पत्नी को (जायाँ) देने की इच्छा कर रहा है ।

यह मंत्र भी विवाह विषयक प्रकरण का ही है । इसमें तो स्पष्ट ही अर्यमा का काम बताया गया है कि वह कन्या को पति प्रदान करता है और पत्नी-विहीन को पत्नी प्रदान करता है । न्यायाधीश पति की इच्छुक कन्या को पति और पत्नी के इच्छुक पुरुष को पत्नी एक ही प्रकार से दे सकता है कि वह उन्हें विवाह करने की स्वीकृति दे दे और उनके विवाह को अपने यहाँ अंकित (रजिस्टर्ड) कर ले । इस प्रकार इस मंत्र और ऊपर के दोनों मंत्रों के अर्यमा विषयक वर्णन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वह विवाहों को पंजीकृत करने का काम भी करता है । जिसके द्वारा वेद ने यह निर्देश दिया है कि विवाहों को न्यायालय में पंजीकृत भी करा लेना चाहिए ।

इसी प्रसंग में वेद का निम्न मंत्र और देखिये—

त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं विभर्षि ।

अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दंपती समनसा कृणोषि ॥

ऋग् ० 5.3.2.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—(स्वधावन्) स्वधा से युक्त है अग्नि (यत्) जोकि तुम (कनीनां) कन्याओं के (गुह्यं) गोपनीय (नाम) नाम को (विभर्षि) धारण करते हो और (यत्) जोकि तुम (दम्पती) पति-पत्नी को (समनसा) समान मन वाले (कृणोषि) कर देते हो तो (त्वं) तुम (अर्यमा) अर्यमा (भवसि) हो जाते हो अर्थात् तुम्हारा नाम अर्यमा हो जाता है और लोग (सुधितं) भली-भाँति धारण किये गये अर्थात् अच्छे प्रकार बनाये गये (मित्रं) मित्र की (न) भाँति (गोभिः) वाणियों के साथ (अञ्जन्ति)³ तुम्हारे पास पहुँचते हैं ।

यह मन्त्र एक अग्नि सूक्त का मन्त्र है । और इसमें अग्नि का ही वर्णन है । मन्त्र में अग्नि से कहा गया है कि जब तुम कन्याओं के गोपनीय नाम को धारण करते हो और पति-पत्नी को समान मन वाला बना देते हो तो तुम्हारा नाम अर्यमा हो जाता है । तब तुम अर्यमा के रूप में कार्य करते हो । कन्याओं के गोपनीय नाम को धारण करना और पति-पत्नी को समान मन वाला बनाना अर्यमा का काम है । यह मन्त्र के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है । इस काम को करने के कारण अग्नि भी अर्यमा बन जाता है । कन्या के गोपनीय नाम को धारण करने और पति-पत्नी के मन को समान बनाने के कथन से यह ध्वनित होता है कि यहाँ कन्याओं और युवकों के विवाह की ओर संकेत किया गया है । यहाँ अग्नि का सामान्य अधिराष्ट्र

¹ विशेषण सितो बद्धो विविधज्ञानानां स्तुपः समूहो यस्मिन् सः । स्तूपः समूहः 1-3.25, उणादिसूत्रेणस्तूपपदसिद्धिः । मंत्रे छान्दसस्तूपोकारस्य ह्रस्वत्वम् ।

² कन्यायै इति सायणः ।

³ अञ्जुघातार्गतिरप्यर्थः ।

अर्थ राजा करना होगा। राजा जब कन्याओं और युवकों को विवाह करने में सहयोग देता है तो वह अर्यमा के रूप में वैसा करता है। राजा व्यक्तिगत रूप में राज्य के सब कार्य नहीं कर सकता। इसलिए उसे विभिन्न कार्यों को उसके प्रतिनिधि के रूप में करके उसे सहायता देने के लिए विभिन्न उच्च राज्याधिकारी या मन्त्रियों की नियुक्ति करनी आवश्यक हो जाती है। उन्हीं उच्च राज्याधिकारियों या मन्त्रियों में से अर्यमा भी एक है। अर्यमा किस प्रकार के कार्य करता है यह हम इस प्रकरण में देखते ही आ रहे हैं। अर्यमा भी राजा का ही प्रतिनिधि और एक प्रकार से राजा ही होता है। अर्यमा कन्याओं और युवकों के विवाह करने में सहायता देता है। न्यायाधीश के रूप में उसकी सहायता इसी रूप में हो सकती है कि वह विवाहेच्छुक युवक-युवतियों को विवाह करने की अनुमति प्रदान कर दे और उनके विवाह करने की बात को अपने यहाँ अंकित कर ले जिससे यह अंकितकरण भविष्य में कोई विवाद खड़ा हो जाने पर उसके समाधान में काम आवे।

मन्त्र में कन्याओं के गुह्य नाम को धारण करने की जो बात कही गई है उसका तात्पर्य यह है कि न्यायाधीश विवाहेच्छुक कन्याओं के नामों को अपने कार्यालय में अंकित कर लेता है। कन्याओं का नाम विवाहेच्छुक युवकों के नामों का भी उपलक्षण है। मन्त्र के चतुर्थ चरण में आये दम्पती पद से यह बात स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है। कन्याओं का विवाह युवकों के साथ ही तो सम्पन्न होगा। न्यायाधीश विवाहार्थी कन्याओं और युवकों के नामों को अपनी पंजीकाओं (रजिस्ट्रो) में पंजीकृत करके रखता है। नाम के साथ मन्त्र में गुह्य विशेषण दिया गया है। यह शब्द संस्कृत की 'गुह्' धातु से निष्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ संवरण करना होता है। संवरण का अर्थ ढककर रखना, छिपाकर रखना, गुप्त करके रखना, सुरक्षित करके रखना होता है। न्यायाधीश विवाहार्थी लोगों के नामों को अपने कार्यालय में सुरक्षित करके रखता है और अन्य लोगों को उनका पता नहीं लगने देता। मन्त्र में न्यायाधीश के लिए यह जो कहा गया है कि वह दम्पती को, पति-पत्नी को, समान मन वाला बताता है इसका भाव यह है कि वह विवाहार्थी युवक और युवती के मनों की पारस्परिक अनुकूलता को देखकर उन्हें विवाह की अनुमति देता है। उसकी अनुमति मिल जाने और उनका विवाह हो जाने पर वे दोनों एक प्रकार से एक ही हो जाते हैं और उनका मन भी एक हो जाता है। वाणियों के द्वारा लोग न्यायाधीश के पास पहुँचते हैं मन्त्र के इस कथन का भाव यह है कि क्योंकि वह विवाहों की स्वीकृति देता और उन्हें अपने यहाँ पंजीकृत करके रखता है इसलिए लोग अपनी प्रार्थना लेकर उसके पास जाते हैं। घनिष्ट मित्र की भाँति लोग उसके पास जाते हैं यह कहकर मन्त्र ने यह सूचित किया है कि न्यायाधीश को प्रजाजनों के साथ मित्र का सा व्यवहार करना चाहिए। लोग निडर होकर अपने काम के लिए उसके पास जा सकें और वह मित्र की भाँति उनके काम को शीघ्र से शीघ्र निपटा ले।

मन्त्र के अग्नि (राजा) को स्वधावाला कहकर सम्बोधन किया गया है। स्वधा के अनेक अर्थ होते हैं। उसका एक अर्थ अपने को धारण करने वाला बल और सामर्थ्य, और एक अर्थ अन्न और उससे उपलक्षित सब उपभोग सामग्री भी होता है।¹ पहले अर्थ में इस सम्बोधन का भाव यह होगा कि राजा को अपनी और अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए आवश्यक शक्ति का संग्रह करके रखना चाहिए। राजा का अपना शरीर और मन स्वस्थ, नीरोग और सबल हो जिससे वह अपने सब कार्यों को भली-भाँति कर सके। उसको अपना राष्ट्र भी सबल बनाकर रखना चाहिए जिससे बाहर और भीतर के शत्रु उसको आक्रान्त न कर सकें। दूसरे अर्थ में भाव होगा कि उसे स्वयं भी अपनी शारीरिक शक्ति के संपादन के लिए पीष्टिक अन्न का सेवन करना चाहिए और प्रजाजनों को भी पुष्टिकारक अन्न तथा अन्न से उपलक्षित अन्य भाँति-भाँति की उपभोग सामग्री प्राप्त हो सके इसकी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे प्रजाजन सुख-मंगल का जीवन जी सकें।

हमने इस मन्त्र को यहाँ इसलिए उद्धृत किया है कि पाठक देख सकें कि विवाहार्थी लोगों को विवाह करने के कार्य में अपने तरीके से सहायता देना अर्यमा का अपना इतना विशिष्ट कार्य है कि उस कार्य को करने के कारण अग्नि को भी अर्यमा ही कह दिया गया है।

विवाह संस्कार और विवाह का पंजीकरण

विवाह यज्ञवेदि पर यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित करके उसके सम्मुख किया जाये, विवाह के समय वेद-मंत्रोच्चारण पूर्वक यज्ञाग्नि में घृत और हव्य की आहुतियाँ दी जायें, वर-वधू वेद मन्त्रों के द्वारा पत्निव्रत और पतिव्रता रहने की प्रतिज्ञा करें और यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा करके जीवनभर एक दूसरे का बने रहने का व्रत लें, वेद विवाह-संस्कार की इस धार्मिक पद्धति को स्वीकार करता है। ऋग्वेद 10.85 और अथर्ववेद 14.1-2 सूक्तों में विवाह की इस पद्धति का स्पष्ट उपदेश और विधान किया गया है। ऋग्वेद के इस सूक्त में 67 मन्त्र और अथर्ववेद के इन दोनों सूक्तों में 139 मंत्र हैं। यज्ञवेदि पर यज्ञाग्नि साक्षिक विवाह करने से वर-वधू के मन में अपने विवाह और उसमें की गई प्रतिज्ञाओं के प्रति एक विशेष प्रकार की पवित्रता की भावना उत्पन्न होती है। वे अपने विवाह और उसमें की गई प्रतिज्ञाओं को परम पवित्र समझकर जीवन-भर उनका पालन करने के लिए निष्ठावान् रहते हैं। प्रतिज्ञायें ईश्वरीय वाणी वेद मन्त्रों के द्वारा की जाती हैं। इसलिए उनके प्रति पवित्रता की भावना और भी गहरी हो जाती है। यज्ञाग्नि में आहुति देने के समय जो वेद मन्त्र पढ़े जाते हैं उनमें गृहस्थ जीवनोपयोगी अनेक शिक्षाओं का समावेश होता है। संस्कार की पद्धति से विवाह करने से ये शिक्षायें भी वर-वधू को सुनने को मिलती हैं। वेद

¹ स्वधा स्वकीयां धारणशक्तिम्। ऋग्० 1.88.6, भाष्ये दयानन्दविः। स्वं दधातीति स्वधा स्वस्य धारणशक्तिः बलं सामर्थ्यमिति यावत्। स्वधा अन्ननामा। निघ० 2.7.

के अनुसार एक धार्मिक कृत्य के रूप में विवाह-संस्कार तो किया ही जाना चाहिए ।

ऊपर हमने वेद मन्त्रों के आधार पर अर्यमा द्वारा विवाहों के पंजीकरण की जो बात कही है उसका विवाह-संस्कार के साथ किस प्रकार सम्बन्ध होगा ? पंजीकरण दो प्रकार से हो सकता है । एक तो यह कि पहले पंजीकरण हो जाये और तदनन्तर विवाह-संस्कार हो जाने के पश्चात् उसका पंजीकरण भी कराया जाये । पंजीकरण का वास्तविक प्रयोजन तो विवाह की वैधता और सम्पत्ति के उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हो जाने पर उसके समाधान में सहायता देना है ।

वेद ने अर्यमा के इन काव्यमय वर्णनों के द्वारा यह उपदेश दिया है कि राज्य में इस प्रकार का एक अर्यमा का विभाग भी होना चाहिए ।

न्यायमन्त्री और न्यायाधीश दोनों का वाचक अर्यमा पद

राजा का सहचारी और उसका प्रतिनिधि होने के नाते अर्यमा को उसका एक मन्त्री ही समझना चाहिए । परन्तु मन्त्री के लिए व्यक्तिगत रूप से प्रजाजनों के इस प्रकार के विवादों का निपटारा कर सकना सम्भव नहीं हो सकता । इस काम के लिए तो स्थान-स्थान पर न्यायाधीश रखने आवश्यक होंगे । वे न्यायाधीश ही वस्तुतः अर्यमा होंगे । वे लोग क्योंकि अर्यमा नामक मन्त्री के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर कार्य करते हैं इसलिए मानो वह मन्त्री ही न्याय का वह कार्य कर रहा है । इस प्रकार अर्यमा का अर्थ न्यायाधीश और उस विभाग का मन्त्री दोनों ही हो जायेगा ।

अर्यमा पद की निरुक्ति की संगति

हमने अर्यमा का अर्थ सम्पत्ति के स्वामित्व और उससे सम्बन्धित विवादों का निर्णय करने वाला न्यायाधीश किया है जिसे आजकल की परिभाषा में दीवानी न्यायाधीश कहा जाता है । अर्यमा के इस अर्थ में इस पद की निरुक्ति भी, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, संगत हो जाती है । 'अर्यं स्वामिनं मिमीते प्रमाणीकरोति इति अर्यमा' अर्थात् जो निर्णय करके यह प्रमाणित करे कि किस सम्पत्ति या वस्तु का स्वामी कौन है वह अर्यमा कहा जायेगा ।

15. भग : जन-कल्याण और कृषि विभाग का मंत्री

भग का मानव और राजा रूप

भग भी इन्द्र का एक सहचारी देव है । वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र के सहचारी के रूप में उसके साथ भग के वर्णन आते हैं । इस प्रकार अग्नि, वरुण और सविता आदि अन्य देवों की भाँति भग को भी वेद में इन्द्र के सहचारी देवता के रूप में चित्रित किया गया है । हमें यहाँ यह देखना है कि जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके

सहचारी के रूप में भग का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा। जैसा कि हम देखते आ रहे हैं वेद में इन्द्र, विष्णु, वरुण, अग्नि और भग आदि देवों को सामूहिक रूप में 'आदित्याः' 'विश्वेदेवाः' और 'देवाः' नामों से वर्णित किया गया है। और सामूहिक रूप में इनके लिए 'वरः' और 'मनुष्यः' आदि मनुष्यवाचक नामों का भी प्रयोग किया गया है। देवों के लिए इन मनुष्यवाचक नामों के प्रयोग से अन्य देवों की भाँति भग भी मनुष्य बन जाता है। इसी प्रकार सामूहिक रूप में देवों के लिए 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का भी वेद में प्रयोग किया गया है। देवों के लिए इन राजा के वाचक शब्दों के प्रयोग से भग राजा भी बन जाता है। भग के लिए तो अथ० 3.12.4 में सीधे रूप में भी राजा विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस भाँति भग का एक रूप वेद में मनुष्य और राजा का भी हो जाता है। और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में भग का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें दृष्टि में आने लगती हैं। हम निरन्तर देखते आ रहे हैं कि वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र ही है। इसलिए भग के लिए राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया समझना चाहिए। भग अपने विभाग के कार्यों को इन्द्र के निरीक्षण और नियंत्रण में रहकर करेगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा इसलिए वह भी एक प्रकार से इन्द्र या सम्राट् ही होगा।

धनों को बाँट कर देने वाला भग

भग विषयक मंत्रों को देखने पर उसके सम्बन्ध में जो बात सबसे प्रमुख रूप में सामने आती है वह यह है कि भग विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य का स्वामी है और वह अपने इस धन और ऐश्वर्य को जनता में उसके कल्याण के लिए बाँटता रहता है। इस सम्बन्ध में कुछ निम्न स्थल देखिये—

- | | |
|--|----------------|
| 1. त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे । | ऋग्० 2.1.7. |
| 2. भगो वा गोभिरर्यमेमनज्यात् । | ऋग्० 10.31.4. |
| 3. भगं च रत्नं विभजन्तमायोः । | ऋग्० 5.49.1. |
| 4. भगो विभक्ता शवसावसा गमत् । | ऋग्० 5.46.6. |
| 5. भगो रातिः । | ऋग्० 10.66.10. |
| 6. राये चिकितुषे भगाय । | ऋग्० 5.41.11. |
| 7. यो अन्धो भगः । | अथ० 6.129.3. |
| 8. भगो मा भगेनावतु प्राणायानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ | अथ० 19.45.9. |

इन उद्धरणों में से प्रथम उद्धरण में अग्नि के लिए कहा गया है कि 'हे भग नाम वाले राजन् (नृपते) अग्नि तू धन का (वस्वः) स्वामी है।' अधिराष्ट्र अर्थ में अग्नि का सामान्य अर्थ राजा होता है। पीछे हम यह देख चुके हैं। वहाँ अग्नि का

यह राजा अर्थ ही संगत होगा। उसे मंत्र में भग कहकर कहा गया है कि वह धनों का स्वामी है। अग्नि को मंत्र में जो भग कहकर धनों का स्वामी कहा गया है उससे स्पष्ट द्योतित होता है कि भग का विविध प्रकार के धनों से विशेष सम्बन्ध रहता है। दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'सम्पत्ति का स्वामी बनाने वाला (अर्यमा) भग इस राष्ट्र-भक्त प्रजाजन को गौर्वों के द्वारा व्यक्त (अनज्यात्) करे।' गौर्वों के द्वारा व्यक्त करे कहने का भाव यह है कि गौर्वें देकर समृद्धि-शाली बनाकर धन-सम्पत्ति के स्वामी के रूप में प्रकट करे। मंत्र का गौ शब्द सभी उपयोगी पशुओं का उपलक्षण है। अर्यमा का यहाँ न्यायाधीश अर्थ नहीं है। यह शब्द यहाँ भग का विशेषण होकर गौण रूप में प्रयुक्त हुआ है। भग के विशेषण के रूप में इसका यहाँ यह भाव है कि भग ऐश्वर्य प्रदान करके उसका स्वामी बनाता है। तीसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'भग मनुष्यों में (आयोः) रत्न वाँटता है (विभजन्त)।' रत्न शब्द सभी प्रकार के उपयोगी और मूल्यवान् पदार्थों का वाचक है। भग प्रजाजनों को भाँति-भाँति के उपयोगी और मूल्यवान् पदार्थ प्रदान करता है। चौथे उद्धरण में कहा गया है कि 'धन को बाँटने वाला (विभक्ता) भग अपने बल (शवसा) और रक्षण के साथ (अवसा) हमारे पास आये।' भाव यह है कि भग प्रजाजनों को भाँति-भाँति की सम्पत्ति प्रदान करे और अपनी शक्ति से ऐसी व्यवस्था करे कि वह सम्पत्ति प्रजाजनों के पास सुरक्षित रह सके। पाँचवें उद्धरण में कहा गया है कि 'भग धन-सम्पत्ति प्रदान करने वाला (रातिः)¹ है।' छठे उद्धरण में कहा गया है कि 'भग धन-सम्पत्ति को (राये) भली-भाँति जानने वाला (चिकितुषे) है।' भग द्वारा धन-सम्पत्ति के भली-भाँति जानने की व्यञ्जना यह है कि वह उसका स्वामी है और उसे प्रजाजनों में बाँटता रहता है। सातवें उद्धरण में कहा गया है कि 'भग अन्धस्² अर्थात् अन्नरूप है।' मंत्र में भग के पास अन्न की प्रचुरता रहने और उसके द्वारा प्रजाओं में अन्न के वितरण किये जाते रहने के कारण उसे रूपक से अन्नरूप ही कह दिया गया है। 'अन्धस्' का अर्थ प्राण (अन्) धारण करने वाला, प्राण देने वाला, भी हो सकता है। भग प्रजाओं को अन्न मिलते रहने की व्यवस्था करके उनमें प्राण (अन्) धारण कराता है, उन्हें जीवन प्रदान करता है, इसलिए उसे 'अन्धस्' कहा जा सकता है।

भग देव अन्धे नहीं हैं

ब्राह्मण ग्रन्थों³ और पुराणों में भग देवता को जो 'अन्धः' अर्थात् चक्षुहीन कहा गया है वह समीचीन नहीं प्रतीत होता। वेद में भग के जो कार्य वर्णन किये गये हैं

¹ दातेति सायणः ।

² अन्ध इति अन्ननाम । निघ० 2.7.

³ तस्य (भगस्य) चक्षुः परापतत्तस्मादाहुरन्धो वे भग इति । गो० 3.1.2.

तस्य (भगस्य) अक्षिणी निर्जघान तस्मादाहुरन्धो भग इति । कौ० 6.13.

तस्मादाहुरन्धो भग इति । शत० 1.7.4.6.

स्वामी और उन ऐश्वर्यों को प्रजाजनों में वितरण करने वाला कहा गया है। सूक्त के उन्हें कोई अन्धा व्यक्ति नहीं कर सकता। वेद में आये उसके 'अन्ध' विशेषण की उपर्युक्त प्रकारसे बड़ी संगत व्याख्या हो सकती है। भग का अर्थ धन¹ और धनी पुरुष भी होता है। इस अर्थ में भग को अन्धा कहने का कुछ भाव बन सकता है। अतिशय धनी लोग अपने धन के कारण मदमस्त और विवेकहीन हो जाते हैं। उनकी विवेक की शक्ति जाती रहती है और उनमें अनुचित अहंकार हो जाता है जिसके कारण वे भाँति-भाँति के अनर्थ करने लगते हैं। इस अर्थ में धन और धनिकों को अन्धा कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ यह भाव व्यंजना से निकलेगा अभिधा से नहीं। यहाँ 'अन्धः' का मुख्यार्थ अन्धा नहीं है।

आठवें उद्धरण में कहा गया है कि 'भग मुझ प्रजाजन की अपने ऐश्वर्य से (भगेन) रक्षा करे जिससे कि मुझे प्राण और अपान प्राप्त हो सकें, आयु प्राप्त हो सके, वान-विज्ञान का बल प्राप्त हो सके (वर्चसे), ओज और तेज प्राप्त हो सके, स्वस्ति अर्थात् सुख-मंगल प्राप्त हो सके तथा उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त हो सके (सुभूतये), यह मेरी अन्तरिक पुकार है (स्वाहा)²।' जब प्रजाजनों को भग द्वारा की गई व्यवस्था से यथोचित धन-सम्पत्ति मिलने लगेगी तो उसके द्वारा वे पौष्टिक भोजन और भाँति-भाँति की अन्य सुख-सुविधायें अर्जित कर सकेंगे जिसके परिणामस्वरूप उनके प्राण और अपान आदि पाँचों प्राण ठीक रहेंगे और प्राणों से उपलक्षित सभी इन्द्रियाँ भी पूर्ण स्वस्थ रहेंगी। वैदिक साहित्य में इन्द्रियों को भी प्राण कहा जाता है। इसका फल यह होगा कि उन्हें सौ साल की पूर्ण आयु प्राप्त होगी, उनमें ज्ञान-विज्ञान से जन्य वर्चस्विता रहेगी, बल और तेज रहेंगे तथा उनका सारा जीवन सब प्रकार के सुख-मंगलों से भरपूर रहेगा।

प्रजाजनों में धन-सम्पत्ति के विभाजन का यह कार्य प्रधानतः भग का कार्य ही वेद में बताया गया है। सायणाचार्य ने भी ऋग्० 5.49.1 मंत्र के अपने भाष्य में इस बात का उल्लेख किया है।³

इस प्रसंग में ऋग्वेद का 7.41 सूक्त भी देखने योग्य है। इस सूक्त में सात मन्त्र हैं। बहुत हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ अथ० 3.16 सूक्त में भी यही सात मन्त्र हैं तथा यजुर्वेद के 34वें अध्याय के 34-40 मन्त्र भी यही हैं। इस सूक्त का देवता प्रधान रूप से भग ही है। इस सूक्त में भी भग को भाँति-भाँति के ऐश्वर्यों का

¹ भग इति धननाम। निघ० 2.10.

² स्वाहा वाङ्माम। निघ० 1.11; स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेति वा, सु आहुतं हविर्जुहोतीति वा। निघ० 8.3.20.

³ 'भगो वां विभजतु' इति हि भगस्य विभजनं प्रसिद्धम्।

'रायो विभक्ता संभरश्च वस्वः' (ऋग्० 4.17.11),

'भगो विभक्ता शवसी' (ऋग्० 5.46.6) इति च श्रुतिः।

ऋग्० 5.49.1 भाष्ये सायणेः।

निम्न मन्त्रों को देखिये—

1. प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेयो विधत्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥
ऋगू० 7.41.2.
2. भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरस्वर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥
ऋगू० 7.41.3.
3. उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन् त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥
ऋगू० 7.41.4.
4. भग एव भगवां अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्वं इज्जोह्वीति स नो भग पुरएता भवेह ॥
ऋगू० 7.41.5.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) 'जो भग घनों को जीतने वाला है, जो प्रबल शक्तिवाला (उग्र) है, जो राष्ट्र को धारण करने वाला है, जो अदिति अर्थात् मातृ-भूमि का पुत्र है, जिसके सामर्थ्य को जानता हुआ (मन्यमानः) दरिद्र व्यक्ति भी (आध्रश्चित्)¹ तथा धन की प्राप्ति वाला साधारण व्यक्ति भी (तुरश्चित्)² और धन के कारण चमकने वाला अधिक धनवाला व्यक्ति भी (राजा चित्)³ जिससे प्रार्थना करता है कि हे भग मुझे धन दीजिए (भक्षि)⁴ उस भग को हम प्रातः ही स्मरण करते हैं ।'

भग के द्वारा घनों को जीतने का भाव यह है कि वह ऐसे उपाय करता है जिनके कारण राष्ट्र के लोगों की समृद्धि होती है । उसे उग्र अर्थात् प्रबल शक्तिवाला कहने का भाव यह है कि उसकी व्यवस्थाओं को कोई मंग नहीं कर सकता । उसे अदिति अर्थात् मातृ-भूमि का पुत्र कहने का भाव यह है कि उसे अपने सभी कार्य अपने आप को अपनी मातृ-भूमि का पुत्र और राष्ट्र के दूसरे लोगों को अपना भाई समझते हुए अपने उन भाइयों के कल्याण को लक्ष्य में रखकर करने चाहिए । उसे अपने आपको राष्ट्रवासियों का सहायक समझना चाहिए उनका हाकिम और मालिक नहीं । भग के सम्बन्ध में कही गई यह बात उपलक्षणमात्र है । सभी राज्याधिकारियों को राष्ट्रवासियों के साथ इसी प्रकार का भाईचारा रखना चाहिए । मन्त्र के उत्तरार्द्ध का यह भाव है कि भग ऐसी व्यवस्था करता है जिससे राष्ट्र के सभी निवासियों को यथोचित धन-सम्पत्ति उपलब्ध हो सके । प्रजा के निर्धन और गरीब व्यक्तियों की

¹ आध्रः दरिद्र इति सायणः ।

² तुरः तुरतिर्गतिकर्मा, प्राप्तधन इति सायणः । सामान्य धनयुक्त इति यावत् ।

³ राजा समर्थ इति लायणः । धनेन राजमानः धनशक्ति संपन्न इति यावत् ।

⁴ भक्षि-देहीति सायणः ।

निर्वनता और गरीबी तो उसकी व्यवस्था से दूर होगी ही, अधिक धनी व्यक्ति भी उसकी व्यवस्थाओं में रहकर ही धन का संग्रह कर सकेंगे। भग और उससे उपलक्षित राष्ट्र की राज्यव्यवस्था द्वारा निर्धारित अधिकतम सीमा से अधिक सम्पत्ति का संचय कोई भी नहीं कर सकेगा। मन्त्र में जो धनियों को साधारण धनी और अधिक धनी इन दो भागों में बाँटा गया है उसकी ध्वनि यह है कि एक निर्धारित सीमा तक राष्ट्रवासियों को छूट होनी चाहिए कि वे अधिक से अधिक सम्पत्ति कमा सकें। यह छूट उन्हें अपने काम-धन्धों को बढ़ाने के लिए प्रेरित करेगी जिससे अन्ततोगत्वा समग्र राष्ट्र की ही श्रीवृद्धि होगी।

मन्त्र के 'भक्षि' क्रियापद का सायणाचार्य ने 'देहि' अर्थात् 'दो' ऐसा अर्थ किया है। हमने मन्त्र के अर्थ में इस क्रियापद का यही अर्थ कर दिया है। ऋषि दयानन्द ने इस क्रियापद का अर्थ 'भजेयम्, सेवेय' अर्थात् 'सेवन कर्तुं' ऐसा किया है। 'भक्षि' क्रियापद जिस 'भज' धातु से निष्पन्न होता है उसका अर्थ सेवन करना ही होता है। सायणाचार्य और ऋषि दयानन्द दोनों के अर्थों का तात्पर्यार्थ एक ही है। धन-सम्पत्ति का सेवन तभी हो सकेगा जबकि भग उसे प्रदान करेगा।

मन्त्र में प्रयुक्त राजा पद का प्रसिद्ध अर्थ किसी राज्य का प्रमुख शासक यहाँ नहीं लिया जा सकता। यहाँ उसका यौगिक अर्थ चमकने वाला करना होगा। मन्त्र और सूक्त में भग के द्वारा प्राप्त होने वाले भग अर्थात् धन-सम्पत्ति का प्रसंग चल रहा है इसलिए चमकने का अभिप्राय धन-सम्पत्ति से चमकना होगा। अतः राजा पद का अर्थ यहाँ धन-सम्पत्ति से चमकने वाला अधिक धनी व्यक्ति करना होगा जैसा कि हमने किया है।

मन्त्र का 'प्रातः' शब्द कालमात्र का उपलक्षण है। सभी कालों में प्रजाजनों को आवश्यकता होने पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भग से सहायता माँगनी चाहिए। भग को प्रातः पुकारे जाने या स्मरण किये जाने की जो बात मन्त्र में कही गई है उसका यही तात्पर्य है। और इसकी यह व्यंजना है कि भग को लोगों की बात सुनकर उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(2) दूसरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—'धन-सम्पत्ति के अर्जन में नेतृत्व करने वाले अर्थात् मार्ग प्रदर्शन करने वाले (प्रणेता) हे भग, हे सच्चा धन देने वाले (सत्यराधः) भग, हमें धन-सम्पत्ति देते रहने वाले (ददन्) हे भग तुम हमारी इस बुद्धि और कर्मशीलता की (धियं) रक्षा करो, हे भग तुम हमें गौवों और अश्वों से युक्त करो, हे भग हम मनुष्यों द्वारा मनुष्यों वाले होते रहें।'।

भग प्रणेता है। वह लोगों को नाना प्रकार की धन-सम्पत्ति का अर्जन करने में मार्ग-दर्शन कराता है। वह जनता को विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति उपाजित करने के उपाय बताने की व्यवस्था करता है। भग 'सत्यराधः' है। उसकी व्यवस्था से प्राप्त होने वाला धन सचाई से कमाया जाता है, उसके अर्जन में किसी प्रकार के असत्य का आश्रय नहीं लिया जाता। मन्त्र में यह जो कहा गया है कि हे भग हमें।

धन-सम्पत्ति देते रहने वाले तुम हमारी बुद्धि और कर्मशीलता की रक्षा करो, इसका भाव यह है कि भग लोगों को धन-सम्पत्ति कमाने के लिए आवश्यक बुद्धि और ज्ञान देता है तथा उसके लिए आवश्यक कर्म करना भी सिखाता है। अभिप्राय यह है कि भग ऐसी व्यवस्था करता है कि जन-सामान्य विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति को अर्जित करने के लिए आवश्यक सैद्धान्तिक ज्ञान और क्रियात्मक शिक्षा दोनों प्राप्त कर सके। मन्त्र के गौ और अश्व शब्द इन दोनों प्रकार के पशुओं की भाँति उपयोगी अन्य पशुओं के भी उपलक्षण हैं। मनुष्यों द्वारा मनुष्यों वाले बने रहने की प्रार्थना का भाव यह है कि भग की व्यवस्था और सहायता से हमें विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति प्राप्त हो, हमारे घरों में गौ आदि दुधारु पशु रहें, खाने के पौष्टिक खाद्य पदार्थ मिलते रहें जिससे हमारे परिवारों में स्वस्थ, सुन्दर और बलवान् सन्तानें उत्पन्न होती रहें और हमारे घर मनुष्यों से भरे-पूरे रहें।

(3) तीसरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—‘हे भग हम इस वर्तमान काल में धन-सम्पत्ति से युक्त (भगवन्तः) रहें तथा दिनों की प्राप्ति के समय अर्थात् पूर्वाह्न में भी धन-सम्पत्ति से युक्त रहें, दिनों के मध्य में भी धन-सम्पत्ति से युक्त रहें, हे ऐश्वर्य वाले (मधवन्) भग सूर्य के उदय होने के समय भी हम धन-सम्पत्ति से युक्त रहें, हम लोग सदा तुम्हारी और अन्य देवों की सुमति में रहें अर्थात् तुम्हारे परामर्श और सम्मति के अनुसार कार्य करें।’

मन्त्र का भाव यह है कि भग को ऐसी प्रबन्ध-व्यवस्था करनी चाहिए कि प्रजाजनों के जीवन के सभी दिन पूरे के पूरे सब प्रकार की आवश्यक धन-सम्पत्ति और तज्जन्य सुख-समृद्धि से भरपूर रहें। उद्धृत प्रथम मन्त्र की व्याख्या करते हुए हमने उसमें प्रयुक्त ‘प्रातः’ शब्द का जो भाव व्यक्त किया था वह इस मन्त्र में बिल्कुल स्पष्ट हो गया है।

(4) चौथे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—‘हमारे लिए भग सदा भगवान् अर्थात् भाँति-भाँति का ऐश्वर्य देने वाला ही रहे, उस भग के द्वारा हम सदा ऐश्वर्यवाले (भगवन्तः) बने रहें, हे भग ऐश्वर्य देने वाले उस तुम को सभी लोग पुकारते हैं, हे भग वह तू हमारे आगे चलने वाला बन।’

भग को सदा प्रजाजनों के लिए ऐश्वर्य प्रदान करने वाला बने रहना चाहिए अर्थात् ऐसी व्यवस्था करते रहना चाहिए जिससे वे सदा ही भगवान् बने रहें, सब प्रकार की आवश्यक धन-सम्पत्ति के स्वामी बने रहें। भग का काम राष्ट्रवासियों की समृद्धि और ऐश्वर्य की वृद्धि करते रहना है। वह इसके लिये उपाय करता रहता है। इसलिए प्रत्येक प्रजाजन उसको पुकारता रहता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उससे सहायता माँगता रहता है। भग को प्रजाजनों का ‘पुरेता’ अर्थात् आगे चलने वाला जो कहा गया है उसका भाव भी वही है जोकि ऊपर दूसरे मन्त्र में उसे ‘प्रणेता’ कहकर प्रकट किया गया है। भग धन-सम्पत्ति के उपार्जन के काम में लोगों के आगे चलता है। उनका मार्ग-प्रदर्शन करता है। उन्हें धन-सम्पत्ति उपार्जित

करने में सहायता देने वाली व्यवस्था करता है। धन-सम्पत्ति उपार्जन करने के मार्ग में लोगों को जो कठिनाइयाँ आती हैं उनका निराकरण करता है।

इस सूक्त¹ में तथा भग विषयक ऊपर उद्धृत अन्य मन्त्रों में भग का जो काव्यमय चित्रण किया गया है उसके द्वारा वेद में यह उपदेश किया गया है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह राष्ट्रवासियों की धन-सम्पत्ति की वृद्धि करता रहे और देखता रहे कि उनके जीवन में सब प्रकार के कल्याण और मंगलों की गंगा बहती रहे। यह सब हो रहा है इसे देखने के लिए राज्य में एक पृथक् विभाग ही रहना चाहिए।

भग धन किस प्रकार प्रदान करेगा ?

ऊपर उद्धृत मन्त्रों में भग से जो धनों की प्रार्थना की गई है और उसे जो धनों का 'विभक्ता' अर्थात् बाँटने वाला कहा गया है उसका यह तात्पर्य नहीं है कि भग अपने राज्यकोष से लोगों को धन बाँटता रहेगा। ऐसा कर सकना सम्भव नहीं है। ऐसा करने से तो राज्यकोष एक दिन में ही समाप्त हो जायेगा। और फिर भग के पास लोगों में बाँटने के लिए कुछ भी नहीं रहेगा। राज्यकोष में भी तो धन मूलतः प्रजाओं से ही आता है। प्रजाजन भाँति-भाँति का उत्पादन करते हैं और उत्पादित वस्तुओं का व्यापार करते हैं। राज्य इन उत्पादनों और इनके व्यापार पर कर लगा कर राज्यकोष के लिए धन प्राप्त करता है। यदि लोग भाँति-भाँति के काम-धन्धे करके उत्पादन न करें और व्यापार न करें और केवल राज्य से दान रूप में प्राप्त होने वाले धन पर ही निर्भर करें तो न तो राज्यकोष में ही देने के लिए कुछ होगा और न ही लोगों को उससे कुछ मिल सकेगा। भग से की गई धन देने की ये प्रार्थनाएँ और भग को धन-बाँटने वाला कहना तो वेद की बात कहने की एक काव्यात्मक शैली है। भग के इन सब वर्णनों का तात्पर्य यह है कि भग को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि लोग सुगमता से धन-सम्पत्ति कमा सकें। इस काम में भग को लोगों की सब प्रकार की सहायता करनी चाहिए। उनके रास्ते में आने वाली सभी कठिनाइयों को दूर करना चाहिए। उद्योग-धन्धों को खड़ा करने और चलाने के लिए तथा व्यापार आदि के लिए आवश्यक शिक्षा लोगों को दिये जाने का प्रबन्ध भी राज्य द्वारा किया जाना चाहिए। मन्त्रों में भग को जो 'प्रणेता' और 'पुरेता' कहा गया है तथा उससे जो धन प्राप्त करने विषयक वृद्धि और कर्मशीलता की रक्षा करने की प्रार्थना की गई है और उसके सम्बन्ध में जो अन्य बातें कही गई हैं उनसे यही सब भाव व्यंजित होता है।

कृषि की वृद्धि करने वाला भग

भग के कार्य और स्वरूप के सम्बन्ध में वेद के निम्न मन्त्र से भी विशेष

¹ इस सूक्त की परमात्मापरक आध्यात्मिक व्याख्या भी हो सकती है। तब मन्त्रों का अर्थ और भाव भिन्न प्रकार का होगा।

प्रकाश पड़ता है। मन्त्र देखिये—

भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ।

अथ० 3.12.4.

अर्थात्—‘राजा भग हमारी कृषि की खूब वृद्धि करे (नि तनोतु) ।’ राजा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने के कारण भग को राजा कह दिया गया है। अपनी विशेष योग्यता और गुणों के कारण चमकने वाला होने से भी भग को राजा कहा जा सकता है। संस्कृत की जिस ‘राजू’ धातु से राजा शब्द व्युत्पन्न होता है उसका अर्थ दीप्त होना, प्रकाशित होना और चमकना ही होता है। गुणों के कारण चमकने वाले को राजा कहेंगे। प्रजा के शासक राजा को भी राजा इसलिए कहा जाता है कि वह अपने गुणों और पद के कारण चमकता है। मन्त्र में भग से कृषि की वृद्धि करने की प्रार्थना की गई है। वृद्धि करने के अर्थ में ‘तनोतु’ क्रियापद का प्रयोग किया गया है। जिस ‘तनु’ धातु से यह क्रियापद बनता है उसका मूल अर्थ विस्तार करना होता है। कृषि का विस्तार दो प्रकार से हो सकता है—एक तो यह कि कृषि-भूमि का क्षेत्र बढ़ाकर उसका विस्तार कर दिया जाये; और दूसरे यह कि कृषि की उपज बढ़ाकर उसकी मात्रा का विस्तार कर दिया जाये। भग इन दोनों ही प्रकारों से कृषि का विस्तार करके उसकी वृद्धि करता है। वह आवश्यकता के अनुसार कृषि की भूमि का भी विस्तार कर देता है, पहले जितनी भूमि में कृषि हो रही थी उससे अधिक भूमि में कृषि कराने की व्यवस्था करता है, तथा उत्तम खाद और सिंचाई आदि की व्यवस्था करके कृषि की उपज को भी बढ़ाने के उपाय करता है। ‘तनोतु’ क्रिया पद के साथ मन्त्र में ‘नि’ उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। इस उपसर्ग के लग जाने से क्रियापद का अर्थ हो जाता है कि खूब विस्तार करता है, खूब बढ़ाता है। वह कृषि को इतना बढ़ाता है कि राष्ट्रवासियों की भोजन और वस्त्र आदि की सभी आवश्यकताएँ यथेष्ट परिमाण में पूरी होती रहती हैं। किसी को भी कृषि-जन्य पदार्थों की कोई कमी नहीं रहती।

मन्त्र में की गई इस प्रार्थना का ध्वनितार्थ यह है कि राष्ट्र की कृषि की सब प्रकार की देखभाल करना और यह देखना है कि कृषि-जन्य पदार्थ राष्ट्र-निवासियों को यथेष्ट मात्रा में मिलते रहें, कोई भी व्यक्ति उनके अभाव में पीड़ित न रहे, भग का कार्य है। वेद में किसी अन्य देवता के सम्बन्ध में इस प्रकार का कृषि की वृद्धि करने का वर्णन नहीं आया है।

भग का अपना विशिष्ट स्वरूप

ऊपर के पृष्ठों में दिये गये वेद मन्त्रों में भग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे एक तो यह परिणाम निकलता है कि यह देखना भग का काम है कि प्रजा का कोई व्यक्ति निर्बलता, अभाव और गरीबी के कारण क्लेश में न रहे, सबको यथेष्ट धन-सम्पत्ति प्राप्त होती रहे जिसके कारण उनके जीवन में सब प्रकार के

सुख-मंगलों की धारा बहती रहे। और दूसरे उसका काम कृषि की देख-भाल और उन्नति करना है। जिस प्रकार के मन्त्री को आजकल की प्रचलित परिभाषा में जन-कल्याणमन्त्री और कृषि मन्त्री कहते हैं भग उस प्रकार का सर्वोच्च राज्याधिकारी या मन्त्री है।

भग के इन वर्णनों के द्वारा वेद ने यह व्यक्त किया है कि राज्य में इस प्रकार का जन-कल्याण और कृषि की देख-भाल करने वाला एक भग का विभाग भी होना चाहिए।

भग पद की निरुक्ति की संगति

भग शब्द संस्कृत की 'भज' धातु से व्युत्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ सेवा अर्थात् सेवन करना होता है। व्याकरण की रीति से भज धातु से 'घ' प्रत्यय होकर भग शब्द की सिद्धि होती है। जिसके द्वारा, जिसकी सहायता से, किसी वस्तु का सेवन किया जाये उसे भग कहा जायेगा।¹ भग देव के द्वारा, उसकी सहायता से, प्रजाजन सुख-मंगलों का सेवन करते हैं इसलिए उसे भग कहा जाता है। इस प्रकार भग शब्द की निरुक्ति भी उसके हमारे द्वारा निर्धारित इस अर्थ में संगत हो जाती है।

16. सरस्वती : स्त्री-शिक्षा विभाग की मन्त्री

सरस्वती का मानव और राजा रूप

सरस्वती भी इन्द्र का एक सहचारी देव है। स्थान-स्थान पर वेद में इन्द्र के सहचारी के रूप में उसके वर्णन आते हैं। अग्नि और वरुण आदि अन्य देवताओं की भाँति सरस्वती को भी वेद में इन्द्र के सहचारी के रूप में चित्रित किया गया है। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी के रूप में सरस्वती का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा यह हमें यहाँ देखना है। जैसा हम देखते आ रहे हैं इन्द्र, विष्णु और वरुण आदि सभी देवों को वेद में सामूहिक रूप में 'आदित्याः', 'विश्वेदेवाः' और 'देवाः' नामों से वर्णित किया गया है। और इनके लिए सामूहिक रूप में 'नरः' और 'मनुष्यः' आदि मनुष्यवाचक नामों का भी प्रयोग किया गया है। देवों के लिए इन मनुष्यवाचक नामों के प्रयोग से अन्य देवों की भाँति सरस्वती भी मनुष्य बन जाती है। इसी प्रकार देवों के लिए सामूहिक रूप में 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का प्रयोग भी वेद में किया गया है। देवों के लिए इन राजा के वाचक शब्दों के प्रयोग से सरस्वती राजा भी बन जाती है। इस प्रकार सरस्वती का एक रूप वेद में मनुष्य और राजा का भी हो जाता है। और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में सरस्वती का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें उपलब्ध होने लगती हैं। हम

¹ भजते सेवते जनः सुखमंगलादिकमनेनेति भगः। सुखमंगलादिकस्यप्रदातेत्यर्थः।

निरन्तर देखते आ रहे हैं कि वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र ही है। इसलिए सरस्वती के लिए राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया समझना चाहिए। सरस्वती अपने विभाग के कार्यों को इन्द्र के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर करेगी और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगी इसलिए वह भी एक प्रकार से इन्द्र या सम्राट् ही होगी।

सरस्वती के अनेक रूप

वेद में प्रसंगानुसार सरस्वती के अनेक अर्थ हो जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण और अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में सरस्वती का अर्थ वाक् अर्थात् वाणी भी किया गया है।¹ शतपथ में ही इसका एक अर्थ जिह्वा भी किया गया है।² शतपथ में ही इसका एक अर्थ योषा अर्थात् स्त्री भी किया गया है।³ निघंटु में भी सरस्वती का अर्थ वाक् अर्थात् वाणी किया गया है।⁴ वहीं इसका एक अर्थ नदी भी किया गया है।⁵ निरुक्त में भी यास्काचार्य ने इसका एक अर्थ नदी किया है।⁶ सरस्वती के सम्बन्ध में यास्क ने एक स्थान पर निरुक्त में लिखा है कि 'वेद मन्त्रों में सरस्वती के नदी रूप में भी वर्णन मिलते हैं और देवता रूप में भी।' यास्क नदी का अभिप्राय सरस्वती नामक एक विशेष नदी लेते हैं या सामान्य नदियाँ लेते हैं यह स्पष्ट नहीं होता। सरस्वती देवता से उनका क्या अभिप्राय है यह आगे देखेंगे। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में सरस्वती के विदुषी स्त्री, विदुषी राज्ञी, सकल विद्यायुक्त वाणी, विज्ञानवती स्त्री, विज्ञानयुक्त अध्यापिका, स्त्री और नदी ये अर्थ किये हैं।⁸ सरस्वती का अर्थ सरस्वती नाम की एक विशेष नदी भी किया जाता है जो कि भूतकाल में किसी समय कुक्षेत्र के समीप से बहती थी और अब विलुप्त हो चुकी है। इसका एक अर्थ विद्या की अविष्ठात्री सरस्वती नाम की एक विशेष देवी भी किया जाता है जिसे ब्रह्मा की पत्नी भी माना जाता है। पौराणिक साहित्य में इसके ये दो अर्थ ही प्रसिद्ध हैं। पौराणिक संस्कारों से प्रभावित सायणाचार्य आदि वेदभाष्यकार सरस्वती के ये

¹ वाक् सरस्वती। शत० 7.5.1.31; वाग् वै सरस्वती। को० 5.21; तै० 1.3.4.5; गो० 3.1.20; वागेव सरस्वती। ऐ० 2.24.6.7.

² जिह्वा सरस्वती। शत० 12.9.1.14.

³ योषा वै सरस्वती। शत० 2.5.1.11.

⁴ सरस्वती वाङ्नामसु पठितम्। निघ० 1.11.

⁵ सरस्वत्यः नदीनामसु पठितम्। निघ० 1.13.

⁶ सरस्वती—सरस् इत्युदकनाम सतस्तद्वती। निरु० 9.3.24.

⁷ तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति।

तद् यद् देवतावद् उपरिष्ठात्तद् व्याख्यास्यामः ॥ निरु० 2.7.23.

⁸ विदुषी स्त्री। ऋग्० 2.41.8; विदुषी राज्ञी। ऋग्० 2.30.8; सकलविद्यायुक्ता वाणी। ऋग्० 3.54.4; विज्ञानवती स्त्री। यजु० 21.49; बहुविधं सरो वेदादिशास्त्रविज्ञानं विद्यते यस्यास्तां विज्ञानयुक्तामध्यापिकां स्त्रियम्। यजु० 9.27.

दो अर्थ ही प्रायः करते हैं। आप्टे के प्रसिद्ध संस्कृत-इंग्लिश कोश में सरस्वती के ये सभी अर्थ दिये गये हैं।¹ यह शब्द व्याकरण की रीति से संस्कृत की 'सृ' धातु से निष्पन्न 'सरस्' शब्द से 'मत्तुप्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है।² 'सरस्' शब्द के बहने वाला जल और ज्ञान ये दो अर्थ होते हैं। इस शब्द की मूल 'सृ' धातु का गति करना अर्थ तो होता ही उसका अर्थ ज्ञान अर्थात् जानना भी होता है। संस्कृत की सभी गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी होती हैं। 'सरस्' शब्द के जल और ज्ञान इन दोनों अर्थों के आधार पर सरस्वती के ऊपर निर्दिष्ट ये सभी अर्थ बन जाते हैं। सभी अर्थों में जल अथवा ज्ञान का सूत्र अन्तर्निहित रहता है। 'सरस्' शब्द के ज्ञान अर्थ के आधार पर सरस्वती का परमात्मा अर्थ भी हो जाता है। वह तो सर्वज्ञ और सर्व-ज्ञानमय है ही। सरस्वती शब्द स्त्रीलिंग का है। परमात्मा के लिए तीनों लिंगों के शब्द प्रयुक्त हो जाते हैं। यजु० 32.1. मंत्र में परमात्मा के लिए तीनों लिंगों के नामों का प्रयोग किया गया है।³ वहाँ उसके लिए स्त्रीलिंग 'आपः' नाम का भी प्रयोग हुआ है।

सरस्वती इस नाम की एक नदी विशेष नहीं है

पौराणिक संस्कारों से प्रभावित आचार्य सायण आदि भाष्यकार सरस्वती का अर्थ जो इस नाम वाली कुरुक्षेत्र के समीप बहने वाली एक विशेष ऐतिहासिक नदी करते हैं वह समीचीन नहीं है। वेद नित्य सनातन परमात्मा की नित्य सनातन वाणी है। उसमें अनित्य ऐतिहासिक वस्तुओं, पदार्थों और घटनाओं का उल्लेख नहीं हो सकता। जैसा कि मनु⁴ ने कहा है : ये सरस्वती आदि ऐतिहासिक नाम तो बाद में वेद के शब्दों को लेकर रख लिए गये हैं। वेद में इन शब्दों का दूसरा अभिप्राय है, ऐतिहासिक नदी आदि नहीं। वेद को नित्य, सनातन और अपौरुषेय तो सायण आदि भी स्वीकार करते हैं। फिर वे लोग सरस्वती आदि शब्दों का ऐतिहासिक सरस्वती नदी आदि अर्थ क्यों करते हैं यह समझ में नहीं आता।

सरस्वती एक देवता विशेष भी नहीं है

इस भाँति सरस्वती को ऐतिहासिक सरस्वती नदी की अधिष्ठात्री देवता

¹ Name of the goddess of speech and learning and represented as the wife of Brahma, speech voice, words, name of a river, name of a river in general, an excellent woman.

² सृ गती। गतेर्ज्ञानमप्यर्थः। सरति प्रवहति स्थानात् स्थानान्तरमिति सरो जलं यद्वा सरति प्रवहति गुरोः शिष्यं प्रतीति सरो ज्ञानम्। सर्वधातुभ्योऽनु। उणादि० 4.1.89; इत्योणादिकोऽनु प्रत्ययः। सरो विद्यते यस्यां सा सरस्वती। ताद्वितो मत्तुप्।

³ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद्बु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मा सा आपः स प्रजापतिः॥ यजु० 32.1.

⁴ सर्वेषां तु सनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।

वेद शब्देष्वेव एवादो पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० 1.21.

अथवा विद्या की अधिष्ठात्री देवता भी नहीं माना जा सकता। जैसा कि हमने इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर दर्शाया है। वेद में अधिष्ठात्री देवता के सिद्धान्त का कहीं भी उल्लेख नहीं है। साथ ही अधिष्ठात्री देवतावाद की बात प्रत्यक्ष के विरुद्ध भी है। सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी है इस बात का भी वेद में कहीं उल्लेख नहीं है। यह सब पौराणिक मान्यता वेद पर योंही थोप दी गई है और उसे हास्यास्पद बना दिया गया है।

सरस्वती के कुछ वर्णन

सरस्वती के इन उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त उसका अधिराष्ट्र अर्थ भी हो सकता है। उसके इस अधिराष्ट्र अर्थ पर ही हमें यहाँ विचार करना है। इसके लिए सरस्वती के मन्त्रों में पाये जाने वाले उसके कुछ वर्णन देखिए—

- | | |
|--|----------------|
| 1. ऋतावरि । | ऋग्० 2.41.18. |
| 2. सरस्वती साधयन्ती धियं नः । | ऋग्० 2.3.8. |
| 3. प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
धीनामविश्रयवतु ॥ | ऋग्० 6.61.4. |
| 4. शं सरस्वती सह धीभिरस्तु । | ऋग्० 7.35.11. |
| 5. सुयमा सरस्वती । | ऋग्० 9.81.4. |
| 6. सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या । | ऋग्० 10.65.13. |
| 7. सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि । | यजु० 9.30. |
| 8. सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा । | अथ० 5.10.8. |

प्रथम उद्धरण में सरस्वती को 'ऋतावरि' कहकर सम्बोधित किया गया है। ऋत सत्यज्ञान और सत्य आचरण¹ को कहते हैं। जो ऋत से युक्त हो वह ऋतावरी कही जायेगी। सरस्वती ऋतावरी है। उसमें विविध प्रकार का सत्यज्ञान रहता है। और अपने सत्यज्ञान के अनुसार सदा सत्य का ही आचरण करती है। दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'सरस्वती हमारी धी अर्थात् प्रज्ञा और कर्म को सिद्ध करती है।' धी के प्रज्ञा और कर्म दोनों ही अर्थ होते हैं। सरस्वती हमारी प्रज्ञा और कर्म को सिद्ध करती है। वह हमें भाँति-भाँति के ज्ञान से भरी हुई, सदसद् और विवेक करने वाली प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि प्रदान करती है और प्राप्त ज्ञान और विवेक के अनुसार हमें सही कर्म करना सिखाती है।

तीसरे उद्धरण में कहा है कि 'दिव्य गुणों वाली और विदुषी (देवी) तथा ज्ञान-विज्ञान प्रदान करने वाली क्रिया से युक्त (वाजिनीवती) ज्ञान-विज्ञानों के द्वारा (वाजेभिः) सब की बुद्धियों और कर्मों की (धीनां) रक्षा करने वाली (अवित्री)

¹ ऋतं सत्यनामसु पठितम् । निघ० 3.10;

सत्यं वा ऋतम् । शत० 6.7.3.11.

सरस्वती हमारी (नः) रक्षा करे (अवतु) ।' सरस्वती भाँति-भाँति के वाजों अर्थात् ज्ञान-विज्ञानों से युक्त है और वह इन ज्ञान-विज्ञानों को जन-कल्याण के लिए प्रदान करती रहती है और इस प्रकार वह लोगों की बुद्धियों और कामों की रक्षा करती है। लोगों को भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञान सिखाकर उनकी बुद्धियों को समृद्ध और उन्नत करती है तथा उन्हें इस ज्ञान-विज्ञान के अनुसार सही कर्म करने की प्रेरणा करती है। वह ऐसा करती रहकर हम सभी की रक्षा करे राष्ट्र जन सरस्वती से ऐसी याचना कर रहे हैं।

वाज शब्द संस्कृत की 'वज' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ गति होता है। गत्यर्थ सभी धातुयें ज्ञानार्थक भी होती हैं। इसलिए वाज का अर्थ ज्ञान भी हो जाता है। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अनेक जगह इस शब्द का अर्थ ज्ञान भी किया है। वाज के अन्न आदि और भी कई अर्थ होते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में धी अर्थात् बुद्धियों और कर्मों की रक्षा सरस्वती द्वारा किये जाने का वर्णन होने के कारण हमने यहाँ वाज का अर्थ ज्ञान-विज्ञान किया है। वाज के अन्य अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकते।

चौथे उद्धरण में सरस्वती से कहा गया है कि 'वह अपनी बुद्धियों और कर्मों द्वारा (धीभिः) हमारे लिए कल्याणकारिणी होवे।' पाँचवें उद्धरण में सरस्वती को 'सुयमा' कहा गया है। सुयमा का अर्थ होता है भली-भाँति नियमों पर चलने और और चलाने वाली। सरस्वती स्वयं भी नियमों का पालन करती है और अन्य प्रजाजनों को भी नियमों का भली-भाँति पालन करने के लिए प्रेरित करती है। वह लोगों को ज्ञानवान् बनाकर नियमों का पालन करने वाला बनाती है। ज्ञानवान् और समझदार लोग कभी नियमों को भंग नहीं करते।

छठे उद्धरण में कहा गया है कि 'सरस्वती बहुतों का धारण-पोषण करने वाली (पुरन्ध्या) धी अर्थात् प्रज्ञा और कर्मों से युक्त रहती है।' धी का अर्थ प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान-विज्ञान से भरी सदसत् का विवेक करने वाली बुद्धि और कर्म दोनों होता है। मन्त्र में धी का विशेषण पुरंधि दिया गया है। पुरंधि¹ का अर्थ है जो बहुतों को धारण करे, बहुतों को सुरक्षित और पोषित रखे। सरस्वती की धी अर्थात् उसकी प्रज्ञा और कर्म ऐसे हैं कि उनसे प्रजा के बहुत लोगों का धारण और पोषण होता है। सरस्वती लोगों को भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञान सिखाकर और उन ज्ञान-विज्ञानों के अनुसार सही प्रकार के उपयोगी कर्म करना सिखाकर उन्हें भली-भाँति अपना भरण-पोषण करने के योग्य बना देती है। पुरंधि का अर्थ बहुत प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों को अपने में धारण करने वाली ऐसा भी हो सकता है। सरस्वती की धी अर्थात् बुद्धि

¹ पुरुन् बहून् दधाति इति पुरंधिः। बहूनां राष्ट्रजनानां धारिका। यद्वा पुरुणि बहूनि दधाति इति पुरंधिः। बहूनां ज्ञान-विज्ञानां धारिका। पुन्ध्येति व्यत्ययेन तृतीया बहुवचनस्थाने एकवचनम्। द्वयोरप्यर्थयोः धीभिरित्यस्य च विशेषणम्। यद्वा पुरुणि बहूनि दधाति इति पुरंधिः। बहूनां ज्ञान-विज्ञानां धारिका बुद्धिः। अस्मिन् अर्थे पुरन्धेन धीरित्यस्य विशेषणता।

ऐसी है कि उसमें अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान भरे रहते हैं। और इन ज्ञान-विज्ञानों के अनुसार ही इसके कर्म होते हैं। मंत्र का 'धीभिः' पद तृतीया विभक्ति का बहुवचन है। लौकिक संस्कृत व्याकरण के अनुसार उसके विशेषण पुरंधि को भी तृतीया विभक्ति का बहुवचन 'पुरंधिभिः' ऐसा होना चाहिए था। परन्तु वैदिक व्याकरण के अनुसार व्यत्यय से यह पद तृतीया विभक्ति के बहुवचन के स्थान पर तृतीया विभक्ति का एकवचन 'पुरन्ध्या' ऐसा हो गया है। यों यह है 'धीभिः' का ही विशेषण। अथवा पद-योजना इस प्रकार भी की जा सकती है कि पुरंधि का अर्थ बहुत प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों के धारण करने वाली बुद्धि कर लिया जाये और 'पुरन्ध्या' पद को तृतीया विभक्ति का एकवचन ही माना जाये। और 'धीभिः' का अर्थ केवल कर्म ही किया जाये क्योंकि बुद्धि से युक्त होने का भाव 'पुन्ध्या' में ही आ गया है। इस पद-योजना के अनुसार मंत्र-खण्ड का अर्थ यह बन जायेगा कि 'सरस्वती विविध प्रकार के कर्मों और बहुत प्रकार का ज्ञान धारण करके रखने वाली बुद्धि से युक्त रहती है।' दोनों प्रकार की पद-योजनाओं से निकलने वाले अर्थों का तात्पर्यार्थ एक ही है।

सातवें उद्धरण का शब्दार्थ इस प्रकार है—'हे अभिषिच्यमान सम्राट् मैं तुझे (वाचः) वाणी का (यन्तुः)¹ नियन्त्रण करने वाली (सरस्वत्ये)² सरस्वती के (यन्त्रिये) नियन्त्रण में (दधामि) धारण करता हूँ।' यजुर्वेद के जिस अध्याय का यह मंत्र है उसका विनियोग राज्याभिषेक में किया जाता है। पुरोहित अभिषिक्त हो रहे सम्राट् से कह रहा है कि हे राजन् मैं तुम्हें सरस्वती के नियन्त्रण के काम में धारण कर रहा हूँ अर्थात् सरस्वती को नियम में रखने का काम तुम्हें सौंप रहा हूँ। तुम सिंहासनासीन होने के पश्चात् सरस्वती को अपने नियन्त्रण में रखकर उससे ठीक प्रकार से कार्य कराना। मन्त्र में सरस्वती को वाणी को नियन्त्रित करने वाली कहा गया है। मन्त्र का वाक् या वाणी शब्द भाषित और लिखित दोनों प्रकार की वाणी का बोधक है और सब प्रकार के साहित्य और ज्ञान-विज्ञानों का उपलक्षण है। समग्र साहित्य और सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान वाणी का ही विलास हैं और उसी के द्वारा प्रकट किये जाते हैं। सरस्वती द्वारा वाणी के नियन्त्रित किये जाने का अभिप्राय यह है कि वह सब प्रकार के विद्या-विज्ञानों के प्रचार और पठन-पाठन पर नियन्त्रण रखती है और राष्ट्र में जन-जन तक विद्या-विज्ञानों की शिक्षा पहुँचाने की व्यवस्था करती है। इस मन्त्र से सरस्वती के कार्य और सम्राट् के साथ उसके सम्बन्ध पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। वह राज्य के शिक्षा-विभाग की देखरेख करती है और सम्राट् के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर अपना कार्य करती है यह स्पष्ट संकेत इस मन्त्र से मिलता है।

आठवें उद्धरण में कहा गया है कि 'हम मनसे युक्त (मनोयुजा) सरस्वती के द्वारा वाणी का (वाचः) आह्वान करते हैं।' वाक् अर्थात् वाणी, जैसा कि अभी ऊपर

¹ पुंस्त्वभाषमिति महीधरः।

² षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति महीधरः। ऋषिर्दयानन्दोपि।

के उद्धरण की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है, समग्र साहित्य और ज्ञान-विज्ञान को उपलक्षित करती है। इस समग्र साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का आह्वान करने का भाव यह है कि हम इसे सीखना चाहते हैं। इसे सीखने में सरस्वती हमारी सहायता करती है। हम उसके द्वारा की गई प्रबन्ध-व्यवस्था के कारण यह सब कुल सीखने में समर्थ होते हैं। सरस्वती 'मनोयुज्' है, उत्कृष्ट मन से युक्त है। उसका मन ज्ञान-विज्ञान सीखा होने के कारण बड़ा उत्कृष्ट है, उसकी बुद्धि बड़ी पैनी है और वह बड़ी समझदार है। इस कारण वह हमारे लिए सब प्रकार के विद्या-विज्ञानों को सीखने की बड़ी उत्तम व्यवस्था करती है। सरस्वती को 'मनोयुज्' कहने का यह भी भाव हो सकता है कि उसका मन हमारे साथ जुड़ा रहता है, उसका मन हमारे हित का ध्यान रखता है। इसलिए सरस्वती हमें सब प्रकार से शिक्षित करने और भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों को जानने वाला बनाने के साधन सोचती और करती रहती है।

इन सब उद्धरणों से सरस्वती के स्वरूप पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

1. पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।

यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ऋग् १.3.10., यजु० 20.84.

2. चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।

यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ऋग् १.3.11., यजु० 20.85.

3. महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।

धियो विश्वा वि राजति ॥ ऋग् १.3.12., यजु० 20.86.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—(1) '(पावका) पवित्र करने वाली (वाजेभिः) ज्ञान-विज्ञानों के कारण (वाजिनीवती) ज्ञान-विज्ञान सिखाने की क्रिया वाली (धियावसुः) प्रज्ञा और कर्म के द्वारा धन-ऐश्वर्य देने वाली (सरस्वती) सरस्वती (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञ की (वष्टु) कामना करे ।'

सरस्वती भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों को जानती है और इन ज्ञान-विज्ञानों को देने और सिखाने की क्रिया करती रहती है, इनका जनता में प्रचार करती रहती है। इस प्रकार ज्ञान का प्रसार करके वह लोगों के जीवनो को पवित्र बनाती रहती है। अज्ञान के कारण ही लोग अपवित्र, अशुद्ध, भ्रष्ट और पापाचारी बनते हैं। सरस्वती लोगों को ज्ञानवान् और समझदार बनाकर उन्हें पाप कर्मों से रोकती और पवित्र बनाती है। सरस्वती भाँति-भाँति के धन-ऐश्वर्यों को भी प्रदान करती है। वह वह लोगों को यह धन-ऐश्वर्य किस प्रकार देती है? कहा कि 'धिया' अर्थात् प्रज्ञा और कर्म के द्वारा। सरस्वती लोगों को विविध प्रकार के विद्या-विज्ञान सिखाकर उन्हें उत्कृष्ट प्रज्ञाशाली, श्रेष्ठ बुद्धियुक्त, बना देती है। और साथ ही लोगों को इस विद्या-विज्ञान के द्वारा भाँति-भाँति के उपयोगी कर्म करना भी सिखा देती है जिनके

द्वारा वे यथेष्ट धन-सम्पत्ति कमाने में समर्थ हो जाते हैं ।

यज्ञ लोगों द्वारा परस्पर मिलकर एक-दूसरे के सहयोग से जन-कल्याण के लिए किये जाने वाले कामों को कहा जाता है । जन-कल्याण के लिए बनाये गये सभी प्रकार के संगठन और संस्थायें यज्ञ हैं । और सबसे बड़ा संगठन राज्य-संगठन भी यज्ञ ही है । राज्य-संस्था का अन्तिम लक्ष्य भी राष्ट्र-जनों का कल्याण ही होता है । अग्निहोत्रादि यज्ञ भी इसीलिए यज्ञ कहे जाते हैं क्योंकि वे अनेक लोगों द्वारा मिलकर किये जाते हैं और उनका उद्देश्य भी जन-कल्याण ही होता है । यज्ञ शब्द संस्कृत की 'यज्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ देव पूजा, संगतीकरण और दान होता है । यज्ञ शब्द में समाविष्ट धातु के इन अर्थों को ध्यान में रखने पर इस शब्द का वही निष्कृष्टार्थ निकलता है जो हमने इन पंक्तियों में दिखाया है ।

सरस्वती से हमारे यज्ञों की कामना करने की प्रार्थना की गई है । सरस्वती से की गई इस प्रार्थना का भाव यह है कि वह हमारे यज्ञों को इस कामना से देखे कि हमारे वे यज्ञ सफल हो जायें । तात्पर्य यह है कि सरस्वती हमारे यज्ञों को, हमारे विविध प्रकार के संगठनों को सफल बनाये । वह हमारे विभिन्न प्रकार के संगठनों को सफल किस प्रकार बनायेगी ? वह ज्ञानवती है और ज्ञान देने की, ज्ञान का प्रसार करने की क्रिया करती रहती है । उसके द्वारा राष्ट्र में भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों का प्रचार और प्रसार होगा जिसके द्वारा राष्ट्र-जन विविध प्रकार के संगठनों का निर्माण कर सकेंगे और भली-भाँति उन्हें चला सकेंगे ।

सायणाचार्य आदि भाष्यकारों ने इस मन्त्र में वाज का अर्थ अन्न करके सरस्वती अन्न देने वाली है ऐसा भाव दिखाया है । निरुक्त में यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए वाज का अर्थ अन्न ही किया है और सरस्वती को अन्नों को देने वाली अन्नवती ही दिखाया है । हमने वाज का अर्थ ज्ञान करके सरस्वती को ज्ञान का प्रसार करने वाली दिखाया है । वाज का अर्थ ज्ञान किस प्रकार हो जाता है इस सम्बन्ध में हमने अभी ऊपर 'प्रणो देवी सरस्वती' (ऋग् 6.61.4.) मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट किया है । ऋषि दयानन्द ने भी यजुर्वेद में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए 'वाज' का अर्थ विज्ञानादिगुण और 'वाजिनीवती' का अर्थ प्रशस्त विद्यायुक्त किया है । वाज का अर्थ अन्न करने पर भी यही तात्पर्य निकलेगा कि सरस्वती अन्न उत्पन्न करने का ज्ञान सिखाकर लोगों को अन्न प्रदान करती है । उसे मन्त्र में 'धियावसु' कहा ही गया है । उद्धृत इन तीनों मन्त्रों में सरस्वती का जो सामान्य चित्रण है उसे देखते हुए इस प्रथम मन्त्र में वाज का अर्थ ज्ञान करना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

(2) दूसरे मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—'(सूनुतानां) सत्य और मधुर वाणियों की (चोदयित्री) प्रेरणा करने वाली (सुमतीनां) उत्तम बुद्धियों को (चेतन्ती)¹ प्रकट करने वाली अर्थात् देने वाली (सरस्वती) सरस्वती (यज्ञं) हमारे यज्ञ को (दधे) धारण करती है ।'

¹ अन्तर्भावितव्यर्थश्चेततिः ।

सरस्वती सूनृता अर्थात् सत्यज्ञान और सत्य भावना से युक्त मधुर वाणियों की प्रेरणा करती है। अर्थात् वह हमें ऐसी उत्तम वाणी बोलना सिखाती है। वह हमारी उत्तम बुद्धियों को प्रकट करती है। वह हमारी बुद्धियों को उत्तम बनाती है। वह हमारी मत्तियों को कुमति नहीं बनने देती। वह उन्हें सुमति बनाती है। वह हमारी बुद्धियों को उत्तम विचार सोचने का, हमारे विविध प्रकार के संगठनों का, धारण करती है। उन्हें स्थिर, सुरक्षित और उन्नतिशील बनाती है। जब हमारी वाणियों में सत्यज्ञान रहता है और हम उनके द्वारा उस ज्ञान का प्रसार करते हैं, जब हमारी वाणियाँ सत्य की भावना से बोली जाती हैं और हम सब एक-दूसरे के प्रति सत्य का ही व्यवहार करते हैं तथा जब हमारी वाणियाँ एक-दूसरे के प्रति प्रेम और मधुरता के साथ बोली जाती हैं तभी हमारे संगठन स्थिर और सुरक्षित रहते हैं तथा निरन्तर उन्नति करते हैं। इसके बिना संगठन बन नहीं सकते, स्थिर नहीं रह सकते और प्रगति नहीं कर सकते। इसी प्रकार जब तक हमारी मति कुमति न होकर सुमति न हो, हमारी बुद्धि दुर्बुद्धि न होकर सुबुद्धि न हो, हमारे मन में कुविचार न उठकर सुविचार न उठते हों और हम कुत्सित आचरणों को छोड़कर प्रशस्त आचरण न करते हों तब तक भी हमारे संगठन बन नहीं सकते, स्थिर नहीं रह सकते और प्रगति की ओर नहीं बढ़ सकते। सरस्वती शिक्षा और ज्ञान के प्रचार-प्रसार द्वारा हमारी वाणियों को सूनृता बनाती है और हमारी मत्तियों को सुमति बनाती है और इस प्रकार हमारे यज्ञों का, हमारे संगठनों का, धारण करती है।

(3) तीसरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—‘(सरस्वती) सरस्वती (केतुना) अपने कर्म और प्रज्ञा के द्वारा (महः) महान् (अर्णः) ज्ञान-समुद्र को (प्रचेतयति) प्रकाशित करती है और (विश्वाः) सब (धियः) बुद्धियों और कर्मों को (विराजति)¹ प्रकाशित करती है।’

सरस्वती के पास केतु है। केतु कर्म को भी कहते हैं और प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि को भी कहते हैं। सरस्वती अपने इस केतु से, अपनी इस बुद्धि और कर्म से, ज्ञान-समुद्र को प्रकाशित करती है। अपनी बुद्धि और कर्मों के द्वारा वह जनता में महान् ज्ञान-समुद्र को प्रवाहित कर देती है। उसके द्वारा जनता में भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों का व्यापक प्रचार और प्रसार कर दिया जाता है। इस भाँति लोगों के लिए ज्ञान का एक समुद्र ही प्रकाशित होकर प्रवाहित होने लगता है। जन-जन तक ज्ञान की धारायें बहकर पहुँचने लगती हैं। सबके लिए ज्ञान-सागर के फाटक खुल जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान-समुद्र को प्रवाहित करके सरस्वती सब लोगों की बुद्धियों को और कर्मों को प्रकाशित कर देती है। ज्ञान प्राप्ति के द्वारा सब लोगों की बुद्धियाँ प्रकाशित हो जाती हैं, खुल जाती हैं, विकसित हो जाती हैं। उनकी ग्रहण करने और सोचने-समझने की शक्ति बढ़ती है। उनमें नये-नये उद्घोष करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। और इसके कारण लोग नये-नये उपयोगी और सुख-समृद्धि-जनक काम

¹ अन्तर्भावितव्यथोन्न राजतिः।

करने में समर्थ बन जाते हैं ।

‘अर्णस्’ शब्द गत्यर्थक ‘ऋ’ धातु से निष्पन्न होता है । इसका अर्थ सामान्यतया जल किया जाता है । गत्यर्थक धातुयें ज्ञानार्थक भी होती हैं । इसलिए ‘अर्णस्’ का अर्थ ज्ञान भी किया जा सकता है । जल और ज्ञान दोनों में प्रवहणशीलता समान होती है । हमने ‘अर्णस्’ के प्रसिद्ध अर्थ जल को ध्यान में रखकर यहाँ इसका आलंकारिक अर्थ ज्ञान-समुद्र कर दिया है । ‘अर्णस्’ अर्थात् जलों की अतिशयता के कारण समुद्र को अर्णव कहा ही जाता है । इसी सादृश्य से ज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं वाले ज्ञान-सामान्य को हमने यहाँ ज्ञान-समुद्र कह दिया है । ‘अर्णस्’ के साथ लगे महान् विशेषण का संकेत भी ज्ञान-समुद्र की ओर, उसकी बहुलता और विशालता की ओर है । सीधा जल अर्थ ‘अर्णस्’ शब्द का सरस्वती के इन ज्ञान-प्रधान वर्णनों में संगत नहीं होता है । ज्ञान-समुद्र से ज्ञान की विविधता, बहुलता और शान्तिकारकता व्यंजित होती है ।

इन तीनों मन्त्रों में सरस्वती का जो यह वर्णन है उससे भी सरस्वती के स्वरूप पर विशेष प्रकाश पड़ता है ।

सरस्वती और माध्यमिका वाक्

यास्काचार्य ने, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, निरुक्त 2.7.23. में लिखा है कि वेद-मन्त्रों में सरस्वती के नदी के रूप में भी वर्णन आते हैं और देवता के रूप में भी । देवता रूप में सरस्वती का वर्णन दिखाते हुए यास्क ने निरुक्त 11.3.23. और निरुक्त 11.3.24. में अभी ऊपर दिये गये ‘पावकानः सरस्वती’, (ऋग् 1.3.10) और ‘महो अर्णः सरस्वती’ (ऋग् 1.3.12) इन दो मन्त्रों की व्याख्या की है । इन मन्त्रों की व्याख्या में वहाँ आचार्य यास्क ने लिखा है कि इन मन्त्रों में सरस्वती का अर्थ माध्यमिका वाक्¹ अर्थात् अन्तरिक्ष में होने वाली मेघ की गरज और विद्युत की कड़क है । इसी माध्यमिका वाक् को यास्क ने देवता कहा है । इन मन्त्रों के शब्दों का अर्थ यास्क ने वैसा ही किया है जैसाकि ऊपर हमने किया है । ‘वाजेभिर्वा-जिनीवती’² का अर्थ उन्होंने ‘अग्नौ से अन्नवाली’ अर्थात् अन्नयुक्त ऐसा किया है । हमने इसका ज्ञान से युक्त ऐसा अर्थ किया है । दोनों के अर्थों में इतना सा ही भेद है । मन्त्रार्थ के स्पष्टीकरण में हमने ‘अग्नौ से अन्नवाली’ इस अर्थ को भी मन्त्र के अपने भावार्थ के साथ संगत कर दिया है । माध्यमिका वाक् अर्थात् वादल की गरज और बिजली की कड़क के साथ सरस्वती के इन मन्त्रों में जो वर्णन हैं वे कैसे संगत हो सकेंगे यह हम नहीं समझ पाये हैं । बादल की गरज और बिजली की कड़क तो एक जड़ ध्वनिमात्र है । मन्त्रों में सरस्वती का जो वर्णन है उससे तो वह एक चेतन, ज्ञानवती और विदुषी व्यक्ति प्रतीत होती है । मेघ और विद्युत की गरज और कड़क रूप जड़ ध्वनि ऐसी चेतन

¹ तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते । निरु० 11.3.24.

² अन्नैरन्नवती । निरु० 11.3.23.

सरस्वती कैसे हो सकती है। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य और अन्य टीकाकारों ने मन्त्रों के यास्क कृत अर्थ को इस माध्यमिकावाक् में संगत करने का जो प्रयत्न किया है उससे भी बात बनती नहीं है, उसमें बड़ी खींचातानी है। दुर्गाचार्य ने तो यहाँ तक भी लिख दिया है कि यह माध्यमिका वाक् ऋग्वेदादि के मन्त्रों का रूप धारण करके देवताओं तक हवि को पहुँचाती है।¹ इस प्रकार वह 'वाजेभिर्वाजिनीवती' अर्थात् 'अन्नो से अन्नवती' हो जाती है। बादल की गरज और बिजली की कड़क वेद मन्त्रों का रूप कैसे धारण कर लेगी यह बात हमारी तो समझ से बाहर है। निरुक्त के प्रसिद्ध हिन्दी भाष्यकार श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार ने प्रतीत होता है दुर्गाचार्य के इसी संकेत को लेकर माध्यमिका वाक् का अर्थ वेदवाणी कर दिया है। यहाँ भी प्रश्न वही रहेगा कि माध्यमिका वाक् वेदवाणी या वेद-मन्त्र कैसे बन जायेगी। सरस्वती शब्द का एक स्वतन्त्र अर्थ वेदवाणी हो सकता है। किन्तु यास्क द्वारा किये गये सरस्वती के अर्थ माध्यमिका वाक् का अर्थ वेद वाणी कैसे हो सकेगा ?

जहाँ इन मन्त्रों में सरस्वती का अर्थ माध्यमिका वाक् अर्थात् बादल की गरज और बिजली की कड़क नहीं हो सकता वहाँ सरस्वती नामक एक नदी-विशेष अर्थ भी इसका नहीं हो सकता। जैसा कि ऊपर कहा गया है नित्य सनातन प्रभु की नित्य सनातन वाणी वेद में किसी अनित्य ऐतिहासिक नदी-विशेष का उल्लेख नहीं हो सकता। फिर सरस्वती नामक विशेष जल-धारा भी तो जड़ पदार्थ ही है। उसमें भी सरस्वती के ये चेतन जैसे वर्णन कैसे संगत हो सकेंगे ? यदि सरस्वती का अर्थ उसकी कल्पित अधिष्ठात्री देवता किया जाये तो भी बात नहीं बनेगी। वेद में अधिष्ठात्री देवतावाद के सिद्धान्त का कहीं उल्लेख नहीं है। अधिष्ठात्री देवतावाद प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है। सरस्वती नदी का इस प्रकार का अधिष्ठातृदेव मन्त्रों में वर्णित इस प्रकार के सरस्वती के कार्य करते हुए कभी नहीं देखा गया। अधिष्ठात्री देवतावाद की पौराणिक कल्पना में बनों, पर्वतों, नदियों, समुद्रों, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, नगरों और वृक्षों आदि सभी के अपने-अपने विशेष अधिष्ठातृ-देव माने जाते हैं। ये अधिष्ठात्री देवता कभी किसी के नहीं देखे। सरस्वती का सामान्य नदी अर्थ किया जाये तब भी ठीक नहीं होगा। सामान्य नदियों की जल-धाराएँ भी जड़ वस्तु ही होती हैं। उनमें भी तो सरस्वती के ये चेतन के से वर्णन चरितार्थ नहीं हो सकते।

वीर पत्नी सरस्वती

इस प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखिये—

पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् ।

ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत् ॥

ऋग्वे० 6.49.7.

¹ अथवा ऋगादिभावमापन्ना देवान् प्रति बहुत । निरु० 11.3.23.

भाष्ये दुर्गाचार्यः ।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—‘(पावीरवी)¹ पवित्र करने वाली (कन्या) कमनीय गुणों वाली (चित्रायुः)² अद्भुत आयु और अन्न देने वाली (वीरपत्नी)³ वीरों की रक्षा करने वाली (सरस्वती) सरस्वती (धियं) प्रज्ञा और कर्म को (धात्)⁴ हम में धारण कराये। (ग्नाभिः)⁵ वेद वाणियों और तदुपलक्षित नाना प्रकार के शास्त्रों और ज्ञान-विज्ञानों के साथ (सजोषाः) मिलकर रहने वाली, वह सरस्वती (अच्छिद्रं) किसी भी प्रकार के छिद्र या त्रुटि से रहित तथा (दुराघर्षं) किसी भी प्रकार की विघ्न-बाधाओं और विरोधियों के द्वारा घर्षण न किया जा सकने वाला (शरणं) निवास और (शर्मं) सुख-आनन्द (यंसत्)⁶ हमें प्रदान करे।’

सरस्वती ‘धी’ अर्थात् उत्तम प्रज्ञा और कर्मों को प्रदान करती है। उसके द्वारा सिखाये गये ज्ञान-विज्ञानों को ग्रहण करने से हमारी प्रज्ञा और कर्म उत्कृष्ट हो जाते हैं। फिर हम कुत्सित कर्म नहीं करते। इस प्रकार सरस्वती हमें निष्पाप और शुद्ध-पवित्र बना देती है। सरस्वती कन्या अर्थात् कमनीया है, वह कामना करने के योग्य है। उसमें अनेक ऐसे उपयोगी और सुन्दर गुण हैं जिनके कारण वह चाहने के योग्य बन जाती है। सब लोग उसे चाहने लगते हैं राष्ट्र में सब लोग उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। राष्ट्र में उसकी स्थापना की जाती है और वह राष्ट्र का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो जाती है। वह चित्रायु है। वह अद्भुत आयु देती है। ऐसी सुख-सौभाग्य से पूर्ण स्वस्थ और दीर्घ आयु अर्थात् जीवन देती है जो अपने आप में अद्भुत हो, निराली हो। उसके द्वारा सिखाये गये ज्ञान-विज्ञानों की सहायता से हम ऐसी अद्भुत आयु प्राप्त कर लेते हैं। वह आयु अर्थात् अन्न भी अद्भुत प्रदान करती है। उसके द्वारा सिखाये ज्ञान-विज्ञानों के प्रयोग से राष्ट्र में माँति-माँति के उत्तमोत्तम पौष्टिक और मधुर रस वाले अनाज और फल उत्पन्न किये जाने लगते हैं। आयु का अर्थ वेद में मनुष्य भी होता है।⁷ आयु के इस अर्थ में भाव यह होगा कि सरस्वती राष्ट्र को अद्भुत गुणों वाले मनुष्य भी तैयार करके देती है। उसके द्वारा प्रचरित की गई शिक्षाओं और ज्ञान-विज्ञानों के प्रयोग से राष्ट्रवासी निरन्तर अपनी मानव-जाति को सभी दृष्टियों से उत्तरोत्तर उन्नत करने का प्रयत्न करते रहते हैं। जिससे राष्ट्र में अगली-अगली पीढ़ी के लोग अधिक स्वस्थ, अधिक बलिष्ठ, अधिक सुन्दर, अधिक बुद्धिमान्, अधिक विद्वान् और अधिक सदाचारी बनते चले जाते हैं। और इस प्रकार मानव जाति निरन्तर श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होती जाती है। सरस्वती

1 पावीरवी शोघयित्रीति सायणः। ऋषिर्दयानन्दोपि।

2 चित्रमायुरन्नं वा यस्याः। आयुरिति अन्ननामसु पठितम्।

निघ० 2.7 ; चित्रगमना चित्रान्ना वेति सायणः।

3 यद्वा वीराणां पालयित्री इति सायणः।

4 दद्यातु धारयतु ददातु वा। इति सायणः।

5 छन्दांसि वै ग्नाः। तै० सं० 5.1.7.2 ; ग्ना इति वाङ्मनामसु पठितम्। निघ० 1.11।

6 प्रयच्छतु इति सायणः।

7 आयवः मनुष्यनामसु पठितम्। निघ० 2.3.

की इस प्रकार की व्यवस्थाओं के कारण ही राष्ट्र में वीरों की रक्षा होती है। अर्थात् राष्ट्र में वीर पुरुष उत्पन्न किये जाते हैं और उनकी रक्षा और पालना की जाती है जिससे कोई शत्रु हमारे राष्ट्र की ओर टेढ़ी आँख से न देख सके। सरस्वती 'गनाभिः सजोषाः' है, वेदवाणियों और तदुपलक्षित विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से ओतप्रोत शास्त्रों की वाणियों के साथ मिलकर रहने वाली है। वह स्वयं भी ज्ञान-विज्ञान से भरे वेदादि शास्त्रों और तदुपलक्षित अन्य शास्त्रों का परिशीलन करने वाली है और राष्ट्र में भी इन सब शास्त्रों के पठन-पाठन की व्यवस्था करती रहती है। सरस्वती हमें ऐसा निवास प्रदान करती है जिससे कोई छिद्र अर्थात् कोई कमी न हो। हमें ऐसे निवास-गृह प्रदान करती है जिनमें किसी प्रकार की न्यूनता न हो। वे देखने में सुन्दर लगें, सरदी, गरमी और वर्षा आदि के विघ्न जिनमें रहने वालों को कष्ट न दे सकें, ऐसे निवास-गृह वह हमें रहने के लिए देती है। उनमें रहते हुए कोई भी हमारे विरोधी हमें तंग न कर सकें ऐसी व्यवस्था भी वह करती है। वह हमारे जीवनो को भी ऐसे सुख-आनन्द से भरपूर कर देती है जिसमें किसी प्रकार की कमी न हो। यह सब कुछ हमें सरस्वती के द्वारा सिखाये गये भक्ति-भक्ति के ज्ञान-विद्वानों और उनकी शिक्षा से उत्पन्न हुई उत्कृष्ट बुद्धि और उसके द्वारा किये गये भक्ति-भक्ति के उत्कृष्ट कर्मों के कारण प्राप्त होती है।

कन्या का प्रसिद्ध अर्थ बालिका यहाँ नहीं लिया जा सकता क्योंकि सरस्वती के जो कार्य इस और अन्य वेद मन्त्रों में बताये गये हैं, उन्हें कोई बालिका नहीं कर सकती। प्रौढ़ व्यक्ति ही वैसे कार्य कर सकता है। इसलिए हमने यहाँ कन्या शब्द का यौगिक अर्थ कमनीय गुणों वाली ऐसा कर दिया है। बालिका अर्थ में भी कन्या को कन्या इसलिए कहा जाता है कि उसमें रूप-सौन्दर्य आदि अनेक कमनीय गुण होते हैं। सरस्वती को मन्त्र में जो वीर-पत्नी कहा गया है उसका यह अर्थ भी हो सकता है कि वह वीर पति वाली है। इस अर्थ से यह व्यंजना भी निकलेगी कि वह गृहस्थ है। कन्या और वीर पत्नी शब्दों से यह व्यंजना भी निकलेगी कि वह स्त्री है।

इस मन्त्र में भी सरस्वती का जो वर्णन किया गया है वह जल की जड़ धारा वाली किसी नदी में संगत नहीं हो सकता। वह किसी चेतन में ही संगत हो सकता है। सरस्वती के इस वर्णन से भी सरस्वती के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है।

लोहे का दुर्ग सी सरस्वती

एक स्थान पर सरस्वती के लिए ऋग्वेद में कहा गया है कि वह—

घरुणमायसी पूः ।

ऋ० 7.95.1.

अर्थात्—'सरस्वती हमारी रक्षा का साधन (घरुण) लोहे की बनी हुई (आयसी) नगरी या दुर्ग (पूः) है।'।

शत्रुओं से नगरों की रक्षा करने के लिए उनके चारों ओर ईंट-पत्थर आदि के

दुर्ग बनाये जाते हैं। यदि किसी नगर के चारों ओर लोहे का दुर्ग बना दिया जाये तो वह शत्रुओं के लिए और भी अधिक दुर्मेघ हो जायेगा। जैसे लोहे के प्राचीर या दुर्ग नगरों की रक्षा के दुर्मेघ साधन होते हैं वैसे ही लोगों की रक्षा के लिए सरस्वती भी एक लोहे का दुर्मेघ दुर्ग है। जिन लोगों की सरस्वती रक्षा करती है उन्हें कभी कोई पराजित नहीं कर सकता। वह भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों की शिक्षा का प्रबन्ध करके, जिनमें शत्रुओं के आक्रमणों से प्रतिरक्षा करने सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान भी सम्मिलित हैं, राष्ट्रवासियों को ऐसे उपाय और साधन बता देती है जिनका अवलम्बन करने से राष्ट्र ऐसा शक्तिशाली और दुर्दमनीय बन जाता है कि शत्रु स्वप्न में भी उसे तिरछी आँख से देखने का साहस नहीं कर सकते। सरस्वती का यह काव्यमय आलंकारिक वर्णन उसके राष्ट्र के लिए महत्त्व और उपयोगिता पर एक विशेष प्रकाश डालता है।

यह सरस्वती का वर्णन किसी जड़ नदी-विशेष पर संगत नहीं हो सकता। यह किसी चेतन विदुषी शिक्षिका स्त्री पर ही संगत हो सकता है। वह स्त्री किस प्रकार की है यह हम अभी सरस्वती के ऊपर उल्लिखित सारे वर्णनों के आधार पर जो निष्कर्ष निकालेंगे उसमें स्पष्ट हो जायेगा। जिस सूक्त का यह उद्धरण है उसके सभी मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार से स्त्री-परक किया जा सकता है।

सरस्वती का अपना विशिष्ट स्वरूप

सरस्वती के वर्णन में ऊपर जो मन्त्र उद्धृत किये गये हैं उनमें उसके सम्बन्ध में मुख्य रूप से ये बातें कही गई हैं—वह भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों से युक्त है और उन ज्ञान-विज्ञानों को देने की, सिखाने की, इच्छा और क्रिया करती रहती है, वह वाणी को और उसके समाविष्ट समग्र साहित्य और ज्ञान-विज्ञान को नियन्त्रित करती है अर्थात् उसके प्रचार-प्रसार और पठन-पाठन की सब व्यवस्था उसके निरीक्षण, नियन्त्रण और नियम-व्यवस्था के अधीन चलती है, वह जनता में ज्ञान-समुद्र का प्रसार करती है, वह लोगों की धी अर्थात् प्रज्ञा को सिद्ध करती है अर्थात् भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों की शिक्षा का प्रबन्ध करके लोगों की बुद्धियों को तीक्ष्ण और सदसत् का विवेक करने वाली बनाती है। वह धी अर्थात् कर्मों को भी सिद्ध करती है अर्थात् सीखे गये ज्ञान-विज्ञान के अनुसार भाँति-भाँति के उपयोगी कार्य करना भी सिखाती है। भाव यह है कि वह नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों की सैद्धान्तिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था करती है और उनसे जीवनोपयोगी व्यावहारिक उपयोग लेने की शिक्षा देने का प्रबन्ध भी करती है। वह इस प्रकार लोगों को बुद्धि प्रदान करती है और उसकी रक्षा करती है। वह लोगों को पवित्र बनाती है अर्थात् सदाचार की शिक्षा का प्रबन्ध करके लोगों के जीवन को निष्पाप, निर्मल और शुद्ध बनाती है। वह लोगों को सूनृता अर्थात् सत्य और मधुर वाणी बोलना सिखाती है अर्थात् ऐसी

शिक्षा की व्यवस्था करती है जिससे लोग सत्यभाषी और मधुरभाषी बन जायें। वह हमारी मतियों को सुमति बनाती है। वह वीरपत्नी है। वह शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करती है जिसके कारण सब राष्ट्रवासी वीर बन जाते हैं, प्रचण्ड पराक्रमी बन जाते हैं, अपने व्यक्तिगत और राष्ट्र के अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाले बन जाते हैं। उन्हें कोई डरा नहीं सकता, धमका नहीं सकता और दबा नहीं सकता। इस प्रकार सरस्वती राष्ट्र में सर्वश्रेष्ठ शिक्षा की व्यवस्था करके राष्ट्र के लोगों द्वारा चलाये जा रहे नाना प्रकार के संगठनों की और अन्त में स्वयं राष्ट्र रूप महासंगठन की रक्षा और उन्नति करती है।

उद्धृत मन्त्रों में सरस्वती का यह रूप चित्रण करने के साथ ही ऊपर उद्धृत यजु० 9.30 मन्त्र में उसके विषय में यह भी कहा गया है कि वह सभ्राट् के नियन्त्रण में रहकर अपने कार्य करती है। ऋग्० 8.38.10. मन्त्र में यही बात एक और प्रकार से कही गई है। वहाँ इन्द्र को 'सरस्वतीवान्' अर्थात् सरस्वती वाला कहा गया है। इन्द्र के इस विशेषण से यह सूचित होता है कि जिस प्रकार इन्द्र के पास वरुण, मित्र, पूषा, सोम और अर्यमा आदि अन्य प्रमुख राज्याधिकारी या मन्त्री रहते हैं उसी प्रकार सरस्वती भी उसका एक प्रमुख राज्याधिकारी है।

सरस्वती के इन सारे वर्णनों को ध्यान में रखकर देखने पर उसका जो स्वरूप हमारे मन में उभरता है वह उस प्रकार का है जैसाकि आजकल की परिभाषा में शिक्षा-मन्त्री कहे जाने वाले प्रमुख राज्याधिकारी का होता है।

पीछे हमने सूर्य को शिक्षामन्त्री दिखाया है। यहाँ हम सरस्वती को शिक्षा-मन्त्री दिखा रहे हैं। यह बात कैसी? सरस्वती शब्द का स्त्रीलिंगी शब्द होना इसका समाधान कर देता है। सूर्य सामान्य शिक्षा का मन्त्री है। और सरस्वती स्त्रियों की शिक्षा की मन्त्री है। स्त्रियों की अनेक समस्याएँ और आवश्यकताएँ पुरुषों की समस्याओं और आवश्यकताओं से बहुत भिन्न प्रकार की होती हैं। यदि स्त्रियों की शिक्षा का संचालन करने वाला विभाग पृथक् हो और उसका प्रबन्ध, निरीक्षण और नियन्त्रण करने वाला मन्त्री कोई स्त्री हो तो यह स्त्रियों की शिक्षा की दृष्टि से बहुत उपयुक्त और श्रेयस्कर होगा।

सरस्वती के वर्णनों में कुछ बातें ऐसी भी कही गई हैं जो सामान्य जन-शिक्षा पर भी लगती हैं। उस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था तो सम्पूर्ण शिक्षा-क्षेत्र में ही की जानी चाहिए।

माँ सरस्वती

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व वेद के निम्न मन्त्र पर भी दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा—

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।

अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥ ऋग्० 2.41.16.

अर्थात्—‘(अम्बितमे) सर्वश्रेष्ठ माता (नदीतमे)¹ ज्ञान की सर्वश्रेष्ठ घोषणा करने वाली (देवितमे) दिव्य गुणों वाली सर्वश्रेष्ठ विदुषी (सरस्वती) हे सरस्वती, हम (अप्रशता इव) अप्रस्त जैसे (स्मसि) हैं (अम्ब) हे माता तू (न.) हमारे लिये (प्रशस्ति) प्रशस्ति (कृधि) कर दे ।’

हम अप्रशस्त हैं । प्रशंसनीय श्रेष्ठ गुणों से रहित हैं । ‘अप्रशस्त’ शब्द के साथ उपमावाचक ‘इव’—जैसे—शब्द के प्रयोग की यह व्यंजना है कि हम अप्रशस्तों जैसे हैं, कोई एक-आध प्रशस्त, प्रशंसनीय गुण हम में हो तो भले ही हो । हे माँ सरस्वती हम तेरे पास आये हैं । तू हमें प्रशस्ति प्रदान कर । हमें प्रशंसनीय गुणों वाला बना दे । हमारी अप्रशस्ति, गुणहीनता, दूर करके हमें प्रशस्ति से, प्रशंसनीय गुणवत्ता से युक्त कर दे । हम अश्रेष्ठ हैं, हमें श्रेष्ठ बना दे । सरस्वती हमारे दुर्गुणों को दूर करके हमें गुणशाली कैसे बनायेगी ? सरस्वती नदीतमा है, ज्ञान-विज्ञान की घोषणा करने वाली है, उसका प्रचार-प्रसार करने वाली है । वह देवीतमा है, दिव्य गुणों वाली विदुषी है । वह ज्ञान-प्रसार द्वारा दिव्य गुणों की शिक्षा देकर हमारे दुर्गुणों को दूर करके हमें गुणवान बना देगी । फिर वह अम्बितमा है । हमारी सर्वश्रेष्ठ माता है । वह हमसे असीम प्यार करती है । हमारे प्रति असीम स्नेह से भरी होने के कारण वह हमारे दुर्गुणों को दूर करके हमें गुणवान बनाने में विशेष रुचि लेगी और विशेष प्रयत्न करेगी ।

गुरु-शिष्य सम्बन्धों का स्नेहसिक्त आदर्श

मन्त्र में सरस्वती को जो माता के वाचक अम्बी और अम्बा शब्दों से विशेषित किया गया है उसका शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है । शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाली स्त्रियों को अपने छात्रों के प्रति माता की वात्सल्यभरी दृष्टि रखनी चाहिए । अपने छात्रों से माता जैसा गहरा प्रेम रखना चाहिए । उन्हें अपने आपको छात्रों की माता ही समझना चाहिए । प्रत्युत माता से भी अधिक समझना चाहिए । सरस्वती को माता कहने का उपलक्षितार्थ यह भी है कि शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले पुरुषों को भी छात्रों के प्रति पिता की सी स्नेहसिक्त बुद्धि रखनी चाहिए । इस प्रकार गुरुओं और शिष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध पिता और पुत्र का तथा माता और पुत्र का सा निकट का और प्रेम से आप्लावित होना चाहिए । तभी शिक्षा का सही उद्देश्य प्राप्त हो सकता है ।

सरस्वती के इन और ऐसे ही अन्य वर्णनों द्वारा वेद ने यह चोतित किया है कि राष्ट्र में इस प्रकार का स्त्री-शिक्षा का विभाग भी होना चाहिए ।

¹ नद्यः कस्मात् ? नवना इमा भवन्ति शब्दवत्यः । निघ० 2.7.24.

नदः स्तोतृनाम । निघ० 3.16 ।

नदति अर्चतिकर्मा । निघ० 3.14 ।

ऋषिर्णदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः । निघ० 5.1.2.

सरस्वती पद की निरुक्ति की संगति

सरस्वती शब्द 'सरस्' शब्द से तद्धित 'मतुप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'सरस्' गत्यर्थक 'सृ' धातु से, जोकि ज्ञानार्थक भी होती है, औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है और ज्ञान का वाचक भी हो जाता है। जो भाँति-भाँति के 'सरस्' अर्थात् ज्ञानों से युक्त हो वह सरस्वती¹ कही जायेगी। इस प्रकार सरस्वती पद की निरुक्ति भी उसके स्त्री-शिक्षा विभाग के मंत्री अर्थ में चरितार्थ हो जाती है।

17. पर्वत : पर्वत-सुरक्षा विभाग का मंत्री

पर्वत का मानव और राजा रूप

पर्वत भी इन्द्र का एक सहचारी देव है। वेद में स्थान-स्थान पर इन्द्र के सहचारी के रूप में पर्वत के वर्णन आये हैं। वरुण, मित्र, सविता और अर्यमा आदि अन्य देवताओं की भाँति पर्वत को भी वेद में इन्द्र के सहचारी के रूप में चित्रित किया गया है। पर्वत को इन्द्र के साथ असमस्त रूप में भी वर्णित किया गया है और 'इन्द्रापर्वता'² इस रूप में द्वन्द्व समास से समस्त रूप में वर्णित किया गया है। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी के रूप में पर्वत का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा यह हमें देखना है। जैसाकि हम देखते आ रहे हैं इन्द्रादि सभी देवों को वेद में सामूहिक रूप में 'आदित्याः', 'विश्वेदेवाः' और 'देवाः' नामों से वर्णित किया गया है तथा उनके लिए 'नरः' और 'मनुष्यः' आदि मनुष्यवाचक नामों का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार देवों में एक देव होने के कारण पर्वत भी मनुष्य बन जाता है। पर्वत के लिए तो एक स्थान पर 'नरः³ पर्वतासः' (ऋग्० 3.35.8) ऐसा कहकर सीधा ही मनुष्य वाचक 'नृ' शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। इसी प्रकार देवों के लिए सामूहिक रूप में 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का प्रयोग भी वेद में किया गया है। देवों के लिए इन राजा के वाचक शब्दों के प्रयोग से पर्वत राजा भी बन जाता है। इस प्रकार वेद में पर्वत का एक रूप मनुष्य और राजा का भी हो जाता है। और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में पर्वत का यह अर्थ संगत हो सकता है और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें दीखने लगती हैं। हम निरन्तर देखते आ रहे हैं कि वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र ही है। इसलिए पर्वत के लिए राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया समझना चाहिए। पर्वत अपने विभाग के कार्यों को इन्द्र के

¹ सरति गुरोः शिष्यं प्रति गच्छति इति सरः विविध प्रकारकं ज्ञानम्। सरः यस्यामस्ति इति सरस्वती।

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 3.53.1, 1.122.3, 1.132.6 ; यजु० 8.53।

³ नृ शब्दस्य प्रथमावहुवचने रूपम्।

देवमाला : मन्त्रिमण्डल

निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर करेगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा इसलिए वह एक प्रकार से इन्द्र या सम्राट् ही होगा ।

पर्वत शब्द के अर्थ

पर्वत शब्द की व्याकरण की प्रक्रिया से दो प्रकार से सिद्ध की जाती है । एक तो इसे पूरणार्थक 'पर्व' धातु से औणादिक 'अतच्' (उणा० 3.110) प्रत्यय करके सिद्ध किया जाता है । जो अनेक वस्तुओं से पूर्ण हो और लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करे वह पर्वत । पर्वत अनेक प्रकार की चीजों से परिपूर्ण होते हैं और उनके द्वारा लोगों की नाना प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं इसलिए उन्हें पर्वत कहा जाता है । दूसरे इस शब्द को 'पर्वन्' शब्द से तद्धित 'तप्' प्रत्यय¹ करके सिद्ध किया जाता है । जो पर्व वाला हो वह पर्वत ।² पर्व शब्द पालन और पूर्णार्थक 'पू' धातु से औणादिक 'वनिप्' (उणा० 4.113) प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है । जो पालन और पूर्ण करने वाला हो वह 'पर्व' कहा जायेगा । पर्व के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं । एक तो गन्ने, बाँस आदि की गाँठें या पोरियाँ और दूसरा अमावस्या और पूर्णमासी आदि पर्व या त्यौहार । गाँठें या पोरियाँ बाँस आदि को पूरा करती हैं इसलिए पर्व कही जाती हैं । त्यौहारों के अवसरों पर लोग भाँति-भाँति के पौष्टिक और स्वादिष्ट भोजन करते हैं जिनसे उनकी पालना और पूर्ति होती है इसलिए उन्हें पर्व कहते हैं । वेद में पर्वत शब्द अनेक स्थानों पर पहाड़ और बादलों के अर्थ में प्रयुक्त होता है । निघंटु और निरुक्त में यास्क ने पर्वत के ये दोनों अर्थ किये हैं ।³ पहाड़ और बादल दोनों ही पर्व वाले होते हैं । वे पर्व अर्थात् छोटे-छोटे खण्डों से मिलकर बने होते हैं । ये छोटे-छोटे खण्ड ही मिलकर उन्हें पूरा पहाड़ या बादल बनाते हैं जैसे कि गन्ने की पोरियाँ या पर्व मिलकर उसे पूरा गन्ना बनाती हैं । पर्वत शब्द की ऊपर दी गई पहली व्युत्पत्ति के अनुसार पहाड़ इसलिए पर्वत है कि वे नाना प्रकार की बहुमूल्य वस्तुओं से पूर्ण होते हैं और उनके द्वारा लोगों की अनेक प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं । और बादल इसलिए पर्वत है कि वे जलों से पूर्ण होते हैं और उनके द्वारा लोगों की जल-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं । सायणाचार्य ने कहीं-कहीं पर्वता का अर्थ वज्र भी किया है । वज्र भी अनेक पर्व या अवयवों से मिलकर बना होता है और शत्रुओं को पराजित करने की हमारी आवश्यकता को पूरा करता है इसलिए वह भी पर्वत है । ऋषि दयानन्द ने पर्वत शब्द के योगिक अर्थ को ध्यान में रखकर उसके ज्ञान और ब्रह्मचर्य आदि और भी कई अर्थ अपने वेद-भाष्य में स्थान-

¹ अष्टा० 5.2.121 ; सूत्रस्योपरि तप्पर्वमरुद्भ्याम् इति वार्तिकेन पर्वशब्दात् तप्प्रत्ययः ।

² पर्ववान् पर्वतः । पर्व पुनः पूषातेः प्रीणातेर्वा । अर्धमास पर्व, देवान् अस्मिन् प्रीणन्तीति । तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात् । निघ० 1.20.

³ पर्वत इति मेघनामसु पठितम् । निघ० 1.10 ;

भिरिः पर्वतः । निघ० 1.20.

स्थान पर किये हैं ।

पर्वतों के इन अर्थों के अतिरिक्त उसका एक अधिराष्ट्र अर्थ भी हो सकता है । वह अर्थ क्या है यह हम अभी आगे देखेंगे ।

पर्वतों से मिलने वाले लाभ

वेद में अनेक स्थानों पर सामान्य पर्वतों या पहाड़ों का वर्णन करते हुए उनसे प्राप्त होने वाले अनेक प्रकार के लाभों की ओर संकेत किया गया है । पर्वत का अधिराष्ट्र अर्थ देखने से पहले पर्वतों से मिलने वाले कुछ लाभों पर दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा । इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये—

1. पर्वतस्तत् चनो धात् । ऋग्० 6.49.14.
2. पर्वतं न भोजसे । ऋग्० 1.55.3.
3. गिरि न पुरुभोजसम् । ऋग्० 8.88.2;
अथ० 20.9.2; 20.49.5.
4. वसुमन्तं वि पर्वतम् । ऋग्० 2.24.2.
5. पर्वतं गिरि शतवन्तं सहस्रिणम् । ऋग्० 8.64.5.
6. आ रायो यन्तु पर्वतस्य रातौ । ऋग्० 7.37.8.
7. प्रवत्वन्तः पर्वता जीरदानवः । ऋग्० 5.54.9.
8. तन्नो रायः पर्वताः परि पासत । ऋग्० 7.34.23.
9. पर्वतस्येव धाराः । ऋग्० 3.57.6.
10. आपो न पर्वतस्य पृष्ठात् । ऋग्० 6.24.6.
11. वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः ।
ऋग्० 3.54.20.
12. पर्वतेषु भेषजम् । ऋग्० 8.20.25.
13. ये पर्वताः सोमपृष्ठाः । अथ० 3.21.10.
14. या रोहन्ति पर्वतेषु समेषु च । अथ० 8.7.17.
15. गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दन्नाणि पुरुभोजसः ।
ऋग्० 8.49.2; अथ० 20.51.2.
16. निराविध्यद्गिरिभ्य आ धारयत् पक्वमोदनम् ।
ऋग्० 8.77.6.
17. नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे । अथ० 4.36.5.
18. तुजे नस्तने पर्वताः सन्तु स्वैतवो ये वसवो न वीराः ।
ऋग्० 5.41.9.

इनमें से प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि पर्वत हमें भाँति-भाँति के अन्न (चनः) प्रदान करें । दूसरे उद्धरण में उपमा से कहा गया है कि जिस प्रकार पर्वत भोजन देता

है (भोजसे)¹ । तीसरे उद्धरण में फिर उपमा से कहा गया है कि पर्वत (गिरि) जिस प्रकार बहुत भोजन देता है । चौथे उद्धरण में पर्वत को वसुमान् अर्थात् विविध प्रकार की धन-संपत्ति से युक्त कहा गया है । पाँचवें उद्धरण में पर्वत (गिरि) को सैंकड़ों और हजारों प्रकार की धन-संपत्ति से युक्त कहा गया है । छठे उद्धरण में प्रार्थना है कि पर्वत के दान से हमें नाना प्रकार के धन-ऐश्वर्य (रायः) प्राप्त हों । सातवें उद्धरण में पर्वतों को शीघ्र ऐश्वर्य देने वाला (जीरदानवः)² कहा गया है । आठवें उद्धरण में पर्वतों से कहा गया है कि वे हमारे लिए धनों की (रायः) रक्षा करें । नवें उद्धरण में उपमा से कहा गया है कि जिस प्रकार पर्वत से जल की धारायें (धारा) निकलती हैं । दसवें उद्धरण में उपमा से कहा गया है कि जिस प्रकार पर्वत पर से पानी (आपः) बहकर आते हैं । ग्यारहवें उद्धरण में पर्वतों को नाना प्रकार के मंगलों की वर्षा करने वाले (वृषणः), स्थिर रूप से कल्याण देने वाले (ध्रुवक्षेमासः) और अन्न देकर (इळया) आनन्दित करने वाली (मदन्तः) कहा गया है । बारहवें उद्धरण में कहा गया है कि पर्वतों में नाना भाँति की ओषधियाँ (भेषजम्) उत्पन्न होती हैं । तेरहवें उद्धरण में कहा गया है कि पर्वतों पर सोम नामक महौषधि उगती है (सोमपुष्ठाः) । चौदहवें उद्धरण में ओषधियों के लिए कहा गया है कि जो ओषधियाँ पर्वतों और समस्थलों में उगती हैं । पन्द्रहवें उद्धरण में उपमा से कहा है कि जिस प्रकार बहुत भोजन देने वाले (पुरुभोजसः) पर्वत (गिरेः) से निकलने वाले जल (रसाः) और सुवर्ण आदि रत्न (दन्नाणि)³ लोगों को तृप्त करते हैं (पिन्विरे) । सोलहवें उद्धरण में कहा गया है कि इन्द्र (सम्राट्) पर्वतों से पके हुए (पक्वं) धान को (ओदनम्) बाहर निकालता है (निराविध्यत्) और लोगों के कल्याण के लिए उसे धारण करता है (आ धारयत्) अर्थात् सँभाल कर रखता और देता है । ओदन भोजन के लिए पकाये गये चावलों को कहते हैं यहाँ यह अर्थ संगत नहीं हो सकता । इसलिए हमने यहाँ लक्षणा से ओदन का अर्थ ओदन का मूल कारण धान कर दिया है । पके हुए का तात्पर्य यहाँ खेत में पके हुए समझना चाहिए । सत्रहवें उद्धरण में कहा गया है कि नदियों और पर्वतों में जो पशु रहते हैं मैं उन्हें जानता हूँ (संविदे)⁴ अर्थात् प्राप्त करता हूँ । अठारहवें उद्धरण में कहा गया है कि जो पर्वत भाँति-भाँति के कल्याणकारी पदार्थ देकर लोगों को बसाने वाले (वसवः)⁵ हैं, जो पराक्रमी वीरों की भाँति रक्षा करने वाले हैं (वीराः न) वे पर्वत हमारे पुत्रों (तुजे)⁶ और पौत्रों (तने) के लिए सुगमता से प्राप्त होने वाले (स्वैतवः)⁷

1 भोजनाय इति सायणः ।

2 क्षिप्रदाना इति सायणः ।

3 हिरण्यादीनि रत्नानि । दन्तम् इति हिरण्यनामसु पठितम् । निष० 1.2.

4 संजाने प्राप्नोमीत्यर्थः । इति सायणः ।

5 वासयितार इति सायणः ।

6 अथवा तुजे पुत्रे तने तत्पुत्रे च इति सायणः ।

7 शोभनगमना इति सायणः । शोभन एतुः गमनं प्राप्तिर्येषां त इति भावः ।

हों; अर्थात् हमारे पुत्र और पौत्र इन पर्वतों से सुगमतापूर्वक ऐश्वर्य प्राप्त कर सकें ।

इन सब उद्धरणों में जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यह है कि पर्वतों से धान आदि नाना प्रकार के अन्न प्राप्त होते हैं जिनसे अनेक लोगों को भोजन प्राप्त होता है । पर्वतों से सुवर्ण आदि मूल्यवान् धातुयें प्राप्त होती हैं । इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों और हजारों प्रकार की धन-सम्पत्ति प्राप्त होती हैं अर्थात् अनेक प्रकार के मणिमाणिक्य प्राप्त होते हैं, संगमरमर आदि पत्थर प्राप्त होते हैं, चूने के पत्थर प्राप्त हैं, उनसे प्राप्त होने वाले सामान्य पत्थर भी घर, सड़कें और बाँध आदि निर्माण में काम आने के कारण बड़े मूल्यवान् होते हैं । पर्वतों पर उगने वाले जंगलों से नाना प्रकार की लकड़ी प्राप्त होती है जो हमारे घरों और जहाजों आदि के निर्माण के काम में आने के कारण एक अमूल्य संपदा होती है । पर्वतों से विविध प्रकार के मधुर और पुष्टि-प्रद फल प्राप्त होते हैं । पर्वतों में सोम आदि नाना प्रकार की औषधियाँ उगती हैं जिन्हें प्राप्त करके कुशल चिकित्सक नाना प्रकार के रोगों के निवारण के काम में लाते हैं और इस प्रकार रोग-पीड़ित जनता के दुःखों को दूर करते हैं पर्वतों में हाथी, हरिण आदि नाना भाँति के पशु भी होते हैं जिनकी खाल और हड्डियाँ आदि अनेक प्रकार के उपयोग में आती हैं । पर्वतों से असंख्य जल-धारायें और नदियाँ निकलती हैं जिनके पानी से नहरें निकाल कर राष्ट्र में खेती की सिंचाई की जाती है, जिससे लोगों को भाँति-भाँति के गेहूँ, चना, चावल, ज्वार, बाजरा और मकई आदि अनाज प्राप्त होते हैं, उड़द, मूँग, मसूर, अरहर आदि दालें प्राप्त होती हैं, तिल और सरसों आदि प्राप्त होते हैं जिनसे हम तरह-तरह के तेल प्राप्त करते हैं । पर्वतों से निकलने वाली जल-धाराओं के पानी से सिंचित खेती से कपास और पटसन आदि कीमती पदार्थ भी प्राप्त होते हैं जिनसे हमारी वस्त्रों आदि की भाँति-भाँति की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है । इनसे मिलने वाले पानी से सिंचित खेतों में ईख उत्पन्न होता है जिसके रस से नाना प्रकार के मधुर भोज्य पदार्थ बनते हैं । इन जल-धाराओं से प्राप्त पानी से सिंचित बाग-बगीचों से हमें नाना प्रकार के स्वादिष्ट और रसीले फल प्राप्त होते हैं । इस प्रकार अनेक प्रकार से पर्वत राष्ट्र के लोगों को विविध प्रकार के बहुमूल्य और सुख-मंगलदायक पदार्थ प्रदान करके उनका स्थिर रूप से क्षेम-साधन करते हैं, कल्याण साधन करते हैं ।

वस्तुतः किसी भी राष्ट्र का समग्र जीवन ही पर्वतों पर निर्भर करता है । पर्वतों से जो पदार्थ सीधे रूप में प्राप्त होते हैं उन पर तो लोगों का जीवन बहुत अंशों में निर्भर करता ही है, उनसे निकलने वाली जल-धाराओं से प्राप्त होने वाले पानी से खेती करके लोग जो खाद्य-सामग्री और अन्य सम्पदा प्राप्त करते हैं, जिसकी ओर अभी ऊपर की पंक्तियों में संकेत किया गया है, वह भी पर्वतों की ही असल में देन है जिसके बिना राष्ट्र के लोग एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते । पर्वतों में होने वाली वर्षा और उन पर जमने वाली बर्फ के पानी से जहाँ नदियाँ प्रवाहित होती हैं जिनसे नहरें निकाली जाती हैं वहाँ घरती में खोदे गये कूप भी पर्वतों पर ही निर्भर करते हैं ।

पर्वतों का वर्षा और बर्फ का पानी बड़ी मात्रा में रिस कर घरती में नीचे गहरा चला जाता है और उसके कारण घरती के भीतर जल की धारायें बहने लगती हैं। घरती के भीतर की इन धाराओं का ही पानी हमें कुओं के जल के रूप में मिलता है। यदि पर्वत न हों तो हमें न तो नहरों का ही पानी मिल पाये और न ही कुओं का। हम खेती भी न कर सकें और हमें पीने को भी पानी न मिल सके। पर्वत वर्षा होने में भी कारण बनते हैं यदि पर्वत न हों तो देश में वर्षा भी भली-भाँति नहीं हो सकती। इस प्रकार पर्वतों का प्राणीमात्र के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

पर्वतों की सुरक्षा

जब पर्वतों का राष्ट्र के जीवन और उसकी समृद्धि में इतना अधिक महत्वपूर्ण स्थान है तो राज्य का भारी कर्तव्य हो जाता है कि वह पर्वतों की पूरी देखभाल और सुरक्षा की व्यवस्था करे। वेद में इन्द्र (सम्राट्) के कुछ ऐसे वर्णन और विशेषण आते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि सम्राट् पर्वतों की देखभाल और सुरक्षा की ओर पूरा ध्यान देता है। इस सम्बन्ध में निम्न उद्धरण देखिये—

1. इन्द्र इत् पर्वतानाम् (ईंशे) । ऋग्० 10.89.10.
2. पर्वतेष्ठां । ऋग्० 6.22.2; अथ० 20.36.2.
3. गिरिष्ठाः । यजु० 18.71; अथ० 7.89.3.
4. पीयूषमपिबो गिरिष्ठां । ऋग्० 3.48.2.

इनमें प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि 'इन्द्र ही पर्वतों का ईश्वर है (ईंशे) 'इन्द्र' को पर्वतों का ईश्वर कहने का भाव यह है कि पर्वत इन्द्र का ऐश्वर्य है और इन्द्र उनका ईश्वर है, उनका स्वामी है। दूसरे शब्दों में पर्वत इन्द्र (सम्राट्) की सम्पत्ति है और इन्द्र उस सम्पत्ति का स्वामी है। किसी भी सम्पत्ति का स्वामी सदा अपनी सम्पत्ति की देख-भाल रखता है, उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करता है। पर्वतों का ईश्वर या स्वामी होने के कारण इन्द्र भी स्वभावतः अपनी इस सम्पत्ति की देख-भाल रखेगा और इसकी सुरक्षा की व्यवस्था करेगा। इस प्रकार इन्द्र को पर्वतों का ईश्वर या स्वामी कहकर वेद ने व्यंजना से यह कह दिया है कि इन्द्र (सम्राट्) पर्वतों की देख-भाल और सुरक्षा की व्यवस्था करता रहता है। दूसरे उद्धरण में इन्द्र को 'पर्वतेष्ठाः' अर्थात् पर्वत में रहने वाला कहा गया है। तीसरे उद्धरण में इन्द्र को 'गिरिष्ठाः' कहकर यही बात कही गई है। गिरि शब्द भी पर्वत का वाचक होता है। इन्द्र पर्वत में रहता है इस कथन का भाव यह है कि वह अपनी शासन-व्यवस्था के रूप में वहाँ रहता है। इन्द्र (सम्राट्) के लिए स्वयं शारीरिक रूप से पर्वत में रहना संभव नहीं हो सकता। वह तो राष्ट्र की राजधानी में रहेगा। कभी-कभी पर्वत की यात्रा पर चला जाये तो दूसरी बात है। इन्द्र की शासन-व्यवस्था सदा वहाँ रहेगी। इन्द्र (सम्राट्) द्वारा नियुक्त प्रशासक लोग वहाँ रहेंगे और पर्वतों की निरन्तर देख-भाल और सुरक्षा की व्यवस्था करेंगे। इन्द्र को 'पर्वतेष्ठाः' और 'गिरिष्ठाः' कहकर

यह बताया है कि उसे पर्वतों का सदा ध्यान रखना चाहिए और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। उसे पर्वतों की देखभाल और सुरक्षा की इतनी तत्परता से व्यवस्था करनी चाहिए कि कहा जा सके कि मानो इन्द्र स्वयं ही उनकी देखभाल के लिए वहाँ निवास कर रहा है। चौथे उद्धरण में इन्द्र से कहा गया है कि 'हे इन्द्र तुम गिरि अर्थात् पर्वतों में रहने वाले (गिरिष्ठां) अमृत का (पीयूषं) पान करते हो।' अमृत से अभिप्राय पर्वतों में उगने वाली सोम ओषधियों और वहाँ से प्राप्त होने वाले सुख-मंगलदायक अन्य बहुमूल्य-पदार्थों से है। इन्द्र (सम्राट्) पर्वतों की देखभाल और सुरक्षा की व्यवस्था करके वहाँ से जन-कल्याणकारी अमृत जैसे अनमोल पदार्थ प्राप्त करता है। इन्द्र के इस वर्णन से भी उसके द्वारा पर्वतों की देखभाल और सुरक्षा किये जाने की स्पष्ट ध्वनि निकलती है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर मरुतों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

मारुतं गणं गिरिष्ठां ।

ऋग्० 8.94.12.

अर्थात्—'मरुतों का गण गिरि अर्थात् पर्वतों में रहता है।' मरुत् सेना के सैनिकों का नाम है। ये मरुत् गणों अर्थात् छोटे-बड़े समुदायों या टुकड़ियों में रहा करते हैं। इनके गण पर्वतों में भी रहते हैं। वहाँ इनकी अवस्थिति पर्वतों की रक्षा के लिए होती है और यदि वे पर्वत देश की सीमा पर स्थित हैं तो सीमा की रक्षा के लिए भी मरुतों के गणों की वहाँ अवस्थिति होती है। इन्द्र (सम्राट्) आवश्यकता के अनुसार पर्वतों की रक्षा के लिए वहाँ मरुतों के गणों को रखता है। मरुतों के इस वर्णन से भी यह ध्वनित होता है कि राज्य द्वारा पर्वतों की रक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

जैसाकि हमने अभी ऊपर देखा है पर्वतों में अनेक प्रकार की धन-सम्पदा रहती है। दुष्ट लोग राज्य की स्वीकृति के बिना उस सम्पदा को चुरा कर ले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए पर्वतों पर जंगल उगते हैं। लोग इन जंगलों को बिना राज्य की स्वीकृति के काट सकते हैं। जिन लोगों को नियमित रूप से जंगल काटने की स्वीकृति भी मिल गई है वे भी स्वीकृति की सीमा से आगे बढ़कर वृक्षों को अन्धाधुन्ध काट सकते हैं। जंगलों के अन्धाधुन्ध काटने से वहाँ की मिट्टी नंगी होकर वर्षा के साथ बह जायेगी वहाँ की मिट्टी वर्षा के पानी को भी अपने भीतर संभाल कर नहीं रख सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि पर्वतों में जल संचित नहीं रह सकेगा और वहाँ से वर्ष भर बहने वाले जल-स्रोत सूख जायेंगे और नदियों में पानी कम हो जायेगा और नदियों के सर्वथा ही सूख जाने का भय रहेगा। जिसका राष्ट्र की कृषि पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अनेक बार ऐसा भी होता है कि अतिवर्षा के कारण पर्वतों के बहुत बड़े-बड़े खण्ड टूटकर नदियों की घाटियों में गिरकर बहने वाले पानी को अवरुद्ध कर देते हैं। और उनके पीछे पानी की बड़ी झील बन जाती है। कुछ काल

पश्चात् पानी के दबाव के कारण टूट कर गिरी मिट्टी और पत्थरों का अवरोध एकदम टूट कर बह जाता है और उसके कारण रुका हुआ पानी बड़े वेग से बह निकलता है और नदियों में भयंकर बाढ़ आ जाती है जिससे राष्ट्र को घन और जन की असीम हानि उठानी पड़ती है। हो सके तो ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए और नहीं तो ऐसी घटनाओं की तत्काल सूचना देने के लिए जिससे नीचे के लोग बाढ़ आने से पहले ही सावधान हो सकें और अपना बचाव कर सकें, पर्वतों में समुचित संख्या में सैनिक आदि रखकर यथोचित व्यवस्था करने की आवश्यकता होती है। ऐसी सब बातों को ध्यान में रखकर वेद में पर्वतों की समुचित रक्षा की व्यवस्था करना भी राज्य का एक कर्तव्य बताया गया है।

पर्वत का अपना विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप

इन्द्र (सम्राट्) को राज्य के सभी विभागों के सम्यक् संचालन के लिए अपने सहायक के रूप में विभिन्न विभागों में एक-एक सर्वोच्च राज्याधिकारी या मंत्री की आवश्यकता होती है। पर्वतों की देख-भाल और सुरक्षा के काम में इन्द्र का सहायक यह राज्याधिकारी या मंत्री वेद में पर्वत नाम से कहा गया है। ऊपर इस प्रकरण के आरंभ में हमने देखा ही है कि पर्वत भी अग्नि, वरुण आदि अन्य देवों की भाँति इन्द्र (सम्राट्) का एक सहचारी और सहकारी देव या राज्याधिकारी है। वहाँ हमने यह भी देखा है कि अन्य देवों की भाँति पर्वत को भी वेद में मनुष्य और राजावाचक विशेषणों से विशेषित करके उसे चेतन मनुष्य और राजा के रूप में भी चित्रित किया गया है। वेद के एक मंत्र में इन्द्र और पर्वत के लिए कहा गया है कि—

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं
वज्रेण तंतमिद्धतम्।

ऋग्० 1.132.6; यजु० 8.53.

मंत्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—‘(पुरोयुधा) शत्रुओं और विघ्न-बाधाओं से आगे बढ़कर युद्ध करने वाले (इन्द्रापर्वता) हे इन्द्र और पर्वत (यः) जो शत्रु (नः) हमारे ऊपर (पृतन्यात्) अपनी सेना से आक्रमण करे (युवं) तुम दोनों (तंतं) उस-उस को (इत्) निश्चित रूप से (वज्रेण) अपने वज्र से (अपहृतं) मार भगा दो (तंतं) उस-उस को (इत्) निश्चित रूप से, अपने वज्र से (अपहृतं) मार भगा दो।’

मंत्र में शत्रुओं को मारने की बात को जो दो बार दोहराकर कहा गया है उसका भाव शत्रु-पराजय पर बल देने से है। अर्थात् इन्द्र और पर्वत को चाहिए कि वे शत्रुओं और उनसे उपलक्षित अपने मार्ग में आने वाली विभिन्न प्रकार की सभी विघ्न-बाधाओं को पूरी तरह से पराजित कर दें, पूरी तरह से दूर कर दें।

इस मंत्र में पर्वत को इन्द्र के साथ आगे बढ़कर शत्रुओं और विघ्न-बाधाओं से लड़ने वाला कहा गया है। उसे इन्द्र की भाँति ही वज्र चलाने वाला बताया गया है। वज्र यहाँ शत्रुओं और विघ्न-बाधाओं को पराजित करने के काम में प्रयोग किये

जाने वाले शस्त्रास्त्रों और साधनों का उपलक्षण है। मंत्र का यह वर्णन पर्वत को मिट्टी और पत्थरों का पुंज एक जड़ पिण्ड न बताकर एक चेतन व्यक्ति के रूप में चित्रित कर रहा है। इन्द्र (सम्राट्) जब एक चेतन व्यक्ति है तो उसका सहचारी पर्वत भी एक चेतन व्यक्ति होना ही चाहिए। सायणाचार्य ने भी अपने वेद-भाष्य में कई स्थानों पर पर्वत को एक चेतन व्यक्ति के रूप में देखा है। एक जगह उन्होंने पर्वत के लिए कहा है कि 'इन्द्र का सहचर पर्वत नामक देव'¹। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने पर्वत के लिए लिखा है कि 'पर्वत यह कोई इन्द्र का मित्र'²। सायणाचार्य के कथनों से भी पर्वत का एक चेतन रूप भी है यह स्पष्ट हो जाता है। परन्तु सायणाचार्य आदि पौराणिक संस्कारों वाले भाष्यकार पर्वत को पहाड़ों का अभिमानी देवता-विशेष मानकर उसके चेतन होने का समाधान कर लेते हैं। उनके अनुसार मिट्टी-पत्थरों का पुंज पर्वत तो जड़ है परन्तु उसका अभिमानी देव चेतन है। जैसाकि हमने इस ग्रन्थ में अनेक जगह कहा है अभिमानी देवतावाद की कल्पना सर्वथा निराधार है। वेद में इस कल्पना का कहीं उल्लेख नहीं है। और यह वाद प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है। पर्वत के वेद में जड़ रूप में भी वर्णन आते हैं और चेतन रूप में भी। जहाँ जड़ रूप में वर्णन आते हैं वहाँ पर्वत का अर्थ जड़ पर्वत करना चाहिए और जहाँ चेतन के रूप में वर्णन आते हैं वहाँ उसका अर्थ चेतन व्यक्ति करना चाहिए। पर्वत के अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र (सम्राट्) के साहचर्य के कारण उसका अर्थ एक विशेष राज्याधिकारी करना चाहिए। पर्वत नामक विशेष राज्याधिकारी पर्वतों की देख-भाल और सुरक्षा का काम करने वाला अधिकारी है यह उसके पर्वत नाम से ही सूचित हो जाता है। ऊपर इन्द्र के 'पर्वतेष्ठाः' और 'गिरिष्ठाः' इन दो विशेषणों की जो चर्चा की गई है उससे भी व्यंजित होता है कि पर्वत नामक राज्याधिकारी पर्वतों की देख-भाल करने वाला अधिकारी ही है। इन्द्र के लिए स्वयं तो पर्वत में रहना संभव ही नहीं हो सकता। अपनी शासन-व्यवस्था के रूप में ही वहाँ रह सकता है। पर्वतों में इन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में शासन-व्यवस्था चलाने वाला राज्याधिकारी ही पर्वत नाम से कहा जायेगा। पर्वत और उनकी देख-भाल करने वाला विशिष्ट राज्याधिकारी इन दोनों में अभेदोपचार से राज्याधिकारी को भी पर्वत कह दिया गया है। इस प्रकार पर्वतों की देख-भाल और सुरक्षा का काम करने वाले विभाग के इन्द्र (सम्राट्) के सहायक प्रमुख राज्याधिकारी या मंत्री को वेद में पर्वत कहा गया है।

वेद ने पर्वत के इन आलंकारिक काव्यमय वर्णनों के द्वारा यह द्योतित किया है कि राज्य में पर्वतों की देख-भाल और सुरक्षा का काम करने वाला एक विभाग भी होना चाहिए।

¹ इन्द्रसहचरः पर्वताख्यो देवः । ऋग् ० 10.158.3. भाष्ये सायणः ।

² पर्वत इति कश्चिद् इन्द्रस्य सखा । ऋग् ० 7.37.8. भाष्ये सायणः ।

पर्वत पद निरुक्ति की संगति

पर्वत के इस हमारे अर्थ में पर्वत शब्द की निरुक्ति की संगति भी हो जाती है। पालनार्थक और पूर्णार्थक 'पृ' धातु से पर्व शब्द बनता है। जो पालना और कामनाओं की पूर्ति करे वह 'पर्व' कहा जायेगा। ऐसे पदार्थ जिसके पास हों वह पर्वत¹ कहलायेगा। पर्वतों में हमारी पालना और आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले अनेक पदार्थ होते हैं। पर्वत नामक राज्याधिकारी या मंत्री पर्वतों की सुरक्षा करके उन पदार्थों को हमें प्राप्त कराता है इसलिए वह पर्वत है।

18. वायु : वायु-प्रदूषण-निराकरण विभाग का मंत्री

वायु का मानव और राजा रूप

वायु भी इन्द्र का सहचारी देव है। स्थान-स्थान पर इन्द्र के सहचारी के रूप में वायु के वर्णन वेद में आते हैं। वरुण, मित्र, अर्यमा और सविता आदि अन्य देवों की भाँति वायु को भी इन्द्र के साथ असमस्त रूप में भी वर्णित किया गया है और 'इन्द्रवायू'² इस रूप में द्वन्द्व समास में समस्त रूप में भी वर्णित किया गया है। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसके सहचारी के रूप में वायु का अधिराष्ट्र अर्थ क्या होगा यह हमें यहाँ देखना है। जैसा कि हम देखते आ रहे हैं इन्द्रादि सभी देवताओं को वेद में सामूहिक रूप में 'आदित्याः', 'विश्वेदेवाः' और 'देवाः' नामों से वर्णित किया गया है तथा उनके लिए 'नरः' और 'मनुष्यः' आदि मनुष्यवाचक नामों का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार देवों में एक देव होने के कारण वायु भी मनुष्य बन जाता है। इन्द्र और वायु को दो स्थानों³ पर सीधा ही 'नरा' अर्थात् मनुष्य कहा गया है। इस प्रकार सीधे रूप में भी वायु को वेद में मनुष्य कह दिया गया है। इसी प्रकार देवों के लिए सामूहिक रूप में 'राजानः' और 'सम्राजः' आदि राजा के वाचक शब्दों का प्रयोग भी वेद में किया गया है। देवों के लिए इन राजा के वाचक शब्दों के प्रयोग से वायु राजा भी बन जाता है। वायु को वेद में वात भी कहा जाता है। ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। वात के लिए ऋग्० 10.168.2 मंत्र में 'राजा' शब्द का प्रयोग किया गया है। मंत्र में यद्यपि वायु का वात नाम से ही वर्णन है परन्तु जिस सूक्त का यह मंत्र है उसका देवता वायु ही माना जाता है। इस भाँति वायु को सीधे रूप में भी वेद में राजा कह दिया गया है। इस प्रकार वेद में वायु का एक रूप मनुष्य और राजा भी हो जाता है और उसकी एक व्याख्या इस रूप में भी की जा सकती है। वेद के अनेक स्थलों में वायु का यह अर्थ संगत हो सकता है

¹ पृ. पालनपुरणयोः। पिपति पालयति पूरयति इति पर्व। पर्व अस्यास्तीति पर्वतः।

² उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 1.23.3, 4.47.4, 7.91.6.

³ ऋग्० 4.47.4, 7.91.6.

और तब वहाँ राजनीति विषयक अनेक शिक्षायें दृष्टिगोचर होने लगती हैं। हम निरन्तर देखते आ रहे हैं कि वस्तुतः सम्राट् तो इन्द्र ही है। इसलिए वायु के लिए राजा या सम्राट् शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया समझना चाहिए। वायु अपने विभाग कार्यों को इन्द्र के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर करेगा और उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा इसलिए एक प्रकार से वह इन्द्र या सम्राट् ही होगा।

वायु के वाचक शब्द

वेद में वायु के लिए इस शब्द के अतिरिक्त वात, और मातरिश्वा शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पवन शब्द का प्रयोग भी किया गया है। मरुत् शब्द का प्रयोग भी वायु के लिए कितने ही स्थानों पर किया गया है। ये सभी शब्द सामान्यतः वायु के पर्याय शब्द हैं। लौकिक संस्कृत साहित्य में तो इन सभी शब्दों का एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयोग होता ही है। मरुत् शब्द का अधिराष्ट्र अर्थ वेद में सेना के सैनिक होता है।

वायु और प्राण

वायु जब नासिका के द्वारा शरीर में प्रवेश करता है तो उसका नाम प्राण हो जाता है। वायु और प्राण वस्तुतः एक ही वस्तु के दो नाम हैं। इस सम्बन्ध में वेद के निम्न स्थल देखिए—

- | | |
|---|--------------|
| 1. वातः प्राणः । | अथ० 19.44.5. |
| 2. वातात्ते प्राणमविदम् । | अथ० 8.2.3. |
| 3. वायुः प्राणान्दधातु मे । | अथ० 19.43.2. |
| 4. वातः प्राणेन रक्षतु । | अथ० 19.27.2. |
| 5. प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते । | अथ० 11.4.15. |
| 6. नसोः प्राणः । | अथ० 19.60.1. |

इनमें से प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि 'वात अर्थात् वायु का नाम ही प्राण है।' दूसरे उद्धरण में चिकित्सक रोगी से कह रहा है कि 'मैं तुम्हारे लिए वायु से (वातात्) प्राण को प्राप्त करता हूँ।' तीसरे उद्धरण में प्रार्थना की जा रही है कि 'वायु मेरे भीतर प्राण धारण करे।' चौथे उद्धरण में प्रार्थना है कि 'वायु (वातः) प्राण के द्वारा मेरी रक्षा करे।' पाँचवें उद्धरण में कहा गया है कि 'मातरिश्वा अर्थात् वायु को प्राण कहते हैं, वात अर्थात् वायु को ही प्राण कहा जाता है।' छठे उद्धरण में प्रार्थना है कि 'मेरी दोनों नासिकाओं में प्राण निवास करते रहें।' मंत्र की इस प्रार्थना का भाव यह है कि मेरी नासिका में दोनों छिद्रों द्वारा मेरे शरीर में प्राण पहुँचता रहे। इस प्रकार वेद ने स्पष्ट कर दिया है कि वायु का नाम ही प्राण है और वह प्राण प्राणियों को उनकी नासिका के द्वारा प्राप्त होता है।

वेद और दूसरे वैदिक साहित्य में प्राण का अर्थ इन्द्रियाँ और अन्तःकरण भी हो जाता है। क्योंकि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण प्राण पर ही निर्भर करते हैं। प्राण के कारण ही वे बने रहते हैं और प्राण के कारण ही वे अपना-अपना कार्य कर पाते हैं इसलिए इन्हें प्राण भी कह दिया जाता है। नासिका के द्वारा शरीर में गया हुआ वायु जब शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचकर विशिष्ट कार्य करता है तो उसके भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं हृदय में अर्थात् उसके पास फुफ्फुसों में पहुँचा हुआ वायु प्राण कहा जाता है। गुदा में पहुँच कर मल को विसर्जित करने और दूषित हवा को बाहर करने वाला वायु अपान कहा जाता है। नाभि अर्थात् उसके समीप के शरीर के मध्य भाग पेट में पहुँच कर पचे हुए अन्न के रस को शरीर के अन्य भागों में पहुँचाने वाला वायु समान कहा जाता है। कण्ठ में पहुँच कर शब्दों और ध्वनियों का उच्चारण कराने और डकार निकालने वाले वाला वायु उदान कहा जाता है। और सारे शरीर की नस-नाड़ियों में पहुँचकर रुधिर को प्रवाहित रखने वाला वायु व्यान¹ कहलाता है। भारतीय शरीर-वैज्ञानिकों के अनुसार प्राण के ये पाँच भेद किये जाते हैं। मोटे भेद प्राण के प्राण और अपान ये दो किये जाते हैं। शरीर में कार्य करने वाला वायु प्राण और दूषित होकर शरीर से बाहर निकलने वाला वायु अपान कहा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक भी शरीर से सम्बन्ध रखने वाले वायु के दो ही भेद करते हैं। एक श्वास के द्वारा शरीर में जाने वाला ओक्सीजन (Oxygen, ऑक्सीजन) नामक वायु जो कि फेफड़ों में जाकर रुधिर के साथ मिलकर हृदय के द्वारा शरीर की प्रत्येक नस-नाड़ी में पहुँचा दिया जाता है और दूसरा शरीर के मलों को लेकर दूषित होकर नासिका और गुदा के मार्ग से कार्बन-डाइऑक्साइड गैस तथा अन्य गैसों के रूप में बाहर निकलने वाला वायु। आधुनिक वैज्ञानिकों के अब मता-नुसार वायुमण्डल की वायु में ऑक्सीजन और नाइट्रोजन नामक दो गैसें होती हैं। ऑक्सीजन वायु शरीर में जाकर रुधिर के मलों को जलाकर उसे शुद्ध कर देता है और यह शुद्ध रक्त शरीर के अंग-प्रत्यंग को जीवन और शक्ति प्रदान करता है। और ऑक्सीजन स्वयं रुधिर के मलों को जलाकर कार्बन-डाइऑक्साइड के रूप में परिवर्तित होकर शरीर से बाहर हो जाता है। जब तक ये शरीर-गत प्राण और अपान अपने-अपने कार्यों को भली-भाँति करते रहते हैं तभी तक इन्द्रियाँ और अन्तःकरण भी अपना-अपना कार्य भली प्रकार कर पाते हैं। शरीर में प्राणों के न रहने पर इन्द्रियाँ और अन्तःकरण भी निर्जीव हो जाते हैं। प्राणों पर इतना अधिक निर्भर करने के कारण इन्द्रियों और अन्तःकरण को भी उपचार से प्राण कह दिया जाता है।

वायु शोधन का कार्य करता है

वेद में वायु को मलों का शोधन करके पवित्रता उत्पन्न करने वाला बताया

¹ हृदि प्राणो गुदेपानः समानो नाभिमण्डले ।

उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥ —अमरकोषः ।

गया है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल देखिए—

1. वायुः पूतः पवित्रेण ।	यजु० 10.31.
2. तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा ।	अथ० 8.1.5.
3. क्व१ प्रेप्सन्पवते मातरिश्वा ।	अथ० 10.7.4.
4. वातो मातरिश्वा पवमानः ।	अथ० 10.9.26.
5. सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ।	अथ० 13.3.19.
6. शानो वातः पवताम् ।	यजु० 36.10.
7. पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः ।	अथ० 6.62.1.
8. पवनेन शुद्धाः ।	अथ० 4.34.2.

इनमें से प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि 'वायु अपने पवित्र करने वाले गुण के कारण पवित्र रहता है।' दूसरे उद्धरण में चिकित्सक रूप ध्यक्ति से कह रहा है कि 'आकाश में फैला हुआ (मातरिश्वा) वायु हे रोगी तुम्हारे लिए पवित्रता देने वाला होकर बहे (पवताम्)।' तीसरे उद्धरण में प्रश्न किया गया है कि 'यह वायु (मातरिश्वा) कहाँ जाने की इच्छा वाला होकर पवित्रता करता हुआ बह रहा है।' चौथे उद्धरण में कहा गया है कि 'आकाश में भरा हुआ यह मातरिश्वा वायु पवित्रता करने वाला (पवमानः) है।' पाँचवें उद्धरण में कहा गया है कि 'वायु सब दिशाओं को पवित्र करता है और उनमें बहता है।' छठे उद्धरण में कहा गया है कि 'हमारे लिए वायु शान्तिकारक रूप में पवित्रता करने वाला होकर बहे।' सातवें उद्धरण में कहा गया है कि 'बहते रहने वाला (इषिरः) वायु प्राण के द्वारा और अन्नों के द्वारा पवित्र करे (पुनातु)।' आठवें उद्धरण में कहा गया है कि 'ये गृहस्थ लोग वायु के द्वारा (पवनेन) शुद्ध रहने वाले हैं।'

वायु दो प्रकार से शोधन और पवित्रता प्रदान करता है। एक तो मनुष्यों के रहने के स्थानों में, नगरों आदि में, जो मलिनता और गन्दगी होती है उसे वायु अपने साथ बहाकर ले जाता है। जब तेज हवा चलती है तो उसके साथ सब मलिनता और दुर्गन्ध उड़कर चली जाती है और उसके स्थान पर स्वच्छता और पवित्रता रह जाती है, जिसके कारण लोग रोगों से बचे रहते हैं। और दूसरे, प्राणी जब सांस लेते हैं तो स्वच्छ वायु शरीर के भीतर जाकर उसकी मलिनताओं को अपने साथ लेकर गन्दी हवा के रूप में सांस के द्वारा बाहर कर देती है, जिसके परिणामस्वरूप शरीर नीरोग, स्वस्थ और बलिष्ठ बना रहता है। ऊपर सातवें उद्धरण में यह जो कहा गया है कि वायु अन्नों के साथ प्राण के द्वारा पवित्रता प्रदान करे उसका भाव यह है कि जब हम स्वास्थ्य के लिए भ्रांति-भ्रांति के पौष्टिक अन्नों का सेवन करेंगे तभी स्वच्छ वायु का सेवन भी हमें लाभान्वित कर सकेगा। अन्नों के सेवन से जहाँ हमें पुष्टि और शक्ति प्राप्त होती है उसके साथ ही अन्न हमारे शरीर में मल भी पैदा

¹ पृष्ठ पवने । पाणिनिघातुपाठः । पवतिर्गैतिकर्मा । निष० 2.14.

करते हैं जिन्हें यदि शरीर से बाहर न निकाला जाये तो हम रोगी हो जायेंगे। इन मलों को नष्ट करने और बाहर निकालने का काम प्राण के रूप में शरीर में जाकर वायु करता है। खेतों में अन्नों की उत्पत्ति में भी वायु परम सहायक होता है।

वायु बल और शक्ति प्रदान करता है

जब वायु प्राणों के रूप में प्राणियों के शरीरों में जाता है तो वह प्राणियों को बल और शक्ति प्रदान करता है। वेद के निम्न स्थल देखिए—

1. मा त्वा प्राणो बलं हासीत् । अथ० 8.1.15.
2. सं ह्यूर्जया सृजथः सं बलेन । अथ० 4.25.4.
3. तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् । अथ० 4.25.5.

इनमें से प्रथम उद्धरण का अर्थ है कि 'हे रोगी व्यक्ति बल देने वाला प्राण तुमको कभी न छोड़े।' दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'सविता और वायु शक्ति (ऊर्जया) और बल से युक्त करते हैं।' तीसरे मंत्र में प्रार्थना है कि 'सविता और वायु हमारे शरीर में (तनू) सुख देने वाले (सुशेव) बल को (दक्ष) उत्पन्न करे।'

इन उद्धरणों में वायु को तो बल देने वाला कहा ही है साथ ही दूसरे और तीसरे उद्धरण में वायु के साथ-साथ सविता अर्थात् सूर्य को भी बल देने वाला कहा गया है। सूर्य की गरमी और प्रकाश से भी बल और शक्ति प्राप्त होती है। यदि सूर्य से हमें गरमी और प्रकाश न प्राप्त हो तो भी हम नीरोग, स्वस्थ और बलवान् नहीं रह सकते। सूर्य का प्रकाश और गरमी तथा स्वच्छ वायु इन दोनों का ही खुले रूप में मिलते रहना स्वास्थ्य, बल और शक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। बल ही नहीं स्वयं जीवन के लिए भी इनका मिलते रहना आवश्यक है। तीसरे उद्धरण में बल के लिए 'सुशेव' अर्थात् सुख देने वाला विशेषण दिया गया है। यदि हमारे शरीर में बल और शक्ति न हो तो हम किसी भी प्रकार के सुख और आनन्द का उपभोग नहीं कर सकते। साथ ही बल जहाँ हमारे लिए सुखदायक हो वहाँ हमारा बल दूसरों को भी सुख पहुँचाने वाला हो। हम अपने बल से किसी को पीड़ित न करें। प्रत्युत अपने बल से कष्ट में पड़े लोगों की सहायता करके उनके जीवन में सुख का संचार हमें करना चाहिए। ऐसी व्यंजना इस विशेषण की है।

वायु नीरोगकारक औषध रूप है

अनेक स्थानों पर वेद में वायु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह औषध का काम करता है। वेद के निम्न प्रसंग देखिए—

1. तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजम् । ऋग्० 1.89.4.
2. द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः । अथ० 10.137.2.,
- दक्षं त अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥ अथ० 4.13.2.

3. आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः ।

त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥

ऋग्० 10.137.3.,

अथ० 4.13.3.

4. वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे ।

प्र ण आर्यूषि तारिषत् ॥

ऋग्० 10.186.1.

इनमें से प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि 'वायु (वातः) हमारे लिए उस औषध को (भेषजं) वहन करके लाये जोकि सुख देने वाला है।' दूसरे उद्धरण में चिकित्सक द्वारा रोगी व्यक्ति से कहा जा रहा है कि 'ये दो वायु (वातौ) वह रहे हैं, एक तो बाहर से आकर हृदय तक (आ सिन्धोः) जाता है और एक हृदय से निकलकर बाहर दूर तक (आ परावतः) जाता है, हे रोगी व्यक्ति इनमें से एक अर्थात् हृदय तक जाने वाला वायु तेरे लिए बल को (दक्षं) बहाकर लाये और दूसरा अर्थात् हृदय से निकल कर बाहर जाने वाला वायु तुम्हारा जो रोग (रपः) है उसे बहाकर ले जाये।' तीसरे उद्धरण में भी चिकित्सक द्वारा कहा जा रहा है कि 'हे वायु उस रोगी के लिए तुम औषध को (भेषजं) बहाकर लाओ और जो रोग है उसे बहाकर ले जाओ, तुम अपने में सभी प्रकार की औषधों को रखते हो, तुम देवों अर्थात् विद्वान् वैद्यों के दूत होकर चल रहे हो।' चौथे उद्धरण में प्रार्थना है कि 'वायु (वातः) हमारे हृदय के लिए औषध बहाकर लाये जोकि रोग से शान्ति दिलाने वाला और सुख देने वाला हो, ऐसा करके वह वायु हमारी आयुओं को बढ़ाये।'

इन मंत्रों में जो कुछ कहा गया है उसका भाव यह है कि बाहर से सांस के द्वारा जो वायु हमारे शरीर में जाता है वह मानो अपने साथ हमारे लिए औषध बहाकर लाता है और रोगों को दूर करता है। वायु के द्वारा अपने साथ औषध बहाकर लाये जाने के काव्यमय आलंकारिक वर्णन का तात्पर्य यह है कि वायु स्वयं औषध रूप है, उसमें रोगों को दूर करने की शक्ति है। सांस के द्वारा लिया जाने वाला वायु औषध रूप होकर रोग को नष्ट करता है और बाहर फेंका जाने वाला दूषित वायु रोग को अपने साथ बाहर ले जाता है। वायु जहाँ रोगों को शान्त करके हमें सुखी बनाता है वहाँ वह हमारी आयु को भी बढ़ाता है। हमारी आयु रोगों के कारण ही क्षीण और छोटी हो जाती है। स्वच्छ वायु के सेवन से जब हम रोगों से दूर रहेंगे तो हमारी आयु स्वतः ही लम्बी हो जायेगी। तीसरे मंत्र में वायु को विश्वभेषज कह कर यह बताया गया है कि वायु में सभी प्रकार के रोगों को दूर करने की औषध जैसी शक्ति है। इन मंत्रों का सारभूत अर्थ यह है कि यदि हम सभी प्रकार के रोगों से बचे रहना चाहते हैं और अपनी आयु को लम्बा करना चाहते हैं तो हमें सदा स्वच्छ वायु में रहकर उसका सेवन करना चाहिए। अधिक से अधिक स्वच्छ वायु हमारे भीतर जा सके इसके लिए हमें स्वच्छ वायु में बैठकर प्राणायाम करना चाहिए, तथा स्वच्छ वायु में खड़े होकर भाँति-भाँति के व्यायाम करने चाहिए, तथा दौड़ना और खेलना चाहिए। हमें अपने रहने के घर और काम करने के कार्यालय आदि भी ऐसे

बनाने चाहिए जिनमें स्वच्छ वायु का खुला प्रवेश हो सके। जैसाकि पिछले उपखण्ड में उद्धृत मंत्रों में निर्देश किया गया है हमारे घरों में सूर्य की गरमी और प्रकाश का भी यथेष्ट प्रवेश होते रहना चाहिए।

रपः का अर्थ रोग

उद्धृत दूसरे और तीसरे मंत्रों में प्रयुक्त 'रपः' शब्द का अर्थ हमने रोग किया है। रपः का अर्थ साधारणतः पाप किया जाता है। हमने औषध के साहचर्य से इस शब्द का अर्थ रोग किया है। मंत्रों में वर्णन है कि वायु औषध लाये और 'रपः' को दूर कर दे। अब, औषध से रोग तो दूर होता है, उससे पाप दूर नहीं हो सकता। पाप तो विचार और आचरण को शुद्ध करने से ही दूर हो सकता है। इसलिए यहाँ 'रपः' का अर्थ रोग ही अधिक संगत है। वेद में अनेक स्थानों पर पाप के वाचक शब्द रोग के वाचक भी प्रतीत होते हैं। हमारे पाप और दुराचार हमारे शरीर में रोग भी उत्पन्न कर दिया करते हैं।

सिन्धु का अर्थ हृदय

हमने उद्धृत दूसरे मंत्र में सिन्धु का अर्थ हृदय किया है। इस रोग-निवारण और स्वास्थ्यवर्धन के प्रकरण में इस शब्द का यही अर्थ संगत हो सकता है। इस शब्द के समुद्र और नदी आदि अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकते। अथर्ववेद के दसवें काण्ड का दूसरा सूक्त 33 मंत्रों का एक लम्बा सूक्त है। इस सूक्त का नाम 'केन सूक्त' है। इसमें मनुष्य शरीर की रचना का वर्णन किया गया है। सूक्त में 'केन' अर्थात् 'किसने' ऐसा प्रश्न करके पूछा गया है कि इस शरीर का अमुक अंग किसने बनाया, अमुक अंग किसने बनाया? प्रश्न पूछने का व्यंग्यार्थ यह है कि यह अद्भुत मनुष्य शरीर और उसके सब अंग-प्रत्यंग परमेश्वर ने बनाये हैं, यह सब उसी की महामहिमाशाली प्रभु की महिमा है। 'केन' शब्द का बार-बार प्रयोग होने के कारण इस सूक्त को 'केन-सूक्त' कह दिया जाता है। इस सूक्त के ग्यारहवें मंत्र में प्रश्न किया गया है कि 'इस पुरुष शरीर में सर्वत्र वर्तमान, बहुत मात्रा में वर्तमान, तीव्र गति से बहने वाले, चमकते लाल रंग के, लोहे से युक्त या सामान्य लाल रंग के, तबि के धूएँ जैसे नीले रंग के, ऊपर की ओर बहने वाले, नीचे की ओर बहने वाले, दायें-बायें बहने वाले, जोकि सिन्धु की ओर जाने के लिए (सिन्धुसृत्याय) बनाये गये हैं, ऐसे ये जल (आपः) अर्थात् रुधिर, किसने बनाकर रखे हैं?' इस मंत्र में शरीर में बहने वाले जिन जलों का वर्णन है वे शरीर में बहने वाले रुधिर के सिवा और कुछ नहीं हो सकते। ये रुधिर रूपी जल सिन्धु में जाते हैं इस वर्णन का स्पष्ट अर्थ है कि ये रुधिर सिन्धु अर्थात् हृदय में जाते हैं। सिन्धु शब्द का धातुजन्य योगिक अर्थ होता है 'जिसकी ओर जल जाये

¹ को अस्मिन्नापो व्यदधाद्विषूवतः पुरुवतः सिन्धुसृत्याय जाताः।

तीन्ना अरुणा लोहिनीस्ताम्रधून्ना ऊर्वा अवाचीः पुरुवे तिरस्वीः ॥ —अथ० 10.2.11.

और जिसमें से जल बाहर जाये¹ ।' सब नदियों का जल समुद्र की ओर बहकर जाता है तथा समुद्र का जल वर्षा के रूप में उससे बाहर भी जाता है । इसीलिए समुद्र को सिन्धु कहा जाता है । समुद्र शब्द का भी यही यौगिक अर्थ होता है । हृदय में भी ऐसा ही होता है । सारे शरीर का नीले रंग का रुधिर बह कर हृदय में जाता है । फिर वह दूषित रुधिर हृदय से फेफड़ों में जाकर वहाँ शुद्ध होकर चमकता लाल रंग का बनकर पुनः हृदय में आता है और हृदय से फिर उसे सारे शरीर में वापिस भेजा जाता है । इस प्रकार हृदय में रुधिर आता है भी और उससे बाहर भी जाता है । इसलिए यौगिक अर्थ में हृदय भी सिन्धु है । इस मंत्र में सिन्धु का अर्थ हृदय के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता । अथर्ववेद के इस मंत्र के आधार पर हमने ऊपर उद्धृत दूसरे मंत्र में सिन्धु का अर्थ हृदय किया है । अथर्ववेद के इस मंत्र में रुधिर को जो अरुण अर्थात् चमकते लाल रंग का और लोहित अर्थात् सामान्य लाल रंग का कहा गया है वह इस दृष्टि से है कि पूर्ण स्वस्थ पुरुष का रक्त चमकते लाल रंग का होता है और अस्वस्थ और रोगी पुरुष का रक्त हलके लाल रंग का हो जाता है । लोहित शब्द से यह भी सूचित होता है कि रक्त में लोहा भी रहता है जोकि रक्त की बृद्धि और उसके लाल रहने में सहायक होता है ।

हृदय शब्द का लक्ष्यार्थ

ऊपर उद्धृत चौथे मंत्र में वायु के औषध रूप में हमारे हृदय में बहकर आने की जो बात कही है उसका तात्पर्य भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है । साँस में बाहर से लिया गया वायु पहले सीधा हृदय में नहीं जाता है । वह पहले फेफड़ों में जाता है । वहाँ हृदय में आये रक्त को वह शुद्ध करता है और उस रक्त में मिलकर फिर वह हृदय में जाता है । पुनः हृदय से रक्त के साथ वह सारे शरीर में पहुँचता है । हृदय और फेफड़े एक-दूसरे के साथ लगे हैं और परस्पर मिलकर कार्य करते हैं तथा एक-दूसरे के पूरक हैं । इसलिए मंत्र के हृदय शब्द का अर्थ हृदय और फेफड़ों का मिला हुआ रूप समझना चाहिए ।

वायु यक्ष्मा और मृत्यु को मार भगाता है

इस प्रसंग में वेद के निम्न मंत्र भी देखने योग्य हैं—

1. अयक्ष्मताति मह इह धत्तम् । अथ० 4.25.5.

2. उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान्परेभिः ।

त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन्पदयोपनेन ॥

अथ० 12.2.29.

3. नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत् ।

ऋग्वे० 6.37.3.

¹ स्थान्दन्ते जलानि अस्मिन् अस्माद् वा इति सिन्धुः ।

उणादि० 1.11 सूत्रेण रूपसिद्धिः ।

इनमें से प्रथम उद्धरण में प्रार्थना है कि 'सविता और वायु हममें ऐसा तेज (महः) धारण करे जो अयक्ष्म (अयक्ष्मताति¹) हो अर्थात् जो यक्ष्मा का अभाव करने वाला हो ।'

यक्ष्मा सामान्य रोगमात्र को भी कहते हैं और क्षय रोग नामक महारोग को भी यक्ष्मा कहते हैं। मंत्र में प्रार्थना है कि सविता अर्थात् सूर्य और वायु हम में ऐसा तेज और बल प्रदान करें जिससे यक्ष्मा से हम सदा दूर रहें। इस प्रार्थना से यह सूचित होता है कि सूर्य और वायु में यक्ष्मा को दूर करने की शक्ति है। सूर्य के ताप और प्रकाश तथा स्वच्छ वायु के सेवन से यक्ष्मा हम से दूर रहता है। इन दोनों के सेवन से हमारा रक्त शुद्ध हो जाता है और उसमें यक्ष्मा के कीटाणुओं का प्रतिरोध करने और मारने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वायु में यक्ष्मा जैसे रोगों से भी रक्षा करने की शक्ति है।

दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि 'स्वास्थ्य के ज्ञान में आगे बढ़े हुए (परेताः) ऋषि अर्थात् गहरे ज्ञानी समझदार लोग उन्नति की ओर ले जाने वाले (उदीचीनैः) वायु से युक्त (वायुमद्भिः) श्रेष्ठ (परेभिः) मार्गों से चलकर निकृष्ट (अवरान्) मार्गों को छोड़कर इक्कीस बार (त्रिःसप्तकृत्वः) अर्थात् अनेक बार और पुनः पुनः मृत्यु के पैंर उखाड़ कर (पदयोपनेन) उसे परे भगाते रहते हैं (मृत्युं प्रत्योहन्) ।'

यदि हम समझदार बनकर वायु से युक्त मार्गों पर चलें अर्थात् स्वच्छ वायु में रहें, स्वच्छ वायु में व्यायाम और प्राणायाम आदि करते रहें तथा स्वच्छ वायु से रहित निकृष्ट मार्गों को छोड़ दें अर्थात् स्वच्छ वायु से रहित और दूषित वायु वाले स्थानों में न रहें तो हम मृत्यु के पैंर उखाड़ सकते हैं और उसे परे भगा सकते हैं। रोगों के कारण ही हमारी मृत्यु होती है। शुद्ध वायु के सेवन से हमारा रक्त शुद्ध हो जाता है, उसमें रोगों के कीटाणुओं का प्रतिरोध करने और उन्हें मारने की शक्ति पैदा हो जाती है। हम नीरोग रहने लगते हैं। मृत्यु हमसे परे-परे रहता है। मंत्र में प्रयुक्त मार्ग (पथितिः) शब्द का अभिप्राय जीवन व्यतीत करने के प्रकार या पद्धति से है। जीवन बिताने की जिस पद्धति में स्वच्छ वायु का यथेष्ट सेवन किया जाता है वह श्रेष्ठ मार्ग है और जिसमें ऐसा नहीं किया जाता वह निकृष्ट मार्ग है। इक्कीस बार मृत्यु को भगाने का तात्पर्य अनेक बार मृत्यु को भगाने से है। मृत्यु अनेक बार हम पर आक्रमण करना चाहता है। पर हम शुद्ध वायु के सेवन करते रहने के कारण उसे निरन्तर बार-बार परे भगाते रहते हैं। इसका एक अभिप्राय और भी हो सकता है। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार हमारा शरीर रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओं द्वारा बना हुआ होता है। फिर वात, पित्त और कफ की दृष्टि से इनसे तीन-तीन भेद होकर ये इक्कीस हो जाते हैं। मृत्यु रोगों के द्वारा इन सब पर प्रहार करता है। शुद्ध वायु के सेवन से उसके ये सभी प्रहार व्यर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार इक्कीस बार मृत्यु को भगा दिया जाता है।

1 अयक्ष्मतातिम् अयक्ष्मशब्दात् स्वार्थिकस्तातिम् प्रत्ययः इति सायणः।

तीसरे उद्धरण में प्रार्थना है कि 'हमें वायु से मिलने वाला अमृत कभी क्षीण न हो (नूचित् विदस्येत्¹) ।'

अमर होने का अर्थ

स्वच्छ वायु के सेवन से अमृत प्राप्त होता है। हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि वह अमृत कभी क्षीण न हो, वह अमृत हमें सदा प्राप्त होता रहे। इसके लिए हमें ऐसा उपाय करना चाहिए कि सोते-जागते, चलते-फिरते, खेलते-कूदते और काम करते सदा ही स्वच्छ वायु सेवन के लिए हमें प्राप्त होता रहे। अमृत का अर्थ अमरता अर्थात् मरण-रहितता और ऐसा सुख होता है जिसमें दुःख का लेश भी न हो। यहाँ अमरता या मरण-रहितता का भाव समझ लेना चाहिए। वेद में मनुष्य की आयु की सामान्य सीमा सौ वर्ष रखी गई है। ऋषि दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य में लिखा है कि योगाभ्यास आदि के विशेष प्रयत्न करने से मनुष्य तीन सौ और चार सौ वर्ष तक भी जी सकता है। सामान्यतया सौ वर्ष और अधिक से अधिक चार सौ वर्ष तक ही मनुष्य जीवित रह सकता है, इससे अधिक नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में अमृतत्व या अमरपन के सम्बन्ध में लिखा है कि 'अमृत होने का इतना ही अर्थ है कि व्यक्ति देर तक जीता है, पूर्ण आयु प्राप्त करता है।'² शुद्ध वायु के सेवन से मनुष्य ऐसा ही अमृतत्व या अमरपन प्राप्त करता है। वह रोगी नहीं होता। देर तक जीता है और वेद में मर्यादित पूर्ण आयु को प्राप्त करता है। स्वच्छ वायु के सेवन से रोगी न होने के कारण उसे अमृत अर्थात् पूर्ण सुख तो प्राप्त होगा ही।

वायु की स्वच्छता

ऊपर उद्धृत यजु० 10.31 मंत्र में वायु को 'पूतः' अर्थात् पवित्र तथा अथर्ववेद 10.9.26 मंत्र में उसे 'पवमानः' अर्थात् पवित्र करने वाला कहा गया है। वहीं ऊपर उद्धृत अन्य मंत्रों में भी प्रकारान्तर से उसके शोधन या पवित्र करने के गुण या शक्ति का वर्णन किया गया है। वायु शोधन या पवित्र करने का कार्य तभी करेगा जबकि वह अपने शुद्ध और सही रूप में रहेगा। जबकि वह अपने असली वायु रूप में रहेगा। जब उसमें किसी अन्य पदार्थ की मिलावट नहीं होगी। जब उसमें धुआँ, धूल-धमकड़, दुर्गन्ध, गलाजत और हानिकारक गैसों आदि की किसी प्रकार की मिलावट नहीं होगी। दूसरे शब्दों में जब उसमें किसी प्रकार का प्रदूषण नहीं होगा। इस प्रकार के प्रदूषण होने पर तो वायु वायु नहीं रहेगा, वह वस्तुतः कुछ और ही वस्तु बन जायेगा। अपने सर्वथा शुद्ध रूप में रहने वाला वायु ही हमारे रक्त के शोधन और नीरोग बनाने का

¹ नू चित् इति निपातो निषेधेन वर्तते। इति सायणः।

² एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति। शत० 9.5.1.10.

एतद्वाव मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति। तां० 22.12.2; 25.12.3.

य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति। शत० 10.2.6.8.

कार्य कर सकेगा यह तो स्वतः स्पष्ट बात है। इसीलिए हमने ऊपर वायु सेवन की बात कहते हुए अनेक जगह वायु के साथ स्वच्छ या शुद्ध विशेषण प्रयुक्त कर दिया है। क्योंकि स्वच्छ वायु ही वर्णित कार्य कर सकता है।

वायु का अपना विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप

इस प्रकरण के आरंभ में हमने देखा है कि वेद में वायु के लिए मनुष्य वाचक और राजा वाचक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। उसके लिए इन विशेषणों के प्रयोग से वायु एक चेतन राज-पुरुष बन जाता है। जब इन्द्र सम्राट् है तो उसका सहचारी वायु यों भी एक चेतन और सम्राट् का सहायक राज्याधिकारी बन जाता है। वेद में वायु के अनेक स्थानों पर इस प्रकार के वर्णन आते हैं जिनसे वह स्पष्ट रूप में एक चेतन व्यक्ति प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए निम्न मंत्र देखिये—

इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये ।

सहस्राक्षा धियस्पती ॥

ऋग्वे. 1.23.3.

मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—‘(मनोजुवा)¹ जोकि मन से युक्त है अर्थात् मननशील और विचारवान् हैं अथवा मन की भाँति तीव्र गति वाले हैं अर्थात् जहाँ कहीं कार्यार्थ जाना हो वहाँ शीघ्र पहुँच जाने वाले हैं (सहस्राक्षा) हजार आँखों वाले हैं अर्थात् अपने कार्यों से सम्बन्ध रखने वाली सब बातों को भली-भाँति देखने वाले हैं (धियस्पती) धी अर्थात् बुद्धि और कर्म के पति हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म और पैनी है तथा जो विविध प्रकार के जनोपयोगी कर्म करने वाले हैं, ऐसे (इन्द्रवायू) इन्द्र और वायु को (विप्राः) समझदार बुद्धिमान् प्रजाजन (ऊतये) अपनी रक्षा के लिए (हवन्ते) बुलाते हैं।’

मंत्र में इन्द्र के साथ वायु का जो वर्णन किया गया है उससे वह स्पष्ट ही एक मननशील, अपने कार्यक्षेत्र की सब बातों और परिस्थितियों पर आँख रखने वाला, बुद्धिमान और कर्मशील, तथा जनता की रक्षा और भलाई में लगा रहने वाला, चेतन पुरुष प्रतीत होता है। वेद में वायु में इस प्रकार के चेतन पुरुष जैसे वर्णन स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं। वायु का वेद में जड़ वायु के रूप में भी वर्णन हुआ है और चेतन पुरुष के रूप में भी। पौराणिक संस्कारों वाले सायणाचार्य आदि भाष्यकार वायु के चेतन पुरुष जैसे वर्णनों का समाधान जड़ वायु का एक चेतन अभिमानी देवता मानकर कर लेते हैं। परन्तु वेद में इस अभिमानी या अधिष्ठात्री देवतावाद का कहीं उल्लेख नहीं है, और यह वाद प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है, जैसाकि हम इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर दर्शाते आ रहे हैं। वायु के जहाँ चेतन पुरुष जैसे वर्णन आते हैं वहाँ उसका चेतन पुरुष-परक अर्थ ही करना चाहिए वह परमात्मा हो अथवा मानव। मानव अर्थ में भी क्षेत्र-भेद से उसके कई अर्थ हो जायेंगे। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने अपने

¹ जूः जुरिति स्रोतो धातुः गत्यर्थकः। जवनं जूः गमनं प्राप्तिर्वा। मनोजुवा मनोबद्धेगवन्तो। यद्वा मनसः जूः प्राप्तिर्ययोस्ती मनोजुवा। प्राप्तमनस्कौ प्रशस्तमनोयुक्तौ इति यावत्।

वेदभाष्य में वायु के परमात्मा, विज्ञानबल से युक्त पुरुष और योगीजन आदि अर्थ भी किये हैं। यहाँ हम इन्द्र के सम्राट् अर्थ में उसके साहचर्य से वायु का अधिराष्ट्र अर्थ निर्धारित कर रहे हैं।

ऊपर के पृष्ठों में वेद-मंत्रों के आधार पर वायु के जो कार्य दिखाये गये हैं उनसे ही वायु नामक राज्याधिकारी के कार्य का भी पता लग जाता है। जड़ वायु तो लोगों के निवास स्थानों और शरीरों में पहुँच कर इन कार्यों को करेगा। और वायु नामक राज्याधिकारी ऐसी व्यवस्था करके कि वायु में किसी प्रकार का प्रदूषण न हो और लोगों को सर्वथा स्वच्छ वायु साँस लेने के लिए प्राप्त हो सके, प्रकारान्तर से यही कार्य करेगा। लोगों के रहने और काम करने के स्थान सर्वथा साफ सुथरे रहें, वहाँ किसी प्रकार का धूल-धमकड़, सड़ाँद, गलाजल और दुर्गन्ध न हो, इस बात की देख-भाल और व्यवस्था करने का काम यह वायु नामक राज्याधिकारी और उसका विभाग करेगा। कल-कारखानों से निकलने वाली हानिकारक गैसों और दूषित जल भी वातावरण को दूषित न कर सकें इसकी भी व्यवस्था वायु नामक राज्याधिकारी और उसका विभाग करेगा। जड़ वायु और वायु नामक राज्याधिकारी दोनों को एक ही वायु नाम देकर वेद ने सामान्य वायु और उसे शुद्ध और स्वच्छ रखने की व्यवस्था करने वाले राज्याधिकारी को अभेदोपचार से एक ही कर दिया है। वस्तुतः ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इस प्रकार वायु राज्य का वह सर्वोच्च राज्याधिकारी या मंत्री है जोकि वायु-मण्डल के प्रदूषण के निराकरण की व्यवस्था करता है।

वेद ने वायु के काव्यमय आलंकारिक वर्णन के द्वारा यह द्योतित किया है कि राज्य में वायु-मण्डल के प्रदूषण को रोकने की व्यवस्था करने वाला एक विभाग भी होना चाहिए।

वायुपद की निरुक्ति की संगति

वायु का हमने यह जो अर्थ किया है उसमें वायु पद की निरुक्ति भी संगत हो जाती है। वायु¹ शब्द संस्कृत की 'वा' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ गति और गन्धन होता है। गति का अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति होता है। और गन्धन² का अर्थ हिंसा करना, मारना और नष्ट करना भी होता है। जो एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान पहुँच जाये वह वायु कहा जायेगा। साधारण वायु भी एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है। वायु नामक राज्याधिकारी भी आवश्यकतानुसार चलकर स्थान-स्थान पर पहुँचता रहता है। जो ज्ञानवान् हो उसे भी वायु कहेंगे।

¹ वा गतिगन्धनयोः। वाति गच्छति स्थानात् स्थानान्तरं प्राप्नोति इति वायुः। वाति जानाति ज्ञानवान् भवति इति वायुः। वाति गन्धयते हिनस्ति विनाशयति इति वायुः। उणादि० 1.1 सूत्रेण रूपसिद्धिः।

² गन्धनम् Hurting, Injury, Killing, आप्टेकोषः। उत्साहने च हिंसायां सूचने चापि गन्धनम्। अमरकोषः।

वायु नामक राज्याधिकारी ज्ञानवान् होता ही है। सामान्य वायु में यह बात संगत नहीं हो सकती। जो गन्धन करे अर्थात् मारे, नष्ट करे वह भी वायु कहा जायेगा। वायु नामक राज्याधिकारी वायु-मण्डल के प्रदूषण को नष्ट करता है अतः वह वायु है। साधारण वायु साँस के द्वारा प्राणी के शरीर में जाकर उसके रक्षित के प्रदूषण को नष्ट कर देता है इसलिए वह भी वायु है। प्राण रूप में वायु जब प्राणी के शरीर को सर्वथा छोड़ देता है तब प्राणी मर जाता है इस दृष्टि से भी वह वायु है। वायु का पर्यायवाची शब्द वात¹ भी इसी 'वा' धातु से ही व्युत्पन्न होता है। उसका भी योगिक अर्थ वही है जो वायु का है।

19. कुत्स : सतर्कता विभाग का मंत्री

कुत्स का देवत्व

कुत्स भी इन्द्र का एक सहचारी देवता है। मंत्र के वर्णनीय विषय को देवता कहा जाता है।¹ ऊपर के प्रकरणों में अग्नि, वरुण, मित्र, पूषा, पर्वत और वायु आदि जिन देवताओं का विवेचन किया गया है उन्हें तो सभी भाष्यकार और मंत्रों के देवताओं का परिगणन करने वाले बृहद्देवता आदि ग्रन्थों के लेखक देवता कहते हैं। क्योंकि इनका वेदमंत्रों में स्वतंत्र रूप से वर्णन हुआ है। कहीं उनसे विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाओं के रूप में उनका वर्णन किया गया है और कहीं उनके विभिन्न प्रकार के कार्यों और गुणों का बखान किया गया है। इनका स्वतंत्र रूप से वर्णन होने के साथ-साथ इनका इन्द्र के सहचारी के रूप में भी वेद में वर्णन हुआ है। कुत्स का स्वतंत्र रूप में वर्णन नहीं हुआ है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में कुल मिलाकर 41 मंत्रों में कुत्स का उल्लेख मिलता है। सैंतीस मंत्रों में ऋग्वेद में और चार मंत्रों में अथर्ववेद में। ऋग्वेद के दो मंत्रों में कुत्स का अश्विनो के वर्णन के प्रसंग में उल्लेख आया है और अथर्ववेद के एक मंत्र में मित्रावरुणो के वर्णन के प्रसंग में उसका उल्लेख हुआ है।² शेष 38 मंत्रों में इन्द्र के वर्णनों के प्रसंग में उसका उल्लेख किया गया है।³ स्वतंत्र रूप में उसका वर्णन न होने के कारण कुत्स को सायणाचार्य आदि भाष्यकार और बृहद्देवता आदि के लेखक देवता नहीं गिनते। जिन मंत्रों में कुत्स का उल्लेख मिलता है उन्हें इन्द्र, अश्विनो और मित्रावरुणो देवता के मंत्र समझा जाता है। इन मंत्रों में इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा कुत्स की रक्षा किये जाने की बात कहकर इन्द्र आदि के कार्य और महिमा का ही बखान किया गया है अतः इन भाष्यकारों और लेखकों के मत में मंत्रों के देवता इन्द्र आदि ही हैं। हमारे विचार में इन मंत्रों में उल्लिखित

¹ वाति इति वातः। उणादि 3.86 सूत्रेण रूपसिद्धिः।

² या तेनोच्यते सा देवता। कात्यायन सर्वानुक्रमणी, 2.5।

³ ऋग्० 1.112.9, 1.112.23; अथ० 4.29.5।

⁴ उदाहरण के लिए देखें—ऋग्० 5.31.9।

कुत्स को भी एक देवता मानना चाहिए। इन्द्र आदि कुत्स की रक्षा करते हैं यह तो इन मंत्रों में कहा ही गया है, इन्द्र के मंत्रों में तो यह भी कहा गया है कि इन्द्र कुत्स के साथ मिलकर शुष्ण आदि दस्युओं का वध भी करता है। इन्द्र आदि के इन मंत्रों में इन्द्र आदि के वर्णन के साथ-साथ कुत्स का भी तो कुछ वर्णन हो ही जाता है। और इस प्रकार कुत्स भी तो मंत्रों का वर्णनीय विषय बन ही जाता है चाहे गौण रूप में ही क्यों न हो। इस भाँति मंत्र का वर्णनीय विषय उसी का देवता होता है इस आधार पर कुत्स भी देवता बन ही जाता है। इस प्रसंग में एक बात और भी द्रष्टव्य है। जिस प्रकार इन्द्र के साथ अग्नि, वायु, विष्णु, पर्वत, पूषा, वरुण और सोम आदि को द्वन्द्व समास में समस्त होकर इन्द्राग्नी, इन्द्रवायू, इन्द्राविष्णू, इन्द्रापर्वता, इन्द्रापूषणा, इन्द्रावरुणा और इन्द्रासोमा आदि के रूप में वर्णित किया गया है उसी प्रकार कुत्स को भी इन्द्र के साथ 'इन्द्राकुत्स' इस रूप में द्वन्द्व समास में समस्त करके वर्णित किया गया है। जिस भाँति इन्द्र के साथ समस्त ये अग्नि और वायु आदि देवता हैं उसी भाँति कुत्स भी एक देवता होना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार का द्वन्द्व समास देवतावाची पदों का ही हुवा करता है। व्याकरण के नियमानुसार देवतावाची पदों के द्वन्द्व समास में प्रथम पद के अकार के स्थान पर आकार (आनङ्) हो जाया करता है।¹ 'इन्द्राकुत्सा' में इसीलिए इन्द्र पद के अकार के स्थान पर आकार हो गया है। इन्द्र और कुत्स पदों का 'इन्द्राकुत्सा' यह द्वन्द्व समास भी यह सूचित करता है कि कुत्स भी अग्नि आदि की भाँति एक देवता ही है। ऐसा नहीं है कि सायण आदि कुत्स को बिल्कुल ही देवता न मानते हों। एक-दो मंत्रों में आये कुत्स पद को देवता का वाचक भी इन लोगों ने माना है²। पर साधारणतः ये लोग कुत्स को अग्नि, वरुण आदि की भाँति एक स्वतंत्र देवता नहीं मानते। हमारे मन में कुत्स को भी एक प्रमुख देवता मानना चाहिए।

कुत्स का मानव और राजा रूप

कुत्स के जैसाकि अभी हमने ऊपर की पंक्तियों में देखा है असमस्त और द्वन्द्व समास में समस्त दोनों रूपों में इन्द्र के सहचारी के रूप में वर्णन आते हैं। जब अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र सम्राट् का वाचक है तो उसका सहचारी कुत्स भी अधिराष्ट्र अर्थ में स्पष्ट ही एक उच्च राज्याधिकारी ही होगा। और राज्याधिकारी के रूप में वह एक मनुष्य ही होगा यह भी स्पष्ट ही है। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में कुत्स के मुख्य दो अर्थ किये हैं। एक तो कुत्स नाम का एक ऋषि और दूसरा कुत्स नाम का एक राजा। सायण के इन दोनों अर्थों के अनुसार भी कुत्स एक मनुष्य ही ठहरता है। ऋग्वेद 1.106.6 मंत्र में स्वयं वेद में भी कुत्स के विशेषण के रूप में ऋषि शब्द का

¹ देवता द्वन्द्वे च। अष्टा० 6.3.26.

² ऋग्० 5.31.8 और ऋग्० 5.31.9 मंत्रों में सायण आदि ने इन्द्र के साथ कुत्स को भी आंशिक देवता माना है।

प्रयोग किया गया है। वेद के इस ऋषि विशेषण से कुत्स एक मनुष्य ही ठहरता है। क्योंकि ऋषि तो कोई मनुष्य ही होगा। फिर सम्राट् (इन्द्र) का सहचारी एक उच्च राज्याधिकारी होने के कारण कुत्स एक प्रकार से राजा भी बन जाता है। सम्राट् का सहचारी और सहायक राज्याधिकारी होने के कारण वह जो भी कार्य करेगा उन्हें वह सम्राट् के निरीक्षण और नियन्त्रण में रहकर ही करेगा तथा उसके प्रतिनिधि के रूप में करेगा। इस प्रकार वह एक दृष्टि से राजा ही होगा। इस प्रकार अर्थापत्ति से कुत्स का मानव और राजा रूप भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः राजा या सम्राट् तो इन्द्र ही है यह हम निरन्तर देखते आ रहे हैं। इसलिए कुत्स को गौणी वृत्ति से ही राजा कहा गया समझना चाहिए। यों तो वह इन्द्र (सम्राट्) के अधीन अपने विभाग के काम की देख-भाल करने वाला एक विशेष उच्च राज्याधिकारी ही होगा।

कुत्स का अपना विशिष्ट अधिराष्ट्र स्वरूप

हमने इस प्रकरण के शीर्षक में कुत्स को राज्य के सत्कर्ता विभाग का मंत्री लिखा है। जिन मंत्रों में कुत्स का उल्लेख हुआ है उन्हें साधारण तौर पर देखने पर कुत्स का इस रूप में वर्णन उन मंत्रों में दृष्टिगोचर नहीं होता। कुत्स शब्द के अर्थ पर ध्यान देने पर उसका यह अधिराष्ट्र स्वरूप प्रकट होने लगता है। कुत्स शब्द संस्कृत की 'कुत्स' धातु से निष्पन्न होता है। आचार्य पाणिनि ने अपने धातु पाठ में कुत्स धातु का अर्थ 'अवक्षेपण' दिया है 'अवक्षेपण' का अर्थ होता है निन्दा करना, दोष दिखाना, कमियों और न्यूनताओं को दिखाना, त्रुटियों को दिखाना। निन्दा का अर्थ किसी की निष्कारणक बुराई करना नहीं है। दोषों के आधार पर किसी की भर्त्सना को निन्दा कहते हैं। इसी कुत्स धातु से कुत्सा शब्द भी बनता है जिसका अर्थ भी निन्दा अर्थात् किसी के दोषों को, कमियों को, न्यूनता और त्रुटियों को प्रकट करना होता है। जो कुत्सा करे वह कुत्स कहलायेगा¹। अब 'इन्द्राकुत्सा'—इन्द्र और कुत्स—इस द्वन्द्व समास में जिस कुत्स को इन्द्र का सहचारी और सहायक बताया गया है वह किसकी कुत्सा करेगा? किसके दोषों, कमियों, न्यूनताओं और त्रुटियों को दिखायेगा? सम्राट् का सहचारी और सहायक उच्च राज्याधिकारी होने के नाते वह राज-कर्मचारियों के दोषों, कमियों और त्रुटियों को ही दिखायेगा। राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों के कर्मचारियों को अपने-अपने विभागों के कार्य इस दृष्टि और लक्ष्य को आगे रखकर करने होते हैं कि उनसे राष्ट्र निवासियों का अधिक से अधिक कल्याण और मंगल हो, उनकी अधिक से अधिक सुख-समृद्धि बढ़े इसके लिए उन्हें पूरी निष्ठा, ईमानदारी और तत्परता से काम करना होगा जिससे उनके विभागों के कार्यों के निर्धारित लक्ष्य भली-भाँति पूरे हो सकें। बहुत बार ऐसा होता है कि कर्मचारी अपने कार्य को पूरी निष्ठा और ईमानदारी से नहीं करते। जिसको जितना समय अपने काम में देना

¹ कुत्सयति इति कुत्सः। कुत्सयति अवक्षिपति निन्दति दोषाणां त्रुटीनां चोद्घाटनं करोति दोषान् त्रुटीष्वच प्रकटयति इति यावत्।

चाहिए था वह उतना समय उसमें नहीं देता, जितना परिश्रम उसमें करना चाहिए था उतना परिश्रम उसमें वह नहीं करता है। खाली बैठ रहता है, गप्पें मारता रहता है, काम की उपेक्षा करता है। जिसके कारण काम थोड़ा हो पाता है। बहुत बार यह भी होता है कि कर्मचारी लोग स्वार्थ और लोभ के बश में होकर अपने विभाग की वस्तुओं का उपभोग अपने निजी काम में करने लगते हैं। ऐसा भी बहुत बार होता है कि जिन राजकर्मचारियों का लोगों के साथ वास्ता पड़ता है और उन्हें लोगों के काम करने होते हैं वे कर्मचारी लोगों से रिश्त लेकर उनका काम करते हैं। राजकर्मचारी और भी अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार के कार्य करने लगते हैं। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकता से कम होता है, जहाँ-जहाँ जितना काम होना चाहिए था वहाँ उतना काम नहीं हो पाता, राष्ट्र की संपत्ति की हानि और दुरुपयोग होता है। और सब से बड़ी हानि यह होती है कि राष्ट्र में भ्रष्टाचार फैलकर उसके निवासियों का चारित्रिक स्तर नीचे गिर जाता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रवासियों के कल्याण और मंगल, उनकी सुख-समृद्धि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए थी उतनी नहीं हो पाती और वे कष्ट में रहते हैं। कुत्स नामक उच्च राज्याधिकारी का विभाग और उसके कर्मचारी राज्य के विभिन्न विभागों के कार्य-कलाप और उनके कर्मचारियों पर दृष्टि रखते हैं और देखते हैं किस विभाग में कहाँ कार्य ठीक नहीं हो रहा है, कहाँ कर्मचारी अपने काम में उपेक्षा और लापरवाही कर रहे हैं, कहाँ उत्पादन कम हो रहा है, कहाँ भ्रष्टाचार हो रहा है और इस सबके लिए कौन-कौन लोग उत्तरदायी हैं। इन सब प्रकार की कमियों और त्रुटियों को कुत्स और उसका विभाग इन्द्र (सम्राट्) के आगे उपस्थित करते हैं। इन्द्र सब बातों पर भली-भाँति विचार करके उनके सम्बन्ध में यथोचित कार्यवाही करने का आदेश देता है और अपराध के अनुसार अपराधियों को दण्ड दिया जाता है। आजकल की परिभाषा में जिसे सतर्कता विभाग (Vigilance Department) कहा जाता है वेद का कुत्स उस प्रकार के विभाग का सर्वोच्च राज्याधिकारी या मंत्री है। कुत्स और उसका यह विभाग भ्रष्टाचार करने वाले लोगों पर भी दृष्टि रखता है और अपने निर्धारित कामों में त्रुटि करने वाले लोगों पर भी आँख रखता है।

यास्काचार्य ने कुत्स शब्द को 'कृती' धातु से व्युत्पन्न माना है जिसका अर्थ छेदन अर्थात् काटना होता है¹। जो काट डाले वह कुत्स कहलायेगा। कुत्स का हम जो अभिप्राय ले रहे हैं उसमें यास्क का यह अर्थ भी संगत हो जाता है। कुत्स नामक राज्याधिकारी राजकर्मचारियों के भ्रष्टाचार और उनके द्वारा अपने निर्धारित कार्यों में की जा रही उपेक्षा और लापरवाही को काट डालता है इसलिए वह कुत्स है। यास्क ने यह भी लिखा है कि आचार्य औपमन्यव इस शब्द को 'कृ' (डुकृ न्) धातु से व्युत्पन्न मानते हैं जिसका अर्थ करना होता है। जो करे वह कुत्स। कुत्स शब्द का यह

¹ कुत्स एतत् कृन्ततेऽर्धः। कुत्सो भवति, कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवोन्नाप्यस्य वधकर्मैव भवति। निरु० 3.2.11 ; कृन्तति इति कुत्सः। करोति इति कुत्सः।

अर्थ भी कुत्स नामक राज्याधिकारी में संगत हो जाता है। वह राजकर्मचारियों के भ्रष्टाचार को और उनके द्वारा अपने निर्धारित कामों में की जा रही उपेक्षा और लापरवाही को रोकने का काम करता है इसलिए वह कुत्स है। हमारी सम्मति में कुत्स शब्दों को 'कुत्स अवक्षेपण' धातु से निष्पन्न मानना अधिक उपयुक्त है। 'कृती' और 'कृ' धातु से निष्पन्न इस शब्द को मानने की अवस्था में इसकी रूप सिद्धि में बहुत अधिक प्रयास करना पड़ता है। इसके लिए औणादिक प्रक्रिया में बाहुलक विद्या का आश्रय लेना पड़ता है। 'कुत्स' धातु से इस शब्द को व्युत्पन्न करने की अवस्था में इसकी रूप सिद्धि बड़ी सरल हो जाती है और इसका अर्थ भी व्यावहारिक और शिक्षादायक बन जाता है।

ऋग्वेद 1.10.6 मंत्र में कुत्स को ऋषि विशेषण दिया गया है। कुत्स का जो अधिराष्ट्र अर्थ हम कर रहे हैं उसमें ऋषि का अर्थ प्रत्येक बात और घटना को सूक्ष्मता से देखने वाला गहरा ज्ञानी समझदार विद्वान् ऐसा करना होगा। यह शब्द गत्यर्थक 'ऋषी' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ जानना भी होता है।¹

कुत्स का हमारा अर्थ कुत्स के सभी मंत्रों में बड़ी अच्छी तरह संगत हो जाता है। यह आगे के पृष्ठों में किये जा रहे विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा।

कुत्स के सम्बन्ध से श्री सायणाचार्य की विसंगतियाँ

आगे बढ़ने से पहले सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्य में कुत्स के सम्बन्ध में जो विसंगतियाँ की हैं उन पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

(क) कुत्स ऋषि है या राजा ?

ऋग्वेद में ऐसे मन्त्र 37 हैं जिनमें कुत्स का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में ऐसे मन्त्र 4 हैं। इन 41 मन्त्रों में से 14 मन्त्रों के भाष्य में सायणाचार्य ने कुत्स को एक ऋषि का नाम माना है। और 8 मन्त्रों के भाष्य में उसे एक राजा का नाम माना है। शेष मन्त्रों में यह स्पष्ट नहीं किया है कि वहाँ कुत्स का अर्थ इस नाम का ऋषि है या राजा। पाठक स्वयं निर्णय करता रहे कि सायण का इन स्थलों में कुत्स से क्या अभिप्राय है। आचार्यसायण को इन स्थलों में भी स्पष्ट करना चाहिए था कि यहाँ कुत्स ऋषि का नाम है या राजा का। सायण जब कुत्स को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं तो उन्हें स्पष्ट प्रमाण देकर बताना चाहिए था कि यह व्यक्ति कोई ऋषि है या राजा। और यदि कुत्स एक ऋषि और एक राजा दोनों का ही नाम है तो उसके लिए भी प्रमाण दिये जाने चाहिए थे। और ये प्रमाण स्वयं वेद मन्त्रों के होने चाहिए थे। आचार्य सायण वेद का कोई प्रमाण इस सम्बन्ध में नहीं दे सके हैं। उन्होंने बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में कही गई बातों और कथाओं को वेद मन्त्रों पर थोप दिया है और उन्हीं के आधार पर कहीं कुत्स को एक ऋषि का नाम बता दिया है और

1 ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा इति ऋषिः। उणादि० 4.120 सूत्रेण इत् प्रत्ययः।

कहीं एक राजा का। और ऐसा करके वेद को निरर्थक गपड़ों का पिटारा एवं हास्यास्पद बना दिया है। सायण के दृष्टिकोण से कुत्स को एक ऋषि तो कदाचित् कहा भी जा सकता है क्योंकि ऋग् १.106.6 मन्त्र में कुत्स के लिए ऋषि विशेषण का प्रयोग हुआ है। परन्तु कुत्स के लिए राजा वाचक किसी विशेषण का प्रयोग तो किसी मन्त्र में भी सायण के भाष्यानुसार नहीं मिलता है। फिर सायण कुत्स को एक राजा का नाम कैसे कह सकते हैं? यों कुत्स के साथ ऋषि विशेषण आ जाने मात्र से उसे किसी ऐतिहासिक कुत्स का नामक ऋषि का नाम नहीं कहा जा सकता। आर्य ऋषि-मुनियों और आचार्यों की परम्परा में वेद को अपौरुषेय और अनादि माना जाता है। आचार्य सायण भी ऐसा ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में अनादि और अपौरुषेय वेद में कुत्स या किसी भी अन्य ऐतिहासिक व्यक्ति का उल्लेख हो ही नहीं सकता। फिर भी सायण और वृहद्देवता आदि के लेखक जिनका अनुसरण सायण करते हैं वेद में ऐतिहासिक व्यक्तियों का इतिहास कैसे मान बैठते हैं यह समझ में नहीं आता। इसलिए कुत्स को एक ऐतिहासिक ऋषि का नाम न मानकर कुत्स और ऋषि शब्दों की दूसरी व्याख्या करनी चाहिए। हमारे विचार में कुत्स की एक अधिराष्ट्र व्याख्या भी हो सकती है। इस प्रकरण में हम उसी को प्रस्तुत कर रहे हैं।

(ख) कुत्स गोत्र-प्रवर्तक ऋषि नहीं

जैसा कि हमने अभी ऊपर उल्लेख किया है सायण अपने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर कुत्स को एक ऋषि-विशेष का नाम बताते हैं। ऋग् १.33.14 मन्त्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि कुत्स एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम है।¹ अर्थात् कुत्स एक ऋषि थे जिनसे कुत्स नामक गोत्र चला है और जिसके वंशजों को कौत्स कहा जाता है। वेद के किसी मन्त्र में ऐसा वर्णन नहीं आता है कि कुत्स ऋषि से इस नाम का कोई गोत्र चला है। जिस ऋग् १.33.14. मन्त्र के भाष्य में सायण ने यह बात लिखी है उस मन्त्र में भी इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गई है। यह सब बात सायण और वृहद्देवता आदि के लेखकों ने वेद पर व्यर्थ में थोप दी है और ईश्वरीय ज्ञान वेद के स्वरूप को विगाड़ कर किस्से-कहानियों का पिटारा बना दिया है।

(ग) कुत्स अर्जुन का पुत्र है या अर्जुनी का ?

वेद में कुत्स का एक विशेषण 'आर्जुनेय' आता है। ऋग् १.112.23 मन्त्र की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने कुत्स के इस 'आर्जुनेय' विशेषण का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'अर्जुन, यह इन्द्र का नाम है।' शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि अर्जुन यह इन्द्र का गुप्त नाम है। उस अर्जुन नाम वाले इन्द्र का पुत्र होने के कारण

¹ कुत्सम् एतन्नामकं गोत्रप्रवर्तकमृषिम्। ऋग् १.33.14 भाष्ये सायणः।

कुत्स को आर्जुनेय कहा गया है।¹ इस प्रकार सायण के मत में कुत्स अर्जुन (इन्द्र) का पुत्र है। साथ ही सायण ने ऋग्० 4.26.1, ऋग्० 7.19.2 और ऋग्० 8.1.11 मन्त्रों में कुत्स के लिए आये 'आर्जुनेय' विशेषण का अर्थ अर्जुनी का पुत्र ऐसा किया है।² अब, कुत्स अर्जुन का पुत्र है या अर्जुनी का ? एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का पुत्र कैसे हो सकता है ? फिर अर्जुनी कौन है यह भी सायण ने स्पष्ट नहीं किया है।

अर्जुन इन्द्र का नाम नहीं

वेद में कहीं भी इन्द्र को अर्जुन नाम से नहीं कहा गया है। उवट और महीधर ने यजु० 10.21 मन्त्र के अपने भाष्य में अर्जुन शब्द को राजसूय यज्ञ में अभिषिच्यमान राजा का विशेषण माना है और अर्थ किया है कि अर्जुन के तुल्य अर्थात् इन्द्र के तुल्य।³ और इन्द्र का गुप्त नाम अर्जुन है इसके प्रमाण में शतपथ ब्राह्मण का वही प्रमाण दिया है जो कि सायण ने इस ऋग्० 1.112.23 में आर्जुनेय शब्द की व्याख्या करते हुए दिया है। अब देखने की बात यह है कि ऋग्वेद और अथर्ववेद में अर्जुन शब्द अपने विभिन्न लिंग और विभक्ति रूपों में 19 बार आया है। सायणाचार्य ने इन दोनों वेदों के अपने भाष्य में कहीं भी अर्जुन शब्द का अर्थ इन्द्र नहीं किया है। जब वेद में अर्जुन शब्द इन्द्र के लिए प्रयुक्त ही नहीं हुआ तो आचार्य सायण कुत्स के आर्जुनेय विशेषण में अर्जुन शब्द का अर्थ इन्द्र किस प्रकार करते हैं यह समझ में आने वाली बात नहीं है। यजुर्वेद में अर्जुन शब्द केवल एक बार आया है और वहाँ भी यह उवट और महीधर के अनुसार अभिषिक्त हो रहे राजा का विशेषण है, इन्द्र का नहीं। सायण, उवट और महीधर तीनों ने शतपथ के उक्त वाक्य के आधार पर इस शब्द का अर्थ इन्द्र किया है। वेद में सीधे तौर पर इन्द्र को कहीं भी अर्जुन नहीं कहा गया है।

इन्द्र का गुप्त नाम अर्जुन किस प्रकार है इसे सायण आदि ने भी स्पष्ट नहीं किया है और शतपथ ब्राह्मण ने भी नहीं। पौराणिक कल्पना के अनुसार महाभारत का अर्जुन कुन्ती से स्वर्गाधिपति इन्द्र के द्वारा उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार अर्जुन इन्द्र का पुत्र माना जाता है। पुत्र एक प्रकार से पिता का ही रूप होता है इस विचार के आधार पर इन्द्र और अर्जुन को एक कर दिया गया प्रतीत होता है। और इसी कारण

¹ आर्जुनेयम् अर्जुन इतीन्द्रस्य नाम। तथा च वाजनेयकम्—'एतद्वा इन्द्रस्य गुह्यं' नाम यदर्जुनः' इति। तस्यपुत्रं कुत्सम्। ऋग्० 1.112.23 भाष्ये सायणः।

² आर्जुनेयम् अर्जुन्याः पुत्रं कुत्सम् एतन्नामकमृषिम्। ऋग्० 4.26.1 भाष्ये सायणः।

³ अर्जुनः अर्जुनशीला। 'अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः' इति श्रुतिः। यजु० 10.21 भाष्ये उवटः। अर्जुनोर्जुनतुल्य इन्द्र इत्यर्थः। 'अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः' [5.4.3.7] इति श्रुतेः। यजु० 10.21 भाष्ये महीधरः। अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः। शत० 2.1.2.11 ; अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम। शत० 5.4.3.7।

इन्द्र का नाम भी अर्जुन है ऐसा कह दिया गया लगता है। इसी आधार पर प्रतीत होता है कि शतपथकार ने अर्जुन इन्द्र का गुप्त नाम है ऐसा लिख दिया है। महाभारत का अर्जुन स्वर्गाधिपति इन्द्र का पुत्र है और इसीलिए अर्जुन एक प्रकार से इन्द्र ही है इस पौराणिक कल्पना का प्रभाव शतपथ ब्राह्मण के लेखक पर भी पड़ गया प्रतीत होता है। तभी उसने, अर्जुन, यह इन्द्र का गुप्त नाम है ऐसा लिखा है।

कुत्स के आर्जुनेय विशेषण की उसके अधिराष्ट्र अर्थ में संगति

अर्जुन का अर्थ श्वेत भी होता है। निघण्टु¹ में इसका अर्थ रूप भी किया गया है। निरुक्त² में इसका अर्थ शुक्ल किया गया है जोकि श्वेत का ही वाचक है। ऋषि दयानन्द ने³ इसका एक अर्थ ऋजुगत्यादि गुणों वाला अर्थात् सरल गति आदि गुणों वाला ऐसा भी किया है। अर्जुन के इन अर्थों को ध्यान में रखकर कुत्स के विशेषण 'आर्जुनेय' की हमारे द्वारा प्रदर्शित कुत्स के अधिराष्ट्र अर्थ में बड़ी सुन्दर संगति बैठ जाती है। वेद में पुत्र और उसके वाचक अन्य शब्द तथा पुत्र के अर्थ को बताने वाले तद्धित प्रत्यय अधिकता को बताने के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ करते हैं। वेद में अनेक स्थानों पर अग्नि को 'सहसः सूनुः' अर्थात् 'बल का पुत्र' कहा गया है। इसका भाव यह है कि अग्नि में बहुत बल है। 'आर्जुनेय' शब्द अर्जुन शब्द से पुत्र अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। इसका शब्दार्थ है अर्जुन का पुत्र। जिसका भाव यह है कि जिसमें रूप की, श्वेतपन की और सरलता आदि गुणों की अधिकता है। कुत्स का विशेषण होकर यह शब्द यह बतायेगा कि कुत्स नामक राज्याधिकारी में शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वच्छता और पवित्रता के श्वेत, शुभ्र और निर्मल गुण बड़ी मात्रा में विद्यमान हैं, तथा उसमें सरलता का गुण भी बड़ी मात्रा में विद्यमान है, वह सब प्रकार की कुटिलता से सदा दूर रहता है। इस शब्द के इतने सुन्दर अर्थ रहते हुए भी आचार्य सायण ने इसका 'अर्जुन अर्थात् इन्द्र का पुत्र' ऐसा निरर्थक, असम्भव और काल्पनिक अर्थ क्यों कर दिया यह समझ में नहीं आता। पौराणिक संस्कारों से बुरी तरह प्रभावित होने के कारण ही उन्होंने ऐसा किया है।

उबट और महीधर को भी यजु० 10.21 मन्त्र में अर्जुन शब्द का, जोकि उनके अनुसार राज्याभिषिक्त हो रहे राजा का विशेषण है, इन्द्र के तुल्य ऐसा निराधार और काल्पनिक पौराणिक अर्थ करने की आवश्यकता नहीं थी। वहाँ भी अर्जुन विशेषण का यह अर्थ किया जा सकता है कि अभिषिच्यमान राजा शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सब प्रकार की स्वच्छता और पवित्रता के श्वेत, शुभ्र और निर्मल गुणों वाला है तथा वह सब प्रकार की कुटिलता से रहित है और सदा ही सरल नीति पर चलने वाला है। उबट और महीधर ने भी पौराणिक संस्कारों से

¹ अर्जुनम् इति रूपनाम । निघ० 3.7.

² अर्जुनं शुक्लम् । निरु० 2.6.21.

³ अर्जुनम् ऋजुगत्यादिगुणम् । ऋग्० 6.9.1 भाष्ये दयानन्दविः ।

देवमाला : मन्त्रिमण्डल

प्रभावित होने के कारण ही ऐसा वेढंगा अर्थ किया है।

कुत्स न तो अर्जुन का पुत्र है और न ही अर्जुनी का

अब आइये 'आर्जुनेय' के अर्थ 'अर्जुनी के पुत्र' पर। सायण ने 'अर्जुनी क्या है?' इसे स्पष्ट नहीं किया है। संस्कृत के शब्दकल्पद्रुम कोश में अर्जुनी शब्द के (1) गवी (गौ), (2) करतोया नदी, (3) कुट्टनी, और (4) उषा—ये चार अर्थ दिये हैं। वाचस्पत्यवृहदभिधान कोश में अर्जुनी के (1) उषा, और (2) बाहुदा नदी—ये दो अर्थ दिये हैं। ये दोनों कोश संस्कृत के विशालतम कोश हैं। अब यह बात समझ से बाहर की है कि कुत्स, चाहे सायण उसे एक ऋषि का नाम मानें और चाहे एक राजा का, अर्जुनी के इनमें से किसी भी अर्थ में उसका पुत्र कैसे हो सकता है। कुत्स एक मानव व्यक्ति है। वह किसी मनुष्य माता और पिता से ही उत्पन्न हो सकता है। इन गौ आदि में से किसी से वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? पता नहीं आचार्य सायण का इस मोटी सी बात की ओर ध्यान क्यों नहीं गया। वास्तव में सायणाचार्य आदि भाष्यकारों के मन पर पौराणिक किस्से-कहानियों का इतना अधिक प्रभाव था कि वे उससे बाहर होकर सोच ही नहीं सकते थे। और उस प्रभाव के अधीन होकर उन्होंने वेदार्थ को सर्वथा हास्यास्पद बना दिया है। आर्जुनेय शब्द का जो अर्थ सायणाचार्य ने किया है वह नितान्त असंगत है।

हमारे इस विवेचन से पाठकों पर स्पष्ट हो जायेगा कि कुत्स न तो अर्जुन का पुत्र है और न ही अर्जुनी का।

(घ) इन्द्र कुत्स की रक्षा करता है या उसे पराजित करता है?

जिन मन्त्रों में कुत्स का उल्लेख हुआ है उन सभी में इन्द्र के द्वारा उसकी रक्षा का वर्णन है। सायण ने अपने भाष्य में मन्त्रों का इसी आशय का अर्थ किया है। परन्तु एक मन्त्र का सायण ऐसा भी अर्थ कर बैठे हैं जिसके अनुसार इन्द्र कुत्स का वध कर देता है। मन्त्र इस प्रकार है—

त्वमाविथ सुश्रवस् तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम्।

त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः ॥

ऋग् ० 1.53.10.

इस मन्त्र के सायणभाष्य का अर्थ इस प्रकार है—'हे इन्द्र तुम अपनी रक्षाओं के द्वारा सुश्रवस् नामक राजा की रक्षा करते हो, तुम अपने रक्षक बलों के द्वारा तूर्वयाण नामक राजा की रक्षा करते हो, तुम इस जवान बड़े राजा सुश्रवस् नामक राजा के लिए कुत्स, अतिथिव और आयु नामक तीन राजाओं को वश में लाते हो और पराजित करते हो।'।

सायण के इस अर्थ में पहली बात तो देखने की यह है कि उनका यह ऐतिहासिक राजाओं की कहानी वाला अर्थ उनकी अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है। सायण

ने अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि वेद अपौरुषेय है, अपौरुषेय वेद में लौकिक व्यक्तियों का इतिहास नहीं हो सकता। सायण अपनी इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध इस मन्त्र का ऐसा ऐतिहासिक अर्थ क्यों करते हैं? अनादि, अपौरुषेय और ईश्वरीय ज्ञान वेद में किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास नहीं हो सकता। यदि वेद में किसी व्यक्ति का इतिहास हो तो वेद उसके बाद की रचना हो जायेगा और अनादि, अपौरुषेय और ईश्वरीय नहीं रहेगा। अतः सायण का यह अर्थ सही नहीं है। इसलिए इस मन्त्र का दूसरा अर्थ किया जाना चाहिए। अधिराष्ट्र अर्थ में मन्त्र का वह दूसरा अर्थ क्यों हो सकता है। यह हम अभी देखेंगे।

दूसरी बात सायण के इस अर्थ में देखने की यह है कि जब कुत्स वाले शेष सभी मन्त्रों में इन्द्र द्वारा कुत्स की रक्षा किये जाने का वर्णन है तो इस एक मन्त्र में इन्द्र द्वारा कुत्स के साथ युद्ध करने और उसे पराजित किये जाने की बात कहाँ से आ गई? सायण तो कुत्स को इन्द्र का पुत्र मानते हैं। इन्द्र अपने पुत्र से युद्ध क्यों करेगा और उसे पराजित क्यों करेगा? युद्ध में तो कुत्स के मारे जाने की सम्भावना भी हो सकती है। इन्द्र ऐसी अवांछनीय सम्भावना वाली बात अपने पुत्र के साथ क्यों करेगा? कुत्स को इन्द्र का पुत्र भी बताना और उसके साथ इन्द्र द्वारा युद्ध किये जाने और पराजित किये जाने की बात भी कहना यह आचार्य सायण के भाष्य की बड़ी विसंगति है। जबकि इस एकमन्त्र के अतिरिक्त कुत्स के शेष सभी मन्त्रों में सायण ने इन्द्र द्वारा कुत्स की रक्षा किये जाने सम्बन्धी अर्थ ही किया है, इस मन्त्र का अर्थ भी उसी प्रकार का किया जाना चाहिए था।

अब इस मन्त्र का हमारा अर्थ देखिये। मन्त्र में जिन शब्दों का सायणाचार्य ने ऐतिहासिक राजा विशेष अर्थ किया है वे शब्द वस्तुतः किन्हीं राजाओं के वाचक नहीं हैं। वे यौगिक शब्द हैं और कुत्स के विशेषण हैं। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

‘(इन्द्र) हे इन्द्र (त्वं) तुम (तव) तेरी अर्थात् अपनी (ऊतिभिः) रक्षाओं के द्वारा और (तव) अपने (त्रामभिः) रक्षक बलों और साधनों के द्वारा (सुश्रवसं)¹ उत्तम ज्ञान, यश और अन्न वाले (तूर्वयाणं)² अपने गमन द्वारा लोगों को कष्ट देने वाली बुराइयों को नष्ट करने वाले (अतिथिग्वं)³ विविध प्रकार के व्यवहारों और काम-धन्धों में दौड़-धूप करने वाले प्रजाजनों के पास पहुँचने वाले (आयुं)⁴ विविध प्रकार के कामों में लगे रहने वाले मानव (कुत्सं) इस कुत्स की (आविथ) रक्षा करते हो

¹ सुश्रवसं शोभनं श्रवः श्रवणं ज्ञानं यशः अन्नं वा यस्य स सुश्रवाः तम्।

² तूर्वयाणं तूर्वं कदाचारहिंसकं यानं गमनं प्राप्तियस्य सतूर्वयाणः तम्।

³ अतिथिग्वम् अतति सातत्येन गच्छति विविधव्यवहारेषु व्यापृतो भवति इति अतिथिः नानाकार्येषु संरतः प्रजाजनः तं गच्छति इति अतिथिग्वः तम्।

⁴ आयुम् आ समन्तात् याति गच्छति नैकविधकर्मसु चेष्टते इति आयुः मनुष्यः तम्। आयवः इति मनुष्यनाम। निघ० 2,3.

और इस प्रकार (राज्ञे)¹ अपने गुणों से चमकने वाले, शोभायमान (महे) अपनी योग्यता और कार्यों के द्वारा महान् (यूने)² नाना प्रकार के लाभदायक कार्यों को करने वाले और हानिकारक कार्यों को त्यागते रहने वाले (अस्मै) अपने राष्ट्र के इन लोगों के लिए (अरन्धनायः)³ पर्याप्त धन देने वाले की भाँति आचरण करते हो अर्थात् उन्हें पर्याप्त धन देते हो ।'

कुत्स को सुश्रवस् कहने का अभिप्राय यह है कि उसे विविध प्रकार के ज्ञान से युक्त होना चाहिए । उसके आचरण इतने अच्छे होने चाहिए कि उनसे उसको यश मिले, लोग उनकी प्रशंसा करें । उसे अन्नवाला कहने का भाव यह है कि जब कुत्स नामक राज्याधिकारी और उसके विभाग के लोग अन्न उपजाते वाले और उसका वितरण करने वाले लोगों पर दृष्टि रखेंगे और उन्हें अपने कामों में त्रुटि नहीं करने देंगे तो अन्न का उत्पादन अधिक होगा तथा उसका वितरण भी दोषरहित होगा जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रनियामियों को अन्न यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध हो सकेगा । कुत्स को तूर्वयाण कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ वह और उसके विभाग के कर्मचारी पहुँचते हैं उन-उन क्षेत्रों में काम करने वाले लोग अपने बुरे तरीकों को छोड़ देते हैं, अपने कामों को त्रुटि रहित ढंग से करने लगते हैं और उनके बुरे तरीकों का अवलम्बन करने से जनता को जो कष्ट हो रहा था वह दूर हो जाता है । उसे अतिथिग्व कहने का भाव भी समझ लेना चाहिए । अतिथि का अर्थ होता है जो चलता-फिरता रहे अर्थात् विविध प्रकार के कामों में लगा रहे । अतिथिग्व का अर्थ होगा जो ऐसे अतिथियों के पास पहुँचे । प्रजाजन अतिथि हैं क्योंकि वे भाँति-भाँति के कामों में लगे रहते हैं । कुत्स और उसके कर्मचारी प्रजा के इन भाँति-भाँति के काम करने वाले लोगों के पास पहुँच कर उनके कामों की जाँच-पड़ताल करते हैं और उन्हें अपने कामों में त्रुटियाँ और कदाचरण करने से रोकते हैं । आयु का अर्थ विभिन्न प्रकार के कामों में चेष्टाशील रहने वाला मनुष्य होता है । यह शब्द निघण्टु में मनुष्यवाचक नामों में दिया गया है । राजा का यौगिक धात्वर्थ चमकने वाला होता है । यहाँ यह शब्द प्रजाजनों के विशेषण के रूप में आया है । इसका सामान्य राजा अर्थ यहाँ नहीं लिया जा सकता । क्योंकि राजा का वाचक शब्द, इन्द्र शब्द, तो मन्त्र में पड़ा ही है । मन्त्र का युवा शब्द (यूने) भी यहाँ अपने प्रसिद्ध युवक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है । युवा का यौगिक अर्थ मिश्रण और अमिश्रण करने वाला—मेल और जुदाई

¹ राज्ञे राजते गुणैः प्रकाशते इति राजा तस्मै राज्ञे ।

² यूने यीति विभिन्नकार्येषु मिश्रितः अमिश्रितश्च भवति, नैकविधान् पदार्थान् मिश्रयति अमिश्रयति वा इति युवा तस्मै यूने । लाभप्रदानि कार्याणि कुर्वते अलाभप्रदानि च परित्यजते प्रजाजनाय इति यावत् ।

³ अरन्धनायः अरन्धनं यस्य स अरन्धनः पर्याप्तधनः स इवाचरति अरन्धनायति । मध्यम-पुरुषैकवचने अरन्धनायसि । अद्वैग्यत्ययेन लङर्थे लङ् आडभावश्च । ऋग्० 1.53.10 भाष्ये दयानन्दपिक्कता निरुक्तिरज्ञोपजीविता ।

करने वाला—होता है। मन्त्र में यह शब्द प्रजाजनों के लिए आया है। प्रजाजन नाना प्रकार के लाभदायक कामों को करके उनसे अपना मिश्रण या मेल करते हैं और हानिकारक कामों को त्याग कर उनसे अपना अमिश्रण करते हैं, उनसे दूर रहते हैं। प्रजाजन जो भाँति-भाँति की चीजों का निर्माण करते हैं उनमें भी उनके द्वारा मिश्रण और अमिश्रण होता रहता है। वे वस्तुनिर्माण के समय किन्हीं चीजों को मिलाते हैं और किन्हीं को पृथक् करते हैं। युवकों को भी युवा इसीलिए कहा जाता है क्योंकि वे अनेक प्रकार के मिश्रण और अमिश्रण के लोगोपयोगी कार्य करते हैं। इन्द्र द्वारा कुत्स की रक्षा करके राष्ट्रनिवासियों को धन दिये जाने का भाव भी समझ लेना चाहिए। यदि लोगों के कार्यों का निरीक्षण और जाँच-पड़ताल न की जाती रहे तो वे असावधान, लापरवाह और सुस्त हो जाते हैं। इससे काम जितना होना चाहिए उतना नहीं हो पाता। परिणामतः उत्पादन यथेष्ट नहीं हो पाता। लोभ-लालच के वश निर्मित वस्तुओं का अवैध रूप में दुरुपयोग भी किया जाने लगता है, और भी अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार होने लगते हैं। जिनका परिणाम यह होता है कि जनता की आवश्यकताएँ भली-भाँति पूरी नहीं हो पातीं। लोग निर्धनता और गरीबी में रहने लगते हैं। कुत्स के द्वारा सब विभागों और कार्यक्षेत्रों का निरीक्षण और जाँच-पड़ताल होते रहने से काम करने वालों की ये त्रुटियाँ और बुराइयाँ दूर होती रहती हैं। उत्पादन बढ़ता रहता है। उसका वितरण भी ठीक प्रकार से होता है। लोगों की आवश्यकताएँ भली-भाँति पूरी होने लगती हैं। उनमें निर्धनता और गरीबी नहीं रहती।

इन्द्र द्वारा कुत्स की रक्षा किये जाने का भाव भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जब कुत्स और उसके विभाग के कर्मचारी विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों के कामों का निरीक्षण और जाँच-पड़ताल करेंगे और उनके दोषों और त्रुटियों को प्रकट करेंगे और त्रुटियों और दोषों के कारण उनको दण्ड मिलेगा तो बहुत बार ऐसा होगा कि लोग कुत्स और उसके कर्मचारियों से नाराज हो जायेंगे और उनकी निन्दा और शिकायतें करने लगेंगे। जिसके कारण उन्हें अपना निरीक्षण और जाँच-पड़ताल का कार्य करने में कठिनाई होगी। ऐसी स्थिति में इन्द्र (सम्राट्) को कुत्स की और उसके कर्मचारियों की रक्षा करनी होगी।

ऐसा सुन्दर राजनीतिक अर्थ देने वाले मन्त्र का अर्थ आचार्य सायण ने कैसा बिगाड़ कर रख दिया है।

कुत्स के मन्त्रों में कहानियाँ

आचार्य सायण ने अपने भाष्य में वृहद्देवता आदि के आधार पर कुत्स के मन्त्रों में कुछ कहानियाँ भी दी हैं। जिन मन्त्रों के भाष्य में ये कहानियाँ दी गई हैं उन मन्त्रों में वस्तुतः इन कहानियों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किसी एक-आध ऐसे शब्द को मन्त्र में देखकर जोकि कहानी के किसी पात्र का भी नाम है सारी

कहानी मन्त्र पर थोप दी गई है। जबकि सायण के अपने मन्तव्यानुसार भी अनादि अपौरुषेय वेद में किसी लौकिक व्यक्ति की कहानी या इतिहास नहीं हो सकता। फिर भी सायण ने वेद-मन्त्रों पर ये कहानियाँ थोप दी हैं। कुत्स विषयक मन्त्रों की इन कहानियों पर यहाँ दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा।

जल में छिपे श्वैत्रेय ऋषि के उद्धार की कहानी

आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन् प्रावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम् ।
शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ ॥

ऋग० 1.33.14.

सायणाचार्य ने ऋग्वेद के इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है —

हे इन्द्र गोत्रप्रवर्तक जिस कुत्स ऋषि में तुम स्तुति की कामना करते हो उसकी तुमने रक्षा की है, दसों दिशाओं में चमकने वाले, गुणों में श्रेष्ठ और शत्रुओं से युद्ध कर रहे दशद्यु नामक ऋषि की भी तुमने रक्षा की है, तेरे गोड़ों के खुरों से उठी हुई धूल द्युलोक तक पहुँचती है, श्वित्रा नामक स्त्री का पुत्र जो कि पहले शत्रुओं के भय से जल में छिप गया था वह श्वैत्रेय नामक ऋषि भी तेरी कृपा से शत्रु लोगों से युद्ध करने के लिए जल में से उठ खड़ा हुआ था।

पाठक ध्यान से इस मन्त्र को देखेंगे तो वे पायेंगे कि मन्त्र में तो इतना ही कहा गया है कि 'श्वैत्रेयो नृषाह्याय उत् तस्थौ' अर्थात् 'श्वैत्रेय युद्ध के लिए उठ खड़ा हुआ।' मन्त्र में यह नहीं कहा गया है कि श्वैत्रेय किसी श्वित्रा नामक स्त्री का पुत्र था। और न ही मन्त्र में यह कहा गया है कि श्वैत्रेय शत्रुओं के भय से पानी में छलांग मार कर छिप गया था। केवल श्वैत्रेय पद को मन्त्र में देखकर मन्त्र पर यह कहानी थोप दी गई। मन्त्र के ये श्वैत्रेय आदि पद गुणवाची पद हैं किन्हीं व्यक्ति-विशेषों के नाम नहीं हैं। सायण को इन पदों का यौगिक अर्थ करना चाहिए था और मन्त्र से कोई व्यवहारोपयोगी शिक्षा दिखानी चाहिए थी।

मन्त्र की हमारी अधिराष्ट्र व्याख्या इस प्रकार है—

‘(इन्द्र) हे इन्द्र (यस्मिन्) जिस कुत्स में (चाकन्) तुम कामना करते हो अर्थात् जिस कुत्स की रक्षा करना चाहते हो (कुत्स) उस कुत्स की (आवः) तुम सदा रक्षा करते रहते हो (वृषभं) सुख की वर्षा करने वाले (दशद्युम्)¹ गुणों के कारण दसों दिशाओं में अर्थात् सब ओर चमकने वाले (युध्यन्तं) भ्रष्टाचारी लोगों के साथ युद्ध करने वाले उस कुत्स की (प्र-आवः) तुम निश्चित ही भलीभाँति रक्षा करते हो, कुत्स की रक्षा के लिए (शफच्युतः) तुम्हारे घोड़ों के खुरों से उठी हुई (रेणुः) धूल (द्याम्) विविध प्रकार के व्यवहारों तक (नक्षत) पहुँचती है, तुम्हारी रक्षा के कारण

¹ दशद्युं दशसु दिक्षु दीप्यमानम् । सायणः ।

² द्याम् नानाविधं व्यवहारम् । दीव्यतिर्व्यवहारार्थकोपि भवति ।

(श्वेत्त्रेयः)¹ भूमि का पुत्र वह कुत्स (नृषाह्याय) प्रजाजनों की सहायता के लिए (उत् तस्थौ) उठ खड़ा होता है अर्थात् उनकी सहायता में प्रवृत्त रहता है ।'

मन्त्र में कुत्स की रक्षा के लिए जो दो बार 'आवः' क्रियापद का प्रयोग हुआ है इसका तात्पर्य रक्षा पर जोर देना है जिसका भाव यह है कि इन्द्र कुत्स की निश्चित रूप से भलीभाँति रक्षा करता है। कुत्स को जो 'वृषभ' अर्थात् सुख की वर्षा करने वाला कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि जब कुत्स राष्ट्र के विभिन्न कार्यक्षेत्रों में काम करने वाले लोगों के कामों का निरीक्षण और जाँच-पड़ताल करेगा तो लोग सावधान होकर अपना-अपना कार्य करेंगे। उससे सब प्रकार का उत्पादन बढ़ेगा और लोगों को सब प्रकार की उपभोग-सामग्री सुगमता से प्राप्त हो सकेगी और प्रजाजन सुख से रहेंगे। कुत्स को गुणों के कारण दसों दिशाओं में चमकने वाला कहने का अभिप्राय यह है कि उसमें इस प्रकार के गुण होने चाहिए और उसे इस प्रकार का काम करना चाहिए कि सभी जगह उसकी प्रसिद्धि और प्रशंसा हो। कुत्स के द्वारा युद्ध किये जाने से तात्पर्य विभिन्न कार्यक्षेत्रों में काम कर रहे लोगों द्वारा अपना निर्धारित कार्य ठीक से न करने वाले और भ्रष्टाचारी तरीके अपनाने वाले बुरे लोगों का पता लगाकर उन्हें दण्डित कराने से है। इन्द्र के घोड़ों के खुरों की धूल नाना प्रकार के व्यवहारों तक पहुँचने का भाव यह है कि जब कुत्स और उसके विभाग के कर्मचारियों द्वारा अपने-अपने व्यवहारों अर्थात् काम-धन्धों को ठीक से करने में त्रुटि करने वाले तथा भ्रष्टाचार करने वाले लोगों की जानकारी इन्द्र (सम्राट्) को दी जाएगी तो उसकी दण्ड व्यवस्था उन लोगों तक पहुँच कर उन्हें दण्डित करेगी। मानो इन्द्र ही अपने घोड़ों पर चढ़कर उन तक पहुँच गया। कुत्स को श्वेत्त्रेय अर्थात् श्वित्रा अर्थात् भूमि का पुत्र कहने का भाव यह है कि कुत्स को सदा अपने आपको भूमि का अर्थात् अपनी मातृभूमि का, अपने राष्ट्र का, पुत्र समझना चाहिए। एक पुत्र जैसे अपनी माता के सुख-मंगल का ध्यान रखता है उसी प्रकार कुत्स को भी अपने राष्ट्र के लोगों के सुख-मंगल का सदा ध्यान रखना चाहिए और उसी को ध्यान में रखते हुए उसे अपने सब कार्य करने चाहिए। इन्द्र के द्वारा कुत्स की रक्षा किये जाने का भाव पीछे ऋग् १.53.10 मंत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। जब इन्द्र (सम्राट्) की रक्षा कुत्स को प्राप्त रहती है तो वह उठकर अपने कार्यों में जुट जाता है और उन्हें पूरे मनोयोग से भलीभाँति निष्पन्न करता है। कुत्स जो विभिन्न कार्यक्षेत्रों में काम कर रहे लोगों के निरीक्षण और जाँच-पड़ताल आदि का कार्य करता है उसका वास्तविक प्रयोजन प्रजाजनों की सुख-समृद्धि बढ़ाने में सहायता करना है। उसे अपने कार्य इसी भावना से प्रेरित होकर करने चाहिए।

¹ श्वेत्त्रेयः श्वित्राया नानाविधवर्णाया भूमेरपत्यम् । श्वेतते नानाविधवर्णा भवति इति श्वित्रा भूमिः । अथ० 12.1:11 मन्त्रे भूमेर्वभ्रु कृष्णं रोहितं चेति त्रीणि रूपाणि वर्ण्यन्ते । अन्येपि वर्णा भृङ्ग्या भवन्ति । उणादि० 2.13 सूत्रेण श्वित्राशब्दसिद्धिः । श्वित्राया भूमेरपत्यं श्वेत्त्रेय इति ऋग् १.33.14 भाष्ये दयानन्दविः ।

सूर्य के रथ का एक पहिया कुत्स को दिये जाने की कहानी

प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य कुत्सायान्यद् वरिवो यातवेऽकः ।

अनासो दस्यूरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ्मृध्रवाचः ॥

ऋग् ० 5.29.10.

सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

‘हे इन्द्र तुमने सूर्य के दो चक्र वाले रथ का एक चक्र काट कर पृथक् कर दिया और एक चक्र धन को प्राप्त करने के लिए कुत्स को दे दिया । तुमने मुखविहीन अर्थात् वाणी से रहित दस्युओं को अपने वज्र से मार डाला, नष्ट-वाग्निन्द्रिय वाले असुरों को तुमने सर्वथा काट डाला ।’

सायण के अनुसार इस मन्त्र में यह कहानी है कि सूर्य के रथ में पहले दो चक्र अर्थात् पहिये थे । किसी समय इन्द्र ने सूर्य के रथ का एक चक्र तो काट कर पृथक् कर दिया और दूसरा चक्र कुत्स को दे दिया जिससे वह धन ढो सके । अब इस कहानी पर जरा विचार कीजिए । सायणाचार्य द्वारा उल्लिखित इस कहानी के अनुसार तो सूर्य के रथ के दोनों पहिये छिन गये । बिना पहियों के उसका रथ कैसे चल सकेगा ? फिर कुत्स को तो एक पहिया दिया गया । केवल एक पहिये से उसका रथ कैसे चलेगा और वह उस पर धन कैसे ढो सकेगा ? यह कहानी हास्यास्पद है । सूर्य किसी रथ पर बैठ कर चलता है यह बात यों भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है । प्रातः और सायं सूर्य अपने रूप में स्पष्ट दिखाई देता है । वह एक गोलाकृति भौतिक पिण्ड है और उसी रूप में दिखाई देता है । उस समय उसका कोई रथ दिखाई नहीं देता । वैज्ञानिकों ने बड़ी-बड़ी दूरबीनों से सूर्य को देखा है । दूरबीनों से भी वह गोल पिण्ड ही दिखाई देता है । उसका कोई रथ नहीं कभी देखा गया । यदि कहा जाये कि सूर्य का अधिष्ठाता, सूर्य देव जोकि पुरुष विध अर्थात् पुरुषाकृति होता है, रथ पर बैठकर चलता है तो यह समाधान भी ठीक नहीं बैठता । पहले तो यह देखने की बात है कि रथ के दोनों पहिये छिन जाने से उसका रथ कैसे चलेगा ? फिर सूर्य का ऐसा अधिष्ठात्री देवता भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है । ऐसा पुरुषाकृति सूर्य देव आज तक कभी किसी ने नहीं देखा । और न ही वह अब किसी को दीखता है । यह सब प्रत्यक्ष विरुद्ध निराधार कल्पना है । और वेद पर व्यर्थ में थोप दी गई है और उसे हास्यास्पद बना दिया है ।

इसी भाँति वेद के निम्न मन्त्र में भी सायणाचार्य ने इस कहानी की ओर निर्देश किया है—

मुषाय सूर्य कवे चक्रमीशान ओजसा ।

वह शुष्णाय वधं कुत्सं वातस्याश्वैः ॥

ऋग् ० 1.175.4.

इस मन्त्र का सायण अर्थ करते हैं कि—‘हे क्रान्तदर्शी और समर्थ इन्द्र तुमने अपने

बल से सूर्य के रथ का एक चक्र चुरा लिया अर्थात् छीन लिया और शुष्ण नामक असुर का वध करने के लिए तुमने वायु के समान वेग वाले घोड़ों से युक्त होकर वज्र को धारण किया ।'

मंत्र का यह अर्थ करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है कि 'पहले सूर्य के रथ के दो चक्र थे, एक चक्र तो इन्द्र ने चुरा लिया ऐसा इतिहास है ।' ऊपर उद्धृत मन्त्र के भाष्य में तो सायण की कहानी कहती है कि सूर्य के रथ के दोनों पहिये इन्द्र के द्वारा छीन लिये गये थे । इस मन्त्र के भाष्य में वे जो इतिहास दे रहे हैं उसके अनुसार एक ही पहिया छीना गया ।

इस प्रकार इन दोनों कहानियों में परस्पर विसंगति है । फिर यह भी देखने की बात है कि एक पहिये से सूर्य का रथ कैसे चल सकेगा ? मंत्र में छीनने के लिए प्रयुक्त क्रियापद 'मुषाय' का शाब्दिक अर्थ चुराना यदि लिया जाये तो स्वर्गाधिपति देवराज इन्द्र पर चोरी करने का लांछन भी लगता है । यों सूर्य का कोई रथ होता है और वह उस पर बैठकर चला करता है यह बात वैसे भी असंगत है जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में हमने दर्शाया है ।

अब क्रम से इन दोनों मन्त्रों का हमारा अधिराष्ट्र अर्थ देखिए—

'(सूर्यस्य)¹ कर्तव्य की उपेक्षा और भ्रष्टाचार में चलने वाले दस्युओं के (अन्यत्) एक (चक्रं) समूह को हे इन्द्र तुम (प्र-अवृहः)² काट डालते हो, विनष्ट कर देते हो और (अन्यत्) एक चक्र अर्थात् कर्मचारी लोगों के समूह को (वरिवः) धन को (यातवे)³ प्राप्त करने के लिए (कुत्साय) कुत्स नामक राज्याधिकारी के लिए (अक) कर देते हो अर्थात् कुत्स के साथ उसके विभाग में अनेक कर्मचारियों को नियुक्त कर देते हो, तुम (दस्यून्)⁴ कर्तव्य की उपेक्षा करके और भ्रष्टाचार चलाकर प्रजाजनों का उपक्षय करने वाले अर्थात् उन्हें हानि पहुँचाने वाले लोगों को (अनासः)⁵ मुखरहित बनाकर (अमृणः) मार देते हो, दण्डित करते हो अर्थात् उन्हें दण्डित करके उनकी बोलती बन्द कर देते हो, उन दस्यु लोगों को (मृधवाचः)⁶ हिंसित वाणी वाला, विनष्टवाणी वाला बनाकर (नि-आवृणक्)⁷ पूर्ण रूप से काट देते हो, विनष्ट कर देते हो ।'

इन्द्र (सम्राट्) कर्तव्य की उपेक्षा करने वाले और भ्रष्टाचार करने वाले लोगों को दण्डित करके विनष्ट कर देता है । और अपने सहचारी कुत्स नामक

¹ सूर्यस्य सरति कर्तव्यावहेलनायां भ्रष्टाचारे च प्रवर्तमानो भवति इति सूर्यः तस्य ।

² अवृहः पृथक् चकर्थ इति सायणः । निपूर्वोवृहतिर्हिसार्थकोपि भवति । अत्र तु उपसर्गाभावेपि घातोः हिसायां छान्दसः प्रयोगः । अस्मदर्थे तु व्यत्ययेन लङर्थे लङ् ।

³ यातवे प्राप्तुम् इति सायणः । गत्यर्था घातवः प्राप्त्यर्था अपि भवन्ति ।

⁴ दस्यून् दस्यन्ति स्वगहिताचरणैः जनान् उपक्षिण्वन्ति पीडयन्ति इति दस्यवः तान् ।

⁵ अनासः आस्यरहिताम् । आस्यशब्देन शब्दो लक्ष्यते । अशब्दान् मूकान् इति सायणः ।

⁶ मृधवाचः हिंसितवागिन्द्रियान् इति सायणः ।

⁷ नि अवृणक् नितरां छिन्नवानसि इति सायणः । अस्मदर्थे तु व्यत्ययेन लङर्थे लङ् ।

राज्याधिकारी को उसके काम में सहायता करने के लिए अनेक कर्मचारियों का समूह उसके विभाग में नियुक्त कर देता है। कुत्स और उसके विभाग के कर्मचारियों का यह समूह विभिन्न कार्यक्षेत्रों में काम करने वाले लोगों में जो लोग अपने कामों में उपेक्षा, लापरवाही, ढील और सुस्ती बरतते हैं और जो लोग अन्य प्रकार के भ्रष्टाचार करते और इस प्रकार जनता को हानि पहुँचाते हैं उन सबका पता लगायेंगे और सम्राट् को उनकी सूचना देंगे। सम्राट् उन्हें अपनी न्याय और दण्ड व्यवस्था के अनुसार दण्डित करेगा। इस प्रकार कुत्स दस्यु लोगों को दण्डित करने के काम में सम्राट् इन्द्र की सहायता करता है। दस्युओं को दण्डित करने के लिए मन्त्र में हिसार्थक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। हिसा का अर्थ प्राणों से वियुक्त करना भी होता है और शारीरिक दण्ड देना या आर्थिक दण्ड देकर कष्ट देना भी होता है। आवश्यकतानुसार किसी भी प्रकार का दण्ड अपराधियों को दिया जा सकता है। इन दस्युओं को ऐसा दण्ड दिया जाये कि इनके मुँह बन्द हो जायें, इनकी वाणी बन्द हो जाये। अर्थात् ये लोग फिर अपना सिर न उठा सकें। मन्त्र में हिसार्थक अर्थात् दण्डार्थक क्रिया का दो बार प्रयोग किया गया है। यह जोर देने के लिए है।¹ भाव यह है कि सम्राट् इस प्रकार दस्यु लोगों को भलीभाँति दण्डित करता है।

अब दूसरे मन्त्र का अर्थ लीजिए—

‘हे (कवे) क्रान्तदर्शी अर्थात् गहरे ज्ञानी और (ईशान) राष्ट्र के समर्थ स्वामी इन्द्र तुम (ओजसा) अपने बल से (सूर्य) कर्तव्य की उपेक्षा और भ्रष्टाचार में चलने वाले दस्यु लोगों के (चक्र) समूह को (मुषाय)² राष्ट्र के कार्यक्षेत्रों में से चुरालो अर्थात् बाहर कर दो, तुम (वध) दस्युओं का वध करने वाले (कुत्स) कुत्स को (वातस्य)³ वायु के (अश्वैः) घोड़ों से अर्थात् वायु के वेग वाले शीघ्रगामी घोड़ों से (शुष्णाय)⁴ अपने कुत्सित आचरणों के द्वारा प्रजाजनों को सुखा देने वाले अर्थात् पीड़ित करने वाले दस्युओं के लिए अर्थात् दस्युओं के पास (वह) पहुँचा दे।’

सम्राट् द्वारा दस्युओं के समूह को चुराने का अभिप्राय उन्हें राष्ट्र के विभिन्न कार्यक्षेत्रों से पृथक् कर देना है। जैसे चुराई गई वस्तु उसके स्वामी और घर से पृथक् हो जाती है वैसे ही इन्द्र दस्युओं को दण्डित करके उन्हें विभिन्न कार्यक्षेत्रों से अलग कर देता है। अपना निर्धारित काम ईमानदारी से पूरा न करने वाले और भ्रष्टाचारी लोगों के पास कुत्स और उसके विभाग के कर्मचारियों के पास यथासंभव शीघ्र से शीघ्र पहुँचने और उनका जल्दी से जल्दी पता लगाने की व्यवस्था की जानी

¹ अमृणो न्यवृणगिति द्विरक्तिरादरार्था इति सायणः ।

² मुषाय मुषितान् कुरु । मुषितपदार्थानिब दूरे कुरु इति भावः ।

³ वातस्य वायोः अश्वैः वायुवेगैर्वाश्वैर्युक्तः सन् इति सायणः ।

⁴ शुष्णाय शोषयति इति शुष्णः उत्पीडक इत्यर्थः तस्मै । शोषयति सर्वमिति शुष्णः कश्चिदसुर इति ऋग्० 2.19.6 भाष्ये सायणः । शुष्णं शोषणकर्तारम् । ऋग्० 1.33.12 भाष्ये दयानन्दविः । शुष्णाय परेषां हृदयस्य शोषकाय, 1.175.4 भाष्ये दयानन्दविः ।

चाहिए यह ध्वनि इन्द्र के घोड़ों को वायु के वेग वाले कहने से निकलती है।

हमने इन दोनों मंत्रों में सूर्य का अर्थ कर्तव्य की उपेक्षा और भ्रष्टाचार में चलने वाले दस्यु लोग ऐसा किया है। यह शब्द यहाँ जाति में एकवचनान्त है अर्थात् बहुतों के लिए एकवचन में प्रयुक्त हुआ है। सूर्य शब्द का शब्दार्थ चलने वाला होता है। सूर्य आकाश में चलता है इसीलिए इसे सूर्य कहा जाता है। यहाँ सूर्य का यह प्रसिद्ध अर्थ नहीं लिया जा सकता। यहाँ सूर्य के रथ के चक्र को छीनने का वर्णन है। सूर्य का कोई रथ नहीं हो सकता। यह बात हमने ऊपर के पृष्ठों में भली-भाँति स्पष्ट कर दी है। और यह भी भली-भाँति दिखा दिया है कि आचार्य सायण आदि का सूर्य के रथ के चक्रों को छीनने सम्बन्धी मंत्रों का यह अर्थ सर्वथा असंगत है। इसलिए यहाँ सूर्य और चक्र शब्दों का दूसरा अर्थ करना होगा। मंत्रों में दस्युओं को मारने और दण्डित करने का वर्णन है। अतः सूर्य और चक्र शब्दों का दस्युओं सम्बन्धी ही कोई अर्थ होना चाहिए। हमने सूर्य पद को दस्यु का विशेषण मानकर उसका चलने वाला यह यौगिक अर्थ ध्यान में रखते हुए कर्तव्य की अवहेलना और भ्रष्टाचार में चलने वाला ऐसा अर्थ उसका कर दिया है। चक्र शब्द का समूह अर्थ तो संस्कृत साहित्य में अति प्रसिद्ध है ही। ये मंत्र एक प्रकार की पहेली के से हैं। पहेलियों के शब्दों का सामान्यतया प्रतीत होने वाला अर्थ नहीं हुआ करता। उनका कोई दूसरा अर्थ हुआ करता है। इन मंत्रों में भी पहेली है। इन्द्र ने सूर्य के रथ का चक्र छीन लिया। सूर्य का कोई रथ तो होता नहीं। फिर उसका चक्र कैसे छिनेगा? यह एक पहेली है। इस पहेली का समाधान हमने मंत्रों का जो अर्थ किया है उसमें हो जाता है। वेद परम कवि का काव्य है। काव्य की एक विधा प्रहेलिका (पहेली) भी हुआ करती है। इस विधा का प्रयोजन रोचकता और पाठकों की विचार-शक्ति को उत्तेजना देना होता है। वेद में पहेली शैली के मंत्र भी अनेक हैं। उनकी व्याख्या उसी दृष्टि से की जानी चाहिए।

सायण आदि ने राजनीति सम्बन्धी इतनी सुन्दर शिक्षा देने वाले इन मंत्रों को कितना बिगाड़ कर धर दिया है !

इन्द्र द्वारा कुत्स के शत्रुओं के पराजय की कहानी

आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत् ते कुत्सः सख्ये निकामः ।

स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सद्वत्चिद्ध नारी ॥

ऋग् ० 4.16.10.

ऋग्वेद के इस मंत्र की व्याख्या करते हुए सायण ने भूमिका रूप में एक कहानी दी है कि 'रुह नाम का राजा था। उसका पुत्र कुत्स नाम का राजा था। उसकी एक बार शत्रुओं से श्रद्धा करने की इच्छा हुई परन्तु वह युद्ध में शत्रुओं को हराने में अशक्त था इसलिए उसने शत्रुओं को मारने के लिए इन्द्र का आह्वान किया। इन्द्र ने कुत्स के घर में जाकर उसके शत्रुओं को मार दिया। इस पर दोनों की आपस में बड़ी

प्रीतिवाली मित्रता हो गई। मित्रता के अनन्तर इन्द्र भी कुत्स को अपने घर में ले आया। वहाँ इन्द्र की पत्नी शची इन्द्र से मिलने आई। उसने दोनों को समान रूप वाले देखा और निश्चय न कर सकी कि यह इन्द्र है और यह कुत्स है, उसे इस विषय में संशय रहा। इस कहानी में की गई बात ही इस ऋचा में प्रतिपादित की गई है। इस भूमिका के साथ सायण ने मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—‘हे इन्द्र दस्युओं को मारने वाले मन से युक्त तू कुत्स के घर में आया था, कुत्स तेरी मित्रता में पूर्ण कामना वाला हो गया, फिर तुम दोनों अपने घर में बैठे, सत्य को देखने वाली नारी अर्थात् इन्द्र की भार्या शची ने तुम दोनों को समान रूप वाले देखकर संशय किया।’

यदि मंत्र के शब्दों पर ध्यान दिया जाये तो स्पष्ट दीखेगा कि मंत्र में यह कहानी बिल्कुल नहीं है। मंत्र पर यह कहानी व्यर्थ में थोप दी गई है। मंत्र में कुत्स के लिए राजा वाचक किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। मंत्र में यह बात भी नहीं कही गई है कि कुत्स रु नामक राजा का पुत्र था। मंत्र में रु शब्द ही नहीं है। वेद में अन्यत्र भी कहीं नहीं कहा गया है कि कुत्स रु नामक राजा का पुत्र था। ऋग्वेद, अथर्ववेद और सामवेद में तो रु शब्द ही नहीं आता। केवल यजुर्वेद 24.27 मंत्र में यह शब्द एक बार आया है। वहाँ यह शब्द ‘रुन्’ इस प्रकार द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में आया है। कुत्स का वहाँ न नाम है और न ही वर्णन है। जिस अध्याय का यह मंत्र है वहाँ देवताओं के पशुओं का वर्णन माना जाता है। उवट और महीधर ने इसी आशय के अर्थ किये हैं। इस मंत्र में रु को रुद्रों का पशु बताया गया है। रु एक प्रकार का मृग होता है। उवट और महीधर ने इस मंत्र की ऐसी ही व्याख्या की है। फिर, कुत्स ने कभी शत्रुओं से युद्ध करना चाहा था, और वह उन्हें हरा नहीं सका था जिसके कारण उसने इन्द्र का आह्वान किया था तथा इन्द्र ने उसके शत्रुओं को पराजित कर दिया था, इस प्रकार की कोई भी बात मंत्र में नहीं कही गई है। इस आशय का कोई शब्द मंत्र में नहीं है। मंत्र में इन्द्र की पत्नी शची का नाम भी नहीं है। वह इन्द्र के घर में उससे मिलने गई और वहाँ उसने इन्द्र और कुत्स को समान रूप वाले देखा। यह बात भी मंत्र में किसी शब्द द्वारा नहीं कही गई है। मंत्र में ‘अस्तं’, ‘सख्ये’ और ‘नारी’ ये शब्द अवश्य आये हैं जिनका अर्थ क्रम से घर, मित्रता और नारी होता है। इन शब्दों के आधार पर ही मंत्र पर यह कहानी थोप दी गई है जबकि इन शब्दों की योजना अन्य प्रकार से भी हो सकती है और तब मंत्र का अधिक संगत अर्थ बनता है। फिर एक बात और देखने की है, मंत्र में इन्द्र को बुलाने के लिए ‘आयाहि’ क्रियापद का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ होता है ‘आओ’, सायणाचार्य ने इस क्रियापद का भूतकालिक अर्थ ‘आया था’ ऐसा कर दिया है। इसी प्रकार ‘भुवत्’ क्रियापद का अर्थ भी ‘होवे’ होता है, सायण ने इसका भी भूतकालिक अर्थ ‘हो गया था’ ऐसा कर दिया है। इसी भाँति ‘निषदत्’ क्रियापद का अर्थ भी ‘तुम दोनों बैठो’ ऐसा होता है। परन्तु इसका भी सायण ने ‘तुम दोनों बैठे थे’ ऐसा भूतकालिक अर्थ कर दिया है। यह ठीक है कि वेद में व्यत्यय होकर क्रियापद जिस

लकार और काल का वाचक होता है उससे भिन्न लकार और काल का वाचक भी हो जाया करता है। पर वैसा करना तभी ठीक होता है जबकि किसी क्रियापद का सहज और सीधा अर्थ मंत्रार्थ में संगत न हो सकता हो। इन तीनों क्रियापदों के अपने सामान्य अर्थ मंत्र में भली-भाँति संगत हो सकते हैं जैसाकि पाठक मंत्र के हमारे अर्थ में देखेंगे। सायण ने यह कहानी मंत्र पर यों ही लाद दी है। जबकि उनकी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अनादि अपौरुषेय वेद में लौकिक व्यक्तियों का कोई इतिहास नहीं हो सकता।

अब इस मंत्र का हमारा अधिराष्ट्र देखिये—

‘हे इन्द्र तुम (दस्युघ्ना) दस्युओं को मारने वाले (मनसा) मन के साथ (अस्तं) घर में अर्थात् अपने काम करने के स्थान में (आयाहि) आओ (कुत्सः) कुत्स (ते) तुम्हारी (सख्ये) मित्रता में (निकामः) पूर्ण कामनाओं वाला (भुवत्) हो जाये, (सरूपा) समान रूप वाले तुम दोनों (स्वे) अपने (योनी) घर में अर्थात् अपने काम करने के स्थान में (निषदत्) बैठो (ऋतचित्) सत्यज्ञान का संग्रह करने वाली (नारी) राष्ट्र की स्त्रियाँ (ह) निश्चित रूप में (वां) तुम दोनों को (विचिकित्सत्) भली-भाँति जानें।’

इन्द्र (सम्राट्) को दस्युओं को मारने वाले मन के साथ अर्थात् मन से युक्त होने वाला कहने का भाव यह है कि राजा को सदा अपने मन में दस्युओं को, प्रजा को हानि पहुँचाने और पीड़ित करने वाले दुष्ट लोगों को मारने, दण्डित करने, विनष्ट करने का विचार और निश्चय रखना चाहिए। यहाँ कुत्स के साहचर्य से दस्यु का अभिप्राय अपने कार्यों की अवहेलना और भ्रष्टाचार करने वाले कर्मचारियों और लोगों से है। मंत्र में प्रयुक्त घर के वाचक ‘अस्त’ और ‘योनि’ शब्दों का तात्पर्य इन्द्र और कुत्स के उन घरों और स्थानों से है जहाँ बैठकर वे अपने कार्य करते हैं। इन्द्र की मित्रता में कुत्स निकाम अर्थात् पूर्ण कामनाओं वाला हो जाये यह कहने का भाव यह है कि इन्द्र (सम्राट्) और कुत्स नामक राज्याधिकारी में परस्पर मित्रता और सहयोग रहना चाहिए तथा कुत्स के कामों में सम्राट् को सब प्रकार की सहायता करनी चाहिए। इन्द्र और कुत्स को समान रूप वाले जो कहा गया है उसका यह अभिप्राय है कि वे दोनों दस्युओं को पता लगाने और दण्डित करने का काम करते हैं, इस समान काम करने की दृष्टि से वे समान रूप वाले हैं। इन्द्र और कुत्स को अपने घर में आने और बैठने की जो बात कही गयी है उसका अभिप्राय यह है कि वे अपने-अपने काम करने के स्थानों में आकर बैठें और अपना काम करें। मंत्र का नारी शब्द जाति में एकवचन है। इसीलिये हमने इसका अर्थ राष्ट्र की स्त्रियाँ ऐसा कर दिया है। मंत्र में यह जो कहा गया है कि हे इन्द्र और कुत्स तुम दोनों को राष्ट्र की स्त्रियाँ भली-भाँति जानें इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्र और कुत्स नामक राज्याधिकारी को दस्युओं को दण्डित करने का काम इतनी अच्छी तरह करना चाहिए कि राष्ट्र की स्त्रियाँ भी जानें और आश्चस्त रहें कि यह कार्य भली-

भाँति हो रहा है ।

हमने मंत्र के 'वि-चिकित्सत्' क्रियापद का अर्थ भली-भाँति जानें ऐसा किया है । जिस 'कित' धातु से यह पद निष्पन्न होता है उसका अर्थ धातु पाठ में निवास और रोगापनयन किया गया है । मंत्र का क्रियापद सन् प्रत्ययान्त है । लौकिक संस्कृत में 'कित्' धातु का प्रयोग सन् प्रत्ययान्त ही होता है । सन् प्रत्यय होने पर इस धातु के अष्टाध्यायी 3.1.5-6 सूत्रों के एक वार्तिक के अनुसार व्याधिप्रतीकार, निग्रह, अपनयन, नाशन और संशय ये पाँच अर्थ हो जाते हैं ।¹ परन्तु वेद में यह धातु ज्ञान अर्थात् जानने अर्थ में भी प्रयुक्त होती है । निघण्टु में इस धातु से बनने वाले 'केतः' और 'केतुः' शब्दों का अर्थ प्रज्ञा किया है जो कि ज्ञान का ही दूसरा नाम है । इसी धातु से बनने वाले 'चिकित्वान्' शब्द का अर्थ निरुक्त में यास्क ने 'चेतनावान्' अर्थात् ज्ञानवान् किया है । सभी भाष्यकार अपने वेद-भाष्यों में स्थान-स्थान पर 'कित' धातु से निष्पन्न होने वाले 'चिकेत' आदि विभिन्न क्रियापदों का अर्थ ज्ञानार्थक ही करते हैं । वेद में इस धातु के प्रयोग की दृष्टि से धातु पाठ और वार्तिक में इसके जो अर्थ दिये गये हैं वे अधूरे हैं । इस धातु को ज्ञानार्थक भी समझना चाहिए । इसीलिये हमने 'वि-चिकित्सत्' क्रियापद का अर्थ भली-भाँति जानें ऐसा किया है । सायणाचार्य का संदेहपरक अर्थ यहाँ संगत नहीं होगा ।

कुत्स के इन्द्र का सारथि बनने की कहानी

महो द्रुहो अप विश्वायु धायि वज्रस्य यत् पतने पादि शुष्णः ।

उरु ष सरथं सारथ्ये करिन्द्रः कुत्साय सूर्यस्य सातौ ॥

ऋग् ० 6.20.5.

ऋग्वेद के इस मंत्र के भाष्य में सायणाचार्य ने किसी ग्रन्थ का एक उद्धरण दिया है जिसका अर्थ है कि, 'कुत्स के लिए शुष्ण नामक असुर को मारने की इच्छा वाले इन्द्र ने कुत्स को अपने रथ का सारथि बनाकर इसके शत्रु शुष्ण को मार दिया और कुत्स की बहुत रक्षा की, यह बात इस ऋचा के द्वारा कही जाती है ।'² सायण ने इसी कहानी के अनुसार इस मंत्र का अर्थ कर दिया है । मंत्र का सायणकृत अर्थ इस प्रकार है—'जब वह शुष्ण असुर इन्द्र के वज्र के पात अर्थात् प्रहार को प्राप्त हुआ अर्थात् मर गया तो उसका सर्वव्यापक बल अपहित कर दिया गया अर्थात् तिरस्कृत कर दिया गया, उस इन्द्र ने सारथि बने हुए कुत्स के लिए समान रथ को सूर्य की साति अर्थात् भजन के निमित्त बहुत विस्तीर्ण कर दिया ।'

मंत्र में ऐसी कोई बात नहीं कही गई है कि कभी कुत्स और शुष्ण नामक

¹ अष्टा० 3.1.5-6 सूत्रयोरपरि वार्तिकं द्रष्टव्यम् ।

² कुत्सायेन्द्रोऽसुरं शुष्णं जिघांसुः कुत्समात्मनः ।

सारथि कल्पयित्वास्य शत्रुमहस्ततः ।

कुत्सस्य रक्षां बहुलां चकारेत्यनयोच्यते ॥

असुर का परस्पर युद्ध हुआ था, कुत्स शुष्ण को पराजित नहीं कर सका था, तब उसे पराजित करने के लिये कुत्स ने इन्द्र से सहायता मांगी थी और इन्द्र ने कुत्स से कहा था कि तुम मेरे रथ के सारथि बनो तब मैं तुम्हारी ओर से शुष्णासुर से युद्ध करूँगा। मंत्र में कुत्स के सारथि विशेषण को देखकर यह कहानी मंत्र पर थोप दी गई है। इस कहानी में एक बात देखने की है। पौराणिक इन्द्र का तो अपना सुप्रसिद्ध और कुशल सारथि (मातलि) है। उसे कुत्स को अपना सारथि बनाने की क्या आवश्यकता है ? सायणाचार्य ने मंत्र का जो शब्दार्थ किया है वह भी कुछ अस्पष्ट और असम्बद्ध सा है। सूर्य की साति के निमित्त इन्द्र ने कुत्स के लिए अपने रथ को सरथ अर्थात् विस्तीर्ण कर दिया। इस कथन का भला क्या तात्पर्य हुआ ? शुष्ण से युद्ध करते हुए कुत्स के साथ रथ पर बैठे हुए इन्द्र ने उस रथ को विस्तीर्ण कैसे कर दिया, बढ़ाकर उसे और अधिक लम्बा-चौड़ा कैसे कर दिया ? कुत्स सूर्य से साति प्राप्त कर सके इस निमित्त रथ को विस्तीर्ण किया गया। शुष्णासुर से युद्ध करते-करते यह सूर्य से कुत्स को साति दिलाने की बात बीच में कहाँ से आ गई ? साति का अर्थ सायण ने भजन किया है। भजन का अर्थ सेवन करना, प्राप्त करना, और उपभोग करना होता है। कुत्स सूर्य से किस रूप में यह साति, यह सेवन और उपभोग प्राप्त करेगा ? उस साति या भजन का स्वरूप क्या है और कुत्स सूर्य से उसे किस रूप में प्राप्त करेगा यह आचार्य सायण ने स्पष्ट नहीं किया है। जड़ सूर्य तो किसी प्रकार की साति दे नहीं सकता और जड़ सूर्य का अधिष्ठाता कोई चेतन और पुरुषाकृति सूर्य होता है यह बात निराधार और प्रत्यक्ष विरुद्ध है जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं।

एक बात और भी यहाँ ध्यान में रखने की है। सायण अपने भाष्य में बार-बार शुष्ण को असुर लिखते हैं। परन्तु वेद में जहाँ भी शुष्ण शब्द आया है वहाँ कहीं भी उसके साथ असुर या उसके वाचक किसी अन्य शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। शुष्ण को एक असुर समझने की यह पौराणिक कल्पना वेद के सर्वथा विपरीत है। सायणाचार्य का मंत्र का यह ऐतिहासिक व्याख्यान विशुद्ध पौराणिक कल्पना पर आधारित है और वेद के आशय के विपरीत तथा वेद में इतिहास न होने की स्वयं उनकी अपनी प्रतिज्ञा के भी विरुद्ध है।

अब इस मंत्र का हमारा अधिराष्ट्र अर्थ देखिये :—

‘(यत्) जब (शुष्णः) कर्तव्य की अवहेलना करने वाले और भ्रष्टाचार में रत होकर प्रजाजनों को शोषित और पीड़ित करने वाले कदाचारी लोग (वज्रस्य) इन्द्र के वज्र के अर्थात् उससे मिलने वाले दण्ड के (पतने) गिरने में (पादि) प्राप्त होते हैं अर्थात् जब उन्हें दण्ड मिलता है तो प्रजाजनों से (महः) महान् (द्रुहः) द्रोह करने वाले उन लोगों का (विश्वायु)¹ सर्वत्र फैला हुआ बल (अपघायि)² दूर कर दिया

¹ विश्वायु सर्वगतम् । बलमिति शेषः । इति सायणः ।

² अपघायि अपहितमकारि । इतिः सायणः । दूरे प्रहितं निराकृतमिति यावत् ।

जाता है (सूर्यस्य) कर्त्तव्य की उपेक्षा करने वाले और भ्रष्टाचार में चलने वाले उन कदाचारी लोगों के (सातौ)¹ अन्न और विनाश के निमित्त (सः) वह इन्द्र (सारथ्ये)² अपने साथी और सहायक (कुत्साय) कुत्स के लिए (सरथं) सहयोग और सहायता (उरु) विस्तीर्ण (कः) करता है, अर्थात् कुत्स के काम में उसकी खूब सहायता करता है ।'

मंत्र का भाव अति स्पष्ट है । कर्त्तव्य कर्मों की अवहेलना करके कम उत्पादन करने वाले और नाना प्रकार के भ्रष्टाचार में लिप्त रहकर जनता का शोषण करने वाले और इस प्रकार जनता को उपक्षीण और पीड़ित करने वाले कुत्सिताचारी लोगों का पता लगाकर कुत्स इन्द्र (सम्राट्) को सूचित करता है । सम्राट् ऐसे भ्रष्ट लोगों को दण्डित करके उनका अन्त करता है । दण्ड के लिये मंत्र में वज्र शब्द का प्रयोग किया गया है । वज्र शब्द की यह ध्वनि भी है कि आवश्यक होने पर ऐसे भ्रष्ट लोगों का शस्त्र से भी वध किया जा सकता है । मंत्र में कुत्स को सारथि कहा गया है । सारथि का अर्थ यहाँ सहायक समझना चाहिए । यही अर्थ यहाँ संगत होता है । रघुवंश में कालिदास ने एक स्थान पर सारथि शब्द का प्रयोग सहायक और साथी के अर्थ में ही किया है । आप्टे के प्रसिद्ध संस्कृत-इंग्लिश कोश में सारथि का एक यह अर्थ भी दिया गया है । अथवा यहाँ वाचक-लुप्तोपमा समझनी चाहिए । 'सारथ्ये' पद को 'सारथ्ये इव' समझना चाहिए जिसका अर्थ होगा सारथि जैसा । भाव यह होगा कि जैसे सारथि अपने रथी का सहायक होता है कुत्स भी इन्द्र का उसी प्रकार सहायक है । वह असल में सारथि तो नहीं है, सारथि जैसा है, सारथि जैसे रथ चलाने में सहायक होता है वैसे ही वह भी भ्रष्टाचारियों का पता लगाने में इन्द्र का सहायक है । इसी भाँति 'सरथं' शब्द में भी वाचक-लुप्तोपमा समझनी चाहिए । इन्द्र कुत्स के लिए सरथ जैसी स्थिति करता है । जैसे एक रथ पर बैठे हुए दो व्यक्तियों की स्थिति होती है, जैसे वे एक-दूसरे की सहायता और सहयोग करते हैं, वैसे ही स्थिति इन्द्र अपनी और कुत्स की कर लेता है, वे दोनों एक-दूसरे की सहायता और सहयोग करते हैं । हमने 'सरथं' का अर्थ, इसी आशय को ध्यान में रखते हुए, सहायता और सहयोग किया है । भ्रष्टाचारी लोगों के बल को मंत्र में जो 'विश्वायु' अर्थात् सर्वत्र फैला हुआ कहा गया है उसका भाव यह कि भ्रष्टाचारी लोग अवसर पाकर राष्ट्र के सभी कार्य-क्षेत्रों में अपने गृहणीय कार्य करने लगते हैं । ऐसे सभी

¹ सातौ अवसाने विनाशने निमित्तभूते सति । 'षो अन्तकर्मणि' घातोः क्तिनि कृतियूतिञ्जुति । अष्टा० 3.3.97 सूत्रेण साति-शब्दस्य रूपसिद्धिः । सातिस्त्ववसाने । अमरकोषः । सातिर्दानावसानयोः । अमरकोषः । सातिः destruction, end, sharp or acute pain, cessation (अन्यैरर्थैः सह इमेप्यर्थाः) आप्टेकोषः ।

² सारथिः सहायकः । विभावसुः सारथिनेव वायुनेति रघुवंश (3.37) श्लोकटीकायां सारथिना सहायभूतेन इति मल्लिनाथः । a charioteer, a companion, helper आप्टेकोषः । उणादि० 4.89 सूत्रेण सारथिशब्दसिद्धिः ।

स्थानों में उनका पता लगाना और उन्हें दण्डित करना कुत्स और इन्द्र का कर्तव्य है ।

बुद्ध में एतश ऋषि की सहायता की कहानी

त्वं कुत्सेनाभि शुष्णमिन्द्राऽशुषं युध्य कुयवं गविष्टौ ।

दश प्रपित्वे अध सूर्यस्य मुषायश्चक्रमविवे रपांसि ॥

ऋग्वेद 6.31.3.

ऋग्वेद के इस मंत्र के भाष्य में सायण ने एक कहानी दी है कि 'एतश नामक ऋषि का सूर्य के साथ युद्ध हुआ, उस युद्ध में इन्द्र कुत्स के साथ एतश की सहायता करने के लिए आया और उसने सूर्य के रथ का एक चक्र चुरा लिया।' मंत्र का सायणाचार्य द्वारा किया गया अर्थ इस प्रकार है—'हे इन्द्र तुमने कुत्स के साथ मिलकर जिसे सुखाया नहीं जा सकता ऐसे शुष्ण नामक असुर के साथ युद्ध किया और इस प्रकार तुमने कुत्स की रक्षा की तथा तुमने युद्ध में कुयव नामक असुर को भी मारा और तुमने युद्ध में सूर्य के रथ का एक चक्र भी चुरा लिया, तथा तुमने पाप करने वाले राक्षसों आदि को भी इस लोक से भगा दिया अर्थात् मार दिया ।

एतश नामक ऋषि का कभी सूर्य के साथ युद्ध हुआ था और उसमें इन्द्र ने उसकी सहायता की थी इस प्रकार की कोई भी बात मंत्र में नहीं कही गई है । और तो और मंत्र में तो एतश शब्द ही नहीं आया है । शुष्ण और कुयव नाम के कोई असुर हैं यह बात भी मंत्र में नहीं कही गई है । मंत्र में असुर शब्द का प्रयोग ही नहीं है । जैसे वेद में कहीं भी शुष्ण के लिए असुर या उसके वाचक किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है उसी प्रकार कुयव के लिए भी असुर या उसके वाचक किसी शब्द का प्रयोग वेद में नहीं किया गया है । कुयव शब्द वेद में सात स्थानों पर आया है । छः बार ऋग्वेद में और एक बार अथर्ववेद में कहीं भी इन स्थलों में उसके साथ असुर या उसके वाचक किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । सूर्य के रथ और उसके चक्रों के सम्बन्ध में तथा चक्रों के चुराये या छीने जाने पर सूर्य का रथ चलाने में जो कठिनाई आयेगी, उसके सम्बन्ध में पीछे लिखा जा चुका है । स्वयं सूर्य भी क्या कुछ है और क्या नहीं है इस पर भी ऊपर विचार हो चुका है । सायण ने यह पौराणिक कहानी भी वेद-मंत्र पर व्यर्थ में थोप दी है और इस मंत्र का अर्थ विकृत कर दिया है ।

अब मन्त्र का हमारा अधिराष्ट्र अर्थ देखिये—

'(इन्द्र) हे इन्द्र तुम (कुत्सेन) कुत्स के साथ मिलकर (अशुषं) जो सुगमता से सुखाया नहीं जा सकता अर्थात् नष्ट नहीं किया जा सकता ऐसे (शुष्णं) उपभोग्य सामग्री का निर्धारित मात्रा से कम उत्पादन करके तथा नाना प्रकार के भ्रष्टाचार करके प्रजाजनों का शोषण करने वाले और उन्हें पीड़ित करने वाले लोगों के साथ

(अभियुध्य) युद्ध करो अर्थात् उन्हें दण्डित करके वश में करो, (गविष्टी)¹ प्रजाजनों द्वारा भूमि की प्राप्ति के निमित्त (कुयवं)² जिनके कारण प्रजाजनों को कुत्सित अर्थात् अल्प और अपर्याप्त यव अर्थात् जो और उससे उपलक्षित नाना प्रकार के अन्न तथा अन्य नानाविध उपभोग्य-सामग्री प्राप्त होती है ऐसे इन भ्रष्टाचारी लोगों को (दश)³ मारो अर्थात् दण्ड देकर वश में करो (अघ) और (प्रपित्वे)⁴ प्रजाजनों द्वारा नाना प्रकार के सुख-साधनों की प्राप्ति के निमित्त (सूर्यस्य) कर्तव्यों की अवहेलना और विविध प्रकार के भ्रष्ट कामों में चलने वाले इन कदाचारी लोगों के (चक्रं) समूह को (मुषायः) तू चुरा ले अर्थात् दूर कर दे, इस प्रकार (रपांसि)⁵ राष्ट्र में हो रहे पापों को (अविदेः)⁶ भगा दे ।

जो लोग अपने कर्तव्य-कर्मों में उपेक्षा और लापरवाही बरतते हैं जिसके कारण उत्पादन कम होता है और उसके परिणामस्वरूप लोगों को पर्याप्त मात्रा में उपभोग सामग्री प्राप्त नहीं हो पाती जिसके कारण उन्हें कष्ट में रहना पड़ता है तथा जो लोग अन्य प्रकार के भ्रष्टाचार करके लोगों का शोषण करते और उन्हें पीड़ित करते हैं ऐसे दुष्ट दस्यु लोगों को कुत्स और इन्द्र मिलकर दण्डित करते हैं । कुत्स नामक राज्याधिकारी और उसके विभाग के कर्मचारी ऐसे दस्यु लोगों का पता लगा कर इन्द्र (सम्राट्) को सूचित करते हैं और वह उन्हें अपनी व्यवस्था के अनुसार दण्डित करता है । मन्त्र में शुष्ण को, ऐसे दस्यु लोगों को, 'अद्युष' अर्थात् सुगमता से न सुखाये जा सकने वाले, नष्ट न किये जा सकने वाले, कहा गया है । ऐसे लोगों का पता लगाना और पकड़ना आसान नहीं होता । कुत्स और इन्द्र को देखना चाहिए कि ऐसे लोगों को पकड़ने और दण्डित करने का काम विशेष तत्परता से किया जाये । मन्त्र में ऐसे दस्यु लोगों के लिए एक विशेषण 'कुयवं' दिया गया है । इस शब्द का अर्थ होता है जिसके कारण कुत्सित अर्थात् अल्प और अपर्याप्त यव अर्थात् जो प्राप्त होता है । यव शब्द सभी प्रकार के अन्नों और उपभोग सामग्री का उपलक्षण है । ऐसे दस्यु लोग प्रजाजनों को पर्याप्त अन्नादि उपभोग सामग्री की प्राप्ति में बाधक होकर उन्हें क्लेश पहुँचाते हैं । मन्त्र के 'गविष्टि' पद का भाव भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है । गौ का एक अर्थ भूमि भी होता है । 'इष्टि' का अर्थ प्राप्ति और इच्छा होता है । भूमि यव आदि अन्नों और कृषिजन्य अन्य भौति-भौति के पदार्थों की उत्पत्ति का

1 गविष्टी गोः भूमेः इष्टिः इच्छा प्राप्तिश्च गविष्टिः तस्यां निमित्तभूतायां सत्याम् । इष इच्छायाम् । इष गतौ । क्तिन् ।

2 कुयवं कुत्सिता अल्पा अपर्याप्ता यवा यवादयः पदार्था यस्मात् तम् ।

3 दश हिंसितान् दण्डितान् क्रुह । दंश दशने ।

4 प्रपित्वे प्राप्ती निमित्तभूतायां सत्याम् । प्रपित्वे प्राप्ती । ऋग् 6.31.3 भाष्ये दयानन्दविः प्रपित्वे प्राप्ती । निरु० 3.4.20 ।

5 रपांसि पापानि । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः । निरु० 4.3.21.

6 अविदेः अस्माल्लोकादगमयः अवधीरित्यर्थः । इति सायणः ।

7 अद्युषम् शोषयितुमशक्यमिति सायणः ।

साधन होती है। यहाँ गौ अर्थात् भूमि और उससे उत्पन्न होने वाले अन्नादि पदार्थों का उपलक्षण है। जनता भूमि और उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थों को प्राप्त करना चाहती है जिससे वह अपना सुख सम्पादन कर सके। ऐसे भ्रष्टाचारी दस्यु लोग उसमें बाधा डालते हैं। अतः उन्हें दण्डित करने की आवश्यकता होती है। गौ अर्थात् भूमि को नाना प्रकार की उपभोग सामग्री उत्पन्न करने वाले कारखानों आदि का उपलक्षण भी समझना चाहिए। इनसे उत्पन्न सामग्री को भी लोग अपने सुख-मंगल के लिए प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। भ्रष्टाचारी दस्यु लोग उसमें बाधा डालते हैं। अतः उन्हें दण्डित करना होता है। इस प्रकार सभी प्रकार के भ्रष्टाचारी दस्यु लोगों को दण्डित कर कुत्स और इन्द्र उनके द्वारा हों रहे पापों को राष्ट्र से दूर कर देते हैं। मन्त्र में हिसार्थक क्रियाओं का एक से अधिक बार प्रयोग जोर देने के लिए है। जिसकी व्यंजना यह है कि ऐसे लोगों को अवश्य ही दण्डित किया जाना चाहिए।

कुत्स द्वारा इन्द्र के अण्डकोश बांधे जाने की कहानी

स्ववृजं हि त्वामहमिन्द्र शुश्रवानानुदं वृषभ रध्रचोदनम् ।

प्र मुञ्चस्व परि कुत्सादिहा गहि किमु त्वावान् मुष्कयोर्बद्ध आसते ॥

ऋग्वे० 10.38.5.

सायणाचार्य ने ऋग्वेद के इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—‘हे कामनाओं के वर्षक इन्द्र मैंने—लुशने—सुना है कि तुम स्वयं ही बन्धनों को काटने वाले हो, तुम्हें किसी दूसरे से बल प्रदान की आवश्यकता नहीं है, तुम राधक व्यक्ति को प्रेरणा देने वाले हो, इसलिए तुम कुत्स द्वारा सौ रस्सियों से अण्डकोशों में बांधे गये अपने आपको कुत्स से छुड़ाओ, सब ओर से घिरे हुए तुम कुत्स ऋषि के पास से यहाँ हमारे याग में आओ, क्या कोई दूसरा तुम जैसा इस प्रकार अण्डकोशों में बंधा हुआ रहता है, अर्थात् तुम से भिन्न कोई भी दूसरा ऐसा निर्लज्ज नहीं है।’ मन्त्र का यह अर्थ करके अपने अर्थ के समर्थन में सायण ने शाट्यायन ब्राह्मण और छान्दोग्य ब्राह्मण के क्रम से दो उद्धरण दिये हैं जिनका अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—‘कुत्स और लुश ने इन्द्र का आह्वान किया, वह कुत्स के आह्वान पर उसके पास चला गया, उसको कुत्स ने सौ रस्सियों से अण्डकोशों में बांध लिया, तब लुश ने उसको ‘स्ववृजं हि त्वाम्’ इस मन्त्र के द्वारा पुकारा, तब इन्द्र उन सभी रस्सियों को तोड़कर लुश के पास दौड़कर चला गया।’¹ ‘अपने-अपने यज्ञ में आने के लिए कुत्स और लुश ने एक साथ इन्द्र का आह्वान किया, मित्र होने के कारण इन्द्र कुत्स के पास चला गया, आये हुए उसको

¹ तत्र शाट्यायनकम्—‘कुत्सश्चलुशश्चेन्द्रं व्यह्वयेतां स कुत्सस्याहवमगच्छत् तं शतेन बाध्नी-मिराण्डयोरवघ्नात् तं लुशोऽभ्यवदत् स्ववृजं हि त्वामहमिन्द्र शुश्रवानानुदं वृषभ रध्रचोदनं प्र मुञ्च परि कुत्सादिहा गहि किमु त्वावान् मुष्कयोर्बद्ध आसत इति ताः सर्वाः संलुप्य लुशमभि प्रादुद्रुवत्’ इति ।

वशी होने के कारण कुत्स ने सौ रस्सियों से अण्डकोशों से बांध लिया।¹ सायण के इस मन्त्रार्थ में ब्राह्मण ग्रन्थों के इन दोनों सन्दर्भों में इन्द्र को सौ रस्सियों से अण्डकोशों में बांध लिया ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्र के अण्डकोशों को सौ रस्सियों से बांध लिया। संस्कृत भाषा के कहने के प्रकार या मुहावरे के अनुसार अण्डकोशों में बांध लिया ऐसा ही कहा जाता है।

अब यदि मन्त्र के सायणाचार्य के अर्थ और शाट्यायन और छान्दोग्य ब्राह्मण के सायण द्वारा उद्धृत सन्दर्भों को परे रखकर सीधा मन्त्र के शब्दों को ही देखा जाये तो मन्त्र में यह कहानी नहीं पाई जाती। कहानी मन्त्र पर थोप दी गई है। कभी कुत्स और लुश ने इन्द्र को अपने-अपने यज्ञ में आने के लिए आहूत किया था, मन्त्र में इस बात को बताने वाला कोई शब्द नहीं है। इन्द्र कुत्स के यज्ञ में चला गया था इस बात को दर्शाने वाला भी मन्त्र में कोई शब्द नहीं है। कुत्स ने इन्द्र को अपने पास ही रखने के लिए उसके अण्डकोशों को सौ रस्सियों से बांध लिया था इस बात को कहने वाला भी मन्त्र में कोई शब्द नहीं है। फिर लुश के कहने पर इन्द्र उन रस्सियों को तोड़कर लुश के पास चला गया था इस बात को बताने वाला भी कोई शब्द मन्त्र में नहीं है। मन्त्रार्थ में सायण ने कुत्स को ऋषि कहा है, मन्त्र में ऋषि शब्द का प्रयोग ही नहीं है। फिर मजेदार बात यह है कि मन्त्र में लुश शब्द भी नहीं पाया जाता। मन्त्र में यज्ञ शब्द का भी प्रयोग नहीं हुआ है जिसमें आने के लिए कुत्स और लुश ने इन्द्र को बुलाया था। मन्त्र में रस्सी के वाचक वाध्री या किसी अन्य शब्द का प्रयोग भी नहीं है। संख्यावाचक शत-सौ-शब्द का प्रयोग भी मन्त्र में नहीं किया गया है। फिर एक बात और यहाँ देखने की है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं आचार्य सायण ने कुत्स को अर्जुन का पुत्र बताया है जो कि इन्द्र का ही दूसरा नाम है। इन्द्र अपने पुत्र कुत्स के यज्ञ में तो स्वयमेव प्रसन्नतापूर्वक रहेगा। कुत्स को जबरदस्ती अपने यज्ञ में इन्द्र को रखने का प्रयास करने की क्या आवश्यकता है? कुत्स को अपने पिता के अण्डकोशों में रस्सियाँ बाँधकर उसे अपने पास रखने के लिए यह गंहित, निर्लज्ज और बीभत्स कर्म करने की क्या आवश्यकता है? रस्सियाँ भी एक-दो नहीं बाँधी गई, पूरी सौ रस्सियाँ बाँधी गई। यदि कुत्स के यज्ञ में इन्द्र चला गया तो लुश को यह बुरा क्यों लगा? पिता का पुत्र के यज्ञ में जाना तो सहज और स्वाभाविक बात है। फिर लुश के कहने पर इन्द्र अपने पुत्र कुत्स के यज्ञ में से भाग क्यों खड़ा हुआ? यह सब कोरी चण्डूखाने की गप्पें नहीं हैं क्या? इन मन-घड़न्त कहानियों से क्या वेद नितान्त गर्हणीय, उपहासास्पद और बकवास भरी बातों का पिटारा नहीं बन जाता? सायणाचार्य आदि ये वेद के व्याख्याता लोग ऐसी कहानियाँ वेद पर मढ़कर अनादि और अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान वेद का क्या स्वरूप लोगों के सम्मुख रखना चाहते हैं? ये सभी वेद व्याख्याता लोग वेद

¹ छान्दोग्यब्राह्मणमणि—‘कुत्सश्च लुशश्च युपदिन्द्रमाहूतवन्ती स्वं स्वं यज्ञं प्रत्यङ्गभावाय सरित्प्रवादिन्द्रः कुत्सं प्रति जगाम तं तु गतं बभित्वात् कुत्सो वाध्रीशतेनाण्डयोरबध्नात्’ इति।

को अनादि, अपौरुषेय और ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। स्वयं इनके मतानुसार अनादि अपौरुषेय वेद में लौकिक व्यक्तियों का इतिहास हो भी नहीं सकता। फिर भी ये महानुभाव वेद पर ऐसे-ऐसे इतिहास और कहानियाँ थोप देते हैं यह भारी आश्चर्य की बात है। मन्त्र में केवल कुत्स, मुष्क, मुञ्चस्व और वद्ध शब्दों को देखकर मन्त्र पर यह हास्यास्पद कहानी मढ़ दी गई है। जबकि मन्त्रगत इन शब्दों से दूसरे सुन्दर भाव निकल सकते हैं। ऐसी निरर्थक और निराधार कहानियाँ वेद के सिर मढ़कर इन भाष्यकारों ने वेद के गौरव को कितना गिरा दिया है।

अब हमारा इस मन्त्र का अधिराष्ट्र अर्थ देखिये—

‘(वृषभ) कामनाओं की वर्षा करने वाले, कामनाओं को पूरा करने वाले (इन्द्र) हे इन्द्र (अहं) मैंने (त्वां) तुम्हें (हि) निश्चय ही (स्ववृजं)¹ अपने लोगों को कष्टों से वर्जित करने वाला अर्थात् कष्टों से छुड़ाने वाला (अनानुदः)² किसी से पराजित न किया जा सकने वाला और (रघ्नचोदनं)³ धन प्राप्ति के लिए प्रेरणा करने वाला (शुश्रव) सुना है, (इह) यहाँ हमारे पास (आ गहि) तुम आओ और (कुत्सात्) कुत्स से (प्र-परि-मुञ्चस्व) मुझे छुड़ाओ (त्वावान्)⁴ तुम वाला अर्थात् तुम्हें अपना स्वामी और रक्षक समझने वाला मैं प्रजाजन (किमु) क्यों (मुष्कयोः) मानो अण्डकोशों में (वद्धः) बँधा हुआ सा (आसते) पड़ा है?’

कई बार ऐसा भी हो जाता है कि कुत्स और उसके विभाग के कर्मचारी स्वयं भ्रष्टाचारी हो जाते हैं। जो लोग अपने निर्धारित कामों को भली-भाँति पूरा कर रहे हैं, अपने द्वारा किये जाने वाले उत्पादन में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दे रहे हैं, जो लोग किसी प्रकार का भी भ्रष्टाचार नहीं कर रहे हैं, स्वयं भ्रष्टाचारी होकर कुत्स और उसके कर्मचारी इस प्रकार के सज्जन और कर्तव्यपरायण लोगों को भी तंग करने लगते हैं, उनके कामों में व्यर्थ के दोष निकालने लगते हैं और उन्हें तरह-तरह की धमकियाँ देने, लगते हैं जिससे ये लोग कुत्स और उसके कर्मचारियों को अनुचित रूप में रिश्वत दे सकें या कोई और लाभ पहुँचा सकें। मन्त्र में ऐसे कर्तव्यपरायण लोगों द्वारा इन्द्र (सम्राट्) से प्रार्थना की जा रही है। वे सम्राट् से कह रहे हैं कि हमें इन भ्रष्टाचारी कुत्स और उसके कर्मचारियों के चंगुल से छुड़ाओ। इस प्रार्थना की ध्वनि यह है कि जब कभी सम्राट् के पास प्रजाजनों की ओर से कुत्स

¹ स्ववृजं स्वान् कष्टेभ्यो वर्जयति रक्षयति इति स्ववृक् तं स्ववृजम् ।

² अनानुदम् अनुद्यति खण्डयति हिनस्ति पराजयते इति अनुदः शत्रुः । नास्ति अनुदः यस्य स अनानुदः । दीर्घश्चान्दसः । दो अवखण्डते । ऋग्० 1.53.8 भाष्ये सायणकृता निरुक्तिरत्रास्माभिरुपजीविता ।

³ रघ्न चोदनम् धनस्य प्राप्तये प्रेरकम् इति ऋग्० 6.44.10 भाष्ये दयानन्दविः रघ्न हिसासराध्योः धातोः उणादिपु बाहुलके रक्ति रूपसिद्धिः ।

⁴ त्वावान् त्वमस्यास्थर्थे युष्मच्छब्दात्तदस्यास्त्यस्मिन्निति मत्तुप्, मादुपघायाश्चेति मतोर्मस्य वः, प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति मपर्यन्तस्य त्वादेशः, छान्दसः युष्मद्दकारस्य आकारादेशः । प्रथमैकवचने त्वावान् । इन्द्रवानिति अत्र मन्ते भावः ।

और उसके कर्मचारियों द्वारा उन्हें सताये जाने की शिकायतें आवें तो सम्राट् को उन पर पूरा ध्यान देना चाहिए और भ्रष्टाचारी कुत्स और उसके कर्मचारियों से उनकी रक्षा करनी चाहिए और भ्रष्ट कर्मचारियों को दण्डित करना चाहिए। मन्त्र के 'अहं' पद को जाति में एकवचन समझना चाहिए। और इसका भाव 'वयं' अर्थात् हम प्रजाजन ऐसा समझना चाहिए। मन्त्र के 'मुष्कयोर्वद्ध आसते' वाक्य में उपमा-वाचक 'इव' पद का लोप समझना चाहिए और वाक्य को 'मुष्कयोरिव वद्धः आसते' ऐसा समझना चाहिए। तब इस वाक्य का अर्थ यह होगा कि मानो हम प्रजाजन अण्डकोशों में बँधे हुए से पड़े हैं। उनके अण्डकोश नहीं बँधे हैं। उनकी स्थिति ऐसी कष्टदायक है जैसी उस व्यक्ति की होती है जिसके अण्डकोशों को किसी ने कसकर बाँध दिया हो। इस उपमा का भाव यह है कि प्रजाजन कुत्स के आदमियों द्वारा बुरी तरह सताये जा रहे हैं। अत्यधिक कष्ट की बात को व्यक्त करने के लिए मुष्क-बंधन की उपमा दी गई है। मुष्क-बंधन अत्यधिक पीड़ादायक होता है। मन्त्र में इन्द्र को 'स्ववृजं' कहा गया है। वह अपने लोगों को कष्ट से वर्जित करने वाला, कष्ट से वचने वाला है। जो प्रजाजन राज्य के नियमों और अपने कर्तव्यों का भली-भाँति पालन करते हैं वे इन्द्र के अपने हैं। इन्द्र उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देता। मन्त्र में प्रजाजन कह रहे हैं कि हे इन्द्र हम तो तुम्हारे अपने लोग हैं। हम अपने कर्तव्यों और राज्य नियमों का भली-भाँति पालन करने वाले हैं। तुम कुत्स और उसके कर्मचारियों के अत्याचारों से हमारी रक्षा करो। मन्त्र में प्रजाजन अपने आपको 'त्वावान्' कह रहे हैं। यह पद भी जाति में एकवचन अर्थात् बहुतों के लिए एकवचन है। इस पद का शब्दार्थ होता है तुम वाले अर्थात् तुम जिनके हो ऐसे। मन्त्र में इस पद का भाव यह है कि प्रजाजन कह रहे हैं कि हे इन्द्र हमने तो तुम्हें अपना बना रखा है, हमारे तो तुम स्वामी और रक्षक हो फिर कुत्स और उसके कर्मचारी हमें पीड़ित क्यों कर रहे हैं? उनसे हमारी रक्षा करो। मन्त्र का जो 'अनानुदं' अर्थात् किसी से पराजित न किया जा सकने वाला, विशेषण दिया गया है उसका भाव यह है कि प्रजाजन इन्द्र से कह रहे हैं कि तुम्हें कोई पराजित नहीं कर सकता, तुम्हारी आज्ञा और शासन को कोई नहीं टाल सकता। फिर हमें कुत्स और उसके कर्मचारी क्यों तंग कर रहे हैं? तुम उनसे हमारी रक्षा करो। इस विशेषण से यह अभिप्राय भी निकलता है कि इन्द्र (सम्राट्) को इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि न तो राष्ट्र के भीतर के दुष्ट और दस्यु लोग उसकी आज्ञाओं को न मानकर उसके राजनियमों को तोड़कर उसे पराजित कर सकें और न ही बाहर के शत्रु उसे पराजित कर सकें। इन्द्र को 'रध्रचोदनं' अर्थात् धन प्राप्ति के लिए प्रेरणा करने वाला कहने का भाव यह है कि इन्द्र (सम्राट्) और तदुपलक्षित राज्य-प्रबन्ध की ओर से प्रजाजनों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे करके धनोपाजन करें और उसके द्वारा अपने जीवन को सुख-समृद्धिशाली बनायें, और इस काम में इन्द्र को प्रजाजनों को सब प्रकार की सहायता देनी चाहिए। 'रध्र'

शब्द जिस रथ धातु से निष्पन्न होता है, उसका अर्थ हिंसा करना भी होता है। इस अर्थ में रथ का तात्पर्य हिंसित, पीड़ित, निर्धनता आदि किसी भी प्रकार के क्लेश से दुःखित व्यक्ति होगा। इन्द्र रथ-चोदन है, ऐसे पीड़ित लोगों को प्रेरणा देने वाला, उत्साहित करने वाला, उनकी सहायता करके उनके कष्टों का निवारण करने वाला है, यह भाव भी इन्द्र के इस विशेषण से निकलेगा। इन्द्र को मन्त्र में जो 'वृषभ' अर्थात् प्रजाजनों के लिए सब कामनाओं की वर्षा करने वाला, उनकी सब इच्छाओं को पूरा करने वाला, कहा गया है उसका इस मन्त्र में तो भाव यह है कि वह हम प्रजाजनों को कुत्स के आदमियों द्वारा जो कष्ट मिल रहे हैं उनसे रक्षा करने की हमारी कामना पूरी करे। इस विशेषण का सामान्य भाव यह भी है कि राष्ट्रवासियों की सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति में इन्द्र (सम्राट्) को उनकी भरपूर सहायता करनी चाहिए।

मन्त्र के ऐसे सुन्दर शिक्षाप्रद अर्थ को न देकर सायण आदि भाष्यकारों ने उस पर उपरोक्त व्याख्या थोपकर कितना अनर्थ किया है ?

कुत्स के अन्य मन्त्र

कुत्स के अधिराष्ट्र स्वरूप पर विचार करते हुए हमने ऊपर के पृष्ठों में कुत्स-विषयक केवल आठ सम्पूर्ण मन्त्रों पर विचार किया है। स्थानाभाव के कारण उसके सभी मन्त्रों पर विचार कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है। इन आठ मन्त्रों पर किये गये विचार ने ही पर्याप्त स्थान ले लिया है। इस प्रसंग को और अधिक लम्बा करना उचित नहीं होगा। ऊपर के पृष्ठों में जो कुछ विस्तृत विचार किया गया है वह आवश्यक था। यदि यहाँ संक्षेप में इतना ही लिखकर छोड़ दिया जाता कि कुत्स इन्द्र का सहचारी और सहायक एक उस प्रकार का उच्च राज्याधिकारी है जिस प्रकार के अधिकारी को आजकल की परिभाषा में सतर्कता विभाग का सर्वोच्च राज्याधिकारी या मन्त्री कहा जाता है, तो हमारा यह ग्रन्थ पढ़ने के पश्चात् वेद के कुत्स विषयक स्थलों को देखने पर पाठकों को हमारा कथन सन्तोषजनक न लगता। विशेषकर ऊपर दी गई कुत्स विषयक कहानियों वाले मन्त्रों को देखकर तो पाठक कुत्स के हमारे स्वरूप निर्धारण को एक विल्कुल ही व्यर्थ की बात समझते। सायणादि भाष्यकारों, ब्राह्मणग्रन्थों, अनुक्रमणिकारों और बृहद्देवता आदि के लेखकों ने कुत्स के इन मन्त्रों पर ये जो कहानियाँ थोप दी हैं उनके प्रभाव से अलग रहकर इन मन्त्रों का तात्पर्य हृदयंगम कर सकना सामान्य पाठक के लिए सम्भव न होता। इसलिए इन मन्त्रों पर कुछ विस्तार से लिखना हमारे लिए आवश्यक हो गया।

हमने यहाँ जिस पद्धति से कुत्स के इन मन्त्रों पर विचार किया है उस पद्धति से उसके अन्य मन्त्रों की भी सुसंगत व्याख्या की जा सकती है। कुत्स के मन्त्रों में ऐसे जो शब्द आते हैं जिन्हें सायणाचार्य आदि भाष्यकारों ने या तो किसी असुर का

नाम जाना है, या किसी ऋषि का और या किसी राजा का नाम माना है उन सब शब्दों की धात्वर्थ के आधार पर यौगिक व्याख्या हो सकती है। और वे शब्द या तो कुत्स के ही विशेषण हो जायेंगे, या भ्रष्टाचारी लोगों के वाचक और विशेषण हो जायेंगे जिन्हें पता लगाने और दण्डित कराने का काम कुत्स करता है, या सामान्य प्रजाजनों के वाचक और विशेषण हो जायेंगे जिनके कल्याण के लिए कुत्स कार्य करता है। या फिर कहीं-कहीं ये शब्द इन्द्र (सम्राट्) के विशेषण हो जायेंगे। इनमें से कुछ शब्दों को तो निघण्टु (2.3) में भी सामान्य मनुष्यवाचक नामों से गिनाया गया है। स्वयं आचार्य सायण ने भी अपने भाष्य में कई स्थानों पर ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम समझे जाने वाले इन शब्दों में से कुछ के यौगिक अर्थ करके उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं रहने दिया है।¹ कुत्स के मन्त्रों में ही इस प्रकार के शब्द नहीं आते, अन्यत्र भी वेद में इस प्रकार के शब्द अनेक स्थलों पर आते हैं। इन सभी स्थलों पर सायण आदि भाष्यकार इन शब्दों का अर्थ प्रायः कोई न कोई ऐतिहासिक व्यक्ति ही करते हैं और वहाँ प्रायः कोई कथा जोड़ देते हैं जिसका वस्तुतः मन्त्र में उल्लेख नहीं होता है। मन्त्र के किन्हीं एक-दो शब्दों को देखकर सारी कहानी मन्त्र पर मढ़ दी जाती है जबकि मन्त्र के उन शब्दों का दूसरा अर्थ किया जा सकता है। वेद को अनादि अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले तथा सिद्धान्ततः वेद में किसी प्रकार का लौकिक इतिहास स्वीकार न करने वाले ये भाष्यकार वेद मन्त्रों पर ऐतिहासिक कहानियाँ कैसे थोप देते हैं यह एक आश्चर्य का विषय है। इस युग के वेदों के अद्वितीय मर्मज्ञ विद्वान् ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में ऐसे सभी शब्दों के धात्वर्थ के आधार पर यौगिक अर्थ करके मन्त्रों को जीवनोपयोगी कल्याणकारी व्यावहारिक शिक्षा देने वाला बना दिया है। जोकि वेद का वस्तुतः प्रयोजन है।

शुष्ण का वध

ऊपर कुत्स सम्बन्धी जिन मन्त्रों पर विचार किया गया है उनमें से दो-एक मन्त्रों में 'शुष्ण' शब्द भी आया है। वहाँ हमने कुत्स के सम्बन्ध से शुष्ण का अर्थ वे लोग किया है जो अपने निर्धारित कामों की उपेक्षा और अवहेलना करके जितना चाहिए उतना उत्पादन नहीं करते जिसके कारण जनता की आवश्यकताएँ भली-भाँति पूरी नहीं होतीं और उसे कष्ट में रहना पड़ता है, अथवा जो लोग नाना प्रकार के भ्रष्टाचार करके प्रजाजनों का शोषण करते हैं। कुत्स के कई अन्य मन्त्रों में भी शुष्ण शब्द आता है। वहाँ भी इसका यही अर्थ करना होगा। यह शब्द कुत्स के मन्त्रों से

¹ उदाहरण के लिए सायण ने ऋग् 1.108.8 मंत्र की व्याख्या में यदु, तुवंश, द्रुह, यु, अनु और पूरु शब्दों के, जिन्हें पुरुवंशी राजाओं के नाम कहा जाता है, यौगिक अर्थ करके उन्हें तत्तद्गुण-विशिष्ट मनुष्यों का वाचक बताया है। निघं 2.3 में भी इनको मनुष्यवाचक नामों में गिनाया गया है।

भिन्न मन्त्रों में भी कई जगह आता है। विशेषकर इन्द्र के मन्त्रों में यह शब्द अधिक आता है। प्रसंगानुसार इसके कई अर्थ हो सकेंगे। इस शब्द का अपना मूल अर्थ शोषण करने वाला होता है। जो भी किसी प्रकार का शोषण करे वह शुष्ण कहा जायेगा। हमने इस ग्रन्थ में अन्यत्र कई प्रसंगों में शुष्ण का अर्थ अवग्रह अर्थात् अनावृष्टि या सूखे की स्थिति किया है। अनावृष्टि के कारण कृषि आदि सूख जाती हैं और लोगों को खाने को नहीं मिलता जिससे उन्हें भयंकर कष्ट भोगना पड़ता है। शुष्ण के साथ कई स्थानों पर कुयव शब्द भी आता है। कुयव का अर्थ होता है जिसके कारण कुत्सित यव और तदुपलक्षित अन्य अन्न प्राप्त हों। कुत्सित अन्न का तात्पर्य खराब और अपर्याप्त अन्न से है। अनावृष्टि के कारण अन्न अपर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं और कमी के कारण खराब अन्न भी मिलते हैं। इन्द्र (सम्राट्) इस शुष्ण का वध करता है। कुओं, सरोवरों और नहरों की व्यवस्था करके खेतियों को पानी दिलाने का उपाय करता है। राज्य प्रबन्ध द्वारा ऐसा किये जाने पर लोगों को अनावृष्टि के कष्ट प्राप्त नहीं होते। और इस प्रकार शुष्ण का वध कर दिया जाता है।

इन्द्र के युद्धों के वर्णन वास्तविक नहीं आलंकारिक हैं

वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र के युद्धों का वर्णन आता है। ऊपर कुत्स के जिन मन्त्रों पर विचार किया गया है उनमें भी अधिकांश में इन्द्र के कुत्स के साथ मिलकर दस्युओं से युद्ध करने का उल्लेख है। इन्द्र के युद्धों के इन वर्णनों के आधार पर कहीं तो पौराणिक साहित्य में काल्पनिक देवताओं और राक्षसों के युद्धों के जो वर्णन पाये जाते हैं उन्हीं को वेद के सिर पर मढ़ दिया जाता है और कहा जाता है कि वेद में तथाकथित पौराणिक देवासुर संग्राम का वर्णन है। कहीं कहा जाता है कि प्राचीन काल में भारत में जो कई प्रसिद्ध राजा हो चुके हैं उनमें से किसी के पक्ष में और किसी के विपक्ष में इन्द्र के युद्धों का वर्णन इन मन्त्रों में किया गया है। और इन मन्त्रों से इतिहास निकालने का प्रयत्न किया जाता है। सायणाचार्य आदि भाष्यकारों ने जिन मन्त्रों में इन्द्र के युद्ध का वर्णन प्रतीत होता है उनके अर्थ इसी प्रकार के किये हैं। सायण आदि के इन अर्थों के आधार पर आधुनिक पाश्चात्य और उनके पीछे चलने वाले भारतीय विद्वान् वेद को या तो मिथ्या कल्पित देवों और राक्षसों के युद्धों की मनुष्यवृत्ति किस्से-कहानियों का पिढारा कहने लगते हैं और या फिर उसमें पुराने राजाओं का इतिहास खोजने लगते हैं। दोनों ही बातों से वेद के अनादि अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान होने की बात समाप्त हो जाती है। वेद के गौरव के इस प्रकार समाप्त किये जाने का सारा उत्तरदायित्व इन सायणाचार्य आदि भाष्यकारों पर ही है। पाश्चात्य और उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् सायण आदि द्वारा किये गये अर्थों के आधार पर ही अपने निष्कर्ष निकालते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि ये आचार्य सायण आदि भाष्यकार सिद्धान्ततः वेद में किसी प्रकार के इतिहास होने की

वात को स्वीकार न करते हुए भी इस प्रकार के अर्थ वेद मन्त्रों के कैसे कर बैठते हैं ।

इन्द्र के युद्धों के सम्बन्ध में वेद की स्वयं अपनी मान्यता यह है कि इन्द्र का कोई शत्रु नहीं है, उसके युद्धों के जो वर्णन वेद में हैं वे सब आलंकारिक हैं वास्तविक नहीं हैं । इस सम्बन्ध में वेद के निम्न स्थल देखिये—

1. अशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि ।

ऋग्० 1.102.8.

2. अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे ।

ऋग्० 10.133.2.

3. मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ।

ऋग्० 10.54.2.

इसमें से प्रथम उद्धरण का अर्थ है कि '(इन्द्र) हे इन्द्र तुम (जनुषा) अपने जन्म से ही (सनात्) सदा से (अशत्रुः) अशत्रु अर्थात् जिसका कोई शत्रु न हो ऐसे (असि) हो ।' दूसरे उद्धरण का अर्थ है कि '(इन्द्र) हे इन्द्र तुम (अशत्रुः) अशत्रु अर्थात् जिसका कोई शत्रु न हो ऐसे (जज्ञिषे) उत्पन्न हुए हो ।' तीसरे उद्धरण का अर्थ है कि 'हे इन्द्र (ते) तुम्हारे (यानि) जिन (युद्धानि) युद्धों को (आहुः) कहते हैं अर्थात् तुम्हारे जिन युद्धों का वर्णन किया जाता है (सा) वह तो (माया-इत्)¹ माया ही है, मिथ्या ही है, आलंकारिक ही है, तुम तो (न) न तो (अद्य) आज ही अर्थात् वर्तमान काल में ही और (ननु) न ही (पुरा) पहले कभी (शत्रुं) शत्रु को (विवित्से) प्राप्त करते हो ।'

प्रथम दोनों उद्धरणों में कहा गया है कि इन्द्र तो सदा से ही, अपने जन्मकाल से ही, अशत्रु है । सदा से ही उसका कोई शत्रु नहीं है । जब उसका कभी कोई शत्रु ही नहीं है तो भला उसके युद्ध किससे और कैसे होंगे ? इसलिए उसके युद्धों के जो वर्णन आते हैं उन्हें वास्तविक नहीं समझना चाहिए । उन्हें केवल आलंकारिक वर्णन समझना चाहिए । तीसरे उद्धरण में इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया है । मन्त्र कहता है कि न तो वर्तमान काल में इन्द्र का कोई शत्रु है और न ही पहले कभी कोई शत्रु रहा है । उसके युद्धों के जो वर्णन हैं वे तो मायामात्र हैं, मिथ्या हैं, वास्तविक नहीं हैं, आलंकारिक हैं । यहाँ माया शब्द का अर्थ सायणाचार्य ने भी मृषा अर्थात् मिथ्या या असत्य किया है । निघण्टु (3.9) में माया का अर्थ प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि किया गया है । माया का अर्थ एक विशेष प्रकार की कौशलमयी बुद्धि भी हो जाता है जिसके द्वारा जादूगर लोग दर्शकों को ऐसी चीजें करके दिखा देते हैं जो वस्तुतः होती नहीं हैं । रघुवंश² में कालिदास ने एक स्थान पर माया शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है । क्योंकि इस प्रकार की कौशलमयी बुद्धि से दिखाई चीजें मिथ्या होती हैं इसलिए माया शब्द का व्यवहार मिथ्या अर्थ में भी हो जाता है । सायणाचार्य ने मन्त्र के माया शब्द का अर्थ मृषा इसी कारण किया है । मन्त्र की जैसी पद-रचना और उसका जैसा अर्थ है उसमें माया शब्द का अर्थ मिथ्या या अवास्तविक ही किया

¹ मृषेत्यर्थः । इति सायणः ।

² मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोसि । रघु० 2.62.

जा सकता है। मिथ्या या अवास्तविक का तात्पर्य भी यहाँ आलंकारिक होने से है। वस्तुतः इन्द्र ने किसी से कोई युद्ध तो नहीं किये हैं, फिर भी उसके युद्धों का वर्णन किया गया है। उसके युद्धों का यह वर्णन प्ररोचना द्वारा किसी शिक्षा को देने के लिए किया गया है। वेद में परमात्मा को कवि और वेद को उसका काव्य भी कहा गया है। काव्यों के वर्णन आलंकारिक भी हुआ करते हैं। वेद काव्य में भी आलंकारिक वर्णन है। इन्द्र के युद्धों का वर्णन भी इसी प्रकार का आलंकारिक वर्णन है। इस वर्णन का प्रयोजन यह बताना है कि इन्द्र (सम्राट्) और राज्य प्रबन्ध का कर्तव्य है कि वह प्रजाजनों को पीड़ित करने वाले लोगों को कठोर दण्ड देकर राष्ट्रजनों की रक्षा करे।

इन्द्र के युद्धों के इन वर्णनों में जहाँ कहीं ऐतिहासिक व्यक्ति समझे जाने वाले ऋषियों और राजाओं के अथवा तथाकथित असुरों के नाम आते हैं उन नामों की उनके धात्वर्थ के आधार पर यौगिक व्याख्या हो जायेगी और मन्त्रों से विभिन्न प्रकार के उपदेश और शिक्षाएँ निकलने लगेंगी। कुत्स के मन्त्रों में भी इन्द्र के युद्धों का वर्णन पाया जाता है। इसलिए इन पंक्तियों में इन्द्र के युद्धों के सम्बन्ध में यह थोड़ा सा विचार कर दिया गया है।

कुत्स के इन काव्यमय आलंकारिक वर्णनों के द्वारा वेद ने यह प्रदर्शित किया है कि राज्य में एक ऐसा विभाग भी होना चाहिए जो राज्य के विभिन्न कार्य-क्षेत्रों और विभागों में कदाचारी लोगों द्वारा किये जा रहे विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचारों का पता लगाकर ऐसे लोगों को दण्डित कराता रहे।

कुत्स पद की निरुक्ति की संगति

हमने यहाँ कुत्स का जो अधिराष्ट्र स्वरूप निरूपित किया है उसमें कुत्स पद की निरुक्ति भी संगत हो जाती है। कुत्स शब्द संस्कृत की 'कुत्स' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ अवक्षेपण अर्थात् निन्दा करना, दोष दिखाना, कमियों, न्यूनताओं और त्रुटियों को दिखाना होता है। अवक्षेपण या निन्दा का अर्थ किसी की अहेतुक बुराई करना नहीं है प्रत्युत दोषों के आधार पर किसी की भर्त्सना को निन्दा कहते हैं। निन्दार्थक इस कुत्स धातु से व्युत्पन्न होने के कारण कुत्स शब्द का अर्थ भी निन्दा करने वाला, दोष और त्रुटियों को दिखाने वाला होता है।¹ राष्ट्र के विभिन्न कार्य क्षेत्रों और विभागों में काम करने वाले लोगों द्वारा अपने निर्धारित कार्यों की पूर्ति में जो त्रुटियाँ की जाती हैं और जो अन्य प्रकार के कदाचार और भ्रष्टाचार किये जाते हैं उन सब दोषों की कुत्स यह कहकर निन्दा करता है कि अमुक काम ठीक नहीं हो रहा। इस प्रकार की कुत्सा या निन्दा करने वाला होने के कारण कुत्स को

¹ कुत्स अवक्षेपणे । कुत्सयति अवक्षिपति निन्दति दोषाणां त्रुटीनाञ्चोद्घाटनं करोति इति कुत्सः ।

कुत्स कहा जाता है। इस प्रकार इस पद की निरुक्ति भी हमारे इसके अधिराष्ट्र अर्थ में संगत हो जाती है।

उपसंहार

इस लम्बे अध्याय में हमने इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी अग्नि, अश्विनो, वरुण, मित्र, सोम, रुद्र, मरुत्, त्वष्ठा, ऋभु, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पूषा, सविता, सूर्य, विष्णु, अर्यमा, भग, सरस्वती, पर्वत, वायु और कुत्स इन इक्कीस देवताओं पर विचार करके उनके अधिराष्ट्र स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है। इन सभी देवताओं का वेद में स्थान-स्थान पर इन्द्र के सहचारी के रूप में वर्णन आता है। इसमें से अग्नि, कुत्स, पर्वत, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, मरुत्, वरुण, वायु, विष्णु और सोम इन ग्यारह देवताओं का तो इन्द्र के साथ द्वन्द्व समास में समस्त रूप में भी वर्णन आता है। इसमें से सोम, रुद्र, मरुत्, ऋभु और त्वष्ठा इन पाँच देवताओं पर इस अध्याय में कुछ संक्षिप्त रूप में ही विचार किया गया है। इसमें से सोम, त्वष्ठा, ऋभु, मरुत् और रुद्र पर अन्यत्र अधिक विस्तार से विचार किया गया है। वरुण के प्रसंग से निर्ऋति देवता पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार इन्द्र समेत कुल चौबीस देवताओं पर मैं विस्तार से विचार किया गया है। कहीं-कहीं प्रसंगवश किसी अन्य देवता का नामोल्लेख भी हो गया है। वेद में पाये जाने वाले इन देवताओं के विशेषणों और वर्णनों से जो राजनैतिक या अधिराष्ट्र निर्देश निकलते हैं उन्हीं के आधार पर इस ग्रन्थ के विभिन्न विवरण लिखे गये हैं।

हमने इस अध्याय में और इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र को सम्राट् माना है। इसके लिए हमने वेद के यथेष्ट प्रमाण दिये हैं। इस अध्याय में अन्य जिन देवताओं पर विचार किया गया है उन्हें हमने इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी और सहकारी के रूप में राज्य के विभिन्न विभागों के सर्वोच्च राज्याधिकारी या मन्त्री निर्धारित किया है। इसके लिए भी हमने वेद के पर्याप्त प्रमाण दिये हैं। देवताओं के अधिराष्ट्र स्वरूप पर इस प्रकार का विचार और विवेचन अभी तक कहीं भी नहीं किया गया है। यह हमारा सर्वथा नवीन चिन्तन और विवेचन है। इसलिए हो सकता है कि किसी को हमारा देवताओं का राज्य के विभिन्न विभागों के मन्त्रियों के रूप में यह निर्धारण कुछ अजीब सा लगे और ऐसे सज्जन सहसा हमारे विचार से सहमत न हो सकें। पर हमारा विश्वास है कि ऐसे महानुभाव भी इस सम्बन्ध में वेद से दिये गये हमारे प्रमाणों और उनके निष्कर्षों पर पूर्वाग्रह से रहित होकर विचार करेंगे तो उन्हें हमारे विवेचन में यथार्थता दिखाई देगी।

इस ग्रन्थ में प्रजा के कल्याण और सुख-समृद्धि के लिए राज्य द्वारा कराये गये अनेक कार्यों का उल्लेख किया गया है। उन सभी कार्यों को राजा या सम्राट्

अकेला नहीं कर सकता। किसी भी सम्राट् या राष्ट्रपति में न तो इतनी शक्ति ही हो सकती है और न ही उसके पास इतना समय ही हो सकता है कि वह राज्य के सभी कार्यों को बिना किसी की सहायता के स्वयं अकेला ही देख और कर सके। राज्य के विभिन्न कार्यों की देख-भाल करने वाले विभागों के भली-भाँति संचालन के लिए उसे सहायकों और मन्त्रियों की नितान्त आवश्यकता होगी। यह बात स्वयंसिद्ध और स्वतः स्पष्ट है। वेद ने इन्द्र (सम्राट्) के सहचारी के रूप में अग्नि, वरुण, सोम और पूषा आदि देवताओं के वर्णन द्वारा यह संकेत दे दिया है कि राज्य के सुचारु रूप से संचालन के लिए राज्य में विभिन्न विभागों के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति भी की जानी चाहिए। ऐसा न भी होता तो भी वेद में राजा के जो वर्णन बताये गये हैं उनके उत्तम रीति से संपादन के लिए राजा को अपने सहायक के रूप में आवश्यकतानुसार अनेक मन्त्री भी नियुक्त कर लेने चाहिए, यह बात स्वयं ही सामने आ जाती है, क्योंकि किसी भी राजा में इतना सामर्थ्य नहीं हो सकता और न ही उसके पास इतना समय हो सकता है कि वह राज्य के सभी विभागों के कामों को स्वयं अकेला ही भली-भाँति देख और कर सके। इन देवताओं के वर्णन द्वारा वेद ने यह बात अधिक स्पष्टता से व्यक्त कर दी है कि सम्राट् को विभिन्न विभागों के सम्यक् संचालन के लिए अपने सहायक के रूप में अनेक मन्त्रियों को भी नियुक्त करना चाहिए।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। वेद में यह जो अग्नि, वरुण, पूषा और सोम आदि का मन्त्रियों के रूप में वर्णन किया गया है उसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल इतने ही मन्त्री किसी राज्य में होने चाहिए। यह तो एक संकेत और निर्देशमात्र है। राज्यों के छोटा और बड़ा होने तथा उसमें किये जा रहे कार्यों के संचालन के लिए आवश्यक विभागों की संख्या पर यह निर्भर करेगा कि वहाँ कितने मन्त्रियों को नियुक्त किये जाने की आवश्यकता है। आवश्यकता के अनुसार मन्त्रियों की संख्या कम भी हो सकती है और अधिक भी रह सकती है।

19

राज्य और न्याय विभाग

राष्ट्र में न्यायालयों की स्थापना

राज्य का एक कर्तव्य प्रजाओं को कष्ट पहुँचाने वाले दुष्ट लोगों को दण्ड देना है। दुष्ट लोगों को दण्ड देना राजा या राज्य का कर्तव्य बताना ही इस बात की सूचना देता है कि राज्य में न्यायालयों की संस्थाएँ भी होनी चाहिए। इन संस्थाओं के बिना दुष्ट और अदुष्ट—अपराधी और अनपराधी—की पहचान नहीं हो सकती। कोई भी अभियुक्त व्यक्ति दोषारोपण किये जाने पर अपने आपको निर्दोष ही कहेगा। वह दोषी है या नहीं इसका निर्णय न्यायालय में ही हो सकता है। अभियुक्त के दोषी प्रमाणित हुए बिना, औरों द्वारा अभियोग लगा दिये जाने मात्र से, उसे दण्डित कर दिये जाने की बात तो वेद कह नहीं सकते। अतः वैदिक राज्य में न्यायालय भी रहेंगे ऐसी सूचना हमें उपर्युक्त दण्ड-विधान से स्पष्ट निकलती प्रतीत होती है।

हम अपनी स्थापना को केवल इतने ही आधार पर नहीं छोड़ना चाहते। इस सम्बन्ध में हम वेद के और भी अधिक स्पष्ट स्थल उपस्थित करना चाहते हैं। वेद का निम्न मन्त्र देखिये—

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।

अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान् नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥

ऋग् ० 10.42.4; अय ० 20.89.4.

अर्थात्—‘हे सम्राट् (इन्द्र) तुझे ‘मेरी बात सच्ची है, मेरी बात सच्ची है’ ऐसे झगड़ों के समय (ममसत्येषु) एकत्र खड़ा होने के स्थान में (समीके)¹ खड़े हुए (संतस्थानाः) लोग बुलाते हैं; तू उस व्यक्ति को तो अपना मित्र (युजं) बनाता है अर्थात् उसकी बात तो सुनता है जो राज्य के लिए देय करादि को देता रहता है (हविष्मान्), जो राज्य के लिए कुछ उत्पन्न नहीं करता (असुन्वता) उसके साथ हे शूर तू मित्रता नहीं चाहता अर्थात् उसकी बात तू नहीं सुनता ।’

इस मन्त्र से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

1. झगड़ने वाले लोग जहाँ इन्द्र के द्वारा झगड़ा मिटाने के लिए खड़े होते हैं

¹ सं यन्ति एकत्रीभवन्ति अत्रेति समीकम् । सम् + इण् गतो + ईकन् (उणादि ० 4.25) ।

उस स्थान का नाम 'समीक' बताया गया है। इस शब्द का धात्वर्थ है जहाँ जाकर इकट्ठे खड़े हों। इस धात्वर्थ के बल पर कई स्थानों में यह शब्द युद्ध के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। झगड़ा भी तो एक प्रकार का युद्ध ही होता है।

2. झगड़ों के लिए 'ममसत्य' शब्द का प्रयोग हुआ है क्योंकि उनमें प्रत्येक दल यही कहता है कि 'मम' अर्थात् मेरी बात सत्य है—मेरी बात सत्य है।
3. इन 'ममसत्यों' में, झगड़ों में, किसकी बात वास्तव में सत्य है इसका निर्णय करने के लिए प्रजाजन इन्द्र (सम्राट्) को बुलाते हैं। अर्थात् उसके आगे अपना झगड़ा रखते हैं।
4. सम्राट् उन्हीं लोगों के झगड़े सुनता और निपटाता है जो राज्य के लिए कुछ न कुछ उत्पन्न करते हैं, उसे किसी न किसी रूप में कर आदि देते हैं। जो राज्य के लिए कुछ भी काम नहीं करते राज्य उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व नहीं ले सकता।

इस मन्त्र द्वारा राज्य में न्यायालयों (समीक) के होने और उनमें प्रजाजनों के 'ममसत्यों'—झगड़े, अभियोगों—के पहुँचने और सम्राट् अर्थात् राज्य द्वारा उनका निर्णय किये जाने का स्पष्ट वर्णन है।

इसी भाँति—

इन्द्राय साम गायत विप्राय वृहते वृहत् ।
धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥

ऋग्वे० 8.98.1; अथ० 20.62.5.

इस मन्त्र में सम्राट् (इन्द्र) को 'धर्मकृत्' कहा है। मन्त्र का शब्दार्थ है—

'उस इन्द्र (सम्राट्) की खूब स्तुति गाओ जोकि महा मेधावी है, धर्मकृत् है, पण्डित है, राष्ट्र में नाना व्यवहारों को चाहता है (पनस्यवे)।'¹

संस्कृत-साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग, इसके और-और अनेक अर्थों के अतिरिक्त, राज-नियम (law) के अर्थों में भी होता है। इसीलिए संस्कृत में मनुस्मृति आदि स्मृतियों और आपस्तम्ब आदि धर्म-सूत्रों को, जिनमें वैयक्तिक धर्म की बातों के अतिरिक्त अधिकतर राजनियमों का ही वर्णन होता है, धर्मशास्त्र नाम से कहा जाता है। और इसीलिए संस्कृत में न्यायाधीशों को, जो यह निर्णय करते हैं कि किस व्यक्ति ने राजनियम को भंग किया है और किसने नहीं, 'धर्माध्यक्ष' और 'धर्माधिकारी' इन नामों से कहा जाता है। और इसी कारण न्यायालय को संस्कृत में 'धर्माधिकरण' नाम से अभिहित किया जाता है। 'धर्म' शब्द को संस्कृत साहित्य में प्रचलित इस अर्थ को ध्यान में रखकर यदि मन्त्र में सम्राट् (इन्द्र) के लिए प्रयुक्त 'धर्मकृत्' शब्द का अर्थ किया जाय तो इसके दो भाव होंगे। एक तो यह कि सम्राट् राज-नियमों का

¹ पन व्यवहारे स्तुती च । पन्यते व्यह्रिते इति पनः, औणादिकोसुन् (उणादि० 4.189) । पन इच्छतीति पनस्युस्तस्मै ।

निर्माण करता है और दूसरा यह कि वह यह निर्णय करता है कि कौनसी बात धर्म है अर्थात् राज-नियमानुकूल है और कौनसी बात धर्म के अर्थात् राज-नियम के प्रतिकूल है। इस दूसरे अर्थ में मन्त्र का 'धर्मकृतृ' शब्द संस्कृत के 'धर्माव्यक्ष' का पर्यायवाची होगा। और तब वेदमन्त्र से यह स्पष्ट सूचना निकलेगी कि राज्य में धर्माधर्म अर्थात् राज-नियम के अनुकूल और प्रतिकूल बातों का निर्णय करने के लिए 'धर्माधिकरणों' अर्थात् न्यायालयों की स्थापना होनी चाहिए।

इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखिये—

निर्माया उत्ये असुरा अभूवन् त्वं च मा वरुण कामयासे ।

ऋतेन राजन्नृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि ॥

ऋग्वे० 10.124.5.

अर्थात्—'हे राजन् (वरुण) वे दुष्ट लोग (असुराः) कर्म रहित (निर्मायाः) हो जावें, तू मुझे जोकि असुर नहीं हूँ सत्य से झूठ को पृथक् करने वाला (विविञ्चन्) होकर मेरे राष्ट्र का अधिपति बन ।'

इस मन्त्र में राजा के राष्ट्र का अधिपति बनने के, उसके राज्य स्वीकार करने के, निम्न हेतु बताये गये हैं—

1. जिससे सत्य का झूठ से भेद हो सके। लोग आपस में झगड़ेंगे और प्रत्येक अपने को ही सच्चा कहेगा। सम्राट् निर्णय देगा कि झगड़ने वालों में से कौन सच्चा है और कौन झूठा है।
2. राजा के निर्णय पर जो झूठे होंगे उन असुर लोगों को 'निर्माया' कर दिया जायेगा। उन्हें दण्डादि देकर झूठ के कामों से हटा दिया जायेगा।
3. जो असुर नहीं होंगे, असत्य व्यवहारी नहीं होंगे, उन्हें राजा चाहेगा अर्थात् उनकी वह रक्षा करेगा।

इस मन्त्र में भी यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि राजा को असत्य और सत्य का निर्णय करने का प्रबन्ध करना चाहिए। दूसरे शब्दों में उसे राष्ट्र में न्यायालयों की स्थापना करनी चाहिए।

इसी सम्बन्ध में ऋग्वे० 7.49.3. मन्त्र भी देख लेना चाहिए। इसमें वरुण को—

सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्¹

अर्थात्—'लोगों के सत्य और असत्य को देखने वाला' कहा है। वरुण का वेद में सम्राट् अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। इसलिए इस मन्त्र में यह अर्थ भी अवश्य छिपा हुआ है कि सम्राट् प्रजाजनों के सत्य और असत्य व्यवहारों को देखता है। प्रजाजनों के सत्य और असत्य व्यवहारों को सम्राट् न्यायाधीश के रूप में ही देख सकता है। इसलिए इस मन्त्र से भी यह स्पष्ट प्रकट होता है कि राजा को राज्य में सत्यासत्य के

¹ यह मन्त्र अथ० 1.33.2 में भी आता है।

विवेक के लिए न्यायालयों की स्थापना करनी चाहिए।

यहाँ ऋग्० 7.104 और अथ० 8.14 सूक्तों पर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिए। ये दोनों सूक्त हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ एक ही हैं। इनमें 25-25 मन्त्र हैं। इन सूक्तों को जरा ध्यान से देखने से स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् को राष्ट्र में न्यायालयों की स्थापना करनी चाहिए।

इन दोनों सूक्तों का देवता कौन ?

इससे पहले कि हम सूक्तों के इस विषयक मन्त्रों को यहाँ उद्धृत करें एक बात इन सूक्तों के सम्बन्ध में साफ कर देना चाहते हैं। इन सूक्तों के 25 मन्त्रों में से 1-7, 15, 25 इन तीनों मन्त्रों का देवता इन्द्र और सोम सम्मिलित माने जाते हैं। 8, 16, 19-22, 24 इन सात मन्त्रों का देवता इन्द्र माना जाता है। 9, 12, 13 इन तीन मन्त्रों का देवता सोम माना जाता है। 10, 14 इन दो मन्त्रों का देवता अग्नि माना जाता है। 11वें मन्त्र का देवता 'देवाः' माना जाता है। 17वें मन्त्र का देवता 'ग्रावाणः' माना जाता है। 18वें मन्त्र का देवता 'मरुतः' माना जाता है। 23वें मन्त्र का देवता पृथिवी, अन्तरिक्ष और वसिष्ठ माने जाते हैं।

वसिष्ठ देवता नहीं

परन्तु 23वें मन्त्र में 'वसिष्ठ' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। सायण ने अपने भाष्य में बृहद्देवता में लिखी हुई प्रचलित कहानी की ओर निर्देश किया है कि इस मन्त्र में वसिष्ठ प्रार्थना कर रहा है। राक्षसों ने उसके 100 पुत्र मार दिये थे। उससे दुखित होकर उसने राक्षसों के विनाश के लिए इन्द्र और सोम से मुख्यतः और अग्नि, मरुत् आदि से गौणतः इस सूक्त के मन्त्र बोलकर प्रार्थना की थी। वही वसिष्ठ 23वें मन्त्र का देवता है। सूक्त के किसी भी मन्त्र से इस कहानी की पुष्टि नहीं होती। सूक्त में न 'वसिष्ठ' का नाम है, न उसके 100 पुत्रों के राक्षसों द्वारा मारे जाने का वर्णन है और न कहीं यही लिखा है कि उसने राक्षसों के विनाश के लिए इन्द्र सोम आदि से प्रार्थना की थी। इसलिए सूक्त में जिस कहानी का निशान भी नहीं मिलता, सूक्त पर खामखाह थोपी हुई उस कहानी के आधार पर हम 23वें मन्त्र का वसिष्ठ को देवता नहीं मान सकते। फिर यदि प्रार्थना ही देखनी है तो वह लगभग सभी मन्त्रों में है उसके आधार पर सभी मन्त्रों का देवता वसिष्ठ को क्यों नहीं माना जाता ? वसिष्ठ न 23वें और न ही किसी अन्य मन्त्र का ही देवता है। मन्त्रों में प्रार्थना जो की जा रही है वह सामान्य प्रजाजनों की ओर से की जा रही है। इसलिए प्रार्थना के आधार पर देवता मानना हो तो 'प्रजाजन' देवता माने जाने चाहिए।

अब 23वें मन्त्र के 'पृथिवी' और 'अन्तरिक्ष' देवता को लें। 'पृथिवी' का अर्थ हम पीछे 'मातृभूमि की भावना' नामक अध्याय में दिखा चुके हैं कि 'मातृभूमि' या

अपनी 'राष्ट्रभूमि' होता है। फिर 'मातृभूमि' का अर्थ भी जड़ भूमि नहीं होता है। जड़ भूमि हमारी प्रार्थना नहीं सुन सकती और न ही हमारी किसी तरह रक्षा कर सकती है। भूमि से प्रार्थना करने का अभिप्राय अपने देश के उत्तम राज्य प्रबन्ध से सुव्यवस्थित राष्ट्रशक्ति से प्रार्थना करना ही होता है। इसलिए इस मन्त्र का 'पृथिवी' शब्द भी एक प्रकार से राज्य-प्रबन्ध का ही, दूसरे शब्दों में 'इन्द्र' का ही सूचक है। पृथिवी के साहचर्य से मन्त्र के 'अन्तरिक्ष' का अभिप्राय भी अपने राष्ट्र का अन्तरिक्ष ही लेना होगा। अन्तरिक्ष से रक्षा करने की प्रार्थना का तात्पर्य भी वास्तव में अन्तरिक्ष सम्बन्धी विपत्तियों से रक्षा का उपाय करने वाले अपने राज्य प्रबन्ध से प्रार्थना करना ही है। इस प्रकार अन्तरिक्ष का तात्पर्य भी इन्द्र से ही है।

अब लीजिए 18वें मन्त्र के 'मरुतः' को। 'मरुत' का अर्थ सैनिक होता है यह हम कितनी ही बार कह चुके हैं और इसे आगे सिद्ध भी करेंगे। सैनिक सम्राट् का एक अंग ही होते हैं। सम्राट् अपने सैनिकों द्वारा ही दुष्टों को दण्ड दिलवाता है। इसलिए इस मन्त्र के 'मरुतः' भी सम्राट् के ही, इन्द्र के ही, सूचक हैं।

ग्रावा शब्द का अर्थ

अब आइये 17वें मन्त्र के 'ग्रावाणः' के ऊपर। सायणादि 'ग्रावा' का अर्थ पत्थर करते हैं। अधिकतर इनका अर्थ सोम को कूटकर उसका रस निकालने के काम आने वाले पत्थर किया जाता है। यह इन भाष्यकारों की भूल है। ग्रावा शब्द 'गृ' शब्दे' धातु से औणादिक 'वन्' प्रत्यय और धातु को 'ग्रा' आदेश होकर बनता है। धातु के 'शब्द करने' का अभिप्राय शब्द करके अर्थात् बोलकर किसी को उपदेश करने, अपने मन की बात समझाने अर्थ में होता है। वेद में इस अर्थ में इस धातु का खूब प्रयोग हुआ है, इसे प्रत्येक स्वाध्यायशील व्यक्ति जानता है। इसलिए 'ग्रावा' का धात्वर्थ हुआ जो किसी को उपदेश करे, समझावे। धात्वर्थ के बल पर ही हम नहीं कहते, वेद में 'ग्रावाणः' के वर्णन भी इसी प्रकार के हैं। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

1. ग्रावाणो यस्येषिरं वदन्ति । ऋग्० 5.37.2.
2. ग्रावाणः सखित्वनाय वावशुः । ऋग्० 6.51.14.
3. आ वां ग्रावाणो अश्विना धीभिर्विप्रा अचुच्युवुः । ऋग्० 8.42.4.
4. ग्रावाणो न सूरयः । ऋग्० 10.78.6.
5. भुरन्तु नो यशसः सोत्वन्वसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मता । ऋग्० 10.76.6.
6. प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदतां वदभ्यः । ऋग्० 10.94.1.
7. एते वदन्ति शतवत् सहस्रवत् ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यग्रा । ऋग्० 10.94.2.

8. ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत दुर्मतिम् ।

उस्त्राः कर्तन भेषजम् ॥

ऋग्० 10.175.2.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) ग्रावा लोग जिसके लिए चाहने योग्य (इषिरं)¹ बात बोलते (वदन्ति) हैं । (2) ग्रावा लोग मित्रता की कामना करते हैं (वावशुः) । (3) हे अश्विनौ बुद्धिमान् (विप्राः)² ग्रावा लोग अपनी बुद्धियों और कर्मों से (धीभिः)³ तुम्हारे पास पहुँचते हैं (अचुच्युवुः)⁴ । (4) जिस प्रकार कि ग्रावा लोग बुद्धिमान् (सूरयः) होते हैं । (5) यशस्वी (यशसः)⁵ ग्रावा लोग हमारे तैयार किये हुए अन्न को भरण करें अर्थात् खावें (भुरन्तु) और वे अपनी दीप्तिमती (दिवित्मता)⁶ वाणी से (वाचा) हमें दीप्तिमती अवस्था में (दिविता)⁷ करें । (6) ये ग्रावा लोग बोलें (वदन्तु) और हम भी बोलें (वदाम) बोलने वाले (वदम्भ्यः) इन ग्रावा लोगों के लिए वाणी को (वाचं) बोलो (वदत) । (7) ये उत्तम कर्म करने वाले (सुकृतः) ग्रावा लोग अपनी उत्तम क्रियाशीलता से (सुकृत्यया) सैंकड़ों रहस्य वाला (शतवत्) और सहस्रों रहस्य वाला (सहस्रवत्) वचन बोलते हैं (वदन्ति) । (8) हे ग्रावा लोगो, दुर्गति को (दुच्छुनां) हमसे परे करो और दुर्मति को हमसे परे करो, हमारे लिए औषधरूप (भेषजं) गौवें (उस्त्राः) तैयार करो ।

अब पाठक देखेंगे कि यह वर्णन पत्थरों का नहीं हो सकता । जो ग्रावा लोग चाहने योग्य हित की बात बोलते हैं, मित्रता की कामना करते हैं, जानी हैं और बुद्धि और कर्म से युक्त हैं, जिनकी बुद्धिमत्ता की उपमा दी जाती है, जिनके साथ मनुष्यों की बातचीत होती है, जो उत्तम क्रियाशील हैं और जो सैंकड़ों-हजारों रहस्यभरी बात बोलते हैं, जो दुर्गति और दुर्मति को दूर करते हैं, वे ग्रावा जड़ पत्थर नहीं हो सकते । वे ज्ञानी अध्यापक लोग हैं जो अपनी विद्या का औरों के लिए प्रवचन करते हैं । फिर एक बात और देखिये । ग्रावा लोगों के बोलने के लिए 'वद' धातु का प्रयोग हुआ है । इस धातु का अर्थ है 'व्यक्तायां वाचि' अर्थात् 'मनुष्यों की स्पष्ट बोली बोलना ।' मनुष्यों की बोली बोलने वाले ग्रावा पत्थर नहीं, मनुष्य ही हो सकते हैं । पुनः इन ग्रावाओं को ऋग्० 10.76.१-8 में 'नरः' अर्थात् आदमी कहा है । इससे इनके स्वरूप में किसी को सन्देह नहीं हो सकता । ये विद्या का उपदेश करने वाले अध्यापक हैं । ग्रावा सोम को तैयार करते हैं । इसकी संगति भी हमारे अर्थ में बड़ी

1 एषणीयमिति सायणः ।

2 प्राज्ञा इति सायणः । विप्र इति मेघाविनामसु पठितम् । निघ० 3.15.

3 धीरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघ० 3.9. धीरिति कर्मसु पठितम् । निघ० 2.1.

4 अभिगच्छन्ति इति सायणः ।

5 यशस्विन इति सायणः ।

6 दीप्तिमत्या इति सायणः ।

7 दीप्तिमत्तायामिति सायणः ।

सुन्दर हो जाती है। सोम का अर्थ हम पीछे गुरुकुल में शिक्षा-प्राप्त स्नातक सिद्ध कर चुके हैं। ग्रावा अर्थात् अध्यापक लोग इन्द्र अर्थात् राष्ट्र के लिए विविध विद्याओं के सोम अर्थात् स्नातक तैयार करके देते हैं यह बड़ी सुन्दर संगति हमारे अर्थ में लग जाती है।

अब प्रस्तुत ऋग् 7.104 सूक्त के 17वें मन्त्र पर आइये। इससे 'ग्रावा' का क्या अर्थ होगा? यद्यपि ग्रावा का मुख्यार्थ अध्यापक लोग होता है तथापि यहाँ 'ग्रावा' शब्द गौणी वृत्ति से राजकर्मचारियों को कह रहा है। क्योंकि वे भी प्रजाजनों को हिताहित की बातें कहते रहते हैं। इस मन्त्र में भी प्रजाजन ग्रावाओं के द्वारा, राज-कर्मचारियों के द्वारा, राक्षसों के—दुष्ट पुरुषों के—वध की ही प्रार्थना कर रहे हैं। सम्राट् और सम्राट् के राजकर्मचारी एक ही बात हैं। इसलिए इस मन्त्र का देवता भी राज्य का सम्राट् (इन्द्र) ही है।

अब देखिये 11वें मन्त्र के देवता 'देवाः' को। संस्कृत में 'देव' का एक अर्थ राजा भी होता है, यह संस्कृत का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। बहुवचन में 'देवाः' होकर यह शब्द राज-कर्मचारियों का वाचक हो जायेगा। राज-कर्मचारी राजा के ही तो प्रतिनिधि होते हैं। इस मन्त्र में 'देवाः' अर्थात् राज-कर्मचारियों से दुष्ट पुरुषों को दण्डित करने की प्रार्थना है। इस प्रकार इस मन्त्र का भी देवता एक प्रकार से सम्राट् (इन्द्र) ही है।

अब रहा 10 और 14 इन दो मन्त्रों का देवता 'अग्नि'। अग्नि का अर्थ हम सम्राट् अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं। गौण प्रयोग में अग्नि का अर्थ सम्राट् (इन्द्र) का दूत आदि भी होता है। सम्राट् अर्थ में तो अग्नि सीधा सम्राट् (इन्द्र) हो जाता है। दूत अर्थ में भी वह एक राजकर्मचारी होने की हैसियत में एक प्रकार से सम्राट् (इन्द्र) को ही सूचना देता है। इस भाँति इन दो मन्त्रों का देवता भी सम्राट् (इन्द्र) ही है।

इन दोनों सूक्तों के देवता वस्तुतः इन्द्र और सोम हैं

इस प्रकार इन सूक्तों में अग्नि, मरुत्, पृथिवी आदि कोई स्वतन्त्र देवता नहीं हैं। वे प्रकारान्तर से इन्द्र (सम्राट्) का ही वर्णन करते हैं और इस तरह हम कह सकते हैं कि इन सूक्तों में इन्द्र और सोम दो ही देवता हैं। यों सोम भी इन्द्र का ही एकरूप हो सकता है। पर इन सूक्तों में सोम को इन्द्र से अलग करके जो कहा गया है उसका एक विशेष अभिप्राय है। उस अभिप्राय को हम आगे खोलेंगे। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि सूक्त के देवता असल में इन्द्र और सोम हैं—हमारी ऊपर की विवेचना के बिना भी सूक्त में इन्द्र और सोम की ही प्रधानता है—और प्रजाजन उनसे राक्षसों को दण्डित करने की प्रार्थना कर रहे हैं। इस तरह प्रजाजनों को भी सूक्त के मन्त्रों का एक देवता समझा जा सकता है।

राक्षस कौन ?

सूक्त के सम्बन्ध में एक बात पर और यहाँ थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिए। सायण ने इस सूक्त को 'राक्षोघ्न' सूक्त कहा है। अर्थात् इस सूक्त में राक्षस या राक्षसों को मारने का वर्णन है। अब जिन राक्षसों के मारने का इस सूक्त में वर्णन है वह राक्षस कौन लोग हैं यह देखना चाहिए। आमतौर पर समझा यह जाता है कि राक्षस लोग मनुष्यों से भिन्न प्रकार की एक योनि के लोग हैं जिनके भद्दे, विरूप चेहरे, लम्बे-लम्बे डरावने दाँत और सिर पर दीर्घकाय सींग और कान होते हैं। रात में इनकी शक्ति अधिक हो जाती है। और भी कई प्रकार से ये मनुष्यों से विशिष्ट होते हैं। हमारी सम्मति में राक्षस लोग मनुष्यों से भिन्न प्रकार की योनि के लोग नहीं हैं। दूसरों को पीड़ा और हानि पहुँचाने वाले दुष्ट प्रकृति के मनुष्यों को ही राक्षस कहा गया है। प्रस्तुत सूक्त के आधार पर यहाँ भी इस विषय में दो शब्द लिख देना अप्रासंगिक न होगा। इस सूक्त को यदि हम आद्योपान्त पढ़ जायें तो जिसे सायणादि 'राक्षस' कहते हैं जिसके भिन्न-भिन्न अनेक नाम हमें सूक्त में मिलते हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं— (1) रक्षः, (2) अत्री, (3) अघशंस, (4) दुष्कृत्, (5) स्तेन, (6) रिपु, (7) यातुधान, (8) पिशुन, और (9) असत्यवादी। इनमें से 'अत्री' आदि 8 शब्दों को पाठक चाहे 'रक्षः' के पर्यायवाची स्वतन्त्र नाम समझ लें और चाहे उसके विशेषण समझ लें। इन आठ शब्दों के अर्थों पर ध्यान देने से 'रक्षः' के स्वरूप पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। 'अत्री' का अर्थ है जो दूसरों को खा जाये। 'अघशंस' का अर्थ है जो दिन-रात पाप की बातें ही सोचता रहे। 'दुष्कृत्' का अर्थ है जो बुरे काम करने वाला हो। 'स्तेन' का अर्थ है जो चोरी करता हो। 'रिपु' का अर्थ है जो दूसरों से शत्रुता करे। 'यातुधान' का अर्थ है जो औरों को पीड़ा पहुँचाये। 'पिशुन' का अर्थ है जो चुगली करे, जो छलिया हो। और 'असत्यवादी' का अर्थ है जो झूठ बोलता हो—जो झूठ का व्यवहार करता हो। 'रक्षः' इन नामों से स्पष्ट है कि जो लोग दूसरों को भौंति-भौंति से क्लेश पहुँचाते हैं उन्हीं को राक्षस कहा जाता है। साथ ही यह बात भी देखने योग्य है कि साधारण तौर पर पौराणिक साहित्य में राक्षस का जो स्वरूप समझा जाता है उनका वेद में कहीं भी वर्णन नहीं है। जिन मन्त्रों में राक्षसों को 'नक्तंचर' अर्थात् 'रात्रि में विचरने वाले' आदि नामों से कहा गया है वहाँ भी योनि-विशेष राक्षस समझने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'स्तेन' लोग—चोर लोग—रात्रि में विचरण किया ही करते हैं। और ऊपर हमने देखा है कि राक्षस को भी वेद में स्तेन कहा गया है।

इसी सूक्त पर एक बार पुनः दृष्टि डालिये। सूक्त में इन्द्र और सोम से प्रार्थना करने वाला प्रजाजन—जिसे सायण ने भ्रमवश इतिहास प्रसिद्ध वसिष्ठ ऋषि माना है—इन देवों को लक्ष्य करके इस प्रकार की बातें कह रहा है :

1. अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य ।

अथा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥

ऋग्० 7.104.15; अथ० 8.4.15.

2. यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।

इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥

ऋग्० 7.114.16; अथ० 8.4.16.

अर्थात्—(1) 'यदि मैं यातुधान हूँ, यदि मैंने किसी पुरुष की आयु को नष्ट किया है तो मैं आज ही मर जाऊँ, नहीं तो वह अपने दस पुत्रों से अलग कर दिया जाये अर्थात् कारागार आदि में डाल दिया जाये जो मुझे व्यर्थ ही यातुधान कहता है।' (2) 'जो मुझ अयातु को यातुधान कहता है; मुझ शुद्ध चरित्र वाले को राक्षस कहता है,¹ इन्द्र (सम्राट्) उसे भारी दण्ड से दण्डित करे और वह सब प्राणियों से नीची स्थिति को प्राप्त हो।'।

इन मन्त्रों से यह बात और भी असंदिग्ध हो जाती है कि—यातुधान या राक्षस कोई योनि-विशेष नहीं है, प्रत्युत जो भी व्यक्ति किसी को पीड़ा पहुँचायेगा या अशुचि आचरण करेगा वह यातुधान या राक्षस कहा जा सकता है। मन्त्र में प्रजाजन—श्री सायण के भ्रान्त मत का वसिष्ठ ऋषि—स्पष्ट कह रहा है कि यदि मैं किसी को पीड़ा दूँ या अशुचि आचरण करूँ तो मुझे यातुधान और राक्षस कहो, पर ऐसा न होने पर व्यर्थ ही मुझे इन नामों से क्यों कहा जा रहा है।

सूक्त के 11वें मन्त्र में कहा है कि 'प्रति शुष्यतु यशो अस्य' अर्थात् 'इस राक्षस का यश नष्ट हो जाये।' यदि राक्षस स्वभाव से ही दुष्कर्मा योनि-विशेष होता तो उसका यश क्षीण होने का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता था। वह तो बनाया ही वैसे कर्म करने के लिए गया है। एक सदाचारी व्यक्ति जब सदाचार के कर्म छोड़कर अनाचार में फँस जाये तभी उसका यश क्षीण होता है। क्योंकि उसने अपनी इच्छा से अनाचार का मार्ग चुना है। वेद में इस कथन से भी प्रतीत होता है कि राक्षस दुष्कर्मा लोगों का ही नाम है।

अपराधों का निर्णय न्यायालयों में होना चाहिए

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि इस सूक्त में प्रजाजन राक्षस अर्थात् प्रजापीड़क, चोर आदि दुष्कर्मी लोगों को दण्डित करने की प्रार्थना इन्द्र (सम्राट्) और सोम से कर रहे हैं। सूक्त को ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये प्रार्थनायें न्यायालयों द्वारा सत्यासत्य का निर्णय करने के पश्चात् अपराधियों को दण्डित करने के लिए हो रही हैं। इस सम्बन्ध में सूक्त के निम्न मन्त्र

¹ मन्त्र के दूसरे चरण का यह अर्थ भी हो सकता है कि जो राक्षस अपने आप को शुद्ध चरित्र वाला कहता है।

देखिये—

1. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरद्वृजीयस्तदित् सोमोज्ज्वति हन्त्यासत् ॥
ऋग्० 7.104.12; अथ० 8.4.12.
2. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥
ऋग्० 7.104. 13; अथ० 8.4.13.
3. यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥
ऋग्० 7.104.8; अथ० 8.4.8.
4. ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अह्ये वा तान् प्रददातु सोम आ वा दधातु निऋतेरुपस्थे ॥
ऋग्० 7.104.9; अथ० 8.4.9.
5. यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवा अप्यूहे अने ।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निऋतं सचन्ताम् ॥
ऋग्० 7.104.14; अथ० 8.3.14.

अर्थात् (1) उत्कृष्ट विज्ञान को जानने वाले सोम नामक जन के पास सत्य और असत्य वचन अपनी-अपनी विजय के लिए स्पर्धा करते हुए आते हैं, उनमें से जो सत्य है, जो सीधा-सरल है, उसकी सोम रक्षा कर लेता है और जो असत्य है उसको मार देता है—दण्डित कर देता है । (2) सोम पापकारी को (वृजिनं)¹ बढ़ने नहीं देता (हिनोति)² और न ही मिथ्या वचन को अथवा प्रजा हिंसन को (मिथुया)³ धारण करने वाले क्षत्रिय को बढ़ने देता है, ऐसे राक्षस व्यक्ति को असत्यवादी को सोम दण्डित करता है (हन्ति) पापी और असत्यवादी दोनों सम्राट् (इन्द्र) के बन्धन में पड़ जाते हैं (शयाते) । (3) शुद्ध (पाकेन)⁴ मनसे चलने वाले मुझको जो असत्य वचनों से कहता है अर्थात् मुझ पर असत्य आक्षेप लगाता है, वह असत्य को बोलने वाला, अविद्यमान (असन्) हो जावे अर्थात् न रहे जैसे मुट्ठी में पकड़े हुए जल नहीं रहते अर्थात् असत्य आक्षेप लगाने वाले का सर्वथा अभाव हो जाये । (4) जो शुद्ध पुण्य की बातें ही निरन्तर सोचने वाले (पाकशंसं) मुझ पर अपने आक्रमणों से (एवैः) बार-बार आते हैं (विहरन्ते) अथवा जो अपने कमाये अस्त्रादि के साथ (स्वधाभिः)

¹ पापकारिणमिति सायणः ।

² हि गतौ वृद्धौ च ।

³ मिथ्याभूतं वचनमिति सायणः ।

यद्वां मिथुहिंसने । भावे औणादिकः कुः विभक्त्येयाच् (पा० 7.1.37) मिथुया प्रजाहिंसनम् ।

⁴ शुद्धेनेति सायणः ।

- रहने वाले मुझ भद्र आचरण वाले (भद्र) को दूषित करते हैं उन दुष्ट पुरुषों को सोम या तो मारने वाले अर्थात् फाँसी देने वाले पुरुषों को (अहये)¹ सौंप दे अथवा कारागार की (निऋतेः)² गोद में डाल दे । (5) हे राष्ट्र के सब उत्पन्न पदार्थों को जानने वाले (जातवेदः) (सम्राट् अग्ने) आप मुझ पर क्यों क्रुद्ध होते हैं, क्या मैं कोई असत्य का व्यवहार करने वाला (अनृतदेवः)³ हूँ अथवा क्या मैं श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषों की (दिवान्) निन्दा करता हूँ (अप्यूहे)⁴, द्रोह की, असत्य की, बातें करने वाले (द्रोघवाचः) पुरुष ही आपके कारागार को (निऋथम्)⁵ प्राप्त करें ।

इसी प्रसंग में सूक्त के 15वें और 16वें, 'अद्या मुरीय' और 'यो मायातु', ये दो मन्त्र भी, जिनका अभी ऊपर अर्थ दिया गया है, देख लेने चाहिए । इन सब मन्त्रों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सम्राट् (इन्द्र) किसी को किसी द्वारा यों ही दोषारोपित कर दिये जाने मात्र से दण्डित नहीं कर देता । प्रत्युत वह सोम के पास सत्यासत्य का, अपराध-अनपराध का, निर्णय करने के लिए भेजता है । सोम के पास आकर सत्य और असत्य अपनी-अपनी विजय के लिए खूब स्पर्द्धा करते हैं—अपने-अपने पक्षों में खूब प्रमाण उपस्थित करते हैं—और सोम दोनों पक्षों की बातें सुनकर सत्य की रक्षा कर देता है और असत्य को दण्डित करता है क्योंकि वह उत्कृष्ट विज्ञान को जानता है । किसी वस्तु के क्रमबद्ध शाखा-प्रशाखान्वित ज्ञान को विज्ञान कहते हैं । सोम ने सत्यासत्य का निर्णय करने के विज्ञान को 'सुविज्ञान' बनाकर सीखा हुआ है ।

इस प्रकार इन मन्त्रों में न्यायालय स्थापित करने की स्पष्ट सूचना है । इन मन्त्रों में प्रजाजनों के बोलने का ढंग बिल्कुल वही है जो किसी न्यायाधीश के सम्मुख अपनी निर्दोषिता प्रकट करने वाले व्यक्ति का हुआ करता है ।

इस प्रकार यह दिखाकर कि वैदिक राष्ट्र में अपराधी-अनपराधी का निर्णय करने और अपराधी के लिए दण्ड निर्धारित करने के लिए न्यायालयों की पृथक् स्थापना होगी, हम न्याय-विभाग के सम्बन्ध की कुछ अन्य बातों की ओर चलते हैं ।

कुछ अपराधों के नाम

दण्डित करने योग्य व्यक्तियों के नामों पर विचार करते हुए—(1) यातुधान, (2) रक्षस्, (3) दस्यु, (4) पिशाच, (5) स्तेन, (6) तस्कर—इन 6 नामों का उल्लेख किया जा सकता है । ये सभी नाम अपने सामान्य प्रयोग में प्रायः पर्यायवाची

¹ आहन्तीति अहिः तस्मै अहये वधकारिणे पुरुषाय । उणादि० 4.138.

² ऋ गतो । ऋतिः गमनम् । निर्गता ऋतिर्यस्याः सा निऋतिः कारा । यत्र प्रवेश्यापराधिनां गतिनिरोधः क्रियते ।

³ असत्यभूता देवा यस्येति सायणः । अनृतेन दीव्यति व्यवहरति इति अनृतदेवः ।

⁴ अपि निन्दायाम्—ऊह वितर्क । निन्दितान् विचारयामि इति क्षेमकरणः ।

⁵ निरन्तरं प्रजाभ्यो निर्गत्य ऋच्छन्ति गच्छन्ति यस्मिन्नसौ कारागारः । उणादि० 2.8.

हैं। पर साथ ही इनके अर्थों में परस्पर कुछ भेद भी हैं। यों तो सभी प्रकार के अपराधी इन नामों के भीतर आ जाते हैं परन्तु वेद में स्पष्टता के लिए स्थान-स्थान पर कितने ही अपराधियों के नाम भी गिनाये गये हैं। उदाहरण के लिए ऊपर उल्लिखित ऋग्० 7.104 और अथ० 8.4 सूक्तों में गिनाये गये—(1) रक्षस्, (2) अत्री, (3) अघशंस, (4) दुष्कृत्, (5) स्तेन, (6) रिपु, (7) यातुधान, (8) असत्यवादी। इन आठ नामों का निर्देश हम अभी ऊपर कर आये हैं। यद्यपि ये आठ नाम राक्षस को ही कहते हैं तो भी यह नामों की विभिन्नता अपराधों की विभिन्नता को भी सूचित कर जाती है। इन आठ नामों के अतिरिक्त और भी नाम राक्षस के लिए इस सूक्त में आये हैं। उन नामों से भी अपराधों की विभिन्नता पता चलती है। ये नाम इस प्रकार हैं—(9) 'ब्रह्मद्विष्' अर्थात् ब्राह्मणों से अथवा वेदविद्या से द्वेष करने वाले, (10) 'क्रव्याद्' अर्थात् मांस खाने वाले, (11) 'घोरचक्षस्' अर्थात् किसी की ओर पापपूर्ण दृष्टि से देखने वाले, (12) 'द्रुहः' अर्थात् द्रोह करने वाले, (13) 'भङ्गुरावतः' अर्थात् दूसरों के कार्यों को भंग करने वाले, (14) 'अभिदासति' अर्थात् जो किसी को दास बनाता है वह, (15) 'द्वजिन' अर्थात् पापीकारी, (16) 'अध्वरेरिपः दधिरे' अर्थात् जो राष्ट्रिय और वैयक्तिक यज्ञों को विगाड़ते हैं, (17) 'हविर्मथ' अर्थात् यज्ञोपयोगी और भक्षणोपयोगी हवि अर्थात् अन्न को विगाड़ने वाले, (18) 'उलूकयातु' अर्थात् उल्लू पक्षी की तरह आचरण करने वाले। उल्लू को अन्धकार प्रिय होता है। जिस प्रकार उल्लू पक्षी रात्रि के समय अन्धकार में छिपकर दूसरे पक्षियों पर आक्रमण करता है उसी प्रकार जो लोग अन्धकार में छिपकर दूसरे लोगों को हानि पहुँचाते हैं वे उलूकयातु हैं। (19) 'शुशुलूकयातु' अर्थात् जो भेड़िये की तरह आचरण करते हैं। भेड़िये में क्रोध बड़ा होता है। जिस तरह भेड़िया क्रोध में भरकर दूसरे प्राणियों पर आक्रमण कर देता है उसी तरह जो लोग अपने क्रोध के कारण दूसरों को हानि पहुँचाते हैं वे शुशुलूकयातु हैं। (20) 'कोकयातु' अर्थात् कोक पक्षी की भाँति आचरण करने वाले। कोक पक्षी में काम बड़ा होता है। जो लोग अपनी कामातुरता के कारण दूसरों को कष्ट पहुँचायें वे कोकयातु हैं। (21) 'श्वयातु' अर्थात् जो कुत्ते की तरह आचरण करें। कुत्तों में बड़ा मत्सर होता है। ये एक दूसरे से बड़ी ईर्ष्या करते हैं। जो लोग अपनी ईर्ष्या के कारण दूसरों की हानि कर दें वे श्वयातु हैं। (22) 'सुपर्णयातु' अर्थात् गरुड़ पक्षी की तरह आचरण करने वाले। गरुड़ में मद, घमण्ड, बड़ा होता है। जो लोग अपने मद या अहंकार के कारण दूसरों को हानि पहुँचाते हैं वे सुपर्णयातु हैं, (23) 'गृध्रयातु' अर्थात् गिद्ध पक्षी की तरह आचरण करने वाले। गिद्ध में लोभ बड़ा होता है। वह मुँह को भी खाने से नहीं छोड़ता। जो लोग अपने लोभ के कारण दूसरों को हानि पहुँचाते हैं वे गृध्रयातु हैं। (24) 'यः अश्वानां रसं दिप्सति' अर्थात् वो हमारे घोड़ों को मारना चाहता है। (25) 'यः गवां रसं दिप्सति' अर्थात् जो हमारी गौवों को मारना चाहता है। (26) 'यः तनूनां रसं दिप्सति' अर्थात् जो हमारे शरीरों को मारना

चाहता है ।

ऋग्० 10.87 और अथ० 8.3 सूक्तों में भी राक्षस लोगों को राजा (अग्नि) द्वारा दण्डित कराने की ही प्रार्थना है । ये दोनों सूक्त हलके शान्दिक परिवर्तन के साथ एक ही हैं । अथ० 8.3 सूक्त में ऋग्० 10.87 सूक्त की अपेक्षा एक मन्त्र अधिक है । इन सूक्तों में राक्षसों के जो विशेषण आये हैं उनसे भी दण्डनीय अपराधों पर प्रकाश पड़ता है । इस सूक्त के कुछ विशेषण जो ऊपर नहीं आये हैं इस प्रकार हैं— (27) 'रिषः' अर्थात् हिंसा करने वाले, (28) 'आमादः' अर्थात् कच्चा मांस खाने वाले, (29) 'यः ऋतं अनूतेनहन्ति' अर्थात् जो सत्य को असत्य से भारता है । (30) 'वाचस्तृष्टं जनयन्त' अर्थात् जो किसी को कटुवचन कहते हैं । (31) 'असुतृपः' अर्थात् जो दूसरों के पदार्थों से अपने प्राणों को तृप्त करते हैं । (32) 'शपथाः' अर्थात् जो किसी को गालियाँ देते हैं । (33) 'वाचास्तेनः' अर्थात् जो वाणी द्वारा चोरी करता है, जो वाणी द्वारा लोगों को धोखे में डालता है, (34) 'यः पौरुषेयेण ऋविषा समङ्के' अर्थात् जो पुरुष का मांस खाता है । (35) 'यः अघ्न्याया भरति क्षीरम्' अर्थात् जो गौ को मारकर उसका दूध नष्ट कर देता है, जो गौ को खाता है । (36) 'शफारुजः'¹ अर्थात् शान्ति भंग करने वाले । (37) 'सत्यं धूर्वन्तं' अर्थात् जो सत्य की हिंसा करता है । इस सूक्त में आये राक्षसों के अन्य विशेषण ऋग्० 7.104 में आ गये थे इसलिए उन्हें फिर यहाँ उद्धृत नहीं किया है ।

ऋग्० 10.27.10 में लिखा है कि (38) जो पुरुष स्त्रियों से व्यभिचार करे सम्राट् (इन्द्र) उसकी सम्पत्ति छीन ले—'स्त्रीभिर्यो वृषणं पृतन्यात् अयुद्धो अस्य विभजानि वेदः ।' यजु० 11.80 में कहा है कि (39) जो हमारी निन्दा करे उसे हे राजन् (अग्ने) तू मसल दे—'निन्दाद्यो अस्मान् तं मस्मसा कुरु ।'

ये थोड़े से अपराध नमूने के तौर पर गिना दिये हैं । वेद के अध्ययन से और भी अनेक अपराध ज्ञात होते हैं जिनमें किसी व्यक्ति के अपराधी या अनपराधी प्रमाणित होने पर उसे दण्डनीय या अदण्डनीय समझा जायेगा । पाठक देखेंगे कि जितने अपराधों के नाम यहाँ गिनाये गये हैं उनकी व्याख्या में प्रायः सभी दण्डनीय अपराध परिगणित हो सकते हैं । इन अपराधों में वेद ने संक्षेप में सम्पूर्ण दण्डविधान को भर दिया है ।

ब्रह्मद्वेषी को दण्ड देने का अभिप्राय

ऊपर ब्राह्मणों या वेद से द्वेष करने वालों को ब्रह्मद्वेषी कहा गया है । और यह एक दण्डनीय अपराध माना गया है । इस ब्रह्मद्वेष का ठीक तात्पर्य समझ लेना चाहिए । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जो व्यक्ति वेद के विचारों को स्वीकार नहीं करता, वैदिक धर्म को नहीं मानता, उसे वैदिक राष्ट्र दण्डित करेगा । शान्ति-

¹ शफः—शम् शान्ती, अच् मस्यः कः पृषोदरादि त्वात्साधुरिति शब्द स्तोम महानिधिः । रुजो भङ्गे । शफमारुजन्तीति शफारुजः ।

पूर्ण विचार-भेद के कारण वैदिक राष्ट्र में किसी भी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकता यह हम पीछे 'उदार राजनीति' नामक प्रकरण में देख चुके हैं। यहाँ ब्रह्म के साथ 'द्वेषी' शब्द लगाया गया है। जो वेद से या वेद के मानने वालों से द्वेष करता है, शत्रुता करता है, उसे दण्डित करने के लिए कहा गया है। एक व्यक्ति वेद को न माने यह तो राज्य सहन कर सकता है। परन्तु उस व्यक्ति की वेद और वेद के मानने वालों के प्रति शत्रुता, उनके प्रति विद्वेष, नहीं सहन किया जा सकता। इस प्रकार वेद विद्वेष और शत्रुता को दण्डित करता है, विचार-भेद को नहीं।

दण्ड के प्रकार

ऊपर उल्लिखित ऋग्० 10.87, अथ० 8.3, ऋग्० 7.104 और अथ० 8.4 सूक्तों में तथा अन्य अनेक सूक्तों में, जहाँ अपराधी पुरुषों को दण्डित करने का विधान है, हमें अनेक प्रकार के दण्डों का विधान मिलता है। कुछ थोड़े से दण्डों के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

- (क) 1. आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व । अथ० 8.3.2, ऋग्० 10.87.2.
 2. त्वं तं देव जिह्वया परि बाधस्व दुष्कृतम् ।
 मर्तो यो नो जिघांसति ॥ ऋग्० 6.16.32.

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे सम्राट् (अग्ने) मूर्खतापूर्ण व्यवहार करने वाले इन राक्षस पुरुषों को तू जिह्वा से पकड़ । (2) दुष्कर्म करने वाले उस मनुष्य को (मर्तः) जो हमें मारना चाहता है, हे सम्राट् (अग्ने), तू अपनी जिह्वा से रोक ।

इन मन्त्रों में यह कहा गया है कि जब कोई अपराधी पहले-पहल अपराध करे तो उसे केवल जिह्वा से पकड़ना और रोकना चाहिए। अर्थात् उसे और किसी प्रकार का कठोर दण्ड न देकर केवल वाणी से समझा दिया जाना चाहिए कि तुम्हें इस प्रकार का आचरण करना उचित नहीं है, भविष्य में तुम्हें इस प्रकार के आचरण से सावधान रहना चाहिए। बहुत बार अपराधी लोग केवल अज्ञान के कारण अपराध कर बैठते हैं। इसीलिए उद्धृत प्रथम मन्त्र में अपराधियों का एक नाम 'मूरदेव' अर्थात् 'मूर्ख होने के कारण बुरा व्यवहार करने वाले' ऐसा दिया गया है। यदि इन अपराधियों की मूर्खता इन्हें समझा दी जावे तो बहुत सम्भव है कि ये भविष्य में उस अपराध को फिर न करेंगे। इसलिए पहली बार तो अपराधी को केवल समझाना ही चाहिए।

- (ख) 1. स्त्रीभिर्यो अन्न वृषणं पृतन्यादयुद्धो अस्य वि भजानि वेदः ।

2. शूरोयज्वनो विभजन्तेति वेदः ।

3. अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ।

ऋग्० 10.27.10.

ऋग्० 1.104.6.

ऋग्० 1.81.9.

4. समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति । ऋग्० 5.34.7.

5. अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे । ऋग्० 10.48.2.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से निम्न है—

(1) जो स्त्रियों से व्यभिचार करता है उसके धन को, जिससे कोई युद्ध नहीं कर सकता ऐसा मैं सम्राट् (इन्द्रः), छीन कर राष्ट्र के सहायता के योग्य पुरुषों में बाँट देता हूँ । (2) यह शूरवीर सम्राट् (इन्द्र) अयज्वा पुरुष के अर्थात् उस व्यक्ति के जो राष्ट्र-यज्ञ में भाग नहीं लेता—उसे तोड़ता है, धन को छीन कर राष्ट्र के सहायता के योग्य पुरुषों में बाँट देता है । (3) हे सम्राट् (इन्द्र) जो लोग राष्ट्र-यज्ञ में कुछ नहीं देते उनके धन को छीन कर राष्ट्र के सहायता के योग्य पुरुषों में बाँट दे । (4) यह सम्राट् (इन्द्र) पणि अर्थात् दुर्व्यवहारी दस्यु पुरुष के भोजन अर्थात् उपभोग सामग्री को छीनने के लिए जाता है और उस सम्पत्ति को राष्ट्र-यज्ञ में अपना अंश देने वाले राष्ट्र के सहायता के योग्य व्यक्तियों में बाँट देता है । (5) मैं सम्राट् (इन्द्र) दस्यु लोगों से धन ले लेता हूँ ।

पणि का अर्थ

ऊपर उद्धृत चतुर्थ मन्त्र के पणि शब्द का अर्थ हमने दुर्व्यवहारी दस्यु पुरुष किया है । पणि शब्द का धात्वर्थ 'व्यवहार करने वाला' ऐसा है । वेद में कितने ही स्थानों में इसका अर्थ व्यवहारशील वैश्य होता है । परन्तु कितने ही स्थलों में इसका अर्थ दुष्ट व्यवहार करने वाला दस्यु पुरुष भी होता है । इसी मन्त्र में सम्राट् (इन्द्र) पणि का धन छीन रहा है धन दुष्ट पुरुष का ही सम्राट् छीनेगा । परन्तु मन्त्र में पणि का ऐसा कोई विशेषण नहीं है जिससे उसे दुष्ट समझा जा सके । परन्तु उसका धन सम्राट् द्वारा छीना जा रहा है । इससे पणि दुष्ट अवश्य है । अतएव यहाँ पणि शब्द दुष्ट व्यवहारी दस्यु पुरुष का ही सूचक है । ऋग्० 7.6.3 में पणियों को स्पष्ट रूप में ही दस्यु कहा गया है । परन्तु किस प्रकार के पणियों को दस्यु कहा जाता है यह भी उस मन्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है । मन्त्र इस प्रकार है—

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृधवाचः पणी रश्चद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान् ।

प्रप्र तान् दस्यूरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥

ऋग्० 7.6.3.

अर्थात्—'जो कोई काम नहीं करते (अक्रतून्), जो कुटिलता का आचरण करते हैं अथवा जो अपने रुपये की गाँठ बाँधकर पड़े रहते हैं, उसे किसी राष्ट्रोपयोगी काम में नहीं लगाते (ग्रथिनः), जो झूठी वाणी बोलते हैं (मृधवाचः), जो सत्य पर आचरण नहीं करते (अश्रद्धान्), जो अपनी सम्पत्ति से राष्ट्र को नहीं बढ़ाते (अवृधान्), जो यज्ञशील नहीं हैं अर्थात् तो आध्यात्मिक और राष्ट्रिय यज्ञ नहीं करते (अयज्ञान्), जो पवित्र आचरण वाले नहीं हैं (अयज्यून्), उन पणि-रूप दस्युओं को (पणीन् दस्यून्)

राष्ट्र का मुखिया (पूर्वः) सम्राट् (अग्निः) समाज से पृथक् कर दे (निविवाय)¹ और उन्हें नीची स्थिति में कर दे (अपरान् चकार) ।² इसलिए जहाँ पणियों को दण्डित करने का वर्णन हो वहाँ उसका अर्थ दुष्ट व्यवहारी दस्यु पुरुष करना चाहिए ।

इन ऊपर उद्धृत मन्त्रों में यह कहा गया है कि आवश्यकता पड़ने पर अपराधी लोगों का धन भी छीना जा सकता है । उन्हें उनसे रुपया लेने के रूप में भी दण्डित किया जा सकता है । जो अपराधी समझाने से न मानें उन्हें यथापराध धन का दण्ड देने से संभव है कि वे पुनः अपने अपराध को न दोहरायें । इसीलिए यहाँ धन का दण्ड देने की व्यवस्था की गई है ।

(ग) 1. अपि घत्स्वासन् ।

ऋग्० 10.87.2; अथ० 8.3.2.

2. आ वा दधातु निऋन्तेरुपस्थे ।

ऋग्० 7.104.9; अथ० 8.4.9.

3. निऋन्तं सचन्ताम् ।

ऋग्० 7.104.14; अथ० 8.4.14.

4. वव्राँ अनन्ताँ पदीष्ट ।

ऋग्० 7.104.17; अथ० 8.4.17.

इन मन्त्रों में क्रम से कहा गया है कि—

(1) हे सम्राट् (अग्ने) तू अपराधियों को 'आस्य' में बन्द कर दे । (2) सोम इन अपराधियों को 'निऋन्ति' की गोद में रख दे । (3) ये अपराधी 'निऋन्त' को प्राप्त हों । (4) यह अपराधी अनन्त 'वव्र' को प्राप्त हो ।

मन्त्रों में आये आस्य, निऋन्ति, निऋन्त और वव्र शब्द कारागार के वाचक हैं । आस्य का अर्थ है जिसमें फेंका जाय । अपराधियों को समाज से निकालकर कारागार में फेंक दिया जाता है; बन्द कर दिया जाता है इसलिए उसे आस्य कहा जाता है । मुँह को भी आस्य कहते हैं । क्योंकि उसमें अन्न का ग्रास फेंका जाता है । जिस प्रकार मुँह में बन्द हुई वस्तु मुँह के स्वामी की इच्छा के बिना बाहर नहीं आ सकती इसी प्रकार कारागार में बन्द किये गये अपराधी बिना राज्य की आज्ञा के बाहर नहीं आ सकते । कारागार को आस्य कहने का यह भाव है । निऋन्ति का शब्दार्थ है जिसमें जाने पर किसी की गति बन्द हो जाये । जेलखाने में चले जाने पर अपराधी की समाज में स्वतन्त्र गति बन्द हो जाती है इसलिए उसे निऋन्ति कहते हैं । निऋन्त का अर्थ है कहीं से निकल कर जिसमें जायें । समाज से निकलकर अपराधी कारागार में जाते हैं इसलिए उसे निऋन्त कहते हैं । वव्र का अर्थ है जो चारों ओर से घेर ले । कारागार अपराधियों को चारों ओर से रोक कर अपने भीतर बन्द रखता है इसलिए उसे वव्र कहते हैं ।

ऐसे भी अपराधी हो सकते हैं जिन पर समझाने और आर्थिक दण्ड दोनों का ही कोई प्रभाव न पड़े । उन्हें समाज से अलग करके जेल में डालने की आवश्यकता

¹ नितरां गमयेदिति सायणः ।

² जघन्यान् चकार करोतीत्यर्थ इति सायणः ।

पड़ सकती है। इसीलिए इन मन्त्रों में कारावास के दण्ड का विधान किया गया है।

- (घ) 1. वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् । ऋग्० 7.104.3;
अथ० 8.4.3.
2. तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु । ऋग्० 7.104.11;
अथ० 8.4.11.
3. अधमं गमया तमो यो अस्मां अभिदासति । अथ० 1.21.2.

इन मन्त्रों का क्रमशः अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे इन्द्र और सोम अपराधी को कारागार के भीतर (वव्रे अन्तः) ऐसे अन्धेरे में जिसमें कुछ न सूझे (अनारम्भणे) डाल दो (प्रविध्यतम्)। (2) वह अपराधी तीन लोकों से (पृथिवीः)² निम्न प्रदेश में (अधः) चला जाये। (3) हे सम्राट् (इन्द्र) जो हमें दास बनाना चाहता है उस शत्रु को सबसे निचले (अधमं) अन्धकार में पहुँचा दे।

इन मन्त्रों में यह बताया गया है कि जो अपराधी कारागार में डाल देने पर भी न सुधरें प्रत्युत वहाँ रहते हुए भी उद्दण्डता ही करते रहें उन्हें ऐसी अन्धेरी कोठरियों में डाल दिया जाये जहाँ कुछ दिखाई न पड़ता हो। उद्धृत दूसरे और तीसरे मन्त्र में 'अधः' और 'अधम' शब्दों से यह भी ध्वनि निकलती है कि ये अन्धेरी कोठरियाँ भूमि में, तहखानों में, भी हो सकती हैं। जो अपराधी, ऊपर की, भूमि की सतह पर की, अन्धेरी कोठरियों में रहने से भी ठीक न हों उन्हें जमीन के नीचे की कोठरियों के रख दिया जाये।

- (ङ) 1. अग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः तपुर्वधेभिः विध्यतं यन्तु निस्वरम् ।

ऋग्० 7.104.5; अथ० 8.4.5.

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

'हे इन्द्र और सोम तुम अपराधी राक्षस पुरुषों को आग में तपाये हुए, तापक प्रहार वाले, लोहे के हथियारों से (अश्महन्मभिः) वींघ दो जिससे वे दुष्ट पुरुष चिल्लाते हुए भागें।'।

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि जो दुष्ट प्रकृति के पुरुष समझाने, आर्थिक दण्ड, जेल और अन्धेरी कोठरियों में डालने से भी न मानें उनके शरीर के विशेष-विशेष अंगों को लोहे के गरम हथियारों से वींघ देना चाहिए। जिससे उन्हें अपने अपराध का दण्ड सदा स्मरण रहे और उनके दग्ध अंगों को देखकर सर्वसाधारण जनता भी भयभीत होकर उन अपराधों से बची रहे।

- (च) 1. पातय परमक्षुतावरम् ।

अथ० 1.8.3.

इस मन्त्र का अर्थ है—

'हे सम्राट् (अग्नि) तू यातुधान अर्थात् प्रजापीडक अपराधी की दोनों आँखें

¹ प्रवेश्य ताडयतमिति सायणः ।

² लोकान् इति सायणः ।

निकाल डाल ।'

मन्त्र का आँखें निकालना उपलक्षण मात्र है । आँखों की भाँति दूसरे अंग भी काट डाले जा सकते हैं । कई ऐसे घोर अपराधी हो सकते हैं जो ऊपर वर्णित किसी प्रकार के भी दण्ड से ठीक न हों, और बार-बार उसी अपराध को करते चले जायें । ऐसे लोगों के लिए यह भी आवश्यक हो सकता है कि उनके उस-उस अंग को काट दिया जाये जिससे वे अपराध करते हों । जहाँ उन्हें दण्ड मिलेगा वहाँ उनके कटे हुए अंगों को देखकर सर्वसाधारण प्रजा के लोग भी भयभीत होकर अपराध से विरत रहेंगे ।

(छ) 1. अह्ये वा तान् प्रददातु । ऋग्० 7.104.9; अथ० 8.4.9.
इसका अर्थ है कि—

‘सोम उन अपराधियों को फाँसी देने वाले लोगों को (अह्ये) सौंप दे ।’
जो अपराधी कोई इस प्रकार का घोर अपराध कर डाले कि उनका राष्ट्र में जीवित रहना भी ठीक न समझा जाये उनके लिए इस मन्त्र में बधिकों द्वारा मरवा दिये जाने का दण्ड विहित किया गया है ।

(ज) 1. तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा । अथ० 1.16.4.
इसका अर्थ है—

‘हे यातुधान अर्थात् प्रजापीडक अपराधी पुरुष हम तुझे सीसे की गोली से बीँघते हैं जिससे कि तू फिर हमारे वीर पुरुषों को न मार सके ।’

इस मन्त्र में गोली से उड़ा दिये जाने की सजा का विधान है ।

(झ) 1. इन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु । अथ० 1.7.7.

2. त्वचं यातुधानस्य भिन्वि...प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि ॥

ऋग्० 10.874; अथ० 8.3.4.

3. नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ।

तस्याने पृष्ठीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥

ऋग्० 10.87.10; अथ० 8.3.10.

इनका अर्थ इस प्रकार है—

(1) इन्द्र वज्र से यातुधानों के सिरों को काट डाले । (2) हे अग्ने तू यातुधानों की खाल उधेड़ डाल, उनकी पोरी-पोरी काट दे । (3) मनुष्यों को पहचानने वाले हे अग्नि तू प्रजाओं में चारों ओर देख और राक्षसों का पता लगा, उनके तीनों अग्रभागों अर्थात् सिर, और दोनों भुजाओं को काट दे, उनकी पसलियाँ काट डाल, और उनके मूल अर्थात् पैरों के भी तीन हिस्से कर दे ।

इन मन्त्रों में यह बताया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर विशेष प्रकार के अपराधियों को कत्ल करने का, उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके कत्ल करने का, दण्ड भी दिया जा सकता है ।

(अ) 1. वधं नूनं सृजदर्शनि यातुमभ्यः ।

ऋग्० 7.104.20; अथ० 8.4.20.

2. वधमस्यतमशनि यातुमभ्यः ।

ऋग्० 7.104.25; अथ० 8.4.25.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) यह इन्द्र (सम्राट्) इन यातुधान पुरुषों के लिए अशनि अर्थात् बिजली का वध तैयार करता है। (2) हे इन्द्र और सोम इन यातुधानों पर अशनि अर्थात् बिजली का वध फेंको ।

इन मन्त्रों में शरीर के किसी अंग को काटे बिना अथवा फाँसी पर लटकाये बिना बिजली के प्रयोग से अपराधियों के मारने का वर्णन किया गया है। बिजली द्वारा मारने का दण्ड उन अपराधियों को मिलेगा जिन्हें मारना तो अभीष्ट हो पर क्लेश देकर मारना अभीष्ट न हो ।

(ट) त्रियातुधानः प्रसिति त एतु ।

ऋग्० 10.87.11;

अथ० 8.3.11.

इसका शब्दार्थ है—

‘हे सम्राट् (अग्ने) यातुधान पुरुष तीन बार तेरे बन्धन में पड़े ।’

‘तीन बार बन्धन में पड़े’ का भाव यह है कि यातुधान लोगों को पहले केवल समझा दिया जाय कि वे दुष्कृत्य को त्याग दें, यदि फिर भी न मानें तो उन्हें आर्थिक और शारीरिक दण्ड दिया जाय और उस पर भी यदि न मानें तो उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया जाये ।

इस मन्त्र का एक और भी भाव हो सकता है। वह यह कि अपराधियों को तीन दण्ड इकट्ठे दिये जाएँ। उन्हें धन का दण्ड भी दिया जाये, उनका कोई अंग भी काट दिया जाय और साथ ही उन्हें जेल में भी डाल दिया जाय। तीन दण्ड जब इकट्ठे देने हैं तो ‘समझाना’ तो छोड़ ही देना होगा। क्योंकि वह असल में कोई दण्ड नहीं है। मृत्यु-दण्ड भी छोड़ देना होगा। क्योंकि मरने वाला व्यक्ति शेष दो दण्डों को अनुभव नहीं कर सकेगा। तीनों दण्ड ऐसे होने चाहिए जो इकट्ठे अनुभव किये जा सकें। इसलिए आर्थिक दण्ड, शारीरिक दण्ड और कारावास का दण्ड—ये तीन दण्ड ही ऐसे रह जाते हैं जिन्हें इकट्ठा अनुभव किया जा सकता है।

जिन अपराधियों को केवल एक प्रकार का दण्ड देना पर्याप्त न समझा जाये उन्हें ये एकाधिक दण्ड दिये जायेंगे ।

ऊपर वर्णित दण्डों में से किस अपराधी को कौनसा दण्ड देना है या नहीं देना है इसका निर्णय सोम करेगा। और सोम के निर्णय के अनुसार सम्राट् यथोचित दण्ड देगा ।

अपराध को नष्ट करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय

पाठक देखते आ रहे हैं कि ऋग्० 10.87 और अथ० 8.3 सूक्तों में राक्षसों अर्थात् प्रजापीडक दुष्कर्मा लोगों को दण्डित करने का वर्णन है। इन सूक्तों में तथा ऋग्० 7.104 और अथ० 8.4 सूक्तों में, जिनका विषय भी राक्षसों को दण्डित करना ही है, इन राक्षसों को कैसे-कैसे दण्ड देने का विधान है यह अभी ऊपर की पंक्तियों में दिखलाया गया है। वेद ने अपराधियों को यथावश्यक दण्डित करने के ये प्रकार बताये हैं सही—क्योंकि अवस्थाओं से बाधित होकर अनेक बार अपराधियों को ऐसे दण्ड देना नितान्त आवश्यक हो जाता है—परन्तु वेद दण्ड देने की इस व्यवस्था को आदर्श नहीं समझता है। इस दण्ड-विधान से अपराध रुक और दब भले ही जाये परन्तु वह उच्छिन्न नहीं होता है। और जब तक किसी समाज में से अपराध सर्वथा ही नष्ट न हो जाये तब तक उस समाज को आदर्श समाज नहीं कहा जा सकता। इन्हीं ऋग्० 10.87 और अथ० 8.3 सूक्तों में, जिनमें राक्षस पुरुषों को इतने कठोर दण्ड देने का विधान है, समाज में से अपराध को सर्वथा नष्ट करने का भी एक उपाय बता दिया गया है। वह उपाय निम्न मन्त्रों में वर्णित है—

1. पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।

सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ता अमर्त्यस्त्वं नः ॥

अथ० 8.3.20.

2. पश्चात् पुरस्तादधरादुदक्तात् कविः काव्येन परि पाहि राजन् ।

सखे सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ता अमर्त्यस्त्वं नः ॥

ऋग्० 10.87.21.

3. अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।

शुचिः पावक ईड्यः ॥

अथ० 8.3.26;

ऋग्० 7.15.10.

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) 'हे सम्राट् (अग्ने) तेरे प्रभाव में कभी क्षीणता नहीं आती (अजरः), तू अपने यशः शरीर के द्वारा सदा अमर रहता है (अमर्त्यः), तू हमारा मित्र है, हम मित्र लोगों की बुढ़ापे तक अर्थात् पूर्ण आयु तक हे कवि अपने काव्य द्वारा पश्चिम, पूर्व, दक्षिण, उत्तर सब ओर से रक्षा कर ।'

(2) ऋग्० 10.87.21 मन्त्र का भी यही अर्थ है। इस मन्त्र में केवल अग्नि के लिए 'राजन्' विशेषण और अधिक आ गया है तथा 'उत्तर' के स्थान में 'उदक्ता' और 'सखा' के स्थान में 'सखे' ऐसा पाठ हो गया है। नहीं तो यह मन्त्र अथ० 8.3.20 ही है। दोनों के अर्थ में कोई भेद नहीं है। इसलिए केवल अथ० 8.3.20 का ही अर्थ यहाँ दे दिया गया है। ऋग्० 10.87.21 का नहीं।

(3) तीसरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

‘अपने यशः शरीर के कारण अमर (अमर्त्यः) यह प्रशंसनीय गुणों वाला (ईड्यः) सम्राट् (अग्निः) शुद्ध तेज वाला है। (शुक्रशोचिः), स्वयं पवित्र है (शुचिः) और दूसरों को पवित्र करवे वाला (पावकः) है, यह इसलिए राक्षसों को हमसे परे हटा देता है (सेधति)।’

अब इन मन्त्रों के भाव को जरा ध्यान से देखिये। पहले ऋग्० 10.87.21 और अथ० 8.3.20 मन्त्रों को लीजिए। जहाँ के ये मन्त्र हैं पाठकों को मालूम है वहाँ राक्षसों को दण्डित करके प्रजाजनों की रक्षा की जा रही है। राक्षसों से प्रजा की रक्षा का एक उपाय इन मन्त्रों में बताया गया है। वह यह है कि सम्राट् (अग्नि) स्वयं तो ‘कवि’ है ही, वह अपने काव्य को प्रजाओं में पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, सब कहीं फैला देवे। वह काव्य राक्षसों से प्रजाओं की रक्षा कर देगा। कवि कहते हैं उसे जो क्रान्तदर्शी¹ हो—जो किसी विषय का गहराई का गम्भीर ज्ञान रखता हो—जो किसी विषय का पारदर्शी तत्त्वज्ञाता हो। इसलिए काव्य का अर्थ हुआ कविपना अर्थात् किसी विषय का गहराई का गम्भीर ज्ञान—किसी विषय का पारंगत तत्त्व-ज्ञान। यदि सम्राट् अपने राष्ट्र की प्रजाओं में ज्ञान के जितने भी विषय हो सकते हैं उन सबका काव्य अर्थात् गहराई का गम्भीर तत्त्व-ज्ञान फैलाने का प्रबन्ध कर दे तो उनकी राक्षसों से रक्षा हो जायेगी। क्योंकि प्रजाओं में इस ऊँचे तत्त्व-ज्ञान के फैल जाने से कोई राक्षस उत्पन्न ही न होगा। किसी पुरुष के राक्षस बनने की—अपराधी बनने की—तह में वस्तुतः अज्ञान—एक या अधिक बातों का अज्ञान—होता है। इसलिए इन सूक्तों में राक्षसों के लिए एक विशेषण ‘भूरदेव’ (अथ० 8.3.2) अर्थात् मूढ़देव अर्थात् मूर्खता के कारण बुरा व्यवहार करने वाले ऐसा आया है। यदि इनका वह अज्ञान दूर हो जाये तो ये ‘भूरदेव’ नहीं रहेंगे और इसीलिए फिर ये राक्षस भी—अपराध करने वाले भी—नहीं रहेंगे। इसका एक ही उपाय है और वह यह कि राष्ट्र के कोने-कोने में काव्य अर्थात् ज्ञान के प्रत्येक विषय का गम्भीर तत्त्वज्ञान फैला दिया जाये। समाज की ऐसी आदर्श तत्त्वज्ञानमयी अवस्था में राक्षस उत्पन्न नहीं हो सकते और इसीलिए उसे राक्षसों से भय भी नहीं रहेगा—उसकी राक्षसों से रक्षा हो जायेगी।

इसी भाव को उद्धृत तीसरे मन्त्र में प्रकारान्तर से कहा है। सम्राट् (अग्नि) राक्षसों को परे भगाता है। कैसा सम्राट् ? जो कि स्वयं पवित्र है और दूसरों को पवित्र करने वाला है। भाव यह हुआ कि स्वयं पवित्र और दूसरों को पवित्र करने वाला सम्राट् राक्षसों को परे भगाता है। राक्षसों को परे भगाने में हेतु पवित्र सम्राट् का दूसरों को पवित्र बनाने का गुण है। दूसरे शब्दों में राक्षसों को पवित्र बनाने द्वारा सम्राट् उन्हें हमसे परे भगाता है। जब राक्षसों को पवित्र बना दिया गया तो उनमें से उनका राक्षसपना निकल गया, वे राक्षस न रहे, और इसलिए वे मानो राक्षस रूप में तो प्रजाजनों से परे ही भाग गये। इस प्रकार इस मन्त्र में अपराध को

¹ कविः क्रान्तदर्शनो भवति। निरु० 12.2.12.

समाज में से सर्वथा निर्मूल करने के लिए आदर्श उपाय यह बताया गया है कि अपराधियों को पवित्र बनाया जाये—उनमें से अपराध की प्रवृत्तियों को हटाया जाये। किसी व्यक्ति की अपराध में प्रवृत्ति अज्ञान के—एक या अधिक बातों के अज्ञान के—कारण ही होती है। इसलिए किसी अपराधी व्यक्ति को पवित्र करने का अर्थ यही है कि उसके अपराध की तह में बैठे हुए अज्ञान को दूर कर दिया जाये। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि प्रथम मन्त्र के वर्णनानुसार राष्ट्र के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण—कोने-कोने में काव्य का, ज्ञान के प्रत्येक विषय के गम्भीर तत्त्व-ज्ञान का, प्रचार कर दिया जाय।

जब तक किसी राष्ट्र की यह आदर्श अवस्था नहीं होती तब तक उसमें प्रजा की रक्षा और शान्ति की स्थापना के लिए अपराधियों को समय-समय पर भाँति-भाँति के दण्ड देने की आवश्यकता पड़ती ही रहेगी। प्रत्युत किसी एक राष्ट्र में ऐसी आदर्श अवस्था आ जाने से ही काम न चलेगा, सभी राष्ट्रों में ऐसी अवस्था आनी चाहिए तभी कठोर-दण्ड विधान को सर्वथा छोड़ा जा सकता है। नहीं तो कभी न कभी कठोर दण्ड-विधान का भी उपयोग करना ही पड़ेगा। इसलिए वेद में कठोर दण्ड विधान का वर्णन हुआ है। इस कठोर दण्ड-विधान में भी पहला स्थान वेद में इसी का है कि अपराधी को यथासम्भव समझा कर उसको अपराध से रोका जाये। समझाने पर भी न समझने वाले अपराधियों के लिए अगले कठोर दण्डों का विधान है।

परन्तु अपराध को सर्वथा निर्मूल करने का जो सर्वश्रेष्ठ उपाय है वह इन तीन और ऐसे ही अन्य अनेक मन्त्रों में वेद में भली-भाँति बताया गया है।

सोम : न्यायाधीश

हम अभी तक जहाँ कहीं सोम एक राज्याधिकारी के रूप में आया है उसे सम्राट् का ही कर्तव्यभेद से एक रूप-विशेष कहकर प्रायः छोड़ देते रहे हैं। यहाँ उसके इस विशेष रूप पर विचार कर लेना चाहिए। हमारी सम्मति में सोम न्यायाधीश का नाम है जोकि सत्यासत्य का निर्णय करके अपराधी और अनपराधी का और अपराधी के लिए दण्ड का निश्चय करता है। पाठक कहेंगे कि इसी अध्याय के आरम्भ में ऊपर हम अभी देख आये हैं कि 'ममसत्यो' अर्थात् जिनमें प्रत्येक पक्ष अपनी-अपनी बात को सच्चा कहता है ऐसे झगड़ों में वास्तविक सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए प्रजाजन इन्द्र (सम्राट्) को बुलाते हैं। फिर हमने वहीं यह भी देखा है कि वरुण भी सत्यासत्य का निर्णय करने का काम करता है। ऐसी अवस्था में इन्द्र या वरुण न्यायाधीश क्यों नहीं और सोम ही न्यायाधीश क्यों है ? इसका क्या प्रमाण है ? यदि पाठक थोड़ा सा गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे तो उन्हें इस आशंका का स्वयं ही उत्तर मिल जायेगा। इन्द्र तो सम्राट् है यह पाठक अब तक भली-भाँति जान चुके हैं। अग्नि भी अपने सामान्य रूप में सम्राट् का ही वाचक है यह भी हम निरन्तर देखते आ रहे हैं। इसी प्रकार वरुण, मित्र, पूषा आदि अन्य देवताओं को भी

सामान्य रूप में सम्राट् ही समझना चाहिए। इन्द्र और अग्नि के सम्राट् होने के सम्बन्ध में पीछे तीसरे और चौथे अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है। वरुण के सम्राट् होने के सम्बन्ध में भी पीछे कई जगह संक्षेप में प्रमाण दिये जा चुके हैं। इन अग्नि, वरुण आदि का, सामान्येन इनके सम्राट् (इन्द्र) के सूचक होते हुए भी, अपना विशेष रूप क्या है यह हम पीछे अट्ठारहवें अध्याय में देख चुके हैं। इसलिए जब कहीं इन्द्र, वरुण आदि को सत्यासत्य का निर्णय करने वाला बताया जाता है तो उसका सामान्य अभिप्राय यह समझना चाहिए कि सम्राट् सत्यासत्य का निर्णय करता है। अब सम्राट् (इन्द्र) तो राज्य के सभी विभागों का अन्तिम उत्तरदाता मुख्य अधिकारी है ही। इसलिए वह सभी प्रकार के कार्य राष्ट्र में कर रहा है ऐसा उसके विषय में कहा ही जा सकता है। और इसलिए वह सत्यासत्य के निर्णय द्वारा अपराधी और अनपराधी का और अपराधी के लिए दण्ड का निश्चय करता है ऐसा भी उसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है। परन्तु सम्राट् अन्तिम उत्तरदायित्व लेने और निरीक्षण करने के रूप में तो सब विभागों का कार्य कर सकता है, परन्तु वास्तविक क्रियान्वयन के रूप में सब विभागों के दैनंदिन कार्यसंचालन का काम सम्राट् स्वयं नहीं कर सकता। क्योंकि किसी व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं हो सकती और न ही उसे इतना समय मिल सकता है। इसलिए उसे विभिन्न-विभागों का कार्य संचालन करने के लिए अग्नि, वरुण आदि राज्याधिकारी अपने प्रतिनिधि रूप में सहायक के तौर पर नियुक्त करने पड़ते हैं। पर क्योंकि ये अग्नि-वरुण आदि अधिकारी सम्राट् के ही नाम पर अपने कार्य करेंगे इसलिए उन सब कार्यों को सम्राट् ही कर रहा है ऐसा कहा जा सकता है। न्याय विभाग का कार्य करने के लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में सम्राट् जिस अधिकारी को नियुक्त करेगा उसका नाम वेद में सोम है। इस स्थापना की पुष्टि में हमारा निम्न वक्तव्य है—

जैसा कि पाठक ऊपर के पृष्ठों में देख चुके हैं ऋग्० 7.104 और अथ० 8.4 सूक्तों में इन्द्र और सोम से राक्षसों अर्थात् प्रजापीडक दुष्कर्मा लोगों को दण्डित करके प्रजाजनों की रक्षा की प्रार्थना है। इन्द्र और सोम का सबसे अधिक इकट्ठा वर्णन इन्हीं दो सूक्तों में हुआ है। और ये सूक्त पच्चीस-पच्चीस मन्त्रों के लम्बे सूक्त हैं। इन सूक्तों को ध्यान से पढ़ने से पता लगता है कि अपराधियों के पारस्परिक आरोपों की सत्यासत्यता का निर्णय करने का काम सोम को सौंपा गया है। इन्द्र का काम केवल दण्ड देना है। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत मन्त्रों को फिर देखिये—

1. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।

तयोर्यत्सत्यं यतरहजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

अथ० 8.4.12; ऋग्० 7.104.12.

2. ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।

अह्ये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निऋतेरूपस्ये ॥

अथ० 8.4.9; ऋग्० 7.104.9.

3. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।

हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥

अथ० 8.4.13; ऋगू० 7.104.13.

इन मन्त्रों का शब्दार्थ, जो ऊपर भी लिखा जा चुका है, इस प्रकार है—

(1) 'उत्कृष्ट विज्ञान को जानने वाले सोम नामक जन के पास सत्य और असत्य वचन अपनी-अपनी विजय के लिए स्पर्धा करते हुए आते हैं, उनमें से जो सत्य है, जो सीधा-सरल है, उसकी सोम रक्षा कर लेता है और जो असत्य है उसको मार देता है—दण्डित कर देता है।' (2) 'जो शुद्ध, पुण्य की, बातें ही निरन्तर सोचने वाले मुझ पर अपने आक्रमणों से बार-बार आते हैं, अथवा, जो अपने कमाये अन्नादि के साथ रहने वाले मुझ भद्र आचरण वाले को दूषित करते हैं उन दुष्ट पुरुषों को सोम या तो मारने वाले अर्थात् फाँसी देने वाले पुरुषों को सौंप दे अथवा कारागार की गोद में डाल दे।' (3) 'सोम पापकारी को बढ़ने नहीं देता, और न ही मिथ्या वचन को अथवा प्रजाहिंसन को धारण करने वाले क्षत्रिय को बढ़ने देता है, ऐसे राक्षस व्यक्ति को, और असत्यवादी को, सोम दण्डित करता है, पापी और असत्यवादी दोनों सम्राट् (इन्द्र) के बन्धन में पड़ जाते हैं।' ॥

इन मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि झगड़ने वाले लोगों की स्थापनाओं के वचनों की सत्यासत्यता का निर्णय सोम करता है। सोम ही यह निर्णय करता है कि अपराध के अनुसार किसको फाँसी पर चढ़ाना चाहिए और किसको कारागार में डालना चाहिए—अर्थात् सोम ही यह निश्चय करता है कि किस अपराधी को क्या दण्ड मिलना चाहिए। सोम से अपराध और दण्ड का निर्णय हो जाने के पश्चात् अपराधी सम्राट् (इन्द्र) के बन्धन में पड़ जाते हैं। इन मन्त्रों के वर्णन से स्पष्ट पता चलता है कि न्याय का (Judicial) काम सोम का है और शासन का (Executive) काम इन्द्र का है। सोम जो दण्ड निर्धारित कर देता है इन्द्र उस दण्ड को दिलवा देता है।

इन्द्र सोम का निर्धारित किया दण्ड ही अपराधियों को देता है यह इन्हीं सूक्तों के निम्न मन्त्र से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र देखिये—

प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र सोमशितं मधवन् त्सं शिशधाधि ।

प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि जहि रुक्षसः पर्वतेन ॥

ऋगू० 7.104.19; अथ० 8.4.19.

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

'हे ऐश्वर्यशाली इन्द्र तू अपने, सोम द्वारा तीक्ष्ण किए हुए, (सोमशितं) और अपराधी पर फेंक कर मारे जाने वाले हथियार को (अश्मानं) सुधार कर ठीक कर ले (शिशधाधि)¹ अपनी व्यवहार-कुशलता से (दिवः) उसे चला (प्रवर्तय) और अपने

¹ संस्कृत इति सायणः ।

उस वज्र से (पर्वतेन)¹ पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, सब कहीं से राक्षस पुरुष को मार डाल ।'

मन्त्र के हथियार वाचक अश्मा और पर्वत शब्द दण्ड के प्रतिनिधि हैं । मन्त्र में कहा है कि इन्द्र उसी हथियार को चलाता है जिसे सोम तीक्ष्ण कर देता है । सोम द्वारा इन्द्र के हथियार को तीक्ष्ण किये जाने का अभिप्राय समझ लेना चाहिए । यहाँ तीक्ष्ण करने का अभिप्राय सोम द्वारा हथियार चलाने की अनुमति मिलना है । 'शो' धातु, जिसका अर्थ पँना करना, तीक्ष्ण करना होता है, इस प्रकार के आलंकारिक-प्रयोगों में वेद में बहुधा प्रयुक्त होती है । वेद में इस धातु का प्रयोग अनेक जगह किसी वस्तु को व्यवहारोपयोगी, क्रिया में लाने के योग्य, बनाना होता है । उदाहरण के लिए वेद का, 'संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं¹ बलम्, संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः' (अथ० 3.19.1.) यह मन्त्र देखिये । इसका अक्षरार्थ इस प्रकार है—'मेरा वेदज्ञान अच्छी तरह तीक्ष्ण किया हुआ है, मेरा वीर्य और बल अच्छी तरह तीक्ष्ण है, मैं विजयशील जिनका पुरोहित हूँ उनके क्षत्रिय भी अच्छी तरह तीक्ष्ण और क्षीण न किये जा सकने योग्य हो जावें ।' अब, यहाँ तीक्ष्ण का अक्षरार्थ नहीं लिया जा सकता । क्योंकि वह उपपन्न ही नहीं हो सकता । यहाँ तीक्ष्ण करने का अर्थ काम लेने के योग्य बनाना है । इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के 'सोमशित' का भी भाव इन्द्र के हथियार को काम में ला सकने के योग्य बनाना है । इन्द्र के पास हथियार तो है, दण्ड देने का सामर्थ्य तो है, पर जब तक सोम यह न कहे कि अमुक हथियार चलाओ, अमुक दण्ड दो, तब तक वह हथियार चलाया नहीं जा सकता, वह दण्ड दिया नहीं जा सकता । जब तक सोम किसी हथियार को अपराधी पर चलाने की अनुमति इन्द्र को नहीं देता तब तक इन्द्र का वह हथियार मानों कुण्ठित पड़ा रहता है । सोम की अनुमति मिलते ही मानो वह तीक्ष्ण हो जाता है—उसके द्वारा क्रिया होने लग जाती है । यदि यहाँ 'सोमशित' का सचमुच यह अर्थ होता कि इन्द्र के हथियार को सोम पँना बनाता है और फिर उसे इन्द्र चलाता है तो इन्द्र को मन्त्र में यह न कहा जाता कि 'तू अपने उस हथियार को सुधार कर ठीक कर ले ।' क्योंकि उस हथियार को सुधार कर ठीक तो सोम ने पहले ही कर दिया है । सोम द्वारा तीखे किये हथियारों को पुनः इन्द्र द्वारा तीखा कराने का क्या अर्थ ? सोम द्वारा तीखे किये हुए हथियार को तो सीधा इन्द्र द्वारा चलवा देना चाहिए । बात असल में यह है कि जैसा हमने अभी लिखा है, यहाँ हथियार से हथियार का अभिप्राय नहीं है । यहाँ हथियार का अभिप्राय दण्ड से है । और सोम द्वारा उसके तीक्ष्ण करने का अभिप्राय भी तीक्ष्ण करना नहीं है । इसका अभिप्राय सोम की अनुमति से दण्ड को व्यावहारिक रूप में लाना है । इन्द्र द्वारा हथियार को सुधार कर ठीक करने का भी भाव यही है कि अपराधी को क्या दण्ड देना चाहिए सोम ने तो यह बता दिया, अब उस दण्ड को अपराधी को सचमुच में देने के लिए इन्द्र को अर्थात् राज्य के, शासन

¹ वज्रेणेति सायणः ।

विभाग (Executive) को जो तैयारी करनी हो वह कर लेनी चाहिए। सूक्त में जो सत्यासत्य का निर्णय होने और अपराधियों को जेल आदि में डालने का वर्णन चल रहा है उसकी संगति में इस मन्त्र का वही भाव लेना चाहिए जो हमने यहाँ अंकित किया है।

इस प्रकार इस मन्त्र से स्पष्ट है कि सोम अपराध के अनुसार दण्ड का निर्धारण करता है और इन्द्र उस दण्ड को क्रिया में परिणत करता है। अर्थात् सोम न्याय का काम करता है और इन्द्र शासन का।

जब इन्द्र और सोम का किसी सूक्त में इकट्ठा वर्णन हो तो वहाँ क्रमशः जो कार्य उन दोनों के करने के कहे गये हों उन्हीं को उन दोनों के स्वरूप के निर्णायक विशेष कार्य समझना होगा। प्रस्तुत ऋग् 7.104 और अथ० 8.4 सूक्तों में इन्द्र और सोम का एकत्र वर्णन हुआ है। इन दोनों का सबसे अधिक लम्बा और महत्त्वपूर्ण इकट्ठा वर्णन इन्हीं सूक्तों में हुआ है। और इन सूक्तों में हम देखते हैं कि न्याय का काम सोम को सौंपा गया है और उसके अनुसार शासन का काम इन्द्र को सौंपा गया है। इसलिए स्पष्ट ही सोम न्यायाधीश अथवा सम्राट् का सहकारी न्यायविभाग का मुख्य अधिकारी है। आजकल की प्रचलित भाषा में जिसे न्यायाधीश (judge) और न्यायविभाग का मन्त्री (Minister for justice) कहते हैं उन दोनों को वेद में सोम इस एक नाम से कहा गया है। जब विवादों का न्याय करने वाले के रूप में उसे देखा जाता है तो सोम न्यायाधीश है और जब उसे राष्ट्र में न्याय का प्रबन्ध करने वाले सम्राट् के सहकारी के रूप में देखा जाता है तो सोम न्यायविभाग का मन्त्री है। ये दोनों भेद वस्तुतः भेद नहीं हैं। जो न्यायविभाग का मन्त्री है यदि उसके पास शक्ति और समय होता तो वह राष्ट्र के सारे विवादों का न्याय स्वयं ही कर दिया करता। परन्तु राष्ट्र की जनसंख्या की अधिकता आदि के कारण उसके लिए ऐसा करना संभव नहीं है। इसलिए उसे अपने नीचे सोम रखने पड़ते हैं जो असल में उसी का काम कर रहे होते हैं। व्यवहार में इन नगर-नगर में नियुक्त किये गये सोमों के पास विवादों का न्याय करने का काम रह जाता है और सम्राट् के पास रहने वाले सोम (न्याय-विभाग के मन्त्री) के पास इन सोमों के निरीक्षण का काम रह जाता है। और सम्राट् पुनः इस सर्वोपरि सोम के कार्य का निरीक्षण करता है। क्योंकि अन्ततः सोम विभाग का भी सारा उत्तरदायित्व सम्राट् पर ही है।

इन सूक्तों में न्याय का कार्य सोम को ही दिया गया है इसे देखने के लिए सारे सूक्त पर एक विहंगम दृष्टिपात कर लेना चाहिए। सूक्त के कुल 25 मन्त्र हैं। इनमें से 1-7 और 15, 25 इन नौ मन्त्रों में इन्द्र और सोम से इकट्ठी प्रार्थना की जा रही है कि वे दुष्टकर्मा राक्षस-पुरुषों को भ्रांति-भ्रांति से दण्डित करें। दोनों द्वारा दण्ड की प्रार्थना का अभिप्राय यह है कि सोम दण्ड का निर्णय देने द्वारा दण्डित करेगा और इन्द्र उस दण्ड को क्रियात्मक रूप में अपराधी को देगा। 8, 16, 19-22, 24 इन सात मन्त्रों में अकेले इन्द्र से यह प्रार्थना है कि वह दुष्टकर्मा राक्षस

पुरुषों को दण्डित करे। 10, 14 इन दो में अग्नि से, 11, 17, 18 और 23 इन चार मन्त्रों में क्रम से देवाः, प्रावाणः, मरुतः और पृथिवी-अन्तरिक्ष से राक्षस-पुरुषों को दण्डित करने की प्रार्थना है। अग्नि आदि सम्राट् के ही प्रकारान्तर से सूचक हैं यह इसी अध्याय में हम ऊपर देख आये हैं। इस प्रकार कुल 15 मन्त्रों में यह समझा जा सकता है कि इन्द्र से राक्षसों को दण्डित करने की प्रार्थना है। शेष, 9, 12, 13 ये तीन मन्त्र रह जाते हैं जिनका उद्धरण और अर्थ अभी ऊपर दिया गया है। इन मन्त्रों का देवता अकेला सोम है। और इसमें सत्यासत्य का निर्णय करना, फाँसी और कारागार आदि के दण्डों का अपराधियों के लिए निर्धारण करना सोम का काम बताया गया है। सारे सूक्त में सत्यासत्य का निर्णय करना इन्द्र का काम कहीं भी नहीं बताया गया है। यह काम सोम का ही बताया गया है। इसलिए न्याय का काम विशेष रूप में सोम का ही है ऐसा निश्चित समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के निम्न दो मन्त्र भी देख लेने चाहिए—

1. परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय घत्तन ।

यथैनं जरसे नयां ज्योक्क्षत्रेऽधि जागरत् ॥ अथ० 19.24.2.

2. परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय घत्तन ।

यथैनं जरसे नयां ज्योक्क्षत्रेऽधि जागरत् ॥ अथ० 19.24.3.

जिस सूक्त के ये मन्त्र हैं उसमें सम्राट् के राज्याभिषेक का वर्णन है। अभिषिक्त हो रहे व्यक्ति को 'इन्द्र' और 'सोम' इन दो नामों से कहा गया है। इस सूक्त पर पीछे हम 'राजा का चुनाव' नामक अध्याय में विस्तार से विचार कर चुके हैं। वहीं उद्धृत इन दोनों मन्त्रों का अर्थ भी विस्तार से स्पष्ट करके लिखा गया है। मन्त्रों का खाली शब्दार्थ पुनः यहाँ दे देते हैं—

(1) 'इस राष्ट्र के ऐश्वर्यादि बढ़ाने में समर्थ सम्राट् को (इन्द्र) प्रजा की आयुवृद्धि के लिए, जीवन-रक्षा के लिए, महान् राष्ट्र के कल्याण के लिए (क्षत्राय) धारण करो—सिंहासन पर बिठाओ, ऐसा उपाय करो जिससे इसको बुढ़ापे तक ले जा सकें, देर तक यह राष्ट्र के कल्याण में (क्षत्रे) जागता रहे।' (2) 'इस सोम गुण युक्त सम्राट् को (सोम) प्रजाओं की आयुवृद्धि के लिए—जीवन रक्षा के लिए, महान् श्रवण के लिए (श्रोत्राय) सिंहासन पर बिठाओ, ऐसा उपाय करो जिससे इसको बुढ़ापे तक ले जा सकें, देर तक यह श्रवण के काम में (श्रोत्रे) जागता रहे।' अथर्व
५. ६४

पाठक देखेंगे कि इन मन्त्रों में सम्राट् के इन्द्र और सोम ये दो नाम आये हैं। इन्द्र का काम 'क्षत्र' बताया गया है और सोम का काम 'श्रोत्र' बताया गया है। क्षत्र का अर्थ राष्ट्र होता है। भाव यह हुआ कि इन्द्र ने राष्ट्र का पालन करना है। क्षत्र का अर्थ बल भी होता है। इस अर्थ में भाव यह होगा कि इन्द्र ने प्रशासन के बल के कार्य (Executive Functions) करने हैं। सोम का काम 'श्रोत्र' कहा है। भाव यह है कि सोम ने सुनने का काम करना है। इन्द्र का काम जहाँ बल-कृति है वहाँ उसकी तुलना में सोम का काम श्रोत्र-कृति है। सोम का यह श्रवण-कर्म उसके

न्याय का काम करने की सूचना देता है। क्योंकि एक न्यायाधीश का यही काम होता है कि वह प्रजाओं के विवादों को सुने। और उन्हें सुनकर सत्यासत्य का निर्णय कर दे और जिसे अपराधी पाये उसके लिए दण्ड का निर्धारण करके दण्ड देने वाले राज्याधिकारियों को उसे सौंप दे। इसके आगे व्यावहारिक रूप में न्यायाधीश ने कोई काम नहीं करना है। व्यावहारिक रूप में दण्ड आदि देने का जो काम करना है वह उन राज्याधिकारियों ने करना है जिसके हाथ में शासन है, बल-कृति है, जिसे आजकल की प्रचलित भाषा में एग्जीक्यूटिव (Executive—कार्यकर्ता, शासनकर्ता लोग) कहा जाता है। न्यायाधीश का काम खाली इतना है कि वह दोनों पक्षों की बात सुनकर अपनी सम्मति दे दे। एक शब्द में न्यायाधीश का काम सुनने का है, करने का नहीं। करने का काम 'क्षत्र' वाले का, बल वाले का, शक्तिवाले का है। राज्य का अन्तिम बल सेना होती है। क्षत्र का अर्थ क्षत्रिय लोग भी होता है। सेना क्षत्रियों की ही बनती है। इसलिए जिसके अधिकार में सेना है, शक्ति उसी के पास है, बल उसी के पास है और इसलिए 'करने' का, शासन (Execution) का, काम उसी का है। इन्द्र के पास यही 'क्षत्र' का काम है। और उसकी तुलना में सोम के पास केवल 'श्रोत्र' या सुनने का काम है।

इस प्रकार इन दोनों मन्त्रों में एक ही सम्राट् को इन्द्र और सोम कहकर क्रमशः उनके काम 'क्षत्र' और 'श्रोत्र' बताना यह सूचित करता है कि कर्तव्य-भेद के कारण सम्राट् के ये दो नाम हैं। और वह कर्तव्यभेद 'क्षत्र' और 'श्रोत्र' इन शब्दों से ही प्रकट हो जाता है। सम्राट् इन्द्ररूप में 'क्षत्र' अर्थात् राष्ट्र-रक्षा के सामान्य काम अथवा 'क्षत्र' अर्थात् बल के, शक्ति के, शासन के, काम करता है, और सोमरूप में वह 'श्रोत्र' अर्थात् न्याय सम्बन्धी काम करता है।

इससे भी स्पष्ट है कि सोम का विशेष रूप न्यायाधीश का है।

न्यायाधीश ब्राह्मण होना चाहिए

वेद में ब्राह्मणों का और सोम का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है। वेद में जितनी जगह ब्राह्मण शब्द आया है उनमें से लगभग आधे स्थलों पर ब्राह्मणों के साथ सोम का भी किसी न किसी तरह का सम्बन्ध बताया गया है। उदाहरण के लिए निम्न वेदमन्त्रों को देखिये। इनमें ब्राह्मणों के साथ सोम का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध वर्णित है—

1. ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिवा सोममृतूरनु । तवेद्धि सख्यमस्तृतम् ॥

ऋग्० 1.15.5.

2. त्वमस्य ब्राह्मणादा तृप्तं पिब ।

ऋग्० 2.36.5.

3. सोमश्च यो ब्राह्मणां आविवेश ।

ऋग्० 10.16.6.

अथ० 18.3.55.

- | | |
|--|------------------------------|
| 4. ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः । | ऋग्० 6.75.10;
यजु० 29.47. |
| 5. ब्राह्मणासः सोमिनः । | ऋग्० 7.103.8. |
| 6. सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा । | यजु० 9.40; 10.18. |
| 7. ब्राह्मणः....स सोमं प्रथमः पपी । | अथ० 4.6.1. |
| 8. सोमो ह्यस्य दायाद । | अथ० 5.18.6. |
| 9. विद्वान्सोमस्य यो ब्राह्मणां आविवेश । | अथ० 19.59.2. |

इन मन्त्रों का अक्षरार्थ इस प्रकार है—

(1) हे इन्द्र (सम्राट्) तू कार्य सिद्ध करने वाले (राघसः) ब्राह्मण से समय-समय पर (ऋतुरनु) सोम का सेवन कर (पिव) तेरी ब्राह्मणों से कभी नष्ट न होने वाली मित्रता रहे । (2) हे इन्द्र (सम्राट्) तू ब्राह्मण से तृप्त होकर सोम का सेवन कर । (3) जो सोम ब्राह्मणों में प्रविष्ट है । (4) ब्राह्मण पितर हैं और सोम से सम्बन्ध रखने वाले (सोम्यासः) हैं । (5) ब्राह्मण सोम वाले हैं । (6) सोम हम ब्राह्मणों का राजा है । (7) ब्राह्मण सोम का सबसे पहले सेवन करता है । (8) सोम ब्राह्मण का सम्बन्धी (दायाद) है । (9) अग्नि (सम्राट्) इस सोम को जानता है जो कि ब्राह्मणों में प्रविष्ट है ।

ये कुछ थोड़े से मंत्र उदाहरण के रूप में उद्धृत किये गये हैं । और भी अनेक मन्त्र हैं जिनमें ब्राह्मणों और सोम का इसी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है । चारों वर्णों में से केवल ब्राह्मणों के साथ ही सोम का इतना घनिष्ठ वर्णन आया है ।

ब्राह्मण और सोम के विभिन्न रूप

सोम का अर्थ कुछ भी कर लीजिये, सोम के जितने भी रूप हैं उनका ब्राह्मणों से विशेष सम्बन्ध है ऐसा वेद के इन उद्धृत और ऐसे ही अन्य अनुद्धृत मन्त्रों से स्पष्ट सूचित होता है । इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर पाठकों ने सोम के कितने ही रूपों की व्याख्या देखी है । उन सभी का ब्राह्मणों के साथ विशेष सम्बन्ध है । सोम का एक अर्थ विद्या-प्राप्त स्नातक भी होता है । स्नातकों का सम्बन्ध भी ब्राह्मणों से बड़ा घनिष्ठ है । अपने विद्यादान द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के स्नातकों को ब्राह्मण ही तैयार करते हैं । सोम का एक अर्थ सोम नामक बूटी, गिलोय, ब्राह्मी बूटी आदि ओषधि भी होता है । वेद के अनुसार वैद्य को ब्राह्मण (ऋग्० 10.97.6; ऋग्० 10.97.22) होना चाहिए । इसलिए इन ओषधियों का सम्बन्ध भी ब्राह्मण से स्पष्ट है । सोम का एक अर्थ ज्ञान-रस भी होता है । ब्राह्मण लोग ज्ञान-प्रधान तो होते ही हैं । सोम का एक अर्थ ब्रह्मानन्द रस भी होता है । इसका भी ब्राह्मणों से स्पष्ट सम्बन्ध है । क्योंकि सच्चे ब्राह्मण लोग ही ब्रह्मानन्द रस का अनुभव कर सकते हैं । सोम का एक अर्थ धन-ऐश्वर्य भी होता है । परन्तु इस सोम

का, शास्त्रों में ब्राह्मण का जैसा वर्णन आता है उसके अनुसार, ब्राह्मणों से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। ब्राह्मण लोग केवल निर्वाह के लिए आवश्यक धन ही अपने पास रख सकते हैं। धन का विशेष सम्बन्ध वैश्य लोगों के साथ होता है। परन्तु क्योंकि वैश्यों का ऐश्वर्य ब्राह्मणों के विद्या-विज्ञान से ही उत्पन्न होता है इसलिए एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि ऐश्वर्य से भी ब्राह्मणों का सम्बन्ध है।

इस अध्याय के सभी ऊपर के प्रकरण में हमने देखा है कि सोम का अर्थ न्यायाधीश भी होता है। इसलिए न्यायाधीश का भी ब्राह्मणत्व से विशेष सम्बन्ध होना चाहिए। दूसरे शब्दों में जो न्यायाधीश हो उसे वृत्ति से ब्राह्मण होना चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सोम को कई जगह ब्राह्मण कहा गया है। जैसे—

1. तस्माद् ब्राह्मणो नाद्यः सोमराजा हि भवति । शत० 5.4.2.3.
2. सोमो वै ब्राह्मणः । तां० 23.16.5.
3. सौम्यो हि ब्राह्मणः । तै० 2.7.3.1.

जब ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार सोम ब्राह्मण है और वेद के अनुसार सोम न्यायाधीश का वाचक भी है तो न्यायाधीश को ब्राह्मण होना चाहिए। इसकी सूचना हम ऋग्० 7.104 और अथ० 8.4 सूक्तों में, जिनके आधार पर हमने सोम को न्यायाधीश निर्धारित किया है, भी पाते हैं।

न्यायाधीश अपराधी क्षत्रियों (राज्याधिकारियों) को भी दण्डित करेगा

पाठकों ने ऊपर इन सूक्तों का

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।

ऋग्० 7.104.13; अथ० 8.4.13.

यह मन्त्र देखा है। इसका अर्थ है—‘सोम पापकारी को बढ़ने नहीं देता है और न ही वह मिथ्याभाषी और प्रजाहिंसक क्षत्रिय को बढ़ने देता है।’ यहाँ पापकारी कहने में ही सब प्रकार के अपराधी आ जाते थे। फिर भी क्षत्रिय को जो अलग करके कहा उसका विशेष अभिप्राय है। अन्य अपराधियों को तो सोम अपराधी ठहरा कर इनके लिए दण्ड का निर्धारण कर देगा, पर संभवतः क्षत्रिय के प्रति वह अपनी न्याय परायणता न दिखा सके क्योंकि क्षत्रिय लोग बलिष्ठ होते हैं और राज्यसत्ता की शक्ति भी उनके हाथ में होती है। हो सकता है सोम क्षत्रियों की प्रभुता के भय और रौब में आकर उनके प्रति पक्षपात कर बैठे। इस सन्देह को मिटाने के लिए क्षत्रिय को अलग करके कहा है कि सोम प्रभुताशाली क्षत्रियों से भी नहीं डरता है। अपराधी क्षत्रिय को भी वह उसी प्रकार न्यायपूर्वक दण्डित करता है जिस प्रकार किसी अन्य वर्ण वाले अपराधी को दण्डित करता है।

अब, इस मन्त्र में इस प्रकार बलपूर्वक सोम के विषय में यह कहना कि वह अपराधी क्षत्रिय को भी नहीं छोड़ता है यह सूचित करता है कि सोम ब्राह्मण है। वेद

और वैदिक साहित्य के अनुसार राज्य-प्रबन्ध का कार्य क्षत्रिय और ब्राह्मणों के हाथों में ही होता है। राज्य कार्यों का वह भाग जिनमें बल कृति होती है, शासन होता है, उसे क्षत्रिय लोग करते हैं और वह भाग जिनमें ज्ञान की, शान्त विचार की, आवश्यकता होती है उसे ब्राह्मण करते हैं। राज्य-चक्र के दैनंदिन संचालन में वैश्यों का कोई हाथ नहीं होता है। प्रस्तुत मन्त्र में सोम को क्षत्रियों से अलग करके उनकी तुलना में खड़ा करके दिखाया है। अतः सोम अर्थात् न्यायाधीश स्पष्ट रूप से ब्राह्मण सिद्ध होता है।

ब्राह्मण का अर्थ जन्मगत ब्राह्मणत्व वाला व्यक्ति करने की भ्रांति तो पाठकों को करनी ही नहीं चाहिए। वेद में ब्राह्मण इन संयमी, तपस्वी और कम से कम भौतिक आवश्यकताओं (Material Wants) वाले व्यक्तियों को कहते हैं जिनके जीवन का लक्ष्य ज्ञान और सत्य की निःस्वार्थ खोज और उनका निःस्वार्थ प्रचार करना होता है। ऐसे व्यक्ति किसी भी घर में उत्पन्न हो सकते हैं। न्यायाधीश का काम ऐसे ब्राह्मण लोगों के हाथ में रहकर ही अपने आदर्श रूप में पूर्ण हो सकता है। सोम को ब्राह्मण कहकर वेद ने ऐसे ही निःस्वार्थ सत्यव्रती, ज्ञानी और संयमी लोगों के हाथ में न्यायाधीश का काम सौंपा है।

एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। सोम का अर्थ ब्राह्मण वहीं होगा जहाँ वह सम्राट् से अलग व्यक्तित्व रखने वाले न्यायाधीश को कहता है। जहाँ सोम सम्राट् (इन्द्र) के ही न्याय-विभाग का अन्तिम उत्तरदाता होने की हैसियत में, एक विशेष रूप को प्रकट करता है। वहाँ तो सोम क्षत्रिय होगा। क्योंकि सम्राट् (इन्द्र) तो क्षत्रिय ही होगा। वेद में (ऋग्० 1.54.8) इन्द्र के लिए कहा है कि उसमें 'असम क्षत्र' होना चाहिए। ऐसा क्षत्र, ऐसे क्षत्रियोचित गुण होने चाहिए जिनकी कोई समता न कर सके।

20

राज्याभिषेक

राजसूय और वाजपेय

प्रजाएँ अपना मत देकर जब बहुमत द्वारा किसी व्यक्ति को सम्राट् चुन लें तो उसके हाथ में शासन का सूत्र देने से पहले एक विशेष उत्सव की आयोजना की जानी चाहिए। इस उत्सव में प्रजा के लोगों के सामने सम्राट् पद के लिए निर्वाचित व्यक्ति यज्ञपूर्वक राजसिंहासन पर आरूढ़ होगा। इस यज्ञ में सम्राट् राज्यारोहण की सूचक अनेक प्रकार की विधियाँ करेगा। इन विधियों को करते समय वह उस समय के लिए उपयुक्त वेदमन्त्रों का उच्चारण करेगा। यज्ञवेदि में अग्नि प्रज्ज्वलित करके सम्राट् और ऋत्विक् लोग उसमें उस समय के लिए विशेष रूप से तैयार की हुई घृतादि हवि की मन्त्र-पूर्वक आहुतियाँ देंगे। ऋत्विक् लोग उस समय यज्ञवेदि पर प्रजा के प्रतिनिधि रूप में बैठते हैं। ये विधियाँ और आहुतियाँ जिन मन्त्रों को बोल कर की और दी जाती हैं उनमें सम्राट् के प्रजाओं के प्रति और प्रजाओं के सम्राट् के प्रति कर्तव्यों का उपदेश होता है। ब्राह्मणग्रन्थों और सूत्रग्रन्थों में राज्यारोहण के समय किए जाने वाले इन उत्सवों और यज्ञों को राजसूय और वाजपेय नामों से कहा गया है। इन ग्रन्थों के राजसूय और वाजपेय सर्वथा एक नहीं हैं। इनके अनुसार राजसूय तो साधारण राजा लोग करते हैं और वाजपेय सम्राट् लोग और ब्राह्मण लोग करते हैं। जब किसी राजा की अधीनता में अनेक राजा लोग रहने लगते हैं और वह उनका सम्राट् बनता है तब वह वाजपेय यज्ञ करता है। जब कोई ब्राह्मण किसी विद्या का अद्वितीय पारंगत विद्वान् हो जाता है तब भी वाजपेय किया जाता है। इस यज्ञ द्वारा उस ब्राह्मण को उस विद्या के क्षेत्र का सम्राट् उद्घोषित किया जाता है। प्रजाएँ उस दिन के पश्चात् उस पण्डित का सम्राटों का सा आदर करने लगती हैं।

सामान्य बोलचाल की भाषा में राज्यारोहण के समय रचे जाने वाले उत्सवों और यज्ञों को राज्याभिषेक कहते हैं। इन यज्ञों में अभिषेक अर्थात् स्नान एक मुख्य विधि होती है। इसलिए राजा के राज्यारोहण को राज्याभिषेक कहा जाता है। संक्षेप में अभिषेक इस अकेले पद का भी प्रयोग होता है।

ब्राह्मणग्रन्थों और सूत्रग्रन्थों में राजसूय और वाजपेय की बड़ी विस्तृत

विधियाँ बताई गई हैं। वेद में इनमें से कई प्रधान विधियों का आधार तो मिलता है पर इन ग्रन्थों की सारी विधियाँ ज्यों की त्यों वेद में उपलब्ध नहीं होतीं। वेद के राज्यारोहण सम्बन्धी प्रकरणों में तो प्रजाओं के प्रति सम्राट् के और सम्राट् के प्रति प्रजाओं के कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। अनेक मन्त्रों की रचना भी इतनी स्पष्ट है कि उनके पढ़ते ही यह आभास हो जाता है कि अमुक मन्त्र राजा के मुख से कहा जाने वाला है और अमुक मन्त्र प्रजा या उनके प्रतिनिधियों के मुख से। राज्यारोहण के संस्कार को प्रभावशाली बनाने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्रग्रन्थों के रचयिताओं ने वेद के मन्त्रों का अपनी कल्पित विधियों में विनियोग कर लिया है। ये विनियोग और विधियाँ जब तक मन्त्रों के अर्थों के पीछे चलती हैं और उन अर्थों के स्पष्टीकरण के मूर्त रूप का कार्य करती हैं तब तक हम इन्हें स्वीकार कर सकते हैं। पर इन ग्रन्थों की सारी विधियों को ज्यों का त्यों मानने के लिए हम बाधित नहीं हैं। हम जिस दृष्टि से वेद का अध्ययन कर रहे हैं उस दृष्टि से वेद के राज्यारोहण सम्बन्धी स्थलों का विस्तृत भाष्य करने पर यदि यह प्रतीत हो कि इन ग्रन्थों के विनियोग और विधियाँ मन्त्रों के अर्थों से मेल नहीं खाती हैं तो हम उनका परित्याग भी कर सकते हैं। और उनके स्थान पर राज्यारोहण को प्रभावशाली बनाने के लिए, हम अपनी नई विधियों की कल्पना भी कर सकते हैं।

वेद में वाजपेय और राजसूय शब्द

इस सम्बन्ध में हम पाठकों का एक और बात की ओर ध्यान खींच देना आवश्यक समझते हैं। वेद के राज्यारोहण सम्बन्धी स्थलों में वाजपेय शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। सारे वेद में वाजपेय शब्द का प्रयोग केवल एक बार अथ० 11.7.7 में हुआ है। पर यह स्थल राज्यारोहण सम्बन्धी नहीं है। यहाँ पर राजनीति की किसी अन्य बात का भी वर्णन नहीं है। यहाँ 'उच्छिष्ट' नाम से परमात्मा की महिमा का वर्णन किया गया है। बताया गया है कि संसार की सारी चीजें उसी प्रभु के आधार पर हो रही हैं और एक प्रकार से उसी की ओर निर्देश करती हैं। उसी प्रसंग में राजसूय और वाजपेय आदि कुछ यज्ञों के नाम भी गिनाये गये हैं कि ये भी उसी प्रभु के आधार पर हो रहे हैं। पर ये यज्ञ क्या हैं और इनका स्वरूप क्या है इसका निर्णय इस उच्छिष्ट सूक्त में नहीं किया गया है।

राजसूय शब्द सारे वेद में केवल तीन बार आता है। एक तो इसी उच्छिष्ट सूक्त में और दूसरे अथ० 4.8.2 में। यहाँ यह शब्द राज्यारोहण के प्रकरण में आया है। यहाँ इसका अर्थ राजा बनाना या राजा का राज्यारोहण कराना ही है। तीसरे स्थान पर यह शब्द अथ० 19.33.1 में आया है। यहाँ यह दर्म नामक ओषधि के सम्बन्ध में आया है। यहाँ दर्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'वीरूपां राजसूयम्' अर्थात् दर्म ओषधियों में राजसूय करता है। तात्पर्य यह है कि दर्म ओषधियों का राजा है। यहाँ भी राजसूय का अर्थ राजा का निर्माण ऐसा ही है। इस प्रकार वेद

की ही अन्तःसाक्षी से यह तो सिद्ध हो जाता है कि राज्यारोहण के उत्सव और संस्कार को राजसूय नाम से भी कहा जा सकता है ।

वाजपेय के अर्थ का निर्णय वेद की अन्तःसाक्षी से होता प्रतीत नहीं होता । जिन मन्त्रों से वाजपेय यज्ञ किया जाता है उनमें राज्यारोहण का विषय तो है (यजु० 9.1-34) पर उनमें वाजपेय शब्द कहीं भी नहीं आता है । कुछ मन्त्रों में 'वाज' शब्द अवश्य आया है (यजु० 9.11,12) । संभवतः इसी के आधार पर वाजपेय शब्द की कल्पना कर ली गई हो । वाज शब्द का अर्थ अन्न और बल होता है । ब्राह्मण के वाजपेय में इसका अर्थ विद्या का बल हो जायेगा । शतपथ¹ ब्राह्मण में राजसूय को राजा का यज्ञ और वाजपेय को सम्राट् का यज्ञ बताया गया है । वेद से इस भेद का आधार ज्ञात नहीं होता । वाजपेय में विनियुक्त कुछ मन्त्रों में सम्राट् (यजु० 9.24) और साम्राज्य (यजु० 9.30) ये शब्द आते हैं । संभवतः इन्हीं के आधार पर वाजपेय को सम्राट् का यज्ञ कह दिया गया हो ।

राजसूय भी सम्राट् का यज्ञ

पर साम्राज्य (यजु० 10.27) शब्द का प्रयोग तो राजसूय के मन्त्रों में भी हुआ है । इसके अतिरिक्त अभिषिच्यमान राजा के सम्राट्-पन की सूचना देने वाले अन्य शब्दों का प्रयोग भी राजसूय के मन्त्रों में हुआ है । पीछे हमने देखा है कि सम्राट् को वेद में 'ज्येष्ठराज' और 'सजात राजाओं का मध्यमस्थ' नामों से भी कहा गया है । अभिषिच्यमान राजा ऐसा ही राजा है यह राजसूय के मन्त्रों से भली-भाँति प्रकट होता है । यजु० 10.18 में कहा गया है कि 'महते ज्येष्ठयाय महते जानराज्याय' अर्थात् 'इस यजमान को महती ज्येष्ठता के लिए और महान् जनराज्य के लिए राजा बनाओ ।' यजु० 10.29 में कहा गया है—'यतध्वं सजातानां मध्यमेष्ठ्याय' अर्थात् 'इस यजमान की सजात राजाओं में मध्यस्थता के लिए यत्न करो ।' इस वर्णन से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि राजसूय का यजमान भी सम्राट् है ।

इसके अतिरिक्त वेद के राज्यारोहण सम्बन्धी अन्य स्थलों पर दृष्टि डालने पर भी यही प्रतीत होता है कि अभिषिच्यमान राजा सम्राट् ही है । इन स्थलों में कहीं तो राजा के लिए इन्द्र और अग्नि शब्दों का प्रयोग किया गया है और कहीं वरुण आदि का । अग्नि और इन्द्र अधिराष्ट्र अर्थ में सम्राट् के वाचक हैं यह पिछले अध्यायों में देख चुके हैं । वरुण को भी कई स्थलों में सम्राट् कहा गया है । जहाँ अभिषिच्यमान राजा को इन्द्र आदि नामों से नहीं कहा गया है वहाँ

¹ राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राट् वाजपेयेन । अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम् । कामयेत वै राजा सम्राट् भवितुम् । अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम् । न सम्राट् कामयेत राजा भवितुम् । अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम् । स. यो वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राट् भवति स इदं सर्वं संबृङ्क्षते । शत० 5.1.1.26-27.

भी कई स्थानों पर निर्देश मिल जाते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि वह सम्राट् है। इस प्रकार राज्यारोहण सम्बन्धी अधिकांश स्थलों में सम्राट् के ही राज्याभिषेक का वर्णन उपलब्ध होता है। जिन 2-4 स्थलों में अभिषिच्यमान यजमान को राजा शब्द से कहा गया है, जहाँ उसके सम्राट् होने का द्योतक कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता, वहाँ भी राजा को सामान्य अर्थ में लेकर सम्राट् का ही वर्णन समझा जा सकता है।

फिर महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों से यह मालूम होता है कि सम्राट् बनना चाहने वाले राजा लोग ही राजसूय यज्ञ किया करते थे। महाराज युधिष्ठिर ने अपने सम्राट् बनने के अवसर पर ही राजसूय यज्ञ किया था। इस यज्ञ में अनेक राजाओं ने महाराज युधिष्ठिर को अपना सम्राट् स्वीकार किया था। सायणाचार्य ने भी अपने वेदभाष्य में राजसूय को सम्राट् का ही यज्ञ माना है। उन्होंने अथ० 19.33.1 की व्याख्या में लिखा है—‘राजसूय-यागः सर्वेषां राज्ञां स्वामिनः सार्वभौमस्य विषयः।’ अर्थात् ‘राजसूय सब राजाओं के स्वामी सार्वभौम राजा का याग है।’

इस प्रकार, शतपथ ब्राह्मणकार ने यह जो लिखा है कि राजसूय साधारण राजा का यज्ञ है और वाजपेय सम्राट् का इसका वेद में हमें कोई स्पष्ट आधार नहीं मिलता। वेद में तो सम्राट् के ही राज्यारोहण का उल्लेख मिलता है। वेद में तो माण्डलिक राजाओं के सम्बन्ध में यों भी बहुत कम उल्लेख पाये जाते हैं। हमने पीछे ‘संघीय राज्यप्रणाली’ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका आधार अधिकांश में सम्राट् के सम्बन्ध में जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले निर्देश हैं। सम्राट् के इन वर्णनों से उसके अधीन रहने वाले माण्डलिक राजाओं की कल्पना होती है।

माण्डलिक राजा और सम्राट् दोनों का ही अभिषेक हो

राज्याभिषेक के समय राजा और प्रजा को अपने पारस्परिक कर्तव्यों का स्मरण और उनके पालन की प्रतिज्ञा एक विशेष समारोह के साथ करनी चाहिए इसका उपदेश देने के लिए वेद ने तो सामान्यरूपेण सम्राट् के राज्यारोहण का वर्णन कर दिया है। प्रतीत यह होता है कि शतपथ आदि के निर्माताओं ने उन्हीं मन्त्रों में से कुछ को साधारण राजा के और कुछ को सम्राट् के अभिषेक के लिए नियत कर दिया है और दोनों के अभिषेक की विधियों में भी कुछ परिवर्तन कर दिया है। क्योंकि जिस प्रकार की भावना सम्राट् को अपनी प्रजाओं के प्रति रखनी है वैसी ही माण्डलिक राजा को अपनी प्रजाओं के प्रति रखनी है। प्रजा का पालन दोनों का एक जैसा कर्तव्य है। इसलिए हमें शतपथ आदि के विनियोग को देखकर यह हठ नहीं कर लेना चाहिए कि राजसूय में विनियुक्त मन्त्र आवश्यक तौर पर माण्डलिक राजा के अभिषेक का वर्णन करते हैं और वाजपेय में विनियुक्त मन्त्र आवश्यक तौर पर सम्राट् के अभिषेक का। हमें विनियोग से स्वतन्त्र होकर, मन्त्रार्थों पर विचार करना चाहिए। हम मन्त्रों के अर्थों पर स्वतन्त्र विचार करने के पश्चात् आवश्यकतानुसार विधियाँ बनाकर

उनका विनियोग माण्डलिक या सम्राट् के राज्याभिषेक में कर सकते हैं ।

वेद के राज्यारोहण¹ सम्बन्धी प्रकरणों पर स्वतन्त्र विचार करने के पश्चात् राज्याभिषेक की जिन मुख्य-मुख्य विधियों पर प्रकाश पड़ता है उनका उल्लेख नीचे किया जाता है ।

राजा सब तीर्थों के जलों से स्नान करे

राज्यारोहण सम्बन्धी स्थलों का अध्ययन करने पर एक प्रधान विधि जिसकी ओर पाठक का ध्यान खिंचता है वह यह है कि राजा राज्यारोहण के दिन सब तीर्थों से मंगाकर एकत्र किये हुए जलों से स्नान करे । इसकी सूचना देने वाले कुछ मन्त्र नीचे देखिए—

1. या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।
तासां त्वा सर्वाप्तमपामभिषिञ्चामि वर्चसा ॥

अथ० 4.8.5.

2. अपो देवा मधुमतीरगृष्णन्तूर्जस्वती राजस्वश्चित्तानाः ।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्त्याभिरिन्द्रमनयत्न्यरातीः ॥

यजु० 10.1.

अर्थात्—(1) जो दिव्य गुणों वाले (दिव्याः) जल अन्तरिक्ष में और पृथिवी में अपने सारभूत रस से (पयसा) सबको तृप्त करते हैं उन सब जलों के तेज से (वर्चसा) मैं तुझे स्नान कराता हूँ (अभिषिञ्चामि) । (2) जिन जलों को दिव्यगुणों ने (देवाः) ग्रहण कर रखा है, जो मधु से युक्त हैं, जो रस वाले (ऊर्जस्वतीः) हैं, जो राजाओं का निर्माण करने वाले (राजस्वः) हैं, जिन से मित्र और वरुण का अभिषेक किया जाता है, जिनके द्वारा अभिषेक करके सम्राट् को (इन्द्रं) शत्रुओं से पार पहुँचा देते हैं (अत्यनयन्) (उन जलों को मैं स्नान के लिए लेता हूँ) ।

प्रथम मन्त्र में अन्तरिक्ष और पृथिवी के सब जलों से स्नान कराया जा रहा है । अन्तरिक्ष के जलों का अभिप्राय वर्षा के जलों से है । पृथिवी पर झील, नदी, तालाब, समुद्र और कुओं के पानी मिलते हैं । इन सब प्रकार के जलों को लाकर उनसे राज्याभिषेक का स्नान कराना चाहिए । प्रचलित विधियों के अनुसार सब नदियों, सब तीर्थों और सब समुद्रों का पानी लाया जाता है । वर्षा आदि का पानी तो इसके साथ होता ही है । पुराने आचार्य मन्त्र के 'सब' शब्द की इतनी विस्तृत

¹ वेद के राज्यारोहण सम्बन्धी प्रधान स्थल निम्न हैं—

यजु० 9 और 10 अध्याय । यजु० 18 अध्याय । यजु० 20.1-13. मंत्र, यजु० 11.75-83, ऋग्० 10.124 सूक्त । ऋग्० 10.173 और 174 सूक्त । अथ० 1.9, अथ० 1.29, अथ० 2.6, अथ० 3.4, अथ० 3.29, अथ० 4.8, अथ० 6.87 और 88 सूक्त, अथ० 19.24 सूक्त, अथ० 13.1.1-20 मन्त्र ।

इनके अतिरिक्त अन्य कई स्थलों में भी राज्यारोहण के सम्बन्ध में निर्देश मिलते हैं ।

व्याख्या करते थे। दूसरे मन्त्र में 'सब' शब्द तो नहीं है, पर इस मन्त्र में पहले मन्त्र की तरह जल (अपः) शब्द बहुवचन में आया है। इस बहुवचन की ध्वनि भी यही है कि सब प्रकार का जल एकत्र करके उससे राज्याभिषेक कराया जाना चाहिए। इस मन्त्र में जलों को 'राजाओं का निर्माण करने वाले' कहा गया है। इस कथन का यह स्पष्ट भाव है कि राज्यारोहण से पहले राजा का सब प्रकार के जलों के स्नान होना चाहिए।

सामान्य राज्याधिकारियों का भी पद-ग्रहण के समय अभिषेक होना चाहिए

इसी मन्त्र में मित्र और वरुण के अभिषेक का भी उल्लेख है। मित्र और वरुण विशेष राज्याधिकारियों को कहते हैं। इस कथन की यह ध्वनि है कि जब मित्र वरुण आदि राज-कर्मचारी अपने पदों पर आरूढ़ हों तो उनका भी अभिषेक होना चाहिए। इनके अभिषेक की विधियाँ बनाई जा सकती हैं। अभिषेकपूर्वक पद ग्रहण करने से राजकर्मचारियों के अपने पद और उसके कर्तव्यों के प्रति विशेष निष्ठा तथा कर्तव्य-परायणता की वृत्ति जाग्रत होने में भारी सहायता मिलेगी।

स्नान के समय राजा कर्तव्य बोध कराने वाले मन्त्र का पाठ करता जाये

राजा स्नान के समय जलों के गुणों का वर्णन करने वाले मन्त्रों का उच्चारण करता रहे ऐसी सूचना निम्न मन्त्र से प्राप्त होती है—

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।

तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रेष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥

अथ० 1.9.3.

अर्थात्—'हे जातवेदा अग्ने (जातवेदः अग्ने) जिस उत्तम वेद के द्वारा (ब्रह्मणा) तुम सम्राट् के लिए (इन्द्राय) जलों को देते हो उससे इस यजमान की वृद्धि करो और इसे सजात राजाओं में श्रेष्ठता के पद पर बिठा दो।'।

मन्त्र में वेद-मन्त्रों के साथ जलों के लेने का वर्णन है। पुरोहित मन्त्र बोलकर जल राजा को देता है और वह मन्त्र बोलकर उसका ग्रहण करता है। तत्पश्चात् उस जल से स्नान करता है। यहाँ मन्त्रों के लिए वेद के वाचक 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ लक्षणा से यह शब्द वेद-मन्त्रों का वाचक होगा। वेद-मन्त्रों में उत्तम मन्त्र वे होंगे जिनमें कर्तव्य-बोध और प्रजापालन की ओर निर्देश होगा। वेद के अधिराष्ट्र अर्थ में 'अग्नि' का अर्थ सम्राट् का एक विशेष प्रकार का राज्याधिकारी होता है। परन्तु इस मन्त्र में अग्नि वेद मन्त्रोच्चारणपूर्वक राजा को स्नान करा रहा है। इसलिए यहाँ अग्नि का अर्थ वेद के ज्ञान से प्रकाशमान पुरोहित या ऋत्विक् करना होगा। अथवा यह सम्बोधन यज्ञ में प्रज्ज्वलित अग्नि का, जोकि अनेक भावों की प्रतिनिधि होती है, समझा जा सकता है।

इस मन्त्र से अभिषेक के समय राजा को कर्तव्य बोध कराने वाले वेदमन्त्रों के उच्चारण की विधि स्पष्ट प्रतिपादित होती है।

राज्याभिषेक के समय राजा राजसी ठाठ के विशेष वस्त्रों को धारण करे

राज्यारोहण के समय राजा को उस समय के लिए उपयुक्त विशेष प्रकार के राजसी वस्त्रों का धारण करना चाहिए ऐसी सूचना कई मन्त्रों से मिलती है। निम्न मन्त्र देखिये—

1. बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ।

अथ० 19.24.4.

2. जरां सु गच्छ परिधत्स्व वासो भवा गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।

अथ० 19.24.5.

3. परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ ।

अथ० 19.24.6.

अर्थात्—(1) ब्राह्मण (बृहस्पतिः) ने इस सोम राजा को पहिनने के लिए यह वस्त्र दिया है। (2) हे राजन् तू बुढ़ापे तक जी और यह वस्त्र धारण कर तथा राष्ट्र की गोवों की रक्षा करने वाला हो। (3) हे राजन् ! तुमने यह वस्त्र पहन लिया है, तुम मंगलकारी हो गये हो, राष्ट्र की बाने के योग्य भूमियों की (वापीनां) रक्षा करने वाले तुम बनो ।

इन मन्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि राज्यारोहण के समय पुरोहित राजा को उसके पहिनने के योग्य विशेष वस्त्र प्रदान करता है और वह उससे लेकर उन्हें धारण करता है । जो वस्त्र राजा के पहिनने के होंगे वे विशेष राजसी ठाठ के तो होने ही चाहिए जिससे उसके आतंक और गौरव का प्रभाव प्रजाओं पर पड़ सके ।

सोम न्यायाधीश को कहते हैं । यहाँ राजा को सोम कहा गया है । क्योंकि वह अन्ततोगत्वा न्याय-विभाग का भी प्रतिनिधि और उत्तरदाता है ।

राजा सुन्दर रथ में बैठकर यज्ञभूमि में आये और वहाँ से जाये

जब राजा राज्याभिषेक के लिए निश्चित की हुई भूमि में आवे और वहाँ से जावे तो उसे सुन्दर रथ पर बैठकर आना-जाना चाहिए । इस आशय को प्रकट करने वाले अनेक मन्त्र राज्यारोहण सम्बन्धी स्थलों में आते हैं । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

मा त इन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासो अब्रह्मता विदसाम ।

तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् यमसे स्वश्वान् ॥

यजु० 10.22.

अर्थात्—‘हे वज्रहस्त सम्राट् (इन्द्र) तुम जिस रथ में बैठते और जिसके सुन्दर घोड़ों को और उनकी लगामों को वश में रखते हो तुम्हारे उस रथ की बदौलत हे शत्रुओं का शीघ्र पराभव कर देने वाले (तुराषाट्) हम अजितेन्द्रिय (अयुक्तासः) होकर ब्रह्म-ज्ञान के अभाव में (अब्रह्मता) नष्ट न हों (मा विदसाम) ।’

हमने यहाँ इस मन्त्र के पूर्वाह्न का अर्थ पीछे किया है और उत्तराह्न का अर्थ पहले किया है । मन्त्र का भाव भाषा में इसी प्रकार अर्थ करने वे व्यक्त हो सकता था । मन्त्र के उत्तराह्न में राजा के अभिषेक स्थल में सुन्दर घोड़ों से युक्त रथ में बैठकर आने का स्पष्ट वर्णन है । मन्त्र के पूर्वाह्न का यह भाव है कि राजा के इस रथारोहण की वदौलत राष्ट्र के लोगों में अजितेन्द्रियता और अब्रह्मज्ञानता नहीं फैलने पाती और इसी कारण राष्ट्र का कभी नाश नहीं होने पाता । वे ही राष्ट्र नष्ट होते हैं जिनके लोगों में जितेन्द्रियता और ब्रह्मज्ञान नहीं रहते । राजा को राज्याभिषेक के समय राज-रथ पर चढ़ते समय यह निश्चय कर लेना चाहिए कि उसने अपने राज्य काल में प्रजाओं में जितेन्द्रियता और ब्रह्मज्ञान का अभाव नहीं रहने देना । अभिषेक के समय रथ पर बैठना राज्य के सर्वत्रगामी प्रभाव का सूचक है ।

राजसिंहासन

राज्यारोहण के संस्कार के समय राजा को एक विशेष प्रकार के प्रभावशाली मञ्च या गद्दी पर बिठाना चाहिए । इस मञ्च की आकृति व्याघ्र या सिंह की तरह होनी चाहिए । इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

1. स्योनाऽसि सुषदाऽसि क्षत्रस्य योनिरसि ।

स्योनामा सीद सुषदामा सीद क्षत्रस्य योनिमा सीद ॥ यजु० 10.26.

2. नि पसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।

साम्राज्याय सुक्रतुः ॥

यजु० 10.27.

3. व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।

अथ० 4.8.4.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे मञ्च तुम सुखदायी हो, आराम से तुम पर बैठ जा सकता है, तुम क्षत्रिय का स्थान हो, हे राजन् तुम इस सुखदायी मञ्च पर बैठो, इस आराम से बैठ सकने योग्य मञ्च पर बैठो, इस क्षत्रिय के स्थान मञ्च पर बैठो । (2) यह धृतव्रत, उत्तम कर्म करने वाला अथवा प्रजाओं के अनिष्टों को रोकने वाला अथवा प्रजाओं के वरणीयः (वरुणः)¹ राजा प्रजाओं पर (पस्त्या) साम्राज्य करने के लिए इस मञ्च पर बैठ गया है । (3) हे राजन् तुम व्याघ्र जैसे पराक्रम वाले हो (व्याघ्रः) व्याघ्र की आकृति वाले (वैयाघ्रे) इस मञ्च पर बैठे हुए तुम इन बड़ी-बड़ी दिशाओं में विक्रम के काम करो ।

पहले दो मन्त्रों में राजा के राजगद्दी पर बैठने का वर्णन है । तीसरे मन्त्र में इस गद्दी के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । कहा गया है कि वह गद्दी व्याघ्र की आकृति की होनी चाहिए । व्याघ्र सिंह को कहते हैं । सिंह की आकृति का होने के कारण ही राजा के आसन का नाम लोक भाषा में सिंहासन पड़ गया है । राजा

¹ यजमानो वरुण इति उवटः । वरुणोयजमानः । वारयत्यनिष्टमिति वरुणः इति महीधरः ।

पराक्रम की मूर्ति है। उसका आसन भी पराक्रम की मूर्ति व्याघ्र पर ही होना चाहिए।

यज्ञाग्नि प्रज्वलित की जाये

राज्यारोहण के समय यज्ञाग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। राजा और प्रजा के प्रतिनिधि ऋत्विक् लोग यज्ञवेदि पर बैठकर परस्पर के कर्तव्यों और प्रतिज्ञाओं के द्योतक मन्त्रों का पाठ करके इस अग्नि में घृतादि की आहुतियाँ देंगे। यह आहुति-विसर्ग अपने कर्तव्य के पालन में आत्मोत्सर्ग की भावना का द्योतक होता है। अपनी आहुति देकर भी हम अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे यह यज्ञाग्नि में आहुति देने का भाव होता है। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

1. नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नी रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।

इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥

यजु० 11.76.

2. अग्नये गृहपतये स्वाहा ।

यजु० 10.23.

3. वेदिषत् ।

यजु० 10.24.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) पृथिवी के मध्य में अर्थात् राष्ट्र की राजधानी में अग्नि के अच्छी तरह प्रदीप्त होने पर, बड़े धन और उससे प्राप्त होने वाली पुष्टि के लिए, अन्न से हमें आनन्दित करने वाले, बड़े प्रशंसनीय, सत्कार करने योग्य और संगति करने योग्य, विजयशील, सेनाओं में शत्रुओं का पराभव करने वाले, अग्रणी सम्राट् को (अग्नि) हम राज्य के लिए बुलाते हैं। (2) घरों के रक्षक (गृहपतये) अग्नि के लिए स्वाहा। (3) यह राजा यज्ञवेदि पर बैठने वाला है।

ऊपर उद्धृत प्रथम मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हम राजा का चुनाव नामक अध्याय में कर आये हैं। मन्त्र में पृथिवी पर अग्नि प्रज्वलित हो जाने पर अग्नि को राज्य के लिए बुलाया जा रहा है। प्रज्वलित किया जाने वाला अग्नि और बुलाया जाने वाला अग्नि स्पष्ट ही दो भिन्न पदार्थ हैं। यह बुलाया जाने वाला अग्नि सम्राट् का वाक्त्रक है। मन्त्र में अग्नि प्रज्वलित होने पर सम्राट् को राज्य के लिए बुलाया जा रहा है—उसे राज्य करने की स्वीकृति दी जा रही है। यह वर्णन स्पष्ट सूचित करता है कि यज्ञवेदि में अग्नि प्रज्वलित करके तत्साक्षिक मन्त्रोक्त प्रतिज्ञाएँ करने के पश्चात् ही राजा और प्रजा का सम्बन्ध स्थापित होता है। दूसरे मन्त्र में गृहपति अग्नि के लिए स्वाहा किया गया है। गृहस्थों के जिस अग्नि से सारे कार्य निष्पन्न होते हैं उस अग्नि का नाम गृहपति अग्नि या गार्हपत्याग्नि होता है। गृहपति अग्नि के लिए दी गई आहुतियों के इस वर्णन से भी यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने की स्पष्ट सूचना मिलती है। तीसरे मन्त्र में अभिषिच्यमान राजा को वेदिषत् अर्थात् यज्ञवेदि पर बैठने वाला कहा गया है। वेदि उस कुण्ड को कहते हैं जिसमें अग्नि प्रज्वलित की जाती है। लक्षणा से

कुण्ड के पास के बैठने के स्थान को भी वेदि कह देते हैं। राजा के वेदिषत् विशेषण से यह असंदिग्ध रूप में सूचित होता है कि वह यज्ञ कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करके उसके पास बैठकर उसमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुतियाँ देता है। इस प्रकार राज्यारोहण के समय यज्ञ करना उसका एक आवश्यक अंग है।

यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुतियाँ देनी चाहिए यह राज्यारोहण प्रकरणों के अनेक मन्त्रों में आने वाले 'स्वाहा' शब्द के प्रयोगों से भी ध्वनित होता है। स्वाहा शब्द सुन्दर संकल्पों के साथ अग्नि में आहुति छोड़ने का सूचक है।

राजा और प्रजा के प्रतिनिधि मातृभूमि को नमस्कार करें

राज्याभिषेक के समय राजा और प्रजा के प्रतिनिधियों को अपनी मातृभूमि को नमस्कार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या ।

यजु० 9.22.

अर्थात्—'माता भूमि के लिए नमस्कार हो, माता भूमि के लिए नमस्कार हो।'

ऋत्विक् लोग राजा को राज्यारोहण कराते समय उसके कर्तव्यों का उपदेश कर रहे हैं। उसी प्रसंग में वे राजा को सम्बोधन करके कह रहे हैं कि हम सबका माता भूमि को नमस्कार हो, हम सबका माता भूमि को नमस्कार हो। राजा को लक्ष्य करके ऋत्विजों द्वारा कहे गये इस वाक्य को यह स्पष्ट किया है कि राज्याभिषेक के समय राजा और प्रजा के प्रतिनिधियों को अपनी मातृभूमि को नमस्कार करना चाहिए।

राज्याभिषेक के समय राजा और उसके माता-पिता के नामों का तथा राष्ट्र के नाम का उल्लेख होना चाहिए

जब राजा का राज्याभिषेक हो तो प्रजा के सम्मुख उसके राज्यारोहण की घोषणा करते हुए उसके और उसके माता-पिता के नामों को सुनाया जाना चाहिए। राजा को राज्य करने के लिए दिये जाने वाले अधिकारपत्र पर भी उसके और उसके माता-पिता के नामों का उल्लेख रहना चाहिए। साथ ही राष्ट्र के नाम का उल्लेख भी होना चाहिए। इस संबंध में निम्न मन्त्र देखिए—

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते
ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ।
इमममुप्य पुत्रममुष्य पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी
राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ॥

यजु० 9.40.

अर्थात्—'हे नाना व्यवहारशील प्रजाजनो (देवाः) इस यजमान राजा को शत्रुरहित

बना दो, जिससे यह महान् क्षत्रिय हो सके, जिससे इसे महती ज्येष्ठता प्राप्त हो सके जिससे इसे महान् जनराज्य प्राप्त हो सके, जिससे इसे सम्राट् का (इन्द्रस्य) वीर्य प्राप्त हो सके (इन्द्रियाय) इसका यह नाम है, यह अमुक पिता का पुत्र है, यह अमुक प्रजा के लिए राजसिंहासन पर बैठ रहा है, हे अमुक प्रजाजनों यह तुम्हारा राजा है, हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम है ।'

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि राजा के राज्यारोहण की घोषणा में राजा के, उसके माता-पिता के और जिस राष्ट्र का वह राजा बन रहा है उसके नामों का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए । इसके बिना राज्यारोहण की क्रिया पूर्ण वैधानिक (legal) नहीं बनती ।

मन्त्र के अन्तिम भाग में जो यह कहा गया है कि 'हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम है' इसका अभिप्राय समझ लेना चाहिए । यों तो वह राजा सारे राष्ट्र के ब्राह्मणों का भी राजा है । यजु० 9.21. में प्रजा के प्रतिनिधि होकर ऋत्विक् ब्राह्मण कह ही रहे हैं कि 'प्रजापते: प्रजा अभूम'—हम इस प्रजापति (राजा) की प्रजायें हो गये हैं । यहाँ ब्राह्मणों के अपना राजा सोम को कहने का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण लोग राजा को राजा मानते हुए भी असल में अपना राजा सोम अर्थात् शान्ति और न्यायगुणयुक्त परमात्मा को मानते हैं । वे राजा से नहीं डरते हैं । वे राजा की न्याय-युक्त आज्ञाओं का ही पालन करते हैं, अन्याययुक्त आज्ञाओं का नहीं । क्योंकि उनका असली राजा प्रभु उन्हें न्यायाश्रित राजा से डरने की ही आज्ञा देता है ।

अभिषेक के समय प्रजाजन नये राजा की प्रजाएँ होने की घोषणा करें

राज्याभिषेक के समय प्रजाओं को नये राजा के प्रति स्वीकृति प्रकाशित करने के लिए सभामण्डप में घोषणा करनी चाहिए कि हम आज से इस राजा की प्रजा बनती हैं । निम्न मन्त्र से यह भाव निकलता है—

प्रजापते: प्रजा अभूमं स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम ।

यजु० 9.21.

अर्थात्—'हम इस राजा की (प्रजापते:) प्रजा हो गये हैं, हम नाना व्यवहारशील प्रजाजन (देवा:) इसे राजा प्राप्त करके सुख को (स्व:) प्राप्त हो गये हैं, अमृत हो गये हैं ।'

ऋत्विक् लोग इस मन्त्र से आहुति देते समय प्रजाओं के प्रतिनिधि के रूप में इसका उच्चारण कर रहे होते हैं । इस मन्त्र का यह स्पष्ट भाव है कि राज्यारोहण के समय प्रजाओं को नये राजा की प्रजायें होने की घोषणा करनी चाहिए और उसके राजा बनने पर हर्ष प्रकट करना चाहिए ।

प्रजाओं की स्वीकृति से राजा सिंहासन पर बैठेगा

राज्याभिषेक के समय राजा को प्रजाओं को सम्बोधन करके उनसे सिंहासन

पर बैठने की, राष्ट्र का शासन करने की, स्वीकृति माँगनी चाहिए। राजा के प्रजाओं से यह स्वीकृति माँगने पर ऋत्विक् लोग प्रजाओं की ओर देखकर कहेंगे कि यह राजा तुमसे राष्ट्र का शासन करने की स्वीकृति माँग रहा है, तुम इसे स्वीकृति प्रदान करो। प्रजाओं के स्वीकृति जता देने पर ही उसे सिंहासन पर बैठने का अधिकार होगा। यजुर्वेद के 10वें अध्याय के तीसरे और चौथे मन्त्रों में इसी बात का उल्लेख है। इन मन्त्रों में राजा प्रजाओं के अनेक गुणों को बखान करते हुए उनसे राष्ट्र की याचना करता है। पुरोहित प्रजाओं से इसके लिए स्वीकृति दिलवाता है। दोनों मन्त्र बहुत बड़े-बड़े हैं। मन्त्रों में एक वाक्य राजा का है और उसके बाद दूसरा वाक्य पुरोहित का है। निरन्तर यही क्रम है। उदाहरण के लिए तीसरे मन्त्र का प्रथम वाक्य देखिए। इसमें राजा प्रजाओं से कह रहा है—

अर्थत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा।

यजु० 10.3.

अर्थात्—‘हे प्रजाओ ! तुम (अर्थतः) अर्थ अर्थात् प्रयोजन या ऐश्वर्य को लक्ष्य में रख कर चलने वाली, व्यवहार करने वाली (स्थ) हो (राष्ट्रदाः) तुम राष्ट्र देने वाली हो (मे) मुझे (राष्ट्रं) राष्ट्र (दत्त) दो (स्वाहा) मैं विधिपूर्वक वाणी से माँग रहा हूँ।’

इस पर अगले वाक्य में ऋत्विक् प्रजाओं को सम्बोधन करके कहता है—

अर्थत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त।

यजु० 10.3.

अर्थात्—‘हे प्रजाओ तुम प्रयोजन या ऐश्वर्य को लक्ष्य में रखकर चलने वाली, व्यवहार करने वाली हो, राज्य देने वाली हो, इसको राज्य प्रदान करो।’

इसी प्रकार दोनों मन्त्रों में अभिषिच्यमान राजा ने बहुत से वाक्यों द्वारा प्रजा से राज्य की याचना की है और पुरोहित ने प्रजाओं को उसे राज्य प्रदान करने की सलाह दी है। उपस्थित प्रजायें अपनी स्वीकृति को किस प्रकार जतलायेंगी इसका उल्लेख मन्त्रों में नहीं हुआ है। प्रजाओं की स्वीकृति को प्रकाशित करने के लिए अनेक उपाय किये जा सकते हैं। एक उपाय यह भी हो सकता है कि उपस्थित प्रजा को कह दिया जाये कि पुरोहित के बोलने के पश्चात् वे स्वीकृति के लिए अपने सिरों को झुकायें। अथवा प्रजा में से कुछ व्यक्तियों को नियत कर दिया जाये और उनसे कह दिया जाये कि पुरोहित के बोलने के पश्चात् वे प्रजाओं की ओर से उच्च स्वर से कह दें कि हम इस राजा को राष्ट्र देते हैं—इसे शासन करने की स्वीकृति देते हैं। स्मरण रहे कि यह स्वीकृति राज्याभिषेक संस्कार की एक क्रिया है। यों तो प्रजायें राजा को अपने मत (votes) डाल कर पहले चुन ही चुकी होंगी। राजा पर यह अंकित करने के लिए कि वह प्रजाओं की इच्छा से ही उन पर शासन कर सकता है अभिषेक संस्कार में यह पद्धति रखी गई है। भाव यह है कि वह प्रजाओं का चुना हुआ शासक है यह बात राजा को भी कभी नहीं भूलनी चाहिए।

राजसूय में राजा की मृत्यु

राज्यारोहण के प्रकरणों में ऐसे निर्देश भी आते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि राजसूय के समय ही राजा पर यह भी भलीभाँति प्रकट कर दिया जाना चाहिए कि यदि वह ठीक ढंग से नहीं चला, यदि वह उच्छृंखल हो गया और उसने प्रजा पर अत्याचार आरंभ कर दिये तो उसे राजसिंहासन से भी उतार दिया जायेगा— उसकी राजा रूप में मृत्यु भी कर दी जायेगी। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

तस्य मृत्युश्चरति राजसूयम् ।

अथ० 4.8.1.

अर्थात्—'उस अभिषिच्यमान राजा के राजसूय में उसकी मृत्यु भी चलती है ।'

राजा के राजसूय में उसकी मृत्यु के चलने का स्पष्ट रूप से यही अभिप्राय है कि राजसूय के समय राजा को असंदिग्ध रूप में समझा दिया जाना चाहिए कि यदि उसने न्यायानुकूल रीति से प्रजा का पालन न किया और उत्पथगामी हो गया तो उसे राज्य से च्युत कर दिया जायेगा और इस प्रकार उसकी राजा रूप में मृत्यु कर दी जायेगी। राजा को राज्याधिकार से वंचित कर देना उसकी राजा रूप में मृत्यु हो जाना ही है। अत्याचारी होने पर राजा को यह मौत मिलेगी यह उसे राज्याभिषेक के समय भी समझ लेना चाहिए और उसके बाद भी सदा स्मरण रखना चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण (5.4.4.7) के राजसूय प्रकरण में एक विधि है। उस विधि में राजा की पीठ पर धीरे-धीरे डण्डे लगाये जाते हैं। राजा की पीठ पर दण्डपात करने की इस विधि का यही अभिप्राय होता है कि राजा को सचेत कर दिया जाये कि अन्याय मार्ग पर चलने पर उसे भी दण्ड मिलेगा और उसे राजसिंहासन से च्युत कर दिया जायेगा। शतपथ की इस विधि का आधार वेद के उपर्युक्त प्रकार के प्रसंग ही मालूम होते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण और राजा की एक विकट प्रतिज्ञा

वेद के इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर ऐतरेय ब्राह्मण में राजा के राजसूय यज्ञ अर्थात् राज्याभिषेक के समय राजा से एक विकट प्रतिज्ञा कराई गई है। राज्याभिषेक के समय पुरोहित प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में राजा से कहता है कि 'हे राजन् यदि तुम प्रजा से द्रोह करोगे तो जिस दिन तुम पैदा हुए थे और जिस दिन तुम मरोगे, इस बीच में तुमने जो इष्टापूर्त किये होंगे, जो लोक-परलोक बनाया होगा, जो सुकृत किये होंगे वह सब और तुम्हारी आयु तथा तुम्हारी सन्तानें नष्ट हो जायेंगी।' पुरोहित के ऐसा कहने पर उत्तर में राजा प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं जिस दिन पैदा हुआ था और जिस दिन मरूँगा इस बीच में मेरे जितने इष्टापूर्त हैं, जितने लोक-परलोक को बनाने वाले कर्म हैं, जितने सुकृत हैं, मेरी आयु और मेरी

सन्तानें, यह सब कुछ मेरा नष्ट हो जाये, यदि मैं प्रजा से द्रोह करूँ ।¹ प्रजा से द्रोह न करने की, प्रजा को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाने की, प्रत्युत प्राण-पण से प्रजा का सर्वविध कल्याण करने की यह विकट प्रतिज्ञा करने पर ही राजा सिंहासन पर बैठ सकता था । प्राचीन भारत में राज्यारोहण के समय प्रत्येक राजा को अपनी प्रजा से द्रोह न करने और सदा उसके कल्याण में लगे रहने की इस प्रकार की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी ।

राजा सब देवों का रूप है

राज्याभिषेक के समय राजा को सब देवों का रूप कहा जाता है । इन्द्र सम्राट् का वाचक है और अग्नि, वरुण आदि शेष देव सम्राट् के अधीन काम करने वाले विभिन्न विभागों के उच्च राज्याधिकारी हैं । इन दूसरे देवों को सम्राट् का मन्त्रिमण्डल कहा जा सकता है । अभिषेक के समय राजा को इन सब देवों का—राज्य के विभिन्न विभागों के इन सचिवों का—रूप कहने का यह अभिप्राय है कि राजा को यह समझ लेना चाहिए कि अन्ततोगत्वा राज्य के सभी विभागों के सुचारु रूप से संचालन का उत्तरदायित्व उसका है । उसे देखना होगा कि राज्य के सब विभाग ठीक चल रहे हैं—हरेक विभाग प्रजापालन के अपने-अपने कामों को भलीभाँति कर रहा है । यदि कोई विभाग अपने कार्यों को ठीक से नहीं कर रहा है तो यह राजा का दोष है । राजा को उस विभाग को ठीक करना होगा या फिर उसे स्वयं राज्य से च्युत होना होगा । राज्य के सब अधिकार अन्त में राजा में केन्द्रित हैं । इसलिए वह अन्ततः राज्य की प्रत्येक अच्छी और बुरी बात का उत्तरदाता है । इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

1. सोमं राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे ।

आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्ममाणं च बृहस्पतिं स्वाहा ॥ यजु० 9.26.

2. अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।

वाचं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनं स्वाहा ॥ यजु० 9.27.

3. प्र नो यच्छ्रुत्वर्यमा प्र पूषा बृहस्पतिः ।

यजु० 9.29.

4. सविताऽसि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्योजा इन्द्रोऽसि विश्वोजा रुद्रोऽसि सुशेवः ।

यजु० 10.28.

मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हम इस सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य और ब्राह्मण बृहस्पति रूप

¹ पुरोहित वाक्यम्—यां च राक्षीमजायेथा यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं ते लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीय यदि मे द्रुह्येरिति ।

राज्ञः प्रतिवचनम्—यां च राक्षीमजायेहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीया यदि ते द्रुह्येयमिति । ऐतरेय ब्राह्मण अ० 39 ख० 2 क० 15 ।

राजा को अपनी रक्षा के लिए (अवसे) राज्यासन पर बुलाते हैं (अन्वार भामहे) ।¹ (2) हे प्रभो इस अर्यमा, वृहस्पति, वाक्, विष्णु, सरस्वती और बलशाली (वाजिन) सविता रूप सम्राट् को (इन्द्र) हमें मंगल प्रदान करने के लिए (दानाय) प्रेरित कीजिए (चोदय) । (3) अर्यमा, वृहस्पति और पूषा रूप यह राजा हमें अभीष्ट मंगल प्रदान करे । (4) हे अभिषिच्यमान यजमान तू सत्य उत्पन्न करने वाला सविता है, सत्य में बल समझने वाला वरुण है, प्रजाओं में अपना बल मानने वाला सम्राट् (इन्द्र) है, मंगलकारी रुद्र है ।

इन मन्त्रों में सम्राट् (इन्द्र) को अग्नि, सोम, आदित्य, विष्णु, सूर्य, वृहस्पति, अर्यमा, सरस्वती, वाक्, सविता, पूषा और रुद्र नामों से कहा गया है । आदित्य शब्द प्रायः इन्द्र, मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष, अंश, मार्तण्ड, धाता, विवस्वान् सूर्य और सविता के लिए आया करता है । इनमें से जो नाम ऊपर उद्धृत मन्त्रों में पृथक् नहीं गिनाये गये हैं वे आदित्य शब्द से समझ लेने चाहिए । इनके अतिरिक्त अन्य अनेक मन्त्रों में कई और देवताओं के नाम भी आये हैं । यहाँ हमने ऊपर उद्धृत मन्त्रों को ही इसलिए दिया है क्योंकि इनमें एक स्थान में सबसे अधिक नामों का उल्लेख है । इनमें से कुछ प्रमुख देवताओं का राज्याधिकारी के रूप में क्या स्वरूप है इसकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं । राजा को अभिषेक के समय इन सब देवताओं का रूप कहना यह स्पष्ट द्योतित करता है कि अभिषेक के समय राजा पर यह अच्छी तरह प्रकाशित कर देना चाहिए कि राष्ट्र के सब विभागों के सुचारु रूप से संचालन की जिम्मेवारी उसी की है । इस उत्तरदायित्व को समझ कर उसे सिंहासनासीन होना चाहिए ।

राज्य के प्रत्येक विभाग के अधिकारी से राजा सहायता की याचना करे

जब नया राजा राज्यारोहण करने लगे तो जहाँ उसे पीछे निर्दिष्ट की गई रीति से प्रजाओं की स्वीकृति लेनी चाहिए वहाँ उसे राज्य के हरेक विभाग के अधिकारी या सचिव से भी सहायता की याचना करनी चाहिए । अभिषेक के समय जब सब मंत्री व लोग नये राजा को अपना पूर्ण सहयोग देने का वचन दे देंगे तो जहाँ वे राज-भक्ति के लिए वचन-बद्ध हो जायेंगे वहाँ नया राजा भी विश्वासपूर्वक शासन की बागडोर अपने हाथ में ले सकेगा । और इस प्रकार शासन सुचारु रूप से चलेगा । इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

1. सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा

पशुभिरिन्द्रेणास्मे वृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाग्निना

तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्र सर्पामि ॥

यजु० 10.30.

¹ आह्वानं कुर्म इति महीधरः ।

2. त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशः सुराधसः ।

बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे ।

देवा देवैरवन्तु मा ॥

यजु० 20.11.

अर्थात्—(1) सविता जोकि प्रेरणा करने वाला है, सरस्वती जो कि वाणी देती है, त्वष्टा जोकि पदार्थों के नाना रूपों का निर्माण करता है, पूषा जोकि पशुओं का पालन करता है, बृहस्पति जोकि वेदज्ञ ब्राह्मण है, वरुण जोकि बलशाली है, अग्नि जोकि तेजस्वी है, सोम जोकि सब पर शासन करता है, इन सब द्वारा तथा दसवें देव विष्णु द्वारा प्रेरित किया हुआ है (प्रसूतः)¹ और स्वयं अपने (अस्मे)² सम्राट् रूप द्वारा (इन्द्रेण) प्रेरित किया हुआ राजसिंहासन पर चढ़ता हूँ (प्रसर्पामि) । (2) उत्तम सिद्धि दिलाने वाले (सुराधसः), तीन प्रकार के (त्रयाः) ग्यारह (एकादश) देव जोकि मिलकर तैंतीस (त्रयस्त्रिंशः) होते हैं, बृहस्पति जिनका पुरोहित है, सविता की प्रेरणा होने पर (सवे) देवों के साथ मेरी रक्षा करें ।

प्रथम मन्त्र में सम्राट् (इन्द्र) सहित दस देवों का परिगणन हुआ है । राज्य के सामान्य संचालन में इन देवों के विभाग सबसे अधिक आवश्यक हैं । इसलिए यहाँ उपलक्षण रूप में इन दस का ही परिगणन कर दिया गया है । राजा अपनी प्रेरणा और अन्य देवों के उपलक्षणभूत बाकी नौ देवों की प्रेरणा से सिंहासन पर बैठ रहा है । प्रेरणा का अर्थ यहाँ स्वीकृति या अनुमति है । राजा राज्यारूढ़ होना चाहता है इसलिए उसकी अपनी स्वीकृति तो है ही । पर वह इसके साथ ही राजा के विभागाध्यक्ष देवों की, मंत्रियों की, स्वीकृति भी लेना चाहता है । उनकी स्वीकृति लेकर ही वह सिंहासनासीन होता है । दूसरे मन्त्र में राज्यासीन हो रहा राजा तैंतीस देवों से अपनी रक्षा की प्रार्थना कर रहा है । इन तैंतीस देवों का अधिराष्ट्र स्वरूप क्या है यह विचारणीय है । हमने पहले 24 देवताओं के स्वरूप का निर्धारण करके उनमें से 19 को इन्द्र के मन्त्रिमण्डल के सदस्य स्थिर किया है और इन्द्र को सम्राट् स्थिर किया है । देवों को तैंतीस कहकर शायद वेद मन्त्रिमण्डल के सदस्य 33 होने की ओर संकेत करता है । तब शेष 14 मंत्री कौन-कौन देवता होंगे इस संबंध में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है । मन्त्र में कहा गया है कि ये 33 देव देवों के साथ रक्षा करें । 33 देवों से पृथक् ये और देव इन्हीं 33 देवों के, विभागाध्यक्ष मंत्रियों के, अधीन काम करने वाले सैंकड़ों कर्मचारी होंगे । प्रत्येक विभागाध्यक्ष अपने विभाग में काम करने वाले कर्मचारियों की ओर अपनी ओर से सम्राट् को सहयोग का आश्वासन देगा । इस प्रार्थना का यही भाव है । इस प्रकार इन मन्त्रों के वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि राज्याभिषेक की विधि में सम्राट् द्वारा राज्य के विभागाध्यक्ष देवों की औपचारिक स्वीकृति लेने की भी एक विधि रहनी चाहिए । यह स्वीकृति औपचारिक ही होगी । क्योंकि राजा का चुनाव तो प्रजाओं के

1 आज्ञप्तः इति महीधरः ।

2 अस्मे इति इह तृतीयान्तम् । इन्द्रेण मया । इति उवटः ।

द्वारा हो चुका है। इस चुनाव को तो सब राज्याधिकारियों को भी मानना ही पड़ेगा। राज्याधिकारियों द्वारा स्वीकृति की यह विधि तो राज्याधिकारियों द्वारा नये राजा या राष्ट्रपति के प्रति अपनी भक्ति और निष्ठा का प्रकाशनमात्र है।

उद्धृत दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि सविता देव की प्रेरणा (स्वीकृति या आज्ञा) हो जाने पर देव मेरी रक्षा करे। हमने पीछे देखा है कि सविता राजनियम निर्माण करने वाले विभाग का अध्यक्ष है। पहले सविता की स्वीकृति हो जाने का भाव यह है कि जब प्रजायें अपने मत (votes) देकर किसी को राजा निर्वाचित कर लें तो उसके सम्बन्ध में राज सभा (Legislature) में प्रस्ताव स्वीकृत होना चाहिए कि अमुक विधि से अमुक व्यक्ति राष्ट्र का राजा है। यह प्रस्ताव स्वीकृत होने पर राज्याभिषेक किया जाये। और उस अभिषेक में एक विधि राज्य के विभागाध्यक्षों से स्वीकृति लेने की भी हो।

अभिषेक के समय विभागाध्यक्षों की स्वीकृति लेने की यह विधि जैसाकि ऊपर कहा गया है एक औपचारिक विधिमात्र होगी। जिसका भाव राज-कर्मचारियों में राज-भक्ति की भावना को दृढ़ करना और सम्राट् में राजकर्मचारियों के प्रति विश्वास को बढमूल करना है। यों प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति, जिनमें राज कर्मचारी भी सम्मिलित हैं, राजा के चुनाव में अपना मत दे ही चुका होगा। अभिषेक में इस विधि द्वारा उन कर्मचारियों से भी राज-भक्ति और राजा के प्रति निष्ठा और सहयोग की प्रतिज्ञा ले ली जायेगी जिन्होंने चुनाव के समय अपना मत उसके लिए न देकर किसी और व्यक्ति के लिए दिया होगा।

राजा की ध्रुवता की प्रार्थना की जाये

राज्याभिषेक के समय प्रजाजनों को राजा की ध्रुवता की प्रार्थना करनी चाहिए। उन्हें प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि अभिषिच्यमान राजा चिरकाल तक उन पर राज्य करता रहे। अभिषिच्यमान राजा से भी उन्हें कहना चाहिए कि हम चाहते हैं कि आप देर तक हम पर शासन करते रहें। ऐसी भावना जिन मन्त्रों से प्रकाशित होती है उनमें से कुछ आगे दिये जाते हैं—

1. आ त्वाहार्षमन्तरभूध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥

अथ० 6.87.1; ऋग्० 10.173.1; यजु० 12.11.

2. इहैवंधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् ।

इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥

अथ० 6.87.2; ऋग्० 10.173.2.

3. ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।

ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥

अथ० 6.88.1; ऋग्० 10.173.4.

4. ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून्ध्रूयतोऽघरान्पादयस्व ।

सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्धुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥

अथ० 6.88.3.

अर्थात्—(1) हे राजन् हमने तुम्हें प्रजाओं में से बुलाया है, तुम शासन करने के लिए राज्यचक्र के भीतर रहो, ध्रुव और अवचल होकर सिंहासन पर बैठो, सारी प्रजाएँ तुम्हें चाहें और कभी राज्य तुमसे अलग न हो। (2) हे राजन् तुम इसी सिंहासन पर रहो, इससे च्युत मत होवो, पर्वत की तरह यहाँ अवचल रहो, पूर्ववर्ती सम्राट् की तरह (इन्द्र इव) ध्रुव होकर सिंहासन पर बैठो, यहाँ बैठकर राष्ट्र का धारण करो। (3) दूलोक ध्रुव है, पृथिवी ध्रुव है, यह सारा जगत ध्रुव है, ये पर्वत ध्रुव हैं, हे प्रभो प्रजाओं का यह राजा भी ध्रुव होकर रहे। (4) हे राजन् तुम ध्रुव होकर, अच्युत होकर, शत्रुओं का संहार करो, हमसे शत्रुता करने वाले को नीचे पहुँचा दो, सारी दिशाओं में रहने वाली प्रजाएँ एक मन वाली होकर तेरे साथ चलने वाली रहें, तुम ध्रुव रहो और तुम्हारे लिए राज-सभा (समितिः) राष्ट्र के कार्य करने में समर्थ रहे।

इन मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है उसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि राज्याभिषेक के समय प्रजाओं की ओर से राजा की स्थिरता के लिए भगवान् से प्रार्थना होनी चाहिए, और राजा से भी उन्हें यह इच्छा प्रकट करनी चाहिए कि वह उन पर चिरकाल तक शासन करता रहे। यदि राजा न्याय और धर्म का सहारा लेकर शासन करता हो तो वेद के अनुसार उसे गृहस्थाश्रम की आयु भर राज्य करने का अवसर मिलना चाहिए। एक न्याय-परायण राजा वेद के अनुसार गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में जाने के समय ही राजसिंहासन का त्याग करेगा।

प्रजा-पालन के लिए राजा को राजसिंहासन दिया जाता है

राज्याभिषेक के समय प्रजाओं को राजा से स्पष्ट कह देना चाहिए कि उसे प्रजाओं के पालन के लिए राजसिंहासन दिया जाता है। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

1. अस्य प्रदिशि ज्योतिरस्तु ।

अथ० 1.9.2.

2. सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्षयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।

अथ० 2.6.2.

3. ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ।

अथ० 3.4.2.

4. गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ।

अथ० 13.1.12.

5. स मा रोहैः सामित्यं रोहयतु ।

अथ० 13.1.13.

6. पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पाः सुशेवा ।

अथ० 13.1.17.

7. गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः ।

अथ० 13.1.19.

8. इदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् ।

अथ० 13.1.20.

9. भवा गुष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व । अथ० 19.24.5.
10. स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ....वसूनि
 चार्श्वि भजासि जीवन् । अथ० 19.24.6.
11. कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रथ्यै त्वा पोषाय त्वां । यजु० 9.22.
12. सम्राट् अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रथि
 सर्ववीरं नि यच्छतु स्वाहा । यजु० 9.24.
13. राजा परि याति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे स्वाहा ।
 यजु० 9.25.
14. त्वं हि घनदा असि स्वाहा । यजु० 9.28.
15. प्रजापते....यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु । यजु० 10.20.
16. अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वा । यजु० 10.21.
17. ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा । यजु० 18.28.
18. मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः । यजु० 20.1.
19. मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि । यजु० 20.2.
20.तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि सरस्वत्यै....वीर्यान्नाद्याया-
 भिषिञ्चामि....वलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि । यजु० 20.3.

अर्थात्—(1) इस अभिषिच्यमान राजा के शासन में प्रकाश (ज्योतिः) रहे । (2) हे सम्राट् (अग्ने) तू खूब चमक, इस राष्ट्र को बड़ा, महान् सौभाग्य बढ़ाने के लिए तू इस उच्च सिंहासन पर बैठ । (3) सिंहासन पर बैठकर वहाँ से तू हमारे लिये धनों का विभाग कर । (4) तू हमारी गौओं की पुष्टि कर और हमारे वीरों की पुष्टि कर । (5) वह अभिषिच्यमान राजा राजसभा से मिलने वाली (सामित्यैः) समृद्धियों से (रोहैः) हमारी समृद्धि करे । (6) हे राजन् हमारे लिए पृथिवी सुखकारी हो, घर (योनिः) सुखकारी हो, हमारे पलग (तल्पाः) सुखकारी हों । (7) हे राजन् तू हमारी गौष्ठों में गौवें पैदा कर और हमारे घरों में (योनिषु) संतानें उत्पन्न कर । (8) हे राजन् तू इस राष्ट्र को मीठी और सत्यवाणी बोलने वाला (सूनृतावत्) बना । (9) तू हमारी गौवों की रक्षा करने वाला बन और हमें धन की पुष्टि से ढक दे । (10) तू हमारा कल्याण कर, हमारी बोलने योग्य भूमियों की (वापीनां) रक्षा कर और जीवित रहकर हमारे लिए धन बाँट । (11) हम कृषि के लिए, क्षेम के लिए, धन के लिए और पुष्टि के लिए तेरा अभिषेक करते हैं । (12) सम्राट् राष्ट्र के कल्याण में अपनी सम्पत्ति न देने वाले से दिलवाता है, वह सब कुछ जानने वाला हमें ऐसा धन देवे जिससे हमारे वीरों की पुष्टि हो । (13) यह अभिषिच्यमान राजा विद्वान् है, यह हमारे लिए प्रजा को और पुष्टि को बढ़ाता हुआ चल रहा है । (14) हे अभिषिच्यमान सम्राट् (अग्ने) तुम धन देने वाले हो । (15) हे अभिषिच्यमान राजन् (प्रजापते) हम जिस कामना वाले होकर तेरी पुकार करें वह हमारी पूरी हो । (16) हम तुझे पीड़ा

दूर करने के लिए (अव्यथायै) और भोजन प्रदान करने के लिए (स्वधायै) अभिषिक्त करते हैं। (17) हम तुझे अन्न-रस के लिए (ऊर्जे) और वृष्टि के लिए राजा बनाते हैं। (18) यह राष्ट्र तेरी हिंसा न करे और तू मुझ राष्ट्र की हिंसा न कर। (19) हे अभिषिच्यमान राजा तू हमारी मृत्यु से रक्षा कर, विद्युत् आदि के उत्पात से हमारी रक्षा कर। (20) तेज और ब्रह्मवर्चस के लिए हम तेरा अभिषेक करते हैं; सरस्वती, वीर्य और अन्न भक्षण के लिए हम तेरा अभिषेक करते हैं; बल, श्री और यश के लिए हम तेरा अभिषेक करते हैं।

राज्यारोहण सम्बन्धी प्रकरणों के इन वर्णनों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि अभिषेक के समय राजा से साफ शब्दों में कह दिया जाना चाहिए कि हम प्रजाएँ तुम्हें अपने मंगल के लिए, अपनी भाँति-भाँति की रक्षा के लिए, राजा बना रही हैं। राजा प्रजापालन के अपने इस कर्तव्य को भली-भाँति समझता हुआ राज्यारूढ़ होगा।

राजा अभिषेक के समय प्रजापालन का वचन देगा

जब प्रजाएँ उपर्युक्त प्रकार से अभिषेक के समय उसके प्रजापालन के कर्तव्य को राजा से प्रकट कर देगी तो राजा भी उसके उत्तर में उनके धर्मानुकूल पालन की प्रतिज्ञा करेगा। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

1. शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ यजु० 20.5.
2. जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराङ् भामः ।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ॥ यजु० 20.6.
3. बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम् ।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ यजु० 20.7.
4. पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ यजु० 20.8.
5. नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मपचितिर्मसत् ।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ॥
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ यजु० 20.9.
6. लोमानि प्रयतिर्मम त्वङ्मआनतिरागतिः ।
मांसं म उपनतिर्वस्वस्थि मज्जा म आनतिः ॥ यजु० 20.13.

ये मन्त्र यजुर्वेद के 20वें अध्याय के हैं। इस अध्याय में भी अभिषेक का वर्णन है। अध्याय के दूसरे मन्त्र में सम्राट् राज-सिंहासन पर बैठ रहा है। मन्त्र में राजा के लिए वरुण शब्द का प्रयोग हुआ है। इस मन्त्र में वरुण का अर्थ उवट और महीधर ने भी यजमान अर्थात् अभिषिच्यमान राजा किया है। दूसरा कोई अर्थ यहाँ

वरुण का हो ही नहीं सकता। तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि हम हे राजन् ! तेज, ब्रह्म वर्चस, सरस्वती, वीर्य, अन्नाद्य, बल, श्री और यश की प्राप्ति के लिए तुम्हारा अभिषेक कर रहे हैं। चौथे मन्त्र में प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में पुरोहित राजा से पूछता है कि हे सत्परायण राजा (सत्यराजन्) तुम कौन हो, तुम्हारा रूप क्या है, तुम किस प्रयोजन के लिए सिंहासन पर बैठ रहे हो ? इसके उत्तर में राजा उद्धृत इन मन्त्रों में अपने रूप का वर्णन करता है और राजा बनने के अपने प्रयोजन को बताता है। मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) श्री अर्थात् राष्ट्र की शोभा या ऐश्वर्य बढ़ाना मेरा सिर है, यश अर्थात् राष्ट्र की कीर्ति की वृद्धि करना मेरा मुख है, त्विषि अर्थात् राष्ट्र के तेज प्रताप की वृद्धि मेरे केश और श्मश्रु हैं, अमृत अर्थात् राष्ट्र में मृत्यु का अभाव करना मेरा दीप्तिमान् (राजा) प्राण है, सम्राट्¹ अर्थात् सम्यक् प्रकार से राज्य करना मेरा चक्षु है, विराट्² अर्थात् राष्ट्र के लोगों की बातें सुनना अथवा राज्य में अन्तों की वृद्धि करना मेरा श्रोत्र है। (2) भद्र अर्थात् राष्ट्र की भलाई करना मेरी जिह्वा है, महः अर्थात् राष्ट्र की महिमा को बढ़ाना, उसे पूजनीय बनाना मेरी वाणी है, मन्यु अर्थात् प्रजा के भले के लिए विचारपूर्वक किया हुआ सात्विक क्रोध मेरा मन है, स्वराष्ट्र अर्थात् अपना राष्ट्र ही मेरा भाम अर्थात् क्रोध है (इस वाक्य में मन्यु से भिन्न क्रोध को भाम कहा है। इस कथन का भाव यह है कि यदि मुझे कभी क्रोध भी आयेगा तो वह यही देखकर आयेगा कि मेरे राष्ट्र की उन्नति क्यों नहीं हो रही), मोद-प्रमोद अर्थात् राष्ट्र के हर्ष बढ़ाना मेरे अंगुलि आदि अंग हैं, मित्र अर्थात् प्रजा के लोगों से मित्रता का व्यवहार करना मेरा सह अर्थात् सब संकटों को सहन करने वाला बल है। (3) बल और इन्द्रिय अर्थात् राष्ट्र के लोगों का बल बढ़ाना और उनकी इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाना मेरे बाहु हैं, कर्म और वीर्य अर्थात् राष्ट्र के अन्दर विभिन्न कर्मों की वृद्धि करना और उसके वीर्य अर्थात् पराक्रम को बढ़ाना मेरे हाथ हैं, क्षत्र अर्थात् प्रजाओं को किसी प्रकार घायल होने से—दुःखी होने से—बचाना मेरा आत्मा और हृदय है। (4) राष्ट्र अर्थात् देश मेरी पीठ है, विशः अर्थात् राष्ट्र की प्रजाएँ मेरे आंत, श्रोणी, ग्रीवा, ऊरु, अरली, जानु आदि अंग हैं। (5) चित्त अर्थात् राष्ट्र में शान बढ़ाना मेरी नाभि है, विज्ञान अर्थात् प्रत्येक विषय के विशेष ज्ञान की वृद्धि करना मेरी पायु अर्थात् गुप्तेन्द्रिय है, अपचिसि अर्थात् राष्ट्र में पूजा योग्य गुणों की वृद्धि करना मेरी भसत् है, आनन्द और नन्द अर्थात् प्रजा के आनन्द और प्रसन्नता को बढ़ाने वाली समृद्धि की वृद्धि करना मेरे अण्डकोश हैं, भग और सौभाग्य अर्थात् राज्य में ऐश्वर्य और सौभाग्य की अवस्था लाना मेरा पस अर्थात् लिंग है, धर्म मेरी जंघाय और पैर हैं (जिन पर मैं खड़ा हूँ), मैं राजा प्रजाओं में प्रतिष्ठित हूँ अर्थात् प्रजाओं के बल पर ही मैं राज्य

¹ यजु० 9.22 व्याख्यानावसरे 'इयं ते राट्' इति वाक्यमुवटमहीधरो 'इदं तव राज्यम्' इत्येवं व्याख्ययुः। तथा चात्र सं सम्यक् प्रकारेण पालिता राट् समाडिति विज्ञेयम्।

² वाग्वैविराट् श० 3.5.1.34, अन्नं वै विराट् श० 7.5.2.19।

कर सकता हूँ। (6) प्रयति अर्थात् राष्ट्र के भले के लिए प्रयत्न करना मेरे लोभ अर्थात् शरीर पर के बाल हैं, आनति और आगति अर्थात् सब बातों को राष्ट्र के भले के लिए झुकना (आनतिः) और सब उपायों को राष्ट्र के भले के लिए लाना, करना (आगतिः) मेरी त्वचा है, उपनति अर्थात् सब उपायों का फलानुकूल होना मेरा मांस है, वसु अर्थात् राष्ट्र का धन बढ़ाना मेरी हड्डियाँ हैं, आनति अर्थात् सब कुछ अपने राष्ट्र के लिए झुका देना, समर्पित कर देना, मेरे शरीर की मज्जा अर्थात् चर्बी है।

इस प्रकार प्रजा के प्रतिनिधि पुरोहित के प्रश्न पर राजा उत्तर देता है कि मेरा और कोई शरीर नहीं है, मेरा और कोई स्वरूप नहीं है, प्रजाओं का मंगल करना ही मेरा शरीर है, मेरा स्वरूप है। प्रजाओं का अभ्युदय करना ही मेरे राजसिंहासन पर आरूढ़ होने का प्रयोजन है। इससे भिन्न और कोई प्रयोजन नहीं है। राजा इस वर्णन द्वारा प्रजाओं की अभ्युदय वृद्धि को अपने जीवन के साथ एक कर लेता है। उसे अपने जीवन की चिन्ता नहीं है। उसे धर्मपूर्वक प्रजाओं के पालन की चिन्ता है। प्रजापालन में रत रहना ही अब उसके लिए जीवन है। प्रजापालन के मार्ग से हटना उसे अपनी मृत्यु दिखाई देती है।

राजा द्वारा कहे गये इन मन्त्रों से यह निःसंदिग्ध सूचित होता है कि अभिषेक के समय राजा को प्रतिज्ञा करनी होगी कि वह प्रजा के पालन और अभ्युदय की वृद्धि में अपने आपको निमग्न कर देगा।

राजा की आयु को प्रार्थना की जाये

राज्यारोहण सम्बन्धी प्रकरणों में ऐसे भी निर्देश मिलते हैं जिनसे यह सूचित होता है कि राज्याभिषेक के समय प्रजाजनों की ओर से राजा के दीर्घ जीवन की प्रार्थना की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिये—

- | | |
|---------------------------------|----------------|
| 1. जरां सु गच्छ। | अथ० 19.24.5. |
| 2. शतं च जीव शरदः पुरुचीः। | अथ० 19.24.5-6. |
| 3. जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व। | अथ० 19.24.8. |

अर्थात् (1) हे सम्राट् तुम वृद्धावस्था को भली-भाँति प्राप्त होवो। (2) हे सम्राट् तुम लम्बे-लम्बे सौ वर्षों तक जीवो। (3) हे सम्राट् तुम प्रजा के साथ मिलकर रहो और तुम्हारी मृत्यु वृद्धावस्था में ही हो (जरामृत्युः)।

वेद के ये मन्त्र स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि राज्याभिषेक के समय प्रजाजनों को प्रभु से राजा की लम्बी आयु की प्रार्थना करनी चाहिए और राजा को सौ वर्ष तक जीने का आशीर्वाद देना चाहिए।

अभिषेक से पहले राज-सभा में प्रस्ताव स्वीकृत होना चाहिए

वेद के राज्यारोहण सम्बन्धी प्रकरणों में कुछ ऐसे भी वर्णन आते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि राज्याभिषेक से पहले राजसभा में प्रस्ताव होना चाहिए कि

अमुक तिथि से अमुख व्यक्ति राष्ट्र का राजा बनता है और अमुक तिथि को उसका राज्याभिषेक संस्कार होगा। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिए—

1. सवित्रा प्र सवित्रा....प्रसूतः प्र सर्पामि । यजु० 10.30.
2. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अभिषिञ्चामि । यजु० 20.3.
3. बृहस्पति पुरोहिता देवस्य सवितुः सवे । देवा देवैरवन्तु मा । यजु० 20.11.
4. देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । यजु० 9.1.

इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

(1) प्रेरणा या आज्ञा करने वाले (प्रसवित्रा) सविता द्वारा आज्ञा दिया हुआ (प्रसूतः)¹ मैं सिंहासन पर चढ़ता हूँ। (2) देव सविता का प्रसव अर्थात् उसकी आज्ञा हो जाने पर मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ (अभिषिञ्चामि)। (3) देव सविता की आज्ञा हो जाने पर (सवे) बृहस्पति जिनका पुरोहित है ऐसे सारे विभागाध्यक्ष देव (देवाः) अपने अधीनस्थ राजकर्मचारियों के साथ (देवै) मिलकर मेरी रक्षा करें। (4) हे देव सविता राज्याभिषेक यज्ञ (यज्ञं) करने की आज्ञा दो (प्रसुव) इस यज्ञपति राजा को राष्ट्र का ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए (भगाय) प्रेरणा करो।

इन मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि सविता का प्रसव हो जाने पर राज्याभिषेक यज्ञ होता है और राजा राजसिंहासन पर बैठता है। सविता के प्रसव द्वारा राज्यासीन हो जाने पर ही उसे राज्य के विभागाध्यक्ष देवों की रक्षा प्राप्त होती है। प्रसव का अर्थ प्रेरणा अथवा आज्ञा होता है। इन स्थलों में महीधर और उवट ने भी प्रसव का अर्थ आज्ञा ही किया है। सविता के सम्बन्ध में हम पहले देख चुके हैं कि अधिराष्ट्र अर्थ में वह राज्य नियमों का निर्माण करने वाले विभाग का, राजसभा (सभा और समिति) का, मुख्य अधिकारी या मन्त्री है। सविता का शब्दार्थ ही प्रेरणा करने वाला, आज्ञा देने वाला, होता है। क्योंकि राष्ट्र के सारे कार्य सविता के विभाग की, राजसभा की, आज्ञा से होंगे इसलिए उसे सविता कहा जाता है। उद्धृत मन्त्रों में कहा गया है कि सविता की आज्ञा होने पर राज्याभिषेक यज्ञ होता है। इस कथन का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि राज्याभिषेक होने से पहले राजसभा में प्रस्ताव स्वीकृत होना चाहिए कि अमुक तिथि से अमुक व्यक्ति राष्ट्र का राजा बनता है और अमुक तिथि को उसका राज्याभिषेक यज्ञ होगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि राजसभा की पूर्व स्वीकृति के बिना राज्याभिषेक नहीं हो सकता।

¹ आज्ञप्तः इति महीधरः ।

21

देवताओं की संख्या पर विचार

तैंतीस देवता

पिछले अध्याय में 'राज्य के प्रत्येक विभाग के अधिकारी से राजा सहायता की याचना करे' शीर्षक में यजु० 20.11 मन्त्र को उद्धृत करते हुए तैंतीस देवताओं की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार के संकेत वेद में अन्यत्र भी मिलते हैं। ऋग्० 1.139.11. और यजु० 7.19. मन्त्रों में कहा गया है कि 'हे देवो तुम जोकि अपनी महिमा से धुलोक में ग्यारह हो, पृथ्वी पर ग्यारह हो और आपः में ग्यारह हो, हमारे इस यज्ञ का सेवन करो।' ¹ आपः का सामान्य अर्थ जल होता है। आचार्य सायण आदि ने इस मन्त्र में 'आपः' का अर्थ अन्तरिक्ष लोक किया है। क्योंकि देवता-विभाग धुलोक में रहने वाले देवता, अन्तरिक्ष लोक में रहने वाले देवता और पृथिवी लोक में रहने वाले देवता, इस रूप में ही माना जाता है। अन्यत्र स्वयं वेद में भी अन्तरिक्ष में रहने वाले ग्यारह देवों का उल्लेख है। ² इस उद्धृत मन्त्र में भी तीनों लोकों के ग्यारह-ग्यारह देवताओं को मिलाकर उनकी संख्या तैंतीस बताई गई है। वेद के अन्य अनेक स्थलों पर भी देवताओं की संख्या प्रायः 33 ही बताई गई है। ³ कहीं देवताओं को तीन स्थानों में रहने वाले ग्यारह-ग्यारह मिलाकर 33 बताया गया है और कहीं उन्हें सीधा ही 33 कह दिया गया है। प्रसंग से यहाँ वेद के इस देवता-विभाग के सम्बन्ध में भी थोड़ा सा विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

धुलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी पर रहने वाले ग्यारह-ग्यारह देवता कौन-कौन से हैं यह कहीं भी वेद में स्पष्ट करके गिनाकर बताया गया नहीं मिलता। जहाँ वेद में सामूहिक रूप में देवताओं की संख्या 33 बताई गई है वहाँ भी स्पष्ट करके गिना कर नहीं कहा गया है कि अमुक-अमुक देवता मिलकर 33 होते हैं। आचार्य यास्क ने

¹ ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामष्ट्येकादश स्थ ।

अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ ऋग्० 1.139.11, यजु० 7.19.

² ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ । अथ० 19.27.12.

³ देखें—ऋग्० 8.39.9, 8.57.2, 9.92.4; 1.34.11; 1.45.2; 3.6.9; यजु० 34.47; 20.11; 20.36; अथ० 19.27.11-13; 9.37.1।

निरुक्त के देवताकाण्ड में देवताओं पर विचार किया है। वहाँ यास्क ने देवताओं का विभाग पृथिवी-स्थानीय देवता, अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता और द्यु-स्थानीय देवता, इस रूप में ही किया है। यास्क ने वहाँ इन तीनों स्थानों में रहने वाले देवताओं का जो परिगणन किया है उसके अनुसार तो उनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। अग्नि आदि पृथिवी-स्थानीय देवताओं की संख्या यास्क ने 36, वायु आदि अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं की संख्या 68 और अश्विनौ आदि द्यु-स्थानीय देवताओं की संख्या 31 बताई है। इनके नाम भी यास्क ने गिनाये हैं। ये तीनों संख्यायें मिलकर 135 हो जाती हैं। वेद में तीनों स्थानों के देवताओं की संख्या ग्यारह-ग्यारह और मिलकर कुल 33 कही गई है, जबकि यास्क ने यह संख्या उपर्युक्त प्रकार से बताई है। वेद के देवताओं का यह विभाग यास्क के अपने विचार करने के दृष्टिकोण से ठीक हो सकता है। परन्तु देवता ग्यारह-ग्यारह की संख्या में तीनों स्थानों में रहते हैं जिनकी कुल संख्या 33 है वेद के इस कथन का स्पष्टीकरण यास्क के इस विवेचन से नहीं होता। स्थान-स्थान पर किये गये वेद के इस उल्लेख का स्पष्टीकरण अभी और अधिक अनुसंधान की अपेक्षा रखता है।

आदित्य, रुद्र और वसु

ब्राह्मण ग्रन्थों और दूसरे अनेक ग्रन्थों में वेद के देवताओं का आदित्य, रुद्र और वसु इस रूप में भी विभाग किया गया है। आदित्यों की संख्या 12, रुद्रों की 11 और वसुओं की 8 मानी जाती है। इस प्रकार तीनों की संख्या 31 हो जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न स्थानों पर इन 31 में कहीं द्यावा-पृथिवी अर्थात् द्युलोक और पृथिवी लोक को जोड़कर¹, कहीं प्रजापति और वषट्कार को जोड़कर² और कहीं वाक् और स्वर को जोड़कर³ तथा कहीं इन्द्र और प्रजापति को जोड़कर⁴ 33 देवता गिना दिये जाते हैं। पाठक देखेंगे कि ब्राह्मण ग्रन्थों के इस प्रकार 33 देवताओं को गिनाने के प्रकार से यह निश्चित नहीं होता कि असल में 33 देवता कौन-कौन से हैं। फिर ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं-कहीं देवताओं की संख्या 34 भी बताई गई है।⁵

¹ अष्टौ वसवः, एकादश रुद्रा द्वादश आदित्या इम एव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिंशो त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः । शत० 4.5.7.2.

² देवता वाव त्रयस्त्रिंशोष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशोदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च । तां० 6.2.5, ऐ० 2.18, 37; 3.22.

³ अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या वाग्द्वान्त्रिंशो स्वरस्त्रयस्त्रिंशस्त्रयस्त्रिंशद् देवाः । गो० 3.2.13.

⁴ त्रयस्त्रिंशद्वै सोमपा देवता याः सोमाहुतीरन्वायत्ता अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्रो द्वात्रिंशः प्रजापतिस्त्रयस्त्रिंशः त्रयस्त्रिंशद् पशुमाजनाः । कौ० 12.6.

कतमे ते (देवाः) त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च । शत० 11.6.3.5 ।

⁵ त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः । शत० 12.6.1.37, 4.5.7.2; तां० 10.1.16, 12.13, 24.

उस अवस्था में 34वाँ देवता प्रजापति हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार प्रजापति कहीं तो 34वाँ देवता है और कहीं वह 33 देवों में ही आ जाता है। 33 अथवा 34 देवता कौन-कौन से हैं ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका स्पष्ट रूप से निर्धारण नहीं किया गया है। वेद में 34 देवताओं का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया गया। हाँ, ऋग्० 10.55.3 में 34 ज्योतियों का उल्लेख अवश्य किया गया है।¹ सायण ने इस मंत्र में चौतीस ज्योतियों का अर्थ 34 देवता किया है। आचार्य सायण ने आदित्य, रुद्र और वसुओं में प्रजापति, विराट् और वषट्कार इन तीन को जोड़कर 34 संख्या पूरी की है। वेद में न कहीं 33 देवताओं को गिनाकर बताया गया है और न 34 को।

आदित्य

अब आदित्यों को लीजिए। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वर्ष के 12 महीनों का नाम आदित्य है।² आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में किसी ग्रन्थ के प्रमाण से लिखा है कि घाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु ये 12 आदित्य हैं।³ इन्हें सूर्य के बारह रूप और वर्ष के 12 मासों के 12 अधिष्ठात्री देवता भी माना जाता है। संस्कृत के प्रसिद्ध कोष शब्दकल्पद्रुम में विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, सविता, मित्र, भग, घाता, विधाता, वरुण, शक्र और उरुक्रम ये 12 आदित्य बताये गये हैं।⁴ फिर उसी कोष में हरिवंश पुराण का उद्धरण देकर लिखा है कि शक्र, विष्णु, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अर्यमा, घाता, त्वष्टा, पूषा, अंश और भग ये 12 आदित्य हैं।⁵

अब वेद में कहीं भी नहीं कहा गया है कि वर्ष के 12 महीनों का नाम आदित्य है। वेद में कहीं भी 12 महीनों के नाम गिनाकर यह भी नहीं कहा गया है कि ये 12 मास आदित्य हैं। आप्टे के कोष में जो उद्धरण दिया गया है उसमें आदित्यों में रुद्र को भी गिनाया गया है। रुद्र का नाम तो रुद्रों की गिनती में आना चाहिए। आप्टे के उद्धरण में शब्दकल्पद्रुम के उद्धरणों के विधाता, शक्र, उरुक्रम और

¹ चतुस्त्रिंशता पुरुषा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन । ऋग्० 10.55.3.

² कतम आदित्या इति । द्वादश भासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति । शत० 11.6.3.8.

³ घाता मित्रोऽर्यमा रुद्रो वरुणः सूर्य एव च ।

भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमः स्मृतः ।

एकादशस्तथा त्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते ॥ आप्टेकोषः ।

⁴ शब्दकल्पद्रुमः ।

⁵ मरीचात्कश्यपाज्जातास्तेदित्या दक्षकन्यया ।

तत्र शक्रश्च विष्णुश्च जज्ञाते पुनरेव ॥

विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च ।

अंशो भगश्चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृताः ॥ (हरिवंशे) शब्दकल्पद्रुमः ।

अंश ये चार नाम नहीं हैं। शब्दकल्पद्रुम के प्रथम उद्धरण में उसके दूसरे उद्धरण के अंश और विष्णु ये दो नाम नहीं हैं। हाँ, उरुक्रम को भले ही विष्णु समझ लिया जाये क्योंकि वेद में उरुक्रम विष्णु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु उरुक्रम का स्वतंत्र देवता के रूप में वेद में वर्णन नहीं हुआ है। इसी भाँति शक्र को इन्द्र समझा जा सकता है। मध्यकालीन साहित्य में तो शक्र इन्द्र का नाम है ही। वेद में भी शक्र इन्द्र के विशेषण के रूप में आया है। वेद में स्वतन्त्र देवता के रूप में शक्र का वर्णन नहीं हुआ है। इस प्रकार इन उद्धरणों में जो 12-12 आदित्य गिनाये गये हैं उनमें कुछ-कुछ अन्तर है। उनसे 12 आदित्यों के नामों का सही-सही निर्धारण नहीं होता। उनमें आदित्यों की व्यक्तियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों और उत्तरकालीन अन्य ग्रन्थों में आदित्यों की यह जो 12 संख्या बताई गई है वह वेद के आदित्यों के वर्णन से मेल नहीं खाती। पहली बात तो यह कि आदित्यों की संख्या 12 है यह वेद में कहीं भी नहीं कहा गया है। बारह संख्या का वाचक द्वादश शब्द आदित्यों के साथ वेद में कहीं भी नहीं आया है। वेद में आदित्यों का वर्णन करने वाले अनेक सूक्त और मंत्र हैं। उनमें आदित्यों के नाम से जिन देवताओं का उल्लेख किया गया है उनमें ऊपर उल्लिखित धाता, मित्र, अर्यमा, वरुण और सूर्य आदि 12 नाम तो आते ही हैं, इनके अतिरिक्त उनमें इन्द्र, अग्नि, अश्विनौ, सोम, दक्ष, वृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, मरुतः, वायु, सरस्वती, अजैकपात्, इन्द्रवायू, इन्द्राग्नौ उषासानक्ता, इन्द्रासोम, इन्द्रापूषणा, सूर्य, चन्द्र, इन्द्रापर्वता और द्यावापृथिव्यौ आदि और भी अनेक नाम आते हैं जोकि सब मिलकर एक सौ से भी ऊपर हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वहाँ तो 'विश्वेदेवाः' को भी आदित्य कह कर वेद में वर्णित सभी देवों को आदित्य बता दिया गया है जिसका अभिप्राय यह हुआ कि आदित्य देवता वाले सूक्तों और मन्त्रों से भिन्न सूक्तों में भी जिन देवताओं का उल्लेख किया गया है वे सब भी आदित्य ही हैं। आदित्य देवता और विश्वेदेवाः देवता के अन्तर्गत जिन देवताओं का उल्लेख हुआ है उनमें प्रायः सभी प्रमुख देवता एक समान ही हैं। और वहाँ जिनका नामोल्लेख नहीं हुआ है वे देवता भी विश्वेदेवाः शब्द से संगृहीत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में भला आदित्य देवताओं को केवल 12 ही कैसे कहा जा सकता है ?

सप्त और अष्ट शब्दों का एक विशिष्ट अर्थ

देवताओं की संख्या के सम्बन्ध में यहाँ एक बात और भी देखने की है। आदित्य शब्द का यौगिक अर्थ होता है अदिति का अपत्य अर्थात् अदिति की सन्तान, अदिति से उत्पन्न। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि अदिति के आठ पुत्र हैं।¹ अथर्ववेद में भी अदिति के पुत्र आठ ही कहे गये हैं।² फिर ऋग्वेद में यह भी

¹ अष्टौ पुत्रासो अदितेः। ऋ० 10.72.8.

² अदितिरष्टपुत्रा। अथ० 8.9.21.

कहा गया है अदिति के पुत्र सात हैं ।¹ एक स्थान पर ऋग्वेद में सीधा आदित्यों को ही सात संख्या वाला कहा गया है ।² जब स्वयं वेद में ही इस प्रकार आदित्यों की संख्या सात और आठ कही गई है तो उनकी संख्या को बारह बताना कैसे संगत हो सकता है ?

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है । उसका भी समाधान कर देना आवश्यक है । जब वेद में आदित्यों की संख्या आठ कही गई है तो फिर वेद स्वयं ही उनकी संख्या को सात कैसे कहता है ? यह तो परस्पर विरोध की बात है । एक और भी परस्पर बड़े विरोध की बात है । अभी ऊपर हमने देखा है कि वेद में विश्वेदेवाः अर्थात् सभी देवों को आदित्य कहा गया है जिनकी संख्या सैंकड़ों हो जाती है । फिर वेद आदित्यों की संख्या सात या आठ ही क्यों कहता है ? इन विरोधों के परिहार के लिए प्रथम तो यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि, जैसा कि हमने इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर स्पष्ट किया है, वेद परम कविप्रभु का काव्य है । काव्यों में प्रहेलिका पद्धति में भी कविताएँ होती हैं जिसका अभिप्राय काव्य में रोचकता उत्पन्न करना और पाठक की विचारशक्ति को प्रेरणा देना तथा उत्तेजित करना होता है । यहाँ भी यही बात है । जो आदित्य सैंकड़ों हैं वे आठ और सात भी हैं । यह कैसे हो सकता है । यह पहेली हो गई । संस्कृत में आठ से लिए 'अष्ट' शब्द और सात के लिए 'सप्त' शब्द प्रयुक्त होता है । इस पहेली को सुलझाने के लिए 'सप्त' और 'अष्ट' शब्दों को संख्यावाची रूढ़ि अर्थ में न लेकर इनका योगिक अर्थ लेना होगा । 'सप्त' शब्द संस्कृत की 'षप' धातु से जिसका अर्थ समवाय अर्थात् संगत होना या मिलना होता है तथा 'सृप' धातु से जिसका अर्थ गति अर्थात् ज्ञान, गमन और प्राप्ति होता है, निष्पन्न होता है ।³ जो संगत होकर रहें, मिलकर रहें, मिलकर विभिन्न प्रकार के कार्य करें और उन कार्यों से संगत रहें अर्थात् उन्हें निरन्तर करते रहें वे 'सप्त' कहे जायेंगे । इसी भाँति जिनमें गति हो, जो आलसी और निरुद्यमी न हों, जो भाँति-भाँति के ज्ञान-विज्ञानों को सीखते रहें और जो पुरुषार्थ से विविध प्रकार के सुख-समृद्धिकारी पदार्थों की प्राप्ति करते-कराते रहें वे 'सप्त' कहे जायेंगे । आदित्य देव इस प्रकार के गुणों वाले होने के कारण 'सप्त' कहे जाते हैं । 'अष्ट' शब्द संस्कृत की 'अशूङ्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ व्याप्ति अर्थात् व्याप्त होना, पहुँचना और मार्ग तय करना आदि होता है ।⁴ जो विभिन्न प्रकार के कामों में व्याप्त रहें अर्थात् लगे रहें, जो प्रयत्न करके अपने उद्देश्यों तक पहुँचते रहें, जो अपने उद्देश्यों

¹ सप्तभिः पुत्रैरदितिः । ऋग्० 10.72.9.

² देवा आदित्या ये सप्त । ऋग्० 9.114.3.

³ सपति समवैति इति सप्त । सर्पति गच्छति जानाति प्राप्नोति इति सप्त उणादि० 1.157 सूत्रेण रूपसिद्धिः । सप्त सपतेः । निरु० 4.4.26.

⁴ अष्टौ अश्नोतेः । निरु० 3.2.10 ; अश्नुते व्याप्नोति इति अष्ट ; उणादि० 1.157 सूत्रेण रूपसिद्धिः ।

और आदर्शों की प्राप्ति के कठिन से कठिन मार्गों पर चलने के लिए भी तत्पर रहें और इसके लिए घोर से घोर प्रयत्न करने में भी हिचकें नहीं वे 'अष्ट' कहे जायेंगे। आदित्य देव इस प्रकार के गुणों वाले होने के कारण 'अष्ट' कहे जाते हैं। 'सप्त' और 'अष्ट' शब्दों का यह यौगिक अर्थ लेने पर यह पहेली खुल जाती है। और आदित्यों को 'सप्त' और 'अष्ट' कहने में भी कोई विरोध नहीं रहता और उनके सैंकड़ों की संख्या में होने पर भी उन्हें 'सप्त' और 'अष्ट' कहने में भी कोई विरोध नहीं रहता।

रुद्र

अब रुद्रों की लीजिए। ब्राह्मणग्रन्थों और मध्यकालीन अन्य ग्रन्थों में रुद्रों की संख्या 11 कही गई है। और इन 11 का परिगणन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि दस प्राण और आत्मा इन ग्यारह का नाम रुद्र है।¹ दस प्राणों के नाम प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय हैं। अब, वेद में कहीं भी न तो यह कहा गया है कि रुद्रों की संख्या ग्यारह है और न ही कहीं यह कहा गया है कि प्राण, अपान आदि दस प्राणों और आत्मा इन ग्यारह का नाम रुद्र है। फिर इन दस प्राणों में से नाग, कृकल और देवदत्त इन तीनों का तो वेद में कहीं भी उल्लेख नहीं है। ये तीनों शब्द ही वेद में नहीं हैं। रहे धनञ्जय और कूर्म। धनञ्जय का प्राण के रूप में वेद में कहीं वर्णन नहीं है। यह शब्द वेद में आठ-दस स्थानों पर आता है और वहाँ यह सोम, अग्नि, इन्द्र और स्तोता का विशेषण होकर आया है और उसका अर्थ है धनों का विजय करने वाला। कूर्म शब्द वेद में तीन स्थानों पर आता है और वहाँ इसका अर्थ कछुवा नामक प्राणी है। प्राण का अर्थ इन्द्रियाँ भी होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और आत्मा ये मिलकर 11 रुद्र कहलाते हैं ऐसा भी कह दिया जाता है। दसों इन्द्रियों और आत्मा ग्यारह रुद्र कहलाते हैं वेद में यह भी कहीं नहीं कहा गया है।

पौराणिक शिव को भी रुद्र कहा जाता है और उसके ग्यारह रूप माने जाते हैं जिन्हें उसके पुत्र भी कह दिया जाता है, इन ग्यारह को भी ग्यारह रुद्र कहा जाता है। महामारत में एक स्थान पर इन ग्यारह के ये नाम गिनाये हैं—मृगव्याध, सर्प, निःश्रृंति, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, दहन, ईश्वर, कपाली, स्थाणु और भग।²

¹ कतमे रुद्रा इति। दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति। शत० 11.6.3.7.

² ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः पण्महर्षयः।

एकादश युताः स्थाणोः स्याताः परमतेजसः॥

मृगव्याधश्च सर्पश्च निःश्रृंतिश्च महायशः।

अजैकपादहिर्बुध्न्यश्च पिनाकी च परन्तपः॥

दहनोयेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः।

स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः॥ महा० आदिपर्व 66.1-3.

इन ग्यारह का नाम रुद्र है वेद में ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं है। फिर उनमें से मृगव्याध, दहन और कपाली ये तीन शब्द तो वेद में आते ही नहीं। दहन शब्द से अग्नि समझा जा सकता है। लोक में यह शब्द अग्नि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यदि यह शब्द अग्नि के अभिप्राय से कहा गया है तो इसके स्थान पर वेद का अपना अग्नि शब्द ही रखा जाना चाहिए था। सर्प शब्द वेद में साँप नामक प्राणी के लिए आता है। रुद्र के लिए या उसके विशेषण के रूप में यह शब्द कहीं नहीं आया है। पिनाकी शब्द भी वेद में कहीं नहीं आया है। हाँ, रुद्र के शस्त्र-विशेष पिनाक का नाम वेद में एक दो स्थानों पर अवश्य आया है। ईश्वर शब्द भी वेद में रुद्र के लिए या उसके विशेषण के रूप में कहीं नहीं आता है। अथर्ववेद के प्राण सूक्त¹ में यह शब्द प्राण के विशेषण के रूप में आता है और वहाँ प्राण अन्ततः जगत् के स्वामी परमात्मा का वाचक है। वह शब्द अथर्ववेद के पुरुष सूक्त² में भी आता है। वहाँ भी यह जगत् के स्रष्टा परम पुरुष परमात्मा का ही वाचक है। फिर अथर्ववेद के काल सूक्त³ में भी यह शब्द आता है। वहाँ भी यह अन्ततः संसार के स्रष्टा और संहारक कालरूप परमात्मा का ही वाचक है। शेष तीनों वेदों में तो ईश्वर शब्द आता ही नहीं। यहाँ तक कि यजुर्वेद के सुप्रसिद्ध रुद्राध्याय में भी यह शब्द नहीं आता है। स्थाणु शब्द भी केवल अथर्ववेद में 2-3 स्थानों पर आता है⁴ और वहाँ भी यह वृक्ष, ठूँठ या लकड़ी के अर्थ में आता है। रुद्र के लिए या उसके विशेषण के रूप में यह शब्द कहीं नहीं आता। निऋति, अजैकपात्, अहिर्बुध्न्य और भग ये चारों शब्द वेद में अनेक स्थानों पर आते हैं। परन्तु ये वहाँ रुद्र के लिए अथवा उसके विशेषण के रूप में नहीं आते। ये पृथक् देवताओं के रूप में आते हैं। भग और त्वष्टा नामों की गणना तो तथाकथित 12 आदित्यों में की जाती है जैसाकि पाठकों ने अभी ऊपर आदित्यों की विवेचना के प्रसंग में देखा है।

शब्दकल्पद्रुम कोष में 11 रुद्रों के नाम विभिन्न ग्रन्थों के प्रमाण से इस प्रकार गिनाये गये हैं—अज, एकपात्, अहिब्रध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हरण और ईश्वर।⁵ वहाँ रुद्रों की दूसरी गणना इस प्रकार है—अजैकपात्, अहिब्रध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र और हर।⁶ एक अन्य गणना वहाँ इस प्रकार है—अजैकपात्

¹ अथ० 11.6.1, 10।

² अथ० 19.6.4।

³ अथ० 19.53.8।

⁴ अथ० 1.4.1, 14.2.6, 19.49.10।

⁵ महाभारते दानधर्मः। शब्दकल्पद्रुमः।

⁶ अजैकपादहिब्रध्नो विरूपाक्षः सुरेश्वरः।

जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽप्यपराजितः।

वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्रा इमे स्मृताः॥ (जटाधरः) शब्दकल्पद्रुमः।

अहिब्रह्मन्, त्वष्टा, रुद्र, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत ।¹ एक दूसरी गणना वहाँ इस प्रकार है—अजैकपात्, अहिब्रह्मन्, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सुरेश्वर, सावित्र्य, जयन्त और पिनाकी ।² रुद्रों के नामों की ये जो पाँच प्रकार की गणनाएँ हैं वे एक-दूसरे से कई अंशों में भिन्न हैं । इनसे रुद्रों की सही गणना और उनके सही व्यक्तित्वों का निर्धारण नहीं होता । फिर इनमें से कितने ही शब्द वेद में आते ही नहीं । जो शब्द इनमें से वेद में आते भी हैं वे वहाँ रुद्र के लिए या उसके विशेषण के रूप में नहीं आये हैं । इनमें से रुद्र और त्र्यम्बक आदि 2-4 शब्द ही ऐसे हैं जो कि रुद्र के लिए आये हैं या उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं । फिर, इनमें से सुरेश्वर और जयन्त शब्द तो पौराणिक साहित्य में भी क्रम से इन्द्र और उसके पुत्र जयन्त के लिए अधिक प्रयुक्त होते हैं । फिर, रुद्रों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात तो यह ध्यान में रखने की है कि वेद में कहीं भी रुद्रों की संख्या 11 नहीं बताई गई है और न ही गिनाकर कहीं यह कहा गया है कि अमुक ग्यारह रुद्र हैं । ग्यारह संख्या का वाचक एकादश शब्द वेद में रुद्र के साथ कहीं भी नहीं आया है ।

पौराणिक कल्पना में रुद्र या शिव को अष्टमूर्ति भी कहा जाता है । आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में किसी ग्रन्थ के प्रमाण से रुद्र की इन आठ मूर्तियों के नाम इस प्रकार दिये हैं—जल, वह्नि (अग्नि), यष्टा (यजमान), सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु और अवनी (पृथिवी) ।³ इन आठ मूर्तियों में पाँच तो जल आदि महाभूत हैं और शेष तीन यजमान, सूर्य और चन्द्रमा हैं । महाकवि कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक की नान्दी में शिव की इन्हीं आठ मूर्तियों के रूप में वन्दना की है ।⁴ वेद में रुद्र को कहीं न तो अष्टमूर्ति नाम से कहा गया है और न ही कहीं उसकी इन आठ मूर्तियों का परिगणन ही किया गया है । शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर अग्नि

¹ अजैकपादहिब्रह्मन्स्त्वष्टा रुद्रश्च वीर्यवान् ।

त्वष्टुश्चाप्यात्मजः पुत्रो विश्वरूपो महातपाः ॥

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ।

वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥

एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः । (गारुडे 6 अध्यायः)

—(अग्नि पुराणे त्वष्टुस्थाने कृत्तिवासाः) शब्दकल्पद्रुमः ।

² अजैकपादहिब्रह्मन्तो विरूपाक्षोश्चरैवतः ।

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः ॥

सावित्र्यश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः ।

एते रुद्राः समाख्याता एकादश गणेश्वराः ॥ (मात्स्ये 5 अध्यायः) शब्दकल्पद्रुमः ।

³ जलं वह्निस्तथा यष्टा सूर्याचन्द्रमसौ तथा ।

आकाशं वायुरवनी मूर्तयोऽष्टौ पिनाकिनः ॥ आप्टे कोषः ।

⁴ या सृष्टिः स्रष्टुराद्या बहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,

ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।

यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.1 ।

की आठ मूर्तियों का वर्णन किया गया है। अग्नि की वे आठ मूर्तियाँ इस प्रकार हैं— रुद्रः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भवः, महादेवः और ईशानः। पौराणिक कल्पना में ये सब नाम शिव के माने जाते हैं। कोशों में इन सब नामों को प्रायः शिव के ही नामों में गिनाया गया है। पौराणिक कल्पना में रुद्र या शिव को अग्नि का रूप भी माना जाता है।¹ शतपथ ब्राह्मण के अग्नि के ये नाम क्योंकि पौराणिक रुद्र के भी हैं इसलिए हो सकता है कि पौराणिक कल्पना में रुद्र को अग्नि का रूप भी माना जाने लग पड़ा हो। शतपथ में अग्नि के ये आठ नाम गिनाने के अनन्तर यह भी कहा गया है कि अग्नि का नवाँ रूप कुमार है।² कुमार नाम पौराणिक साहित्य में रुद्र या शिव के पुत्र स्कन्द का है। इसलिए भी हो सकता है कि रुद्र को अग्नि का रूप कहा जाने लगा हो। यह विचारणीय विषय है कि रुद्र और उसके पुत्र कुमार की पौराणिक कल्पना का प्रभाव शतपथ पर पड़ा है या शतपथ का प्रभाव पौराणिक कल्पना पर पड़ा है। यदि शतपथ पर पौराणिक कल्पना का प्रभाव नहीं पड़ा है तो यह भी विचारणीय है कि कुमार को वहाँ अग्नि का नवाँ रूप किस अभिप्राय से कहा गया है। शतपथ में अग्नि के ये जो आठ नाम गिनाये गए हैं वे वेद में अग्नि के नाम या विशेषण के रूप में प्रायः नहीं आते। वेद में भी ये शब्द रुद्र के नाम या विशेषण के रूप में ही अधिक आते हैं। फिर शतपथ ने इन्हें अग्नि के रूप में क्यों कहा है यह भी विचारणीय है। कुमार को तो वेद में न अग्नि का रूप या पुत्र कहा गया है और न ही रुद्र का। वेद में रुद्र के ये नाम गिनाकर भी कहीं नहीं कहा गया है कि ये उसकी आठ या नौ मूर्तियाँ हैं। और न ही वेद में अग्नि के लिए ही कहीं ऐसा कहा गया है।

वेद का अध्ययन करने पर यह बात भी विशेष रूप से ध्यान में आती है कि वेद में केवल रुद्र नामक देवता को ही रुद्र नहीं कहा गया है, प्रत्युत वहाँ तो अग्नि, सोम, अश्विनौ, मित्रावरुणौ, सूर्यरश्मियों, रोहित (आदित्य) और मरुतों को भी रुद्र कहा गया है। मरुतों को तो बहुत अधिक बार रुद्र कहा गया है। मरुतों को रुद्र के पुत्र और मर्य अर्थात् मनुष्य भी अनेक स्थानों पर कहा गया है। ये अग्नि, सोम, अश्विनौ, मरुत् आदि सब वेद में आदित्य भी कहे गये हैं जैसा कि ऊपर आदित्यों की विवेचना में हमने देखा है। इन सबकी संख्या तो 11 से बहुत अधिक हो जाती है। मरुतों की संख्या ही, जिन्हें रुद्र भी कहा गया है, बहुत अधिक है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में, जिसे रुद्राध्याय कहा जाता है और जहाँ रुद्र का विस्तार से वर्णन किया गया है, रुद्रों की संख्या हजारों और लाखों बताई गई है।³ इस प्रकार वेद से

1 अयं (रुद्रः) अग्निमूर्तिः। यथा रुद्राय अग्निमूर्तये नमः। इति तिथ्यादितत्त्वे शिवपूजापद्धतिः। स च ब्रह्मणः क्रोधरूपः सृष्टिकाले भ्रूमध्याज्जातः। तत्सृष्टिः भूतप्रेतपिशाचादिः। अयमेवान्ते संहारकर्ता। इति भागवतम्। शब्दकल्पद्रुमः।

2 तान्येतान्यष्टौ (रुद्रः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भवः, महादेवः, ईशानः) अग्निरूपाणि। कुमारो नवमः सेवान्तेतिवृत्तता। शत० 6.1.3.10-18।

3 असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्। यजु० 16.54.

ब्राह्मण ग्रन्थों और इतर साहित्य की यह कल्पना समर्थित नहीं होती कि रुद्रों की संख्या ग्यारह है और उन ग्यारह के कोई विशिष्ट नाम हैं। हमने इस ग्रन्थ के तृतीय भाग में रुद्र और मरुतों (रुद्रों) का अधिराष्ट्र अर्थ सेनापति और सैनिक स्थिर किया है। इस अर्थ में रुद्रों के हजारों और लाखों होने की जो बात वेद में कही गयी है उसकी बड़ी सुन्दर संगति लग जाती है। सेनाओं में सैनिकों और उनके सेनापतियों की संख्या हजारों और लाखों हो ही सकती है। वहीं पहले भी हमने रुद्रों की संख्या ग्यारह है ब्राह्मणग्रन्थों आदि के इस कथन का भी एक अधिराष्ट्र समाधान प्रस्तुत किया है। यद्यपि वेद में रुद्रों के साथ ग्यारह की संख्या का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है।

वसु

अब लीजिए वसुओं को। शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि वसु आठ हैं। वहाँ अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र इन आठ को वसु कहा गया है।¹ वेद में वसुओं की संख्या आठ है ऐसा कहीं नहीं कहा गया है। और न ही वहाँ कहीं वसुओं के आठ नाम ही गिनाये गये हैं। मध्यकालीन अन्य ग्रन्थों में वसुओं की संख्या तो आठ ही कही गई है पर उनके नाम शतपथ में दिये गये नामों से कुछ भिन्न हैं। आप्टे के प्रसिद्ध संस्कृत-अंग्रेजी कोष में किसी ग्रन्थ का प्रमाण देकर लिखा है कि—धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये आठ वसु हैं।² वहाँ यह भी कहा गया है कि कहीं-कहीं धर के स्थान पर धव और अहः के स्थान पर आपः पाठ भी मिलता है। इन नामों में से धर, अनल, प्रत्यूष, प्रभास ये चारों शब्द वेद में नहीं आते हैं। धव शब्द अथर्ववेद में दो स्थानों पर आता है।³ वहाँ यह एक वृक्ष-विशेष का नाम है। ध्रुव शब्द वेद में कई स्थानों पर आता है। परन्तु वहाँ सब जगह यह अग्नि, सोम, राजा और रयि अर्थात् धन का विशेषण होकर आया है और इसका अर्थ अचल, निश्चल या स्थिर होकर रहने वाला होता है। अनिल शब्द भी वेद में केवल एक स्थान पर आता है।⁴ अनिल और अनल शब्द लौकिक संस्कृत में वायु और अग्नि के वाचक होते हैं। वेद में अप्रसिद्ध इन दोनों शब्दों के स्थान पर वेद में बार-बार आने वाले वायु और अग्नि नामों को वसुओं के नामों में रखा जाता तो अधिक उपयुक्त होता है। यदि वसुओं को वेद के देवता

¹ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ते । ते यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति ।

शत० 11.6.3.6.

² धरो ध्रुवश्च सोमश्च अदुश्चैवानिलोज्जलः ।

प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टाविति स्मृताः ॥ आप्टेकोषः ।

³ अथ० 5.5.5, 20.131.14 ।

⁴ यजु० 40.15 ।

समझा जाता है तो वेद में आये नाम ही उनके नाम होने चाहिए। सोम. का प्रसिद्ध अर्थ सोम नामक ओषधि और चन्द्रमा होता है। अहः दिन को कहते हैं और आपः जल को। घर, ध्रुव, ध्रुव, प्रत्यूष और प्रभास क्या हैं यह स्पष्ट नहीं होता। लोक में तो इनके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। अब आठ वसु घर या ध्रुव, चन्द्रमा और सोम, अहः (दिन), आपः (जल), वायु, अग्नि, प्रत्यूष और प्रभास ये हुए। इस उद्धरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि सही-सही आठ वसु कौन से हैं क्योंकि घर और ध्रुव तथा अहः और आपः में विकल्प है। शतपथ ब्राह्मण के आठ वसुओं और इस उद्धरण के आठ वसुओं में तो भारी भिन्नता है ही। फिर इस उद्धरण के कई नाम तो वेद में आते ही नहीं। और न ही वेद में कहीं यह कहा गया है कि ये नाम आठ वसुओं के नाम हैं।

प्रसिद्ध शब्दकल्पद्रुम कोष में विभिन्न ग्रन्थों के प्रमाण से आठों वसुओं के भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। एक उद्धरण के अनुसार घर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये आठ वसु हैं।¹ एक अन्य उद्धरण के अनुसार घर, ध्रुव, सोम, सावित्र, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये आठ वसु हैं।² एक तीसरे उद्धरण के अनुसार आपः, ध्रुव, सोम, घर, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये आठ वसु हैं।³ इन तीनों उद्धरणों में भी वसुओं के जो नाम दिये गये हैं उनमें एक-दूसरे से भिन्नता है। प्रथम उद्धरण में एक नाम विष्णु है जोकि आप्टेकोष के उद्धरण में नहीं है। दूसरे उद्धरण में विष्णु के स्थान पर सावित्र है। यह भी आप्टे वाले उद्धरण में नहीं है। तीसरे उद्धरण में विष्णु और सावित्र के स्थान पर आपः है। यह भी आप्टे वाले उद्धरण में नहीं है। पाठभेद में आप्टे ने आपः यह नाम दिया है। आप्टे के उद्धरण में दिया गया अहः नाम इन तीनों उद्धरणों में किसी में नहीं है। आप्टे द्वारा पाठ-भेद में दिया गया ध्रुव नाम भी उन उद्धरणों में से किसी में नहीं है। इन उद्धरणों से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि आठों वस्तुओं के ठीक-ठीक नाम क्या हैं। वसुओं के शतपथ वाले नामों से तो ये नाम भी सर्वथा भिन्न हैं ही। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ और इन अन्य ग्रन्थों में आठों वसुओं के जो नाम दिये गये हैं वे एक-दूसरे से भिन्न हैं और उनसे वसुओं की व्यक्तियों का सही-सही निर्धारण नहीं होता। उधर वेद में तो आठ वसुओं का उल्लेख है ही नहीं।

वेद में जहाँ आठ वसुओं का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है वहाँ वेद में स्थान-स्थान पर रुद्र, अग्नि, इन्द्र, सूर्य, आदित्य, मरुत, ऋतु, अश्विनो, सोम, पूषा और वायु आदि देवताओं को भी वसु कहा गया है। इतना ही नहीं, वेद में तो 'विश्वेदेवाः'

¹ घरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोनलः ।

प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः ॥ भरतः । शब्दकल्पद्रुमः ।

² महाभारते दानधर्मः । शब्दकल्पद्रुमः ।

³ आपो ध्रुवश्च सोमश्च घरश्चैवानिलोनलः ।

प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ (अग्निपुराणे कश्यपीयप्रजासर्गनामाध्यायः ।

कीर्मे 14 अध्यायश्च) शब्दकल्पद्रुमः ।

को 'वसवः' कहकर वेद के सभी देवताओं को वसु कह दिया गया है । सायणाचार्य आदि भाष्यकारों ने कितने ही स्थानों पर वसु का अर्थ निवास कराने वाले वीरजन, प्राण और इन्द्रियाँ, सूर्य की रश्मियाँ तथा घन आदि भी किया है । इसलिए वेद में वसु का वह अर्थ नहीं लिया जा सकता जोकि ऊपर उल्लिखित ग्रंथों में आठ वसुओं के नाम से किया गया है ।

सभी देवता, आदित्य भी, रुद्र भी और वसु भी

ऊपर के विवेचन से पाठकों पर यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि वेद में न तो किन्हीं विशिष्ट बारह आदित्यों का उल्लेख है, न ग्यारह रुद्रों का और न ही आठ वसुओं का । ब्राह्मणग्रन्थों और अन्य दूसरे ग्रन्थों में जो विशिष्ट प्रकार के बारह आदित्यों, ग्यारह रुद्रों और आठ वसुओं का वर्णन हुआ है वह उन ग्रन्थकारों की अपनी धारणा हो सकती है परन्तु उनका विचार वेद के आशय को प्रकट करता है ऐसा प्रतीत नहीं होता । यदि वेद में आदित्यों के साथ बारह की संख्या का, रुद्रों के साथ ग्यारह की संख्या का और वसुओं के साथ आठ की संख्या का प्रयोग हुआ होता तब तो इन लोगों की कल्पना का कुछ आधार भी होता । परन्तु ऐसा तो है नहीं । फिर जैसाकि हमने ऊपर के पृष्ठों में देखा है इन लोगों ने बारह आदित्यों, ग्यारह रुद्रों और आठ वसुओं के जो नाम गिनाये हैं वे भी भिन्न-भिन्न हैं और उनमें से कितने ही शब्द तो वेद में आते ही नहीं । तब कैसे समझा जाये कि ये लोग आदित्यों, रुद्रों और वसुओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं वही वेद का आशय है । वेद में तो जैसा कि हमने ऊपर कहा है सभी देवों को आदित्य भी कहा है, रुद्र भी और वसु भी । इसलिए आदित्य, रुद्र और वसु शब्दों को एक विशेष प्रकार के और एक विशिष्ट संख्या वाले पृथक्-पृथक् देवताओं के गणों का वाचक न समझकर इन्हें अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, पूषा और अश्विनो आदि सभी देवताओं के विशेषण समझना चाहिए और उसी रूप में इन शब्दों के अर्थ करने चाहिए । स्वयं आचार्य सायण आदि ने कितने ही स्थानों पर आदित्य का किसी से खण्डित न होने वाला, हिंसित न होने वाला, न दबने वाला, रुद्र का दुष्टों को दण्डित करके रलाने वाला और वसु का बसाने वाला, घन देने वाला, इस प्रकार के योगिक अर्थ किये हैं । अग्नि आदि देवों के विशेषण के रूप में इन तीनों शब्दों के इस प्रकार के योगिक अर्थ सर्वत्र हो सकते हैं । वेदों के प्रकाण्ड मर्मज्ञ ऋषि दयानन्द ने तो इन शब्दों के विशेषण रूप में इस प्रकार के योगिक अर्थ किये ही हैं ।

आदित्य, रुद्र और वसु की ऋषि दयानन्द की व्याख्या

ऋषि दयानन्द ने आदित्य, रुद्र और वसु इन तीनों शब्दों की एक और भी व्याख्या की है । छान्दोग्य उपनिषद्¹ के आधार पर ऋषि ने आदित्य का अर्थ 48

¹ छान्दोग्योपनिषद् 3.16 1-7 ।

वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करने वाले विद्वान्, रुद्र का अर्थ 44 वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करने वाले विद्वान् और वसु का अर्थ 24 वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करने वाले विद्वान् किया है। इन तीनों शब्दों के ऋषि के इन अर्थों को दृष्टि में रखते हुए देवों को आदित्य, रुद्र और वसु कहने का यह अभिप्राय होगा कि वे इन तीनों प्रकार के विद्वानों में से किसी न किसी एक प्रकार के विद्वान् हैं। हम इस ग्रन्थ में देवों का अधिराष्ट्र अर्थ कर रहे हैं और उनमें से कुछ प्रमुख देवों को हमने राज्य के विभिन्न विभागों के राज्याधिकारी स्थिर किया है। देवों को आदित्य, रुद्र और वसु कहने का तात्पर्य यह होगा कि राज्याधिकारियों को इन तीनों प्रकार के विद्वानों में से किसी एक प्रकार का विद्वान् अवश्य होना चाहिए। कम से कम वसु कोटि का विद्वान् तो उन्हें होना ही चाहिए। अर्थात् उन्हें कम से कम 24 वर्ष तक गुरुकुलों में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करके विद्याध्ययन अवश्य किया हुआ होना चाहिए। देव का अर्थ नाना प्रकार के काम, व्यवसाय और उद्योग-वन्धे करने वाले सामान्य प्रजाजन भी होता है। संस्कृत की जिस 'दिवु' धातु से देव शब्द निष्पन्न होता है उसका एक अर्थ व्यवहार या व्यवसाय करना भी होता है। देव का विविध व्यवहारशील सामान्य प्रजाजन अर्थ करने पर उन्हें आदित्य, रुद्र और वसु कहने का भाव यह होगा कि सब प्रजाजनों को भी इन तीनों प्रकार के विद्वानों में से किसी एक प्रकार का विद्वान् होना चाहिए। उन्हें कम से कम वसु ब्रह्मचारी रहकर विद्या प्राप्त किया हुआ तो होना ही चाहिए। इससे भी यह ध्वनि निकलती है कि राज्य में बालकों को वसुकाल अर्थात् 24 वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा देने की व्यवस्था होनी चाहिए। ऋषि दयानन्द ने शरीर के विकास और विवाहित होकर राष्ट्र के लिए सन्तानें उत्पन्न करने की क्षमता आदि को ध्यान में रखते हुए लड़कियों के लिए वसु ब्रह्मचर्य की सीमा 16 वर्ष, रुद्र ब्रह्मचर्य की सीमा 22 वर्ष और आदित्य ब्रह्मचर्य की सीमा 24 वर्ष रखी है। लड़कियों को भी कम से कम 16 वर्ष की आयु तक अनिवार्य रूप से शिक्षा दिये जाने की व्यवस्था राज्य में अवश्य होनी चाहिए।

इस प्रकार देवताओं को आदित्य, रुद्र और वसु कहने का बड़ा सुन्दर समाधान हो जाता है। इनके स्वरूप और संख्या के सम्बन्ध में जो प्रचलित धारणा है उनमें न तो कोई गम्भीर वैचारिक विशिष्टता प्रतीत होती है और न ही जीवनोपयोगी कोई विशेष व्यावहारिक शिक्षा ही उससे निकलती दीखती है तथा न ही कोई विशेष वैज्ञानिक रहस्य या चमत्कार ही उसमें दिखाई देता है।

देवों की संख्या सैंकड़ों और हजारों

वेद में देवों की संख्या अनेक स्थानों पर 33 कही गई है। वेद में अग्नि और इन्द्र आदि छोटे-बड़े देवताओं का जो कम या अधिक वर्णन हुआ है उनकी संख्या कई सौ हो जाती है। कई स्थानों पर स्वयं वेद में भी देवताओं की संख्या सैंकड़ों और

हजारों भी कही गयी है। ऋग्वेद 10.55.3. में उनकी संख्या 245 बताई गई है।¹ ऋग्वेद 3.9.9. में उनकी संख्या 3339 बताई गई है।² और अथर्ववेद में उनकी संख्या 6333 बताई गई है।³ अथर्व० 11.3.21. में उनकी संख्या 480 बताई गई है।⁴ इन सभी स्थानों पर देवताओं की संख्या तो बताई गई है पर उनके नाम या उनका कोई विवरण नहीं दिया गया है। जहाँ इस प्रकार सैंकड़ों और हजारों की संख्या का उल्लेख होता है वहाँ प्रायः भाष्यकार उस संख्या का वही निश्चित संख्या अर्थ न करके उसका बहुत अधिक या अगिनत ऐसा अनिश्चित अर्थ कर दिया करते हैं। जैसाकि सैंकड़ों और हजारों ऐसा लिखने और बोलने की अवस्था में लोक में भी इन संख्याओं का बहुत अधिक या अनगिनत ऐसा अनिश्चित अर्थ ही समझा जाता है। इस पद्धति से अर्थ करने पर देवों को इन सैंकड़ों और हजारों की संख्या में कहने का भाव यह होगा कि देवों की संख्या बहुत अधिक है। इस ग्रन्थ में हम देवों के अधिराष्ट्र अर्थ में उन्हें राज्याधिकारियों के रूप में देख रहे हैं। राज्य के प्रमुख राज्याधिकारी और उनके सहायक उनके विभागों के छोटे-बड़े राज्याधिकारी मिलकर सैंकड़ों और हजारों की संख्या में हो ही सकते हैं। इसी भाँति जैसाकि हमने ऊपर भी कहा है कि यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्रों की संख्या असंख्यात हजार अर्थात् हजारों और लाखों कही गई है।⁵ रुद्र का अधिराष्ट्र अर्थ हमने सेनापति और सैनिक किया है। किसी सेना में सेनापतियों और सैनिकों की संख्या हजारों-लाखों हो ही सकती है। इस प्रकार देवों की ये जो संख्यायें बताई गई हैं उनका कुछ समाधान हो सकता है। फिर भी 245, 3339 और 6333 इस प्रकार की ये जो निश्चित सी संख्यायें देवों की बताई गई हैं उनका ठीक से समाधान होता नहीं है। वेद में देवों की गणना के प्रसंग में ही नहीं, अन्य प्रसंगों में भी विभिन्न संख्याओं का उल्लेख आता है। वेद में इन्द्र द्वारा 99 नगरियों के भेदन का वर्णन तो प्रसिद्ध है ही।⁶ उसके द्वारा 6099 विरोधियों को परास्त करने का वर्णन भी आता है।⁷ इसी भाँति एक स्थान पर अग्नि के द्वारा एक लाख प्रतिद्वन्द्वियों का प्रतिरोध किये जाने का उल्लेख भी है।⁸ अन्य प्रसंगों में और भी अनेक छोटी-बड़ी संख्याओं का उल्लेख आता है। वेद में आयी इन सभी विभिन्न संख्याओं के समाधान का विषय अभी बहुत अधिक विचार और अनुसंधान की अपेक्षा रखता है।

¹ पंच देवान् ऋतुशः सप्तसप्त । ऋग्० 10.55.3.

² त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् । ऋग्० 3.9.9, यजु० 33.7.

³ त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशताः पट्सहस्राः सर्वान्स देवान् तपसा पिपति । अथ० 11.5.2.

⁴ यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः । अथ० 11.3.21.

⁵ असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । यजु० 16.54.

⁶ त्वं पुरो नवति दम्भयो नव । ऋग्० 1.54.6.

⁷ षष्टिं सहस्रा नवति नव श्रुतो वि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् । ऋग्० 1.53.9.

⁸ त्वं सहस्राणि शता दश प्रति । ऋग्० 2.1.8.

एक समाधेय प्रश्न

इस अध्याय के आरम्भ में हमने देखा है कि वेद में 33 देवताओं का विभाग इस प्रकार किया गया है कि ग्यारह देवता द्युलोक में रहने वाले हैं, ग्यारह अन्तरिक्ष में रहने वाले और ग्यारह पृथिवी पर रहने वाले हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जैसाकि हमने 33 देवताओं की विवेचना में इस अध्याय के आरम्भ में ही देखा है 12 आदित्य, 11 रुद्र और 8 वसुओं की 31 की संख्या में कहीं द्युलोक और पृथिवी लोक इन दो को जोड़कर, कहीं प्रजापति और वषट्कार इन दो को जोड़कर, कहीं वाक् और स्वर इन दो को जोड़कर तथा कहीं इन्द्र और प्रजापति इन दो को जोड़कर 33 देवों की संख्या पूरी की गई है। ब्राह्मणग्रन्थों के देवताओं की 33 संख्या के इस प्रकार के समाधान को स्वीकार करने में जो कठिनाई है उसकी ओर हमने ऊपर तैत्तिरीय देवता, आदित्य, रुद्र और वसुओं के विवेचन में स्पष्ट निर्देश कर दिया है। फिर, ब्राह्मणग्रन्थों और अन्य ग्रन्थों के इस परिगणन से वेद के इस कथन का भी कोई स्पष्टीकरण नहीं होता है कि तीनों लोकों में ग्यारह-ग्यारह देवता रहते हैं। इन ग्रन्थों में यह भी नहीं बताया गया है कि उनके द्वारा परिगणित 33 देवों में से कौन से ग्यारह द्युलोक में रहने वाले हैं, कौन से ग्यारह अन्तरिक्ष लोक में और कौन से ग्यारह पृथिवी लोक में रहने वाले हैं। जैसाकि हम देख चुके हैं वेद में भी यह स्पष्ट रूप से बताया गया नहीं मिलता कि इन तीनों लोकों में रहने वाले ग्यारह-ग्यारह देवता कौन से हैं। उधर वेद में जैसाकि हमने ऊपर की पंक्तियों में देखा है देवताओं की संख्या सैंकड़ों और हजारों भी बताई गई है। इन सैंकड़ों और हजारों देवों में से कौन से ग्यारह द्युलोक में, कौन से ग्यारह अन्तरिक्ष लोक में और कौन से पृथिवी लोक में रहने वाले हैं यह प्रश्न बना रहता है। इसका समाधान बहुत अधिक चिन्तन और अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। जहाँ देवों की ग्यारह-ग्यारह की संख्या को मालूम करने की आवश्यकता है वहाँ तीनों लोकों का अभिप्राय यही प्रत्यक्ष दीखने वाले तीन लोक हैं अथवा द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी शब्दों का अर्थ ही इन स्थलों पर कुछ और है यह भी देखने की बात है। ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में अनेक स्थानों पर इन शब्दों के प्रसिद्ध अर्थों से भिन्न अर्थ भी किये हैं। फिर क्षेत्र-भेद से द्यौः, अन्तरिक्ष और पृथिवी और इनमें रहने वाले ग्यारह-ग्यारह देवों के स्वरूप का निर्धारण भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा। यह सब कुछ गम्भीरता से विचार और अनुसन्धान करने योग्य है। हमने इस अध्याय में इस समस्या का समाधान करने की अपेक्षा उसका प्रस्तुतीकरण ही अधिक किया है।

22

राज्यों का पतन कैसे रुक सकता है

मानव जाति का इतिहास हमें बताता है कि भूतकाल में पृथिवी के विभिन्न देशों में अनेक राज्य और साम्राज्य स्थापित हो होकर नष्ट होते रहे हैं। एक साधारण विद्यार्थी राष्ट्रों के इस इतिहास के आधार पर यह अनुमान सहज ही कर सकता है कि वर्तमान काल के शक्तिशाली राज्य और साम्राज्य भी भविष्य के गर्भ में विलीन हो जायेंगे—उसी तरह जिस तरह पुरा-कालीन राज्य और साम्राज्य नष्ट होते आये हैं। तो क्या स्थापित राज्यों का किसी भविष्य में नष्ट हो जाना अनिवार्य है? क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है जिसका आश्रय लेकर स्थापित राज्य भविष्य पतन से बचकर निरन्तर उन्नति के मार्ग पर ही चलते जा सकें? वेद उत्तर देता है कि स्थापित राज्यों का पतन अनिवार्य नहीं है। ऐसे भी उपाय हैं जिनका सहारा लेकर कोई राज्य निरन्तर उन्नति के पथ पर ही चलता रह सकता है। इस सम्बन्ध में वेद के विभिन्न स्थलों में जो निर्देश उपलब्ध होते हैं उनमें से कुछ थोड़े से संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं।

राष्ट्र-धारण के लिए आवश्यक प्रजाओं के सात गुण

हम जानते ही हैं कि अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त मातृभूमि का सूक्त है। इस सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

सत्यं बृहद्वत्मुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरु लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

अथ० 12.1.1.

अर्थात्—‘बृहत् सत्य और बृहत् ऋत, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ पृथिवी का धारण करते हैं, इनसे धारण की हुई, हमारे भूत और भविष्य की रक्षा करने वाली वह हमारी मातृभूमि हमें महान् प्रकाश और स्थान (लोक) प्रदान करे।’

इस मन्त्र में सत्य आदि सात चीजों को भूमि अर्थात् राष्ट्र का धारण करने वाला बताया गया है। यदि किसी राष्ट्र में ये सात बातें रहेंगी तो वह स्थिर रहेगा। उसका पतन नहीं होगा। जिस राष्ट्र में ये सात चीजें न रहेंगी वह स्थिर नहीं रहेगा।

उसका पतन हो जायेगा। इन सातों बातों का संक्षिप्त स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है—

(1) सत्यम्—राष्ट्र के अधिकारियों को सत्यप्रिय होना चाहिए। उन्हें असत्य से द्वेष होना चाहिए। सत्य क्या है यह जानने के लिए उन्हें सदा तत्पर रहना चाहिए। सत्य तक पहुँचने के लिए जिस शान्त, गम्भीर, अध्यवसायी, सहानुभूतिपूर्ण, और कष्ट-सहिष्णु वृत्ति तथा घटनाओं की तह तक जाने वाली सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है वह उनमें होनी चाहिए। और जब सत्य क्या है यह उन्हें पता लग जाये तो उसके अनुसार मन, वचन और कर्म से उन्हें आचरण करने वाला होना चाहिए। मन्त्र में सत्य के साथ वृहत् यह विशेषण दिया गया है। वृहत् का अर्थ होता है महान्। इस विशेषण का भाव यह है कि राष्ट्र के अधिवासियों में महान् सत्य रहना चाहिए। उनके जीवन में कोई भी क्षण ऐसा नहीं रहना चाहिए जिसमें वे सत्य से परे हो जाएँ। सत्य का आचरण उनके जीवन का अंग हो जाना चाहिए।

(2) ऋतम्—ऋत का अर्थ होता है सत्य ज्ञान। अपने सामान्य प्रयोग में सत्य और ऋत ये दोनों शब्द पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। परन्तु इनमें भेद है। जैसा मेरा ज्ञान है उसके अनुसार आचरण करने को सत्य कहते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि मेरा आचरण सत्य होगा तो मेरा ज्ञान भी अवश्य सत्य होगा। किसी बात का मेरा ज्ञान अशुद्ध हो सकता है। परन्तु मैं अपने अशुद्ध ज्ञान को ही ठीक समझता हुआ उसके अनुसार आचरण कर सकता हूँ। इस आचरण में जहाँ तक मेरी वृत्ति का सम्बन्ध है वहाँ तक मैं सत्य पर हूँ। परन्तु मेरा वह ज्ञान वास्तव में ठीक नहीं है। इसलिए वह ऋत नहीं है। और इसलिए उस गलत ज्ञान पर आश्रित मेरा आचरण भी ऋत नहीं है। मेरा ज्ञान अमृत है और अनृत ज्ञान पर टिका होने के कारण मेरा आचरण भी अनृत ही है। सत्य यह बताता है कि किसी बात को मैंने ठीक समझा है और जैसा मैंने समझा है वैसे ही मैंने आचरण भी किया है। परन्तु मेरे ठीक समझने से ही तो कोई बात ठीक नहीं हो सकती। ऋत यह बताता है कि मैंने किसी चीज को जैसा समझा है वह वास्तव में है मी वंसी ही। ऋत इस प्रकार ज्ञान की सत्यता को द्योतित करता है। वेद में यह शब्द सत्य ज्ञान का बोधक होता हुआ जगत् के सत्य नियमों का बोधक भी हो जाता है। क्योंकि जगत् में चल रहे सत्य नियमों के सही बोध पर ही हमारे ज्ञान की सत्यता अवलम्बित होती है। फलतः ऋत विश्व में चल रहे सत्य नियमों का, उनके सत्य ज्ञान का और तदनुसार सत्य आचरण का द्योतक हो जाता है।

राष्ट्र के लोगों में ऋत होना चाहिए इस कथन का भाव यह है कि उन्हें विश्व-ब्रह्माण्ड में काम कर रहे भौतिक और आत्मिक नियमों का सच्चा ज्ञान होना चाहिए, उन्हें भौतिक और आत्मिक विद्याओं का पण्डित होना चाहिए, और इस ज्ञान एवं इन विद्याओं के अनुकूल उनके आचरण होने चाहिए।

मन्त्र में प्रयुक्त वृहत् विशेषण जिस प्रकार सत्य के साथ सम्बद्ध होता है उसी

प्रकार वह ऋत के साथ भी सम्बद्ध हो सकता है। क्योंकि वह मन्त्र में सत्य और ऋत शब्दों के मध्य में प्रयुक्त हुआ है। उसका सम्बन्ध सत्य से भी जोड़ा जा सकता है और ऋत से भी। ऋत के साथ बृहत् को जोड़ने पर भाव यह होगा कि राष्ट्र-निवासियों में महान् ऋत रहना चाहिए। उन्हें भौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं का आविष्कार और ज्ञान प्राप्त करने में बहुत प्रयत्नशील होना चाहिए तथा इस ज्ञान के अनुसार आचरण करने में भी उन्हें पूर्ण तत्पर रहना चाहिए।

(3) उग्रम्—उग्र शब्द उद्गूर्ण शक्ति और तेज वाले क्षत्रिय का वाचक है। यहाँ यह नपुंसक लिंग में प्रयुक्त हुआ है और क्षत्रिय के तेज और शक्ति को द्योतित करता है। राष्ट्र के लोगों में उग्रता रहनी चाहिए। उनमें तेज और बल रहना चाहिए। सामान्य प्रजा में भी उग्रता होनी चाहिए और उग्रता के विशेष धनी उग्र अर्थात् क्षत्रिय लोग भी राष्ट्र में बड़ी संख्या में रहने चाहिए।

(4) दीक्षा—किसी कार्य को दृढ़ संकल्पपूर्वक हाथ में लेने को दीक्षा कहते हैं। राष्ट्र के लोगों में दीक्षा होनी चाहिए। उनकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए—उनके शरीरों और मनों की साधना ऐसी होनी चाहिए—कि जब वे भली-भाँति, सोच-विचार कर किसी काम को हाथ में ले लें तो फिर उसे पूर्ण करके विश्राम लें। विघ्न-बाधाओं से घबराकर अपने संकल्पित कार्यों को वे बीच में ही छोड़ देने वाले न हों। एक बार किसी कार्य को करने का संकल्प कर लेने के पश्चात् वे न तो किसी कष्ट और विपत्ति से विचलित हों और न ही किसी प्रकार के लोभ और लालच से डगमगायें। जिस दृढ़ निश्चय, श्रद्धा और पवित्रता की भावना से यजमान यज्ञ में दीक्षित होता है उसी भावना से राष्ट्रनिवासियों को अपने सब कार्य करने चाहिए। यज्ञ-दीक्षा का मंग होने पर यजमान जैसे अपने आपको पापिष्ठ अनुभव करता है वैसे ही राष्ट्र निवासियों को अपने प्रारम्भ कार्यों को बीच में ही छोड़ देने पर अपने आपको पापिष्ठ अनुभव करना चाहिए।

(5) तपः—जीवन में कष्ट-सहिष्णुता और सरलता-सादगी की वृत्ति को तप कहते हैं। राष्ट्र के लोगों में तप रहना चाहिए। उनका जीवन सरल और सादा रहना चाहिए। उन्हें बीच-बीच में भाँति-भाँति के कष्टों को सहने का स्वेच्छा-पूर्वक अभ्यास करते रहना चाहिए। सरल और सादा जीवन रखने तथा बीच-बीच में कष्टों के सहने का अभ्यास करते रहने का परिणाम यह होगा कि जब कभी उन्हें वैयक्तिक अथवा सामाजिक कर्तव्यों का पालन करते हुए कष्टों का सामना करने का अवसर प्राप्त होगा तो वे उन कष्टों से घबरायेंगे नहीं। वे उनको वीरता से सहन करेंगे। जिनके जीवन में सरलता-सादगी और कष्ट सहने का अभ्यास नहीं होता, जो लोग ठाठ-बाट, बनाव, साज-सिंघार और विलास के जीवन में रहते हैं वे लोग कर्तव्य-पालन में कष्टों का सामना आ पड़ने पर उनको सहन नहीं कर सकते। वे अभ्यास न होने के कारण कष्टों से घबराकर कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं। इसलिए राष्ट्र के लोगों का जीवन तपस्वी जीवन होना चाहिए।

(6) ब्रह्म—ब्रह्म ब्राह्मण को कहते हैं। ब्रह्म वेद को भी कहते हैं और भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों को भी कहते हैं वेद और विद्या-विज्ञानों को पढ़ते रहने के कारण ही ब्राह्मण को ब्रह्म कहते हैं। राष्ट्र में ब्रह्म रहना चाहिए। उसमें वेद का प्रचार रहना चाहिए और वेदोपलक्षित भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था रहनी चाहिए। सारी प्रजा में ही वेद और विद्या-विज्ञानों का भरपूर प्रचार रहना चाहिए। परन्तु इसके साथ ही राष्ट्र में ब्राह्मण नाम के विशेष व्यक्तियों की भी यथेष्ट संख्या रहनी चाहिए। जैसा शास्त्र में अन्यत्र अनेक स्थानों में कहा गया है। इन ब्राह्मणों के जीवन का वेद और भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों का अध्ययन और अध्यापन का विशेष उद्देश्य होता है, ये त्यागी, तपस्वी, संयमी, परोपकार-प्रिय और आत्मजयी लोग होते हैं। इन तत्त्वदर्शी लोगों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य अपनी विद्या और संयम की ज्योति को सर्वसाधारण प्रजा में निःस्वार्थ भाव से फैलाते रहना होता है। ऐसे ब्राह्मण लोग राष्ट्र में सदा बड़ी संख्या में रह सकें इसका पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए।

(7) यज्ञः—जब हम किसी समुदाय के योग-क्षेम को, कल्याण को, लक्ष्य में रखकर उस समुदाय का अंग होकर किसी कार्य को करने लगते हैं तो हमारा वह कार्य यज्ञ कहलाता है—‘सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया ध्रियमाणं कर्म यज्ञः।’ यज्ञ शब्द यज धातु से बनता है जिसका एक अर्थ संगतीकरण होता है। हमारे कार्य जो संगत होकर, मिलकर, किये जाते हैं वे सब यज्ञ कहलाते हैं। राष्ट्र के लोगों में यज्ञ होना चाहिए। उनमें यज्ञशीलता की वृत्ति रहनी चाहिए। उन्हें राष्ट्र के कल्याण की भावना से परस्पर मिलकर काम करने की आदत होनी चाहिए। राष्ट्र के लाभ और भलाई के लिए यदि उन्हें अपना वैयक्तिक लाभ और सुख छोड़ना पड़े तो वे उसके लिए भी उद्यत रहें। इस परोपकारमयी भावना से काम करने की वृत्ति को यज्ञ की वृत्ति कहते हैं। राष्ट्र के लोगों में यह यज्ञ की भावना सदा स्थिर रखनी चाहिए।

जिस राष्ट्र के लोगों में ये उपर्युक्त सात बातें पाई जायेंगी वेद कहता है कि उसका कभी पतन नहीं हो सकता।

नेताओं के पाँच प्रमुख गुण

अथर्ववेद का 19.41 सूक्त एक ही मन्त्र का सूक्त है। राष्ट्रों को पतन के मार्ग पर जाने से कैसे रोका जा सकता है इस विषय में वह भी बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है। मन्त्र इस प्रकार है—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

अथ० 19.41.1.

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

‘(स्वर्विदः) जिन्हें स्वयं सुख की प्राप्ति है, जो स्वयं सन्तुष्ट है और इसलिए जिन्हें किसी प्रकार का निजी लोभ नहीं है ऐसे (ऋषयः) दूरदर्शी तत्त्ववेत्ता विद्वान् लोग (भद्रं) दूसरों का भला (इच्छन्तः) चाहते हुए (अग्रे) पहले (तपः) तप और (दीक्षाम्) दीक्षा को (उपनिषेदुः) स्वीकार करते हैं (ततः) तब राष्ट्र¹ का (बलं) बल (च) और (ओजः) ओज (जातं) उत्पन्न होता है (तत्) इसलिए (अस्मै) इस राष्ट्र के आगे (देवाः) माँति-भाँति के व्यवहारों में कुशल विद्वान् लोग (उपसंनमन्त) झुकते रहें ।’

मन्त्र का भाव यह है कि किसी राष्ट्र में बल और ओज की उत्पत्ति तब होती है जबकि उसे इस बल और ओज को उत्पन्न करने के उद्देश्य से तप और दीक्षा का जीवन विताने वाले, सबके भले की कामना वाले, स्वर्विद् ऋषि लोग मिल जाते हैं । मन्त्र के भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिए मन्त्र में प्रयुक्त कुछ शब्दों की जरा विस्तृत व्याख्या करने की आवश्यकता है ।

(क) ऋषयः—ऋषि² का अर्थ होता है देखने वाला । अब, आँखों से देखने की शक्ति तो सभी में है । आँखों से देखने के कारण ऋषियों को ऋषि नहीं कहते । ऋषियों में चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त एक और प्रकार की देखने की शक्ति होती है । वह शक्ति होती है बुद्धि से देखने की । ऋषि कोटि के विद्वान् लोग अपनी बुद्धि के बल से उन पदार्थों को भी देख लेते हैं जो आँखों के आगे नहीं होते हैं और जो आँखों से देखे ही नहीं जा सकते । ये लोग अपनी पैनी और सूक्ष्मदर्शनी बुद्धि के बल से आज के इतिहास और आज की घटनाओं को देखकर भविष्य में कई साल पीछे होने वाली घटनाओं का अनुमान कर लेते हैं । ऐसे विद्वान् देखे गये हैं जो दस-दस, बीस-बीस और इससे भी अधिक वर्षों के पश्चात् होने वाली घटनाओं का अपने ज्ञान के बल से सही अनुमान कर लेते हैं । ऐसे दूरदर्शी विद्वानों को ऋषि कहते हैं । ये दूरदर्शी ऋषि लोग राष्ट्र की प्रजाओं के जीवन की प्रगतियों को ध्यान से देखते रहते हैं । और इन प्रगतियों के परिणामस्वरूप कुछ समय के पश्चात् राष्ट्र के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कौन सी अवस्थाएँ उत्पन्न होने वाली हैं इसका अपने ज्ञान और बुद्धि के बल से सहज ही अनुमान कर लेते हैं । यदि ये आने वाली अवस्थाएँ राष्ट्र के लिए हितकारी नहीं होतीं तो वे उसे उनसे सावधान करते रहते हैं और उनसे बचने के उपाय बताते रहते हैं । अपने राष्ट्र का जब कभी किसी अन्य राष्ट्र से संघर्ष हो जाता है तो विरोधी राष्ट्र हमें पराभूत करने के लिए कब कौनसी चालें और नीतियाँ ग्रहण करेगा इसे ये दूरदर्शी विद्वान् लोग घटनाओं को देखकर पहले से ही जान लेते हैं । और विरोधी की किस चाल पर हमें कौनसी नीति स्वीकार करनी चाहिए यह पहले से ही सुझा देते हैं । ऐसे दूरदर्शी, तत्त्ववेत्ता, विद्वान् नेताओं को ऋषि कहते हैं । किसी भी राष्ट्र में बल और ओज रहने के लिए आवश्यक है कि उसे इस प्रकार के ऋषि कोटि के मार्ग-

¹ राष्ट्रस्येदं राष्ट्रम् ।

² ऋषिदर्शनात् ।

दर्शक नेता लोग प्राप्त हों।

(ख) भद्रमिच्छन्तः—इन ऋषि कोटि के विद्वान् मार्गदर्शक नेता लोगों में ऋषित्व के अतिरिक्त एक गुण और होना चाहिए। और वह यह कि उन्हें राष्ट्र के प्रजाजनों का भद्र चाहने वाला होना चाहिए। प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के मंगल की भावना उनके हृदय में होनी चाहिए। जब वे अपने ऋषित्व के गुण से राष्ट्र के मार्ग-प्रदर्शन के लिए आगे आवें तो उनके हृदय में अपने किसी लाभ की भावना नहीं होनी चाहिए। अपना कोई स्वार्थ पूरा करने की इच्छा उनके मन में नहीं होनी चाहिए। प्रजा का कष्ट उनसे सहा नहीं गया। प्रजा के दुःख-सन्ताप से उनका करुणापूर्ण मोम-सा हृदय पिघल गया। वस इसी से वे प्रजाओं को मार्ग प्रदर्शन करने के लिए आगे निकल आये। प्रजाओं को कष्ट-विन्धु से पार करने की इच्छा से उन्होंने उनके नेतृत्व की नौका के चप्पू सम्भाल लिये। अपने लिए कुछ प्राप्त करने की तो उनके भीतर इच्छा ही नहीं थी। जब तक यह निःस्वार्थ भाव से प्रजा के मंगल की भावना राष्ट्र के नेताओं में नहीं होगी तब तक उनसे राष्ट्र का सच्चा और स्थायी कल्याण नहीं हो सकता। जो नेता अपने किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर प्रजाओं का नेतृत्व संभालने आयेंगे वे तो अपना प्रयोजन पूरा होते ही नेतृत्व से दूर हट जायेंगे। राष्ट्र की नौका को मँझघार में ही छोड़कर वे अलग हो जायेंगे। क्योंकि प्रजा का दुःख दूर करना उनके नेतृत्व का उद्देश्य नहीं था। उनका उद्देश्य तो नेतृत्व के सहारे अपने आपको प्रसिद्ध और प्रभावशाली बनाकर अपना काम निकालना था। जब उनका काम निकल गया तो उन्हें क्या पड़ी है कि वे राष्ट्र के नेतृत्व से अपने जीवन को कष्टमय बनाते रहें। इसलिए राष्ट्र के बल और ओज एवं उसके कल्याण की वृद्धि के लिए आवश्यक है कि उसके जो नेता हों वे ऋषि होने के, दूरदर्शी होने के साथ ही निःस्वार्थ और प्रजा के मंगल की भावना वाले भी हों।

(ग) स्वर्विदः—नेताओं में अपने स्वार्थ की भावना ही न हो, वे विशुद्ध परोपकार की भावना से प्रेरित हो रहे हों, यह एक बड़ी कठिनाता से प्राप्त होने वाली बात है। इस प्रकार के नेता अनायास नहीं मिल सकते। इस प्रकार का आदर्श नेता बनने के लिए नेताओं को नेता बनने से पूर्व बड़ी साधना करनी होगी। वह साधना कौनसी है यह इस 'स्वर्विदः' विशेषण द्वारा बताई गई है। 'स्वर्विद्' का अर्थ है वह व्यक्ति जिसे स्वयं अपने भीतर से ही सुख प्राप्त हो रहा हो। उपनिषदों में जो भाव आत्माराम, आत्मरति और आत्मक्रीड शब्दों से कहा गया है उसी भाव को यहाँ स्वर्विद शब्द द्वारा कहा गया है। जो लोग अपने आपको सुखी बनाने के लिए बाहर की सांसारिक वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रखते, जिन्हें अपने आत्मा के भीतर से ही सब सुख प्राप्त होता रहता है, जो आनन्द उपलब्ध करने के लिए अपने आत्मा में आनन्द के धाम परमात्मा का साक्षात्कार करके उसी में रमण करते और उसी से खेलते रहते हैं, उन आत्म-सन्तुष्ट तत्त्ववेत्ताओं को आत्माराम, आत्मरति और आत्म-क्रीड नामों से कहा जाता है। इन्हीं लोगों को वेद में स्वर्विद नाम से कहा गया है।

जिन्हें 'स्वः' अर्थात् उत्कृष्ट आनन्द की वेदना अर्थात् उपलब्धि अपने आत्मा में से ही होती रहती है उन सदासुखी आत्मज्ञ पुरुषों को स्वर्विद् कहा जाता है। जो स्वार्थहीन और सच्चे परोपकारी नेता बनना चाहते हैं उन्हें नेता बनने से पहले साधना करके 'स्वर्विद्' बन लेना चाहिए। उन्हें नेता बनने से पहले साधना करके अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेना चाहिए जिससे उन्हें सांसारिक विषयों की आवश्यकता ही न रहे या न्यून से न्यून आवश्यकता रहे। इसके अतिरिक्त उन्हें अभ्यास द्वारा अपने आत्मा को इतना निर्मल कर लेना चाहिए कि उसमें आनन्द के धाम परमात्मा की स्पष्ट अनुभूति होने लगे और वे उस आनन्द धाम के आनन्द से अनुप्राणित होकर अपने को आनन्दमय अनुभव करने लगे। आत्मा निरानन्द अवस्था में नहीं रह सकता। वह या तो अपने आपको आनन्दमय बनाने के लिए सांसारिक विषयों में विचरेगा या फिर उसे प्रभु के साक्षात्कार से जन्य आनन्द उपभोग के लिए मिलना चाहिए। परन्तु सांसारिक विषयों का उपभोग मनुष्य को स्वार्थी, ईर्ष्यालु, विद्वेषी, कलहपूर्ण और संकीर्ण बना देता है और उसकी परोपकारशील वृत्ति को नष्ट कर देता है। संसार में जितने झगड़े और युद्ध होते रहते हैं उनके मूल में यह सांसारिक विषयों को प्राप्त करने की लालसा ही तो होती है। संसार के विषय यदि मनुष्य के आनन्द का कारण हो सकते हैं तो तभी जबकि उनका उपभोग आत्मज्ञान के प्रकाश और बन्धन में किया जाये। इसलिए राष्ट्र के मार्गदर्शक नेताओं के लिए नेतृत्व ग्रहण करने से पहले साधना करके आत्मदर्शी बन लेना आवश्यक है। जब वे यह साधना कर लेंगे तो उन्हें अपने आपको सुखी बनाने के लिए सांसारिक विषयों की विशेष आवश्यकता ही नहीं रहेगी। उन्हें तो तब अपने आत्मा के भीतर से ही वह अद्भुत और असीम सुख प्राप्त होगा जिसकी तुलना में सांसारिक विषयों के सुख कुछ सत्ता ही नहीं रखेंगे। इस स्वर्विद् अवस्था में पहुँच जाने का परिणाम यह होगा कि मार्गदर्शक नेताओं को अपने आपको सुखी बनाने के लिए सांसारिक विषयों की आवश्यकता न रहेगी। जब उन्हें सांसारिक विषयों की आवश्यकता न रहेगी तो उनके भीतर स्वार्थ का प्रवेश भी नहीं हो सकेगा। और इसीलिए नेतृत्व ग्रहण करने में किसी अपने लाभ की पूर्ति उनका प्रयोजन न रह जायेगा। और जब उनके मन की यह सर्वथा स्वार्थहीन अवस्था हो जायेगी तो यह भय नहीं रहेगा कि वे अपना प्रयोजन पूरा हो जाने पर राष्ट्र की नौका को मँझधार में ही छोड़कर पृथक् हो जायेंगे। इस अवस्था में तो उनके नेतृत्व ग्रहण करने का एकमात्र उद्देश्य प्रजाओं का कष्ट निवारण रह जायेगा। और जब तक प्रजाओं का वह कष्ट दूर नहीं हो जायेगा जिसके निवारण के लिए उन्होंने नेतृत्व ग्रहण किया था तब तक उनके अन्दर नेतृत्व से अलग हो जाने की इच्छा उत्पन्न न होगी। अतः किसी राष्ट्र के मार्गदर्शक नेता लोग आदर्श रूप में प्रजाओं का भला करने की भावना वाले हो सकें इसके लिए आवश्यक है कि वे नेता बनने से पहले यह 'स्वर्वित्त्व' की अवस्था प्राप्त कर लें।

(घ) तपः—तप की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। नेताओं में तप रहना चाहिए। उनका जीवन सरलता, सादगी और कष्ट-सहिष्णुता के अभ्यास का होना चाहिए। जिन नेताओं में यह तप नहीं होगा वे तब तक तो नेतृत्व करते रहेंगे जब तक नेतृत्व सुखपूर्वक चल रहा है, जब तक नेतृत्व के कारण कोई कष्ट उन्हें नहीं मिल रहा है। ज्यों ही नेतृत्व के कारण कोई कष्ट उन्हें प्राप्त होने लगेगा त्यों ही वे तपस्वी न होने के कारण उस कष्ट से घबरा जायेंगे और उससे बचने के लिए नेतृत्व को छोड़कर अलग हो जायेंगे। इसलिए नेताओं का तपस्वी होना आवश्यक है।

(ङ) दीक्षा—दीक्षा की भी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। नेता खूब सोच-विचार कर किसी काम को हाथ में लें। और खूब सोचने-विचारने के पश्चात् जब एक बार किसी काम को हाथ में ले लिया तो उसे इतनी दृढ़ता से लें कि संसार चाहे इधर से उधर हो जाये पर वे उसका परित्याग न करें। वे मर मिटेंगे पर सफलता प्राप्त किये बिना निर्धारित मार्ग से नहीं हटेंगे। ऐसी दृढ़ता-पूर्वक किसी काम को हाथ में लेने की वृत्ति को दीक्षा कहते हैं। नेताओं के लिए इस दीक्षा का घनी होना भी आवश्यक है।

जब किसी राष्ट्र को इन उपर्युक्त गुणों वाले ऋषि लोग नेतृत्व के लिए मिल जाते हैं तब उस राष्ट्र में बल अर्थात् शारीरिक और भौतिक शक्ति तथा ओज अर्थात् आत्मिक शक्ति, उत्पन्न हो जाते हैं। और जिस राष्ट्र में बल और ओज उत्पन्न हो गये हैं वह सदा उन्नति के मार्ग में आगे ही आगे बढ़ता चला जायेगा।

मन्त्र के अन्तिम चरण में कहा गया है कि इस राष्ट्र के आगे सब लोग झुकते रहें। इस वाक्य में भी राष्ट्रोन्नति का एक बड़ा भारी मर्म कह दिया गया है। जो लोग यह चाहते हैं कि उनके राष्ट्र का बल और ओज सदा बढ़ता रहे, उसकी सदा उन्नति होती रहे, उन्हें चाहिए कि वे सदा अपने राष्ट्र के आगे झुकते रहें—सदा उसकी आज्ञाओं का पालन करते रहें। जिस राष्ट्र के लोगों में अपने राष्ट्र की आज्ञाओं का मान और पालन करने की भावना बनी रहेगी वे सदा उन्नत होते रहेंगे। इसीलिए प्रजाओं में सदा इस प्रकार की भावना भरी जाती रहनी चाहिए जिससे वे राष्ट्र की आज्ञाओं का उत्लंघन न करें।

प्रजाजन और नेताओं के सामान्य गुण

ऊपर उद्धृत अथर्व० 12.1.1. मन्त्र में जिन सात बातों को राष्ट्र-धारण के लिए आवश्यक बताया गया है वे राष्ट्र के सभी प्रजाजनों में रहनी आवश्यक हैं। चाहे नेता हों और चाहे नेतव्य प्रजाजन, सभी में इन सात गुणों का रहना आवश्यक है।

परन्तु इस अथर्व० 19.41.1. मन्त्र में जिन गुणों का वर्णन किया गया है वे नेताओं के लिए विशेष तौर से आवश्यक गुण हैं। हाँ, मन्त्र के अन्तिम चरण में जो भाव कहा गया है वह निःसन्देह प्रजामात्र के लिए है। मन्त्र का शेष वर्णन नेताओं

के विषय में है। मन्त्र मुख्यतः नेताओं के गुणों का वर्णन करता है यह मन्त्र के 'ऋषयः' पद से सूचित होता है। ऋषि कोटि के लोग साधारण प्रजाजन नहीं हो सकते। फिर यह ऋषि लोग प्रजाओं का क्रियात्मक नेतृत्व ग्रहण करने वाले हैं यह मन्त्र 'भद्रमिच्छन्तः' आदि ऋषि-विशेषणों से स्पष्ट प्रकट हो रहा है।

इस गाड़ी में बैल कैसे जोड़ेंगे ?

इसी प्रसंग में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र देखने योग्य है। मन्त्र इस प्रकार है—

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हणायून् ।
आसन्निषून् ह्रतस्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥

ऋग् ० 1.84.16.

अर्थात्—'(अद्य) आज (शिमीवतः) कर्मशील (भामिनः)¹ तेजस्वी प्रकाशवान् (दुर्हणायून्) दुष्ट व्यवहारों पर क्रोध करने वाले (मयोभून्) सुख का संचार करने वाले (आसन्निषून्) मुख में बाण रखने वाले (ह्रतस्वसः) दूसरों के हृदयों में अपने बाणों को फेंकने वाले अथवा अपने हृदय से निकाल कर बाण फेंकने वाले (ऋतस्य) सत्य को (गाः)² प्राप्त करने वाले अथवा गाने वाले पुरुषों को (धुरि) राष्ट्र रूप गाड़ी की धुरी में (कः) कौन (युङ्क्ते) जोड़ता है ? (यः) जो (एषाम्) इन पुरुषों की (भृत्याम्) भरण-विधि को (ऋणधत्) बढ़ाता है। (सः) वही (जीवात्) जीवन प्राप्त करता है।'।

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसका देवता इन्द्र है। इन्द्र सम्राट् का वाचक है यह पाठक जानते ही हैं। मन्त्र में यह बताया गया है कि किस प्रकार के पुरुषों को राज्य के अधिकार-पदों पर नियुक्त करना चाहिए। यहाँ राष्ट्र को एक गाड़ी से उपमा दी गई है। जिस प्रकार एक गाड़ी अपना काम ठीक नहीं कर सकती यदि उसमें समर्थ बैल न जोड़े जायें उसी प्रकार राज्य भी ठीक नहीं चल सकता यदि उसके अधिकार-पदों पर योग्य पुरुषों को नियुक्त न किया जाये। मन्त्र में प्रश्न पूछा गया है कि कौन इस प्रकार के योग्य पुरुषों को राष्ट्र की धुरी बहन करने के काम में नियुक्त करता है ? प्रश्न का उत्तर मन्त्र में नहीं दिया गया है। इसका उत्तर पाठक पर ही छोड़ दिया गया है। और वह उत्तर यह है कि इस प्रकार के योग्य पुरुषों को इन्द्र (सम्राट्) राज्य की गाड़ी की धुरी उठाने के काम में नियुक्त करता है। यह उत्तर इसलिए निकल आता है कि सारे सूक्त में इन्द्र का ही वर्णन चल रहा है। इस प्रकार प्रश्न करके पाठक के मुख से ही उसका उत्तर निकलवाने की इस शैली का वेद में बहुत स्थानों पर प्रयोग हुआ है। अब, ये राज्य की गाड़ी का जुआ उठाने वाले राज्य कर्मचारी रूप बैल किस प्रकार के गुणों वाले होने चाहियें यह मन्त्र में प्रयुक्त विशेषणों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। पाठक भी इस पर जरा विचार करें—

¹ तेजसा युक्तान् इति सायणः ।

² गतिमत इति सायणः । गतेष्व प्राप्तिरप्यर्थः । यद्वा गायतेर्गायिका गास्तान् ।

(क) शिमीवतः—शिमी कर्म को कहते हैं। जो भाँति-भाँति के कर्म कर सकते हों, जिनमें क्रिया शक्ति भरपूर हो उन्हें शिमीवान् कहेंगे। इस विशेषण का भाव यह है कि राज्य के पदाधिकारियों पर जो कर्मचारी नियुक्त किये जावें उनमें भाँति-भाँति के काम कर सकने की क्षमता होनी चाहिए। उन्हें क्रियाशील होना चाहिए। आलसी और निरुद्यमी उन्हें नहीं होना चाहिए। उन्हें जो भी काम सौंपा जाये उसे तत्परता के साथ कर सकने की शक्ति उनमें होनी चाहिए।

(ख) भामिनः—जो लोग राजकार्यों का भार उठाने के काम में नियुक्त किये जायें उन्हें तेजस्वी होना चाहिए। उन्हें इस प्रकार का होना चाहिए जिससे जनता पर उनका प्रभाव पड़ सके। जो तेजहीन हैं, जो जनता पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकते, वे लोग राज्यकार्य भली-भाँति नहीं कर सकते। भामिनः का अर्थ प्रकाश वाले भी हो सकता है। राज्याधिकारियों में प्रकाश रहना चाहिए। उन्हें प्रत्येक बात स्पष्ट देख सकनी चाहिए। दूसरे शब्दों में उन्हें यथेष्ट ज्ञानवान् और बुद्धिमान होना चाहिए जिससे वे प्रत्येक बात को भली-भाँति समझ सकें।

(ग) दुर्हणायून्—दुर्हणायु का अर्थ होता है बुरी बातों पर क्रोध करने वाले। राज्य कार्यों में नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियों को बुरी बातों पर क्रोध करने वाला होना चाहिए। उन्हें अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी बुरे आदमी को और किसी बुरे आदमी की बुरी बात को सहन नहीं करना चाहिए। उनमें अपने अधिकार क्षेत्र में से बुरे आदमियों और उनकी बुरी बातों को उखाड़ फेंकने की प्रबल भावना होनी चाहिए। जो राज्याधिकारी बुराई को सहन कर सकते हैं, वे राष्ट्र के लिए कभी हितकारी नहीं हो सकते।

(घ) मयोभून्—मयोभू का अर्थ है जो राष्ट्र में सुख उत्पन्न कर सकते हों, उसमें सुख का संचार कर सकते हों। राज्याधिकारी जहाँ दुर्हणायु हों—जहाँ उनमें दुष्टों को दण्ड देने की प्रबल भावना हो, वहाँ उन्हें मयोभू भी होना चाहिए—उनमें भाँति-भाँति के उपायों द्वारा राष्ट्र की प्रजा को सुखी बनाने की प्रबल भावना भी रहनी चाहिए। जो राज्याधिकारी प्रजा को दण्डित ही कर सकते हैं, उसे सुखी नहीं कर सकते, वे राज्य की गाड़ी को कभी भली-भाँति नहीं चला सकते। राज्याधिकारियों में तेज और दण्ड के साथ ही प्रेम और स्नेह भी रहना चाहिए।

(ङ) ऋतस्य गाः—‘ऋत’ कहते हैं सत्य को और ‘गा’ प्राप्त करने वाले को अथवा गान करने वाले को। राज्याधिकारियों को सत्य को प्राप्त करने वाला और सत्य का गान करने वाला होना चाहिए। उनके अपने जीवन में सत्य की प्राप्ति होनी चाहिए, उनका अपना जीवन सत्यपरायण होना चाहिए। और फिर उनका जीवन सत्य का गान करने वाला होना चाहिए—उन्हें प्रजाओं के आगे सत्य व्यवहार की महिमा का बखान करके उनको सत्य व्यवहार के लिए प्रेरित करने वाला होना चाहिए। उन्हें सत्यव्यवहार का आचरण करने वाला, सत्य व्यवहार का प्रचारक, संवर्धक और रक्षक होना चाहिए। उनके अपने जीवन में भी न तो झूठ होना चाहिए

और न ही उन्हें प्रजाओं में झूठ को सहन करना चाहिए ।

(च) आसन्निसून्—आसन्न कहते हैं मुख को और इषु कहते हैं बाण को । जिनके मुख में बाण हों उन्हें आसन्निसू कहते हैं । यहाँ तेजस्वी बाणी को इषु अर्थात् बाण कहा गया है । वचनों के बाण साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं । जिन्हें राज्याधिकारी बनाया जाये उनकी बाणी बड़ी तेजस्वी होनी चाहिए । उनकी बाणी ऐसी होनी चाहिए कि उसके सुनने मात्र से ही दुष्ट लोग थरथर काँपने लगें । साथ ही बाण जैसे सीधा अपने निशाने पर जाता है वैसे ही उनकी बाणी भी सीधी बात पर पहुँचने वाली हो । वे शब्दाडम्बर में उलझने वाले न हों । वे काम की बात को समझकर झट थोड़े और प्रभावशाली शब्दों में प्रकट कर देने वाले हों ।

(छ) हृत्स्वसः—हृत्स्वसः का अर्थ होता है जो अपने बाणों को दूसरों के हृदयों में फेंकने वाले हों अथवा जो अपने हृदय से निकालकर बाण फेंकने वाले हो । ऊपर के विशेषण में बाणी को बाण कहा गया है । इस हृत्स्वसः विशेषण का भाव यह है कि राज्याधिकारी जब प्रजाओं से कोई बात कहे तो वह बात इस ढंग से कही जाये कि प्रजाओं के हृदयों में जाकर वह लगे—प्रजा के दिलों पर उसका प्रभाव पड़े । राज्याधिकारियों की कही बातें प्रजाओं के हृदयों पर किस प्रकार प्रभाव कर सकती हैं इसका उपाय भी इसी हृत्स्वसः शब्द में बताया दिया गया है । और वह उपाय इसका दूसरा अर्थ 'अपने हृदयों से निकालकर फेंकने वाला' करने से ज्ञात होता है । राज्याधिकारी जो कुछ बोलें वह उनके हृदय से निकला होना चाहिए—वह उनके दिल की बात होनी चाहिए । हृदय की बात का सुनने वालों के हृदयों पर प्रभाव पड़ता है । हृदय की बात कहने वाले राज्याधिकारी ही प्रजा के हृदयों को परिवर्तित करके उन्हें सत्पथ पर चला सकते हैं । ढोंगी और केवल वातून राज्याधिकारी प्रजा को अपने साथ करने और इस प्रकार राष्ट्र की भलाई करने में असमर्थ रहते हैं ।

मन्त्र के अन्तिम चरण में कहा है कि जो इस प्रकार के पुरुषों की भरण-निधि को बढ़ाता है वही जीवन प्राप्त करता है । इस वाक्य में बड़े काम की बात कही गई है । जो सम्राट् इस प्रकार के गुणों वाले व्यक्तियों को राष्ट्र में खूब बढ़ाता रहता है और उन्हें राज्याधिकार के पदों पर नियुक्त करता रहता है वही जीवन को प्राप्त करता है । उसी का राज्य दिनों-दिन उन्नति करता है । उसके राज्य की कभी अवनति नहीं होती ।

हमने मन्त्र के 'युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य' इन पदों की योजना 'ऋतस्य गा धुरि युङ्क्ते' इस प्रकार की है । शब्दार्थ पाठक ऊपर देख ही चुके हैं । इस अर्थ में धुरि के साथ हमने राष्ट्र या कर्तव्य शब्दों का अध्याहार कर लिया है । पद योजना 'ऋतस्य धुरि गा युङ्क्ते' ऐसी भी हो सकती है । तब 'ऋत' का अर्थ यज्ञ करना होगा । और यज्ञ का अर्थ राष्ट्र-यज्ञ करना होगा । 'गाः' का अर्थ तथ्य गतिशील, पुरुषार्थी पुरुष करना होगा । तब इतने वाक्य का अर्थ होगा—'राष्ट्र-यज्ञ की धुरी में पुरुषार्थी पुरुषों को जोड़ता है ।' 'गाः' गो शब्द का द्वितीया बहुवचन का रूप है ।

‘गाने वाला’ अर्थ में ‘गा’ शब्द का ही द्वितीया बहुवचन ‘गाः’ को समझना चाहिए। ‘युङ्क्ते धुरि गाः’ इन शब्दों से साधारण गाड़ी का अर्थ भी ध्वनित होता है। उस अर्थ में ‘गाः’ का अर्थ बल होगा।

गो और अग्नि के उपासक बनो

इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है—

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत ।

देवेष्वक्रत श्रवः क इमां आ दधर्षति ॥

ऋग्० 10.155.5.; यजु० 35.18.

अर्थात्—‘(इमे) इन लोगों ने (गां) गौ की (परि-अनेषत) अपने लिये प्राप्ति की है (अग्नि) अग्नि का (परि-अहृषत) अपने लिये आहरण किया है (देवेषु) देवों में (श्रवः) यश (अक्रत) प्राप्त किया है (इमान्) इन लोगों का (कः) कौन (आदधर्षति) धर्षण कर सकता है ?’

मन्त्र का भाव यह है कि जो लोग गौ को प्राप्त कर लेते हैं, अग्नि को ग्रहण कर लेते हैं और देवों में यश प्राप्त कर लेते हैं उनका कोई धर्षण नहीं कर सकता—उन्हें कोई नीचा नहीं दिखा सकता।

गौ के अनेक अर्थ

गौ शब्द वेद में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। गौ भूमि को भी कहते हैं। भूमि का अधिराष्ट्र अर्थ में अभिप्राय किसी राष्ट्र की मातृभूमि होगा। तब मन्त्र का भाव यह होगा कि जो लोग किसी भूखण्ड को अपनी मातृभूमि बना लेते हैं और उसे अपनी माता की भाँति समझते हुए उसके निवासियों के सुख की वृद्धि तथा दुःख की हानि करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं, उन लोगों को कोई कभी नीचा नहीं दिखा सकता। गौ का अर्थ वाणी, वेदवाणी और वाणी से उपलक्षित भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञान भी होता है। जो लोग वाणी प्राप्त कर लेते हैं, वाणी के धनी हो जाते हैं—वाणी से उपलक्षित वेद एवं भाँति-भाँति के अन्य विद्या-विज्ञानों का पाण्डित्य प्राप्त कर लेते हैं—उन लोगों को कोई नीचा नहीं दिखा सकता। गौ का अर्थ इन्द्रियाँ भी होता है। जो लोग इन्द्रियाँ प्राप्त कर लेते हैं, जिनके शरीरों में बल युक्त इन्द्रियाँ रहती हैं उन्हें कोई नीचा नहीं दिखा सकता। गौ का अर्थ सूर्य और चन्द्रमा की किरणों भी होता है। जो लोग सूर्य और चन्द्र की किरणों का सेवन करते हैं खुली हवा में रहते हैं, जो लोग किरणों से उपलक्षित प्राकृतिक शक्तियों से अपना सीधा सम्बन्ध रखकर उनके सेवन द्वारा बल सम्पादन करते रहते हैं, उनको कोई नीचा नहीं दिखा सकता। गौ का अर्थ गाय भी होता है। जो लोग गोओं को प्राप्त कर लेते हैं, जिनके घरों में यथेष्ट गौवं रहती हैं और उनके दुग्ध-धूतादि का जो लोग यथेष्ट पान

करते हैं, और उनके सेवन से स्वस्थ और सशक्त बने रहते हैं उनको कोई नीचा नहीं दिखा सकता।

अग्नि के अनेक अर्थ

अग्नि के अर्थ भी वेद में अनेक होते हैं। अग्नि परमात्मा को भी कहते हैं। जो लोग परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं—उसे पहचानकर उसकी उपासना द्वारा उसके सत्य, न्याय, दया, ज्ञान, संयम आदि पवित्र गुणों को अपने अन्दर धारण कर लेते हैं—उन्हें कोई कभी नीचा नहीं दिखा सकता। अग्नि का अर्थ अपना आत्मा भी होता है। जो लोग आत्मवान् हो जाते हैं, जो लोग अपने आत्मा की शक्तियों का पूर्ण विकास कर लेते हैं, उन्हें कभी कोई नीचा नहीं दिखा सकता। अग्नि का अर्थ ज्ञान भी होता है। जो लोग ज्ञानवान् होते हैं उनका धर्षण कोई नहीं कर सकता। अग्नि का अर्थ तेज भी होता है। जो लोग तेजस्वी हो जाते हैं उन्हें कोई नहीं दबा सकता। अग्नि का अर्थ भौतिक आग भी होता है। जो लोग आग को प्राप्त कर लेते हैं—उसकी सहायता से भाँति-भाँति के कला-यन्त्रों का निर्माण और संचालन कर लेते हैं—उन्हें कोई नीचा नहीं दिखा सकता। अग्नि का अर्थ सम्राट् भी होता है। जो लोग अच्छे सम्राट् को प्राप्त कर लेते हैं, योग्य सम्राट् को राजसिंहासन पर बिठाकर अपने राज्य-प्रबन्ध को श्रेष्ठ बना लेते हैं, उन्हें कोई नीचा नहीं दिखा सकता। अग्नि का अर्थ यज्ञाग्नि भी होता है। जो लोग प्रतिदिन अग्निहोत्रादि यज्ञ करते हैं और इन यज्ञों से मिलने वाली शिक्षा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें कोई कभी नीचा नहीं दिखा सकता।

देवों में यश प्राप्त करने का भाव भी स्पष्ट कर लेना चाहिए। देव भाँति-भाँति के व्यवहार करने वाले विद्वान् लोगों को कहते हैं। देवों में यश प्राप्त करने का अभिप्राय है किसी एक या अधिक विद्या के क्षेत्र में कौशल प्राप्त करके उस क्षेत्र के श्रेष्ठ विद्वानों को पंक्ति में खड़ा होने योग्य अपने आपको बना लेना। इस योग्य अपने आपको बना लेना कि बड़े-बड़े विद्वान् भी हमारी योग्यता को देखकर प्रशंसा करने लगे। जिस राष्ट्र के लोग अपने आपको विभिन्न विद्याओं और व्यवहारों के क्षेत्र में भली-भाँति निपुण देव बना लेते हैं उस राष्ट्र का धर्षण कोई नहीं कर सकता।

जिस राष्ट्र के लोग इस प्रकार के गौ और अग्नि के उपासक बन जाते हैं और जिनका यश देव-श्रेणी तक पहुँचता रहता है उस राष्ट्र का पतन कभी नहीं हो सकता? वह राष्ट्र सदा ही उन्नत होता रहेगा।

इसी प्रसंग में निम्न मन्त्र भी देखने योग्य हैं। राज्याधिकारियों का राष्ट्र में क्या कर्तव्य है यह इस मन्त्र में बड़ी सुन्दर रीति से बताया गया है। मन्त्र यों है—

सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि ।

ऋग्० 10.65.11.

अर्थात्—‘अग्नि, वरुण, पूषा आदि ये सब राज्याधिकारी देव (सुदानवः) अपनी

शक्तियों का उत्तम दान देने वाले हैं (अधिक्षमि) पृथिवी पर (आर्या) आर्य (व्रता) नियमों और कर्मों की (विसृजन्तः) रचना करने वाले हैं ।¹

सूक्त में अग्नि, वरुण, पूषा आदि देवों का वर्णन है । अधिराष्ट्र अर्थ में ये देव विभिन्न राज्याधिकारियों के नाम हैं । मन्त्र कहता है कि राज्याधिकारियों को कैसा होना चाहिए । उन्हें सुदानु होना चाहिए । अपनी शक्तियों द्वारा उन्हें प्रजाजनों की भाँति-भाँति के मंगल प्रदान करने चाहिए । उन्हें धरती पर अर्थात् राष्ट्र में आर्य कर्मों और नियमों की रचना करनी चाहिए । आर्य श्रेष्ठ, पूर्ण गुणी पुरुष को कहते हैं । आर्य पुरुषों के जैसे नियम और आचरण होते हैं वैसे नियमों और आचरणों का उन्हें अपने राष्ट्र में प्रचार करना चाहिए । उन्हें स्वयं आर्य बनकर अपने अधीन सारी प्रजा को भी आर्य बना डालना चाहिए । जिस राष्ट्र में ऐसे आर्य राज्याधिकारी होंगे उसका कभी पतन नहीं हो सकता ।

सब वर्णों के लोग परस्पर प्रेम से रहें

जिससे राष्ट्रों का कभी पतन न हो, उनकी सदा उन्नति होती रहे, इसके लिए एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात जिसे राष्ट्र के लोगों में रहना आवश्यक है वह है राष्ट्र के लोगों का परस्पर का प्रेम । जिस राष्ट्र के लोगों में परस्पर के लिए सदा प्रेम रहेगा, जो कभी विद्वेष के वशीभूत होकर आपस में लड़ें और झगड़ेंगे नहीं, उस राष्ट्र की कभी अवनति नहीं हो सकती । राष्ट्र के सब वर्णों के लोगों को सदा प्रेम-पूर्वक रहना चाहिए इस सम्बन्ध में वेद में स्थान-स्थान पर उपदेश दिया गया है । उदाहरण के लिए निम्न कुछ मन्त्र देखिये—

1. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ अथ० 19.62.1.
2. रुचं नो घेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि घेहि रुचा रुचम् ॥ यजु० 18.48.
3. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेष कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ अथ० 3.30.1.

इनका अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे अग्ने¹ (परमात्मन्) आप मुझे देवों (ब्राह्मणों) का प्यारा बनाइये, क्षत्रियों का प्यारा बनाइये, देखने वाले सब प्राणियों का प्यारा बनाइये, शूद्र और वैश्य का प्यारा बनाइये । (2) हे परमात्मन् आप ब्राह्मणों में हमारा प्रेम कीजिये, क्षत्रियों में हमारा प्रेम कीजिये, वैश्यों में हमारा प्रेम कीजिये और शूद्रों में हमारा प्रेम कीजिये, आप प्रेम से (रुचा) मेरे अन्दर प्रेम उत्पन्न कीजिये । (3) हे मनुष्यों तुम में हृदय की एकता (सहृदयं) हो, मन की एकता (सांमनस्यं) हो, मैं परमात्मा तुम्हारे अन्दर अविद्वेष की भावना चाहता हूँ, तुम एक दूसरे को प्रेम से चाहो, जिम

¹ अग्ने इति पदमुपरितनाज्ञवपंचाशत्तमात्सूक्ताद्व्याख्यते ।

प्रकार कि एक गौ अपने नये उत्पन्न बछड़े को प्रेम से चाहती है ।

उद्धृत प्रथम दो मन्त्रों में प्रत्येक प्रजाजन प्रभु से प्रार्थना कर रहा है कि उसके हृदय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा सब प्राणियों के लिए प्रेम की वृत्ति उत्पन्न होती रहे । सभी वर्णों के लोग इन मन्त्रों द्वारा भगवान् से प्रार्थना करेंगे । सब वर्णस्थ लोगों की इस प्रार्थना का उनके हृदय पर यह प्रभाव पड़ेगा कि वे सब परस्पर प्रेम से रहना चाहेंगे । वेद ने सब वर्णों के नर-नारियों द्वारा कही जाने वाली इस प्रार्थना द्वारा अपना यह स्पष्ट आशय व्यक्त कर दिया है कि सब वर्णों के लोगों को परस्पर प्रेमपूर्वक रहना चाहिए । उद्धृत दूसरे मन्त्र के अन्तिम चरण में सब वर्णों के लोगों में पारस्परिक प्रेम उत्पन्न करने का एक उपाय भी बता दिया गया है । और वह उपाय यह है कि 'रुचा रुचम् ।' अर्थात् प्रेम से प्रेम उत्पन्न होता है । तुम दूसरों में रुचि दिखाओ, तुम दूसरों से प्रेम करो, दूसरे तुम में रुचि दिखायेंगे—दूसरे तुम से प्रेम करेंगे ।

उद्धृत तीसरे मन्त्र में सब वर्णों के पारस्परिक प्रेम के सम्बन्ध में स्वयं भगवान् की आज्ञा बताई गई है । भगवान् कहते हैं कि हे मनुष्यों मैं आपस में तुम्हारा अविद्वेष चाहता हूँ—मैं चाहता हूँ कि तुम आपस में द्वेष में भरकर कभी लड़ो और झगड़ो नहीं । इसके लिए तुम सदा अपने हृदयों और मनों को एक बनाकर रहो । तुम सदा प्रेम से एक दूसरे को चाहो । एक दूसरे के साथ हमारा प्रेम किस प्रकार का हो यह मन्त्र के अन्तिम चरण में दी गई उपमा से बहुत ही सुन्दर रूप में प्रकट किया गया है । कहा है कि जिस प्रकार एक गौ अपने नये उत्पन्न बछड़े को प्रेम से चाहती है उस प्रकार प्रेम से तुम एक दूसरे को चाहो । यह उपमा देकर वेद ने पारस्परिक प्रेम के आदर्श की सीमा बता दी है । हमारा आपस का प्रेम कितना निःस्वार्थ और स्वाभाविक होना चाहिए यह इस उपमा द्वारा बहुत सुन्दर रूप में बता दिया गया है । गौ का अपने नये उत्पन्न हुए बछड़े के साथ जो प्रेम होता है वह सर्वथा निःस्वार्थ और नैसर्गिक होता है । गौ के मन में अपने बछड़े से प्रेम करते हुए किसी प्रकार के लाभ की या सुख की आशा नहीं होती । उस बछड़े ने तो थोड़े समय में बड़ा होकर माता को सर्वथा भूल जाना है । माता को उस बछड़े से कभी कोई सुख प्राप्त नहीं होना है । फिर भी गौ अपने नवजात बछड़े से कितना प्यार करती है । उसका यह प्रेम सर्वथा निःस्वार्थ होता है । गौ का अपने नवजात बछड़े से जितना निःस्वार्थ प्रेम होता है उतना निःस्वार्थ मनुष्य माता का प्रेम भी अपने पुत्र के साथ नहीं होता । मनुष्य माताओं के मन में तो अपने पुत्रों से प्रेम करते समय यह भावना बनी रहती है कि मेरा यह पुत्र बड़ा होकर उन्हें सुख पहुँचायेगा—उनके बुढ़ापे की टेक और सहारा बनेगा । गौ के मन में अपने बछड़े से प्रेम करते हुए इस प्रकार की कोई भावना नहीं होती । वह केवल इसलिए अपने बछड़े से प्यार करती है कि उसका जी प्यार करना चाहता है । गौ का अपने नवजात बछड़े के प्रति प्रेम निःस्वार्थ और स्वाभाविक प्रेम का आदर्श है । वेद कहता है कि सब वर्णों के लोगों

का परस्पर में उतना ही निःस्वार्थ और नैसर्गिक प्रेम रहना चाहिए जितना निःस्वार्थ और नैसर्गिक प्रेम गौ का अपने नवजात बछड़े के साथ होता है ।

जिस राष्ट्र के लोग आपस में इतने गहरे प्रेम से रहेंगे उस राष्ट्र की कभी अवनति नहीं हो सकती । उनका यह पारस्परिक प्रेम अवनति की राह में वज्र की दीवार बनकर खड़ा हो जायेगा ।

ब्रह्म और क्षत्र का सहयोग

ऊपर इसी अध्याय में राष्ट्र धारण के लिए आवश्यक सात गुणों का वर्णन करते हुए हमने उग्र और ब्रह्म शब्दों की व्याख्या करते हुए देखा था कि प्रजा के लोगों में उग्र अर्थात् क्षत्रियोचित तेजस्विता, बल और शक्ति रहनी चाहिए और उनमें ब्रह्म अर्थात् वेद और वेदोपलक्षित भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों का प्रचार भी रहना चाहिए । हमने वहाँ इन दोनों शब्दों की व्याख्या करते हुए यह भी निर्देश किया था कि क्योंकि उग्र और ब्रह्म शब्द क्षत्रिय और ब्राह्मण के भी वाचक हैं इसलिए इनसे यह भी सूचित होता है कि इन दोनों शब्दों से कहे गये गुणों का विशेष रूप से अपने अन्दर धारण करने वाले क्षत्रिय और ब्राह्मण लोग भी प्रजा में यथेष्ट संख्या में रहने चाहिए । ब्राह्मण और क्षत्रिय लोगों का किसी राष्ट्र में रहना उनकी उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक है । राष्ट्रों में ब्राह्मण और क्षत्रिय लोगों के रहने और उनके परस्पर सहयोग के साथ चलने की आवश्यकता वेद में स्थान-स्थान पर बताई गई है । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।

तैल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेयं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ यजु० 20.25.

2. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।

मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ यजु० 32.16.

मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

(1) (यत्र) जहाँ (ब्रह्म) ब्राह्मण लोग (च) और (क्षत्रं) क्षत्रिय लोग (सम्यञ्चौ) सम्यक् आचरण वाले होकर मिलकर (सह) एक साथ (चरतः) चलते हैं, और (यत्र) जहाँ (देवाः) भाँति-भाँति के व्यवहारशील विद्वान् लोग (अग्निना) अग्नि के (सह) साथ रहते हैं (तं) उस (पुण्यं) पवित्र (लोकं) देश को (प्रज्ञेयम्)¹ मैं जानूँ अर्थात् प्राप्त होऊँ । (2) (मे) मेरे (इदं) यह (ब्रह्म) ब्राह्मण लोग (च) और (क्षत्रं) क्षत्रिय लोग (उभे) दोनों (श्रियं) श्री को (अश्नुताम्) प्राप्त करें (देवाः) ये ब्राह्मण और क्षत्रिय देव (मयि) मुझमें (उत्तमाम्) उत्तम (श्रियम्) श्री को (दधतु) धारण करें (तस्मै) उस (ते) तेरे लिए, हे श्री (स्वाहा) हम मंगल अभिलाषा प्रकट करते हैं ।

उद्धृत प्रथम मन्त्र में कहा है कि जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग सम्यक्

¹ ज्ञानियाम् प्राप्नुयामित्यर्थ इति महीधरः ।

आचरण वाले होकर—अपने-अपने कर्तव्य कर्मों का ठीक प्रकार से पालन करने वाले होकर—एक साथ मिलकर, एक दूसरे के साथ सहयोग में रहकर, चलते हैं वही देश पवित्र होता है—उसी देश का कल्याण और मंगल होता है। इसके साथ ही देशों के पवित्र बनने और उनकी उन्नति होते रहने का एक साधन राष्ट्र के देवों का, भौति-भौति के व्यवहारशील विद्वानों का, अग्नि के साथ रहना भी बताया गया है। इन देवों में राष्ट्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी सम्मिलित हो जाते हैं। अग्नि के साथ रहने का क्या अभिप्राय है यह ऊपर अग्नि की व्याख्या करते हुए भली-भाँति स्पष्ट कर दिया गया है।

इस प्रकार राष्ट्र के अम्युदय के लिए उसमें ब्राह्मण वर्ग और क्षत्रिय वर्ग का रहना तथा उनमें परस्पर सहयोग का होना इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया गया है।

उद्धृत द्वितीय मन्त्र में एक प्रजाजन श्री की, सौभाग्य लक्ष्मी की प्रार्थना कर रहा है। वह कह रहा है कि पहले राष्ट्र के ब्राह्मण और क्षत्रिय नामक देव श्री को प्राप्त करें और पश्चात् वह हमें भी श्री प्रदान करें। ब्राह्मणों की श्री विद्या का उत्कर्ष, तप, संयम आदि ब्राह्मणोचित गुण हैं और क्षत्रियों की श्री युद्ध-कौशल, राजनीति का पाण्डित्य, निर्भयता, शूरता, अन्याय को मिटाने के लिए खून तक बहाने के लिए उद्यत रहना आदि क्षत्रियोचित गुण हैं। जब ब्राह्मणों और क्षत्रियों में अपनी वर्णोचित श्री का विकास हो जायेगा तो वे परस्पर मिलकर राष्ट्र की प्रजाओं के लिए श्री का प्रदान कर सकेंगे। तब वे राष्ट्र के घर-घर में धन-सम्पत्ति, सुख-चैन, शोभा-सुन्दरता आदि की सौभाग्य-लक्ष्मी का संचार कर सकेंगे। तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र के अनुसार राष्ट्र की आदर्श सुख-समृद्धि के लिए उसमें आदर्श ब्राह्मणों और क्षत्रियों का रहना आवश्यक है।

ब्राह्मण और क्षत्रियों के सहयोग पर बल क्यों ?

प्रश्न हो सकता है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए राष्ट्र में चारों ही वर्णों का रहना और चारों ही का परस्पर में सहयोग होना आवश्यक है फिर वेद के इन मन्त्रों में तथा अन्यत्र भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों पर ही विशेष बल क्यों दिया गया है ? यह ठीक है कि वास्तव में तो राष्ट्रोन्नति के लिए राष्ट्र में सभी वर्णों का रहना और उनका परस्पर सहयोग आवश्यक है। परन्तु फिर भी ब्राह्मण और क्षत्रियों का होना राष्ट्रोन्नति के लिए विशेष आवश्यक है। राष्ट्र की प्रजा में वैश्यों का बहुत अधिक आधिक्य हुआ करता है। इसीलिए वेद में प्रजाओं को 'विशः' इस नाम से भी कहा जाता है जोकि वैश्य का भी पर्यायवाची है। वैश्य लोग धन-सम्पत्ति के कमाने में लगे रहते हैं। धन-सम्पत्ति कमाने में लगे रहना मनुष्य में लोभ और लालच की वृत्तियाँ उत्पन्न कर देता है। और इनसे आगे फिर और-और बुराईयाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इन बुरी वृत्तियों को यदि न रोका जाये तो वे एक दिन राष्ट्र के नाश का कारण

बनती हैं। ब्राह्मण लोग अपने उपदेशों तथा जीवन के उदाहरण द्वारा और क्षत्रिय लोग दण्डनीति द्वारा प्रजाओं की इन कुत्सित वृत्तियों को दबाकर उनमें अच्छी वृत्तियाँ उत्पन्न करते हैं। यदि राष्ट्र में ब्राह्मण और क्षत्रिय न हों तो राष्ट्र की प्रजाएँ लोभ-लालच जन्य बुरी वृत्तियों का शिकार होकर पतन के गढ़े में गिर पड़ेंगी। इसीलिए वेद में राष्ट्रों में ब्राह्मण और क्षत्रिय लोगों की विद्यमानता पर विशेष बल दिया है। यों तो राष्ट्र में सभी वर्णों का रहना और सहयोग आवश्यक है।

जिस राष्ट्र में ज्ञान और दण्ड द्वारा प्रजा को सन्मार्ग पर ले जाने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय विद्यमान रहेंगे उस राष्ट्र का कभी पतन नहीं हो सकता।

प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को भोजन मिलना चाहिए

राष्ट्रों के स्थिर रहने के लिए एक बहुत आवश्यक बात यह है कि उनकी प्रजा में कोई व्यक्ति भूख से पीड़ित नहीं रहना चाहिए। प्रत्येक प्रजाजन को भरपेट भोजन खाने के लिए मिल जाना चाहिए। जब प्रजाओं को भोजन नहीं मिलता, जब वे भूखी रहने लगती हैं, तब उनमें अपने राज्य प्रबन्ध के लिए असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। और यह असन्तोष विप्लव का रूप धारण करके राज्य को उलट देता है। वेद में स्थान-स्थान पर राजा के लिए यह उपदेश दिया गया है कि उसे प्रजाजनों को भूख के कष्ट से व्याकुल नहीं होने देना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. नकिष्ट एता, व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः, श्रुष्टि चकथं ।

ऋग्० 1.69.7.

2. असि दध्नस्य चिद् दूधः ।

ऋग्० 1.81.2.

3. क्षुध्यद्भ्यो वय आसुति दाः ।

ऋग्० 1.104.7.

4. मा वः सुस्रोचमसो दृहता तम् ।

ऋग्० 10.101.8.

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे अग्ने (सम्राट्) ये प्रजायें तेरे किसी भी नियम को (व्रता) नहीं तोड़ती हैं क्योंकि तू इनके लिए अन्न (श्रुष्टि)¹ प्रदान करता है। (2) हे इन्द्र (सम्राट्) तू छोटे से छोटे (दध्नस्य) प्रजाजन को भी बढ़ाता रहता है। (3) हे इन्द्र (सम्राट्) तू भूखे लोगों को (क्षुध्यद्भ्यः) अन्न (वयः)² और दूध आदि बहने वाले पदार्थ (आसुति)³ प्रदान कर। (4) हे लोगों तुम्हारा अन्न (चमसः) क्षीण न होने पावे उसे दृढ़ करके रखो।

उद्धृत दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि सम्राट् को चाहिए कि वह छोटे से छोटे—दुर्बल से दुर्बल और गरीब से गरीब—प्रजाजन को भी वृद्धि करे। प्रजा के

1 श्रुष्टिरन्नमिति सायणः । ऋग्० 10.101.3 मन्त्रे ।

2 वय इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० 2.7.

3 पेयं क्षीरादिकमिति सायणः ।

हीन से हीन जन की भी भूख आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसकी वृद्धि करना राजा का कर्तव्य है। तीसरे मन्त्र में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि जो भूखे हैं उनके लिए भोजन और दूध आदि का प्रबन्ध करना सम्राट् का कर्तव्य है। चौथे मन्त्र में प्रजाजनों को कहा गया है कि वे अपने अन्न को क्षीण न होने दें, उसे हड़ करके—संभाल कर रखें। यह मन्त्र जिस सूक्त का है उसमें प्रजाजनों को कुछ सामान्य उपदेश दिये गये हैं जिनका पालन करने से वे सदा उन्नत रहेंगे और उनकी सदा सुखसमृद्धि रहेगी। उसी प्रसंग में सूक्त के प्रथम और अन्तिम मन्त्र में प्रजाओं को उपदेश दिया गया है कि उन्हें एक अच्छे सम्राट् की स्थापना भी अपने राष्ट्र में करनी चाहिए। जिसका भाव यह है कि सूक्त में वर्णित बातें प्रजाजन भलीभाँति नहीं कर सकेंगे यदि उनका शासन एक अच्छे सम्राट् द्वारा नहीं हो रहा होगा। अब इस प्रकाश में पाठक उद्धृत इस चौथे मन्त्र को देखें। इस रंग में देखने पर मन्त्र की ध्वनि यह निकलती है कि हे प्रजाजनों तुम एक अच्छे सम्राट् की अध्यक्षता में रहकर अपने अन्नों की क्षीणता को रोको। तात्पर्य यह है कि एक अच्छे सम्राट् का कर्तव्य है कि वह प्रजाओं के अन्न को क्षीण न होने दे—उनकी क्षुधा को मिटाने के लिए सदा भरपूर अन्न का प्रबन्ध करता रहे। उद्धृत प्रथम मन्त्र में, सम्राट् यदि प्रजाओं की भूख को मिटाता रहेगा तो उसे क्या फल प्राप्त होगा यह बताया गया है। कहा गया है कि क्योंकि सम्राट् प्रजाओं को खाने के लिए अन्न देता है इसलिए प्रजायें उसके किसी नियम को नहीं तोड़तीं—उसकी सारी आज्ञाओं का पालन करती रहती हैं।

इस प्रकार इन मन्त्रों के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो राज्य यह चाहता है कि उसका पतन कभी न हो उसे प्रजाओं को भूखा कभी नहीं रहने देना चाहिए। और यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भूख प्रजाओं की सभी आवश्यकताओं का उपलक्षण है। राज्य को प्रजाओं की सभी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए। यह ठीक है कि भूख सब आवश्यकताओं में प्रधान है। उसकी पूर्ति सबसे पहले होनी चाहिए।

दुर्बल को सबल न सता सके

राज्यों के विनाश का एक प्रबल कारण यह होता है कि प्रजा के दुर्बल, कमजोर, गरीब लोगों को प्रजा के सबल लोग सताने लगते हैं। राज्य दुर्बल प्रजाजनों की सबल अत्याचारियों से रक्षा करने में असमर्थ रहता है। कुछ देर के पश्चात् सबल लोगों का यह अत्याचार इतना बढ़ जाता है कि साधारण प्रजाजनों के लिए उसका सह सकना असम्भव हो जाता है। उनमें एक दिन विद्रोह की भावना भड़क उठती है। और वे मिलकर विप्लव कर देते हैं। इस विप्लव में प्रजा के अत्याचारी पुरुष और उनसे रक्षा करने में असमर्थ सम्राट् एवं उसका राज्य सभी बह जाते हैं। जो राज्य यह चाहता है कि उसमें कभी विप्लव न हो और वह सदा स्थिर रहे उसे चाहिए कि वह अत्याचारियों से प्रजा के साधारण लोगों की सदा रक्षा

करता रहे। ये अत्याचारी लोग चाहे प्रजा में से कोई लोग हों अथवा राज्य के पदों पर नियुक्त राज्याधिकारियों में से कोई लोग हों, सभी से प्रजा के साधारण लोगों की रक्षा सम्राट् को करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में वेद का निम्न मन्त्र देखने योग्य है—

यो ददाति शितिपादमर्वि लोकेन संमितम् ।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अवलेन वलीयसे ॥

अथ० 3.29.3.

अर्थात्—‘(यः) जो सम्राट्¹ (लोकेन संमितम्) लोक जितने बड़े (शितिपादं) श्वेत अर्थात् निष्कलङ्क रीति से कल्याण पहुँचाने वाले (अर्वि) रक्षण को (ददाति) प्रदान करता है (सः) वह (नाक) उस सुखमय राज्याधिकार में (अभ्यारोहति) आरूढ़ रहता है (यत्र) जहाँ (अवलेन) निर्बल द्वारा (वलीयसे) बलवान् के लिए (शुल्कः) शुल्क (न) नहीं (क्रियते) लिया जाता ।’

मन्त्र का भाव यह है कि सम्राट् को निष्कलंक रीति से प्रजाओं का रक्षण करना चाहिए। रक्षण को लोक जितना बड़ा कहने का अभिप्राय यह है कि सम्राट् का लोक अर्थात् देश जितना बड़ा है उतना ही बड़ा उसका रक्षण होना चाहिए। अर्थात् राष्ट्र में जितने लोग रहते हैं उन सबको ही सम्राट् का समान रक्षण प्राप्त होना चाहिए। सम्राट् का रक्षण इस प्रकार का होना चाहिए कि उसके राज्य में किसी निर्बल से कोई सबल शुल्क न प्राप्त कर सके—डरा धमका कर धन न प्राप्त कर सके। शुल्क को उपलक्षण मात्र समझना चाहिए। बलवान् लोग साधारण निर्बल प्रजा पर किसी प्रकार का अत्याचार न कर सकें, ऐसा सम्राट् को प्रबन्ध करना चाहिए।

जो सम्राट् सारी प्रजा का इस प्रकार का रक्षण करता है कि उसके किसी अवल व्यक्ति को कोई सबल व्यक्ति नहीं सता सकता। उसके लिए कहा है कि वह ‘नाकमभ्यारोहति’ वह ‘नाक’ में अर्थात् ऐसी स्थिति में चढ़ जाता है जहाँ उसे सुख ही सुख रहता है। भाव यह है कि वह निर्भय और निष्कण्टक होकर सुखपूर्वक राज्यासीन रहकर राजशासन को चलाता है। ऐसे सम्राट् के राज्य को पतन का भय नहीं रहता।

राष्ट्र की सेनाएँ सन्तुष्ट रहनी चाहिए

राष्ट्र की रक्षा का सबसे प्रधान साधन, जिसकी ओर किसी भी विपत्ति के समय सहायता के लिए सबसे पहले ध्यान जाता है, उसकी सेनाएँ होती हैं। चाहे तो राष्ट्र में कोई विद्रोह खड़ा हो जाये और चाहे किसी दूसरे राष्ट्र का अपने राष्ट्र पर आक्रमण हो जाये, प्रत्येक अवस्था में संकट से रक्षा के लिए सेनाओं की सहायता लेनी पड़ती है। इसलिए किसी राष्ट्र की रक्षा के लिए उसकी सेनाओं का सदा सन्तुष्ट

¹ यहाँ ऊपर के प्रथम मन्त्र से यम का अघ्याहार होता है। इस सूक्त में यम सम्राट् का वाचक है। इस विषय में ‘सभा और समिति’ नामक अध्याय का ‘सभा और समिति के अधिवेशनों में राजा भी उपस्थित रहेगा’ शीर्षक खण्ड देखिये।

रहना नितान्त आवश्यक है। यदि सेनाएँ सन्तुष्ट नहीं होंगी तो वे युद्ध के समय दिल से नहीं लड़ेंगी। जिसका परिणाम यह होगा कि अपना राष्ट्र पराजित हो जायेगा। बहुत बार तो असन्तुष्ट सेनाओं के शत्रु के साथ मिल जाने की भी आशंका रहेगी। उस अवस्था में अपने राष्ट्र का पतन और भी शीघ्र होगा। इसलिए किसी भी राज्य को अपनी सेनाओं को भोजन, वस्त्र, वेतन आदि देकर सदा सन्तुष्ट रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में वेद के निम्न मन्त्र देखिए—

1. यूयं घृत्य राजानं श्रुष्टिमन्तम् ।

ऋग्० 5.54.14.

2. यदा ते माख्तीविशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे ।

आदिद् ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥

ऋग्० 8.12.29.

3. अभि स्वरन्तु ये तव रुद्रासः सक्षत श्रियम् ।

उतो मख्त्वतीविशो अभि प्रयः ॥

ऋग्० 8.13.28.

अर्थात्—(1) हे मख्तो (सैनिको) तुम तुम्हें अन्न देने वाले (श्रुष्टिमन्तं) राजा को धारण करते हो—उसकी रक्षा करते हो। (2) हे इन्द्र (सम्राट्) जब तेरी माख्ती प्रजाएँ (सेनाएँ) तेरे लिए नियम में बँधी रहती हैं तभी सारे लोक तेरे वश में रहते हैं। (3) हे इन्द्र (सम्राट्) जो तेरे रुद्र लोग (सैनिक) हैं वे अपने जयनादों से शत्रुओं को तपा देवें (अग्निस्वरन्तु)¹ वे श्री को प्राप्त करें और उन तेरी माख्ती प्रजाओं (सैनिकों) को अन्न (प्रयः)² प्राप्त होवे।

उद्धृत प्रथम मन्त्र में कहा है कि सेनाएँ उसी राजा की रक्षा करती हैं जो उन्हें अन्न देता रहता है। तृतीय मन्त्र में कहा है कि सेनाओं को श्री अर्थात् भाँति-भाँति की सम्पत्ति मिलनी चाहिए और उन्हें यथेष्ट भोजन मिलना चाहिए तभी वे शत्रुओं से लड़कर उन्हें तपा सकेंगे। दूसरे मन्त्र में कहा है कि जिस राजा की सेनाएँ उन्हें भोजन, वस्त्र और वेतन आदि मिलते रहने के कारण उसके वश में रहती हैं वही लोगों को अपने वश में रख सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जो राज्य अपनी रक्षा और स्थिरता चाहता है उसे अपनी सेनाओं को सदा सन्तुष्ट रखना चाहिए। जो राज्य इस बात का ध्यान नहीं रखेगा उसका विनाश अवश्यम्भावी है।

प्रत्येक प्रजाजन राष्ट्र की वृद्धि में तत्पर रहे

राष्ट्र के सदा अभ्युन्नत होते रहने के लिए एक बात और जिसकी भारी आवश्यकता है वह यह है कि राष्ट्र का प्रत्येक प्रजाजन सदा अपने राष्ट्र की सामूहिक उन्नति और वृद्धि के लिए तत्पर रहे। ऊपर इसी अध्याय में राष्ट्र-धारण के लिए आवश्यक सात बातों का वर्णन करते हुए 'यज्ञ' शब्द से जिस भावना को प्रकट किया गया है वह यही भावना है। राष्ट्र के लोगों का जीवन यज्ञिय भावना से ओत-प्रोत हो ऐसा उपदेश वेद में और वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर दिया गया है।

¹ स्वु शब्दोपतापयोः ।

² प्रयः इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० 2.7.

राज्यों का पतन कैसे रुक सकता है

645

उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ।

अथ० 12.1.13.

अर्थात्—‘वह बढ़ती हुई हमारी मातृ-भूमि हमें बढ़ावे ।’

इस मन्त्र में मातृभूमि से—राज्य शासन में संघटित अपने राष्ट्र से—प्रार्थना की गई है कि वह हमारी वृद्धि करे। परन्तु कैसी मातृभूमि हमारी रक्षा कर सकेगी ? इसके लिए एक विशेषण दिया गया है—वर्धमाना। वर्धमाना का अर्थ होता है बढ़ती हुई। जो राष्ट्र बढ़ रहा है वही अपने प्रजाजनों को बढ़ा सकता है। फिर राष्ट्र तो कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। सारे प्रजाजनों का समूह ही तो राष्ट्र कहलाता है। प्रत्येक प्रजाजन को यदि अपनी वैयक्तिक वृद्धि की ही चिन्ता रहेगी तो राष्ट्र की वृद्धि नहीं हो सकेगी उसके प्रयत्न से समूह को कोई लाभ नहीं मिल सकेगा। समूह निर्बल रह जायेगा निर्बल समूह या राष्ट्र व्यक्तियों की वृद्धि और रक्षा करने में असमर्थ रहेगा। इसलिए जो लोग यह चाहते हैं कि हमारी वृद्धि हो उन्हें पहले अपनी मातृभूमि की वृद्धि करनी चाहिए। उन्हें वैयक्तिक स्वार्थ को पीछे करके सारे राष्ट्र के स्वार्थ का अधिक ध्यान रखना चाहिए। जिस राष्ट्र के लोगों में अपने राष्ट्र के लिए स्वार्थ त्याग की यह भावना रहेगी वे सदा बढ़ते ही जायेंगे। उस राष्ट्र का कभी पतन नहीं होगा।

राजा और प्रजा विषयासक्त न हों

जो लोग यह चाहते हैं कि उनके राष्ट्र का कभी पतन न हो उन्हें एक और महत्वपूर्ण बात का ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि राष्ट्र के राजा, राज्याधिकारियों और प्रजाजनों को संयम का जीवन व्यतीत करना चाहिए। उन्हें अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार रखना चाहिए। उन्हें इन्द्रियों के पीछे चलकर विषयासक्त नहीं होना चाहिए। विषयासक्त लोगों की जहाँ नित्य विषय सेवन से शक्ति क्षीण होती रहती है वहाँ उनमें कष्ट-सहिष्णुता, और आत्मत्याग की भावना भी नहीं रहती और शक्ति, कष्ट-सहिष्णुता तथा आत्मत्याग की तिपाई पर ही तो राष्ट्र खड़ा रहता है। जब विषय सेवन से राष्ट्र के खड़े होने की यह तिपाई ही टूट गई तो राष्ट्र का गिर पड़ना तो अवश्यम्भावी है। इसीलिए राष्ट्र की रक्षा के लिए उसमें संयम की भावना का प्रबल प्रचार रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।

अथ० 11.5.17.

अर्थात्—‘ब्रह्मचर्य और तप द्वारा राजा राष्ट्र की रक्षा करता है ।’

तप की व्याख्या ऊपर हो चुकी है। ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ जननेन्द्रिय का संयम होता है। स्त्री और पुरुष को जब उन्हें सोच-समझकर सन्तानोत्पत्ति की इच्छा

हो तभी समागम करना चाहिए। विषय सेवन की इच्छा से उन्हें नहीं मिलना चाहिए। यह सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है। परन्तु अपने विस्तृत अर्थ में ब्रह्मचर्य शब्द सभी इन्द्रियों के संयम को बताता है। क्योंकि जननेन्द्रिय के संयम के लिए सभी इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। अन्य इन्द्रियों के असंयम से जननेन्द्रिय का असंयम उत्पन्न हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ सभी इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न होना होता है।

मन्त्र में कहा गया है कि जो राजा राष्ट्र की रक्षा करना चाहता है उसे स्वयं भी तपस्वी और ब्रह्मचारी—संयमी—रहना चाहिए और राष्ट्र की प्रजाएँ भी तपस्वी और ब्रह्मचारी—संयमी—बनी रहें उसे साथ ही ऐसा प्रबन्ध भी करना चाहिए। एक शब्द में उसे अपनी और प्रजा की विषयासक्ति से रक्षा करनी चाहिए। जिस राष्ट्र के लोगों में विषयासक्ति नहीं होगी उसका पतन कभी नहीं होगा।

राष्ट्रों के पतन पर ऋषि दयानन्द

ऊपर के खण्डों में राज्यों को पतन से बचाने के लिए आवश्यक जिन बातों की ओर निर्देश किया गया है उनके भाव को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में राज्यों के पतन के सम्बन्ध में नीचे लिखी पंक्तियाँ लिखी हैं। वे भी मनन करने योग्य हैं। उन्होंने लिखा है—

‘इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत सा धन, असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थ-रहितता, ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या, सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं। जैसे कि मद्य-मांस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारादि दोष बढ़ जाते हैं और जब युद्ध-विभाग में युद्ध विद्या-कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने वाला भूगोल में दूसरा न हो तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं तब आपस में विरोध होकर, अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे।’

पाठक संसार के राज्यों के उत्थान और पतन के इतिहासों को पढ़ जायें। वे देखेंगे कि जब किसी राष्ट्र की उन्नति और स्थिरता रही है तब उसमें वेद में वर्णित उपर्युक्त गुण न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य रहे हैं। और जब उसका पतन हुआ है तो उसमें से वेद में कहे गये उपरिलिखित गुण पहले लुप्त होते रहे हैं और उसमें वह अवस्था पहले आ जाती रही है जिसका वेद के आशय के आधार पर ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश की उपर्युक्त पंक्तियों में सारगर्भित उल्लेख किया है।

23

राज्य की राजधानी

अथर्ववेद के सातवें काण्ड का 62वाँ सूक्त केवल एक ही मन्त्र का सूक्त है। इस मन्त्र से यह निर्देश मिलता है कि राज्य की राजधानी कहाँ बनाई जाये। मन्त्र इस प्रकार है—

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्नीनजयत्पुरोहितः ।

नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥

अर्थात्—‘(अयं) यह (अग्निः) सम्राट् (सत्पतिः) श्रेष्ठ पुरुषों का पालक है अथवा स्वयं श्रेष्ठ रक्षक है (वृद्धवृष्णः) प्रवृद्ध बल वाला है, यह (पुरोहितः) आगे रखा हुआ (रथी)¹ रथारोही (इव) जैसे (पत्नीन्) पदातियों को (अजयत्)² जीत लेता है, वैसे ही अनायास विरोधियों को जीत लेता है। (पृथिव्यां) पृथिवी में (नाभा) नाभि में अर्थात् केन्द्र में (निहितः) रखा हुआ यह (दविद्युतत्) खूब चमके (ये) जो (पृतन्यवः) सेना लेकर हम पर चढ़ाई करना चाहते हैं उनको (अधस्पदं) अपने पैर के नीचे (कृणुतां) कर लेवे।’

इस मन्त्र के ‘पृथिवी में नाभि अर्थात् केन्द्र में रखा हुआ यह खूब चमके’, इस वाक्य से यह सूचना मिलती है कि राजा के रहने का स्थान—राजधानी—पृथिवी के केन्द्र अर्थात् देश के मध्य में होनी चाहिए। राजधानी के देश की नाभि अर्थात् उसके केन्द्र में होने का परिणाम यह होगा कि उसकी चमक अर्थात् उसके राज्य-शासन का प्रभाव और तेज देश के प्रत्येक भाग में समान रूप से पहुँच सकेंगे।

मन्त्र में अग्नि का जिस प्रकार का वर्णन है वह लोक-प्रसिद्ध अग्नि पर संगत नहीं हो सकता। भौतिक आग रथारोही की तरह पदातियों का विजय नहीं कर सकता और न ही वह हम पर सेनाएँ लेकर चढ़ाई करने वाले शत्रुओं को अपने पैरों के नीचे कर सकता है। अतः यहाँ अग्नि का अर्थ सम्राट् ही करना होगा। और उस

¹ इस उपमा का यह अभिप्राय है कि जैसे रथी पदातियों पर आसानी से विजय पा लेता है वैसे ही यह सम्राट् इतना बली है कि शत्रुओं पर आसानी से विजय पा लेता है। या यह भी भाव हो सकता है कि रथियों की तरह यह भी रथी है और पदातियों को जीत लेने वाला है।

² छन्दसि लुङ्लङ्लिट इति जयति इत्यस्य स्थाने अजयत् ।

अवस्था में 'पृथिवी के केन्द्र में रखा हुआ खूब चमके' इस वाक्य का यही भाव बनेगा कि वह देश के केन्द्र में रहता हुआ खूब तेज दिखाये, जिसकी यह स्पष्ट सूचना होगी कि राजा के रहने का स्थान देश के केन्द्र अर्थात् मध्य में होना चाहिए। इसी भाँति—

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः ।

अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन् यक्षीह देवान् ॥

ऋग् ० 10.1.6.

इस मन्त्र से भी यह सूचना मिलती है कि राजधानी देश के केन्द्र में होनी चाहिए। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

‘(अध) और (सः) वह तू (अग्निः) सम्राट् (पेशनानि) सुन्दर (वस्त्राणि) वस्त्रों को (वसानः) पहनता हुआ (पृथिव्याः) पृथिवी अर्थात् देश के (नाभा) केन्द्र में (अरुषः) प्रकाशमान (जातः) हो रहा है (पुरोहितः) प्रत्येक कार्य में आगे रखे जाने वाले (राजन्) हे राजन् (इह) यहाँ (इळायाः पदे) हमारी धरती पर (देवान्) दिव्य भावों या दिव्य पुरुषों का (यक्षि) यजन कीजिए—उन्हें बुलाइये। अर्थात् ऐसा उत्तम राज्य प्रबन्ध हो कि दिव्य भावों और दिव्य पुरुषों का राष्ट्र में खूब संगतिकरण हो।’

यहाँ अग्नि का अर्थ आग नहीं हो सकता यह तो मन्त्रगत वर्णन से ही स्पष्ट है। आग सुन्दर वस्त्र क्या पहिनेगा। उस पर जाकर तो सुन्दर वस्त्र रख हो जायेंगे। यह सुन्दर वस्त्र पहिनने वाला और ‘राजन्’ पद से सम्बोध्यमान अग्नि राजा ही हो सकता है। जिस सूक्त का यह मन्त्र है वह सारा ही अग्नि के राजा-परक अर्थ में अधिक संगत, सुन्दर और शिक्षाप्रद अर्थ देता है। राजा के पृथिवी की नाभि में रहने का भाव यही होगा कि उसके रहने का स्थान, राजधानी, देश के मध्य में होना चाहिए।

1. यमेरिरे भूगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्याः ।

ऋग् ० 1.143.4.

2. अधि नाभा पृथिव्याः ।

ऋग् ० 3.5.9.

3. इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि ।

जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोढवे ॥

ऋग् ० 3.29.4.

यजु० 34.15.

ऋग्वेद के इन मन्त्रों में आये ‘नाभा पृथिव्याः’ इन शब्दों से भी यही व्यंजित होता है कि राजधानी देश के मध्य में होनी चाहिए। हमने ‘व्यंजित होता है’, इसलिए कहा है कि यदि किसी को यही आग्रह हो कि इन स्थलों में अग्नि से यज्ञ में प्रज्वाल्यमान अग्नि का अभिप्राय है, तो भी व्यंजना से हमारी बात भी निकल आयेगी। क्योंकि दूसरे स्थलों में अग्नि का सम्राट् अर्थ में प्रयोग भी स्पष्ट हुआ है। यदि इन स्थलों में भी अग्नि का अर्थ सम्राट् लेकर ही मन्त्रों का अर्थ किया जाय तो हमारी बात यों ही स्पष्ट निकलेगी। अब यजुर्वेद का निम्न मन्त्र देखिए—

नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
 इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारग्निं पृतनासु सासहिम् ॥

यजु० 11.76.

अर्थात्—‘पृथिवी की नाभि अर्थात् केन्द्र अर्थात् राजधानी में, अग्नि के अच्छी प्रकार प्रदीप्त होने पर अर्थात् राजसूयादि यज्ञ करके, बड़े धन और उससे प्राप्त होने वाली पुष्टि के लिए, अन्न से हमें आनन्दित करने वाले, बड़े प्रशंसनीय, सत्कार करने योग्य संगति करने योग्य, विजयशील, सेनाओं में शत्रुओं का पराभव करने वाले सम्राट् (अग्नि) को हम राज्य करने के लिए बुलाते हैं ।’

यह मन्त्र आग-परक नहीं लग सकता, सम्राट्-परक ही लग सकता है । सम्राट् के पृथिवी की नाभि में बुलाने का अभिप्राय यही होगा कि उसे राष्ट्र के केन्द्र में बसी हुए राजधानी में बुलाया जा रहा है । दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह हुआ कि वेद यह शिक्षा दे रहा है कि राजधानी देश के मध्य में होनी चाहिए ।

लोहे और पत्थर के प्राचीरों वाले नगर

राजधानी आदि राष्ट्र के जो बहुत महत्वपूर्ण नगर हैं उनकी रक्षा के लिए आवश्यकता होने पर उनके चारों ओर लोहे और पत्थर के प्राचीर भी बनाये जाने चाहिए इसका भी स्थान-स्थान पर निर्देश मिलता है । उदाहरण के लिए निम्न मन्त्र देखिए—

1. अच्छिद्रा सूनो सहसो नो अद्य स्तोतृभ्यो मित्रमहः शर्म यच्छ ।

अग्ने शुणन्तमंहस उरुष्योर्जो नपात् पूभिरायसीभिः ॥

ऋग्० 1.58.8.

2. प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धुहृत्वी दस्यून् पुर आयसीनि तारीत् ।

ऋग्० 2.20.8.

3. अघा मही न आयस्यनाघृष्टो नृपीतये ।

पूर्मवा शतभुजिः ॥

ऋग्० 7.15.14.

4. एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः ॥

ऋग्० 7.95.1.

5. तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूभिरायसीभिर्नि पाहि ॥

ऋग्० 7.3.7.

6. व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वरं सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।

पुरः कृणुध्वमायसीरघृष्टा मा वः सुलोच्चमसो दंहता तम् ॥

ऋग्० 10.101.8; अथ० 19.58.4.

इन मन्त्रों और मन्त्र-खण्डों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

(1) हे बल के पुत्र अर्थात् बहुत बली (सहसः सूनो) और मित्रों की महिमा बढ़ाने वाले अथवा मित्रों द्वारा अपनी महिमा बढ़ाने वाले (मित्रमहः) सम्राट् (अग्ने) तेरी प्रशंसा करने वाले हम प्रजाजनों को आज छिद्र-रहित अर्थात् पूर्ण कल्याण प्रदान

कीजिए और हे राष्ट्र में अन्न कभी नष्ट न होने देने वाले (ऊर्जो¹ नपात्) तेरे गुण गाने वाले (गृणन्तं) हम लोगों को पाप से बचा तथा लोहे की नगरियों द्वारा (आयसीभिः पूभिः) हमारी रक्षा कर (उरुष्य) । (2) जब इस सम्राट् (इन्द्र) के हाथों में बज्र को (प्रजाओं ने) धारण कराया तो इसने राष्ट्र का उपक्षय करने वाले लोगों को (दस्यून्) मार कर उनकी लोहे की नगरियों को (आयसीः पुरः) नष्ट कर दिया (नितारीत्)² । इस मन्त्र में प्रयुक्त हुआ 'नितारीत्' क्रियापद तरणार्थक 'तृ' धातु से बना है और सायणाचार्य के अनुसार यहाँ हिंसार्थक है । यदि धातु का तरण अर्थ ही लिया जाये तो तब अर्थ यह होगा कि इन्द्र ने दस्युओं को मारकर अपनी लोहे की नगरियों की रक्षा कर ली—उन्हें संकट से पार तैरा दिया । (3) 'हे सम्राट् (अग्ने) हमारे मनुष्यों की रक्षा के लिए (नृपीतये)³ किसी से धर्षण न होने वाला तू हमारे लिए सैंकड़ों प्रकार से रक्षा करने वाली (शतभुजिः) लोहे की नगरी (आयसीः पूः) बन जा । (4) यह सरस्वती लोहे की नगरी की तरह धारण करने वाली है । (5) हे सम्राट् (अग्ने) उन अपने अपरिमित तेजों द्वारा सैंकड़ों लोहे की नगरियाँ बना कर हमारी रक्षा कर । (6) हे मनुष्यो ! तुम अपने मिलकर रहने के स्थान ग्रामादि (व्रजं) बनाओ, वे ही तुम्हारे लोगों की रक्षा करने वाले हैं, बहुत और बड़े-बड़े कवच बनाओ, किसी से धर्षण न होने वाली लोहे की नगरियाँ बनाओ, तुम्हारा अन्न (चमसः)⁴ कभी क्षीण न होवे, अपने अन्न को हड़ करके रखो ।

इन मन्त्रों में पाठक देखेंगे कि वेद ने अपने कहने के विशेष ढंग में राजा और प्रजाजनो को असंदिग्ध शिक्षा दी है कि उन्हें राष्ट्र के विशेष-विशेष महत्त्वपूर्ण स्थानों में उसकी रक्षार्थ ऐसे नगर भी बनाने चाहिए जिन पर आक्रमण करके शत्रु लोग उनका धर्षण न कर सकें—उन्हें पराजित न कर सकें । इन नगरों की प्राचीरें लोहे की बनी हों और उनमें सैंकड़ों प्रकार से रक्षा करने के साधन (शतभुजिः) हों । उद्धृत अन्तिम मन्त्र में तो यह बात विलकुल ही स्पष्ट शब्दों में कही गई है । सीधा उपदेश दिया गया है कि मनुष्यों को अपनी रक्षा के लिए मिलकर रहने के ग्रामादि (व्रजं) तथा लोहे से बनी बड़ी-बड़ी नगरियाँ भी बनानी चाहिए, और ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि लोगों का अन्न क्षीण न हो, सबको खाने को भरपूर मिलता रहे । जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें वेद सीधा मनुष्यों को सम्बोधन करके उपदेश दे रहे हैं कि तुम्हें अपने कल्याण के लिए अमुक-अमुक बातें करनी चाहिए । इन प्रकरणों में लोहे का अभिप्राय केवल लोहा ही नहीं लेना चाहिए । लोहा तो उपलक्षण है । लोहे और उस जैसी किसी भी कठोर और हड़ वस्तु से नगरों की रक्षार्थ प्राचीर आदि बनाये जा सकते हैं ।

¹ ऊर्गिति अन्ननामसु पठितम् । निष० 2.7.

² नितारामनाशयदिति सायणः ।

³ नृणां रक्षणार्थमिति सायणः ।

⁴ चमु अदने चम्यते इति चमसः । भक्षणसाधनमिति सायणः ।

इस प्रसंग में अथर्व 5.10. सूक्त भी देखने योग्य है। इसमें बड़े मनोरंजक ढंग से इस बात का उपदेश दिया गया है कि राष्ट्र की रक्षार्थ ऐसे नगर भी बनाये जाने चाहिए जिनकी प्राचीर पत्थर की बनी हुई हो और जिस पर किसी दिशा से भी शत्रु आक्रमण न कर सकें। सूक्त इस प्रकार है—

1. अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात् ।
एतत्स ऋच्छात् ॥ अथ० 5.10.1.
2. अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात् ।
एतत्स ऋच्छात् ॥ अथ० 5.10.2.
3. अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् ।
एतत्स ऋच्छात् ॥ अथ० 5.10.3.
4. अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् ।
एतत्स ऋच्छात् ॥ अथ० 5.10.4.
5. अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात् ।
एतत्स ऋच्छात् ॥ अथ० 5.10.5.
6. अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात् ।
एतत्स ऋच्छात् ॥ अथ० 5.10.6.
7. अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशाऽमन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात् ।
एतत्स ऋच्छात् ॥ अथ० 5.10.7.
8. बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ अथ० 5.10.8.

सूक्त के मन्त्रों का क्रम से अर्थ इस प्रकार है—

(1) हे पत्थर ! तू मेरा कवच है, जो पाप-कर्म करना चाहने वाला शत्रु पूर्व की दिशा की ओर से आकर मुझे दास बनाना चाहता है, वह इस तुझ को प्राप्त होवे— अर्थात् वह तुझ से टक्कर खाकर नष्ट हो जाये। (2) हे पत्थर ! तू मेरा कवच है, जो पापकर्म करना चाहने वाला शत्रु दक्षिण की दिशा से आकर मुझे दास बनाना चाहता है, वह इस तुझ को प्राप्त होवे—अर्थात् वह तुझ से टक्कर खाकर नष्ट हो जाये। (3) हे पत्थर ! तू मेरा कवच है, जो पाप-कर्म करना चाहने वाला शत्रु पश्चिम की दिशा से आकर मुझे दास बनाना चाहता है, वह इस तुझको प्राप्त होवे। (4) हे पत्थर ! तू मेरा कवच है, जो पापकर्म करना चाहने वाला शत्रु उत्तर की दिशा से आकर मुझे दास बनाना चाहता है, वह इस तुझ को प्राप्त होवे। (5) हे पत्थर ! तू मेरा कवच है, जो पाप-कर्म करना चाहने वाला शत्रु नीचे की दिशा से आकर मुझे

दास बनाना चाहता है, वह इस तुझ को प्राप्त होवे । (6) हे पत्थर ! तू मेरा कवच है, जो पापकर्म करना चाहने वाला शत्रु ऊपर की दिशा से आकर मुझे दास बनाना चाहता है, वह इस तुझ को प्राप्त होवे । (7) हे पत्थर ! तू मेरा कवच है, जो पापकर्म करना चाहने वाला शत्रु दिशाओं के बीच की दिशाओं से आकर मुझे दास बनाना चाहता है, वह इस तुझ को प्राप्त हो—अर्थात् तुझ से टक्कर खाकर नष्ट हो जावे ।'

सूक्त के इन सातों मन्त्रों के वर्णन से स्पष्ट है कि यहाँ आलंकारिक ढंग से पत्थर के ऐसे कवच की महिमा गाई जा रही है जिससे सभी दिशाओं से आने वाले शत्रु टक्कर खाकर नष्ट हो जाते हैं । अश्मा अर्थात् पत्थर का बना हुआ ऐसा कवच किसी स्थान या नगर के चारों ओर से बना हुआ प्राचीर ही हो सकता है । यहाँ कवच के लिए वर्म शब्द का प्रयोग हुआ है । वर्म शब्द 'कृन् आवरणे' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होने पर बनता है । वर्म का शब्दार्थ है आवरण करने वाली वस्तु । लोहे आदि के बने हुए कवच को वर्म इसीलिए कहते हैं कि वह मनुष्य के शरीर का आवरण कर लेता है—उसे ढक लेता है । कोई पत्थर किसी मनुष्य के शरीर का कवच के रूप में वर्म नहीं बन सकता । पहले तो उसका कवच बनना ही दुष्कर है, फिर यदि पत्थर को 'खोद-खाद कर उसका शरीर पर ओढ़ने योग्य कोई खोल सा बना लें तो भी उसे ओढ़ कर युद्ध समय में स्वच्छन्द रीति से अंग-प्रत्यंगों का संचालन नहीं हो सकता । कई पत्थरों को किसी भाँति से मिलाकर भी शरीर का कवच नहीं बन सकता । यदि तो उसके पत्थर भारी रहेंगे तो योद्धा का अंग-संचालन स्वच्छन्द रीति से नहीं हो सकता, और यदि पत्थर छील कर पतले कर दिये जायेंगे तो उनसे अभीष्ट रक्षा प्राप्त नहीं हो सकती, वे जरा-से प्रहार से टूट जायेंगे और अंग-संचालन की स्वच्छन्दता में रुकावट उस अवस्था में भी बनी रहेगी । पत्थर का वर्म एक ही अवस्था में संभव हो सकता है । और वह तब जबकि पत्थरों की कोई भारी दीवार बनाकर किसी स्थान या नगर को घेर कर उसके भीतर रहा जाये । इस प्रकार के पत्थर के वर्म का ही इस सूक्त में वर्णन है । सभी दिशाओं से आने वाले शत्रु जो कि हमें दास बनाना चाहते हैं उस वर्म में टक्कर खाकर नष्ट हो जाते हैं । उसका यह वर्णन स्पष्ट कर देता है यहाँ अश्म के वर्म का अभिप्राय नगर के चारों ओर बने हुए पत्थर के प्राचीर से है ।

(8) अन्तिम आठवें मन्त्र का अर्थ यों है—' (बृहता) संसार में जो भी बृहत् या महान् तत्त्व है उससे (मनः) मन को (उपह्वये) मैं बुलाता हूँ । अर्थात् मेरा मन बहुत महान् हो जाये । (मातरिश्वना)¹ वायु से (प्राणापानौ) मैं प्राण और अपान को बुलाता हूँ । अर्थात् जैसे विश्व में बहने वाला वायु अत्यन्त बलिष्ठ है उसी भाँति मेरे शरीर के प्राण और अपान भी अत्यन्त बलिष्ठ हो जायें । (सूर्यात्) सूर्य से (चक्षुः) चक्षु को मैं बुलाता हूँ । अर्थात् सूर्य की तरह मेरी चक्षुः शक्ति तेजस्वी हो जाये ।

¹ सूर्यादन्तरिक्षात्पृथिव्याः इति पञ्चम्याः साहचर्येण बृहता मातरिश्वना सरस्वत्या इत्यत्रापि पञ्चम्यर्थ एव तृतीयावगन्तव्या ।

(अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (श्रोत्रं) श्रोत्र को मैं बुलाता हूँ। अर्थात् अन्तरिक्ष की तरह मेरी श्रोत्र-शक्ति विस्तीर्ण हो जाये। (पृथिव्याः) पृथिवी से (शरीरम्) शरीर को मैं बुलाता हूँ। अर्थात् मेरा शरीर पृथिवी की तरह सहनशील, लम्बा-चौड़ा और बलिष्ठ हो जाये। (मनोयुजा) मन के साथ मिली हुई (सरस्वत्या) विद्याओं में बहने वाली विज्ञान-शक्ति से (वाचम्) वाणी को (उपह्वयामहे) हम बुलाते हैं। अर्थात् हमारा विज्ञान और मन परस्पर अनुकूल रहें तथा हमारी वाणी हमारे विज्ञान और मन के अनुकूल रहे।'

उपर्युक्त सात मन्त्रों के पीछे इस मन्त्र के अपने का भाव यह है कि हम इस प्रकार के महान् मन, महान् प्राणापन, महान् चक्षु, महान् श्रोत्र, महान् शरीर एवं महान् विज्ञान और वाणी वाले होकर पाषाणों से बने हुए ऐसे भीमकाय दुर्ग बनाएँ जिनसे किसी भी दिशा से हम पर आक्रमण करने वाले शत्रु टक्कर खाकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाए—जिनको कोई भी शत्रु न जीत सके। इस मन्त्र के अन्तिम चरण में 'उपह्वयामहे'—बुलाते हैं—इस क्रिया का प्रयोग हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि बोलने वाले बहुत से हैं। और इसलिए सूक्त में जहाँ 'उपह्वये'—बुलाता हूँ—तथा 'मैं'—मेरा—इस प्रकार के एक-वचनान्त प्रयोग हुए हैं वहाँ भी असल में बहुवचन के ही प्रयोग समझना चाहिए। इन स्थलों में केवल एकत्व की विवक्षा से बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग कर दिया गया है। इस प्रकार 'उपह्वयामहे'—बुलाते हैं—इस बहुवचन के प्रयोग से यह सूचित होता है कि सूक्त मन्त्रों में बोल रहे लोग अनेक हैं। अनेकों का कवच एक पत्थर नहीं हो सकता है। किसी दुर्ग के प्राचीर के रूप में ही पाषाण अनेक लोगों के कवच हो सकते हैं। इस प्रकार इस सूक्त द्वारा यह शिक्षा दी गई है कि लोगों को आत्म-रक्षा के लिए पाषाण के प्राचीरों से युक्त नगर और दुर्ग बनाने चाहिए।

24

राष्ट्रीय गीत

पीछे 'मातृभूमि की भावना' नामक अध्याय में हमने लिखा था कि अथर्ववेद के 12वें काण्ड के प्रथम सूक्त को भूमि-सूक्त कहते हैं। वहाँ हमने यह भी देखा था कि इस सूक्त में भूमि से अभिप्राय किसी राष्ट्र की मातृभूमि से है। इस सूक्त में एक राष्ट्र-भक्त के मुख से अपनी मातृभूमि के प्रति जैसे आदर और प्रशंसा से भरे उदात्त भाव व्यक्त कराये गये हैं वैसे उदात्त भाव किसी देश के प्रचलित राष्ट्रीय गीतों में नहीं मिलेंगे। आजकल की प्रचलित भाषा में कहना हो तो हम इस सूक्त को 'मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रीय गीत' कह सकते हैं। यह सूक्त बड़े-बड़े 63 मन्त्रों का एक लम्बा सूक्त है। वैदिक देश-भक्त अपनी मातृभूमि के प्रति कैसे ऊँचे भाव रखता है इसे दिखाने के लिए हम कुछ मन्त्र नमूने के तौर पर अर्थ सहित नीचे दे रहे हैं। सूक्त के कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं—

1. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरु लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

अथ० 12.1.1.

महान् सत्य, महान् ऋत, उग्रता अर्थात् क्षत्र-शक्ति, दीक्षा, तप, ब्रह्म-शक्ति और यज्ञ, ये सात पृथिवी को अर्थात् हमारे राष्ट्र को धारण करते हैं, हमारे भूतकाल की और भविष्यकाल की रक्षा करने वाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए विस्तृत प्रकाश और स्थान करे।

2. असंबाधं वध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥

अथ० 12.1.2.

जिसके गति-निरोधक व्यवहारों को बन्धन और संयमन में लाने वाले मनु के पुत्र अर्थात् मनुष्यों की बहुत प्रकार की उच्चताएँ, निम्नताएँ और समताएँ हैं, जो अनेक प्रकार के वीर्य अर्थात् शक्ति और गुणों वाली ओषधियों तथा अन्नों को धारण करती है, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए विस्तीर्ण होवे और हमारे लिए समृद्ध बने।

3. यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयुः संवभूवुः ।

यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥

अथ० 12.1.3.

जिसमें समुद्र और नदियाँ तथा अन्य विविध प्रकार के जल हैं, जिसमें अन्न होता है और अन्य अनेक प्रकार की खेतियाँ होती हैं, अथवा मनुष्य मिलकर रहते हैं, जिसमें प्राण लेता हुआ तथा चेष्टा करता हुआ यह सब प्राणी जगत् चल रहा है अथवा अपने आपको तृप्त कर रहा है वह हमारी मातृभूमि हमको पूर्वपेय में अर्थात् पूर्वज पुरुषों द्वारा प्राप्त किये गये उत्तम पद पर अथवा प्रथम प्राप्त करने योग्य पेय पदार्थों में धारण करे अर्थात् इनको प्रदान करे ।

4. यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्याः यस्यामन्नं कृष्टयुः संवभूवुः ।

या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥

अथ० 12.1.4.

जिस हमारी मातृभूमि की चार विस्तीर्ण दिशाएँ हैं, जिनमें अन्न होते हैं, खेतियाँ होती हैं अथवा मनुष्य मिलकर रहते हैं, मिलकर उन्नति करते हैं, जो प्राणधारी और चेष्टाशील प्राणि-जगत् का अनेक प्रकार से भरण-पोषण करती है वह हमारी मातृभूमि हमें गौवों में और भाँति-भाँति के अन्नों में धारण करे—इनका प्रदान करे ।

5. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥

अथ० 12.1.5.

जिसमें पहले के हमारे पूर्वज पुरुष भाँति-भाँति के कर्म करते रहे हैं, जिसमें देव-प्रकृति के पुरुष असुर-प्रकृति के लोगों को अभिभूत, पराजित करते रहे हैं, जो गौवों का, घोड़ों का और भाँति-भाँति के पक्षियों का विशेष रूप से रहने का स्थान है अथवा अन्नों का विशेषरूप से रखने का स्थान है, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए ऐश्वर्य और तेज को धारण करे—प्रदान करे ।

6. विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।

वैश्वानरं विभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥

अथ० 12.1.6.

सबका भरण-पोषण करने वाली अथवा सबको अपने ऊपर धारण करने वाली, सब प्रकार के ऐश्वर्य को अपने में धारण करने वाली, सबका आधार, सबको आश्रय और प्रतिष्ठा देने वाली, सुवर्ण को अथवा हितकारी और रमणीय पदार्थों को अपने वक्षः स्थल में रखने वाली, सब जगत् को अपने में बसाने वाली अथवा कल्याण में प्रविष्ट कराने वाली, सब लोगों के हितकारी अग्नि को अपने में रखने वाली, इन्द्र अर्थात् चुना हुआ सम्राट् है अधिपति जिसका ऐसी वह हमारी मातृभूमि हमें बल और घन में धारण करे, प्रदान करे ।

7. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।

सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ अथ० 12.1.7.

जिस विस्तार और ख्याति देने वाली मातृभूमि की सदा जागरूक रहने वाले विविध व्यवहारों में कुशल विद्वान् प्रजाजन प्रमाद रहित होकर रक्षा करते हैं वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए प्रिय मधु को दुहा करे और हमें तेज से सिक्त करे अथवा वृद्धि प्रदान करे ।

8. यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ अथ० 12.1.9.

जिसमें सेवक होकर चारों ओर बहने वाले तथा समान रूप से बहने वाले जल (नहरें) दिन-रात प्रमाद रहित होकर बह रहे हैं । अनेक धाराओं वाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए जल और दूध को दुहे, पूर्ण रूप से प्रदान करे और हमें तेज से सींचे और बढ़ावे ।

9. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु ।

बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्टां पृथिवीमहम् ॥ अथ० 12.1.11.

हे हमारी मातृभूमि तुम्हारी पहाड़ियाँ और हिमाच्छादित पहाड़ तुम्हारे वन-जंगल सुखदायक हों, भूरे रंग वाली अथवा भरण-पोषण करने वाली, काले रंग वाली अथवा कृषि करने योग्य, लाल रंग वाली अथवा उपजाऊ, अनेक रूपों वाली, स्थिरता वाली, सबका आश्रय स्थान, विस्तृत तथा विस्तार करने वाली और ख्याति देने वाली, सम्राट् और परमात्मा से रक्षित अपनी मातृभूमि पर मैं पूर्ण आयु वाला, अहिंसित और सब प्रकार के घावों से रहित होकर अधिष्ठित रहूँ ।

10. यो नो द्वेषत्पृथिवी यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।

तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ अथ० 12.1.14.

हे हमारी मातृभूमि जो हम से द्वेष करे, जो हम पर सेना से आक्रमण करे, जो मन से और जो शस्त्र से हम को दास बनाना चाहे अथवा क्षीण करना चाहे उसको, हमारी कामनाओं को पूर्ण करने वाली हे हमारी मातृभूमि तू रांघ दे, नष्ट कर दे ।

11. त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।

तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥

अथ० 12.1.15.

हे मातृभूमि हमारे राष्ट्र के सब मनुष्य तुझ से उत्पन्न हुए हैं और तुझ पर ही विचरण करते हैं, और तुम दोपायों और तुम चौपायों को, धारण करती हो और उनका भरण-पोषण करती हो, हे हमारी मातृभूमि ये पाँचों प्रकार के मनुष्य, जिन मनुष्यों के लिए उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से अमर ज्योति का चारों ओर विस्तार

करता है, तुम्हारे ही हैं ।

12. ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।

ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥

अथ० 12.1.36.

हे मातृभूमि ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त, ये तुम्हारी ऋतुएँ हैं, तुम्हारे दिन और रात हे मातृभूमि व्यवस्थानुसार बने हुए अनेक वर्षों तक हमारे लिए कामनाओं को पूर्ण करते रहें ।

13. सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।

भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥

अथ० 12.1.40.

वह पूर्वोक्त महिमा वाली हमारी मातृभूमि जिस धन की हम कामना करें उसे हमारे लिए सब ओर से प्रदान करे, ऐश्वर्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा हमें अनुप्रयुक्त करे अर्थात् ऐश्वर्यवर्धक कामों में लगावे, और हमारा सम्राट् और परमात्मा अग्रगामी अर्थात् मार्गदर्शक बनकर चले ।

14. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः युध्यन्ते

यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥

अथ० 12.1.41.

जिस भूमि पर विविध वाणियों को बोलने वाले मनुष्य गाते हैं, नाचते हैं, युद्ध करते हैं और जिस पर युद्ध करते हुआं का कोलाहल होता है, जिस पर दुन्दुभि बजता है, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओं को मार भगावे, वह हमारी मातृभूमि मुझे शत्रु रहित कर देवे ।

15. यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वन्ते ।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भमाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥

अथ० 12.1.43.

जिसके नगर व्यवहार-कुशल शिल्पियों के बनाये हुए हैं, जिनके खेतों में मनुष्य नाना तरह से कार्य करते हैं, सब कुछ जिसके गर्भ में है ऐसी हमारी मातृभूमि को हमारा सम्राट् और परमात्मा प्रत्येक दिशा में रमणीय बनाये ।

16. निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ अथ० 12.1.44.

अपनी कानों में बहुत प्रकार का धन रखने वाली मातृभूमि मुझे मणि और सुवर्णादि धन देवे । अनेक धनों को देती हुई मातृभूमि प्रसन्न होकर हमारा धारण करे ।

17. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी पथीकसम् ।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव घेनुरनपस्फुरन्ती ॥

अथ० 12.1.45.

अनेक प्रकार से विविध प्रकार की वाणियों (भाषाओं) को बोलने वाले, अनेक प्रकार के घमों का पालन करने वाले लोगों को एक घर में रहने वाले लोगों की भाँति धारण करती हुई हमारी मातृभूमि स्थिर खड़ी हुई, हिलना-डुलना न करती हुई, दुधारू गौ की तरह मेरे लिए धन की हजारों धाराओं को दुहे—प्रदान करे।

18. ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्तमानसश्च यातवे ।

यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥ अथ० 12.1.47.

हे मातृभूमि तेरे जो अनेक मनुष्यों, रथों और गड्डों के चलने के लिए अलग-अलग मार्ग हैं जिन पर पापी और पुण्यात्मा सभी चलते हैं, उन मार्गों पर हमें कोई शत्रु और चोर न मिले। जो कुछ शिव है, हे मातृभूमि तू उससे हमें सुखी कर।

19. अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।

अभिषाडस्मि विस्वाषाडाशाभाशां विषासहिः ॥ अथ० 12.1.54.

अपनी इस मातृभूमि पर मैं विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला हूँ, उत्कृष्ट नाम वाला अर्थात् प्रशंसनीय कीर्ति वाला हूँ। सब ओर से विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला हूँ, प्रत्येक दिशा में विशेष रूप से विरोधी शक्तियों का पराभव करने वाला हूँ।

20. ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।

ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ अथ० 12.1.56.

तुझ भूमि पर जो गाँव हैं, जो जंगल हैं, जो सभाएँ होती हैं, जो संग्राम होते हैं, और जो समितियाँ होती हैं, उन सब में, हे मातृभूमि हम तुम्हारे लिए सुन्दर बात, हित की बात ही बोलें।

21. उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः ।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

अथ० 12.1.62.

हे मातृभूमि तुम्हारे ऊपर रहने वाले लोग हमारे लिए रोग रहित, यक्ष्मरोग रहित, उत्पन्न होते रहें, अथवा तुम्हारी गोद हमारे लिए रोगों से रहित रहे, हमारी आयु लम्बी हो, ज्ञानवान् बनते हुए हम तुम्हारे लिए बलि अर्थात् कर देते हैं।

राष्ट्रिय गीत या विश्व-राष्ट्रिय गीत ?

हमने वेद के इस भूमि-सूक्त को राष्ट्रिय गीत का नाम दिया है। वेद का यह राष्ट्रिय गीत धरती के आजकल के राष्ट्रों के राष्ट्रिय गीतों जैसा नहीं है। इसमें पृथिवी के किसी विशेष देश या राष्ट्र का संकेत नहीं है। इसमें तो एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना करके उसके राष्ट्र-भक्त प्रजाजनों द्वारा उसकी महिमा और विभूति के

गीत गवाये गये हैं और इस प्रकार एक आदर्श राष्ट्र का चित्र उपस्थित करके यह उपदेश दिया गया है कि किसी राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए हमें उसमें क्या-क्या कुछ होना चाहिए। जब तक कोई जन-समुदाय किसी भू-खण्ड को अपनी मातृभूमि बनाकर उसमें वेद के इस गीत में बताये गये प्रकार से न रहने लगे तब तक वह जन-समुदाय किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। इसलिए भूमि-सूक्त के इस गीत की यह ध्वनि भी है कि अपनी उन्नति चाहने वाले जन-समुदायों को धरती के किसी न किसी खण्ड को अपनी मातृभूमि बनाकर रहना चाहिए। यह हमारे मन के विकास की अवस्था पर निर्भर करता है कि हम धरती के कितने बड़े भाग को अपनी मातृभूमि समझें। हमारे मन का विकास जितना ही अधिक होगा हम उतने ही बड़े भू-भाग को अपनी मातृभूमि और उसमें रहने वाले लोगों को अपना भाई समझने लगेंगे। हम चाहें तो पाँच-दस हजार वर्गमील के भू-भाग को भी, सौ-पचास हजार वर्गमील के भू-भाग को भी, पाँच-दस लाख वर्गमील के भू-भाग को भी, दस-बीस लाख वर्गमील के भू-भाग को भी, सौ-पचास लाख वर्गमील के भू-भाग को भी, और करोड़ों वर्गमील के भू-भाग को भी अपनी मातृभूमि समझ सकते हैं तथा इन भू-खण्डों में रहने वाले मनुष्यों को अपना भाई समझ सकते हैं। हम चाहें तो सारी पृथिवी को ही अपनी मातृभूमि और उस पर रहने वाले सब मनुष्यों को अपना भाई समझ सकते हैं। वेद मानव-मात्र का धर्म ग्रन्थ है। इसलिए वेद की आन्तरिक प्रेरणा तो यही है कि धरती के सब मनुष्यों को सारी धरती को ही अपनी मातृभूमि और उसके सब निवासियों को अपना भाई समझना चाहिए। वेद का यह भूमि-सूक्त तो वास्तव में किसी एक विशेष देश का राष्ट्रिय गीत न होकर मानव-मात्र का राष्ट्रिय गीत है। किसी एक देश विशेष के लोग जिस प्रकार इस गीत को गा सकते हैं उसी प्रकार सारी धरती के लोग भी इसे गा सकते हैं। असल में तो इस भूमि-सूक्त को राष्ट्रिय गीत न कहकर विश्व-राष्ट्रिय गीत कहना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अथर्ववेद संहिता (मूल)	निरुक्त भाष्य (चन्द्रमणि विद्यालंकार)
अथर्ववेद भाष्य (सायणाचार्य)	पेप्पलाद संहिता
अथर्ववेद भाष्य (पं० क्षेमकरणदास)	वृहद् देवता
अथर्ववेद भाष्य (पं० सातवलेकर)	मन्त्र ब्राह्मण
अथर्ववेद इंगलिश अनुवाद (ग्रिफिथ)	मनुस्मृति
अथर्ववेद इंगलिश अनुवाद (ह्विटनी)	मरुत् (बुद्धदेव विद्यालंकार)
अभिज्ञान शाकुन्तल	महाभारत
अमरकोष	मेदिनी कोष
अष्टाध्यायी	मैत्रायणी संहिता
उत्तररामचरित	यजुर्वेद संहिता (मूल)
उणादि कोष	यजुर्वेद भाष्य (ऋषि दयानन्द)
ऋक्सर्वानुक्रमणी	यजुर्वेद भाष्य (उवट् और महीधर)
ऋग्वेदसंहिता (मूल)	यज्ञतन्त्र सुधानिधि
ऋग्वेद भाष्य (ऋषि दयानन्द)	रघुवंश
ऋग्वेद भाष्य (सायणाचार्य)	वाक्यपदीय
ऋग्वेद इंगलिश अनुवाद (विल्सन)	वाचस्पत्य वृहदभिधान कोष
ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (ऋषि दयानन्द)	वामन पुराण
ऐतरेय ब्राह्मण	वाल्मीकीय रामायण
कादम्बरी	वेदकाल निर्णय (दीनानाथ शास्त्री चुलैट)
काण्वसंहिता	वेदान्त दर्शन शांकर भाष्य
कौटिलीय अर्थशास्त्र	शतपथ ब्राह्मण
कौषीतकि ब्राह्मण	शब्द कल्पद्रुम कोष
गोपथ ब्राह्मण	शब्दस्तोम महानिधि
छान्दोग्य ब्राह्मण	शाट्यायन ब्राह्मण
जैमिनीय उपनिषद्	श्रीमद्भागवत
ताण्ड्य ब्राह्मण	सत्यार्थ प्रकाश (ऋषि दयानन्द)
तैत्तिरीय ब्राह्मण	सामवेद संहिता (मूल)
तैत्तिरीय संहिता	सामवेद भाष्य (सायणाचार्य)
दशकुमार चरित	सोम (बुद्धदेव विद्यालंकार)
घरणि कोष	संस्कृत इंगलिश कोष (आप्टे)
निघण्टु	संस्कृत इंगलिश कोष (मोनियर विलियम्स)
निरुक्त	स्वर्ग (बुद्धदेव विद्यालंकार)
निरुक्त भाष्य (दुर्गाचार्य)	

मन्त्र-अनुक्रम

अक्षद्रुघो राजन्यः पाप, 196
 अग्निं कविं सम्राजमतिथिं जनानाम्, 175
 अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं, 86
 अग्निं वर्धन्तु नो, 25
 अग्निं वृणानां वृणते कविक्रतुम्, 28
 अग्निं होतारं प्रवृणो, 27
 अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त, 79
 अग्निमर्वत्यग्निं क्षत्राय साधसे, 88
 अग्निरीशे बृहतः क्षत्रियस्याऽग्नि, 86
 अग्निः प्रियेषु धाम, 35
 अग्निः सन्ति याजंमरं ददा, 88
 अग्निः सम्राडैको वि राजति, 175
 अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्य, 187
 अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै, 294
 अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्, 90
 अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्, 90, 294
 अग्निर्भुवद् रयिपती रतीणाम्, 84
 अग्निर्विश्वचक्रे बलिहृतः सहोभिः, 88
 अग्निहोषां दूतः प्रत्येतु विद्वान्, 294
 अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः,
 574
 अग्नेः प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य,
 187
 अग्ने अच्छा वदे, 36
 अग्ने अस्मदमतिमारे विश्वां, 81
 अग्ने तप्तेभिर्युवमश्महन्मभि तपुर्वधेभिः,
 571
 अग्ने दूतो विशामसि, 287
 अग्ने पाहि नूतम वाजे अस्मान्, 82
 अग्ने यासि दूत्यम्, 281
 अग्ने विशस्पते घनदा असि नस्त्वम्, 88
 अग्ने सम्राडभि धुम्नमभि सह, 175

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता, 255
 अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवः, 273
 अतूर्तपन्थाः पुररथो अयंमा, 467
 अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विशतिवन्द्रं
 क्षत्रे, 379
 अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं
 क्षत्रम्, 379
 अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां, 379
 अत्रैव वोऽपि नह्याम्युभे, 240
 अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः, 94
 अथान्नवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् त्सखे, 446
 अथो ह स्थो रथ्याराध्येभिः, 302
 अ दन्धस्य स्वधावतो दूतस्य, 294
 अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर, 568
 अदित्यै विष्णुपत्न्यै, 460
 अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय, 409
 अद्या मुरीय यदि यातुघानो अस्मि, 563
 अधमं गमया तमो यो अस्माँ, 571
 अधिराजो राजसु राजयातै, 179
 अनश्वं याभी रथमावतं जिघे, 321
 अनष्ट पशुर्भुवनस्य गोपाः, 400
 अनाघृष्यो जातवेदा अमर्त्यो, 38
 अन्नं यो ब्राह्मणां मत्स्वः, 199
 अन्नादायान्नपतये रुद्राय, 90
 अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि, 428
 अपांसि यस्मिन्नधि संदधुः, 84
 अप त्यं परिपन्थिनं मुपीवाणं, 411
 अपसु ते राजन्वरुण गृहो, 161
 अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप, 108
 अपो देवा मधुमतीरगृष्णन्तूर्जस्वती, 590
 अपो धन्वान्यति याथो अजान, 319
 अप्रतीतो जयति सं वनानि, 384

अमित्वेन्द्र वरिमतः पुरा, 39, 128
 अभिभूरहभागमं विश्वकर्मेण, 240
 अभि स्यवसं नय न नवज्वारो, 402
 अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं, 437
 अम्बितमे नदीमे देवितमे सरस्वति, 496
 अयं ते योनिर्ऋत्विग्यो, 35
 अयं सोमः कर्पादिने घृतं, 147
 अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः, 85
 अयमस्तु धनपतिधर्तानामयं, 183
 अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद्विषितस्तुपः,
 468
 अयोजाला असुरा मायिनौज्यस्मयैः, 90
 अयोदंष्ट्रो अचिषा यातुधानानुप, 88
 अरन्धयः शर्घत इन्द्र दस्यून, 103
 अर्थेत् स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त, 136,
 567
 अर्थेत् स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा,
 136, 567
 अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय,
 599
 अर्यमणं यजामहे सुवन्धुपतिवेदनम्, 468
 अर्यमाभि रक्षत्मजूयन्तमनु व्रतम्, 466
 अर्वाचीनः परिवीतो निषीद, 82
 अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे, 127
 अर्वावतो न आ गहि, 129
 अर्वावतो न आ गह्ययो शक्र, 129
 अविद्वांसो त्रिदुष्टरं सपेम, 81
 अव्ये वधूयुः पवते परि त्वचि, 148
 अशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि, 551
 अशिता लोकाञ्छिनन्ति ब्रह्मगवी, 197
 अश्वायन्तो गवयन्तो वाजयन्तो, 106
 अश्विना त्वाग्ने मित्रावरुणोभा, 255
 अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः,
 321
 अष्टापदी चतुरक्षि चतुः श्रोत्रा, 200
 असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी, 294
 असौ य एषि वीरको गृहं गृहं, 105
 अस्ताव्याग्निः शिमीवद्भिरर्केः, 180

अस्माकं बोध्यविता स्थानामस्माकं, 103
 अस्माकमने मघवत्सु धारयाऽनामि, 87
 अस्मे आ वहतं रयि शतवन्तं, 309
 अस्मे क्षत्राणि धारयेरनु द्यून्, 86
 अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं, 183
 अस्माक् सविता सवीमनि, 422
 अहं दस्युभ्यः परि नृम्णा ददे, 569
 अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां, 219
 अहं रुदाय धनुरा तनोमि, 219
 अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैस्त,
 219
 अहं वदामि नेत्त्वं सभायामह त्वं वद, 204
 अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्, 219
 अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं, 219
 अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो, 240
 अहमिद्वि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ,
 436
 अहमेव वात इव प्र वाम्या, 219
 अवमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं, 219
 अहिं यद् वृत्रमपो वृत्रिवांसं, 446
 आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व, 568
 आ जुहोता दुवस्यताग्निं, 29
 आ त्वाऽहार्षमन्तरभू, 33, 602
 आ त्वाऽहार्षमन्तरेधि, 72, 134
 आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि, 61,
 255
 आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं, 325
 आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षाद्, 169
 आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं, 197
 आ दस्युष्ना मनसा याह्यस्तं भुवत्, 536
 आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो, 59,
 132
 आ देवो दूतो अजिरश्चिकित्वान्, 288
 आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च, 405
 आ न ऊर्जं वहतमश्विना, 306
 आ नूनं यातमश्विना ऽश्वेभिः, 300
 आ नो अश्वो यातम्, 319

आ नो अश्वावदश्विना वर्तिर्यासिष्टं, 310

आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्याः, 319

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना,
315

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः, 225

आ मारुक्षात्पर्णमणिर्मह्या, 157

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च, 197

आ रभस्व जातवेदोस्माकार्थाय जज्ञिषे,
165

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः, 272

आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन् प्रावो,
531

आवां प्रावाणो अश्विना धीर्भिविप्रा, 559

आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि, 512

आ वा दधातु निऋतेरुपस्थे, 570

आ वि विद्वान् द्रवद् दूतो देवयावा, 288

आस्यै ब्राह्मणाः स्तपनीर्हन्त्ववीरघ्नीः,
468

इदं तद्युज उत्तरमिन्द्रं, 65

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोमे, 639

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्,
450

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं, 431

इदं हविर्मघवन् तुभ्यं रातं प्रति, 176

इनो वाजानां पतिः, 402

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः,
275

इन्द्रं वयमनूराघं हवामहेऽनु, 66

इन्द्रं विश्वा अवीद्वधन्त्, 43

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे, 72, 129

इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रम्, 176

इन्द्रः सुत्रामा स्वर्वा अवोभिः, 108

इन्द्रं क्रतुं न आ भर पिता, 108

इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोजायथाः, 97,
106

इन्द्र जीव सूर्य देवा जीव, 101

इन्द्र वन्तो अग्नयः, 272

इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त उक्तये,
517

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा, 182

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि वेहि, 102

इन्द्रस्य त्वं तव वयं सखायः, 370

इन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः, 423

इन्द्राणीमासु नारिषु, 100

इन्द्राय सामगायत विप्राय बृहते, 556

इन्द्रावरुण वामहं हुवे, 44

इन्द्रेण दस्युं दयन्तः, 102

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं, 255

इन्द्रो अस्मां अरदद् वज्रबाहुः, 423

इन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु, 572

इमं देवा असपत्नं-सुवध्वं महते, 595

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिदं, 108

इममिन्द्र वर्षय क्षत्रियं, 183

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेमित्रो, 465

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत, 73, 602

ईरते रथा अश्वास उपसो व्युष्टिषु, 317

ईशानं राघसो महः रायः सखायम्, 397

उग्रो राजां मन्यमानो ब्राह्मणं, 199

उत ऋतुभिर्ऋतुपाः, 102

उत त्वं वीरं घनसामृजीषिणं दूरे, 337

उत यो द्यामतिसर्पात्परस्ताम स, 337,
350

उत सूर्यो ज्योतिषा देव एति, 431

उतापवक्ता हृदयाविधश्चित् नमो, 335

उतारब्धान्स्पृणुहि जातवेदा, 90

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व, 477

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञउतासो, 337

उतैधि पृतसु नो वृधे, 87

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना, 183

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिः, 514

उदु त्वं जातवेद सं देवं वहन्ति, 434

उदेहि वाजिन्यो अप्सवन्तरिदं, 75

उद्वाज आ गन्यो अप्सवन्तविश, 75

उभा जियथुर्न परा जयेथे, 446
उरु क्रमिष्टोरुगाथाय जीवसे, 453
उरुगाय विष्णोः परमं पदमव भारि, 453

ऊर्जा पित्वस्व समिषो दिदीहि नः 84

एकराळस्य भुवनस्य राजसि, 271
एते वदन्ति शतवत् सहस्रवत्, 559
एते सोमास इन्द्रं वर्धन्ति कर्मभिः, 147
एना मन्दानो जहि शूर, 103
एमं भजग्रासे अश्वेषुनिष्टं, 183
एवो ष्वस्मस्मिर्हृतेऽनेहा, 341
एष रुक्मिभि रीयते वाजी, 147
एषस्महं समासीमानां वचो, 206

ऐतु पूषा रयिर्भगः स्वस्ति सर्वधातमः,
396

ऐषु द्युम्नमुतश्रव आ चित्तं, 87

ऋतं वदन्तुतद्युम्न सत्यं वदन्, 147
ऋतस्य जिह्वा पवेतमधु प्रियं वक्ता, 148
ऋतावाना निषेदतुः साम्राज्याय, 97
ऋषमं मा समानानां सपत्नानां, 240
ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य, 288
ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृमुर्ध्वरि, 148

ओजश्च तेजश्च सहश्च वलं, 197
ओषधयः सं वदन्ते सोमेनसह राज्ञा, 378
ओ षू णो अग्ने शृणुहि त्वमीळितो, 283

कदा धियः करसि वाजरत्नाः, 103
कविमग्निं सत्यधर्माणम्, 80
कवि मृजन्ति मर्ज्यं धीभिर्विप्रा, 147
कस्ते मातरं विधवामक्रत्, 99
कियत् स्वदिन्द्रो अध्येति मातुः, 99
को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य, 632
कृत्वा कृतः सुकृतः कर्तुं भिर्भूत्, 437
क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्, 97

क्षत्रस्य त्वा परस्पाय, 89
क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति, 197
क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु, 197
क्षिप्रं वै तस्यादहनं, 197
क्षिप्रं वै तस्याहनने, 197
क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाऽधिपतिरासीत्,
400

क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते, 228

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कवि, 382
गायन्ति त्वा गायत्रिणो, 42
गिरेरिव प्र रसा अस्य पित्विरे दन्नाणि,
500

गृहमेधी गृहपतिर्भवति, 10
गोपोषं च मे वीरपोषं च घेहि, 169
गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन, 108
गोमां अग्नेऽविमां अश्वी यज्ञो, 82
गौरेव तान्हन्यमाना वैतहव्यां, 196
ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत, 560

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन,
349
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्,
488

जज्ञानो नु शतक्रतुर्विपृच्छदिति, 57
जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं, 194
जनस्य गोपा अजनिष्ट, 79
जना यदग्निमय जन्तपञ्च, 193
जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय, 60
जरां सु गच्छ परिधत्स्व वासो भवा,
592
जायां सेनाजुवा न्यूहत् रथेन, 314
जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनोमन्युः, 605
जीवातवे प्रतरं साधया धियोः, 80
तं त्वा देवासोजनयन्तदेवं, 24
तं त्वा विप्रा विपन्यवो, 25, 133

तं त्वा सीसेन विध्यामायथा, 572
 तं समा च समितिश्च सेना, 210
 तं हि स्वराजं वृषमं तमोजसे, 55
 तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्,
 432, 440
 तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्, 432, 440
 त देवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद, 275
 तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं, 196
 तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम्, 511
 तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजम्, 511
 तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं, 458
 तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य,
 431
 तस्माद् ब्राह्मणो नाद्यः सोमराजा, 584
 ता न आ वोळहमश्विना रथि, 303
 तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति, 197, 200
 तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो, 196,
 200
 तिस्रः क्षयस्त्रिरहाति व्रजद्विः, 317
 तुजे नस्तने पर्वताः सन्तु स्वैतवो, 500
 तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ, 86
 ते न इन्द्रः पृथिवी क्षामवर्धन्, 193
 ते वाजो विभ्वां ऋभुरिन्द्रवन्तः, 272
 तुषुं दूतं कृणुते यत्नो अग्निः, 294
 त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशः सुराधसः,
 601
 त्रिरुत श्रवांसि बहूतमश्विना, 303
 त्रिनो रथि बहूतमश्विना, 309
 त्रिर्यातुधानः प्रसिति त एतु, 573
 त्रीणि पदान्यश्विनोराविः सान्ति गुहा,
 323
 त्रीणि पदाविचक्रमे विष्णुर्गोपा, 405,
 456
 त्रीणि राजानाविदथे पुरुणि, 244
 त्वं कुत्सेनाभि शुष्णमिन्द्राऽशुषं, 542
 त्वं तं देव जिह्वया परि, 88, 568
 त्वं तां इन्द्रोभयां अमित्रान्, 103
 त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः, 294

त्वं नेता वृषभचर्षणीनाम्, 79
 त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्, 348
 त्वं भगो नृपतेवस्व ईशिषे, 474
 त्वं भिषग्भेषजस्यासि कर्ता, 90
 त्वं रथि पुरुवीरामु नस्कृषि, 106
 त्वं हि इळ्हा मधवन् विचेता, 103
 त्वचं यातुधानस्य भिन्धि, 572
 त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः, 16
 त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषास्त्वदुक्था, 81
 त्व प्रणीती हर्यश्च सूरिभिर्विश्वा, 105
 त्वमग्ने यातुधानानुपवद्धां इहा, 90
 त्वमग्ने व्रतपा असि देव, 83
 त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम, 470
 त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता, 106
 त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव, 527
 त्वमिन्द्राधिराजः, 179
 त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वामायुर्व्यश्नवत्, 119
 त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विंशाऽब्रन्धुना, 102
 त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम, 88
 त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दंहुतु, 197
 त्वया वीरेण वीरवो ऽभि प्याम, 147
 त्वां जना ममसत्येऽपिन्द्र, 555
 त्वां विशो वृणतां राज्याय, 62, 169,
 255
 त्वां हीन्द्रावसे विवाचो, 52
 त्वामग्ने आदित्यास आस्यं, 283
 त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा, 23
 त्वामग्ने मनीषिणः, 25, 175
 त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे, 22, 133-
 35
 त्वामग्ने सम्राजं चर्षणीनाम्, 79
 त्वामग्ने समिधानं यविष्ठय देवा, 294
 त्वामिदन्न वृणते त्वायवो, 31
 त्वामिद्वययुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः, 105
 त्वा युजा पृतनारयूभि प्याम, 88
 त्वा साम्राज्येनाभि विञ्चाभि, 180-81
 त्वेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्रं चना वदे,
 105

दमयन्तं पृतन्यून्, 88

दश क्षिपः पूर्व्य, 27

दस्युहन्तमम् धनंजयं रणेरणे, 88

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो, 455

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि, 102

दूतं न पूर्व चिन्तम आशासते, 294

दूतः कविरसि प्रचेताः, 294

देव इव सविता सत्य धर्मा, 426

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपति,
608

देवः सविता धर्मं साविषत्, 424

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे, 608

देवस्य सवितुः सवीमनि, 422

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु, 423

देवाश्चित् ते असुर्यं प्रचेतसो, 382

देवासः पूषरातयः, 396

देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा, 284

दृति वहेथे मधुवन्तमश्विना, 305

दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम्, 400

द्वाविमो वातो वात आ सिन्धोरा, 511

धर्तरि मानुषीणां विशाम्, 79

धर्मणा सूर्यः शुचि, 440

धीर्मिहिन्वन्ति वाजिनं वने क्रीळन्तम्, 149

ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्, 165

ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः, 165

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं,
602

ध्रुवाय ते समिति कल्पतामिह, 212

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि, 603

नकिरस्य तानि व्रता देवस्य, 428

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां, 350

नदीषु पर्वतेषु ये सं तं पशुभिर्विदे, 500

न ब्राह्मणस्य गां जग्वा, 196

न ब्राह्मणो हिसितव्योनिः, 199

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो,
238

नमोऽस्तुते निऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान्वि;
341

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो, 19, 595

न यं रिपवो न रिषण्यवो गर्भे, 296

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा,
428

न योरुपन्दिरश्व्यः शृण्वे रथस्य, 294

न वर्षं मैत्रावरुणं, 196

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति, 564,
578, 584

नहि वामस्ति दूरके यत्रा रथेन, 315

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुर,
350

नाभा पृथिव्याः समिधाने, 32, 594

नाभिर्मै चित्तं दिज्ञानं पायुर्मैपचितिर्मसत्,
605

निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता, 272

निराविध्यद्दिगरिभ्य आ धारयत्, 500

निरुन्धानो अमर्ति गोभिः, 102

निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन्, 556

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः, 160-61,
593

नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्, 514

नू नव्यसे नवीयसे सूक्ताय, 147

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य, 572

नृभिर्द्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयार्जि, 98

न्यक्तून् ग्रथिनो मृध्रवाचः, 569

पञ्चाया गर्भं शृणुहि ब्रवीमि, 148

पतिर्भव वृत्रहन् त्सूनूतानां गिरां, 46

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः, 62,
255

पयश्च रसश्चान्नं चाक्ष्माद्यंचतं, 197

परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र, 102

परावत आ जगम्यात्परस्याः, 128

परि तृन्धि पणीनामारया हृदया, 407

परि द्यावा पृथिवी याति सद्यः, 319

परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा, 350



मन्त्र-अनुक्रम

667

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तये, 592
 परीमं सोममायुषे महे, 68
 परीममिन्द्रमायुषे महे, 68, 581
 परीमे गामनेषत पर्यग्नियहृषत, 635
 पर्णोऽसि तनूपानः, 158
 पर्वतं गिरिं शतवन्तं सहस्रिणम्, 500
 पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कविः, 574
 पश्चात् पुरस्तादधरादुदक्तात् कविः, 574
 पश्याम ते वीर्यं जातवेदः, 90
 पाञ्चजन्यो भवत्विन्द्र ऊती, 187
 पावका न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती,
 488
 पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती, 492
 पुनातु वातः प्राणनेषिरो नभोभिः, 510
 पुरं न घृष्णवा रुज कृष्णया, 327
 पुरएता विशामग्निर्मनुषीणाम्, 79
 पुरुद्रहो हि क्षितयो जनानां, 85
 पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं सनश्रुतम्, 108
 पुरुष्यरने पुरुधा त्वाया वसूनि, 87
 पूर्वीरस्य निष्पिघो मर्त्येषु, 102
 पूर्वीरिष इषयन्तावति क्षपः, 317
 पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम, 412
 पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोज्ज पद्यते,
 409
 पृक्षो बहूतमश्विना, 303
 पृतनाजितं सहमानमग्नि, 36, 128
 पृथिवी मातर्मा मा हिंसीमो अहं, 20
 पृथिव्याश्चा सम्राट्, 176
 पृथुबुध्नः सभावान्, 213
 पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी,
 605
 प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे,
 294
 प्रचेतसं त्वा कवेज्जे दूतं वरेण्यम्, 294
 प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमस, 199
 प्रजापतेः प्रजा अभूमं स्वर्देवा, 596
 प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती,
 485

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो, 86, 349
 प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं, 386
 प्र नो यच्छत्वयमा प्र पूषा बृहस्पतिः,
 599
 प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र सोमशितं,
 578
 प्र वो प्रावाणः सविता देवः, 425
 प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रम्, 176
 प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं पुंसः, 175
 प्र सुमेधा गातुविद्विष्वदेवः सोमः, 229
 प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजतोदीच्या,
 272
 प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते,
 508
 प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं, 477
 प्रातर्युजं नासत्याधि तिष्ठथः, 317
 प्रावो देवा आतिरो दासमोजः, 106
 प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु, 637
 प्रियतमस्य नृणाम्, 358
 प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि, 163
 प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम प्रावभ्यो, 559
 प्रोरोमिन्नावरुणा पृथिव्याः प्र दिव, 349
 बलं घेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानलुत्सु, 102
 बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं, 61
 बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः, 84
 बाहु मे बलमिन्द्रियं हस्तो, 605
 विभ्रद् द्रापि हिरण्ययं वरुणो वस्त, 349
 बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिवं, 337
 बृहस्पति पुरोहिता देवस्य सवितुः, 608
 बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय, 592
 बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चन्तु, 380
 बृहस्पतिनः परि पातु पश्चादुतोत्तर, 390
 बृहस्पते प्र चिकित्सा गविष्टो, 390
 बृहस्पते ब्रह्मणस्ते, 380
 बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ्, 381
 ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्साभि, 196
 ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं, 197

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं, 116
 ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः, 198
 ब्रह्म प्रजावदा भर जातवेदो, 88
 ब्रह्म वै ब्रह्मणस्पतिः, 380
 ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्, 133
 ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं, 199
 ब्राह्मणादिन्द्र राघसः पिबाः, 582
 भग इव भगवाँ अस्तु देवास्तेन, 477
 भग प्रणेतमंग सत्यराघो भगेमां, 477
 भगो नो राजा निकृषि तनोतु, 481
 भगो मा भगेनावतु प्राणायापानायायुषे,
 474
 भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वविदस्तपो दीक्षाम्,
 627
 भद्रा वस्त्रा समन्याऽवसानो महान्, 148
 भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि, 80
 भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा, 16
 भुरन्तु नो यशसः सोत्त्रन्धसो ग्रावाणो,
 559
 भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः, 176
 भूतो भूतेषु पय आ दधाति, 74, 167,
 169
 भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया, 16
 भूरीणि हि त्वे दधिरे अनीका, 85
 मघवा मह्यं सम्राट्, 176
 मध्वः पात रत्नघा इन्द्रवन्तः, 272
 ममदेवा विहवे सन्तु सर्वं इन्द्रवन्तो, 272
 मया सो अन्नमत्ति यो वि पश्यति, 219
 मयि क्षत्रं पर्णमणे, 155
 मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि, 37
 मरुत्वन्तं वृषमं वावृधानमकवारि, 47
 मर्हां इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा, 50
 महान्तं त्वा महीनां सम्राजं, 176
 महे नृम्णाय नृपते सुवज्र, 103
 महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति, 488
 महो द्रुहो अप विश्वायु धायि, 539

मा त इन्द्र ते वयं तुराषाड्युक्तासो, 592
 माताभूमिः पुत्रो अहं, 16
 मातुर्दिधिषुमन्नवंस्वसुजरिः शृणोतु नः,
 413
 मा त्वा प्राणो बलं हासीत्, 511
 मा नो अग्नेऽमतये, 85
 मा नो अस्मिन् महाघने, 88
 मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य, 551
 मारुतं गणं गिरिष्ठाम्, 504
 मित्रेणार्णे मित्रघा यतस्व, 355
 मित्रेणार्णे मित्रघेये यतस्व, 356
 मित्रो भवसि देव धर्मभिः, 425
 मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा, 533
 मूर्धनिं दिवो अरतिं पृथिव्या, 30
 मेघाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं, 31,
 81
 यं गमसा रातहव्य अञ्जन्ति, 193
 यं निदधुर्वनस्पती गृह्यं देवाः 155
 य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानः, 199
 यकासकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति, 171
 यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो, 10
 यतध्वं सजातानां मध्यमेष्ठयाय, 182
 यत्ते देवी निर्ऋतिराववन्ध दाम, 341
 यत् पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा, 188
 यत्रौषधीः समगमत् राजानः समिताविव,
 211, 242, 378
 यत्समित्यां यद्वा वदा, 204
 यत् समुद्रादमिवर्तते वाम् रथः, 319
 यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते,
 327
 यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी, 211
 यदद्य सूर्यं ब्रवोजागा उद्यन् मित्राय,
 434
 यदन्तरा परावतमववितं च हूयसे, 130
 यदन्ति यच्च दूरके भयं विन्दति, 366
 यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा, 446,
 450

मन्त्र-अनुक्रम

यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना, 303
 यदि बाहमनृतदेव आस मोघं वा देवां,
 564
 यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायाम्, 212
 यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते,
 171
 यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य, 243
 यद् वेमे रोदसी अनु पतथः, 319
 यद्वो मनः परागतं, 206
 यन्त्यस्य देवा देवहूति, 10
 यन्त्यस्य समां सभ्यो, 10
 यन्त्यस्य समितिं सामित्यो, 10
 यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो, 10
 यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव, 327
 यया गा आकरामहे सेनयान्ते, 88
 यः विष्णव उरुगायाय दाशत्, 453
 यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो, 337
 यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे, 106
 यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा, 84
 यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रम, 450
 यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति, 105
 यस्य त्रिषु विक्रमणेष्वविक्षियन्ति, 450,
 455
 यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा,
 455
 यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य,
 428
 यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याधृणे,
 402
 या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यरिक्ष,
 590
 या ते अग्ने पर्वतस्येव धारासश्चन्ती, 85
 या ते अष्ट्रा गोओपशा ऽऽधृणे पशुसाधनी,
 400
 या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति, 147
 यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे, 406
 युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति,
 183

युवं तमिन्द्रापवकां पुरेयुषा यो नः, 305
 युवमेतं चक्रयुः सिन्धुषु, 319
 युवामिन्द्रयवसे पूर्व्याय परि, 48
 युष्मोतः सम्राळुत हन्ति वृत्रम्, 177
 यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर, 19
 ये अरनयः पाञ्चजन्याः, 187
 ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा, 17, 212,
 219
 ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा, 332
 ये धीवानो रथकाराः कर्मार, 133, 157
 येन देवं सवितारं परि देवा, 67, 77
 येनेन्द्राय समभरः पयास्युत्तमेन ब्रह्मणा,
 591
 ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं, 340,
 564, 577
 ये राजानो राजकृतः, 133, 157, 182
 ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत्त, 196
 ये सूर्यस्य ज्योतिषो भागमानशुः, 431
 योगक्षेमं व आदायाऽहं भूयासमुत्तम, 240
 यो देवानामधिराजो बभूव, 179
 यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव, 410
 यो नो दासआर्यो वा पुरुष्टुताऽदेव, 105
 यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा, 380
 यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति, 199
 यो ब्राह्मणं मन्यते अक्षम्, 199
 यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे,
 564
 यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः,
 563
 यो मे शता च विंशति च, 87
 यो रजांसि विममे पार्थिवानि, 455
 यो वामश्विना रथः स्वश्वो विश, 315
 यो विश्वाभि विपश्यति भुवना, 288,
 409
 रथेन वामश्विना वहन्ता, 309
 रथि समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे घत्तं, 319
 राजा कृष्टीनामसि मानुषीणाम्, 79

राजा न सत्यः समितीरियानः, 211, 242
 राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे, 244
 राजां परि याति विद्वान् प्रजां पुष्टि, 604
 राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते, 336
 रायस्पोषाय बृहते हवामहे, 166
 रायो धारास्याधृणे वसो राशिरजास्व,
 398
 राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य, 169
 रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु, 637
 लोमानि प्रयतिर्मम त्वङ्मआनतिरागतिः,
 605
 वज्रेणान्यः शवसा हन्ति वृत्रं, 335
 वधं नूनं सृजदशनि यातुमश्चः, 573
 वनीवानो मम दूतास इन्द्रं, 294
 वयं त एभिः पुरुहूत सख्यैः, 103
 वद्रे अन्तरनारम्भणे तमसि, 571
 वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं, 132,
 178
 वां रथः समुद्रे अश्विनेयते, 319
 वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं, 239
 वाजस्येमां प्रसवः शिश्रियेदिवमिमा, 177
 वात आ वातु भेषजं शंभु, 512
 वायु प्राणान्दधातुमे, 508
 विचक्रमे पृथिवीमेष एषां क्षेत्राय, 455
 विचक्षणः सुक्रतुः कविः सोमः, 147
 विजयुषा ययथुः सान्वद्रेः, 318
 विद्य ते सभे नाम नरिष्टा, 206
 विद्वां आ वक्षि विदुषो निषत्सि, 80
 विद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम्, 81
 विद्वानसोमस्य यो ब्राह्मणां आविवेश,
 583
 वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा, 106
 विप्रं विप्रासोवसे देवं, 30, 166
 विभिन्दुना नासत्या रथेन वि, 318
 वि भूषन्नग्न उभयां अनु व्रता दूतो, 288
 विराड् वा इद, 10

विशां राजानमद्भुतमध्यक्षं, 80
 विशां विरपति मानुषीणाम्, 79
 विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्वृहस्पतिना, 390
 विशो न राजानं वृणानाः, 76
 विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम्, 397
 विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते,
 434
 विश्वा अग्ने अभियुजो विहृत्या, 86
 विश्वा च न उपमिमीहि मानुष, 102
 विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं, 57
 विश्वे यद् वां मंहना मन्दमानाः, 349
 विश्वो यस्य व्रते जनो दाधार, 147
 विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि, 456
 वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे, 288
 वृणीमहे सख्याय प्रियाय शूरा, 347
 वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळ्या, 500
 वृषाक पायि रेवति सुपुत्र, 100
 वृषा धर्माणि दधिषे, 367
 शकधूमं नक्षत्राणि, 77
 शतेन पाशैरभि धेहि वरुणं मा ते, 332
 शनैश्चिदद्य सूर्येणादित्येन सहीयसा, 438
 शिरो मे श्रीयंशो मुखं त्विषिः, 605
 शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्, 45
 शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता, 148
 शूरोयज्वनो विभजन्नेति वेदः, 568
 श्रमेण तपसा सृष्टा ब्राह्मणा, 198
 श्रेष्ठं सवं सविता साविषसः, 421
 श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि, 422
 संक्रन्देनानिमिषेणजिष्णुनाऽप्योध्येन, 98
 सं गच्छध्वं सं वदध्वं, 214
 सं चेध्यास्वान्ने प्र च वर्धयेममुच्च, 603
 सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन, 169
 सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः, 84
 सं दक्षेण मनसा जायते कविकर्तृतस्य, 148
 सं पूषन् विदुषा नम यो अञ्जसानुशासति,
 411

मन्त्र-अनुक्रम

सं ह्यूर्जया सृजथः सं बलेन, 511
 स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे, 384
 स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा, 384
 सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व द्यौर्देहि,
 446
 स चित्रचित्रं चितयन्तमस्मे, 87
 सं जातानां मध्यमस्था एधि राज्ञामग्ने,
 181
 सजतानां मध्यमेष्ठा यथासानि, 181
 सजतानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने, 181
 स तु वस्त्राण्यथ पेशनानि, 83
 स तेजीयसा मनसा त्वोत् उत, 85
 सत्पतिं पाञ्चजन्यं इन्द्रम्, 187
 सत्यं तातान सूर्यः, 434
 सत्यं बृहहतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म, 624
 सत्यमिद् वा उ अश्विना युवामाहुर्मयोभुवा,
 316
 सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्, 368
 सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधि, 204
 सत्येनावृता श्रिया प्रावृता, 198
 सत्यो यज्ञा कवितमः स वेधाः, 84
 सदसस्पतिमदभुतं प्रियमिन्द्रस्य, 238
 स दूतो विश्वेदभि वष्टि सदमा, 288
 स न इन्द्रः शिवः, 108
 स नो बोधि पुरएता सुगेषुत, 103
 सभा च मा समितिश्चावतां, 206
 सभायाश्च वै स समितेश्च, 210
 सभ्यः सभां मे पाहि ये, 213, 242
 स मर्त्येष्वमृत प्रचेता राया, 82
 समानी व आकूतिः समाना हृदयानि,
 215
 समानो मन्त्रः समितिः समानी, 211,
 213, 218
 स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु, 212
 समिन्द्रो गा अजयत् सं हिरण्या, 103
 समीं पणेरजति भोजनं मुखे वि, 569
 समु पूषणा गमेमहि यो गृह्णा, 408
 सम्राजो ये सुदृधो यज्ञमाययुरपरिहृता,

121, 176

सम्राट् अदिस्सन्तं आपयति, 604
 सम्राट् साह्वान् तरुना, 176
 सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम्, 177
 सम्राळन्यः स्वराळन्य उच्यते वाम्, 182
 सः युध्मः सत्वा खजकृत् समद्वा, 103
 सरस्वती सहधीभिः पुरन्ध्या, 485
 सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा,
 485
 सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि, 485
 सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा,
 337
 सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा, 510
 सविताऽसि सत्य प्रसवो वरुणोऽसि, 599
 सविता प्रसवित्रा सरस्वत्यावाचा, 600
 सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्, 424
 सविता सत्यमन्मा, 427
 सवितुः सविमनि श्रेष्ठे, 422
 सवितुर्वः प्रंसव उत्पुनामि, 421
 स विशोऽनु व्यचलत्, 166, 210
 सस मिद्युवसे वृषस्रग्ने, 214
 स सुत्रामा स्ववां इन्द्रो, 108
 स सूर्यस्य रश्मिभिः परिव्यत, 148
 सहसस्पुत्र तिष्ठा अभिक्षितीः, 84
 सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्,
 437
 सहस्रधार एव ते समस्वरन्दिवो नाके,
 350
 सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं, 350
 स होता सेदु दूत्यं चिकित्वां, 294
 सहृदयं सोमनस्यमविद्वेष कृणोमिवः, 637
 सा नो भूमिर्वि सृजतां, 16
 सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्या, 200
 साम्राज्याय प्रतरं दधानः, 84
 सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य, 196
 सासह्याद् दस्यूनिषः सासह्या, 87
 सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा, 183
 सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो, 636

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं, 390
 सुवृक्षमनपच्युतं सदसो न भूम, 229
 सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च,
 564, 577
 सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु, 432
 सो अग्निर्यो वसुगृणे सं, 87
 सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत, 165
 सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये, 10
 सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ, 10
 सोदक्रामत् सामन्त्रणे, 10
 सोदक्रामत् सा सभायां, 10
 सोदक्रामत् सा समितौ, 10
 सोदक्रामत् साहवनीये, 10
 सोमं राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे, 599
 सोमस्य पर्णः सह उग्रभागस्त्रिन्द्रेण, 156

सोमा असृग्रम् विश्वानि काव्या, 147
 सोमास आयवः पवन्ते मदम्, 147
 सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा, 583
 सौदन् ऋतस्य योनिमा, 368
 सौभगत्वस्य विद्वानस्माकमायुः, 84
 स्तोम्यं नरं कृष्टीर्यो विश्वा, 96
 स्त्रीभिर्यो अत्र वृषणं पृतन्यादयुद्धो, 568
 स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ, 80
 स्योनाऽसि सुषदाऽसि क्षत्रस्य, 593
 स्वधया परिहिता श्रद्धया, 198
 स्ववृजं हि त्वामहमिन्द्र, 544
 स्वायुवस्य ते सतो भुवनस्य, 147
 हत्वी दुस्यून् प्रार्थ्य वर्णमावत्, 189
 हिन्वन्ति सूरमुख्यः स्वसारो, 147

1241



1241



वेदों की पुनरावृत्ति के जागरूक वाशवाले और कुशल मालाकार वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति पिछले साठ वर्षों से बराबर वेदों का अनुशीलन, पर्यालोचन और रहस्यान्वेषण कर रहे हैं। एक अधिकारी अध्येता और प्रवक्ता के रूप में वेद के निगूढ़ रहस्यों और तत्त्वों का पाण्डित्यपूर्ण और गवेषणात्मक विवेचन जिस प्रकार उन्होंने किया है उसकी विद्वद् समाज ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय के वेद महाविद्यालय में तीन दशब्दी तक वैदिक साहित्य के प्रधान उपाध्याय रहने के पहले आप वर्षों तक लाहौर के दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय के आचार्य रहे। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य और कालान्तर में उसके कुलपति पद पर कार्य-व्यस्त रहते हुए भी आपने वैदिक साहित्य के अनुशीलन में कोई ढील नहीं की। आचार्य जी के अन्य ग्रन्थों में 'वेद का राष्ट्रीय गीत', 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल', 'वरुण की नीका', और 'मेरा धर्म' को वैदिक साहित्य में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य जी की मूर्धन्य कृति है जिसमें उन्होंने वेद के आधार पर प्राचीन आचार्यों की भाँति एक सर्वथा नवीन और स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है।

पूरा सेट (तीन भाग)

240-00

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु.

वेद शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति सेनाओं का संघटन और संचालन कर सकता है, राज्य का संचालन कर सकता है, न्याय-व्यवस्था का संचालन कर सकता है और सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य का संचालन कर सकता है ।